प्रकाशक : कृष्णदास अकादमी, वाराणसी
मुद्रक : चौखम्बा प्रेस, वाराणसी
संस्करण : प्रथम, वि० सं० २०५९, सन् २००२

ISBN : 81-218-0081-1

के० ३७/११८, गोपाल मन्दिर लेन
गोलघर (मैदागिन) के पास
पोस्ट बाक्स ११९८, वाराणसी - २२१००१ (भारत)
फोन : ३३५०२०

*

अपरञ्च प्राप्तिस्थानम्

चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ आफिस

पो० बा० नं० १००८
के० ३७/९९, गोपाल मन्दिर लेन
गोलघर (मैदागिन) के पास, वाराणसी - २२१००१ (भारत)
फोन : आफिस : ३३३४५८
आवास : ३३४०३२, ३३५०२०
e.mail : cssoffice@satyam.net.in

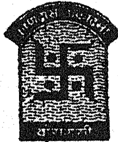
KRISHNADAS SANSKRIT SERIES
170

KIRĀTĀRJUNĪYAM

of
Mahākavi Bhāravi
with
'Ghaṇṭāpatha' commentary of Śrī Mallināthasūri
& **'Saralā'** Hindi commentary

Translated by

Dr. SUDHAKAR MALAVIYA
M.A., Ph.D., Sahityacarya
Department of Sanskrit, Arts Faculty
Banaras Hindu University
Varanasi – 5



KRISHNADAS ACADEMY
VARANASI – 221001

K. 37/118, Gopal Mandir Lane
Post Box No. 1118, Varanasi - 221001 (India)
Phone : 335020

ISBN : 81-218-0081-1

First Edition
2002

Also can be had from :
Chowkhamba Sanskrit Series Office
Oriental Publishers and Distributors
Post Box No. 1008
K. 37/99, Gopal Mandir Lane
Near Golghar (Maidagin)
Varanasi - 221001 (INDIA)
Phone : Office : 333458
Res. : 334032, 335020
e.mail : cssoffice@satyam.net.in

पूज्यगुरुवर्य

पं० रतिनाथ झा

को

सादर समर्पित श्रद्धासुमन

भूमिका

संस्कृत के महाकवियों में कालिदास के बाद भारवि का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है । यह दाक्षिणात्य ब्राह्मण थे । महाकवि दण्डी रचित अवन्तिसुन्दरी कथा के अनुसार यह दक्षिण के अचलपुर ग्राम निवासी कौशिक गोत्रीय पं० नारायण स्वामी के पुत्र थे । इनका एक नाम दामोदर भी था और यह चालुक्यवंशीय महाराजा विष्णुवर्द्धन के सभापण्डित थे । अन्य मत के अनुसार इनको दण्डी कवि के चतुर्थ पूर्वज दामोदर का सुहृद माना जाता है ।

महाकवि भारवि के सम्बन्ध में प्रचलित किंवदन्तियाँ

संस्कृत साहित्य के महाकवियों में कालिदास के बाद महाकवि भारवि का दूसरा स्थान है । कवि के व्यक्तिगत जीवन के विषय में दो किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं । सम्भवतः इन्हें अपने यौवन में अपनी प्रतिभा का आदर और आश्रय देने वाला कोई प्राप्त नहीं हुआ था ।

प्रथम किंवदन्ति—भारवि की निर्धनता के सम्बन्ध में एक रोचक कथा भी प्रचलित है। महाकवि के घर में निर्धनता का ताण्डवनृत्य हो रहा था और महाकवि थे जो काव्य सरोवर में गोते लगाने में आनन्द ले रहे थे । कविप्रिया से कवि की यह लापरवाही कैसे सही जा सकती थी? अपने व्यंग्य बाणों से वह कवि के हृदय को बेंधती, खरी-खोटी सुनाती ही रहती थी । पत्नी की डाँट-फटकार से ऊबकर कवि ने अपनी अकर्मण्यता का अनुभव किया । आसन डोला और वे चल पड़े राजा का आश्रय ढूढ़ँने के लिए । कुछ ही दूर गए होंगे कि एक सुन्दर सरोवर मिला । प्रकृति के प्रेमी कवि के लिए सरोवर का आकर्षण प्रबल हो गया और थका-माँदा कवि वहीं विश्राम करने लगा । वहीं कवि ने इस श्लोक की रचना की—

सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम् ।
वृणुते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः ॥

(कि० २.३०)

कवि को अपनी दशा का अनुभव तो हो ही चला था अतः श्लोकानुसार ही वह जिसे ढूढ़ँने चला था वह वहीं मिल गया । आखेट के लिए निकला हुआ राजा कवि की रचना को सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हुआ और उन्हें राजधानी चलने को कहकर शिकार के लिए चल पड़ा । इधर कवि की रचना को लेकर राजा चलते

बने और उधर जब कवि फटे कपड़े पहने, सुदामाजी की तरह राजमहल के फाटक पर पहुँचा तो उसे भी प्रवेश का अधिकार न मिल सका । निराश होकर उसे वैसे ही लौटना पड़ा जैसे प्राय: गुणी एवं विद्वान् भी बाह्याडम्बर के अभाव में तिरस्कृत होते हैं । राजा ने कवि के इस श्लोक को अपने कक्ष में स्वर्णाक्षरों में अङ्कित कराया था । एक वर्ष बाद वह एक बार शिकार पर निकला । राजा एक सप्ताह के लिए राजधानी से बाहर गया था, किन्तु दूसरी रात को पड़ाव निकट ही होने से वह महल में लौट आया उसने अपनी शय्या पर रानी के साथ किसी अन्य व्यक्ति को सोते हुए देखा । अत्यन्त क्रोधावेश में तलवार से दोनों का काम तमाम करने ही वाला था कि उसका ध्यान उन स्वर्णाक्षरों की ओर गया '**सहसा विदधीत न क्रियाम्**' इस वाक्य को देखते ही राजा ने उन दोनों को जगाकर फिर उन्हें दण्ड देने का निश्चय किया । जब उसने उन दोनों का जगाया तो यह देखकर उसके आश्चर्य का ठिकाना न रहा कि रानी के साथ उसका एकलौता पुत्र सोया था.। जिसे एक दाई चुरा ले गई थी और जो उसी शाम को मिल गया था । राजा ने उस कवि का पता लगाया जिसके लिखे श्लोक की पंक्ति ने राजा को शोकसागर में डूब जाने से बचाया और उसे अतुल धनराशि से सम्मानित किया ।

द्वितीय किंवदन्ति—भारवि लगभग अट्ठारह वर्ष की उम्र में ही व्याकरण, काव्य और कोष आदि का अध्ययन कर कुछ पद्यों की भी रचना कर सामाजिक बन्धुवर्ग का मनोरंजन करने लग गए थे ।

एक बार भारवि के पिता के बन्धुगण उनके पास आए और 'आप भाग्यवान् हैं जो कि अल्पवय में ही आपका पुत्र भारवि प्रतिभाशाली होकर काव्य रचना करने लगा है' ऐसा कहा । तब भारवि के पिता ने कहा कि 'आप लोगों को उसकी इस तरह प्रशंसा नहीं करनी चाहिए । वह क्या जानता है ? अभी वह पढ़ रहा है ।' इतना ही नहीं, भारवि के पिता उनका (भारवि का) तेजोवध भी करते थे । तब एकबार इस बात से दु:खित हो कर भारवि अपने पिता को अपनी यश:प्राप्ति में बाधक समझकर उन पर प्रस्तर से प्रहार करने को उद्यत हुए । अगले ही दिन रात को जब भारवि के पिता भोजन कर रहे थे और भारवि की माता उनको भोजन परोस रही थीं उस समय उन दोनों की बातचीत भारवि सुनने लगे ।

भारवि की माता अपने पति से कह रहीं थीं कि—

'हे प्राणनाथ! आप अपने होनहार पुत्र को इस प्रकार क्यों निरन्तर पराभूत करते हैं? जबकि सब लोग उसके प्रशंसक हैं ।'

इस पर भारवि के पिता ने कहा—'प्रिये! ज्यादा सम्मान होने से उसकी उन्नति का मार्ग अभिमान के कारण अवरुद्ध होगा । कालान्तर में भारवि रवि के समान हमारे कुल को प्रकाशपूर्ण कर देगा' ।

माता और पिता का ऐसा संवाद सुनकर भारवि को अपने आप पर बहुत पश्चात्ताप हुआ और वे पिता के चरणों पर गिरकर अपने दुर्भाव का प्रायश्चित्त

पूछने लगे । फिर उनके दयालु पिता ने कहा कि 'वत्स! छः मास तक श्वशुर के गृह में निवास करना ही तुम्हारे पाप का पर्याप्त प्रायश्चित्त होगा ।'

भारवि अपनी पत्नी के साथ दूरस्थित श्वशुर के गृह में पहुँचे । पहले तो उनका खूब सम्मान हुआ, पर बहुत समय तक उनका निवास होने से उनका अपमान होने लगा । धीरे धीरे उन्हें मवेशियों को चराने और दाना देने का काम भी सौंपा जाने लगा ।

भारवि कर्मफल के भोग के लिए दृढसंकल्प होकर प्रतिदिन पद्यों की रचना कर उन्हें भूर्जपत्रों में अङ्कित करने लगे । एक दिन उन्होंने एक पद्य की रचना की जो इस प्रकार है—

सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम् ।
वृणुते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः ॥

(कि० २.३०)

अर्थात् कोई कर्म सहसा (बिना विचारे) नहीं करना चाहिए, क्योंकि अविवेक विपत्ति का मुख्य स्थान है । विचारपूर्वक काम करने वाले को सम्पत्ति गुणों से लुब्ध होकर स्वयं वरण करती है ।

भारवि जब इस पद्य को ताड़पत्र पर लिख रहे थे तब उनकी पत्नी मलिनवस्त्र धारण कर अपने और अपने पति की दुर्दशा पर आँसू गिराने लगीं । तब भारवि ने 'अभिमानी जन को छः महीने तक इस प्रकार श्वशुरालय में रहना नित्य मरण के समान है' ऐसा सोचकर अपनी पत्नी से कहा—

'भद्रे! तुम इस पद्य को किसी धनी व्यापारी के हाथ बेच दो और उससे वस्त्र आदि आवश्यक पदार्थ खरीद लो ।' ऐसा कहकर उस पद्य को उन्हें दे दिया । उनकी पत्नी ने उस पद्य को एक धनी व्यापारी को दिखाया । उसने उसे पढ़कर प्रसन्न होकर उन्हें सौ अशर्फियाँ दे दीं, और अपने घर में चित्ररूप में सज्जित कर उसे टाँग दिया । प्रसंगवश वह व्यापारी व्यापार के लिए दूसरे द्वीप में चला गया था । कई वर्षों के बाद व्यापारी रात में जब घर आया और अपनी पत्नी को एक कुमार के साथ सोता हुआ देखा तो उसे व्यभिचारिणी समझकर खड्ग से प्रहार करने के लिए तत्पर हुआ । संयोगवश भारवि के उसी पद्य पर जो कि वहीं दीवार पर टँगा था, उसकी दृष्टि पड़ी और उसने पत्नी को जगाया । तब पत्नी ने प्रसन्नतापूर्वक उस व्यापारी पति को उस कुमार का परिचय कराते हुए कहा कि— 'यह तुम्हारा पुत्र है' । इस पर उस व्यापारी को संतोष हुआ ।

उधर भारवि छः महीने तक क्लेशपूर्ण प्रायश्चित्त भोगकर सप्तममास के प्रथम दिन में श्वशुरगृह से पत्नी के साथ प्रस्थान कर अपने घर आ गए एवं माता-पिता की सेवा करते हुए रहने लगे और प्रवास में आरब्ध किरातार्जुनीय महाकाव्य को पूर्ण करके उनके प्रचार से यश और सम्पत्ति का उपार्जन कर सुखपूर्वक समय व्यतीत करने लगे ।

महाकवि भारवि—कवि के व्यक्तिगत जीवन के विषय में उसका एकमात्र महाकाव्य एकदम मौन है । किरातार्जुनीयम् से केवल इतना ही हम कह सकते हैं कि वे शैव थे । अपने पिता, पितामह या गुरु किसी का भी उल्लेख इन्होंने 'किरातार्जुनीयम्' में नहीं किया है जैसा अन्य कवियों ने अपनी रचनाओं में अपना परिचय दिया है । 'अवन्तिसुन्दरीकथा' में दण्डी ने अपने पूर्वजों का विस्तृत वर्णन दिया है । इसके अनुसार दक्षिण भारत में कौशिक गोत्र के ब्राह्मण रहते थे जो बाद में अचलपुर (बरार के अन्तर्गत एलिचपुर) में आकर बस गए । इसी वंश में 'नारायणस्वामी' उत्पन्न हुए । इनके पुत्र दामोदर हुए, यही दामोदर कवि 'भारवि' नाम से विख्यात हुए । भारवि पहले क्षेत्रीय नरेश विष्णुवर्धन के आश्रित थे ।

फिर वे राजा दुर्विनीत के मित्र हो गए । दुर्विनीत ने 'किरातार्जुनीयम्' के सर्वाधिक क्लिष्ट पन्द्रहवें सर्ग पर टीका भी लिखी । अन्त में भारवि पल्लववंशी सम्राट् सिंहविष्णु के दरबार में रहने लगे । भारवि का पुत्र 'मनोरथ' था । उसका चौथा पुत्र वीरदत्त था जिसने गौरी से विवाह किया । इसी वीरदत्त और गौरी के पुत्र थे दण्डी ।

अवन्तिसुन्दरीकथा के अनुसार कवि का निवास स्थान एलिचपुर ही सिद्ध होता है, किन्तु स्वर्गीय प्रो० आर०आर० भागवत ने किरातार्जुनीयम् के निम्न श्लोक में आए सह्य पर्वत के आधार पर इनका निवास स्थान दक्षिण भारत में माना है—

उरसि शूलभृतः प्रहिता मुहुः प्रतिहति ययुरर्जुनमुष्टयः ।
भृशरया इव सह्यमही भृतः पृथूनि रोधसि सिन्धुमहोर्मयः ॥

—(१८.५)

भगवान् शङ्कर के वक्षःस्थल में प्रताडित अर्जुन की मुष्टियाँ सह्य पर्वत के विशाल तट में तीव्र वेग वाले समुद्र के बड़े बड़े तरङ्गों के समान प्रत्याघात को प्राप्त हुईं ।

'किरातार्जुनीय' महाकाव्य का नामकरण

इस महाकाव्य में इन्द्रकील पर्वत पर दिव्यास्त्रलाभ के लिए तप करने वाले पाण्डुपुत्र श्री अर्जुन का किरात वेशधारी भगवान् शङ्कर के साथ घोर युद्ध वर्णित है। तदनुसार ही उक्त महाकाव्य का नामकरण 'किरातार्जुनीयम्' अभिहित हुआ है । इस काव्य में राजनीति (साम, दाम, दण्ड एवं भेद) का अपूर्व वर्णन है ।

किरातार्जुनीय महाकाव्य के टीकाकार

१. मल्लिनाथ । २. विद्यामाधव । ३. मंगल । ४. देवराजभट्ट । ५. रामचन्द्र । ६. क्षितिपाल मल्ल । ७. प्रकाशवर्ष । ८. कृष्णकवि । ९. चित्रभानु । १०. एकनाथ । ११. जिनराज । १२. हरिकान्त । १३. भरतसेन । १४. भगीरथ मिश्र । १५. पेद्दाभट । १६. अल्लादि नरहरि । १७. हरिदास । १८. काशीनाथ । १९. धर्मविजयमणि । २०. राजकुण्ड । २१. गदासिंह । २२. दामोदर मिश्र । २३. मनोहर शर्मा । २४. माधव । २५. लोकानन्द । २६. बंकीदास । २७. विजयराम

(या विजयसुन्दर) २८. शब्दार्थदीपिक—लेखक अज्ञात। २९. प्रसन्नसाहित्यचन्द्रिका लेखक अज्ञात । ३०. नृसिंह । ३१. रविकीर्ति । ३२. श्रीरंगदेव । ३३. श्रीकण्ठ। ३४. वल्लभदेव ३५. जीवानन्द विद्यासागर । ३६. कनकलाल शर्मा और ३७. गंगाधर मिश्र ।

इस प्रकार किरातार्जुनीयम् महाकाव्य की ३७ टीका मिलती है । किन्तु इन सब टीकाओं में मल्लिनाथ की 'घण्टापथ' टीका अत्यन्त श्रेष्ठ है । इस टीका का नामकरण मल्लिनाथ घण्टापथ इसलिए करते हैं कि किरात महाकाव्य एक वन के समान है जिसमें मल्लिनाथ की टीका पथ प्रदर्शक है । वस्तुतः वन में पशुओं के एक झुण्ड में एक पशु के गले में घण्टा बाँध दिया जाता है जिसकी आवाज से पशु कहाँ हैं और किस ओर से आ रहे हैं पता लगाया जा सकता है । वही घण्टा-पशु अन्य पशुओं का पथ प्रदर्शक होता है उसी के पीछे-पीछे अन्य पशु भी चरते रहते हैं ।

महाकवि भारवि का समय

महाकवि भारवि को ईसा की षष्ठ शताब्दी के आसपास माना जाता है। १. एहोल के शिलालेख में रविकीर्ति ने कालिदास के साथ भारवि का भी उल्लेख किया है । इस शिलालेख का समय ६३४ ई० है ।[१] २. दुर्विनीत ने किरातार्जुनीय की व्याख्या करते समय इनका जन्म षष्ठ शताब्दी के उत्तरार्ध (५५०-६०० ई०) में माना है । ३. वियेना ओरियण्टल सोसाइटी जनरल के तृतीय भाग (१४४ पृ०) में श्री हरमैन जैकोबी महोदय ने भारवि का समय षष्ठ शताब्दी का पूर्वार्द्ध स्वीकार किया है । ४. सीताराम जयराम जोशी एवं विश्वनाथ शास्त्री भारद्वाज ने भारवि का समय षष्ठ शती का उत्तरार्ध एवं ५. पं० बलदेव उपाध्याय ने छठवीं शती के लगभग माना है । बाणभट्ट ने अपने हर्षचरित में पूर्ववर्ती कवियों का नामोल्लेख करते समय भारवि को विस्मृत कर दिया । यह सातवीं शती के लब्धप्रतिष्ठ महाकवि थे । तदनुसार भारवि का समय बाणभट्ट का परवर्ती होना सिद्ध होता है ।

निम्न तर्कों एवं प्रमाणों के अनुसार महाकवि भारवि का स्थिति काल ५५० ई० से ६०० ई० तक माना जाता है ।

१. दक्षिण के चालुक्य वंशी नरेश पुलकेशी द्वितीय के समय के ऐहोल शिलालेख में भारवि का नाम कालिदास के साथ मिलता है । यह शिलालेख बीजापुर में ऐहोल ग्राम के एक जैन मन्दिर में मिला है । इसका समय ५५६ शकाब्द अर्थात् ६३४ ई० है । प्रशस्तिलेखक रविकीर्ति कोई जैन कवि हैं जो अपने को कालिदास और भारवि के समान यशस्वी बताते हैं । इससे यह तात्पर्य निकलता है कि सातवीं शताब्दी के उत्तरार्ध के पूर्व भारवि इतनी प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके थे जिससे उनका नाम कालिदास के नाम के साथ लिया जाने लगा था ।

---

१. स विजयतां रविकीर्तिः कविताश्रित—कालिदासभारविकीर्तिः ।

२. चूँकि भारवि का नाम कालिदास के साथ लिया गया है अतः कहा जा सकता है कि ये दोनों समकालीन रहे हों किन्तु यह उचित नहीं। दोनों की शैली में इतना महान् अन्तर है कि दोनों दो भिन्न-भिन्न युगों के कवि हैं दोनों के समय की काव्य की धाराएं एक दूसरे से इतनी विपरीत हैं कि कालिदास से भारवि तक पहुँचने में काव्य की ६ शताब्दी का समय लग ही गया होगा । अतः भारवि कालिदास के समकालीन नहीं हो सकते।

३. गंग नरेश दुर्विनीत के समय के गुमरेहीपुर के लेख से ज्ञात होता है कि दुर्विनीत ने 'किरातार्जुनीयम्' के १५वें सर्ग पर टीका लिखी थी । लेख के समय के विषय में विद्वानों में मतभेद है किन्तु नवीनतम अन्वेषणों से दुर्विनीत का राज्यकाल ५८० ई० ठहरता है और भारवि का समय इसके बाद किसी प्रकार नहीं रखा जा सकता है ।

४. अवन्तिसुन्दरी कथा के आधार पर भारवि विष्णुवर्धन पुलकेशिन् द्वितीय के अनुज थे और लगभग ६१५ में वह महाराष्ट्र पर राज्य करते थे । उनका समकालीन होने से भारवि का समय सातवीं शताब्दी का प्रारम्भ होना चाहिए ।

५. बाण ने कहीं भी भारवि का नाम नहीं लिया है । इससे स्पष्ट है कि भारवि बाण से बहुत पहले नहीं रहे होंगे और न बाण के समय में इतने प्रसिद्ध ही हुए होंगे कि बाण उनका उल्लेख करते । इन सभी विचारों से यही निष्कर्ष निकलता है कि भारवि का समय ५५० ई० से ६०० ई० तक ही माना जा सकता है ।

किरातार्जुनीय महाकाव्य की समीक्षा

प्रस्तुत 'किरातार्जुनीयम्' महाकाव्य का प्रारम्भ 'श्री' शब्द से होता है, और प्रत्येक सर्ग के अन्त में 'लक्ष्मी' शब्द प्रयुक्त है, अतः इसे **लक्ष्मीपदांक** कहते है। कवि ने एक अन्य कथावस्तु को इसमें महाकाव्य का रूप दिया है । प्रस्तुत महाकाव्य के नायक अर्जुन धीरोदात्त नायक हैं, और प्रधान रस वीर है । अप्सराओं का विहार श्रृंगार रसमय है, जो प्रधान रूप से अंग रूप में प्रस्तुत किया गया है । महाकाव्यों की परिभाषा के अनुसार उसमें संध्या,सूर्य, रजनी आदि का वर्णन है, और वस्तु-व्यंजना के रूप में क्रीडा, सुरत आदि का समावेश किया गया है 'किरातार्जुनीयम्' में कई स्थानों पर क्लिष्टता आने के कारण उसे ठीक समझने में विद्वानों को भी कष्ट होते है । टीकाकार **मल्लिनाथ** ने संभवतः इसी कारण भारवि कवि की वाणी को कठोर कवच परंतु मधुर स्वाद वाले नारियल (नारिकेल फल) की उपमा दी है ।

नारिकेलफलसन्निभं वचो भारवेः सपदि यद्विभज्यते ।
स्वादयन्तु रसगर्भनिर्भरं सारमस्य रसिक यथेप्सितम् ॥

किरातार्जुनीय महाकाव्य की संक्षिप्त विषयवस्तु

यह महाकवि-भारवि-रचित प्रख्यात महाकाव्य है । इसका कथानक 'महाभारत'

पर आधारित है । इन्द्र व शिव को प्रसन्न करने के लिये की गई अर्जुन की तपश्चर्या ही इस महाकाव्य का वर्ण्य विषय है जिसे कवि ने १८ सर्गों में विस्तार से लिखा है ।

संस्कृत साहित्य के पञ्च महाकाव्यों में किरातार्जुनीय की गणना होती है । इसकी कथा का प्रारम्भ द्यूतक्रीडा में हारे हुए पाण्डवों के द्वैतवन में निवास काल से हुआ है । **प्रथम सर्ग** में युधिष्ठिर द्वारा नियुक्त किया गया वनेचर (गुप्तचर) उनसे आकर दुर्योधन की सुन्दर शासन-व्यवस्था व रीति-नीति की प्रशंसा करता है। शत्रु की प्रशंसा सुनकर द्रौपदी का क्रोध उबल पड़ता है । वह युधिष्ठिर को कोसती हुई उन्हें युद्ध के लिये प्रेरित करती है ।

द्वितीय सर्ग में द्रौपदी की बातें सुनकर उनके समर्थनार्थ भीम कहते हैं कि पराक्रमी पुरुषों को ही समृद्धियाँ प्राप्त होती हें । युधिष्ठिर उनके विचार का प्रतिवाद करते है । सर्ग के अंत में व्यास के वार्ताक्रम में अर्जुन को शिव की आराधना कर पाशुपतास्त्र प्राप्त करने का आदेश होता है । भगवान् व्यास अर्जुन को योगविधि बतला कर अन्तर्धान हो जाते हैं और उनके साथ अर्जुन व यक्ष प्रस्थान करते है ।

चतुर्थ सर्ग में इन्द्रकील पर्वत पर अर्जुन व यक्ष का प्रस्थान एवं शरद् ऋतु का वर्णन है । **पञ्चम सर्ग** में हिमालय का वर्णन व यक्ष द्वारा अर्जुन को इन्द्रियों पर संयम करने का उपदेश है। **सर्ग ६** में अर्जुन संयतेन्द्रिय होकर घोर तपस्या में लीन हो जाते हैं । उनके व्रत में विघ्न उपस्थित करने हेतु इन्द्र द्वारा अप्सरायें भेजी जाती हैं । **सर्ग ७** में गन्धर्वो व अप्सराओं द्वारा अर्जुन की तपस्या में विघ्न करने का प्रयास वर्णित है । यहीं वनविहार व पुष्पचयन का वर्णन है । **सर्ग ८** में अप्सराओं की जलक्रीडा का कामोद्दीपक वर्णन है ।

सर्ग ९ में संध्या, चन्द्रोदय, मान, मान-भंग, व दूती-संप्रेषण का मोहक वर्णन है । **सर्ग १०** में अप्सराओं की असफलता व उनका प्रयाण वर्णित है । **सर्ग ११** में अर्जुन की सफलता देखकर इन्द्र मुनि का वेश धारण कर आते हैं और उनकी तपस्या की प्रशंसा करते हैं । वे अर्जुन से तपस्या का कारण पूँछते हैं और शिव की आराधना का आदेश देकर अन्तर्धान हो जाते हैं। **सर्ग १२** में अर्जुन प्रसन्नचित होकर शिव आराधना में लीन हो जाते हैं । तपस्वी लोग उनकी साधना से व्याकुल होकर, भगवान् शंकर के पास जाकर उनके बारे में बतलाते हैं । शिव उन्हें विष्णु का अंशावतार बतलाते हैं । अर्जुन को देवताओं का कार्य साधक जानकर, मूक नामक दानव शूकर का रूप धारण कर उन्हें मारने के लिये आता है । परन्तु किरात-वेशधारी शिव और उनके गण उनकी रक्षा करते हैं।

सर्ग १३ में एक वराह अर्जुन के पास आता है । उसे लक्ष्य कर शिव व अर्जुन दोनों बाण मारते है । शिव का किरातवेशधारी अनुचर आकर कहता है कि शूकर उसके बाण से मरा है, अर्जुन के बाण से नहीं । **सर्ग १४-१५** में अर्जुन व किरात-वेशधारी शिवजी के घनघोर युद्ध का वर्णन है । **सर्ग १६-१७**में शिव

को देखकर अर्जुन के मन में तरह तरह का संदेह उठना व दोनों का मल्ल युद्ध वर्णित है । **सर्ग १८** में अर्जुन के युद्ध-कौशल से शिवजी प्रसन्न होते हैं व अपना वास्तविक रूप प्रकट कर देते हैं और अर्जुन उनकी प्रार्थना करते हैं । प्रसन्न होकर शिवजी अर्जुन को पाशुपतास्त्र प्रदान करते हैं । इस प्रकार अर्जुन की पाशुपतास्त्र प्राप्ति की अभिलाषा पूर्ण हो जाती है और यहीं पर यह महाकाव्य पूर्ण हो जाता है—

व्रज जय रिपुलोकं पादपद्मानतः सन्
गदित इति शिवेन श्लाघितो देवसंघैः ।
निजगृहमथ गत्वा सादरं पाण्डुपुत्रो
धृतगुरुजयलक्ष्मीर्धर्मसूनुं ननाम ॥ (१८.४८)

भगवान् शङ्कर द्वारा यह कहने पर कि जाओ और अपने शत्रुओं पर विजय प्राप्त करो, उनके चरण-कमलों में शिर झुकाकर, देवताओं द्वारा प्रशंसित एवं वर-प्राप्ति रूपिणी महती विजयलक्ष्मी को धारण कर पाण्डुपुत्र अर्जुन ने अपने घर पहुँचकर अपने ज्येष्ठ भ्राता धर्मपुत्र युधिष्ठिर को प्रणाम किया ।

इस प्रकार मनोरथ पूर्ण हो जाने पर अर्जुन अपने भाइयों के पास लौट जाते हैं ।

किरातार्जुनीय का उपजीव्य

महाकाव्य की कथा महाभारत पर आधारित है । महाभारत को कई नाटक एवं महाकाव्यों का उपजीव्य होने का गौरव प्राप्त है । यह काव्य महाभारत की मुख्य कथा से ही सम्बन्धित है ।

पाण्डु की मृत्यु के बाद पाण्डव धृतराष्ट्र की संरक्षकता में रहने लगे । ज्येष्ठ पाण्डव युधिष्ठिर जब युवक हुए तो धृतराष्ट्र ने उन्हें हस्तिनापुर का युवराज बनाया। धृतराष्ट्र का ज्येष्ठ पुत्र दुर्योधन युधिष्ठिर के युवराज बन जाने से ईर्ष्या से जल रहा था और उनसे अत्यन्त द्वेष रखता था । दुर्योधन ने पाण्डवों को हर एक प्रकार से कष्ट देने एवं उन्हें नष्ट करने का जाल रचा किन्तु इस बार भी पाण्डव बच निकले । वे ब्राह्मणों का वेष बनाकर गुप्त रूप से रहने लगे और इसी बीच अर्जुन ने द्रौपदी के स्वयंवर में अपनी युद्धकला का प्रदर्शन किया । राजकुमारी द्रौपदी पाँचों पाण्डवों की पत्नी बनी । जब धृतराष्ट्र को पाण्डवों के जीवित होने का समाचार मिला तो उन्होंने उन्हें बुलाकर अपने पुत्रों एवं पाण्डवों में राज्य का विभाजन कर दिया । यमुना के तट पर इन्द्रप्रस्थ नगर को युधिष्ठिर ने अपनी राजधानी बनाई और चारों दिशाओं को जीतकर राजसूय यज्ञ किया । युधिष्ठिर की उन्नति देखकर ईर्ष्यालु दुर्योधन ने एक दूसरा षडयन्त्र किया और अपने पिता से कहकर पाण्डवों को द्यूतक्रीड़ा के लिए निमन्त्रण दिया । दुर्योधन के मामा शकुनि की कपटपूर्ण चाल के आगे पाण्डव दाँव हारते गए और अन्त में द्रौपदी को भी हार गए । भरी सभा में द्रौपदी का अपमान किया गया । क्रुद्ध भीम ने दुःशासन

का रक्त पीने एवं दुर्योधन की जांघ तोड़ने की प्रतिज्ञा की। उनकी प्रतिज्ञा की सूचना पाकर चतुर धृतराष्ट्र ने उन्हें बुलाकर फिर उनका राज्य वापस कर दिया। अपने इस षडयन्त्र में भी असफल होने पर दुर्योधन ने फिर उन्हें द्यूतक्रीड़ा के लिए आमन्त्रित किया। इस बार शर्त यह रही की हारने वाला बारह वर्ष तक वनवास एवं एक वर्ष तक अज्ञातवास करेगा। यदि तेरहवें वर्ष में वह पहचान लिया जाय तो फिर उसी प्रकार १३ वर्ष और व्यतीत करने पड़ेंगे। पाण्डव इस बार भी हार गए। अपने भाइयों एवं पत्नी को साथ लेकर युधिष्ठिर ने वन की राह ली। प्रस्तुत महाकाव्य की कथा वहीं से प्रारम्भ होती है।

महाभारत एवं किरातार्जुनीय महाकाव्य की कथा में अन्तर

१. महाभारत के उद्धत भीम किंरातार्जुनीय के सुयोग्य राजनीतिज्ञ हैं।

२. महाभारत में युधिष्ठिर को मन्त्र का उपदेश व्यास देते हैं और तत्पश्चात् युधिष्ठिर इस मन्त्र को अर्जुन को देते हैं।

३. महाभारत में अर्जुन मन की गति से भी तीव्र मन्त्र की शक्ति से इन्द्रकील पर्वत पर पहुँच जाते हैं किन्तु किरातार्जुनीय में उन्हें यक्ष इन्द्रकील पर्वत पर पहुँचाता है।

४. महाभारत के अर्जुन के सामने इन्द्रकील पर्वत पर उनके पहुँचते ही तपस्वी रूप में इन्द्र मिल जाते हैं। किरातार्जुनीय में इन्द्र अर्जुन को मोहित करने के लिए अप्सराओं को भेजते हैं। फिर स्वयं एक वृद्ध तपस्वी का वेष धारण कर सामने आते हैं।

५. महाभारत में भगवती उमा के साथ भगवान् शंकर किरात के वेष में रहते हैं। और अर्जुन से अकेले लड़ते हैं। जबकि किरातार्जुनीय में वे सेना सहित लड़ते हैं और अर्जुन उनकी सेना को तितर-बितर कर देते हैं। इस प्रकार कवि सेना का वर्णन करके अर्जुन की वीरता के महत्त्व की वृद्धि कर देता है।

६. महाभारत का युद्ध वर्णन नीरस एवं शुष्क है जबकि भारवि का युद्ध वर्णन अत्यन्त सजीव है।

७. महाभारत में अर्जुन बेहोश हो जाते हैं और जब होश में आते हैं तो किरात के सिर पर वही माला देखते हैं जो उन्होंने भगवान् शंकर की प्रतिमा पर चढ़ाई थी और इस प्रकार शिव को वे पहचान लेते हैं। किरातार्जुनीय में अर्जुन द्वन्द्व युद्ध में ही शिव का पैर पकड़ते हैं जिससे शिव प्रसन्न होकर उन्हें हृदय से लगा लेते हैं और पाशुपतास्त्र प्रदान करते हैं।

महाकवि भारवि का अर्थ गौरव

उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्।
दण्डिनः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः॥

समीक्षकों के अनुसार कालिदास की उपमा संस्कृत के कवियों में सर्वश्रेष्ठ

मानी जाती है एवं भारवि के काव्य में अर्थ के गौरव का प्राधान्य है । इसी प्रकार दण्डी अपने पदलालित्य के कारण प्रख्यात हैं एवं माघ के रचित शिशुपालवध काव्य में इन तीनों गुणों का समन्वय हैं । भारवि की कविता में गीतिमय माधुर्य की अपेक्षा वर्णनात्मक एवं तर्कात्मक शैली का प्राधान्य है । कालिदास के समान सुश्लिष्ट पदविन्यास नहीं है किन्तु अर्थगौरवमय पदों का विन्यास यहाँ पूर्ण मात्रा में है ।

क्रियासु युक्तैर्नृप ! चारचक्षुषो न वञ्चनीयाः प्रभवोऽनुजीविभिः ।
अतोऽर्हसि क्षन्तुमसाधु साधु वा हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः ॥ (१.४)

दूत ही राजा के नेत्र हैं, इस कारण उन्हें झूठ बोल कर राजा को धोखा नहीं देना चाहिए । इसलिए मैं सर्वथा सत्य ही कहूंगा । यदि अप्रिय भाषण से मैं अपराधी समझा जाऊँ तो आपको क्षमा करनी होगी ।

व्रजन्ति ते मूढधियः पराभवं भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः ।
प्रविश्य हि घ्नन्ति शठास्तथाविधा न संवृताङ्गान्निशिता इवेषवः ॥

जो व्यक्ति छली पुरुषों के साथ छल व्यवहार नहीं करते हैं वे पराभव को प्राप्त होते हैं । जैसे कवच नहीं पहिने हुए योद्धा बाणों द्वारा पराभूत होते हैं । (१.३०)

स किंसखा साधु न शास्ति योऽधिपं हितान्न यः संश्रृणुते स किंप्रभुः।
सदाऽनुकूलेषु हि कुर्वते रतिं नृपेष्वमात्येषु च सर्वसंपदः ॥ (१.५)

जो मंत्री राजा को हित का उपदेश नहीं करता वह योग्य मन्त्री नहीं है और जो राजा मन्त्री द्वारा कहे गए हित वचनों को नहीं सुनता वह अयोग्य राजा है । इसलिए जब राजा और मन्त्री में परस्पर मेल रहता है तभी राज्यलक्ष्मी बहुत काल तक स्थिर होकर रहती है ।

भारवि को उनकी एक उपमा के कारण 'आतपत्र-भारवि' की उपाधि से विभूषित किया गया है ।

अवन्ध्यकोपस्य विहन्तुरापदां भवन्ति वश्याः स्वयमेव देहिनः ।
अमर्षशून्येन जनस्य जन्तुना न जातहार्देन न विद्विषादरः ॥ (१.३३)

जिनका क्रोध व्यर्थ नहीं जाता ऐसे पुरुषों के सभी वश में रहते हैं । क्रोधहीन जनों से मित्रता या शत्रुता करने का कुछ भी मूल्य नहीं रहता ।

द्विषन्निमित्ता यदियं दशा ततः समूलमुन्मूलयतीव मे मनः ।
परैरपर्यासितवीर्यसम्पदां पराभवोऽप्युत्सव एव मानिनाम् ॥ (१.४१)

हम लोग शत्रु के कारण आज इस स्थिति पर पहुँचे हैं । इसको जानकर मुझे बड़ा कष्ट होता है । शत्रु से पराजित नहीं किए गए पराक्रमी जनों की दैवकृत विपत्ति विपत्ति नहीं कही जाती, उसे विद्वज्जन उत्सव कहा करते हैं ।

विहाय शान्तिं नृप धाम तत्पुनः प्रसीद संधेहि वधाय विद्विषाम् ।
व्रजन्ति शत्रूनवधूय निःस्पृहाः शमेन सिद्धिं मुनयो न भूभृतः ॥ (१.४२)

इस समय, हे नृप! शान्ति को छोड़ दीजिए और पुनः उस तेज को धारण कीजिए। संसारत्यागी मुनिजन ही क्षमा द्वारा सिद्धि को प्राप्त कर सकते हैं न कि राजा लोग। वे क्रोध के बिना सिद्धि नहीं प्राप्त कर सकते।

द्विषतामुदयः सुमेधसा गुरुरस्वन्ततरः सुमर्षणः।
न महानपि भूतिमिच्छता फलसम्पत्प्रवणः परिक्षयः॥ (२.८)

अपना जय चाहने वाले बुद्धिमान को परिणाम में नाश होने वाले शत्रु के वर्तमान अभ्युदय को सहन करना चाहिए। किन्तु परिणाम में अभ्युदय को प्राप्त होने वाले उस शत्रु की वर्तमान हानि नहीं करना चाहिए।

ज्वलितं न हिरण्यरेतसंचयमास्कन्दति भस्मनां जनः।
अभिभूतिभयादसूनतः सुखमुज्झन्ति न धाम मानिनः॥ (२.२०)

लोग भस्म की ढेर को पैर से रौंदते हैं पर जलती हुई अग्नि को पैर जलने के डर से नहीं रौंदते। ऐसा विचार कर मानी लोग पराभव के भय से प्राण तक त्याग सकते हैं किन्तु अपना तेज नहीं।

प्रलीनभूपालमपि स्थिरायति प्रशासदावारिधि मण्डलं भुवः।
स चिन्तयत्येव भियस्त्वदेष्यतीरहो दुरन्ता बलवद्विरोधिता॥ (२.२३)

समस्त राजाओं और आसमुद्रान्त भूमण्डल पर अपना पूर्ण शासनाधिकार रखते हुए भी वह आपकी ओर से आने वाली विपत्ति से सदा चिन्तित ही रहा करता है, ठीक ही है—बड़ों के साथ शत्रुता ठानने का परिणाम अच्छा नहीं होता।

इमामहं वेद न तावकीं धियं विचित्ररूपाः खलु चित्तवृत्तयः।
विचिन्तयन्त्या भवदापदं परां रुजन्ति चेतः प्रसभं ममाधयः॥ (२.३७)

आपकी कैसी बुद्धि है मैं नहीं जानती। प्रत्येक मनुष्य की भिन्न भिन्न बुद्धि होती है। किन्तु आपकी दशा को देखकर मुझे कष्ट होता है। पर आश्चर्य है कि आप ऐसी अवस्था में किस प्रकार धैर्य धारण किए हैं॥

उपकारकमायतेर्भृशं प्रसवः कर्मफलस्य भूरिणः।
अनपायि निबर्हणं द्विषां न तितिक्षासममस्ति साधनम्॥ (२.४३)

भविष्यकाल को उत्तम बनाने वाला, चिरस्थायी और हिंसा दोष रहित शत्रुओं का नाश करने वाला शान्ति के समान दूसरा कोई साधन नहीं है॥

किमपेक्ष्य फलं पयोधरान् ध्वनतः प्रार्थयते मृगाधिपः।
प्रकृतिः खलु सा महीयसः सहते नान्यसमुन्नतिं यया॥ (२.२१)

सिंह मेघ के गरजने को नहीं सह सकता इसलिए वह मेघ की तरफ क्रोध से देखता है। तेजस्वियों का स्वभाव ही कुछ ऐसा होता है कि जो प्रतिद्वन्द्वी से ईर्ष्या करने लगते हैं।

उपजापसहान्विलङ्घयन् स विधाता नृपतीन्मदोद्धतः।
सहते न जनोऽप्यधःक्रियां किमु लोकाधिकधाम राजकम्॥ (२.४७)

मदमस्त वह दुर्योधन राजाओं को घृणा की दृष्टि से देखता हुआ स्वयं उन्हें अपने से भिन्न कर देगा। साधारण जन भी जब अपमान सहन नहीं कर सकते, तब प्रबल प्रतापी राजसमूह उसे सहने के लिए कब तैयार हो सकता है?

सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम्।
वृणुते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः ॥ (२.३०)

सहसा कोई काम नहीं कर बैठना चाहिए। विचार किए बिना किया हुआ काम आपत्ति का कारण बनता है। गुणों पर मुग्ध होने वाली सम्पत्ति विचारपूर्वक काम करने वाले को स्वयं वरण कर लेती है।

इस प्रकार भारवि का अर्थ गौरव, जिसके लिए विद्वानों ने उनकी अत्यधिक प्रशंसा की है उनकी गम्भीर अभिव्यञ्जना शैली का फल है। इनके काव्य में शब्द तथा अर्थ के सुडौलपन की स्वस्थता विद्यमान है।

भारवि के **प्रकृति वर्णन** में कालिदास के समान प्रभावोत्पादकता है।

मृणालिनीनामनुरञ्जितं त्विषा
विभिन्नमम्भोजपलाशशोभया।
पयः स्फुरच्छालिशिखापिशङ्गितं
द्रुतं धनुष्खण्डमिवाहिविद्विषः ॥ (४.२७-३०)

(पद्मिनियों की लताओं की कान्ति से अनुरञ्जित (हरे वर्ण), कमल दलों के अरुण छटा-पुञ्जों से मिला हुआ (लाल वर्ण), इधर-उधर हिलने वाले पके जड़हन धान की बालों से पीले वर्ण—इस प्रकार विविध वर्णों में भासमान (खेतों का पानी) मानों गलते हुये अर्थात् (अस्त होते हुए) इन्द्र के धनुष-खण्ड की भाँति यह केदार जल, वन-पङ्क्ति-रूपी कामिनियों एवं आकाश (मार्ग) को लक्ष्य करके दौड़ते हुए श्वेत पंखों वाले हंसों के कल-कूजन द्वारा गुम्फित अर्थात् व्याप्त बादलों की बाधा से निर्मुक्त निर्मल दिशाएँ मानों परस्पर बातें करती हुई प्रतीत हो रही हैं।

भारवि का **शृङ्गार-वर्णन** कालिदास के समान वासना से ओतप्रोत नहीं है। अप्सराओं का वन-विहार, पुष्पावचय, जलक्रीड़ा आदि का वर्णन अत्यन्त मनोरम है। जैसे—

विहस्य पाणौ विधृते धृताम्भसि प्रियेण वध्वा मदनार्द्रचेतसः।
सखीव काञ्ची पयसा घनीकृता बभार वीतोच्चयबन्धमंशुकम् ॥

(८.५१)

अपने प्रियतम के ऊपर डालने के लिए किसी सुन्दरी ने ज्योंही अपनी अञ्जलि में पानी लिया त्यों ही उसके प्रियतम ने हँसकर उसका हाथ पकड़ लिया। इससे चित्त में कामोद्रेक होने से परवश उस सुन्दरी का नीवी बन्धन ढीला हो गया और वस्त्र खिसकने लगा किन्तु उसे उसी क्षण जल में भींगने से कड़ी हुई करधनी ने मानों सखी की भाँति खिसकने से रोक लिया।

छन्द योजना—वंशस्थ भारवि का प्रिय छन्द है । इसके अतिरिक्त इन्होंने इन्द्रवज्रा उपेन्द्रवज्रा, द्रुतविलम्बित, प्रमिताक्षरा, प्रहर्षिणी आदि कई छन्दों का प्रयोग किया है । इस प्रकार भारवि की कविता प्रौढ़ता, अनुभूति एवं भावुकता के साथ राजनीतिक परिवेश में खरी उतरती है । महाकवि भारवि की हृदयग्राही उक्तियाँ उनकी एक प्रमुख विशेषता है। वे राजनीति के निष्णात पण्डित थे और राजनीतिक ग्रन्थों का उन्हें पूर्ण ज्ञान था ।

मकर संक्रान्ति २०५८ विद्वद्वशंवद:

१४.२.२००२ **सुधाकर मालवीयः**



सुभाषितानि

सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम् ।
वृणुते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः ॥

सहसा कोई काम नहीं कर बैठना चाहिए । विचार किए बिना किया हुआ काम आपत्ति का कारण बनता है । गुणों पर मुग्ध होने वाली सम्पत्ति विचार पूर्वक काम करने वाले को स्वयं वरण कर लेती है ।

क्रियासु युक्तैर्नृप ! चारचक्षुषो
न वञ्चनीयाः प्रभवोऽनुजीविभिः ।
अतोऽर्हसि क्षन्तुमसाधु साधु वा
हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः ॥ ४ ॥

दूत ही राजा के नेत्र हैं, इस कारण उन्हें झूठ बोल कर राजा को धोखा नहीं देना चाहिए । इसलिए मैं सर्वथा सत्य ही कहूंगा । यदि अप्रिय भाषण से मैं अपराधी समझा जाऊँ तो आपको क्षमा करनी होगी ।

*

विषयानुक्रमणिका

सर्गाङ्काः	विषयाः	पृष्ठाङ्काः
१.	युधिष्ठिरवनेचरयोः सम्मेलनम्, तत्सम्पादितं दुर्योधनस्य राजनीतिचातुर्यवर्णनम्, वनेचरगमनम्, धर्मराजं प्रति द्रौपदीगमनम् ।	१
२.	युधिष्ठिरं प्रति सकोपभीमसेनोक्तिः, भीमसेनं प्रति युधिष्ठिरपरिबोधनम्, पाण्डवसन्निधौ व्यासमुनेः समागमनम्, तत्कृतमुनिसत्कारवर्णनम् ।	३७
३.	व्यासऋषिस्वरूपवर्णनम्, व्यासयुधिष्ठिरयोः संवादः, अर्जुनम्प्रति मुनिकृतो विद्योपदेशः, तपश्चर्यार्थं निदेशश्च, व्यासऋषेरन्तर्धानम्, अर्जुनस्य गमनोपक्रमः, पाण्डवानां भाव्यर्जुनविश्लेषजन्यदुःखनिमग्नत्वम्, अर्जुनस्य द्रौपदीदर्शनम्, अर्जुनं प्रति कृष्णोक्तिः, व्यासादिष्टेन गुह्यकेन सार्द्धमर्जुनस्येन्द्रकीलाभिधेयं हिमाद्रिपादविशेषं प्रति प्रस्थानम् ।	७३
४.	कविकृतशरद्वर्णनम्, यक्षाभिहितशरद्वर्णनम्, हिमालयदर्शनम् ।	१०५
५.	हिमालयवर्णनम्, तन्मूलेऽर्जुनसम्प्राप्तिः, यक्षगमनम् ।	१२५
६.	इन्द्रकीले पृथासूनोरारोहणादिवर्णनम्, तत्र तस्य तपश्चर्यायाः आरम्भः, तपोवर्णनम्, सहस्राक्षसमीपे इन्द्रकीलवनरक्षककृतार्जुनतपोऽतिशयप्रख्यापनम्, पृथासूनुतपोऽन्तरायार्थं वाराङ्गनागणम्प्रति पाकशासनादेशः ।	१५५
७.	सगन्धर्वगणिकागणस्य सविलासगमनादिवर्णनम्, इन्द्रकीलाद्रौ समागतानां तेषां स्यन्दननागादिसमेतस्य तच्छिविरस्य सन्निवेशादिवर्णनम् ।	१७९
८.	गन्धर्वाणां वारस्त्रीणाञ्च सुमनोवचयकेलिवर्णनम्, उदककेलिवर्णनम् ।	१९९
९.	सन्ध्यावेलावर्णनम्, हिमांशूदयवर्णनम्, सुरतवर्णनम्, पानगोष्ठीवर्णनम्, पुनः संक्षेपेण सुरतवर्णनम्, संक्षेपेण प्रभातवर्णनम् ।	२२८
१०.	अर्जुनप्रलोभनार्थम् वाराङ्गनानां तत्समीपे गमनवर्णनम्, पृथासूनुवर्णनम्, वर्षादिऋतुवर्णनम्, पार्थमवलोक्य वारस्त्रीणां चेष्टावर्णनम्, गणिकाप्रयत्ननिष्फलताप्रकथनञ्च ।	२६७
११.	पार्थाश्रमे मुनिवेषधारिणः मघवतः समागमनम्, पार्थपाकशासनयोः संवादः, शक्रः प्रत्यक्षीभूयार्जुनं प्रति शङ्कराराधनं समादिदेशेति वर्णनम्।	२९९
१२.	शङ्कराराधनार्थमर्जुनकृतस्य तपसः वर्णनम्, पार्थतपसा भृशं तप्तानां सिद्धतापसानां शङ्करपार्श्वे गमनं तत्तपोवृत्तकथनं च शङ्करकृतं मुनि सान्त्वनं पार्थस्वरूपकथनं च, वराहवेषमास्थाय पार्थपराजयार्थमागतस्य	

मूकदानवस्य वधार्थं पार्थानुजिघृक्षया च किरातरूपधारिणस्तद् रूप-धारिण्यैव गणसेनया सहितस्य भगवतो मृगयाव्याजेन पार्थाश्रमे गमनवर्णनम् । ३३९

१३. शूकरवेषधारिणो मूकदानवस्यार्जुनकृतं विलोकनम्, तस्यावलोकनेन पार्थस्य विविधाः वितर्काः, शूकरं प्रति भगवतः पार्थस्य च सायक-मोक्षवर्णनम्, वराहपञ्चत्वगमनवर्णनम्, शूकरशरीरतः निजसायकमाद-दानं पार्थं प्रति शङ्करप्रहितस्य वनेचरस्योत्तेजकं वचनम् । ३६२

१४. वनेचरं प्रति पार्थोक्तिः, तच्छ्रुत्वा समागतस्य वनेचरस्य लपितं समा-कर्ण्य सेनासहितस्य लीलाकिरातस्य भगवतोर्जुनविजयार्थं समागमनम्, भगवत्सेनयार्जुनस्य सम्परायवर्णनम् । ३९८

१५. चित्रयुद्धवर्णनम् । ४२९

१६. किरातावतारधारिणः भगवतः सम्परायदक्षत्वं समालोक्य पार्थस्य वितर्कः, भगवता साकं पार्थस्य शस्त्रसम्परायवर्णनम् । ४५६

१७. सेनया सार्द्धं पार्थसम्परायवर्णनम्, भगवदर्जुनयोर्युद्धवर्णनम् । ४८३

१८. भगवदर्जुनयोर्भुजयुद्धवर्णनम्, पार्थस्य अतुलपराक्रमं विलोक्य भगवतः प्रसन्नतास्वरूपप्रकटीकरणञ्च तत्रैव शक्रादिसुरागमनम्, पार्थकृता भगवत् स्तुतिः, वरयाचनम्, पार्थं प्रति पाशुपतास्त्रसहितस्य धनुर्वेदस्य भगवत् कृत उपदेशः, पाकशासनादिसुराणामपि भगवदाज्ञया पार्थं प्रति वर-याचनं निजनिजास्त्रदानं च, कृतकृत्यस्य पार्थस्य भगवदाज्ञया धर्माव-तारयुधिष्ठिरपार्श्वे समागमनम् । ५१२

परिशिष्ट

१. किरातार्जुनीयव्याख्यायां प्रमाणत्वेन समुपन्यस्तानां ग्रन्थानां ग्रन्थकाराणां च नामानि ५३७

२. किरातार्जुनीयस्य १५ सर्गे स्थितानां चित्रबन्धानामुद्धारः ५३८

३. श्लोकानुक्रमणिका ५३९

४. सूक्तियाँ ५५५

महाकविभारविविरचितं

किरातार्जुनीयम्

॥ श्रीः ॥

महाकवि भारविविरचितं

किरातार्जुनीयम्

मल्लिनाथकृता घण्टापथ-सरला-टीकाद्वयोपेतम्

प्रथमः सर्गः

* घण्टापथः *

अर्द्धाङ्गीकृतदाम्पत्यमपि गाढानुरागि यत् । पितृभ्यां जगतस्तस्मै कस्मैचिन्महसे नमः ॥
आलम्बे जगदालम्बं हेरम्बचरणाम्बुजम् । शुष्यन्ति यद्रजःस्पर्शात्सद्यः प्रत्यूहवार्धयः ॥
तद्दिव्यमव्ययं धाम सारस्वतमुपास्महे । यत्प्रकाशात्प्रलीयन्ते मोहान्धतमसश्छटाः ॥

वाणी काणभुजीमजीगणदवाशासीच्च वैयासकी-
मन्तस्तन्त्रमरंस्त पन्नगगवीगुम्फेषु चाजागरीत् ।
वाचामाचकलद्रहस्यमखिलं यश्चाक्षपादस्फुरां
लोकेऽभूद्यदुपज्ञमेव विदुषां सौजन्यजन्यं यशः ॥

मल्लिनाथकविः सोऽयं मन्दात्मानुजिघृक्षया ।
तत्किरातार्जुनीयाख्यं काव्यं व्याख्यातुमिच्छति ॥
नारिकेलफलसम्मितं वचो भारवेः सपदि तद्विभज्यते ।
स्वादयन्तु रसगर्भनिर्भरं सारमस्य रसिका यथेप्सितम् ॥

नानानिबन्धविषमैकपदैर्नितान्तं साशङ्कचङ्क्रमणखिन्नधियामशङ्कम् ।
कर्तुं प्रवेशमिह भारविकाव्यबन्धे घण्टापथं कमपि नूतनमातनिष्ये ॥

इहान्वयमुखेनैव सर्वं व्याख्यायते मया । नामूलं लिख्यते किञ्चिन्नानपेक्षितमुच्यते ॥

अथ तत्र भवान् भारविनामा कविः—'काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये । सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मितयोपदेशयुजे' ॥ (का० प्र० १२) इत्याद्यालङ्कारिकवचनप्रामाण्यात् काव्यस्थानेकश्रेयः साधनताम्, 'काव्यालापांश्च वर्जयेद्' इति निषेधशास्त्रस्यासत्काव्यविषयतां च पश्यन् किरातार्जुनीयाख्यं महाकाव्यं चिकीर्षुश्चिकीर्षितार्थाविघ्नपरिसमाप्तिसम्प्रदायाविच्छेदलक्षणफलसाधनत्वाद् 'आशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशो वाऽपि तन्मुखम्' इत्याद्याशीर्वादाद्यन्यतमस्य प्रबन्धमुखलक्षणत्वाच्च वनेचरस्य युधिष्ठिरप्राप्तिरूपं वस्तु निर्दिशन् कथामुपक्षिपति—

श्रियः कुरूणामधिपस्य पालनीं प्रजासु वृत्तिं यमयुङ्क्त वेदितुम् ।
स वर्णिलिङ्गी विदितः समाययौ युधिष्ठिरं द्वैतवने वनेचरः ॥१॥

अन्वयः—कुरूणाम्, अधिपस्य, श्रियः, पालनीं, प्रजासु, वृत्तिम्, वेदियुतम्, यम्, अयुङ्क्त, स वर्णिलिङ्गी विदितः, वनेचरः द्वैतवने, युधिष्ठिरं समाययौ ॥ १ ॥

श्रिय इति । आदितः श्रीशब्दप्रयोगाद् वर्णगणादिशुद्धिर्नात्रातीवोपयुज्यते । तदुक्तं— 'देवतावाचकाः शब्दा ये च भद्रादिवाचकाः ।
ते सर्वे नैव निन्द्याः स्युर्लिपितो गणतोऽपि वा ॥' इति ।

कुरूणां निवासाः कुरवो जनपदाः । 'तस्य निवासः' इत्यण्प्रत्ययः । जनपदे लुप् । तेषामधिपस्य दुर्योधनस्य सम्बन्धिनीम् । शेषे षष्ठी । श्रियो राज्यलक्ष्म्याः । 'कर्तृकर्मणोः कृति' इति कर्मणि षष्ठी । पाल्यतेऽनयेति पालनी ताम् । प्रतिष्ठापिकामित्यर्थः । प्रजारागमूलत्वात्सम्पद इति भावः । 'करणाधिकरणयोश्च' इति करणे ल्युट् । 'टिड्ढाणञ्' —' इत्यादिना ङीप् । प्रजासु जनेषु विषये । 'प्रजा स्यात्सन्ततौ जने' इत्यमरः । धृत्तिं व्यवहारं वेदितुं ज्ञातुं यं वनेचरमयुङ्क्त नियुक्तवान् । वर्णः प्रशस्तिरस्यास्तीति वर्णी ब्रह्मचारी । तदुक्तं—

'स्मरणं कीर्त्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम् ।
सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च ॥
एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः ।
विपरीतं ब्रह्मचर्यमेतदेवाष्टलक्षणम् ॥'

एतदष्टविधमैथुनाभावः प्रशस्तिः । 'वर्णाद् ब्रह्मचारिणि' इतीनिप्रत्ययः । तस्य लिङ्गं चिह्नमस्यास्तीति वर्णिलिङ्गी । ब्रह्मचारिवेषवानित्यर्थः । सः नियुक्तः, वने चरतीति वनेचरः किरातः । 'भेदाः किरातशबरपुलिन्दा म्लेच्छजातयः' इत्यमरः । 'चरेष्टः' इति टप्रत्ययः । 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' इत्यलुक । विदितं वेदनमस्यास्तीति विदितः । परवृत्तान्तज्ञानवानित्यर्थः । 'अर्श आदिभ्योऽच्' इत्यच्प्रत्ययः । अथवा कर्तरि कर्मधर्मोपचाराद्विदितवृत्तान्तो विदित इत्युच्यते । उभयत्रापि 'पीता गावः', 'भुक्ता ब्राह्मणाः', 'विभक्ता भ्रातरः' इत्यादिवत्साधुत्वं, न तु कर्तरि क्तः, सकर्मकेभ्यस्तस्य विधानाभावात् । अत एव भाष्यकारः—'अकारो मत्वर्थीयः। विभक्तमेषामस्तीति विभक्ताः । पीतमेषामस्तीति पीताः' इति सर्वत्र । अथवोत्तरपदलोपोऽत्र द्रष्टव्यः । विभक्तधना विभक्ताः, पीतोदकाः पीता इति । अत्र लोपशब्दार्थमाह कैयटः—'गम्यार्थस्याप्रयोग एव लोपोऽभिमतः । 'विभक्ता भ्रातरः' इत्यत्र च धनस्य यद्विभक्तत्वं तद् भ्रातृषूपचरितम् । 'पीतोदका गावः' इत्यत्राप्युदकस्य पीतत्वं गोष्वारोप्यते' इति । तद्वदत्रापि वृत्तिगतं विदितत्वं वेदितरि वनेचर उपचर्यते । एतेन 'वनाय पीतप्रतिबद्धवत्साम्' 'पातुं' न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषुया' एवमादयो (अभिज्ञान शाकुन्तले) व्याख्याताः । अथवा विदितः विदितवान् । सकर्मकादप्यविवक्षिते कर्मणि कर्त्तरि क्तः । यथा 'आशितः कर्त्ता' इत्यादौ । यथाऽऽहुः—

'धातोरर्थान्तरे वृत्तेर्धात्वर्थेनोपसङ्ग्रहात् ।
प्रसिद्धेरविवक्षातः कर्मणाऽकर्मिका क्रिया ॥' इति ।

द्वैतवने द्वताख्ये तपोवने । यद्वा द्वे इते गते यस्मात्तद् द्वीतं, द्वीतमेव द्वैतं, तच्च तद्वनं च तस्मिन्, शोकमोहादिवर्जित इत्यर्थः । युधि = रणे स्थिरं । युधिष्ठिरं धर्मराजम् । 'हलदन्तात्सप्तम्याः संज्ञायाम्' इत्यलुक् । 'गवियुधिभ्यां स्थिरः' इति षत्वम् । समाययौ सम्प्राप्तः । अत्र 'वने वनेचरः' इति द्वयोः स्वर व्यञ्जनसमुदाय-योरेकदैवावृत्त्या वृत्त्यनुप्रासो नामालङ्कारः । अस्मिन्सर्ग वंशस्थवृत्तं, तल्लक्षणं—'जतौ तु वंशस्थममुदीरितं जरौ' इति ।।१ ।।

*** सरला ***

विद्याप्रदं गणपतिं सर्वप्रत्यूहनाशकम् ।
भक्ताभीष्टप्रदातारं बुद्धिजाड्यापहारकम् ।। १ ।।
नत्वा श्रेयस्करीं शक्तिं काव्यस्यास्य किरातस्य ।
भाषाटीकां वितनुते मालवीयः सुधाकरः ।। २ ।।

हिन्दी—कुरुओं के अधिपति दुर्योधन के राज्यलक्ष्मी की रक्षा करने में समर्थ, प्रजावर्ग के साथ किये जाने वाले उसके व्यवहार को भलीभाँति जानने के लिए (युधिष्ठिर ने) जिस (गुप्तचर किरात) को नियुक्त किया था, ब्रह्मचारी का (छद्म) वेश धारण करने वाला वह (गुप्तचर), (वहाँ की सम्पूर्ण परिस्थितियों को) समझ-बूझकर द्वैतवन में राजा युधिष्ठिर के पास वापस लौट आया ।। १ ।।

विमर्श—इस महाकाव्य की कथा का उपजीव्य महाभारत है । जैसा प्रसिद्ध है, कि पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर, भीम एवं अर्जुन आदि से धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधनादि की तनिक भी नहीं पटती थी । एक बार फुसलाकर दुर्योधन ने युधिष्ठिर के साथ जुआ खेला और अपने मामा शकुनि की धूर्तता से युधिष्ठिर को हरा दिया । युधिष्ठिर न केवल राज्यलक्ष्मी के अपने हिस्से को ही गँवा बैठे, प्रत्युत यह दाँव भी हार गये कि वे अपने सब भाइयों के साथ बारह वर्ष तक वनवास और एक वर्ष तक अज्ञातवास करेंगे । परिणामस्वरूप अपने चारों भाइयों तथा रानी द्रौपदी के साथ बारह वर्षों तक जगह-जगह ठोकर खाते हुए घूमते-फिरते रहे । एक बार वे सरस्वती नदी के किनारे द्वैतवन में निवास कर रहे थे कि उनके मन में विचार आया कि किसी युक्ति से दुर्योधन का राज्य के प्रजावर्ग के साथ किस प्रकार का व्यवहार है, यह जाना जाय । इसी जानकारी को प्राप्त करने के लिए उन्होंने एक चतुर वनवासी किरात को नियुक्त किया, जिसने ब्रह्मचारी का वेश धारण कर हस्तिनापुर में रहकर दुर्योधन की प्रजा नीति के सम्बन्ध में गहरी जानकारी प्राप्त की । प्रस्तुत संदर्भ में उसी जानकारी को वह गुप्तचर, द्वैतवन में निवास करने वाले युधिष्ठिर को, बताने के लिए वापस लौटा है ।

(क) इस प्रथम सर्ग में कवि ने वंशस्थ वृत्त का प्रयोग किया है, जिसका लक्षण है—'जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ ।' अर्थात् जगण, तगण जगण और रगण के संयोग से वंशस्थ छन्द बनता है । (ख) इस श्लोक की प्रथम पङ्क्ति में 'वने

वनेचरः' शब्दों में 'वने' की दो बार आवृत्ति होने से 'वृत्यनुप्रास' अलङ्कार है । (ग) महाकवि ने माङ्गलिक 'श्री' शब्द से अपने ग्रन्थ का आरम्भ करके वस्तुनिर्देशात्मक मङ्गलाचरण किया है ।

सम्प्रति तत्कालोचितत्वमादेशयंस्तस्य तद्गुणसम्पन्नत्वमादर्शयन्नाह—

कृतप्रणामस्य महीं महीभुजे जितां सपत्नेन निवेदयिष्यतः ।
न विव्यथे तस्य मनो न हि प्रियं प्रवक्तुमिच्छन्ति मृषा हितैषिणः ।। २ ।।

अन्वयः—कृतप्रणामस्य सपत्नेन जितां महीं महीभुजे निवेदयिष्यतः तस्य मनः न विव्यथे । हि हितैषिणः मृषा प्रियं प्रवक्तुं न इच्छन्ति ।। २ ।।

कृतप्रणामस्येति । कृतप्रणामस्य तत्कालोचितत्वात् कृतनमस्कारस्य सपत्नेन रिपुणा दुर्योधनेन । 'रिपौ वैरिसपत्नारिद्विषद्द्वेषणदुर्हृदः' इत्यमरः। जितां स्वायत्तीकृतां महीं महीभुजे युधिष्ठिराय क्रियाग्रहणात्संप्रदानत्वम् । निवेदयिष्यतः ज्ञापयिष्यतः । 'लृटः सद्वा' इति शतृप्रत्ययः । तस्य वनेचरस्य मनो न विव्यथे । कथमीदृगप्रियं राज्ञे विज्ञापयामीति मनसि न चचालेत्यर्थः । 'व्यथ भयचलनयोः' इति धातोर्लिट् । उक्तमर्थमर्थान्तरन्यासेन समर्थयते—न हीति । हि यस्माद् । हितमिच्छन्तीति हितैषिणः स्वामिहितार्थिनः पुरुषाः मृषा मिथ्याभूतं प्रियं प्रवक्तुं नेच्छन्ति, अन्यथा कार्यविघातकतया स्वामिद्रोहिणः स्युरिति भावः । 'अमौढ्यममान्द्यममृषाभाषित्वमभ्यूहकत्वं चेति चारगुणाः' इति नीतिवाक्यामृते ।। २ ।।

हिन्दी—यथोचित प्रणाम कर लेने वाले शत्रुओं (कौरवों) द्वारा अपहृत पृथ्वी-मण्डल (राज्य) की बातें राजा (युधिष्ठिर) से निवेदन करते हुए उस (वनवासी किरात) के मन को तनिक भी व्यथा नहीं हुई । क्योंकि (किसी के) कल्याण की अभिलाषा करने वाले (हितैषी) लोग (सत्य बात को छिपा कर मात्र उसे प्रसन्न करने के लिये) झूठ-मूठ की प्यारी-प्यारी बातें (गढ़ कर) कहने की इच्छा नहीं करते ।। २ ।।

विमर्श—(क) क्योंकि यदि हितैषी भी ऐसा करने में लगें तो निश्चय ही कार्यहानि हो जाने पर स्वामी को द्रोह करने की सूचना तो मिल ही जायगी । (ख) इस श्लोक में भी 'मही-मही' शब्द की पुनरावृत्ति से वृत्यनुप्रास अलङ्कार है और वह अर्थान्तरन्यास से संसृष्ट है ।

तथाऽपि प्रियार्हे राज्ञि कटुनिष्ठुरोक्तिर्न युक्तेत्याशङ्क्य स्वाम्यनुज्ञया न दुष्यतीत्याशयेनाह—

द्विषां विघाताय विधातुमिच्छतो रहस्यनुज्ञामधिगम्य भूभृतः ।
स सौष्ठवौदार्यविशेषशालिनीं विनिश्चितार्थामिति वाचमाददे ।। ३ ।।

अन्वयः—रहसि सः द्विषां विघाताय विधातुम् इच्छतः भूभृतः अनुज्ञाम् अधिगम्य सौष्ठवौदार्यविशेषशालिनीम् विनिश्चितार्थाम् इति वाचम् आददे ।। ३ ।।

द्विषामिति । रहस्येकान्ते स वनेचरो द्विषां शत्रूणाम् । कर्मणि षष्ठी । विघाताय विहन्तुमित्यर्थः । 'तुमर्थाच्च भाववचनाद्' इति चतुर्थी । 'भाववचनाश्च' इति तुमर्थे घञ्प्रत्ययः।। अत्र तादर्थ्यमपि न दोषः । तथाऽपि प्रयोगवैचित्रीविशेषस्याप्यलङ्कारत्वा-देवं व्याचक्षते । विधातुं व्यापारं कर्त्तुमिच्छतः । 'समानकर्तृकेषु तुमुन्' । द्विषो विहन्तुमुद्युक्तज्ञानस्येत्यर्थः ।अत एव भूभृतो युधिष्ठिरस्यानुज्ञामधिगम्य । सुष्ठु भावः सौष्ठवं शब्दसामर्थ्यम् । सुष्ठुशब्दादव्ययादुद्गात्रादित्वादञ्प्रत्ययः । उदारस्य भाव औदार्यमर्थसम्पत्तिः। तयोर्द्वन्द्वः सौष्ठवौदार्ये। अत्रौदार्यशब्दस्याजाद्यदन्तत्वेऽपि 'लक्षण हेत्वोः क्रियायाः' इत्यत्राल्पस्वरस्यापि हेतुशब्दस्य पूर्वनिपातमकुर्वता सूत्रकृतैव पूर्व-निपातस्यानित्यत्वज्ञापनान्न पूर्वनिपातः । उक्तञ्च काशिकायाम्—'अयमेव लक्षण-हेत्वोरिति निर्देशः पूर्वनिपातव्यभिचारचिह्नम्' इति । त एव विशेषः । तयोर्वा विशेषः तेन शालते शोभत इति सौष्ठवौदार्यविशेषशालिनी ताम् । ताच्छील्ये णिनिः । विनिश्चितार्थां विशेषतः प्रमाणतो निर्णीतार्थामिति वक्ष्यमाणरूपां वाचमाददे स्वीकृतवान् उवाचेत्यर्थः ।। ३ ।।

हिन्दी—एकान्त में उस (वनवासी किरात) ने शत्रुओं का विनाश करने की इच्छा वाले राजा (युधिष्ठिर) की आज्ञा प्राप्त कर सरस सुन्दर शब्दों में असंदिग्ध अर्थ एवं निश्चित प्रमाणों से युक्त वाणी में इस प्रकार से निवेदन किया ।। ३ ।।

विमर्श—इस श्लोक से यह विदित है कि उक्त वनवासी किरात केवल निपुण दूत ही नहीं था, एक अच्छा वक्ता भी था । उसने जो कहा, सुन्दर एवं मनोहर शब्दों में सुस्पष्ट तथा निश्चयपूर्वक कहा ।

(क) इस श्लोक में सौष्ठव और औदार्य—इन दो विशेषणों के साभिप्राय होने के कारण 'परिकर' अलङ्कार है, जो 'पदार्थहेतुक काव्यलिङ्ग' से अनुप्राणित है ।

(ख) यद्यपि 'आङ्' उपसर्ग के साथ 'दा' धातु का प्रयोग लेने के अर्थ में ही होता है किन्तु यहाँ पर सन्दर्भानुरोध से कहने के अर्थ में ही समझना चाहिये ।

{किरात को भय है कि कहीं मेरी अप्रिय कटु बातों से राजा युधिष्ठिर अप्रसन्न न हो जायँ अतः वह सर्वप्रथम क्षमा-याचना के रूप में निवेदन करता है ।}

प्रथमं तावदप्रियनिवेदकमात्मानं प्रत्यक्षोभं याचते—

> **क्रियासु युक्तैर्नृप! चारचक्षुषो न वञ्चनीयाः प्रभवोऽनुजीविभिः ।**
> **अतोऽर्हसि क्षन्तुमसाधु साधु वा हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः ।। ४ ।।**

अन्वयः—(हे)नृप! क्रियासु युक्तैः अनुजीविभिः चारचक्षुषः प्रभवः न वञ्च-नीयाः। अतः असाधु साधु वा क्षन्तुम् अर्हसि। हितं मनोहारि च वचः दुर्लभम् ।। ४ ।।

क्रियास्विति । हे नृप! क्रियासु कृत्यवस्तुषु युक्तैर्नियुक्तैरनुजीविभिर्भृत्यैः । चारादिभिरित्यर्थः। चरन्तीति चराः। पचाद्यच् । त एव चाराः। चरेः पचाद्यजन्तात्प्रज्ञादि-

त्वादणप्रत्ययः । त एव चक्षुर्येषां ते चारचक्षुषः । 'स्वपरमण्डले कार्याकार्यावलोकने चाराश्चक्षूंषि क्षितिपतीनाम्' इति नीतिवाक्यामृते । प्रभवो निग्रहानुग्रहसमर्थाः स्वामिनो न वञ्चनीया न प्रतारणीयाः । सत्यमेव वक्तव्या इत्यर्थः। चारापचारे चक्षुरपचारवद्राज्ञां पदे पदे निपात इति भावः । अतोऽप्रतार्यत्वाद्धेतोः । असाध्वप्रियं साधु प्रियं वा । मदुक्तमिति शेषः । क्षन्तुं सोढुमर्हसि । कुतः ? हितं पथ्यं मनोहारि प्रियं च वचो दुर्लभम् । अतो मद्वचोऽपि हितत्वादप्रियमपि क्षन्तव्यमित्यर्थः ।। ४ ।।

हिन्दी—हे राजन् ! किसी कार्य को करने के लिए नियुक्त किए गए (गुप्तचर) सेवकों के द्वारा स्वामी (झूठी तथा प्रिय बातें बता कर) नहीं ठगे जाने चाहिए । इसलिए मैं (जो कुछ) अप्रिय अथवा प्रिय बातें (निवेदन) करूँ उन्हें आप क्षमा करेंगे, क्योंकि (सुनने में) मधुर तथा परिणाम में कल्याण देने वाली वाणी दुर्लभ होती है ।

विमर्श—(क) गुप्तचर के कथन का तात्पर्य यह है कि अपना कर्त्तव्य पालन करने के लिए ही आप से कुछ अप्रिय बातें करुँगा, वह चाहे आपको अच्छी लगें या बुरी । अतः कृपा कर उनके कहने के लिए मुझे क्षमा करेंगे क्योंकि मैं अपने कर्त्तव्य से विवश हूँ ।

(ख) राजा लोग गुप्त से भी गुप्त बातों का पता गुप्तचरों के माध्यम लगा लेते हैं अतः उन्हें 'चारचक्षु' कहा जाता है ।

(ग) इस श्लोक में पदार्थहेतुक 'काव्यलिङ्ग' अलङ्कार है, जो चतुर्थ चरण में आये हुये अर्थान्तरन्यास अलङ्कार से संसृष्ट है । यहाँ अर्थान्तरन्यास को सामान्य से विशेष के समर्थन रूप में जानना चाहिए ।

तर्हि तूष्णींभाव एव वरमित्याशङ्क्याह—

स किंसखा साधु न शास्ति योऽधिपं हितान्न यः संशृणुते स किंप्रभुः ।
सदाऽनुकूलेषु हि कुर्वते रतिं नृपेष्वमात्येषु च सर्वसंपदः ।। ५ ।।

अन्वयः—यः अधिपं साधु न शास्ति स किसखा यः हितात् न संशृणुते सः किंप्रभुः । हि सदा अनुकूलेषु नृपेषु अमात्येषु च सर्वसम्पदः रति कुर्वते ।। ५ ।।

स इति । यः सखाऽमात्यादिरधिपं स्वामिनं साधु हितं न शास्ति नोपदिशति । 'ब्रुविशासि—'इत्यादिना शासेर्दुहादिपाठाद् द्विकर्मकत्वम् । स हितानुपदेष्टा । कुत्सितः सखा किंसखा । दुर्मन्त्रीत्यर्थः । 'किमः क्षेपे' इति समासान्तप्रतिषेधः । तथा यः प्रभुर्निग्रहानुग्रहसमर्थः स्वामी हितादाप्तजनाद्धितोपदेष्टुः सकाशाद्। 'आख्यातोपयोगे' इत्यपादानात्पञ्चमी । न संशृणुते न शृणोति । हितमिति शेषः । 'समो गम्युच्छि'— इत्यादिना सम्पूर्वाच्छृणोतेरकर्मकादात्मनेपदम् । अकर्मकत्वं वैवक्षिकम् । स हितम-श्रोता प्रभुः किं प्रभुः कुत्सितस्वामी पूर्ववत्समासः । सर्वथा सचिवेन वक्तव्यं श्रोतव्यं

स्वामिना । एवं च राजमन्त्रिणोरैकमत्यं स्यादित्यर्थः । ऐकमत्यस्य फलमाह—सदेति। हि यस्मान्नृपेषु स्वामिषु । अमा सह भवा अमात्यास्तेषु च । 'अव्ययात्त्यप्' । अनुकूलेषु परस्परानुरक्तेषु सत्सु सर्वसम्पदः सदा रतिमनुरागं कुर्वते । न जातु जहतीत्यर्थः । अतो मया वक्तव्यं त्वया च श्रोतव्यमिति भावः । अत्रैवं राजमन्त्रिणोर्हितानुपदेशतदश्रवणनिन्दासामर्थ्यसिद्धेरैकमत्यलक्षणकारणस्य निर्दिष्टस्य सर्वसम्पत्सिद्धिरूपकार्येण समर्थनात्कार्येण कारणसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः । तदुक्तं—'सामान्यविशेषकार्यकारणभावाभ्यां निर्दिष्टप्रकृतसमर्थनमर्थान्तरन्यासः' इति ।। ५ ।।

हिन्दी—मित्र अथवा मन्त्री जो भी हो राजा को उचित बातों की सलाह नहीं देता, वह अधम मित्र अथवा अधम मन्त्री है तथा (इसी प्रकार) जो राजा अपने हितैषी मित्र अथवा मन्त्री की हित की बातें नहीं सुनता वह राजा होने योग्य नहीं है । क्योंकि राजा और मन्त्री के परस्पर सर्वदा अनुकूल रहने पर ही उनमें सब प्रकार की समृद्धियाँ अनुरक्त होती हैं ।। ५ ।।

विमर्श—दूत के कहने का तात्पर्य यह है कि इस समय मैं जो कुछ निर्भय होकर कह रहा हूँ वह आपकी हितेच्छा से ही कह रहा हूँ । मेरी बातें ध्यान से सुनें।

इस श्लोक में कार्य से कारण का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ।

सम्प्रति स्वाहङ्कारं परिहरति—

> **निसर्गदुर्बोधमबोधविक्लवाः क्व भूपतीनां चरितं क्व जन्तवः ।**
> **तवानुभावोऽयमवेदि यन्मया निगूढतत्त्वं नयवर्त्म विद्विषाम् ।। ६ ।।**

अन्वयः—निसर्गदुर्बोधम् भूपतीनाम् चरितम् क्व । अबोधविक्लवाः जन्तवः क्व । मया विद्विषाम् नयवर्त्म यद् अवेदि अयम् तव अनुभावः ।। ६ ।।

निसर्गेति । निसर्गदुर्बोधं स्वभावदुर्ग्रहम् । 'ईषद्दुः'—इत्यादिना खल्प्रत्ययः। भूपतीनां चरितं क्व । अबोधविक्लवा अज्ञानोपहता जन्तवः । मादृशाः पामरजना इत्यर्थः । क्व् । नोभयं सङ्घटत इत्यर्थः । तथापि निगूढतत्त्वं संवृतयाथार्थ्यं विद्विषां नयवर्त्म षाड्गुण्यप्रयोगः 'संधिविग्रहयानानि संस्थाप्यासनमेव च । द्वैधीभावश्च विज्ञेयाः षड्गुणा नीतिवेदिनाम्' ।। इत्यादिरूपो यन्मयाऽवेदि । ज्ञातमिति यावत् । विदेः कर्मणि लुङ् । अयम् । इदं वेदनमित्यर्थः ।। विधेयप्राधान्यात् पुंल्लिङ्गनिर्देशः । तवानुभावः सामर्थ्यम् । अनुगतो भावोऽनुभाव इति घञन्तेन प्रादिसमासः । न तूपसृष्टाद्धञ्प्रत्ययः। 'श्रिणिभुवोऽनुपसर्गे' इत्यनुपसर्गाद्भवतेर्धातोर्घञ्विधानात् । अत एव काशिकायाम् —'कथं प्रभावो राज्ञां प्रकृष्टो भाव इति प्रादिसमासः' इति । दोषपरिहारौ सम्यग्ज्ञात्वैव विज्ञापयामि । नतु वृथा कर्णकठोरं प्रलपामीत्याशयः ।। ६ ।।

हिन्दी—स्वभाव से ही दुर्बोध (राजनीतिक रहस्यों से भरा) राजाओं का चरित कहाँ? और अज्ञान से बोझिल मुझ जैसा जीव कहाँ? (दोनों में आकाश पाताल का

अन्तर है) । (अत:) शत्रुओं के अत्यन्त गूढ़ रहस्यों से भरी जो कूटनीति की बातें मुझे (कुछ) ज्ञात हो सकी हैं, यह तो (केवल) आप का अनुग्रह है ।। ६ ।।

विमर्श—दूत की वक्तृत्व कला का यह सुन्दर नमूना है । अपनी नम्रता को वह कितनी सुन्दरता से प्रकट करता है । इस श्लोक में विषम अलङ्कार है ।

सम्प्रति यद्वक्तव्यं तदाह—

विशङ्कमानो भवत: पराभवं नृपासनस्थोऽपि वनाधिवासिन: ।
दुरोदरच्छद्मजितां समीहते नयेन जेतुं जगतीं सुयोधन: ।। ७ ।।

अन्वय:—नृपासनस्थ: अपि सुयोधन: वनाधिवासिन: भवत: पराभवं विशङ्कमान: दुरोदरछद्मजितां जगतीम् नयेन जेतुम् समीहते ।। ७ ।।

विशङ्कमान इति । सुखेन युध्यते सुयोधन: । 'भाषायां शासियुधिदृशिघृषिमृषिभ्यो युज्वाच्य:' । नृपासनस्थ: सिंहासनस्थोऽपि । वनमधिवसतीति वनाधिवासिनो वनस्थात् । राज्यभ्रष्टादपीत्यर्थ: । भवतस्त्वत्त: पराभवं पराजयं विशङ्कमानउत्प्रेक्षमाण: सन् । दुष्टमुदरमस्येति दुरोदरं द्यूतम् । पृषोदरादित्वात्साधु: । 'दुरोदरो द्यूतकारे पणे द्यूते दूरोदरम्' इत्यमर: । तस्य च्छद्मना मिषेण जितां लब्धां दुर्नयार्जितां जगतीं महीम् । 'जगती विष्टपे मह्यां वास्तुच्छन्दोविशेषयो:' इति वैजयन्ती । नयेन नीत्या जेतुं वशीकर्तुं समीहते व्याप्रियते । न तूदास्त इत्यर्थ: । बलवत्स्वामिकमविशुद्धागमं च धनं भुञ्जानस्य कुतो मनस: समाधिरिति भाव: । अत्र 'दुरोदरच्छद्मजिताम्' इति विशेषणद्वारेण पदार्थस्य चतुर्थपादार्थं प्रति हेतुत्वेनोपन्यासात् द्वितीयकाव्यलिङ्गमलङ्कार: । तदुक्तं—'हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गमुदाहृतम्' ।। ७ ।।

हिन्दी—राज-सिंहासन पर बैठे हुए भी दुर्योधन (राज्याधिकार से च्युत) वन में निवास करने वाले आप से अपने पराजय की आशङ्का रखता है । अतएव जुए द्वारा कपट से जीती हुई पृथ्वी को (अब) वह न्यायपूर्ण शासन द्वारा अपने वश में करने की इच्छा करते हैं ।। ७ ।।

विमर्श—गुप्तचर के कथन का तात्पर्य यह है कि यद्यपि दुर्योधन सर्व-साधन सम्पन्न है और आप के पास कोई साधन नहीं है, फिर भी आप से वह सदा डरता रहता है कि कहीं आप के न्यायपूर्ण शासन से प्रसन्न जनता आपका साथ न दे दे और आप उसे राजगद्दी से न उतार दें । इसलिये वह यद्यपि जूआ में समूचे राजपाट को आप से जीत चुके हैं, फिर भी वह प्रजा का हृदय जीतने के लिए न्यायपरायणता में तत्पर हैं । वह आपकी ओर से तनिक भी असावधान नहीं है, क्योंकि आप सब को वह वनवासी होने पर भी प्रजावल्लभ (प्रजा प्रिय) होने के कारण अपने से अधिक बलवान् समझते हैं । अत: वह जनता को अपने प्रति आकृष्ट कर रहे हैं । यहाँ पदार्थहेतुक काव्यलिङ्ग अलङ्कार है ।

किस प्रकार की न्यायबुद्धि से वह पृथ्वी को जीतना चाहते हैं, इसे कहते हैं।

'नयेन जेतुं जगतीं समीहते' इत्युक्तम् । तत्प्रकारमाह—

तथाऽपि जिह्मः स भवज्जिगीषया तनोति शुभ्रं गुणसम्पदा यशः ।
समुन्नयन्भूतिमनार्यसङ्गमात् वरं विरोधोऽपि समं महात्मभिः ॥ ८ ॥

अन्वयः—तथाऽपि जिह्मः सः भवज्जिगीषया गुणसम्पदा शुभ्रं यशः तनोति भूतिम् समुन्नयन् अनार्यसङ्गमात् महात्मभिः समं विरोधः अपि वरम् ॥ ८ ॥

तथाऽपीति । तथाऽपि साशङ्कोऽपि । जिह्मो वक्रः । वञ्चक इति यावत् । स दुर्योधनो भवज्जिगीषया । गुणैर्भवन्तमाक्रमितुमिच्छयेत्यर्थः । 'हेतौ' इति तृतीया । गुणसंपदा दानदाक्षिण्यादिगुणगरिम्णा । करणेन । शुभ्रं यशस्तनोति । स खलो गुणलोभनीयां त्वत्सम्पदमात्मसात्कर्तुं त्वत्तोऽपि गुणवत्तामात्मनः प्रकटयीत्यर्थः नन्वेवं गुणिनः सतोऽपि सज्जनविरोधो महानस्त्यस्य दोष इत्याशङ्क्य सोऽपि सत्संसर्गालाभे नीचसङ्गमाद्वरमुत्कर्षावहत्वादित्याह—समिति । तथा हि । भूतिं समुन्नयन्नुत्कर्षमापादयन् । 'लटः शतृशानचौ'—इत्यादिना शतृप्रत्ययः । पुनर्लङ्ग्रहणसामर्थ्यात्प्रथमासामानाधिकरण्यम् । महात्मभिः समम् । सहेत्यर्थः । 'साकं सत्रा समं सह' इत्यमरः । अनार्यसङ्गमाद् दुर्जनसंसर्गात् । 'पञ्चमी विभक्ते' इति पञ्चमी । विरोधोऽपि वरं मनाक्प्रियः । 'देवाद् वृते वरः श्रेष्ठे त्रिषु क्लीबं मनाक्प्रिये' इत्यमरः । अत्र मैत्र्यपेक्षया मनाक्प्रियत्वं विरोधस्य 'भूतिं समुन्नयन्' इत्यस्य पूर्ववाक्यान्वये समाप्तस्य वाक्यार्थस्य पुनरादानात्समाप्तपुनरात्ताख्यदोषापत्तिः तदुक्तं काव्यप्रकाशे—'समाप्तपुनरादानात्समाप्तपुनरात्तकम्' इति । न च वाक्यान्तरमेतत् । येनोक्तदोषपरिहारः स्यात् । अर्थान्तरन्यासालङ्कारः । स च भूतिसमुन्नयनस्य पदार्थविशेषणद्वारा विरोधवत्त्वं प्रति हेतुत्वाभिधानरूपकाव्यलिङ्गानुप्राणित इति ॥ ८ ॥

हिन्दी—आप से सशंकित होकर भी वह कुटिल प्रकृति दुर्योधन आप को पराजित करने की अभिलाषा से दान-दाक्षिण्यादि सद्गुणों से अपने निर्मल यश का (उत्तरोत्तर) विस्तार कर रहे हैं क्योंकि नीच लोगों के सम्पर्क से वैभव प्राप्त करने की अपेक्षा सज्जनों से विरोध प्राप्त करना भी अच्छा ही होता है ॥ ८ ॥

विमर्श—वस्तुतः सज्जनों का विरोध दुष्टों की सङ्गति से इसलिए अच्छा होता है कि सज्जनों के साथ विरोध करने से और कुछ नहीं तो उनकी देखा-देखी स्पर्द्धा में उनके गुणों की प्राप्ति के लिए चेष्टा करने की प्रेरणा तो होती ही है । जब कि दुष्टों की सङ्गति तात्कालिक लाभ के साथ ही दुर्गति का कारण बनती है । क्योंकि दुष्टों की सङ्गति से बुरे गुणों का अभ्यास बढ़ेगा, जो स्वयं दुर्गति के द्वार हैं।

(क) इस श्लोक में सामान्य से विशेष का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है, जो पदार्थहेतुक काव्यलिङ्ग से अनुप्राणित है ।

'ननु कातर्यं केवला नीतिः' इत्याशङ्क्य नीतियुक्तं पौरुषमस्येत्याह—

कृतारिषड्वर्गजयेन मानवीमगम्यरूपां पदवीं प्रपित्सुना ।
विभज्य नक्तंदिवमस्ततन्द्रिणा वितन्यते तेन नयेन पौरुषम् ॥ ९ ॥

अन्वयः—कृतारिषड्वर्गजयेन अगम्यरूपां मानवीम् पदवीम् प्रपित्सुना अस्ततन्द्रिणा तेन नक्तंदिवं विभज्य नयेन पौरुषम् वितन्यते ॥ ९ ॥

कृतेति । षण्णां वर्गः षड्वर्गः । अरीणामन्तःशत्रूणां षडवर्गोऽरिषड्वर्गः । शिव-भागवतवत्समासः । तस्य जयः कृतो येन तेन तथोक्तेन । विनीतेनेत्यर्थः । विनीताधिकारं प्रजापालनमिति भावः । अगम्यरूपां पुरुषमात्रदुष्प्राप्याम् । मनोरिमां मानवीम् । मनूपदिष्टसदाचारक्षुण्णामित्यर्थः । पदवीं प्रजापालनपद्धतिं प्रपित्सुना प्रपत्तुमिच्छुना । प्रपद्यतेः सन्नन्तादुप्रत्ययः 'सनि मीमा—' इत्यादिनेसादेशः । 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य' इत्यभ्यासलोपः । अस्ता तन्द्रिरालस्यं यस्य तेनास्ततन्द्रिणा । अनलसेनेत्यर्थः । तदिः सौत्रो धातुः । तस्मात् । 'वङ्क्र्यादयश्च' इत्यौणादिकः क्रिन्प्रत्ययः'कृदिकारादक्तिनो वा ङीष् वक्तव्यः' इति । 'वन्दीघटीतरीतन्द्रीति ङीषन्तोऽपि' इति क्षीरस्वामी । तथा रामायणे प्रयोगः—'निस्तन्द्रिरप्रमत्तश्च स्वदोषपरदोषविद्'इति। तेन दुर्योधनेन। पुरुषस्य कर्म पौरुषं पुरुषकारः, उद्योग इति यावत् । युवादित्वादण् प्रत्ययः । 'पौरुषं पुरुषस्योक्ते भावे कर्मणि तेजसि' इति विश्वः । नक्तं च दिवा च नक्तन्दिवम् । अहोरात्रयोरित्यर्थः । 'अचतुर' इत्यादिना सप्तम्यर्थवृत्त्योरव्यययोर्द्वन्द्वनिपातेऽच्समासान्तः, विभज्यास्यां वेलायामिदं कर्मेति विभागं कृत्वा नयेन नीत्या वितन्यते विस्तार्यते ॥ ९ ॥

हिन्दी—वह दुर्योधन (काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद एवं अहङ्कार—ये जो प्राणियों के) छहों शत्रुओं को जीतकर, अत्यन्त दुर्गम मनु आदि नीतिज्ञों की बनाई हुई शासन-पद्धति पर कार्य करने की लालसा से आलस्य को दूर भगाकर, रात-दिन के समय को प्रत्येक काम के लिए, अलग-अलग करके, नैतिक शक्ति द्वारा अपने पुरुषार्थ को सबल बना रहे हैं ॥ ९ ॥

विमर्श—भाव यह है कि दुर्योधन अब वही जुआड़ी और आलसी दुर्योधन नहीं है । उन दुर्योधन ने छहों दुर्गुणों को दूर करके स्वायम्भुव मनु के दुर्गम आदर्शों के अनुरूप अपने को राजा बना लिया है । उसमें आलस्य तो तनिक भी नहीं रह गया है । दिन और रात-सब में उसके पृथक्-पृथक् कार्य नियत हैं । उसके पराक्रम को नैतिक शक्ति का बल मिल गया है; और इस प्रकार वह दुर्जेय बन गया है ।

(क) यहाँ परिकर अलङ्कार है ।

सम्प्रति भृत्याद्यनुरागमाह—

सखीनिव प्रीतियुजोऽनुजीविनः समानमानान्सुहृदश्च बन्धुभिः ।
स सन्ततं दर्शयते गतस्मयः कृताधिपत्यामिव साधु बन्धुताम् ॥१० ॥

अन्वयः—गतस्मयः सः सन्ततम् साधु अनुजीविनः प्रीतियुजः सखीन् इव सुहृदः बन्धुभिः समानमानान् बन्धुताम् कृताधिपत्याम् इव दर्शयते ॥ १० ॥

सखीनिति । गतस्मयो निरहङ्कारोऽत एव स दुर्योधनः सन्ततमनारतं साधु

सम्यक् । अकपटमित्यर्थः । अनुजीविनो भृत्यान् । प्रीतियुजः स्निग्धान्सखीनिव मित्राणीव दर्शयते लोकस्येति शेषः । 'हेतुमति च' इति णिच् । 'णिचश्च' इत्यात्मनेपदम् । शोभनं हृदयं येषां तान्सुहृदो मित्राणि च । 'सुहृद्दुर्हृदौ मित्रामित्रयोः' इति निपातः । बन्धुभिर्भ्रात्रादिभिः समानमानांस्तुल्यसत्कारान् दर्शयते । बन्धूनां समूहो बन्धुता ताम् । 'ग्रामजनबन्धुसहायेभ्यस्तल्' । कृतमाधिपत्यं स्वाम्यं यस्यास्तां कृताधिपत्यामिव दर्शयते । बन्धूनधिपतीनिव दर्शयतीत्यर्थः । यथा भृत्यादिषु संख्यादिबुद्धिर्जायते लोकस्य तथा तान्संभावयतीत्यर्थः । अनुजीव्यादीनां 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म' इति कर्मत्वम् । पूर्वे त्वस्मिन्नेव पदान्वये वाक्यार्थमित्थं वर्णयन्ति—स राजाऽनुजीव्यादीन्सख्यादीनिव दर्शयते । सख्यादय इव ते तु तं पश्यन्ति । सख्यादिभावेन पश्यतस्तांस्तथा दर्शयते । स्वयमेव छन्दानुवर्त्तितया स्वदर्शनं तेभ्यः प्रयच्छतीत्यर्थः। अर्थात्तस्येप्सितकर्मत्वम् । अणि कर्तुरनुजीव्यादेः 'अभिवादिदृशोरात्मनेपदमुपसंख्यानम्' इति पाक्षिकं कर्मत्वम् । एवं चात्राण्यन्तकर्मणो राज्ञो ण्यन्ते कर्तृत्वेऽपि 'आरोहयते हस्ती स्वयमेव' इत्यादिवदश्रूयमाणकर्मान्तरत्वाभावान्नायं णेरणादिसूत्रस्य विषय इति मत्वा 'णिचश्च' इत्यात्मनेपदं प्रतिपेदिरे । भाष्ये तु णेरणादिसूत्रविषयत्वमप्यस्योक्तम् । यथाऽऽह—'पश्यन्ति भृत्या राजानं' 'दर्शयते भृत्यान् राजा' दर्शयते भृत्यै राजा' अत्रात्मनेपदं सिद्धं भवति' इति । अत्राह कैयटः—'ननु कर्मान्तरसद्भावादत्रात्मनेपदेन भाव्यम् । उच्यते—अस्मादेवोदाहरणाद्भाष्यकारस्यायमेवाभिप्राय ऊह्यते—'अण्यन्तावस्थायां ये कर्तृकर्मणी तद्व्यतिरिक्तकर्मान्तरसद्भावादात्मनेपदं न भवति । यथा—'स्थलमारोहयति मनुष्यान्' इति । इह त्वण्यन्तावस्थायां कर्तृणां भृत्यानां णौ कर्तृत्वमिति भवत्येवात्मनेपदमि'ति ।।१० ।।

हिन्दी—वह दुर्योधन अब निरहङ्कार होकर सर्वदा निष्कपट भाव से सेवा करने वाले अपने सेवकों को प्रीतिपात्र मित्रों की तरह मानते हैं और मित्रों को निजी कुटुम्बियों की तरह सम्मानित करते हैं तथा साक्षात् अपने कुटुम्बियों को राज्याधिकारी की भाँति आदर देते हैं ।। १० ।।

विमर्श—भाव यह है कि उनमें अब वह पूर्व अभिमान नहीं है । वह अत्यन्त उदार हृदय बन गए हैं । उन्होंने पूरे राज्य में बन्धुता का विस्तार कर दिया है, उनका यह व्यवहार सदा-सर्वथा रहता है, दिखावटी नहीं है और उनके इस व्यवहार से सब लोग सन्तुष्ट होते हैं । वह ऐसा करके यह दिखाना चाहते हैं कि मुझमें अहङ्कार का लेश नहीं है । (क) इस श्लोक में तीन श्रोती पूर्णोपमा हैं ।

न चायं त्रिवर्गात्प्रमाद्यतीत्याह—

असक्तमाराधयतो यथायथं विभज्य भक्त्या समपक्षपातया ।
गुणानुरागादिव सख्यमीयिवान् न बाधतेऽस्य त्रिगणः परस्परम् ।।११ ।।

अन्वयः—यथायथं विभज्य समपक्षपातया भक्त्या असक्तम् आराधयतः अस्य त्रिगणः गुणानुरागात् सख्यम् ईयिवान् इव परस्परं न बाधते ।। ११ ।।

असक्तमिति । यथायथं यथास्वं विभज्य, असङ्कीर्णरूपं विविच्येत्यर्थः । 'यथास्वे यथायथम्' इति निपातनात् द्विर्भावो नपुंसकत्वं च । 'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य' इति ह्रस्वत्वम् । पक्षे पातः पक्षपात आसक्तिविशेषः समस्तुल्यो यस्यां तया समपक्षपातया । भक्त्याऽनुरागविशेषेण । पूज्येष्वनुरागो भक्तिरित्युपदेशः । पूज्यश्चायं त्रिवर्ग इति । असक्तमनासक्तम् । अव्यसनितयेति यावत् । आराधयतः सेवमानस्यास्य दुर्योधनस्य त्रयाणां धर्मार्थकामानां गणस्त्रिगणस्त्रिवर्गः । 'त्रिवर्गोधर्म-कामार्थैश्चतुर्वर्गः समोक्षकैः' इत्यमरः । गुणानुरागात्तदीयगुणेष्वनुरागात् । गुणवदाश्रय-लोभादित्यर्थः । सख्यं मैत्रीं 'सख्युर्यः' इति यप्रत्ययः । ईयिवानुपगतवानिवेत्युत्प्रेक्षा। 'उपेयिवाननाश्वाननूचानश्च' इति क्वसुप्रत्ययान्तो निपातः । 'नात्रोपसर्गस्तन्त्रम्' इति काशिकाकार आह स्म । परस्परं न बाधते । समवर्तित्वादस्य 'धर्मार्थकामाः परस्परा-नुपमर्देन वर्धन्त इत्यर्थः । उक्तं च—'धर्मार्थकामाः सममेव सेव्या यो ह्येकसक्तः स जनो जघन्यः' इति ।।११ ।।

हिन्दी—यथोचित विभाग कर, किसी के साथ कोई विशेष पक्षपात न करके वह दुर्योधन अनासक्त भाव से धर्म, अर्थ और काम का सेवन करते हैं, जिससे ये तीनों भी उनके (स्पृहणीय) गुणों से अनुरक्त होकर उनके मित्र-से बन गये हैं और परस्पर उनका विरोध भाव नहीं रह गया है ।। ११ ।।

विमर्श—भाव यह है कि दुर्योधन धर्म, अर्थ, काम का ठीक-ठीक विभाग कर प्रत्येक का इस प्रकार आचरण करते हैं कि किसी में आसक्त नहीं मालूम पड़ते। सब का समय नियत है, किसी से कोई पक्षपात नहीं है । उनके गुणों पर ये तीनों भी रीझ उठे हैं । यद्यपि ये परस्पर विरोधी हैं, तथापि उनके लिए इनमें मित्रता हो गई है और प्रतिदिन इनकी वृद्धि हो रही है ।

(क) यहाँ वाच्योत्प्रेक्षा अलङ्कार है ।

अथ श्लोकत्रयेणोपायकौशलं दर्शयन्नादौ सामदाने दर्शयति—

निरत्ययं साम न दानवर्जितं न भूरि दानं विरहय्य सत्क्रियाम् ।
प्रवर्त्तते तस्य विशेषशालिनी गुणानुरोधेन विना न सत्क्रिया ।।१२ ।।

अन्वयः—तस्य निरत्ययं साम दानवर्जितं न, भूरि दानं सत्क्रियां विरहय्य न, विशेषशालिनी सत्क्रिया गुणानुरोधेन विना न प्रवर्तते ।। १२ ।।

निरत्ययमिति । तस्य दुर्योधनस्य निरत्ययं निर्बाधम् । अमायिकमित्यर्थः । अन्यथा जनानां दुर्ग्रहत्वादिति भावः । साम सान्त्वम् 'साम सान्त्वमुभे समे' इत्यमरः । दानवर्जितं न प्रवर्त्तते । अन्यथा लुब्धाद्यावर्जनस्य शुष्कप्रियैर्वाक्यैर्दुष्करत्वादिति भावः । उक्तं च—

'लुब्धमर्थेन गृह्णीयात्साधुमञ्जलिकर्मणा ।
मूर्खं छन्दानुराधेन तत्त्वार्थेन च पण्डितम् ।।' इति ।

तथा भूरि प्रभूतं न तु कदाचित्स्वल्पमित्यर्थः । दानं धनत्यागः । सदित्याद-रार्थेऽव्ययम् । 'आदरानादरयोः सदसती' इति निपातसंज्ञास्मरणात् । तस्य क्रियां सत्क्रियां विरहय्य विहाय । 'ल्यपि लघुपूर्वात्' इत्ययादेशः । न प्रवर्त्तते । अनादरे दानवैफल्यादिति भावः । न चैवं सर्वत्र, येनाविवेकित्वं कोशहानिश्च स्यादित्याह—प्रति । विशेषशालिन्यतिशययोगिनी सत्क्रियाऽऽदरक्रिया गुणानुरोधेन गुणानुरागेण विना न प्रवर्त्तते । 'पृथग्विनानाना—' इत्यादिना तृतीया । गुणेष्वेवादरो भूरि दानं चेति नोक्तदोषावकाश इत्यर्थः । अत्रोत्तरोत्तरस्य पूर्वपूर्वविशेषणतया स्थापनादेकावल्य-लङ्कारः । तदुक्तं काव्यप्रकाशे—

'स्थाप्यतेऽपोह्यते वाऽपि यथापूर्वं परं परम् ।
विशेषणतया वस्तु यत्र सैकावली द्विधा ।।' इति ।।१२ ।।

हिन्दी—उस दुर्योधन की निष्कपट साम नीति दान के बिना नहीं प्रवर्तित होती तथा प्रचुर दान आदर-सत्कार के बिना नहीं होता और उसका अतिशय सत्कार भी बिना विशेष गुण के नहीं होता । (अर्थात् वह अतिशय सत्कार भी विशेष गुणी तथा योग्य व्यक्तियों का ही करता है ।) ।। १२ ।।

विमर्श—राजनीति में चार नीति कही गई हैं । साम, दाम, दण्ड और भेद । दुर्योधन इन चारों उपायों को बड़ी निपुणता से प्रयोग करता है । अपने से बड़े शत्रु को वह प्रचुर धन देकर मिला लेता है । उसका देना भी सम्मानपूर्वक होता है, अर्थात् धन और सम्मान दोनों के साथ साम-नीति का प्रयोग करता है किन्तु इससे यह भी नहीं समझना चाहिए कि वह ऐरे-गैरे सभी लोगों को इस प्रकार धन-सम्मान देता है । नहीं, केवल गुणियों को ही, सब को नहीं । यहाँ पूर्ववर्ती विशेषणों से परवर्ती वाक्यों की स्थापना के कारण इस श्लोक में एकावली अलङ्कार है ।

{अब दुर्योधन की दण्डनीति का प्रकार कवि बतला रहे हैं ।}

अथ दण्डप्रकारमाह—

वसूनि वाञ्छन्न वशी न मन्युना स्वधर्म इत्येव निवृत्तकारणः ।
गुरूपदिष्टेन रिपौ सुतेऽपि वा निहन्ति दण्डेन स धर्मविप्लवम् ।।१३ ।।

अन्वयः—वशी सः वसूनि वाञ्छन् न मन्युना न निवृत्तकारणः स्वधर्मः इति एव गुरूपदिष्टेन दण्डेन रिपौ वा सुते अपि धर्मविप्लवं निहन्ति ।। १३ ।।

वसूनीति । वशी स दुर्योधनो वसूनि धनानि वाञ्छन्न । लोभान्नेत्यर्थः । 'वसु तोये धने मणौ' इति वैजयन्ती । निहन्तीति शेषः । तथा मन्युना कोपेन न च । 'मन्युर्दैन्ये क्रतौ क्रुधि' इत्यमरः । 'धर्मशास्त्रानुसारेण क्रोधलोभविवर्जितः' इति स्मरणादित्यर्थः । किन्तु निवृत्तकारणो निवृत्तलोभादिनिमित्तः सन्स्वधर्म इत्येव । स्वस्यराज्ञः सतो ममायं धर्मो ममेदं कर्त्तव्यमित्यस्मादेव हेतोरित्यर्थः । 'अदण्ड्यान् दण्डयन् राजा दण्ड्यांश्चैवाप्यदण्डयन् । अयशो महदाप्नोति नरकं चैव गच्छति' ।।

इति स्मरणादिति भावः । गुरुपदिष्टेन प्राड्विवाकोपदिष्टेन । 'धर्मशास्त्रं' पुरस्कृत्य प्राङ्- विवाकमते स्थितः । समाहितमतिः पश्येद् व्यवहाराननुक्रमात्' ।। इति नारदस्मरणात् । दण्डेन दमेन । शिक्षयेत्यर्थः । रिपौ सुतेऽपि वा । स्थितमिति शेषः । एतेनास्य समदर्शित्वमुक्तम् । धर्मविप्लवं धर्मव्यतिक्रमम् । अधर्ममिति यावत् । निहन्ति निवारयति । दुष्ट एवास्य शत्रुः शिष्ट एव बन्धुर्न तु सम्बन्धनिबन्धनः पक्षपातोऽ- स्तीत्यर्थः ।।१३ ।।

हिन्दी—इन्द्रियों को वश में रखने वाला वह दुर्योधन न तो धन के लोभ से और न क्रोध से (ही किसी को दण्ड देता है) अपितु लोभादि कारणों से रहित होकर, इसे अपना (राजा का) धर्म समझकर ही वह अपने गुरु द्वारा उपदिष्ट (शास्त्र सम्मत) दण्ड का प्रयोग करके शत्रु हो या अपना निज का पुत्र हो अधर्म का उपशमन करता है ।। १३ ।।

विमर्श—तात्पर्य यह है कि वह दण्ड देने में भी पक्षपात नहीं करते । न तो किसी को धन-सम्पत्ति या राज्य पाने के लोभ से दण्ड देते हैं और न किसी को क्रोधित होने पर दण्ड देते हैं । बल्कि दण्ड देने में वह अपना एक धर्म समझते हैं । शास्त्रों के अनुसार जिसको जिस किसी अपराध का जो दण्ड उचित है वही वह देंगे । दण्डनीय चाहे शत्रु हो या अपना ही पुत्र क्यों न हो । दुष्ट ही उसके शत्रु हैं और शिष्ट ही उसके मित्र हैं । यहाँ पदार्थहेतुक काव्यलिङ्ग अलङ्कार है ।

{अब आगे दुर्योधन की भेदनीति का वर्णन है ।}

सम्प्रति भेदकौशलं दर्शयति—

विधाय रक्षान्परितः परेतरानशङ्किताकारमुपैति शङ्कितः ।
क्रियाऽपवर्गेष्वनुजीविसात्कृताः कृतज्ञतामस्य वदन्ति सम्पदः ।।१४ ।।

अन्वयः—शङ्कितः परितः परेतरान् रक्षान् विधाय अशङ्किताकारम् उपैति । क्रियाऽपवर्गेषु अनुजीविसात्कृताः सम्पदः अस्य कृतज्ञताम् वदन्ति ।। १४ ।।

विधायेति । शङ्का सञ्जाताऽस्य शङ्कितोऽविश्वस्तः सन् परितः सर्वत्र स्वपर- मण्डले परेतरानात्मीयान् । अवञ्चकानिति यावत् । यद्वा परानि तरयन्ति भेदेनात्म- सात्कुर्वन्तीति परेतरान्। तत्करोति ण्यन्तात्कर्मण्यण्प्रत्ययः। रक्षन्तीति रक्षान् रक्षकान्। मन्त्रगुप्तिसमर्थानित्यर्थः । 'नन्दिग्रहि—' इत्यादिन पचाद्यच् । विधाय कृत्वा । नियुज्ये- त्यर्थः । अशङ्किताकारमुपैति । स्वयमविश्वस्तोऽपि विश्वस्तवदेव व्यवहरन् परमुखे नैव परान्भिनत्तीत्यर्थः । न च तान् रक्षानुपेक्षते येन तेऽपि विकुर्वीरन्नित्याह—क्रियेति । क्रियाऽपवर्गेषु कर्मसमाप्तिष्वनुजीविसात्कृता भृत्याधीनाः कृताः । अपरावर्त्तितया दत्ता इत्यर्थः । 'दये त्रा च' इति सातिप्रत्ययः । सम्पदोऽस्य राज्ञः कृतज्ञतामुपकारित्वं वदन्ति । प्रीतिदानैरेवास्य कृतज्ञत्वं प्रकाश्यते, न तु वाङ्मात्रेणेत्यर्थः । कृतज्ञे राजन्यनुजीविनोऽनुरज्यन्तेऽनुरक्ताश्च तं रक्षन्तीति भावः ।।१४ ।।

हिन्दी—सर्वदा सशङ्क चित्त रहने वाला वह दुर्योधन सर्वत्र चारों ओर अपने आत्मीय जनों को रक्षक नियुक्त करके अपने को सब का विश्वास करने वाला प्रदर्शित करते हैं । कार्यों की सफल समाप्ति पर राज-सेवकों को पुरस्कार रूप में प्रदान की गयी धन-सम्पत्ति उनकी कृतज्ञता की सूचना देती है ।। १४ ।।

विमर्श—तात्पर्य यह है कि यद्यपि दुर्योधन ने राज्य के सभी उच्च पदों पर अपने आत्मीय जनों को नियुक्त कर रखा है तथापि वह सर्वदा सशङ्क रहता है और प्रकट में ऐसा व्यवहार करता है मानों सब का विश्वास करता है । किसी भी कर्मचारी को वह यह ध्यान नहीं आने देता कि वह राजा का विश्वासपात्र नहीं है । यही नहीं, जब कभी उसका कोई कार्य सफल समाप्त होता है तब वह उसमें लगे हुए कर्मचारियों को प्रचुर धन-सम्पत्ति पुरस्कार रूप में देता है । वही धन-सम्पत्तियाँ ही उसकी कृतज्ञता का सुन्दर विज्ञापन करती हैं । इस प्रकार के कृतज्ञ एवं उपकारी राजा में सेवकों की सच्ची भक्ति का होना स्वाभाविक ही है । यहाँ पदार्थहेतुक काव्यलिङ्ग अलङ्कार है ।

अथोपायप्रयोगस्य फलवत्तां दर्शयति—

अनारतं तेन पदेषु लम्भिता विभज्य सम्यग्विनियोगसत्क्रियाः ।
फलन्त्युपायाः परिबृंहितायतीरुपेत्य सङ्घर्षमिवार्थसम्पदः ।।१५ ।।

अन्वयः—तेन सम्यक् विभज्य पदेषु लम्भिताः विनियोगसत्क्रियाः उपायाः सङ्घर्षम् उपेत्य इव परिबृंहितायतीः अर्थसम्पदः अनारतम् फलन्ति ।। १५ ।।

अनारतमिति । तेन राज्ञा पदेषूपादेयवस्तुषु । 'पदं व्यवसितत्राणस्थानलक्ष्माङ्घ्रिवस्तुषु' इत्यमरः । सम्यगसङ्कीर्णमव्यस्तं च विभज्य विविच्य । विनियोग एव सत् क्रियाऽनुग्रहः सत्कार इति यावत् । येषां ते लम्भिताः । स्थानेषु सभ्यक्प्रयुक्ता इत्यर्थः । उपायाः सामादयः । सघर्ष परस्परस्पर्धामुपेत्येवेत्युत्प्रेक्षा । परिबृंहितायतीः प्रचितोत्तरकालाः स्थिरा इत्यर्थः । अर्थसम्पदोऽनारतमजस्रं फलन्ति प्रसुवत इत्यर्थः ।।१५ ।।

हिन्दी—उस दुर्योधन द्वारा भली-भाँति समझ-बूझकर यथायोग्य पात्र में प्रयोग किये जाने से सत्कृत साम, दाम, दण्ड और भेद—ये चारों उपाय, एक दूसरे से परस्पर स्पर्द्धा करते हुये से उत्तरोत्तर बढ़ने वाली धन-सम्पत्ति एवं ऐश्वर्य राशि को सर्वदा उत्पन्न किया करते हैं ।। १५ ।।

विमर्श—तात्पर्य यह है कि दुर्योधन साम दानादि नीतियों का यथायोग्य पात्र में खूब समझ-बूझकर प्रयोग करता है और इससे उत्तरोत्तर उसकी अचल धन-सम्पत्ति एवं ऐश्वर्य की वृद्धि होती चली जा रही है । यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ।

अर्थसम्पदमेवाह—

अनेकराजन्यरथाश्वसंकुलं तदीयमास्थाननिकेतनाजिरम् ।
नयत्ययुग्मच्छदगन्धिरार्द्रतां भृशं नृपोपायनदन्तिनां मदः ।।१६ ।।

अन्वयः—अयुग्मच्छदगन्धिः नृपोपायनदन्तिनां मदः अनेक राजन्यरथाश्वसंकुलं तदीयम् आस्थाननिकेतनाजिरम् भृशम् आर्द्रताम् नयति ।। १६ ।।

अनेकेति । अयुग्मच्छदस्य सप्तपर्णपुष्पस्य गन्ध इव गन्धो यस्यासावयुग्मच्छदगन्धिः । 'सप्तम्युपमान—' इत्यादिना बहुव्रीहिरुत्तरपदलोपश्च । 'उपमानाच्च' इति समासान्त इकारः । नृपाणामुपायनान्युपहारभूता ये दन्तिनस्तेषां मदः । उपायनमुपग्राह्यमुपहारस्तथोपदा' इत्यमरः । राज्ञामपत्यानि पुमांसो राजन्याः क्षत्रियाः । 'राजश्चतुराद्यत्' इति यत्प्रत्ययः । राज्ञोऽपत्ये जातिग्रहणादन् । रथाश्चाश्वाश्च रथाश्वम् । सेनाङ्गत्वादेकवद्भावः । अनेकेषां राजन्यानां रथाश्वेन सङ्कुलं व्याप्तं तदीयमास्थाननिकेतनाजिरं सभामण्डपाङ्गनं भृशमत्यर्थमार्द्रतां पङ्किलत्वं नयति । एतेन महासमृद्धिरस्योक्ता । अत एवोदात्तालङ्कारः । तथा चालङ्कारसूत्रम्—'समृद्धिमद्वस्तुवर्णनमुदात्तः' इति ।।

हिन्दी—छितवन (सप्तपर्ण) के पुष्प की सुगन्ध के समान गन्ध वाले राजाओं द्वारा भेंट में दिए गए हाथियों के मद जल; अनेक राजाओं के रथों और घोड़ों से भरे हुए उनके (दुर्योधन के) सभा-भवन के प्राङ्गण को अत्यन्त गीला बनाये रखते हैं ।। १६ ।।

विमर्श—तात्पर्य यह है कि दुर्योधन की सभा में देश-देशान्तर के राजा सर्वदा जुटे रहते हैं और उनके रथों, घोड़ों और हाथियों की भीड़ से उसके सभा-भवन का प्राङ्गण गीला बना रहता है । अर्थात् उसका प्रभाव अब बहुत बढ़ गया है । यहाँ उदात्त अलङ्कार है ।

सम्प्रति जनपदक्षेमकरत्वमाह—

सुखेन लभ्या दधतः कृषीवलैरकृष्टपच्या इव सस्यसम्पदः ।
वितन्वति क्षेममदेवमातृकाश्चिराय तस्मिन्कुरवश्चकासति ।।१७ ।।

अन्वयः—चिराय तस्मिन् क्षेमं वितन्वति अदेवमातृकाः कुरवः अकृष्टपच्याः इव कृषीवलैः सुखेन लभ्याः सस्यसम्पदः दधतः चकासति ।। १७ ।।

सुखेनेति ।। चिराय तस्मिन् दुर्योधने क्षेमं वितन्वति क्षेमङ्करे सति । देवः पर्जन्य एव माता येषां ते देवमातृका वृष्ट्यम्बुजीविनो देशाः । ते न भवन्तीत्यदेवमातृका नदीमातृका इत्यर्थः । 'देशो नद्यम्बुधृष्टयम्बुसम्पन्नव्रीहिपालितः। स्यान्नदीमातृको देवमातृकश्च यथाक्रमम् ।।' इत्यमरः । एतेनास्य कुल्याऽऽदिपूर्त्तपवर्तकत्वमुक्तम् । कुरूणां निवासाः कुरवो जनपदविशेषाः । कृष्टेन पच्यन्त इति कृष्टपच्याः । 'राजसूय—' इत्यादिना कर्मकर्त्तरि क्यप्प्रत्ययान्तो निपातः । तद्विपरीता अकृष्टपच्या इव । कृषि येषाममस्तीति तैः कृषीवलैः, कर्षकैरित्यर्थः । 'रजःकृषि—' इत्यादिना वलच् प्रत्ययः। 'वले' इति दीर्घः। सुखेनाक्लेशेन लभ्या लब्धुं शक्याः सस्यसम्पदो दधतो धारयन्तः। 'नाभ्यस्ताच्छतुः' इति नुमागमप्रतिषेधः । चकासति । सर्वोत्कर्षेण वर्त्तन्त इत्यर्थः ।

'अदभ्यस्तात्' इति झेरदादेशः । 'जक्षित्यादयः षट्' इत्यभ्यस्तसञ्ज्ञा । सम्पन्न जनपदत्वादसन्तापकरत्वाच्च दुःसाध्योऽयमिति भावः ।।१७ ।।

हिन्दी—चिरकाल से प्रजा के कल्याण के लिए यत्नशील उस राजा दुर्योधन के कारण नदियों एवं नहरों आदि की सिंचाई की सुविधा से समन्वित कुरुप्रदेश की भूमि मानों वहाँ के किसानों के बिना अधिक परिश्रम उठाए हुए ही बड़ी सुविधा के साथ स्वयम् प्राप्त होने वाले अन्नों की समृद्धि से सुशोभित हो रही है ।। १७ ।।

विमर्श—तात्पर्य यह है कि दुर्योधन केवल राजनीति पर ही ध्यान नहीं दे रहा है, वह प्रजा की समृद्धि को भी बढ़ा रहा है । उसने समूचे कुरु प्रदेश को अब वर्षा के जल पर ही नहीं निर्भर रहने दिया है, किन्तु नहरों एवं कुओं से सिंचाई की सुविधा भी कर दी है । समूचा कुरु प्रदेश धन-धान्य से समृद्धि को प्राप्त हो गया है । यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ।। १७ ।।

नन्वेवं जनपदानुवर्त्तिनः कथमर्थलाभ इत्यत आह—

उदारकीर्त्तेरुदयं दयावतः प्रशान्तबाधं दिशतोऽभिरक्षया ।
स्वयं प्रदुग्धेऽस्य गुणैरुपस्नुता वसूपमानस्य वसूनि मेदिनी ।।१८ ।।

अन्वयः—उदारकीर्त्तेः दयावतः प्रशान्तबाधम् अभिरक्षया उदयम् दिशतः वसूपमानस्य अस्य गुणैः उपस्नुता मेदिनी वसूनि स्वयं प्रदुग्धे ।। १८ ।।

उदारेति । उदारकीर्त्तेर्महायशसः । 'उदारो दातृमहतोः' इत्यमरः ।। दयावतः परदुःखप्रहाणेच्छोः । अत एव प्रशान्तबाधं प्रशमितोपद्रवं यथा स्यात्तथेति क्रियाविशेषणम् । उदयविशेषणं वा । 'वा दान्तशान्त—' इत्यादिना शमिधातोर्ण्यन्तान्निष्ठान्तो निपातः । अभिरक्षया सर्वतस्त्राणेनोदयं वृद्धिं दिशतः सम्पादयतो वसूपमानस्य कुबेरोपमस्य । 'वसुर्मयूखाग्निधनाधिपेषु' इति विश्वः । अस्य दुर्योधनस्य गुणैर्दया दाक्षिण्यादिभिरुपस्नुता द्राविता मेदिनी वसूनि धनानि । 'वसु तोये धने मणौ' इति वैजयन्ती । स्वयं प्रदुग्धे । अक्लेशेन दुह्यत इत्यर्थः । दुहेः कर्मकर्त्तरि लट् । 'न दुहस्नुनमां यक्चिणौ' इति यक्प्रतिषेधः । यथा केनचिद्विदग्धेन नवप्रसूता रक्षिता च गौः' स्वयं प्रदुग्धे तद्वदिति भावः । अलङ्कारस्तु—'विशेषणमात्रसाम्यादप्रस्तुतस्य गम्यत्वे समासोक्तिः' इति सर्वस्वकारः । अत्र प्रतीयमानया गवा सह प्रकृताङ्गया मेदिन्या भेदेऽभेदलक्षणातिशयोक्तिवशाद्दोह्यत्वेनोक्तिरिति सङ्क्षेपः ।।१८ ।।

हिन्दी—महान् यशस्वी, परदुःखकातर, समस्त उपद्रवों एवं बाधाओं को शान्त कर प्रजावर्ग की सुरक्षा की सुव्यवस्था का सम्पादन करने वाले, कुबेर के समान उस दुर्योधन के गुणों से रीझी हुई धरती (नवप्रसूता दुधार गौ की भाँति) धन-धान्य (रूपी दूध स्वयं दे रही है ।) को स्वयं उत्पन्न करती है ।। १८ ।।

विमर्श—तात्पर्य यह है कि दुर्योधन के दया-दाक्षिण्य आदि गुणों ने पृथ्वी को द्रवीभूत-सा कर दिया है । इसका परिणाम यह हुआ है कि समूचे कुरु-प्रदेश की

धरती मानों द्रवित होकर स्वयमेव दुर्योधन को धन-धान्य रूपी दूध दे रही है । यहाँ समासोक्ति अलङ्कार है । अतिशयोक्ति का भी पुट है ।

वीरभटानुकूल्यमाह—

महौजसो मानधना धनार्चिता धनुर्भृत: संयति लब्धकीर्त्तय: ।
नसंहतास्तस्य न भिन्नवृत्तय: प्रियाणि वाञ्छन्त्यसुभि: समीहितुम् ॥१९॥

अन्वय:—महौजस: मानधना: धनार्चिता संयति लब्धकीर्तय: नसंहता नभिन्न-वृत्तय: धनुर्भृत: तस्य असुभि: प्रियाणि समीहितुम् वाञ्छन्ति ॥ १९ ॥

महौजस इति । महौजसो महाबला: । अन्यथा दुर्बलानामनुपकारित्वादिति भाव: । मान: कुलशीलाद्यभिमान एव धनं येषां ते मानधना: । अन्यथा कदाचिद् बलदर्पाद्विकुर्वीरन्निति भाव: । धनार्चिता: धनैरचिता: सत्कृता: । अन्यथा दारिद्र्यादेनं जह्युरिति भाव: । संयति सङ्ग्रामे लब्धकीर्त्तय: । बहुयशस इत्यर्थ: । अन्यथा कदाचिन्मुह्येयुरिति भाव: । संहता मिथ:सङ्गता: स्वार्थनिष्ठा न भवन्तीति नसंहता: । नञर्थस्य नशब्दस्य 'सुप्सुपे'ति समास: । भिन्नवृत्तयो मिथो विरोधात्स्वामिकार्यकरा न भवन्तीति नभिन्नवृत्तय: । पूर्ववत्समास: । अन्यथा स्वामिकार्यविघातकतया स्वामि-द्रोहिण: स्युरित्युभयत्रापि तात्पर्यार्थ: । धनुर्भृतो धानुष्का: । आयुधीयमात्रोपलक्षणम-मेतत् । प्राधान्याद्धनुर्ग्रहणम् । तस्य दुर्योधनस्यासुभि: प्राणै: प्रियाणि समीहितुं कर्तुं वाञ्छन्ति । आनृण्यार्थ प्राणान्दातुमिच्छन्ति । अन्यथा दोषस्मरणादिति भाव: । अत्र महौजसादिपदार्थानां प्राणदानकर्तव्यतां प्रति विशेषणगत्या हेतुत्वाभिधानात्काव्य-लिङ्गमलङ्कार: । लक्षणं तूक्तम् । तथा साभिप्रायविशेषणत्वात्परिकरालङ्कार इति द्वयोस्तिलतण्डुलवद् विभक्ततया स्फुरणात्संसृष्टि: ॥१९ ॥

हिन्दी—महाबलशाली, अपने कुल एवं शील का स्वाभिमान रखने वाले, धनसम्पत्ति द्वारा सत्कृत, युद्धभूमि में कीर्ति प्राप्त करने वाले, परोपकार परायण तथा एक कार्य में सब के सब लगे रहने वाले धनुर्धारी शूर वीर उस दुर्योधन का अपने प्राणों से (भी) प्रिय कार्य करने की अभिलाषा रखते हैं ॥ १९ ॥

विमर्श—धनुर्धारियों के सभी विशेषणों के साभिप्राय होने से परिकर तथा पदार्थहेतुक काव्यलिङ्ग अलङ्कार की संसृष्टि इस श्लोक में है ।

सम्प्रति स्वराष्ट्रवत्परराष्ट्रवृत्तान्तमपि वेत्तीत्याह—

महीभृतां सच्चरितैश्चरै: क्रिया: स वेद निश्शेषमशेषितक्रिय: ।
महोदयैस्तस्य हितानुबन्धिभि: प्रतीयते धातुरिवेहितं फलै: ॥ २० ॥

अन्वय:—अशेषितक्रिय: स: सच्चरितै: चरै: महीभृताम् क्रिया: नि:शेषम् वेद । तस्य धातु: इव ईहितं महोदयै: हितानुबन्धिभि: फलै: प्रतीयते ॥ २० ॥

महीभृतामिति । अशेषितक्रियः समापितकृत्यः । आफलोदयकर्मेत्यर्थः । स दुर्योधनः सच्चरितैः शुद्धचरितैः । अवञ्चकैरित्यर्थः । चरन्तीति चरास्तैश्चरैः । प्रणिधिभिः । पचाद्यच् । महीभृतां क्रियाः प्रारम्भान्निःशेषं वेद वेत्ति । 'विदो लटो वा' इति णलादेशः । स्वरहस्यं तु न कश्चिद्वेदेत्याह—महोदयैरिति । धातुरिव तस्य दुर्योधनस्येहितमुद्योगो महोदयैर्महावृद्धिभिः । हितमनुबध्नन्त्यनुरुन्धन्तीति हितानुबन्धिभिः । स्वन्तैरित्यर्थः । फलैः कार्यसिद्धिभिः प्रतीयते ज्ञायते । फलानुमेयास्तस्य प्रारम्भा इत्यर्थः ।। २० ।।

हिन्दी—आरम्भ किए हुए कार्यों को समाप्त करके ही छोड़ने वाला वह दुर्योधन अपने प्रशंसनीय चरित्र वाले राजदूतों के द्वारा अन्य राजाओं की सारी कार्यवाहियाँ जान लेता है । (किन्तु) ब्रह्मा के समान उसकी इच्छाओं की जानकारी, उनकी महान् समाप्ति के फलों द्वारा ही होती है ।। २० ।।

विमर्श—तात्पर्य यह है कि दुर्योधन के गुप्तचर समग्र भूमण्डल में फैले हुए हैं । वह समस्त राजाओं की गुप्त बातें तो मालूम कर लेता है किन्तु उसकी इच्छा तो तभी ज्ञात होती है जब कार्य पूरा हो जाता है । यहाँ काव्यलिङ्ग से अनुप्राणित उपमा अलङ्कार है ।

मित्रबलमाह—

न तेन सज्यं क्वचिदुद्यतं धनुः कृतं न वा कोपविजिह्ममाननम् ।
गुणानुरागेण शिरोभिरुह्यते नराधिपैर्माल्यमिवास्य शासनम् ।। २१ ।।

अन्वयः—तेन क्वचित् सज्यं धनुः न उद्यतम्, वा आननम् कोपविजिह्मम् न कृतम्, गुणानुरागेण अस्य शासनम् नराधिपैः माल्यमिव शिरोभिः उह्यते ।। २१ ।।

नेति । तेन राज्ञा क्वचित्कुत्रापि । सह ज्यया मौर्व्या सज्यम् । 'मौर्वी ज्याशिञ्जिनी गुणः' इत्यमरः । 'तेन सहेति तुल्ययोगे' इति बहुव्रीहिः । धनुर्नोद्यतं नोर्ध्वीकृतम् । आननं च कोपविजिह्मं कोपकुटिलं न कृतम् । यस्य कोप एव नोदेति कुतस्तस्य युद्धप्रसक्तिरिति भावः । कथं तर्ह्याज्ञां कारयति राज्ञ इत्यत्राह—गुणेति । गुणेषु दयादाक्षिण्यादिष्वनुरागेण प्रेम्णा । माल्यपक्षे सूत्रानुषङ्गेण । यद्वा सौरभ्यगुणलाभेन। नराधिपैरस्य शासनमाज्ञा। मालैव माल्यं तदिव । 'चातुर्वर्ण्यादित्वात्स्वार्थे ष्यञ्' इति क्षीरस्वामी । शिरोभिरुह्यते धार्यते । 'वचिस्वपियजादीनां किति' इति यकि सम्प्रसारणम् । अत्रोपमा स्फुटैव ।। २१ ।।

हिन्दी—उस (दुर्योधन) ने कहीं भी अपने सुसज्जित धनुष को नहीं चढ़ाया, तथा (उसने) अपने मुँह को भी (कहीं) क्रोध से टेढ़ा नहीं किया । (केवल उसके) दया-दाक्षिण्य आदि उत्तम गुणों के प्रति अनुरक्त होने के कारण उसके शासन को सभी राजा लोग माला की भाँति अपने शिर पर धारण किए रहते हैं ।। २१ ।।

विमर्श—दुर्योधन की नीतिमत्ता का यह फल है कि वह न तो कहीं धनुष का प्रयोग करता है और न कहीं मुँह से ही क्रोध प्रकट करने की उसे आवश्यकता होती है, किन्तु फिर भी सभी राजा उसके शासन को शिरसा स्वीकार करते हैं । यह केवल उसके दया-दाक्षिण्य आदि गुणों का प्रभाव है । यहाँ पूर्वार्द्ध में साभिप्राय विशेषणों से परिकर अलङ्कार है तथा उत्तरार्द्ध में पदार्थ हेतुक काव्यलिङ्ग से अनुप्राणित उपमा अलङ्कार है ।

संप्रत्यस्य धार्मिकत्वमाह—

स यौवराज्ये नवयौवनोद्धतं निधाय दुःशासनमिद्धशासनः ।
मखेष्वखिन्नोऽनुमतः पुरोधसा धिनोति हव्येन हिरण्यरेतसम् ॥ २२ ॥

अन्वयः—इद्धशासनः सः नवयौवनोद्धतम् दुःशासनम् यौवराज्ये निधाय मखेषु पुरोधसा अनुमतः अखिन्नः हव्येन हिरण्यरेतसम् धिनोति ॥ २२ ॥

स इति । इद्धशासनोऽप्रतिहताज्ञः स दुर्योधनो नवयौवनोद्धतं प्रगल्भम् । धुरन्धरमित्यर्थः । दुःखेन शास्यत इति दुःशासनस्तम् । 'भाषायां शासियुधि—' इत्यादिना खलर्थे युच्प्रत्ययः । यौवराज्ये युवराजकर्मणि । ब्राह्मणादित्वात्ष्यञ् । निधाय । नियुज्येत्यर्थः । पुरोधसा पुरोहितेनानुमतोऽनुज्ञातः। तस्मिन्याजके सतीत्यर्थः। तदुल्लङ्घने दोषस्मरणादिति भावः । 'निष्ठा' इति भूतार्थे क्तः । न तु 'मतिबुद्धि' इत्यादिना वर्त्तमानार्थे । अन्यथा 'पुरोधसा' इत्यत्र 'क्तस्य च वर्त्तमाने' इति षष्ठी स्यात्। अखिन्नोऽनलसो मखेषु क्रतुषु हव्येन हविषा । हिरण्यं रेतो यस्य तं हिरण्यरेतसमनलं धिनोति प्रीणयति धिन्वेः प्रीणनार्थाद् 'धिन्विकृण्व्योर च' इत्युप्रत्ययः, अकारश्चान्तादेशः ॥ २२ ॥

हिन्दी—अप्रतिहत आज्ञा वाला (जिसकी आज्ञा या आदेश का पालन सब करते हैं) वह दुर्योधन नवयौवन-सुलभ उद्दण्डता से पीड़ित दुःशासन को युवराज पद पर आसीन करके, स्वयं पुरोहित की अनुमति से बड़ी तत्परता के साथ आलस्य छोड़कर यज्ञों में हवनीय सामग्रियों द्वारा अग्निदेवता को प्रसन्न करता है ॥ २२ ॥

विमर्श—अर्थात् अब वह शासन के छोटे-मोटे कामों के सम्बन्ध में भी निश्चिन्त है और धर्म-कार्यों में अनुरक्त है । धर्म कार्य में अनुरक्त ऐसे राजा का अनिष्ट भला हो ही कैसे सकता है । यहाँ काव्यलिङ्ग अलङ्कार है ।

न चैतावता निरुद्योगैर्भाव्यमित्याशङ्क्याशां दर्शयति—

प्रलीनभूपालमपि स्थिरायति प्रशासदावारिधि मण्डलं भुवः ।
स चिन्तयत्येव भियस्त्वदेष्यतीरहो दुरन्ता बलवद्विरोधिता ॥ २३ ॥

अन्वयः—स प्रलीनभूपालं स्थिरायति भुवः मण्डलं आवारिधि प्रशासत् अपि त्वत् एष्यतीः भियः चिन्तयति एव । अहो बलवद् विरोधिता दुरन्ता ॥ २३ ॥

प्रलीनेति । स दुर्योधनः प्रलीनभूपालम् । निःसपत्नमित्यर्थः । स्थिरायति । चिरस्थायीत्यर्थः । भुवो मण्डलमा वारिधिभ्य आवारिधि । 'आङ्मर्यादाऽभिविध्योः' इत्यव्ययीभावः। प्रशासदाज्ञापयन्नपि । 'जक्षित्यादयः षट्' इत्यभ्यस्तसंज्ञा । 'नाभ्यस्ताच्छतुः' इति नुमागमप्रतिषेधः । त्वत् त्वत्त एष्यतीरागमिष्यतीः । धातूनामनेकार्थत्वादुक्तार्थसिद्धिः । अथवाऽऽङ्पूर्वः पाठः । 'एत्येधत्यूठ्सु' इति वृद्धिः। 'लृटः सद्वा' इति शतृप्रत्ययः । 'उगितश्च' इति ङीप् । 'आच्छीनद्योर्नुम्' इति विकल्पान्नुमभावः । भियो भयहेतून् । विपद इत्यर्थः । चिन्तयत्यालोचयत्येव । स एवाह—अहो बलवद्विरोधिता दुरन्ता दुष्टावसाना । सार्वभौमस्यापि प्रबलैः सह वैरायमाणत्वमनर्थपर्यवसाय्येवेति तात्पर्यम् । सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ।। २३ ।।

हिन्दी—वह दुर्योधन (शत्रु) राजाओं के विनष्ट हो जाने के कारण सुस्थिर भूमण्डल पर समुद्रपर्यन्त राज्य शासन करते हुए भी आप की ओर से आने वाली विपदा के भय से चिन्तित ही रहता है । क्यों न ऐसा हो, बलवान् के साथ का वैर-विरोध अमङ्गलकारी ही है ।। २३ ।।

विमर्श—समुद्रपर्यन्त भूमण्डल का शत्रुहीन राजा भी अपने विरोधी से भयभीत रहता है । यहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ।

ननु गूढाकारेङ्गितस्य तस्य भयं त्वया कथं निरधारीत्यत्राह——

कथाप्रसङ्गेन जनैरुदाहृतादनुस्मृताखण्डलसूनुविक्रमः ।
तवाभिधानाद् व्यथते नताननः स दुःसहान्मन्त्रपदादिवोरगः ।। २४ ।।

अन्वयः—कथाप्रसङ्गेन जनैः उदाहृतात् तव अभिधानात् अनुस्मृताआखण्डलसूनुविक्रमः सः सुदुःसहात् मन्त्रपदात् उरगः इव नताननः व्यथते ।। २४ ।।

कथेति । कथाप्रसङ्गेन गोष्ठीवचनेन जनैः । अन्यत्र कथाप्रसङ्गेन विषवैद्येन 'कथाप्रसङ्गो वार्त्तायां विषवैद्येऽपि वाच्यवत्' इति विश्वः । एकवचनस्यातन्त्रत्वाज्जन विशेषणम् । उदाहृतादुच्चारितात्तवाभिधानान्नामधेयात्स्मारकाद्धेतोः । 'हेतौ' इति पञ्चमी । 'आख्याह्वे अभिधानं च नामधेयं च नाम च' इत्यमरः । अन्यत्र तवाभिधानात् । 'नामैकदेशग्रहणे नाममात्रग्रहणम्' इति न्यायात्तश्च वश्च तवौ तार्क्ष्यवासुकी तयोरभिधानं यस्मिन्पदे तस्मात् । यद्वा कथाप्रसङ्गे इनाश्च ते जनाश्चेत्येकं पदम् । अनुस्मृताखण्डलसूनुविक्रमः स्मृतार्जुनपराक्रमः सुदुःसहादतिदुः सहान्मन्त्रपदान्मन्त्रशब्दात्स्मारकाद्धेतोः । आखण्डलसुनुरिन्द्रानुजः । उपेन्द्रो विष्णुरिति यावत् । 'सूनुः पुत्रेऽनुजे रवौ' इति विश्वः । तस्य विः पक्षी । गरुड इत्यर्थः । तस्य क्रमः पादविक्षेपः । सोऽनुस्मृतो येन स तथोक्तः, स्मृतगरुडमहिमा । उरग इव नताननः सन् । व्यथते दुःखायते । 'पीडा बाधा व्यथा दुःखम्' इत्यमरः । अत्युत्कटभयदोषादिविकारा दुर्वारा इति भावः । 'सर्वतो जयमन्विच्छेत्पुत्रादिच्छेत्पराजयम्' इति न्यायादर्जुनोत्कर्षकथनं युधिष्ठिरस्य भूषणमेवेति सर्वमवदातम् ।। २४ ।।

हिन्दी—बातचीत के प्रसङ्ग में लोगों द्वारा लिए जाने वाले आप के नाम से इन्द्रपुत्र अर्जुन के भयङ्कर पराक्रम को स्मरण करता हुआ वह दुर्योधन (विष की औषधि करने वाले मन्त्रवेत्ता द्वारा उच्चारित गरुड़ और वासुकि के नामों से युक्त) मन्त्रों के प्रचण्ड पराक्रम को न सह सकने वाले सर्प की भाँति नीचा मुख करके व्यथा का अनुभव करता है ।। २४ ।।

विमर्श—तात्पर्य यह है कि आप का नाम सुनते ही उसे गहरी पीड़ा होती है । अर्जुन के भयङ्कर पराक्रम का स्मरण करके वह मन्त्रोच्चारण से सन्त्रस्त सर्प की भाँति शिर नीचे कर लेता है । यहाँ उपमा अलङ्कार है ।

निगमयति—

तदाशु कर्त्तुं त्वयि जिह्ममुद्यते विधीयतां तत्र विधेयमुत्तरम् ।
परप्रणीतानि वचांसि चिन्वतां प्रवृत्तिसाराः खलु मादृशां गिरः ।। २५ ।।

अन्वयः—तत्त्वयि जिह्मं कर्त्तुमुद्यते तत्र विधेयम् उत्तरम् आशु विधीयताम् । परप्रणीतानि वचांसि चिन्वताम् । मादृशाम् गिरः प्रवृत्तिसाराः खलु ।। २५ ।।

तदिति । तत्तस्मात्त्वयि जिह्मं कपटं कर्त्तुमुद्यते । त्वां जिघांसावित्यर्थः । तत्र तस्मिन्दुर्योधने विधेयं कर्त्तव्यमुत्तरं प्रतिक्रियाऽऽशु विधीयतां क्रियताम् । ननु कर्त्तव्यमपि त्वयैवोच्यतामिति चेत्तत्राह—परेति । परप्रणीतानि परोक्तानि वचांसि चिन्वतां गवेषयतां मादृशाम् । वार्त्ताहारिणामित्यर्थः । गिरः प्रवृत्तिसारा वार्त्तामात्रसाराः खलु । 'वार्त्ता प्रवृत्तिर्वृत्तान्तः' इत्यमरः । वार्त्तामात्रवादिनो वयम्, न तु कर्त्तव्यार्थोपदेशसमर्थाः । अतस्त्वयैव निर्धार्य कार्यमिति भावः । सामान्येन विशेषसमर्थनादर्थान्तरन्यासः ।। २५ ।।

हिन्दी—अतएव आप के साथ कपट एवं कुटिलता का आचरण करने में उद्यत उस दुर्योधन के साथ उचित उत्तर देने वाली कार्यवाही आप शीघ्र करें । दूसरों की कही गई बातों के आधार पर समाचार लाने वाले सन्देशहारी मुझ जैसे लोगों की बातें तो केवल परिस्थिति की सूचना मात्र देती हैं ।। २५ ।।

विमर्श—दूत का तात्पर्य यह है कि अब आप उस दुर्योधन के साथ क्या करना चाहिये, इसका शीघ्र निर्णय कर लें । इस सम्बन्ध में मेरे जैसे लोग तो यही कर सकते हैं कि जो कुछ वहाँ देखकर आये हैं, उसकी सूचना आप को दे दें । क्या करना चाहिये, इस सम्बन्ध में सम्मति देने के अधिकारी हम जैसे लोग नहीं हैं। यहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ।

इतीरयित्वा गिरमात्तसत्क्रिये गतेऽथ पत्यौ वनसन्निवासिनाम् ।
प्रविश्य कृष्णासदनं महीभुजा तदाचचक्षेऽनुजसन्निधौ वचः ।। २६ ।।

अन्वयः—आत्तसत्क्रिये वनसन्निवासिनाम् पत्यौ इति गिरम् ईरयित्वा गते अथ महीभुजा कृष्णा सदनं प्रविश्य अनुजसन्निधौ तद्वचः आचचक्षे ।। २६ ।।

इतीति । वनसंनिवासिनां पत्यौ वनेचराधिप इति गिरमीरयित्वोक्त्वाऽऽत्त-सत्क्रिये गृहीतपारितोषिके गते सति । 'तुष्टिदानमेव चाराणां हि वेतनम् । ते हि तल्लोभात् स्वामिकार्येष्वतीव त्वरयन्ते' इति नीतिवाक्यामृते । अथ महीभुजा राज्ञा कृष्णासदनं द्रौपदीभवनं प्रविश्यानुजसन्निधौ तद्वनेचरोक्तं वचो वाक्यमाचचक्ष आख्यातम् । अथवा कृष्णेति पदच्छेदः । सदनं प्रविश्यानुजसन्निधौ तद्वचः कृष्णाऽऽचचक्ष आख्याता । चक्षिङो दुहादेर्द्विकर्मकत्वादप्रधाने कर्मणि लिट् ।। २६ ।।

हिन्दी—उपर्युक्त बातें कह कर, पारितोषिक द्वारा सत्कृत उस वनवासी चर के (वहाँ से) चले जाने के अनन्तर राजा युधिष्ठिर द्रौपदी के भवन में प्रविष्ट हो गये और वहाँ उन्होंने अपने छोटे भाइयों की उपस्थिति में वे सारी बातें द्रौपदी को कह सुनाई ।। २६ ।।

विमर्श—वह वनवासी चर दुर्योधन की गोपनीय बातों की सूचना देकर उचित पुरस्कार द्वारा सम्मानित होकर जब चला गया, तब राजा युधिष्ठिर ने वे सारी बातें अपने छोटे भाइयों से तथा द्रौपदी से भी जाकर बता दीं । यहाँ पदार्थहेतुक काव्यलिङ्ग अलङ्कार है ।

निशम्य सिद्धिं द्विषतामपाकृतीस्ततस्ततस्त्या विनियन्तुमक्षमा ।
नृपस्य मन्युव्यवसायदीपिनीरुदाजहार द्रुपदात्मजा गिरः ।। २७ ।।

अन्वयः—द्रुपदात्मजा द्विषतां सिद्धिं निशम्य ततः ततस्त्याः अपाकृतीः विनियन्तुम् अक्षमा नृपस्य मन्युव्यवसायदीपिनीः गिरः उदाजहार ।। २७ ।।

निशम्येति । अथ द्रुपदात्मजा द्रौपदी द्विषतां सिद्धिं वृद्धिरूपां निशम्य ततस्तदनन्तरम् । ततो द्विषद्भ्य आगतास्ततस्त्याः । 'अव्ययात्त्यप्' इति त्यप् । अपा-कृतीर्विकारान्विनियन्तुं निरोद्धुमक्षमा सती नृपस्य युधिष्ठिरस्य मन्युव्यवसाययोः क्रोधोद्योगयोर्दीपिनीः संवर्धिनीर्गिरो वाक्यान्युदाजहार । जगादेत्यर्थः ।। २७ ।।

हिन्दी—द्रुपदसुता द्रौपदी शत्रुओं की सफलता सुनकर, उनके द्वारा होने वाले अपकारों को दूर करने में अपने को असमर्थ समझकर राजा युधिष्ठिर के क्रोध को प्रज्ज्वलित करने वाली वाणी में (इस प्रकार) बोलीं ।। २७ ।।

विमर्श—स्त्रियों को पति के क्रोध को उद्दीप्त करने वाली कला खूब आती है । दुर्योधन के अभ्युदय की चर्चा सुन कर द्रौपदी को वह सब विपदायें स्मरण हो आईं, जो अतीत में भोगनी पड़ी थीं । उसने अनुभव किया कि ये हमारे निकम्मे पति अभी तक उसका प्रतिकार भी नहीं कर सके । अतः उसने युधिष्ठिर के क्रोध को उत्तेजित करने वाली बातें कहना आरम्भ किया । यहाँ पदार्थहेतुक काव्यलिङ्ग अलङ्कार है ।

भवादृशेषु प्रमदाजनोदितं भवत्यधिक्षेप इवानुशासनम् ।
तथाऽपि वक्तुं व्यवसाययन्ति मां निरस्तनारीसमया दुराधयः ।। २८ ।।

अन्वयः—भवादृशेषु प्रमदाजनोदितम् अनुशासनम् अधिक्षेपः इव भवति । तथाऽपि निरस्तनारीसमयाः दुराधयः मां वक्तुम् व्यवसाययन्ति ।। २८ ।।

भवादृशेष्विति । भवादृशो भवद्विधाः । पण्डिता इत्यर्थः । तेषु विषये । 'त्यदादिषु—' इत्यादिना कञ् । 'आ सर्वनाम्नः' इत्याकारादेशः । प्रमदाजनोदितं स्त्रीजनोक्तम्, वदेः क्तः । 'वचिस्वपि—' इत्यादिना सम्प्रसारणम् । अनुशासनं नियोग-वचनमधिक्षेपस्तिरस्कार इव भवति । अतो न युक्तं वक्तुमित्यर्थः । तथाऽपि वक्तुमनुचितत्वेऽपि निरस्तनारीसमयास्त्याजितशालीनतारूपस्त्रीसमाचाराः । 'समयाः शपथाचारकाल सिद्धान्तसंविदः' इत्यमरः । दुराधयः समयोल्लङ्घनहेतुत्वाद् दुष्टा मनोव्यथाः । 'पुंस्याधिर्मानसी व्यथा' इत्यमरः । मां वक्तुं व्यवसाययन्ति प्रेरयन्ति । न किञ्चिदयुक्तं दुःखिनामिति भावः ।। २८ ।।

हिन्दी—(यद्यपि) आप जैसे राजाओं के लिए स्त्रियों द्वारा कही गई अनुशासन सम्बन्धी बातें (आप के) तिरस्कार के समान हैं तथापि नारी जाति की सुलभ शालीनता को छुड़ाने वाली (छोड़ने के लिए विवश करने वाली) ये मेरी दुष्ट मनोव्यथाएँ मुझे बोलने के लिए विवश कर रही हैं ।। २८ ।।

विमर्श—द्रौपदी कितनी बुद्धिमती थी । उसकी भाषण-पटुता देखिए । कितनी विनम्रता से वह अपना अभिप्राय प्रकट करती है । उसके कथन का तात्पर्य यह है कि दुःखी व्यक्ति के लिए अनुचित कर्म भी क्षम्य होता है । यहाँ काव्यलिङ्ग और उपमा की संसृष्टि है ।

अखण्डमाखण्डलतुल्यधामभिश्चिरं धृता भूपतिभिः स्ववंशजैः ।
त्वयाऽऽत्महस्तेन मही मदच्युता मतङ्गजेन स्रगिवापवर्जिता ।। २९ ।।

अन्वयः—आखण्डलतुल्यधामभिः स्ववंशजैः भूपतिभिः चिरम् अखण्डम् धृता मही त्वया मदच्युता मतङ्गजेन स्रक् इव आत्महस्तेन अपवर्जिता ।। २९ ।।

अखण्डमिति । आखण्डलतुल्यधामभिरिन्द्रतुल्यप्रभावैः । स्ववंशजैर्भूपतिभि-र्भरतादिभिश्चिरमखण्डमविच्छिन्नं धृता मही । त्वया । मदं च्योततीति मदच्युत् । क्विप् । तेन मदस्राविणा मतङ्गजेन स्रगिवात्महस्तेन स्वकरेण स्वचापलेनेत्यर्थः । अपवर्जिता परिहृता त्यक्ता । स्वदोषादेवायमनर्थागम इत्यर्थः ।। २९ ।।

हिन्दी—इन्द्र के समान पराक्रमशाली अपने वंश में उत्पन्न होने वाले भरत आदि राजाओं द्वारा चिरकाल तक सम्पूर्ण रूप से धारण की हुई इस धरती को आपने मदस्रावी (मदोन्मत्त) गजराज द्वारा माला को ध्वस्त करने की भाँति अपने ही हाथों से (तोड़फोड़ कर) त्याग दिया है ।। २९ ।।

विमर्श—भरत आदि पूर्ववंशजों के महान् पराक्रम की याद दिलाकर द्रौपदी युधिष्ठिर को लज्जित करना चाहती है । कहाँ थे वह लोग और कहाँ हो तुम कि इतने बड़े साम्राज्य को अपने ही हाथों से नष्ट कर दिया । अपने ही अवगुणों से यह अनर्थ हुआ है । यहाँ उपमा अलङ्कार है ।

'स्वदोषादेवायमनर्थागम' इत्युक्तम् । स च दोष: कुटिलेष्वकौटिल्यमेवेत्याह—

व्रजन्ति ते मूढधिप: पराभवं भवन्ति मायाविषु ये न मायिन: ।
प्रविश्य हि घ्नन्ति शठास्तथाविधानसंवृताङ्गान्निशिता इवेषव: ।। ३० ।।

अन्वय:—ते मूढ़धिय: पराभवं व्रजन्ति ये मायाविषु मायिन: न भवन्ति । हि शठा: तथाविधान् असंवृताङ्गान् निशिता: इषव: इव प्रविश्य घ्नन्ति ।। ३० ।।

व्रजन्तीति । मूढधियो निर्विवेकबुद्धयस्ते पराभवं व्रजन्ति, ये मायाविषु मायावत्सु विषये । 'आस्मायामेधा—'इत्यादिना विनिप्रत्यय: । मायिनो मायावन्त: । व्रीह्यादित्वादिनिप्रत्यय: । न भवन्ति । अत्रैवार्थान्तरं न्यस्यति—प्रविश्येति । शठा अपकारिणो धूर्त्तास्तथाविधानकुटिलानसंधृताङ्गानवर्मितशरीरान्निशिता इषव इव प्रविश्य प्रवेशं कृत्वाऽऽत्मीया भूत्वा घ्नन्ति हि । 'आर्जवं हि कुटिलेषु न नीति'रिति भाव: ।

हिन्दी—वे मूर्ख बुद्धि के लोग सर्वदा पराजित होते हैं जो (अपने) मायावी (शत्रु) लोगों के साथ मायावी नहीं बनते क्योंकि दुष्ट लोग उस प्रकार के सीधे-सादे निष्कपट लोगों में, उघाड़े हुए अङ्गों में तीक्ष्ण बाणों की भाँति प्रवेश करके उनका विनाश कर देते हैं ।। ३० ।।

विमर्श—तात्पर्य यह है कि मायावी दुर्योधन को जीतने के लिए आप को अपनी यह धर्मात्मापने की नीति छोड़नी होगी । आपको भी उसी की तरह मायावी बनना होगा । जिस तरह उधाड़े शरीर में तीक्ष्ण बाण घुस कर अङ्गों का नाश कर देते हैं, उसी तरह से निष्कपट रहने वालों के बीच में उसके कपटी शत्रु भी प्रवेश कर लेते हैं और उसका सत्यानाश कर देते हैं । यहाँ अर्थान्तरन्यास से अनुप्राणित उपमा अलङ्कार है ।

न च लक्ष्मीचाञ्चल्यादयमनर्थागम:, किन्तु स्वोपेक्षादोषमूलत्वादित्याशयेनाह—

गुणानुरक्तामनुरक्तसाधन: कुलाभिमानी कुलजां नराधिप: ।
परैस्त्वदन्य: क इवापहारयेन्मनोरमामात्मवधूमिव श्रियम् ।। ३१ ।।

अन्वय:—अनुरक्तसाधन: कुलाभिमानी त्वदन्य: क: नराधिप: गुणानुरक्ताम् कुलजाम् मनोरमाम् आत्मवधूम् इव श्रियम् परै: अपहारयेत् ।। ३१ ।।

गुणेति । अनुरक्तसाधनोऽनुकूलसहायवान् । उक्तं च कामन्दकीये—

'उद्योगादनिवृत्तस्य ससहायस्य धीमत: ।
छायेवानुगता तस्य नित्यं श्री: सहचारिणी ।।' इति ।

कुलाभिमानी क्षत्रियत्वाभिमानी कुलीनत्वाभिमानी च त्वदन्यस्त्वत्तोऽन्यः । 'अन्याराद्—' इत्यादिना पञ्चमी । क इव नराधिपो गुणैः सन्ध्यादिभिः सौन्दर्यादि-भिश्चानुरागिणीं कुलजां कुलक्रमादागतां कुलीनां च मनोरमां श्रियमात्मवधूमिव स्वभार्यामिव 'वधूर्जाया स्नुषा स्त्री च' इत्यमरः । परैः शत्रुभिरन्यैश्चापहारयेत् । स्वयमेवापहारं कारयेदित्यर्थः। कलत्रापहारवल्लक्ष्म्यपहारोऽपि राज्ञा मानहानिकरत्वा-दनुपेक्षणीय इति भावः ।। ३१ ।।

हिन्दी—सब प्रकार के साधनों से युक्त एवं अपने उच्च कुल का अभिमान करने वाले आपके सिवा दूसरा कौन ऐसा राजा होगा, जो सन्धि आदि (या सौन्दर्य आदि) राजोचित गुणों से (या स्त्रियोचित गुणों से) अनुरक्त, वंश परम्परा द्वारा प्राप्त (उच्च कुलोत्पन्न) मन को लुभाने वाली अपनी पत्नी की भाँति राज्यलक्ष्मी को दूसरों से अपहृत करायेगा ।। ३१ ।।

विमर्श—स्त्री के अपहरण के समान ही राज्यलक्ष्मी का अपहरण भी मान हानिकारक है । आपके समान निर्लज्ज ऐसा कोई दूसरा राजा मेरी दृष्टि में नहीं है, जो अपने देखते हुए अपनी पत्नी की भाँति अपनी राज्यलक्ष्मी को अपहरण करने दे रहा है । यहाँ मालोपमा अलङ्कार है ।

अथ दशभिः कोपोद्दीपनं करोति—

भवन्तमेतर्हि मनस्विगर्हिते विवर्त्तमानं नरदेव ! वर्त्मनि ।
कथं न मन्युर्ज्वलयत्युदीरितः शमीतरुं शुष्कमिवाग्निरुच्छिखः।। ३२ ।।

अन्वयः—नरदेव ! एतर्हि मनस्विगर्हिते वर्त्मनि विवर्त्तमानम् भवन्तम् उदीरितः मन्युः शुष्कं शमीतरुम् उच्छिखः अग्निः इव कथं न ज्वलयति ।। ३२ ।।

भवन्तमिति ।। नरदेव ! हे नरेन्द्र ! एतर्हीदानीम्, अस्मिन्नापत्कालेऽपीत्यर्थः । 'एतर्हि सम्प्रतीदानीमधुना साम्प्रतं तथा' इत्यमरः । 'इदमोर्हिल्' इति हिल्प्रत्ययः । 'एतेतौ रथोः' इत्येतादेशः । आपदमेवाह—मनस्विगर्हिते शूरजनजुगुप्सिते वर्त्मनि मार्गे विवर्त्तमानम्, शत्रुकृतां दुर्दशामनुभवन्तमित्यर्थः । भवन्तं त्वामुदीरित उद्दीपितो मन्युः क्रोधः । शुष्कं नीरसम् । 'शुषः कः' इति निष्ठातकारस्य ककारः । शमी चासौ तरुश्चेति विशेषणसमासः । तम् । शमीग्रहणं शीघ्रज्वलनस्वभावात्कृतम् । उच्छिख उद्गतज्वालः 'घृणिज्वाले अपि शिखे' इत्यमरः । वह्निरिव । कथं न ज्वलयति । ज्वलयितुमुचितमित्यर्थः । 'मितां ह्रस्वः' ।। ३२ ।।

हिन्दी—हे राजन् ! ऐसा विपत्ति का समय आ जाने पर भी, वीर पुरुषों के लिए निन्दनीय मार्ग पर खड़े हुए आप को (मेरे द्वारा) बढ़ाया हुआ क्रोध, सूखे हुए शमी वृक्ष को अग्नि की भाँति क्यों नहीं जला रहा है ।। ३२ ।।

विमर्श—अर्थात् आप को तो ऐसी विपदावस्था में उद्दीप्त क्रोध से जल उठना चाहिए था । शत्रु द्वारा उपस्थित की गई ऐसी दुर्दशाजनक परिस्थिति में भी आप

कायरों की भाँति शान्तचित्त हैं, इसका मुझे आश्चर्य हो रहा है । यहाँ उपमा अलङ्कार है ।

नन्वन्तः शत्रुत्वादयं क्रोधस्त्याज्य एवेत्याशङ्क्याह—

अवन्ध्यकोपस्य विहन्तुरापदां भवन्ति वश्याः स्वयमेव देहिनः ।
अमर्षशून्येन जनस्य जन्तुना न जातहार्देन न विद्विषादरः ।। ३३ ।।

अन्वयः—अवन्ध्यकोपस्य आपदां विहन्तुः देहिनः स्वयमेव वश्याः भवन्ति। अमर्षशून्येन जन्तुना जातहार्देन जनस्य आदरा न, वा विद्विषादरः न ।। ३३ ।।

अवन्ध्येति ।। अवन्ध्यः कोपो यस्य तस्यावन्ध्यकोपस्यात एवापदां विहन्तुर्निग्रहानुग्रहसमर्थस्येत्यर्थः । पुंस इति शेषः । देहिनो जन्तवः स्वयमेव वश्या वशङ्गता भवन्ति 'वशं गतः' इति यत्प्रत्ययः । अतस्त्वया कोपिना भवितव्यमित्यर्थः। व्यतिरेके त्वनिष्टमाचष्टे—अमर्षशून्येन निष्कोपेन जन्तुना । कन्यया शोक इतिवत् 'हेतौ—इति तृतीया । हृदयस्य कर्म हार्दं स्नेहः । 'प्रेमा ना प्रियता हार्दं प्रेम स्नेहः' इत्यमरः युवादित्वादण् । 'हृदयस्य हृल्लेखयदण्लासेषु' इति हृदादेशः । जातहार्देन जातस्नेहेन सता जनस्यादरो न । विद्विषा द्विषता च सतादरो न । अमर्षहीनस्य रागद्वेषावकिञ्चित्करत्वाद् अगण्यावित्यर्थः। अथवा विद्विषा सता दरो भयं न । 'दरोऽस्त्रियां भये श्वभ्रे' इत्यमरः । एतस्मिन्नेव प्रयोगे सन्धिवशाद् द्विधा पदच्छेदः । पुंवाक्येषु न दोषः । अतः स्थाने कोपः कार्यस्त्याज्यस्त्वस्थाने कोप इति भावः ।। ३३ ।।

हिन्दी—जिसका क्रोध कभी निष्फल नहीं होता-ऐसे विपत्तियों को दूर करने वाले व्यक्ति के वश में लोग स्वयं ही हो जाते हैं (किन्तु) क्रोध से विहीन व्यक्ति के साथ प्रेम भाव पैदा होने से मनुष्य का आदर नहीं होता और न शत्रुता होने से भय ही होता है ।। ३३ ।।

विमर्श—तात्पर्य यह है कि जिस मनुष्य में अपने अपकार का बदला चुकाने की क्षमता नहीं होती उसकी मित्रता से न कोई लाभ होता है और न शत्रुता से कोई भय होता है । क्रोध अथवा अमर्ष से विहीन प्राणी नगण्य होता है । मनुष्य को समय पर क्रोध करना चाहिए, और समय पर क्षमा करनी चाहिए ।

परिभ्रमँल्लोहितचन्दनोचितः पदातिरन्तर्गिरि रेणुरूषितः ।
महारथः सत्यधनस्य मानसं दुनोति नो कच्चिदयं वृकोदरः ।। ३४ ।।

अन्वयः—लोहितचन्दनोचितः महारथः रेणुरूषितः पदातिः अन्तर्गिरि परिभ्रमन् अयम् वृकोदरः कच्चित् सत्यधनस्य मानसं न दुनोति ।। ३४ ।।

परिभ्रमन्निति । लोहितचन्दनोचित उचितलोहितचन्दनः । 'वाऽऽहिताग्न्यादिषु' इति साधुः । अभ्यस्तरक्तचन्दन इत्यर्थः । 'अभ्यस्तेप्युचितं न्याय्यम्' इति यादवः । महारथो रथचारी । उभयत्रापि प्रागिति शेषः । अद्य तु रेणुरूषितो धूलिच्छुरितः

पादाभ्यामतति गच्छतीति पदातिः पादचारी 'अज्यतिभ्यां च' इत्यनुवृत्तौ 'पादे च' इत्यौणादिक इण्प्रत्ययः । 'पादस्य पदाज्यातिगोपहतेषु' इति पदादेशः । अन्तर्गिरि गिरिष्वन्तः । विभक्त्यर्थेव्ययीभावः । 'गिरेश्च सेनकस्य' इति विकल्पात्स-मासान्ताभावः । परिभ्रमन्नयं वृकोदरो भीमः । सत्यधनस्येति सोल्लुण्ठनवचनम् । अद्यापि त्वया सत्यमेव रक्ष्यते, न तु भ्रातर इति भावः । तवेति शेषः । मानसं नो दुनोति कच्चिन्न परितापयति किम् । 'कच्चित्कामप्रवेदने' इत्यमरः । स्वाभिप्राया-विष्करणं कामप्रवेदनम् ॥ ३४ ॥

हिन्दी—(पहले) लाल चन्दन लगाने के अभ्यस्त, रथपर चलने वाले (किन्तु सम्प्रति) धूल से भरे हुए पैदल—एक पर्वत से दूसरे पर्वत पर भ्रमण करने वाले यह भीमसेन क्या सत्यपरायण (आप) के चित्त को खिन्न नहीं करते हैं? ॥ ३४ ॥

विमर्श—'सत्यपरायण' यहाँ उलहने के रूप में उत्तेजना देने के लिए कहा गया है । छोटे भाइयों की दुर्दशा का चित्र खींच कर द्रौपदी युधिष्ठिर को अत्यन्त उत्तेजित करना चाहती है । उसके इस व्यंग्य का तात्पर्य यह है कि ऐसे पराक्रमी भाइयों की ऐसी दुर्गति हो रही है और आप उन मायावियों के साथ ऐसी सत्यपरायणता का व्यवहार कर रहे हैं । यहाँ परिकर अलङ्कार है ।

विजित्य यः प्राज्यमयच्छदुत्तरान् कुरूनकुप्यं वसु वासवोपमः ।
स वल्कवासांसि तवाधुनाऽऽहरन् करोति मन्युं न कथं धनञ्जयः ॥ ३५॥

अन्वयः—वासवोपमः यः उत्तरान् कुरुन् विजित्य प्राज्यम् अकुप्यम् वसु अयच्छत्, सः धनञ्जयः अधुना वल्कवासांसि आहरन् तव मन्युं कथं न करोति ॥ ३५॥

विजित्येति । वासव इन्द्र उपमा उपमानं यस्य स वासवोपम इन्द्रतुल्यो यो धनञ्जयः उत्तरान् कुरून् मेरोरुत्तरान् मानुषान् देशविशेषान्विजित्य प्राज्यं प्रभूतम् । 'प्रभूतं प्रचुरं प्राज्यम्' इत्यमरः । कुप्यादन्यदकुप्यं हेमरूप्यात्मकम् । 'स्यात्कोशश्च हिरण्यं च हेमरूप्यं कृताकृते । ताभ्यां यदन्यत्तत्कुप्यम्' इत्यमरः । वसु धनमयच्छद् दत्तवान् । 'पाघ्रा—' इत्यादिना दाणा यच्छादेशः । स धनं जयतीति धनञ्जयोऽर्जुनः । 'संज्ञायां भृतधृजि—' इत्यादिना खच्प्रत्ययः' । 'अरुर्द्विषद्—' इत्यादिना मुमागमः । अधुनाऽस्मिन्काले । 'अधुना' इति निपातनात् साधुः । तव वल्कवासांस्याहरन् कथं तव मन्युं क्रोधं दुःखं वा न करोति ॥ ३५ ॥

हिन्दी—इन्द्र के समान पराक्रमी जिस (अर्जुन) ने सुमेरु के उत्तरवर्ती कुरुप्रदेशों को जीत कर प्रचुर सुवर्ण एवं रजत राशि लाकर आपको दी थी वही अर्जुन अब वल्कलों का वस्त्र धारण कर आपके हृदय में क्रोध को क्यों नहीं पैदा कर रहे हैं ? ॥ ३५ ॥

विमर्श—जिसने जीवनपर्यन्त सुखभोग के लिए पर्याप्त धनराशि अपने पराक्रम से जीत कर आपको दी थी, वही आप के कारण आज वल्कलधारी है, यह देख कर भी आप में क्रोध क्यों नहीं होता—यह आश्चर्य है ।

वनान्तशय्याकठिनीकृताकृती कचाचितौ विष्वगिवागजौ गजौ ।
कथं त्वमेतौ धृतिसंयमौ यमौ विलोकयन्नुत्सहसे न बाधितुम् ।। ३६ ।।

अन्वयः—वनान्तशय्याकठिनीकृताकृती विष्वक् कचाचितौ अगजौ गजौ इव एतौ यमौ विलोकयन् त्वं धृतिसंयमौ बाधितुं कथं न उत्सहसे ।। ३६ ।।

वनान्तेति । वनान्तो वनभूमिरेव शय्या तया कठिनीकृताकृती कठिनीकृतदेहौ। 'आकारो देह आकृतिः' इति वैजयन्ती । विष्वक्समन्तात् । 'समन्ततस्तु परितः सर्वतो विष्वगित्यपि' इत्यमरः । कचाचितौ कचव्याप्तौ । विशीर्णकेशावित्यर्थः । अत एवागजौ गिरिसम्भवौ गजाविव स्थितावेतौ यमौ युग्मजातौ, माद्रीपुत्रावित्यर्थः । 'यमो दण्डधरे ध्वाङ्क्षे संयमे यमजेऽपि च' इति विश्वः । विलोकयंस्त्व कथं धृतिसंयमौ सन्तोषनियमौ । 'धृतिर्योगान्तरे धैर्ये धारणाध्वरतुष्टिषु' इति विश्वः । बाधितुं नोत् सहसे न प्रवर्त्तसे । 'शकधृ—' इत्यादिना तुमुन् ।अहो ते महद्धैर्यमिति भावः ।। ३६।।

हिन्दी—वन की विषम भूमि में सोने से जिनका शरीर कठोर बन गया है, ऐसे चारों ओर बाल उलझाये हुए, जङ्गली हाथी की भाँति, इन दोनों जुड़वें भाइयों (नकुल और सहदेव) को देखते हुए, (आपके) धैर्य और सन्तोष आपको छोड़ने को क्यों नहीं तैयार होते ।। ३६ ।।

विमर्श—भीम और अर्जुन की पराक्रम-चर्चा के साथ सौतेली माता के सुकुमार पुत्रों की दुर्दशा की चर्चा भी युधिष्ठिर को और अधिक उत्तेजित करने के लिए की गयी है । इसमें तो उनके धैर्य और सन्तोष की खुले शब्दों में निन्दा भी कही गई है कि ऐसा धैर्य और सन्तोष कहीं नहीं देखा गया। यहाँ उपमा अलङ्कार है।

अथ राज्ञो दुर्दशां दर्शयितुमुपोद्धातमाह—प्रकृतार्थं वर्णयितुमर्थान्तरवर्णनमुपोद्धातः ।

इमामहं वेद न तावकीं धियं विचित्ररूपाः खलु चित्तवृत्तयः ।
विचिन्तयन्त्या भवदापदं परां रुजन्ति चेतः प्रसभं ममाधयः ।। ३७ ।।

अन्वयः—अहम् इमाम् तावकीम् धियम् न वेद । चित्तवृत्तयः विचित्ररूपाः खलु । परान् भवदापदम विचिन्तयन्त्याः मम चेतः आधयः प्रसभं रुजन्ति ।। ३७ ।।

इमामिति । इमां वर्त्तमानाम् । तवेमां तावकीं त्वदीयाम् । 'तस्येदम्' इत्यण् प्रत्ययः । 'तवकममकावेकवचने' इति तवकादेशः । धियं त्वदापद्विषयां चित्तवृत्तिमहं न वेद कीदृशी वा न वेद्मि । परबुद्धेरप्रत्यक्षत्वादिति भावः । 'विदो लटो वा' इति लटो णलादेशः । न चात्मदृष्टान्तेनापन्नत्वाद् दुःखित्वमनुमातुं शक्यते । धीरादिष्व-नैकान्तिकत्वादित्याशयेनाह—चित्तवृत्तयो विचित्ररूपा धीराधीराद्यनेकप्रकाराः खलु ।

किन्तु परामुत्कृष्टां भवदापदं विचिन्तयन्त्या भावयन्त्या मम चेतश्चित्तम् । आधयो मनोव्यथाः । 'उपसर्गे घोः किः' इति किप्रत्ययः । प्रसभं प्रसह्य रुजन्ति भञ्जन्ति । 'रुजो भङ्गे' इति धातोर्लट् । पश्यतामपि दुःसहा दुःखजननी त्वद्विपत्तिरनुभवितारं त्वां न विकरोतीति महच्चित्रमित्यर्थः । चेत इति 'रुजार्थानां भाववचनानामज्वरेः' इति षष्ठी न भवति । तत्र शेषाधिकाराच्छेषत्वस्य विवक्षितत्वादिति ।। ३७ ।।

हिन्दी—मैं (इतनी विपत्ति में भी आपको स्थिर रखने वाली) आपकी बुद्धि को नहीं समझ पाती । मनुष्य-मनुष्य की चित्तवृत्ति अलग-अलग विचित्र होती है । आप की इन भयङ्कर विपत्तियों को (तो) सोचते हुए (भी) मेरे चित्त को मनोव्यथाएँ अत्यन्त व्याकुल कर देती हैं ।। ३७ ।।

विमर्श—अर्थात् आप जिस विपत्ति को झेल रहे हैं वह तो देखने वालों को भी परेशान कर देती है, किन्तु आप हैं जो बिल्कुल निश्चिन्त और निष्क्रिय हैं । यह परम आश्चर्य है ।

तदापदमेव श्लोकत्रयेणाह—

पुराऽधिरुढः शयनं महाधनं विबोध्यसे यः स्तुतिगीतिमङ्गलैः ।
अदभ्रदर्भामधिशय्य स स्थलीं जहासि निद्रामशिवैः शिवारुतैः ।। ३८ ।।

अन्वयः—यः पुरा महाधनम् शयनम् अधिरूढः स्तुतिगीतिमङ्गलैः विबोध्यसे सा अदभ्रदर्भाम् स्थलीम् अधिशय्य अशिवैः शिवारुतैः निद्राम् जहासि ।। ३८ ।।

पुरेति । यस्त्वं महाधनं बहुमूल्यं श्रेष्ठम् । 'महाधनं महामूल्ये' इति विश्वः । शयनं शय्यामधिरूढः सन् स्तुतयो गीतयश्च ता एव मङ्गलानि तैः करणभूतैः पुरा विबोध्यसे । वैतालिकैरिति शेषः । पूर्व बोधित इत्यर्थः । 'पुरि लुङ् चास्मे' इति भूतार्थे लट् । स त्वमदभ्रदर्भां बहुकुशाम् 'अस्त्री कुशं कुशो दर्भः' इति । 'अदभ्रं बहुलं बहु' इति चामरः । स्थलीमकृत्रिमभूमिम् । 'जानपद—' इत्यादिना कृत्रिमार्थे ङीष् । एतेन दुःसहस्पर्शत्वमुक्तम् । 'अधिशीङ्स्थाऽऽसां कर्म' इति कर्मत्वम् । अधिशय्य शयित्वा । 'अयङ्यि क्ङिति' इत्ययङादेशः । अशिवैरमङ्गलैः शिवारुतैः क्रोष्टुवासितैः । 'शिवा हरितकी क्रोष्टा शमी नद्यामलक्युभे' इति वैजयन्ती । निद्रां जहासि । अद्येति शेषः ।। ३८ ।।

हिन्दी—जो आप पहले अत्यन्त मूल्यवान शय्या पर सोकर स्तुति पाठ करने वाले वैतालिकों के मङ्गल गान से जगाये जाते थे, वही आप अब कुशों से आकीर्ण वनस्थली में शयन करते हुए अमङ्गल की सूचना देने वाली श्रृगालियों के रुदन शब्दों से निद्रा-त्याग करते हैं ।। ३८ ।।

विमर्श—तात्पर्य यह है कि भाइयों की विपदा ही क्यों आप की भी तो दुर्दशा हो रही है । फिर भी आप निश्चिन्त हैं । यहाँ विषम अलङ्कार है ।

पुरोपनीतं नृप! रामणीयकं द्विजातिशेषेण यदेतदन्धसा ।
तदद्य ते वन्यफलाशिनः परं परैति कार्श्यं यशसा समं वपुः ।। ३९ ।।

अन्वयः—नृप! यद् एतद् पुरा द्विजातिशेषेण अन्धसा रामणीयकम् उपनीतम् अद्य वन्यफलाशिनः ते तद् वपुः यशसा समम् परम् कार्श्यम् परैति ।। ३९ ।।

पुरेति । हे नृप ! यदेतत्पुरोवर्त्ति वपुः पुरा द्विजातिशेषेण द्विजभुक्तावशिष्टेनान्धसाऽन्नेन । 'भिस्सा स्त्री भक्तमन्धोऽन्नम्' इत्यमरः । रमणीयस्य भावो रामणीयकं मनोहरत्वमुपनीतं प्रापितम् । नयतेर्द्विकर्मकत्वात्प्रधाने कर्मणि क्तः । 'प्रधानकर्मण्याख्येये लादीनाहुर्द्विकर्मणाम्' इति वचनात् । अद्य वन्यफलाशिनस्ते तव तद्वपुर्यशसा समं परमतिमात्रं कार्श्यं परैति प्राप्नोति । उभयमपि क्षीयत इत्यर्थः । अत्र सहोक्तिरलङ्कारः । तदुक्तं काव्यप्रकाशे—'सा सहोक्तिः सहार्थस्य बलादेकं द्विवाचकम्' इति ।। ३९ ।।

हिन्दी—हे राजन् ! आपका जो यह शरीर पहले ब्राह्मणों के भोजनादि से शेष अन्न द्वारा परिपोषित होकर मनोहर दिखाई पड़ता था, वही आज जङ्गली फल-फूलों के भक्षण से, आपके यश के साथ, अत्यन्त दुर्बल हो गया है ।। ३९ ।।

विमर्श—अर्थात् न केवल शरीर ही दुर्बल हो गया है, वरन् आपकी कीर्ति भी धूमिल हो गई है । यहाँ सहोक्ति अलङ्कार है ।

अनारतं यौ मणिपीठशायिनावरञ्जयद्राजशिरःस्रजां रजः ।
निषीदतस्तौ चरणौ वनेषु ते मृगद्विजालूनशिखेषु बर्हिषाम् ।। ४० ।।

अन्वयः—अनारतम् मणिपीठशायिनौ यौ राजशिरः स्रजां रजः अरञ्जयत् तौ ते चरणौ मृगद्विजालूनशिखेषु बर्हिषाम् वनेषु निषीदतः ।। ४० ।।

अनारतमिति । अनारतमजस्रं मणिपीठशायिनौ मणिमयपादपीठशायिनौ यौ चरणौ राजशिरःस्रजां नमद्भूपालमौलिस्रजां रजः परागोऽरञ्जयत्, तौ ते चरणौ मृगैर्द्विजैश्च तपस्विभिरालूनशिखेषु छिन्नाग्रेषु बर्हिषां कुशानाम् । 'बर्हिः कुशहुताशयोः' इति विश्वः । वनेषु निषीदतस्तिष्ठतः ।। ४० ।।

हिन्दी—सर्वदा मणि के बने हुए सिंहासन पर विश्राम करने वाले आप के जिन दोनों पैरों को (अभिवादन के लिए झुकने वाले) राजाओं के मस्तक की मालाओं की धूलि रँगती थी, (अब) वही दोनों चरण हरिणों अथवा ब्राह्मणों के द्वारा छिन्न कुशों के वनों में विश्राम पाते हैं, क्या यह कष्ट नहीं है ।। ४० ।।

विमर्श—इससे बढ़ कर विपत्ति अब और क्या आयेगी । यहाँ विषम अलङ्कार है ।

ननु सर्वप्राणिसाधारण्यामापदि का परिदेवनेत्यत्राह—

द्विषन्निमित्ता यदियं दशा ततः समूलमुन्मूलयतीव मे मनः ।
परैरपर्यासितवीर्यसम्पदां पराभवोऽप्युत्सव एव मानिनाम् ।। ४१ ।।

अन्वयः—यद् इयम् दशा द्विषन्निमित्ता ततः मे मनः समूलम् उन्मूलयति इव । परैः अपर्यासितवीर्यसम्पदाम् मानिनाम् पराभवः अपि उत्सव एव ।। ४१ ।।

द्विषदिति । यद्यतः कारणादियं दशाऽवस्था । 'दशा वर्त्तावववस्थायाम्' इति विश्वः । द्विषन्तो निमित्तं यस्याः सा । 'द्विषोऽमित्रे' इति शतृप्रत्ययः । अतो मे मनः समूलं साशयमुन्मूलयतीवोत्पाटयतीव । दैविकी त्वापन्न दुःखायेत्याह—परैरिति । परैः शत्रुभिरपर्यासिताऽपर्यावर्त्तिता वीर्यसंपद्येषां तेषां मानिनां मानहानिर्दुःसहा, न त्वापदिति भावः ।। ४१ ।।

हिन्दी—आप की यह दुर्दशा शत्रु के कारण हुई है, इसलिए मेरा मन अत्यन्त क्षुब्ध-सा होता है । (वैसे) शत्रुओं द्वारा जिसके बल एवं पराक्रम का तिरस्कार नहीं हुआ है, ऐसे मनस्वियों का पराभव भी उत्साहवर्धक ही होता है ।। ४१ ।।

विमर्श—मानियों की विपदा बुरी नहीं है, उनकी मानहानि बुरी है । वही सब से बढ़ कर असहनीय है । अर्थात् पराभव सह्य है किन्तु मानहानि नहीं । यहाँ उत्प्रेक्षा और अर्थान्तरन्यास अलङ्कारों की संसृष्टि है ।

विहाय शान्तिं नृप धाम तत्पुनः प्रसीद संधेहि वधाय विद्विषाम् ।
व्रजन्ति शत्रूनवधूय निःस्पृहाः शमेन सिद्धिं मुनयो न भूभृतः ।। ४२ ।।

अन्वयः—नृप! शान्तिम् विहाय तद् धाम विद्विषाम् वधाय पुनः सन्धेहि प्रसीद । निःस्पृहः मुनयः शत्रून् अवधूय शमेन सिद्धिम् व्रजन्ति। भूभृतः न ।। ४२ ।।

विहायेति । हे नृप! शान्तिं विहाय तत्प्रसिद्धं धाम तेजो विद्विषां वधाय पुनः सन्धेह्यङ्गीकुरु प्रसीद । प्रार्थनायां लोट् । ननु शमेन कार्यसिद्धौ किं क्रोधेनेत्यत्राह— व्रजन्तीति । निःस्पृहा मुनयः शत्रूनवधूय निर्जित्य शमेन क्रोधवर्जनेन सिद्धिं व्रजन्ति भूभृतस्तु न । कैवल्यकार्यवद्राजकार्यं न शान्तिसाध्यमित्यर्थः ।। ४२ ।।

हिन्दी—(इसलिए) हे राजन् ! शान्ति को त्याग कर आप (अपने) उस तेज को शत्रुओं के विनाशार्थ पुनः प्राप्त करें तथा प्रसन्न हों । निःस्पृह मुनि लोग (ही) शत्रुओं (के कामादि मनोविकारों) को तिरस्कृत कर के शान्ति के द्वारा सिद्धि की प्राप्ति करते हैं, राजा लोग नहीं ।। ४२ ।।

विमर्श—शान्ति द्वारा प्राप्त होने वाले मोक्षादि पदार्थों की भाँति राज्य लक्ष्मी शान्ति से नहीं प्राप्त होती, वह वीरभोग्या है । आपको तो अपने शत्रु का बिनाश करने वाला तेज पुनः धारण करना होगा । यहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ।

पुरःसरा धामवतां यशोधनाः सुदुःसहं प्राप्य निकारमीदृशम् ।
भवादृशाश्चेदधिकुर्वते रतिं निराश्रया हन्त! हता मनस्विता ।। ४३ ।।

अन्वयः—धामवताम् पुरःसराः यशोधनाः भवादृशाः सुदुःसहम् ईदृशम् निकारम् प्राप्य रतिम् अधिकुर्वते चेत् हन्त ! मनस्विता निराश्रया हता ।। ४३ ।।

पुर इति । किं च धामवतां तेजस्विनाम् । परनिकारासहिष्णूनामित्यर्थः । पुरः सरन्तीति पुरःसरा अग्रेसराः । 'पुरोऽग्रतोऽग्रेषु सर्तेः' इति टप्रत्ययः । यशोधना भवादृशाः सुदुःसहमतिदुःसहमीदृशमुक्तप्रकारं निकारं पराभवं प्राप्य रतिं सन्तोषमधिकुर्वते चेत्तर्हि हन्त इति खेदे । मनस्विताऽभिमानिता निराश्रया सती हता । तेजस्विजनैकशरणत्वान्मनस्विताया इत्यर्थः । अतः पराक्रमितव्यमिति भावः । यद्यप्यत्र प्रसहनस्यासङ्गतेरधिपूर्वात्करोतेः 'अधेः प्रसहने' इत्यात्मनेपदं न भवति 'प्रसहनं परिभवः' इति काशिका, तथाऽप्यस्याः कर्त्रभिप्रायविवक्षायामेव प्रयोजकत्वात्कर्त्रभिप्राये 'स्वरितञितः—' इत्यात्मनेपदं प्रसिद्धम् ।। ४३ ।।

हिन्दी—तेजस्वियों में अग्रगामी, यश को सर्वस्व मानने वाले आप जैसे शूरवीर अत्यन्त कठिनाई से सहने योग्य, इस प्रकार से शत्रु द्वारा होने वाले अपमान को प्राप्त करके यदि सन्तोष करते हैं तो हाय ! स्वाभिमानिता बेचारी निराश्रय होकर नष्ट हो गयी ।। ४३ ।।

विमर्श—अर्थात् आप जैसे तेजस्वी तथा यश को ही जीवन का उद्देश्य मानने वाला भी यदि शत्रु द्वारा प्राप्त दुर्दशा को सहन करता है तो साधारण मनुष्य के लिए क्या कहा जाय ? अतः पराक्रम करना ही अब आपका धर्म है । यहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ।

अथ क्षमामेव निरस्तविक्रमश्चिराय पर्येषि सुखस्य साधनम् ।
विहाय लक्ष्मीपतिलक्ष्म कार्मुकं जटाधरः सञ्जुहुधीह पावकम् ।। ४४।।

अन्वयः—अथ निरस्तविक्रमः चिराय क्षमाम् एव सुखस्य साधनम् पर्येषि । लक्ष्मीपतिलक्ष्म कार्मुकं विहाय जटाधरः सन् इह पावकं जुहुधि ।। ४४ ।।

अथेति । अथ पक्षान्तरे निरस्तविक्रमः सन् । चिराय चिरकालेनापि क्षमां क्षान्तिमेव । 'क्षितिक्षान्त्योः क्षमा' इत्यमरः । सुखस्य साधनं पर्येष्यवगच्छसि तर्हि लक्ष्मीपतिलक्ष्म राजचिह्नं कार्मुकं विहाय । धरतीति धरः । पचाद्यच् । जटानां धरो जटाधरः सन्निह वने पावकं जुहुधि । पावके होमं कुर्वित्यर्थः। अधिकरणे कर्मत्वोपचारः । विरक्तस्य किं धनुषेत्यर्थः । 'हुझल्भ्यो हेर्धिः' ।। ४४ ।।

हिन्दी—अथवा (यदि अपनी पूर्व तेजस्विता को नहीं धारण करना चाहते और) अपने पराक्रम का त्याग कर चिरकाल तक शान्ति को ही सुख का कारण मानते हो तो राजचिह्नों से चिह्नित धनुष को फेंककर जटा धारण कर लीजिए और इस तपोवन में अग्नि में हवन कीजिए ।। ४४ ।।

विमर्श—अर्थात् बलवानों के लिए भी यदि शान्ति ही सुखदायी हो तो विरक्तों की तरह बलवानों को भी धनुष धारण करने से क्या लाभ है ? उसे फेंक देना चाहिए ।

अथ समयोल्लङ्घनाद् बिभेषि तदपि न किञ्चिदित्याह—

न समयपरिरक्षणं क्षमं ते निकृतिपरेषु परेषु भूरिधाम्नः ।
अरिषु हि विजयार्थिनः क्षितीशा विदधति सोपधि सन्धिदूषणानि ।। ४५ ।।

अन्वयः—निकृतिपरेषु परेषु भूरिधाम्नः ते समयपरिरक्षणम् न क्षमम् । हि विजयार्थिनः क्षितीशाः अरिषु सोपधिसन्धिदूषणानि विदधति ।। ४५ ।।

नेति । परेषु शत्रुषु । निकृतिः परं प्रधानं येषु तेषु । तथोक्तेष्वपकारतत्परेषु सत्सु भूरिधाम्नो महौजसः प्रतीकारक्षमस्य ते तव समयस्त्रयोदशसंवत्सरान्वने वत्स्यामीत्येवंरूपा संवित् । 'समयाः शपथाचारकालसिद्धान्तसंविदः' इत्यमरः । तस्य परिरक्षणं प्रतीक्षणं न क्षमं न युक्तम् । 'युक्ते क्षमं शक्ते हिते त्रिषु' इत्यमरः । हि यस्माद्विजयार्थिनो विजिगीषवः क्षितीशा अरिषु विषये सोपधि सकपटं यथा तथा । 'कपटोऽस्त्री व्याजदम्भोपधयश्छद्मकैतवे' इत्यमरः । सन्धिदूषणानि विदधति केनचिद् व्याजेन दोषमापाद्य संधिं दूषयन्ति । विघटयन्तीत्यर्थः । शक्तस्य हि विजिगीषोः सर्वथा कार्यसाधनं प्रधानमन्यत्समयरक्षणादिकमशक्तस्येति भावः । अर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः पुष्पिताग्रा वृत्तम् ।। ४५ ।।

हिन्दी—नीचता पर उतारू शत्रुओं के रहते हुए आप जैसे परम तेजस्वी के लिए तेरह वर्ष की अवधि की रक्षा की बात सोचना अनुचित है, क्योंकि विजय के अभिलाषी राजा अपने शत्रुओं के साथ किसी न किसी बहाने से सन्धि आदि को भङ्ग कर ही देते हैं ।। ४५ ।।

विमर्श—जो शक्तिमान् होते हैं, उनके लिए सर्वदा अपना कार्य करना ही कल्याणकारी है, समय अथवा प्रतिज्ञा की रक्षा कायरों के लिए उचित है । यहाँ काव्यलिङ्ग और अर्थान्तरन्यास अलङ्कार का सङ्कर है । यहाँ पुष्पिताग्रा छन्द है ।

उक्तमर्थमाशीर्वादपूर्वकमुपसंहरति—

विधिसमयनियोगाद्दीप्तिसंहारजिह्मं
शिथिलवसुमगाधे मग्नमापत्पयोधौ ।
रिपुतिमिरमुदस्योदीयमानं दिनादौ
दिनकृतमिव लक्ष्मीस्त्वां समभ्येतु भूयः ।। ४६ ।।

।। इति भारविकृतौ महाकाव्ये किरातार्जुनीये प्रथमः सर्गः ।। १ ।।

अन्वयः—विधिसमयनियोगात् अगाधे आपत्पयोधौ मग्नम् दीप्तिसंहारजिह्मम् शिथिलवसुम् रिपुतिमिरम् उदस्य उदीयमानम् त्वाम् दिनादौ दिनकृतम् इव लक्ष्मीः भूयः समभ्येतु ।। ४६ ।।

विधीति । विधिर्दैवम् । 'विधिर्विधाने दैवे च' इत्यमरः । समयः कालस्तयोर्नियोगान्नियमनाद्धेतोः । तयोर्दुरतिक्रमत्वादिति भावः । अगाधे दुस्तरे । आपत्पयोधिरिवेत्युपमितसमासः । दिनकृतमिवेति वक्ष्यमाणानुसारात्तस्मिन्नापत्पयोधौ मग्नम् । 'सूर्योऽपि सायं सागरे मज्जति परेद्युरुन्मज्जती'त्यागमः । दीप्तिः प्रताप आतपश्च तस्याः संहारेण जिह्ममप्रसन्नम् । शिथिलवसु शिथिलधनम्, अन्यत्र शिथिलरश्मिम् । 'वसुर्देवेऽग्नौ रश्मौ च वसु तोये धने मणौ' इति वैजयन्ती । 'शिथिलबलम्' इति पाठे तूभयत्रापि शिथिलशक्तिकमित्यर्थः । रिपुस्तिमिरमिवेति रिपुतिमिरमुदस्य निरस्योदीमानमुद्यन्तम्। 'इङ् गतौ' इति धातोर्दैवादिकात्कर्त्तरि शानच् । त्वां दिनादौ दिनकृतमिव लक्ष्मीर्भूयः समभ्येतु भजतु । 'आशिषि लिङ्लोटौ' इति लोट् । चमत्कारितया मङ्गलाचरणरूपतया च सर्गान्त्यश्लोकेषु लक्ष्मीशब्दप्रयोगः । यथाऽऽह- भगवान्भाष्यकारः—'मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि च शास्त्राणि प्रथयन्ते वीरपुरुषकाण्यायुष्मत्पुरुषकाणि च भवन्त्यध्येतारश्च प्रवक्तारो भवन्ति' इति । पूर्णोपमेयम् । मालिनी वृत्तम्, सर्गान्तत्वाद् वृत्तभेदः । यथाऽऽह दण्डी—

'सर्गैरनतिविस्तीर्णैः श्राव्यवृत्तः सुसंधिभिः ।
सर्वत्र भिन्नवृत्तान्तैरुपेतं लोकरञ्जकम् ।।' इति ।। ४६ ।।

अथ कविः काव्यवर्णनीयाख्यानपूर्वक सर्गपरिसमाप्ति कथयति—इतीत्यादि। इतिशब्दः परिसमाप्तौ । भारविकृताविति कविनामकथनम् । महाकाव्य इति महच्छब्देन लक्षणसम्पत्तिः सूचिता । किरातार्जुनीय इति काव्यवर्णनीययोः कथनम् । प्रथमः सर्गः । समाप्त इति शेषः । एवमुत्तरत्रापि द्रष्टव्यम् । किरातार्जुनावधिकृत्य कृतो ग्रन्थः किरातार्जुनीयम् 'शिशुक्रन्दयमसभद्वन्द्वेन्द्रजननादिभ्यश्छः' इति द्वन्द्वाच्छप्रत्ययः । राघवपाण्डवीयमितिवत् । तथा ह्यर्जुन एवात्र नायकः । किरातस्तु तदुत्कर्षाय प्रतिभटतया वर्णितः । यथाऽऽहदण्ढी—'वंशवीर्यप्रतापादि वर्णयित्वा रिपोरपि । तज्जयान्नायकोत्कर्षकथनं च धिनोति नः' ।। इति । अथायं संग्रहः—

'नेता मध्यम पाण्डवो भगवतो नारायणस्यांशजस -
तस्योत्कर्षकृते त्ववर्ण्यततरां दिव्यः किरातः पुनः ।
शृङ्गारादिरसोऽङ्गमत्र विजयी वीरः प्रधानो रसः
शैलाद्यानि च वर्णितानि बहुशो दिव्यास्त्रलाभः फलम् ।। इति ।

।। इति श्रीमहामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितायां किरातार्जुनीयकाव्य व्याख्यायां घण्टापथसमाख्यायां प्रथमः सर्गः समाप्तः ।।१।।

हिन्दी—दैव और कालचक्र के कारण अगाध विपत्ति समुद्र में डूबे हुए, प्रताप के नष्ट हो जाने से अप्रसन्न, विनष्ट धन-सम्पत्ति वाले एवं शत्रुरूपी अन्धकार को विनष्ट कर उदित होने वाले आप को प्रात:काल के (कालचक्र के कारण पश्चिम समुद्र में निमग्न, प्रकाश एवं आतप के नष्ट हो जाने से निस्तेज एवं अन्धकार को दूर कर उदित होने वाले) सूर्य की भाँति राज्यलक्ष्मी (कान्ति) फिर से प्राप्त हो ।। ४६ ।।

विमर्श—रात्रि भर पश्चिम के समुद्र में डूबे हुए निस्तेज सूर्य को प्रात:काल उदित होने पर जिस प्रकार पुन: उसकी कान्ति प्राप्त हो जाती है उसी प्रकार इतने दिनों तक विपत्तियों के अगाध समुद्र में डूबे हुए, निस्तेज एवं निर्धन आप को भी आपकी राज्यलक्ष्मी जल्द ही प्राप्त हो-यह मेरी कामना है ।

सर्ग का आरम्भ श्री शब्द से हुआ था और उसका अन्त भी लक्ष्मी शब्द से हुआ । मङ्गलाचरण के लिए ऐसा ही शास्त्रीय विधान है । यहां मालिनी छन्द है, जिसका लक्षण है, 'ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकै: ।' यहाँ पूर्णोपमा अलङ्कार है।

।। इस प्रकार श्रीभारविकृत किरातार्जुनीयम् महाकाव्य के प्रथम सर्ग की डॉ सुधाकर मालवीय कृत हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ।। १ ।।



द्वितीय: सर्ग:

विहितां प्रियया मन:प्रियामथ निश्चित्य गिरं गरीयसीम् ।
उपपत्तिमदूर्जिताश्रयं नृपमूचे वचनं वृकोदर: ।।१ ।।

अन्वय:—अथ वृकोदर: प्रियया विहिताम् मन: प्रियाम् गिरं गरीयसीम् निश्चित्य नृपम् उपपत्तिमद् ऊर्जिताश्रयम् वचनम् ऊचे ।। १ ।।

विहितामिति । अथ वृकोदरो भीम: प्रियया द्रौपद्या । प्रियाग्रहणमस्या हितोपदेशतात्पर्यसूचनार्थम् । विहिताम् । अभिहितामित्यर्थ: । विपूर्वस्य दधाते: क्रियासामान्यवाचिनो योग्यविशेषपर्यवसानात् । मन:प्रियामभिमतार्थयोगान्मनोहरां, विशेषणद्वयेनापि गिरो ग्राह्यत्वमुक्तं, गिरं गरीयसीं सारवत्तरां निश्चित्य नृपं धर्मराजमुपपत्तिमद् युक्तियुक्तमूर्जिताश्रयमुदारार्थ वचनमूचे उक्तवान्, कर्त्तरि लिट् । ब्रुवो वचिरादेश: । 'ब्रुविशासि—' इत्यादिना द्विकर्मकत्वम्, 'अकथितं च' इति नृपस्य कर्मत्वम् ।।१ ।।

हिन्दी—द्रौपदी के कथन के अनन्तर भीमसेन प्रियतमा द्रौपदी द्वारा कही गई मन को प्रिय लगने वाली वाणी को अर्थ-गौरव से संयुक्त मानकर राजा युधिष्ठिर से युक्तियुक्त एवं गम्भीर अर्थों से युक्त वचन (इस प्रकार) बोले ।। १ ।।

विमर्श—द्रौपदी की उत्तेजक बातों से भीम मन ही मन प्रसन्न हुए थे, और उनमें उन्हें अर्थ की गम्भीरता भी मालूम पड़ी थी । अत: उसी का अनुमोदन करने के लिए वह तर्कसङ्गत एवं अर्थ-गौरव से युक्त वाणी में आगे स्वयं युधिष्ठिर को समझाने का प्रयत्न करते हैं । यहाँ पदार्थहेतुक काव्यलिङ्ग अलङ्कार है ।

किं तद्वचनं तदाह—

यदवोचत वीक्ष्य मानिनी परित: स्नेहमयेन चक्षुषा ।
अपि वागधिपस्य दुर्वचं वचनं तद्विदधीत विस्मयम् ।। २ ।।

अन्वय:—मानिनी स्नेहमयेन चक्षुषा परित: वीक्ष्य यद् अवोचत वागधिपस्य दुर्वचं तद् वचनं अपि विस्मयं विदधीत ।। २ ।।

यदिति । मानिनी क्षत्रियकुलाभिमानवती द्रौपदी स्नेहमयेन स्नेहप्रचुरेण । 'तत्प्रकृतवचने मयट्' । चक्षुषा ज्ञानचक्षुषा । एतेनाप्तत्वमुक्तम् । परितो वीक्ष्य

समन्ततो विविच्य यद्वचनमवोचत । ब्रुवो वक्तेर्वा लुङ् । 'वच उम्' इत्युमागमः । वागधिपस्य बृहस्पतेरपि दुर्वचं वक्तुमशक्यम्, शेषे षष्ठीयं, न कृद्योगलक्षणा । अतो 'न लोक—' इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधो नास्ति । तद्वचनं विस्मयं विदधीत, सर्वस्यापीति शेषः । अथवा वागधिपस्यापि विस्मयं विदधीतेति सम्बन्धः । दुर्वचम् । केनापीति-शेषः । यतः स्त्रैणमपि शास्त्रमनुरुणद्धि हितं चानुबध्नाति । अतो विस्मयकरं ग्राह्यं चैतद्ववचनमिति तात्पर्यार्थः ।। २ ।।

हिन्दी—क्षत्रिय कुलोचित स्वाभिमान से भरी द्रौपदी ने स्नेह से पूर्ण (ज्ञान) नेत्रों से चारों ओर देखकर जो बातें (अभी) कही हैं, बृहस्पति के लिए भी कठिनाई से कहने योग्य उन बातों से सब को विस्मय होगा । अथवा कठिनाई में भी न कहने योग्य उन बातों से बृहस्पति को भी आश्चर्य होगा ।। २ ।।

विमर्श—भीमसेन के कथन का तात्पर्य यह है कि द्रौपदी ने जो कुछ कहा है वह यद्यपि स्त्रीजन-सुलभ शालीनता के विरुद्ध होने के कारण विस्मयजनक है तथापि उसमें बृहस्पति को भी आश्चर्यचकित करने वाली बुद्धि की बातें हैं, उन्हें आपको अङ्गीकार करना ही चाहिए । यहाँ वाक्यार्थ हेतुक काव्यलिङ्ग अलङ्कार है ।

विस्मयकरत्वे हेतुमाह—

विषमोऽपि विगाह्यते नयः कृततीर्थः पयसामिवाशयः ।
स तु तत्र विशेषदुर्लभः सदुपन्यस्यति कृत्यवर्त्म यः ।। ३ ।।

अन्वयः—विषमः अपि नयः पयसाम् आशयः इव कृततीर्थः विगाह्यते । तत्र तु सः विशेषदुर्लभः यः कृत्यवर्त्म सत् उपन्यस्यति ।। ३ ।।

विषम इति । विषमोऽपि दुर्बोधोऽपि । अन्यत्र दुष्प्रवेशोऽपि । नयो नीतिशास्त्रम् पयसामाशयो ह्रद इव । कृततीर्थः कृताभ्यासाद्युपायः सन् । 'तीर्थं शास्त्राध्वर-क्षेत्रोपायोपाध्यायमन्त्रिषु' इति विश्वः । अन्यत्र कृतजलावतारः सन् । 'तीर्थं योनौ जलावतारे च' इति हलायुधः । विगाह्यते गृह्यते प्रविश्यते च । किन्तु तत्र नये जलाशये च स तादृशः पुरुषो विशेषदुर्लभोऽत्यन्तदुर्लभो यः कृत्यं सन्धिविग्रहादि कार्यं स्नानादिकं च तस्य वर्त्म सत् साधु देशकालाद्यविरुद्धं यथा तथा । अन्यत्र गर्त्त-ग्राहपाषाणादिरहितं । यथा तथोपन्यस्यत्युदाहरति । 'उपन्यासस्तु वाङ्मुखम् उपोद्घात उदाहारः' इत्यमरः । यथा केनचित्कृततीर्थे पयसि गम्भीरेऽपि प्रवेष्टारः सन्ति। तीर्थकरस्तु विरलः । तद्वन्नीतावपि गूढमपि तत्त्वं वक्तरि सति बोद्धारः सन्ति, वक्ता तु न सुलभः । अत इयमपठिताऽपि साधु वक्तीति युज्यते विस्मय इत्यर्थः ।। ३ ।।

हिन्दी—नीतिशास्त्र बड़ा ही दुरूह और गहन विषय है, फिर भी जलाशय की भाँति अभ्यास आदि (सन्तरण आदि) करने से उसमें प्रवेश किया जा सकता है। किन्तु इस प्रसङ्ग में ऐसा व्यक्ति मिलना अत्यन्त दुर्लभ है, जो सन्धि विग्रह आदि कार्यों को (स्नानादि कार्यों को) देश काल की परिस्थिति के अनुसार (गड्ढा, पत्थर, ग्राह आदि की जानकारी) प्रस्तुत करता है ।। ३ ।।

विमर्श—तात्पर्य यह है कि नीतिशास्त्र बड़ा गम्भीर है । यह उस जलाशय के समान है जिसमें बँधे हुए घाट के बिना प्रवेश कर सकना बड़ा दुष्कर है । पता नहीं कहाँ उसमें गहरा गड्ढा है, कहाँ शिलाखण्ड हैं, कहाँ ग्राह बैठा है? राजनीति में भी इसी तरह की गुत्थियाँ रहती हैं, उसमें धीरे-धीरे प्रवेश के अभ्यास द्वारा ही गति की जा सकती है । जैसे कोई विरला ही सरोवर की भीतरी बातों को जानता है और स्नानार्थी को सब सूचनायें देकर स्नान के लिए प्रस्तुत करता है, उसी प्रकार सन्धि-विग्रह आदि कार्यों को जानने वाला कोई विरला ही होता है, जो समय-समय पर उनके उपयोग की आवश्यकता समझाकर राजनीति सिखाने वालों को दक्ष बनाता है । सभी लोग ऐसा नहीं कर सकते । द्रौपदी में वह सब गुण हैं, जो विस्मयजनक है किन्तु वह जो कुछ इस समय कह रही है, उसका हमें पालन करना चाहिए । यहाँ उपमा और अर्थान्तरन्यास की संसृष्टि है ।

अथ ग्राह्यत्वे हेतुमाह—

परिणामसुखे गरीयसि व्यथकेऽस्मिन्वचसि क्षतौजसाम् ।
अतिवीर्यवतीव भेषजे बहुरल्पीयसि दृश्यते गुणः ।। ४ ।।

अन्वयः—परिणामसुखे गरीयसि क्षतौजसां व्यथके अल्पीयसि अतिवीर्यवति भेषजे इव अस्मिन् वचसि बहुः गुणः दृश्यते ।। ४ ।।

परिणामेति । परिणामः फलकालः परिपाकावस्था च । तत्र सुखे हिते । 'शस्तं चाथ त्रिषु द्रव्ये पापं पुण्यं सुखादि च' इति सुखशब्दस्य विशेष्यलिङ्गत्वम् । गरीयसि भूयिष्ठे श्रेष्ठे च । क्षतौजसामुभयत्रापि क्षीणशक्तीनां व्यथके युद्धोपोद्वलकत्वाद्भयङ्करे। अन्यत्रादौ संशयादिदुःखजनके। अल्पीयस्यल्पाक्षरेऽल्पमात्रे च । उक्तं च—'स्वल्पा च मात्रा बहुलो गुणश्च' इति। अस्मिन्वचसि द्रौपदीवाक्ये। अतिवीर्यवत्यत्यन्तसामर्थ्यवति भेषज औषध इव । 'भेषजौषधभैषज्यम्' इत्यमरः । बहुरनेको गुणो मानत्राणराज्य-लाभादिरारोग्यबलपोषादिश्च दृश्यते । अतो ग्राह्यमस्या वचनमिति भावः ।। ४ ।।

हिन्दी—परिणाम में लाभदायक और श्रेष्ठ किन्तु क्षीण शक्ति वालों (दुर्बल पाचन शक्ति वालों) के लिए भयङ्कर दुःखदायी, स्वल्प मात्रा में भी अत्यन्त पराक्रम देने वाली औषधि की भाँति द्रौपदी की (इस) वाणी में अत्यन्त गुण दिखाई पड़ रहे हैं ।। ४ ।।

विमर्श—जिस प्रकार उत्तम औषधि की अल्प मात्रा में भी आरोग्य, बल, पोषण आदि अनेक गुण होते हैं, परिणाम लाभदायक होता है, किन्तु वही क्षीण पाचन शक्ति वालों के लिए भयङ्कर कष्टदायिनी होती है, उसी प्रकार द्रौपदी की यह वाणी भी यद्यपि संक्षिप्त है, किन्तु श्रेष्ठ है । इसका परिणाम उत्तम है, और इसके अनुसार आचरण करने से निश्चय ही आपके ऐश्वर्य एवं पराक्रम की वृद्धि होगी । मुझे तो इसमें मानरक्षा, राज्यलक्ष्मी की पुनः प्राप्ति आदि अनेक गुण दिखाई पड़ रहे हैं । यहाँ उपमा अलङ्कार है ।

सत्यमेवं तथाऽपि मह्यं न रोचते किं करोमीत्यत्राह—

इयमिष्टगुणाय रोचतां रुचिरार्था भवतेऽपि भारती ।
ननु वक्तृविशेषनिःस्पृहा गुणगृह्या वचने विपश्चितः ॥ ५ ॥

अन्वयः—रुचिरार्था इयं भारती इष्टगुणाय भवते अपि रोचताम् । गुणगृह्याः विपश्चितः वचने वक्तृविशेषनिस्पृहाः ननु ॥ ५ ॥

इयमिति । रुचिरार्था महितार्थसम्पन्नेति रुचिहेतूक्तिः । इयं भारती द्रौपदीवाक्यमिष्टगुणाय, गुणग्राहिण इत्यर्थः । भवते तुभ्यमपि । 'रुच्यर्थानां प्रीयमाणः' इति सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी । रोचतां स्वदताम् । विध्यर्थे लोट् । हितवचने बलादपीच्छां कुर्यादौषधवदिति भावः । तथाऽपि स्त्रैणे वचसि का श्रद्धा तत्राह—नन्विति । गुणानां गृह्या गुणगृह्याः, गुणपक्षपातिन इत्यर्थः । 'पदास्वैरिबाह्यापक्ष्येषु च' इति ग्रहेः क्यप् । विपश्चितो विद्वांसः । 'विद्वान्विपश्चिद्दोषज्ञः' इत्यमरः । वचने विषये क्तृविशेषेव स्त्रीपुंसादिलक्षणे निःस्पृहा ननु निरास्थाः खलु । 'बालादपि सुभाषितं ग्राह्यम्' इति न्यायादिति भावः ॥ ५ ॥

हिन्दी—सुन्दर अर्थों से युक्त द्रौपदी की यह वाणी गुणग्राही आप के लिए भी रुचिकर होनी चाहिए । क्योंकि गुणों को ग्रहण करने वाले विद्वान् लोग (किसी) वाणी में वक्ता की स्पृहा नहीं रखते ॥ ५ ॥

विमर्श—अर्थात् गुणग्राही लोग किसी भी बात की अच्छाई को तुरन्त स्वीकार कर लेते हैं, वे यह नहीं देखते कि उसका वक्ता कोई पुरुष है या स्त्री है । यहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ।

सम्प्रति स्वयमुपालभते—

चतसृष्वपि ते विवेकिनी नृप ! विद्यासु निरूढिमागता ।
कथमेत्य मतिर्विपर्ययं करिणी पङ्कमिवावसीदति ॥ ६ ॥

अन्वयः—नृप! चतसृषु विद्यासु निरूढिम् आगता विवेकिनी ते मतिः करिणी पङ्कम् इव विपर्ययम् एत्य कथम् अवसीदति ॥ ६ ॥

चतसृष्विति। हे नृप ! चतसृष्वपि विद्यास्वान्वीक्षिक्यादिषु । 'आन्वीक्षिकीत्रयी वार्त्ता दण्डनीतिश्च शाश्वती। विद्याश्चैताश्चतस्रस्तु लोकसंस्थितिहेतवः' इति कामन्दकः। निरूढिमागता प्रसिद्धिं गता । अत एव विवेकिनी सदसद्विवेकवती । यथाऽऽह मनुः—

'आन्वीक्षिक्यां तु विज्ञानं धर्माधर्मौ त्रयीस्थितौ ।
अर्थानर्थौ तु वार्त्तायां दण्डनीत्यां नयानयौ ॥' इति ॥

ते मतिः कथं करिणी पङ्कमिव विपर्ययं वैपरीत्यमविवेकरूपमेत्यावसीदति नश्यति, तन्न युक्तमिति भावः ॥ ६ ॥

हिन्दी—हे राजन्! आन्वीक्षिकी आदि चारों विद्याओं में प्रसिद्धि को प्राप्त करने वाली आपकी विवेकशील बुद्धि, दलदल में फँसी हुई हथिनी की भाँति विपरीत अवस्था को प्राप्त करके क्यों विनष्ट हो रही है ॥ ६ ॥

विमर्श—अर्थात् जैसे हथिनी दलदल में फँस कर विनष्ट हो जाती है उसी प्रकार चारों विद्याओं में निपुण आपकी बुद्धि भी आज की विपरीत परिस्थिति में फँसकर क्यों नष्ट हो रही है? यहाँ उपमा अलङ्कार है ॥ ६ ॥

किं नश्छिन्नमिदानीं येनेत्थमुपालभ्येमहीत्यत्राह—

विधुरं किमतः परं परैरवगीतां गमिते दशामिमाम् ।
अवसीदति यत्सुरैरपि त्वयि सम्भावितवृत्ति पौरुषम् ॥ ७ ॥

अन्वयः—त्वयि परैः इमाम् अवगीताम् दशाम् गमिते सुरैः अपि सम्भावित-वृत्ति पौरुषम् अवसीदति यद् अतः परं किं विधुरम् ॥ ७ ॥

विधुरमिति । त्वयि परैः शत्रुभिरिमामीदृशीमवगीतां गर्हिताम् । 'अवगीतं तु निर्वादे मुहुर्दृष्टे च गर्हिते' इति विश्वः । दशां गमिते प्रापिते सति । सुरैरपि सम्भावितवृत्ति बहुकृतप्रसारम् । अथवा निश्चितसद्भावम् । पौरुषं पुरुषकारः । युवादि-त्वादण्प्रत्ययः । अवसीदति नश्यतीति यत् । अतः परम् अतोऽन्यदधिकं किं विधुरं किं कष्टम् । न किञ्चिदित्यर्थः । 'विधुरं प्रत्यवाये स्यात्कष्टविश्लेषयोरपि' इति वैजयन्ती । अस्तीति शेषः । 'अस्तिर्भवन्तीपरः प्रथमपुरुषोऽप्रयुज्यमानोऽप्यस्ति' इति भाष्यकारः । भवन्तीति लटः पूर्वाचार्याणां संज्ञा । यद्वा—पुरुषाधिकारस्य दुर्दशा सा च शत्रुकृता । तदुपरि महत्कष्टं तच्च त्वदुपेक्षयेत्युपालभ्यः स इत्यर्थः ॥ ७ ॥

हिन्दी—शत्रुओं द्वारा आप के इस दयनीय अवस्था में पहुँचाए जाने पर, देवताओं द्वारा भी प्रशंसित आपका जो पुरुषार्थ नष्ट हो रहा है, उससे बढ़कर कष्ट देने वाली दूसरी बात (भला) क्या होगी? ॥ ७ ॥

विमर्श—अर्थात् आपके जिस ऐश्वर्य एवं पराक्रम की प्रशंसा देवता लोग भी करते थे, वह नष्ट हो गया है, अतः इससे बढ़कर कष्ट की क्या बात होगी । शत्रुओं ने आपको ऐसी दुर्दशाजनक स्थिति में पहुँचा दिया है, इसका आप को बोध नहीं हो रहा है । यहाँ काव्यलिङ्ग अथवा अर्थापत्ति अलङ्कार है ।

अथोपेक्षाकालत्वादियमुपेक्षेत्याशङ्क्य नायमुपेक्षाकाल इति वक्तुं तदेव तावच्छ्लोकद्वयेन विविनक्ति—

द्विषतामुदयः सुमेधसा गुरुरस्वन्ततरः सुमर्षणः ।
न महानपि भूतिमिच्छता फलसम्पत्प्रवणः परिक्षयः ॥ ८ ॥

अन्वयः—भूतिमिच्छता सुमेधसा द्विषताम् गुरुः अस्वन्ततरः उदयः सुमर्षणः। महान् अपि फलसम्पत्प्रवणः परिक्षयः न ॥ ८ ॥

द्विषतामिति । भूतिमुदयमिच्छता । शोभना मेधा यस्य तेन सुमेधसा सुधिया । 'नित्यमसिच्प्रजामेधयोः' इत्यसिच्प्रत्ययः । गुरुर्महानप्यस्वन्ततरोऽत्यन्तदुरन्तः । क्षयोन्मुख इत्यर्थः । द्विषतामुदयो वृद्धिः । सुखेन मृष्यत इति सुमर्षणः सुसहः । उपेक्ष्य इत्यर्थः । स्वन्तश्चेत् दुर्मर्षण इति भावः । 'भाषायां शासि—' इत्यादिना खलर्थे युच्प्रत्ययः । महानपि फलसम्पत्प्रवणः फलसम्पदुन्मुखः । 'प्रनिरन्तर—' इत्यादिना णत्वम् । परिक्षयो न सुमर्षणः, नोपेक्ष्य इत्यर्थः । अन्यथा तूपेक्ष्य इति भावः । नह्युदय एव प्रतीकार्यो न च क्षय इत्येवोपेक्ष्यः । किन्तु स्वन्तत्वास्वन्तत्वाभ्यामुभावपि प्रतीकार्यावुपेक्ष्यौ च भवत इत्यर्थः ॥ ८ ॥

हिन्दी—ऐश्वर्य की कामना करने वाले बुद्धिमान लोग अपने शत्रुओं के महान् (किन्तु) विनाशोन्मुख अभ्युदय को सुखपूर्वक सहन कर लेते हैं किन्तु शत्रु के उस महान् विनाश को वे सुखपूर्वक नहीं सहन करते, जो फलोन्मुख अथवा अभ्युदय की ओर अग्रसर होता है ॥ ८ ॥

विमर्श—शत्रु का क्षयोन्मुख उत्कर्ष सह्य है किन्तु अभ्युदयोन्मुख विनाश सह्य नहीं है । अर्थात् किसी भी स्थिति में शत्रु के अभ्युदय की स्थिति अपना कल्याण चाहने वाले को सहन नहीं करनी चाहिये । यहाँ काव्यलिङ्ग अलङ्कार है ।

अथोभयोरपि मध्य एकतरस्योदयक्षययोर्गतिमुक्त्वेदानीं युगपत्परिक्षयागमे गतिमाह—

> **अचिरेण परस्य भूयसीं विपरीतां विगणय्य चात्मनः ।**
> **क्षययुक्तिमुपेक्षते कृती कुरुते तत्प्रतिकारमन्यथा ॥ ९ ॥**

अन्वयः—कृती परस्य क्षययुक्तिम् अचिरेण भूयसीम् आत्मनः च विपरीतां विगणय्य उपेक्षते । अन्यथा तत्प्रतिकारं कुरुते ॥ ९ ॥

अचिरेणेति । कृतमनेनेति कृती । कुशल इत्यर्थः । 'इष्टादिभ्यश्च' इतीनिप्रत्ययः । परस्य शत्रोः क्षययुक्तिं क्षययोगमचिरेणाशुभाविनीं भूयसीं दुरन्तां च, तथाऽऽत्मनः क्षययुक्तिं विपरीतां चिरभाविनीमल्पीयसीं च विगणय्य विचार्य । 'ल्यपि लघुपूर्वात्' इत्ययादेशः । उपेक्षते । अन्यथोक्तवैपरीत्ये । परस्य क्षययुक्तावल्पीयस्यां, स्वस्य भूयस्यां च सत्यामित्यर्थः । तत्प्रतिकारं तस्याः क्षययुक्तेः प्रतिकारमचिरेणाशु कुरुते । एवं सति यदा शत्रोरभ्युदयः स्वस्य चातिपरिक्षयो यथाऽस्माकं, तदा किं वक्तव्यम् । सद्यः प्रतिकुरुत इत्यर्थात्सिद्धमनुसन्धेयम् ॥ ९ ॥

हिन्दी—विचारशील बुद्धिमान लोग शत्रु के अधिक परिमाण में और शीघ्र होने वाले विनाश को, तथा अपने थोड़े परिमाण में और अधिक समय में होने वाले विनाश को देख कर उसकी उपेक्षा करते हैं । किन्तु यदि इसके विपरीत देखते हैं तो उसका (तुरन्त) प्रतिकार करते हैं ॥ ९ ॥

विमर्श—शत्रु की शीघ्र होने वाली बड़ी हानि तथा अपनी देर में होने वाली छोटी हानि की उपेक्षा की जा सकती है किन्तु यदि शत्रु की देर में होने वाली थोड़ी हानि है और अपनी शीघ्र होने वाली भीषण हानि है तो उनको दूर करने का उपाय वे तत्क्षण करते हैं । यहाँ पदार्थहेतुक काव्यलिङ्ग अलङ्कार है ।

तथाऽप्युपेक्षायामनिष्टमाचष्टे—

अनुपालयतामुदेष्यतीं प्रभुशक्तिं द्विषतामनीहया ।
अपयान्त्यचिरान्महीभुजां जननिर्वादभयादिव श्रियः ।।१० ।।

अन्वयः—उदेष्यतीम् द्विषताम् प्रभुशक्तिम् अनीहया अनुपालयताम् महीभुजाम् श्रियः जननिर्वादभयाद् इव अचिराद् अपयान्ति ।। १० ।।

अनुपालयतामिति । उदेष्यतीं वर्द्धिष्यमाणाम् । 'आच्छीनद्योर्नुम्' इति विकल्पान्नुमभावः । द्विषतां प्रभुशक्तिं कोशदण्डजं तेजः । 'स प्रभावः प्रतापश्च यत्तेजः कोशदण्डजम्' इत्यमरः । अनीहयाऽनुत्साहेनानुपालयतामुपेक्षमाणानां महीभुजां श्रियः सम्पदो जननिर्वादभयान्निकृष्टपुरुषानुरागोत्थलोकापवादभयादिवेति हेतूत्प्रेक्षा । अचिरादपयान्त्यपसरन्ति । यथाऽऽह कामन्दकः—'स्त्रीभिः षण्ढ इव श्रीभिरलसः परिभूयते' इति । अतः पराक्रमितव्यमित्यर्थः ।।१० ।।

हिन्दी—बढ़ती हुई शत्रु की शक्ति को अनुत्साह के साथ उपेक्षा करने वाले राजाओं की राज्यलक्ष्मी मानों लोकनिन्दा के भय से शीघ्र ही दूर हो जाती है ।।१०।।

विमर्श—तात्पर्य यह है कि जो राजा अपने शत्रु के वर्द्धमान पराक्रम और ऐश्वर्य की उपेक्षा करता है और आलसी बना बैठा रहता है, उसके प्रतिकार का कोई उपाय नहीं करता, उसकी राज्यश्री चौपट हो जाती है और उसकी लोकनिन्दा भी खूब होती है । यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ।

ननु परिक्षीणः कथं प्रलयेनाभियुज्यत इत्यत्राह—

क्षययुक्तमपि स्वभावजं दधतं धाम शिवं समृद्धये ।
प्रणमन्त्यनपायमुत्थितं प्रतिपच्चन्द्रमिव प्रजा नृपम् ।।११ ।।

अन्वयः—क्षययुक्तम् अपि स्वभावजं शिवं धाम दधतम् समृद्धये उत्थितम् । अनपायम् नृपम् प्रतिपच्चन्द्रम् इव प्रजाः प्रणमन्ति ।। ११ ।।

क्षयेति । क्षययुक्तमपि तथा क्षीणमपि सन्तं स्वभावजं सहजं शिवं सर्वलोकाह्लादकं धाम क्षात्रं तेजः प्रकाशं च दधतं समृद्धये वृद्ध्यर्थमुत्थितमुद्युक्तम् । वर्द्धिष्णुमित्यर्थः । नृपं । प्रजाः । प्रतिपच्चन्द्रं द्वितीयाचन्द्रमिवेत्यर्थः । प्रतिपच्छब्देन द्वितीयाग्रहणम्, प्रतिपदि तस्यादृश्यत्वादिति । प्रणमन्ति । प्रह्वीभावेन वर्त्तन्त इति भावः । चन्द्रं तु नमस्कुर्वन्ति । क्षीणस्याप्युत्साहः कार्यसिद्धेर्निदानमित्यर्थः । जयं हि सततोत्साही दुर्बलोऽपि समश्नुते' इति कामन्दकः ।।११ ।।

हिन्दी—क्षीणशक्ति होने पर भी सहज सर्वजनानन्ददायी तेज को धारण करने वाले, अपनी वृद्धि के लिए प्रयत्नशील अविनाशित राजा को प्रजाएँ (स्वल्प कला से युक्त, स्वाभाविक जनाह्लादकारी तेज को धारण करने वाले, उत्तरोत्तर उन्नति के लिए उठने वाले, उदीयमान) द्वितीया के चन्द्रमा की भाँति नमस्कार करती हैं ।।११।।

विमर्श—यहाँ प्रतिपद से द्वितीया का तात्पर्य लिया गया है । क्षीण व्यक्ति का भी उत्साह कार्यसिद्धि की सूचना देता है जब कि समृद्ध और सम्पन्न व्यक्ति का आलस्य और प्रमाद उसके भावी विनाश की सूचना देता है ।

यहाँ उपमा अलङ्कार है ।

ननु प्रभुशक्तिशून्यस्योत्साहः कुत्रोपयुज्यत इत्यत्राह—

> प्रभवः खलु कोशदण्डयोः कृतपञ्चाङ्गविनिर्णयो नयः ।
> स विधेयपदेषु दक्षतां नियतिं लोक इवानुरुध्यते ।।१२ ।।

अन्वयः—कृतपञ्चाङ्गविनिर्णयः नयः कोशदण्डयोः प्रभवः खलु । सः विधेयपदेषु दक्षताम् लोकः नियतिम् इव अनुरुध्यते ।। १२ ।।

प्रभव इति । कर्मणामारम्भोपायः, पुरुषद्रव्यसम्पद्, देशकालविभागो, विनिपातप्रतीकारः, कार्यसिद्धिश्चेति पञ्चाङ्गानि । यथाऽऽह कामन्दकः—

> 'सहायाः साधनोपाया विभागो देशकालयोः ।
> विनिपातप्रतीकारः सिद्धिः पञ्चाङ्गमिष्यते ।।' इति ।

पञ्चानामङ्गानां विनिर्णयः पञ्चाङ्गविनिर्णयः । 'तद्धितार्थ—' इत्यादिनोत्तर-पदसमासः । कृतः पञ्चाङ्गविनिर्णयो यस्य येन वा स तथोक्तः । नयो नीतिः । मन्त्र इति यावत् । कोशोऽर्थराशिः । 'कोशोऽस्त्री कुड्मले खड्गपिधानेऽर्थौघदिव्ययोः' इत्यमरः । दण्डश्चतुरङ्गसैन्यम् । 'दण्डोऽस्त्री शासने राज्ञां हिंसायां लगुडे यमे । यात्राऽऽज्ञायां सैन्यभेदे' इति वैजयन्ती । तयोः कोशदण्डयोः । प्रभुशक्तेरित्यर्थः । प्रभवत्यस्मादिति प्रभवः कारणम् । ऋदोरप । स नयो विधेयपदेषु कार्यवस्तुषु । 'पदं व्यवसित-त्राणस्थानलक्ष्माङ्घ्रिवस्तुषु' इत्यमरः । दक्षतां क्षिप्रकारित्वम् । उत्साहमित्यर्थः । लोकः कृष्यादिप्रवृत्तो जनः । नियति दैवमिव । 'नियतिनियमे दैवे' इति विश्वः । अनुरुध्यते अनुसरति । रुधेर्दैवादिकात्कर्त्तरिलट् । मन्त्रस्यापि मूलमुत्साहस्तन्मूलायाः प्रभुशक्तेर्मूलमिति किमु वक्तव्यम् । अतः स एवाश्रयणीयः । यतो नक्तंदिव मन्त्रयतस्तस्यापि प्रभोर्निरुत्साहस्य न किञ्चित्सिद्ध्यतीति ।।१२ ।।

हिन्दी—सहायता आदि सिद्धि के पाँचों उपायों का आश्रय लेकर प्रवर्तित राजनीति (राजा के) कोश और चतुरङ्ग सेना की वृद्धि का कारण होती है और वही राजनीति अवश्य करने योग्य कार्यों में, उत्साह की उसी प्रकार से अपेक्षा रखती है जैसे लोग कृषि आदि सभी कार्यों में भाग्य की अपेक्षा रखते हैं ।। १२ ।।

विमर्श—तात्पर्य यह है कि राजनीति को भी उत्साह की ही आवश्यकता होती है । निरुत्साही व्यक्ति राजनीति में भी कुशलता नहीं प्राप्त कर सकता । 'सहायाः साधनोपायाः विभागो देशकालयोः। विनिपातप्रतीकारः सिद्धिः पञ्चाङ्गमिष्यते।' अर्थात् मित्र राजाओं की सहायता, अपने कार्यों के सिद्ध करने के उपाय, देश और काल के अनुसार उपायों का अवलम्बन, पराजय अथवा शत्रु द्वारा प्रस्तुत विपत्ति से बचने का उपाय तथा शत्रु पर विजय प्राप्ति-ये पाँच राजनीति के अङ्ग हैं और इन्हीं के अनुष्ठान से राजा के कोश और सेना की वृद्धि होती है। यहाँ उपमा अलङ्कार है।

ननु सोत्साहस्यासहायस्य कथमर्थसिद्धिरित्यत्राह—

अभिमानवतो मनस्विनः प्रियमुच्चैः पदमारुरुक्षतः ।
विनिपातनिवर्त्तनक्षमं मतमालम्बनमात्मपौरुषम् ।।१३ ।।

अन्वयः—अभिमानवतः प्रियम् उच्चैः पदम् आरुरुक्षतः मनस्विनः आत्मपौरुषम् विनिपातनिवर्त्तनक्षमम् आलम्बनम् मतम् ।। १३ ।।

अभिमानवत इति । अभिमानवतो मानधनस्य प्रियमिष्टमुच्चैरुन्नतं पदं स्थानं राज्यादिकमारुरुक्षत आरोढुमिच्छतः प्राप्तुकामस्य मनस्विनो धीरस्यात्मपौरुषं स्वपुरुषकार एव विनिपातनिवर्त्तनक्षमममनर्थप्रतीकारसमर्थमालम्बनं सहकारि मतमिष्टम् । यथा कस्य चित्तुङ्गमारोहतः किञ्चित्पतनप्रतिबन्धकमनुचरहस्तादिकमालम्बनं तद्वदिति ध्वनिः । किं पौरुषादन्यैः सहायैः शूराणामिति भावः ।। १३ ।।

हिन्दी—स्वाभिमानी और अपने अभिमत उच्च पद पर आरूढ़ होने की इच्छा करने वाले मनस्वी का अपना पुरुषार्थ ही आपत्तियों से बचने का दृढ़ सहारा माना गया है ।। १३ ।।

विमर्श—तात्पर्य यह है कि जो उन्नति चाहता है उसे चाहिए कि अपने निज के पुरुषार्थ पर निर्भर करे । पुरुषार्थी को अपने पौरुष के सिवा किसी दूसरे पर भरोसा करना ही नहीं चाहिये । यहाँ अर्थापत्ति अलङ्कार है ।

पौरुषानङ्गीकारे दोषमाह—

विपदोऽभिभवन्त्यविक्रमं रहयत्यापदुपेतमायतिः ।
नियता लघुता निरायतेरगरीयान्न पदं नृपश्रियः ।।१४ ।।

अन्वयः—विपदः अविक्रमम् अभिभवन्ति । आपदुपेतम् आयतिः रहयति । निरायतेः लघुता नियता अगरीयान् नृपश्रियः पदं न ।। १४ ।।

विपद इति । अविक्रमं पौरुषहीनं विपदोऽभिभवन्त्याक्रामन्ति । आपदुपेतं विपन्नमायतिरुत्तरकालः । 'उत्तरः काल आयतिः' इत्यमरः । रहयति त्यजति । निरायतेः आसन्नक्षयस्येत्यर्थः । लघुताऽगौरवं नियताऽवश्यम्भाविनी । न कश्चिदेनमाद्रियत इत्यर्थः । अगरीयांल्लघीयान्नृपश्रियो राजलक्ष्म्याः पदमास्पदं न भवति ।

यद्वा—नृपेति पदच्छेदः । तस्मात्पौरुषं कर्त्तव्यमेवेत्यर्थः । अत्र पूर्वपूर्वस्याविक्रमत्वादे-रुत्तरोत्तरविपदादिकं प्रति कारणत्वात् कारणमालाऽऽख्योऽलङ्कारः । तथा च सूत्रम्—पूर्वपूर्वस्योत्तरोत्तरहेतुत्वे कारणमाला ।।१४ ।।

हिन्दी—विपत्तियाँ पुरुषार्थहीन व्यक्ति को आक्रान्त कर लेती हैं । विपत्तियों से ग्रस्त व्यक्ति की भावी उन्नति अवरुद्ध हो जाती है, उसका भविष्य उसे छोड़ देता है फिर ऐसा हो जाने पर उसकी प्रतिष्ठा नष्ट होना निश्चित है और अप्रतिष्ठित अथवा लघु लोग राज्यलक्ष्मी की प्राप्ति नहीं कर सकते ।। १४ ।।

विमर्श—तात्पर्य यह है कि राज्यलक्ष्मी की प्राप्ति का एकमात्र कारण पुरुषार्थ ही है । जो पुरुषार्थ से हीन होता है, वही धीरे-धीरे अप्रतिष्ठित अथवा लघु बनकर राज्यश्री का पात्र नहीं रह जाता । यहाँ कारणमाला अलङ्कार है ।

फलितमाह—

तदलं प्रतिपक्षमुन्नतेरवलम्ब्य व्यवसायवन्ध्यताम् ।
निवसन्ति पराक्रमाश्रया न विषादेन समं समृद्धयः ।।१५ ।।

अन्वयः—तद् उन्नतेः प्रतिपक्षम् व्यवसायवन्ध्यताम् अवलम्ब्य अलम् पराक्रमाश्रयाः समृद्धयः विषादेन समं न निवसन्ति ।। १५ ।।

तदिति । तत्तस्माद्, उपेक्षायां दोषसम्भवादित्यर्थः । उन्नतेरभ्युदस्य प्रतिपक्ष-मन्तरायं व्यवसायवन्ध्यतामुद्योगशून्यतामवलम्ब्यालम्, अवलम्बनेनालमित्यर्थः । 'अलंखल्वोः प्रतिषेधयोः प्राचां क्त्वा' इति क्त्वाप्रत्ययः । तस्य ल्यबादेशः । तथा हि पराक्रम आश्रयः कारणं यासां तास्तथोक्ताः समृद्धयः सम्पदो विषादेन सममनुत्साहेन सह न निवसन्ति । पौरुषसाध्याः सम्पदो नानुत्साहसाध्याः । उभयोः सहावस्थान विरोधादित्यर्थः । वैधर्म्येण कार्यकारणरूपोऽर्थान्तरन्यासः ।।१५ ।।

हिन्दी—अतएव अपने अभ्युदय में बाधा डालने वाली इस निरुत्साहिता को अब बस (समाप्त) कीजिए क्योंकि पुरुषार्थ अथवा पराक्रम में निवास करने वाली समृद्धियाँ (कभी) निरुत्साहिता के साथ नहीं रहतीं ।। १५ ।।

विमर्श—पुरुषार्थ और निरुत्साहिता- ये दोनों एक साथ नहीं रह सकते अतः पुरुषार्थसाध्या लक्ष्मी निरुत्साही के साथ क्यों रहेगी? यहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है।

ननु समयः प्रतीक्ष्यते, किं वेगेनेत्यत्राह—

अथ चेदवधिः प्रतीक्ष्यते कथमाविष्कृतजिह्मवृत्तिना ।
धृतराष्ट्रसुतेन सुत्यजाश्चिरमास्वाद्य नरेन्द्रसम्पदः ।।१६ ।।

अन्वयः—अथ अवधिः प्रतीक्ष्यते चेत् आविष्कृतजिह्मवृत्तिना धृतराष्ट्रसुतेन नरेन्द्रसम्पदः चिरम् आस्वाद्य कथं सुत्यजाः ।। १६ ।।

अथेति । अथावधिः कालः प्रतीक्ष्यते चेद् । 'अवधिस्त्ववधाने स्यात्सीम्नि काले बिलेऽपि च' इति विश्वः । आविष्कृतजिह्मवृत्तिना प्रकटितकपटव्यवहारेण धृतराष्ट्रसुतेन दुर्योधनेन नरेन्द्रसम्पदो राज्यसम्पदः । नरेन्द्रेति वा पदच्छेदः । चिरं त्रयोदशवर्षाण्यास्वाद्यानुभूय कथं सुत्यजाः । ज्ञातास्वादेन तेन पश्चादपि सुखेन युद्धक्लेशं विना न त्यक्ष्यन्त एवेत्यवधिप्रतीक्षणं व्यर्थमित्यर्थः ।।१६ ।।

हिन्दी—अब यदि आप (१३ वर्ष की) अवधि की प्रतीक्षा कर रहे हैं तो (यह सोचने की बात है कि) जिसने अब तक अपने अनेक छल-कपटपूर्ण कार्यों का परिचय दिया है, वह धृतराष्ट्र का पुत्र दुर्योधन, चिरकाल तक राज्यश्री का सुख अनुभव करके उसे आसानी से कैसे छोड़ देगा ।। १६ ।।

विमर्श—अर्थात् जिस कुटिल दुर्योधन ने अधिकार होते हुए भी हमारे भाग को हड़प लिया है वह इतने दिनों तक उसका उपभोग करके हमारी बनवास की अवधि बीतने के अनन्तर उसे सुख से लौटा देगा—ऐसा समझना भूल है । आप को इसी समय जो कुछ करना है, करना चाहिए । यहाँ अर्थापत्ति अलङ्कार है ।

अथवा तदा दैववशात्स्वयमेव सम्पदो दास्यति चेत्तथाऽपि तत्कथं रोचयेमहीत्याह—

द्विषता विहितं त्वयाऽथवा यदि लब्धा पुनरात्मनः पदम् ।
जननाथ ! तवानुजन्मनां कृतमाविष्कृतपौरुषैर्भुजैः ।।१७ ।।

अन्वयः—अथवा जननाथ ! द्विषता विहितम् आत्मनः पदं पुनः त्वया लब्धा यदि तव अनुजन्मनाम् आविष्कृतपौरुषैः भुजैः कृतम् ।। १७ ।।

द्विषतेति । अथवा द्विषता विहितं पुनः प्रत्यर्पितमात्मनः पदं राज्यं त्वया लब्धा लप्स्यते यदि । लभेः कर्मणि लुट् । हे जननाथ ! तवानुजन्मनामनुजानामाविष्कृतपौरुषैः प्रकटितपराक्रमैर्भुजैः कृतमलम् । अस्मद्भुजैर्न किञ्चित्साध्यमित्यर्थः । राज्यदानादानयोर्द्विषतामेव स्वातन्त्र्येऽस्मद्भुजवैफल्यात् । 'क्षत्रियस्य विजेतव्यम्' इति शास्त्रात्क्षात्रेणैव राज्यं ग्राह्यमिति भावः । कृतमिति प्रतिषेधार्थमव्ययं चादिषु पठ्यते । 'कृतमिति निवारणनिषेधयोः' इति गणव्याख्याने । भुजैरिति गम्यमानसाधनक्रियाऽपेक्षया करणत्वात्तृतीया । उक्तं च न्यासोद्द्योते—'न केवलं श्रूयमाणैव क्रियानिमित्तं कारकभावस्यापि तु गम्यमानाऽपि' इति ।।१७ ।।

हिन्दी—अथवा हे राजन् ! शत्रु दुर्योधन द्वारा लौटाये गये अपने राज्य सिंहासन को यदि आप पुनः प्राप्त कर लेंगे तब आपके (अर्जुन आदि) छोटे भाइयों की उन भुजाओं से फिर लाभ क्या होगा, जिनका पराक्रम अनेक बार प्रकट हो चुका है ।। १७ ।।

विमर्श—शत्रु की कृपा द्वारा यदि आपको सिंहासन मिल भी जाता हैं तब हमारी भुजाओं का पराक्रम व्यर्थ ही रह जायगा । यहाँ अर्थापत्ति अथवा परिकर अलङ्कार है ।

ननु साम्नैव कार्यसिद्धौ किं क्षात्त्रेण । यथाऽऽह मनुः—'साम्ना दानेन भेदेन समस्तैरथवा पृथक् । विजेतुं प्रयतेतारीन्न युद्धेन कदाचन' ॥ इति । तत्किमाग्रहेणेत्याशङ्क्याह—

मदसिक्तमुखैर्मृगाधिपः करिभिर्वर्त्तयते स्वयं हतैः ।
लङ्घयन्खलु तेजसा जगन्न महानिच्छति भूतिमन्यतः ॥१८ ॥

अन्वयः—मृगाधिपः मदसिक्तमुखैः स्वयं हतैः करिभिः वर्त्तयते । तेजसा जगद् लङ्घयन् महान् अन्यतः भूतिम् न इच्छति ॥ १८ ॥

मदेति । मृगाधिपः सिंहो मदसिक्तमुखैः, मदवर्षिभिरित्यर्थः । स्वयं स्वेनैव हतैः करिभिर्वर्त्तयते धृत्तिं करोति । तैरेव जीवतीत्यर्थः । चौरादिकाद् वृत्तेर्लट् । भौवादिकस्य तु 'अणावकर्मकाच्चित्तवत्कर्तृकात्' इति परस्मैपदनियमादिति । तथाहि—तेजसा प्रभावेण । 'तेजो बले प्रभावे च ज्योतिष्यर्चिषि रेतसि' इति वैजयन्ती । जगल्लङ्घयंल्लघूकुर्वन् महांस्तेजस्व्यन्यतोऽन्यस्मात् पुरुषाद् भूतिं वृद्धिं नेच्छति खलु । नहि तेजस्विनः परायत्तवृत्तित्वं युक्तम् । मनुवचनं त्वशूरविषयमिति भावः । विशेषेण वक्ष्यमाणसामान्यसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥१८ ॥

हिन्दी—सिंह अपने द्वारा मारे गये मुख भाग से मद चूने वाले हाथियों से ही अपनी जीविका निर्वाहित करता है । अपने तेज से संसार को पराजित करने वाला महान् पुरुष किसी अन्य की सहायता से ऐश्वर्य की अभिलाषा नहीं किया करता ॥ १८ ॥

विमर्श—तेजस्वी पुरुष किसी दूसरे द्वारा की गई जीविका नहीं ग्रहण करते। यहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ।

ननु युद्धात्पाक्षिको लाभः, उपायान्तरैस्तु न तथेत्याशङ्क्याह—

अभिमानधनस्य गत्वरैरसुभिः स्थास्नु यशश्चिचीषतः ।
अचिरांशुविलासचञ्चला ननु लक्ष्मीः फलमानुषङ्गिकम् ॥१९ ॥

अन्वयः—अभिमानधनस्य गत्वरैः असुभिः स्थास्नु यशः चिचीषतः अचिरांशुविलासचञ्चला लक्ष्मीः आनुषङ्गिकं फलं ननु ॥ १९ ॥

अभिमानेति। अभिमानधनस्य वैरनिर्यातनमात्रनिष्ठस्य। अत एव गत्वरैर्गमनशीलैरस्थिरैः । 'गत्वरश्च' इति क्वरबन्तो निपातः । असुभिः प्राणैः । करणैः । 'पुंसि भून्यसवः प्राणाः' इत्यमरः। स्थास्नु स्थिरम् । 'ग्लाजिस्थश्च ग्स्नुः' इति ग्स्नुप्रत्ययः। यशश्चिचीषतश्चेतुं संग्रहीतुमिच्छतः । चिनोतेः सन्नन्ताच्छतृप्रत्ययः । अचिरमंशवो यस्याः साऽचिरांशुर्विद्युत्तस्या विलासः स्फुरणं तद्वच्चञ्चला, क्षणिकेत्यर्थः । लक्ष्मीः सम्पद्, अनुषङ्गादागतमानुषङ्गिकमन्वाचयशिष्टमल्पं फलम्। मानत्राणजं यश एव मुख्यं फलमभ्युच्चयस्तु लक्ष्मीरिति मानिनामिदमेव श्लाघ्यमित्यर्थः । अत्रास्थिरप्राणत्यागेन

स्थिरयशः स्वीकाराभिधानान्न्यूनाधिकविनिमयाख्यः परिवृत्त्यलङ्कारः । तदुक्तं काव्य-प्रकाशे—'परिवृत्तिर्विनिमयो योऽर्थानां स्यात्समासमैः' इति ॥१९ ॥

हिन्दी—अपनी जाति, कुल और मर्यादा की रक्षा को ही अपना सर्वस्व समझने वाले (पुरुष) अपने अस्थिर (नाशवान्) प्राणों के द्वारा स्थिर यश की कामना करते हैं । इस प्रसङ्ग में (उन्हें) बिजली की चमक के समान चञ्चला (क्षणिक) राज्य-श्री (यदि प्राप्त हो जाती है तो वह) अनायास ही प्राप्त होने वाला फल है ॥ १९ ॥

विमर्श—तात्पर्य यह कि मनस्वी पुरुष केवल यश के लिए अपने प्राण गँवाते हैं, धन के लिए नहीं । क्योंकि यश स्थिर है और लक्ष्मी बिजली की चमक के समान चञ्चला है । उन्हें लक्ष्मी की प्राप्ति भी होती है, किन्तु उनका उद्देश्य यह नहीं होता । उसकी प्राप्ति तो अनायास ही हो जाती है । यहाँ परिवृत्ति अलङ्कार है ।

नन्वल्पस्य मानस्थ हेतोः कथं प्राणत्यागः शक्यते कर्त्तुं, यतः—'जीवन्नरो भद्रशतानि पश्येद्' इत्याशङ्क्याह—

ज्वलितं न हिरण्यरेतसं चयमास्कन्दति भस्मनां जनः ।
अभिभूतिभयादसूनतः सुखमुज्झन्ति न धाम मानिनः ॥ २० ॥

अन्वयः—जनः भस्मनां चयम् आस्कन्दति ज्वलितं हिरण्यरेतसम् न । अतः मानिनः अभिभूतिभयाद् असून् सुखम् उज्झन्ति धाम न ॥ २० ॥

ज्वलितमिति । जनो भस्मनां चयं पुञ्जमास्कन्दति पादादिनाऽऽक्रामति । अदाहकत्वादिति भावः । ज्वलन्तम् । कर्त्तरिक्तः । 'मतिबुद्धि—' इत्यादिसूत्रे चकार-द्वर्त्तमानार्थत्वम् । हिरण्यं रेतो यस्य तं हिरण्यरेतसमग्निं नास्कन्दति । दाहकत्वादिति भावः अतो हेतोर्मानिनोऽभिभूतिभयात् प्राणलाभेन तेजस्त्यागे परिभवो भविष्यतीति भयादसूनेव सुखमक्लिष्टमुज्झन्ति । मानहानिकराज्जीवनात्स्वतेजसा मरणमेव वर-मित्यर्थः । पूर्वतरश्लोकवदर्थान्तरन्यासः ॥ २० ॥

हिन्दी—मनुष्य राख की ढेर को तो अपने पैरों आदि से कुचल देते हैं किन्तु जलती हुई आग को नहीं कुचलते । इसी कारण से मनस्वी लोग अपने प्राणों को तो सुख के साथ छोड़ देते हैं किन्तु अपनी तेजस्विता अथवा मान-मर्यादा को नहीं छोड़ते ॥ २० ॥

विमर्श—मानहानिपूर्ण जीवन से अपनी तेजस्विता के साथ मर जाना ही अच्छा है । यहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ।

अथवा किमत्र प्रयोजनचिन्तया, किन्तु तेजस्विनामयं स्वभाव एव यज्जिगीषुत्वमित्याशयेनाह—

किमपेक्ष्य फलं पयोधरान् ध्वनतः प्रार्थयते मृगाधिपः ।
प्रकृतिः खलु सा महीयसः सहते नान्यसमुन्नतिं यया ॥ २१ ॥

अन्वयः—मृगाधिपः किं फलम् अपेक्ष्य ध्वनतः पयोधरान् प्रार्थयते । महीयसः सा प्रकृतिः खलु यया अन्यसमुन्नतिम् न सहते ।। २१ ।।

किमिति । मृगाधिपः सिंहः किं फलं प्रयोजनमपेक्ष्य ध्वनतो गर्जतः। धरन्तीति धराः । पचाद्यच् । पयसां धरास्तान् पयोधरान् मेघान् प्रार्थयतेऽभियाति, 'याच्ञायामभियाने च प्रार्थना कथ्यते बुधैः' इति केशवः । यद्वा—अवरुणद्धीत्यर्थः । प्रा अर्थयते । 'प्रा स्याद् याच्ञाऽवरोधयोः' इत्यभिधानात् प्रा अवरोधेन । प्रा इति तृतीयान्तस्य प्राशब्दस्य योगविभागाद् 'आतो धातोः' इत्यालोपः । तथा हि—महीयसो महत्तरस्य सा प्रकृतिः खलु यया प्रकृत्याऽन्यसमुन्नतिं न सहते । महतः परभञ्जनमेव पुरुषार्थ इत्यर्थः । पूर्ववदलङ्कारः ।। २१ ।।

हिन्दी—(भला) सिंह किस फल की आशा से गरजते हुए बादलों पर आक्रमण करता है । मनस्वी लोगों का यह स्वभाव ही है कि जिसके कारण से वे दूसरों की अभ्युन्नति को सहन नहीं करते ।। २१ ।।

विमर्श—अपने उत्कर्ष के इच्छुक मनस्वी लोग दूसरों की वृद्धि या अभ्युन्नति को सहन भी नहीं कर सकते । मनस्वियों का यही पुरुषार्थ है कि वे दूसरों को पीड़ा पहुँचाकर अपनी कीर्ति बढ़ायें । यहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ।

सम्प्रत्युक्तप्रयोजनं निगमयति—उक्तार्थोपसंहरणं निगम उच्यते—

कुरु तन्मतिमेव विक्रमे नृप ! निर्धूय तमः प्रमादजम् ।
ध्रुवमेतदवेहि विद्विषां त्वदनुत्साहहता विपत्तयः ।। २२ ।।

अन्वयः—नृप! तत् प्रमादजं तमः निर्धूय विक्रमे मतिं कुरु । विद्विषां विपत्तयः त्वदनुत्साहहताः एतद् ध्रुवम् अवेहि ।। २२ ।।

कुरु तदिति । हे नृप! तत्तस्मादुक्तरीत्या पराक्रमोत्साहयोर्हेतुत्वाद्धेतोः, 'यत्तद्यतस्ततो हेतौ' इत्यमरः । प्रमादज तमो मोहं निर्धूय निरस्य विक्रमे पौरुष एव मतिं कुरु, न तूपायान्तरमित्यर्थः । न च विक्रमवैफल्यशङ्का कार्येत्याह—ध्रुवमिति । विद्विषां विपत्तयस्त्वदनुत्साहहतास्तवानुत्साहेनाव्यवसायेन हताः प्रतिबद्धाः । अन्यथा प्रागेव विपद्येरन्निति भावः । इत्येतद् ध्रुवं निश्चितमवेहि विद्धि । 'ध्रुवं नित्ये निश्चिते च' इति शाश्वतः ।। २२ ।।

हिन्दी—हे राजन् ! इसलिए आप अपनी असावधानी से उत्पन्न मोह रूप अन्धकार को दूर कर पुरुषार्थ में ही अपनी बुद्धि लगाइए । (दूसरा कोई उपाय नहीं है ।) शत्रुओं की विपत्तियाँ केवल आपके अनुत्साह के कारण से रुकी हुई हैं—यह निश्चय जानिए ।। २२ ।।

विमर्श—अर्थात् यदि आप तनिक भी पुरुषार्थ और उत्साह धारण कर लेंगे तो शत्रु विपत्तियों में निमग्न हो जायँगे । यहाँ काव्यलिङ्ग अलङ्कार है ।

न च न: पराजयशङ्का कार्येत्याह—

द्विरदानिव दिग्विभावितांश्चतुरस्तोयनिधीनिवायत: ।
प्रसहेत रणे तवानुजान् द्विषतां क: शतमन्युतेजस: ।। २३ ।।

अन्वय:—दिग्विभावितान् आयत: चतुर: द्विरदान् इव, तोयनिधीन् इव रणे शतमन्युतेजस: तव अनुजान् द्विषतां क: प्रसहेत? ।। २३ ।।

द्विरदानिति । दिग्विभावितान् दिक्षु प्रसिद्धांस्तानायत आगच्छत:। आङ्पूर्वादिण्धातो: शतृप्रत्यय: । चतुरो द्विरदान्दिग्गजानिव, तथोक्तविशेषणांश्चतुरस्तोयनिधीनिव, रण आयतो दिग्विभाविताञ्छतमन्युतेजस इन्द्रविक्रमांश्चतुरस्तवानुजान् द्विषतां मध्ये क: प्रसहेत । सोढुं शक्नुयादित्यर्थ: । 'शकि लिङ् च' इति शक्यार्थे लिङ् । अतो नि:शङ्कं प्रवर्त्तस्वेति भाव: ।। २३ ।।

हिन्दी—सभी दिशाओं में सुप्रसिद्ध, आते हुए चारों दिग्गजों अथवा चारों समुद्रों की भाँति, रणभूमि में आते हुए इन्द्र के समान पराक्रमशाली आप के कनिष्ठ (चारों) भाइयों को शत्रुओं में से कौन सहन कर सकता है? ।। २३ ।।

विमर्श—अर्थात् ऐसे परम पराक्रमशील एवं तेजस्वी भाइयों के रहते हुए आप किस बात की चिन्ता कर रहे हैं । आपको नि:शङ्क होकर दुर्योधन से भिड़ जाना चाहिए । यहाँ उपमा तथा अर्थापत्ति अलङ्कार की संसृष्टि है ।

आशीर्वादव्याजेन फलितमाह—

ज्वलतस्तव जातवेदस: सततं वैरिकृतस्य चेतसि ।
विदधातु शमं शिवेतरा रिपुनारीनयनाम्बुसन्तति: ।। २४ ।।

अन्वय:—तव चेतसि वैरिकृतस्य सततं ज्वलत: जातवेदस: शिवेतरा रिपुनारीनयनाम्बुसन्तति: शमं विदधातु ।। २४ ।।

ज्वलत इति । तव चेतसि, सततं ज्वलतो वैरिकृतस्य जातवेदस: । क्रोधाग्नेरित्यर्थ:। शिवेतराऽशिवाऽमङ्गला । वैधव्य दु:खजनकत्वादिति भाव: । रिपुनारीनयनाम्बुसन्ततिर्वैरिवनिताऽश्रुप्रवाह: शमं विदधातु । वैरिकृतस्य क्रोधस्य वैरिवधमन्तरेण शान्त्यसम्भवादवश्यं तद्वधस्त्वया कर्त्तव्य इत्यर्थ: । क्रोधस्य विषयस्य निगरणेन विषयिणो जातवेदस एवोपनिबन्धादतिशयोक्तिरलङ्कार: । तदुक्तं—

'विषयस्यानुपादानाद् विषय्युपनिबध्यते ।
यत्र साऽतिशयोक्ति: स्यात्कवे: प्रौढोक्तिजीविता' ।। इति ।

तत्रापि क्रोधस्य जातवेदसो भेदेऽप्यभेदाध्यवसायाद् भेदेऽभेदरूपा । तत एवाम्बुनिर्वाप्यत्वोक्तिश्च घटते । तया च—यथाऽम्बुसेकेनाग्नि: शाम्यति तथा शत्रुवधेन क्रोध इत्यौपम्यं गम्यते ।। २४ ।।

हिन्दी—आप के हृदय में शत्रुओं के कारण उत्पन्न एवं निरन्तर जलती हुई अमर्ष की अग्नि को शत्रुओं की स्त्रियों के नेत्रों से बहने वाली अमङ्गलकारिणी आँसुओं की धाराएँ शान्त करें ॥ २४ ॥

विमर्श—आप के शत्रु मारे जायँ और उनकी विधवा स्त्रियाँ दुःख के कारण खूब रुदन करें, जिससे आप के हृदय में जलती हुई अमर्ष की अग्नि शान्त हो। यहाँ अतिशयोक्ति अलङ्कार तथा गम्योपमा का सङ्कर है ।

इति दर्शितविक्रियं सुतं मरुतः कोपपरीतमानसम् ।
उपसान्त्वयितुं महीपतिर्द्विरदं दुष्टमिवोपचक्रमे ॥ २५ ॥

अन्वयः—इति दर्शितविक्रियं कोपपरीतमानसं मरुतः सुतम् महीपतिः दुष्टं द्विरदम् इव उपसान्त्वयितुम् उपचक्रमे ॥ २५ ॥

इतीति । इत्युक्तरीत्या दर्शिता विक्रिया विकारो वागारम्भात्मको येन तं कोपपरीतमानसं कोपाक्रान्तचित्तम् । इदं विशेषणद्वयं द्विरदेऽपि योज्यम् । मरुतः सुतं भीमं महीपतिर्युधिष्ठिरो दुष्टं द्विरदमिव । एतेन भीमस्य शौर्यमेव, न बुद्धिरस्तीति गम्यते । उपसान्त्वयितुमनुनेतुमुपचक्रमे प्रवृत्तः 'प्रोपाभ्यां समर्थाभ्याम्' इत्यात्मनेपदम्। राज्ञा तावदुपकारविशेषापेक्षया कथञ्चिदवशो जनः शनैः शनैर्द्विरदवद्वशीकरणीयः, न तु त्याज्य इति भावः ॥ २५ ॥

हिन्दी—उपर्युक्त रीति से अपने अमर्ष की सूचना देने वाले क्रोध से आक्रान्त हृदय वायुपुत्र भीमसेन को राजा युधिष्ठिर ने (मानसिक विकार की सूचना देने वाले तथा क्रोध से आक्रान्त) दुष्ट हाथी की तरह वश में करने का उपक्रम किया ॥२५॥

विमर्श—राजा को अपने अप्रसन्न बन्धु-बान्धवों को मृदु वचन द्वारा बिगड़े हुए हाथी की तरह अपने वश में करने का प्रयत्न तो करना ही चाहिए, उनकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए-यह नीति की बात है । यहाँ पूर्णोपमा अलङ्कार है ।

प्रथमं तावत्स्तुत्यादिभिः प्रसादयति—

अपवर्जितविप्लवे शुचौ हृदयग्राहिणि मङ्गलास्पदे ।
विमला तव विस्तरे गिरां मतिरादर्श इवाभिदृश्यते ॥ २६ ॥

अन्वयः—अपवर्जितविप्लवे शुचौ हृदयग्राहिणि मङ्गलास्पदे आदर्शे इव तव गिरां विस्तरे विमला मतिः अभिदृश्यते ॥ २६ ॥

अपवर्जितेति । विप्लवः प्रमाणबाधः । अन्यत्र बाह्यमलसङ्क्रमः । सोऽपवर्जितो यस्य तस्मिन्नपवर्जितविप्लवे । शुचौ । सौशब्द्यं लोहशुद्धिश्च शुचित्वम् । तद्वतीत्यर्थः । अत एव हृदयग्राहिणि मनोरमे मङ्गलास्पदे । एकत्र हितार्थप्रतिपादकत्वादन्यत्र मङ्गलवस्तुत्वाच्च श्रेयस्करे । 'रोचनं चन्दनं हेम मृदङ्गं दर्पणं मणिम् । गुरुनाग्निं तथा सूर्यं प्रातः पश्येत्सदा बुधः' ॥ इति पुराणवचनात् । तव गिरां

विस्तरे वाक्प्रपञ्चे । 'प्रथने वावशब्दे' इति घञ्प्रतिषेधाद् 'ऋदोरप्' इत्यप् । अत एव 'विस्तारो विग्रहो व्यासः स तु शब्दस्य विस्तरः' इत्यमरः । मतिस्त्वद्बुद्धिरादर्शे दर्पण इव । 'दर्पणे मुकुरादर्शौ' इत्यमरः। विमला विशदाऽभिदृश्यते । वाग्वैशद्यादेव मतिवैशद्यमनुमीयते । तत्पूर्वकत्वात्तस्येत्यर्थः ।। २६ ।।

हिन्दी—(युधिष्ठिर ने कहा)—ऊपरी मैल से युक्त होने के कारण निर्मल, लोहशुद्धि से सुनिर्मित, मनोरम मङ्गलदायी दर्पण में स्वरूप की भाँति, तर्क एवं प्रमाणों से युक्त, सुन्दर शब्दों से समलङ्कृत हृदयग्राही एवं मङ्गलकारी तुम्हारी बातों के विस्तार में तुम्हारी निर्मल बुद्धि दिखाई पड़ रही है ।। २६ ।।

विमर्श—वचन की विशदता में ही बुद्धि का वैशद्य भी दिखाई पड़ता है । यहाँ उपमा अलङ्कार है ।

अथ युग्मेनाह—

स्फुटता न पदैरपाकृता न च न स्वीकृतमर्थगौरवम् ।
रचिता पृथगर्थता गिरां न च सामर्थ्यमपोहितं क्वचित् ।। २७ ।।

स्फुटतेति । पदैः सुप्तिङन्तशब्दैः स्फुटता विशदार्थता नापाकृता न त्यक्ता । अर्थगौरवमर्थभूयस्त्वं च न न स्वीकृतम् । स्वीकृतमेवेत्यर्थः । वैशद्यप्रसक्तार्थ-गौरवाभावनिवर्तनार्थे नञ्द्वयम् । 'सम्भाव्यनिषेधनिवर्त्तने द्वौ प्रतिषेधौ' इति वामनः । गिरां पदानामवान्तरवाक्यानां च पृथगर्थता भिन्नार्थता । अपुनरुक्तार्थतेति यावत् । रचिता कृता । तथा क्वचिदपि सामर्थ्यं गिरामन्योऽन्यसाकाक्षत्वं नापोहितं न वर्जितम् । अन्यथा दशदाडिमादिशब्दवदेकवाक्यता न स्याद् । यथाऽऽहुः—'अर्थैकत्वादेकं वाक्यं सापेक्षेचेद्विभागे स्याद्' इति । नन्वर्थगौरवमित्यत्र कथं षष्ठीसमासः, 'पूरणगुण—'इत्यादिना प्रतिषेधाद् । नैष दोषः । ये शुक्लादयः शब्दा गुणे गुणिनि च वर्त्तन्ते यथा पटस्य शौक्ल्यं शुक्लः पट इति च तेषामेवात्र निषेधाद् । ये पुनः स्वतो गुणमात्रवचना यथा गौरवं प्राधान्यं रसो गन्धः स्पर्श इत्येवमादयः, तेषामनिषेधात् । तथा 'तत्स्थैश्च गुणैः षष्ठी समस्यते' इति वचनाद् बहुलमभियुक्तप्रयोगदर्शनाच्च । बलाकायाः शौक्ल्यभित्यादौ तु भाष्यकारवचनादसमासः । अत एवाह वामनः—'पत्र पीतिमादिषु गुणवचनसमासो बालिश्याद्' इति ।। २७ ।।

उपपत्तिरुदाहृता बलादनुमानेन न चागमः क्षतः ।
इदमीदृगनीदृगाशयः प्रसभं वक्तुमुपक्रमेत कः ।। २८ ।।

अन्वयः—पदैः स्फुटता न अपाकृता । अर्थगौरवं च न । स्वीकृतम् न । गिरां पृथगर्थता रचिता । क्वचित् सामर्थ्यं न अपोहितम् । बलाद् उपपत्तिः उदाहृता । अनुमानेन आगमः च न क्षतः । ईदृग् इदम् अनीदृगाशयः कः प्रसभं वक्तुम् उपक्रमेत ।। २७-२८ ।।

उपपत्तिरिति । किञ्च बलाद् बलमाश्रित्य । कर्मणि ल्यब्लोपे पञ्चमी वक्तव्या उपपत्तिर्युक्तिरुदाहृता । पराक्रमपक्ष एव श्रेयानिति युक्तिरुक्तेत्यर्थः । उचितं चैतन्महावीरस्येति भावः । तथाऽनुमानेन युक्त्याऽऽगमः शास्त्रं च न क्षतो न हतः । किन्त्वागमाविरुद्धमेवोक्तम् । अन्यथा—तद्विरोधानुमानस्यैव प्रामाण्यभङ्गादिति भावः । ईदृगित्यं क्षात्रयुक्तमिदं वचनमविद्यमान इदृगाशय इत्थं क्षात्रयुक्ताभिप्रायो यस्य सोऽनीदृगाशयः । 'अभिप्रायश्छन्द आशयः' इत्यमरः । कः प्रसभं हठाद्वक्तुमुपक्रमेत । न कोऽपीत्यर्थः । इत्थं वक्तुमुपक्रमितैव नास्ति । वक्ता तु दूरापास्त एवेति भावः । केचिदेतच्छ्लोकत्रयं निन्दापरत्वेनापि योजयन्ति । तदसद् । हितोपदेशमात्रतत्परस्यातिवत्सलस्य राज्ञो मत्सरिण इव महावीरे भ्रातरि विधेये सर्वानर्थमूलभूत निन्दातात्पर्य कल्पनाऽनौचित्यादिति ।। २८ ।।

हिन्दी—तुम्हारी बातों में पदों के द्वारा विशद अर्थ की स्पष्टता कहीं छिपी नहीं है, अर्थ की गम्भीरता कहीं अस्वीकृत नहीं हुई है, पदों तथा वाक्यों में पूर्वापर का सम्बन्ध सुन्दर हुआ है अर्थात् अप्रासंगिक बातें नहीं आने पाई हैं तथा कहीं भी वाणी की समर्थता अप्रकट नहीं है । बुद्धि, बल तथा तर्कों से वह परिपूर्ण है । युक्तियों अथवा तर्कों से शास्त्रों का कहीं विरोध नहीं है । इस प्रकार तुम्हारी यह बातें तुम्हारे क्षात्र-धर्म के सर्वथा योग्य हैं । इस प्रकार कट्टर क्षात्रधर्म के पक्षपाती जो लोग नहीं है, वे इस प्रकार की बातें कहने का साहस भी नहीं कर सकते । (कहना तो दूर की बात है) ।। २७-२८ ।।

विमर्श—युधिष्ठिर भीम को प्रसन्न करने के लिए पहले उनके भाषण चातुर्य की प्रशंसा करते हैं । अच्छे वक्ता में जो-जो विशेषताएँ होनी चाहिए, कवि ने इस संक्षेप संवाद में उन सब को रख दिया है । पूर्व श्लोक में दीपक तथा पर श्लोक में अर्थापत्ति अलङ्कार है ।

यदि साधूक्तं तर्हि तथैव क्रियतामित्याशङ्क्याह—

अवितृप्ततया तथाऽपिमे हृदयं निर्णयमेव धावति ।
अवसाययितुं क्षमाः सुखं न विधेयेषु विशेषसम्पदः ।। २९ ।।

अन्वयः—तथाऽपि अवितृप्तया मे हृदयम् निर्णयम् एव धावति । विधेयेषु विशेषसम्पदः सुखम् अवसाययितुं न क्षमाः ।। २९ ।।

अवितृप्ततयेति । तथाऽपि त्वया सम्यङ्निर्णीतेऽपि मे हृदयमवितृप्ततयाऽसन्तुष्टतया । अद्यापि संशयगतत्वेनेत्यर्थः । निर्णयममेव धावत्यनुसरति । अपेक्षत इति यावद् । अद्यापि निर्णयस्यानुदयादिति भावः । निर्णयानुदये हेतुमाह—अवेति । विधेयेषु सन्धिविग्रहादिकर्त्तव्यार्थेषु या विशेषसम्पदोऽवान्तरभेदभूमानस्ताः सुखमक्लेशेनावसाययितुम् । पुरुषान् प्रत्यानुकूल्येन स्वस्वरूपं स्वयमेव शीघ्रं प्रत्याययितुमित्यर्थः । स्यतेर्ण्यन्तादणिकर्मकर्तृकात्तुमुन् । णेरणादिसूत्रस्यायं विषयः ।

क्षमन्त इति क्षमाः । पचाद्यच् । शक्ता न भवन्ति । 'क्षमं शक्ते हिते त्रिषु' इत्यमरः । विधेयमात्रस्य सुगमत्वेऽपि तद्विशेषाणां सौक्ष्म्याद्बाहुल्याच्च दुर्ज्ञेयत्वादद्यापि निर्णयाकाङ्क्षेति तात्पर्यार्थः । अत्र निर्णयधावनं प्रत्युत्तरवाक्यार्थस्य हेतुत्वाभिधानाद्वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः । तदुक्तं—'हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गमुदाहृतम्' इति ।। २९ ।।

हिन्दी—(यद्यपि तुमने सभी बातों का अच्छी तरह निर्णय कर दिया है) तथापि संशयग्रस्त होने के कारण मेरा हृदय अभी तक निर्णय का विचार ही कर रहा है । सन्धि-विग्रह आदि कर्त्तव्यों के निर्णय में, उनके भीतर आने वाली विशेष्या सम्पत्तियाँ अनायास ही अपना स्वरूप प्रकट करने में समर्थ नहीं होतीं ।। २९ ।।

विमर्श—मुख्य कार्य करने का निश्चय करने के पहले उस कार्य के भीतर आने वाली छोटी-मोटी बातों का भी गहराई से विचार कर लेना चाहिए, क्योंकि वे सब सरलतापूर्वक समझ में नहीं आतीं । यहाँ काव्यलिङ्ग अलङ्कार है ।

वस्तुविशेषावधारणमन्तरेणैव प्रवृत्तिरित्याशङ्क्याह—

सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम् ।
वृणते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः ।। ३० ।।

अन्वयः—क्रियां सहसा न विदधीत । अविवेकः आपदां परम् पदम् । हि गुणलुब्धाः सम्पदः विमृश्यकारिणं स्वयम् एव वृणते ।। ३० ।।

सहसेति । क्रियत इति क्रिया कार्यं सहसा । अविमृश्येत्यर्थः । 'सहसेत्याकस्मिकाविमर्शयोः' इति गणव्याख्याने स्वरादिपाठादव्ययम् । न विदधीत न कुर्वीत । कुतः । अविवेकोऽविमृश्यकारित्वं परमत्यन्तमापदां पदं स्थानम् । कारणमित्यर्थः । व्यतिरेकेणोक्तमर्थमन्वयेनाह—वृणत इति । गुणलुब्धा गुणगृध्नव इति स्वयंवरहेतूक्तिः । सम्पदः श्रियः । विमृश्य करोतीति विमृश्यकारी । 'उपपदमतिङ्' इति समासः । तं स्वयमेव वृणते भजन्ते हि । 'वृङ् संभक्तौ' इति धातुः । तस्माद्विमृश्येव प्रवर्त्तितव्यमित्यर्थः । अत्र सहसाविधाननिषेधलब्धविमृश्यकारित्वरूपकारणस्यापद् रूपव्यतिरेककार्येण समर्थनाद्वैधर्म्येणार्थान्तरन्यासः । द्वितीयार्धेन च स एव साधर्म्येणेति ज्ञेयम् ।। ३० ।।

हिन्दी—बिना सोच-विचार किये एकाएक किसी भी कार्य को आरम्भ नहीं करना चाहिए । विचार न करना विपत्तियों का प्रमुख स्थान है, क्योंकि गुणों पर अपने आप को समर्पण करने वाली सम्पत्तियाँ विचारशील पुरुष को स्वयमेव वरण कर लेती हैं ।। ३० ।।

विमर्श—बिना अच्छी तरह विचार किये किसी कार्य को आरम्भ कर देना विपत्तियों को निमन्त्रण देना है । अतः हमें भी अच्छी तरह विचार करके ही अपना कर्त्तव्याकर्त्तव्य निश्चित करना चाहिये । यहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ।

ननु साहसिकस्यापि फलसिद्धिर्दृश्यत एव । तत्किं विवेकेनेत्यत्राह—

अभिवर्षति योऽनुपालयन्विधिबीजानि विवेकवारिणा ।
स सदा फलशालिनीं क्रियां शरदं लोक इवाधितिष्ठति ।। ३१ ।।

अन्वयः—यः विधिबीजानि विवेकवारिणा अनुपालयन् अभिवर्षति सः लोकः फलशालिनीम् शरदम् इव क्रियाम् सदा अधितिष्ठति ।। ३१ ।।

अभीति । यः पुमान् । विधीयन्त इति विधयः कृत्यवस्तूनि बीजानीवेत्युपमितसमासः । शरदं लोक इवेति वाक्यगतोपमाऽनुसारात् । तानि विधिबीजानि । विवेकोवारीव तेन विवेकवारिणा । पूर्ववत्समासः । अनुपालयन् प्रतीक्षमाणः संरक्षन्नभिवर्षति सिञ्चति । स पुमान् । फलं साधननिष्पाद्योऽर्थः, सस्यं च 'सस्ये हेतुकृते फलम्' इत्युभयत्राप्यमरः । तच्छालिनीं क्रियां कर्म लोको जनः । 'लोकस्तु भुवने जने' इत्यमरः । शरदमिव सदा नित्यमधितिष्ठति । सदा क्रियाफलं प्राप्नोत्येव । न कदाचिद्व्यभिचरतीत्यर्थः । साहसिकस्य काकतालीयन्यायेन फलसिद्धिर्विवेकिनस्तु नियतेति भावः । अत्र फलशब्देन सस्यहेतुकृतयोरर्थयोरभेदाध्यवसायाच्छ्लेषमूलातिशयोक्तिस्तदनुगृहीता चोपमेत्यनुसन्धेयम् ।। ३१ ।।

हिन्दी—जो कर्त्तव्य-कर्म रूपी बीज को अपने विवेक-रूपी जल से (फल की) प्रतीक्षा करते हुए भली भाँति सींचता है, वह मनुष्य फलों (पके अन्नों) की शोभा से समलङ्कृत शरद् ऋतु की भाँति, (फलसिद्धि से समन्वित अपने) कर्म को सदा प्राप्त करता है ।। ३१ ।।

विमर्श—जिस प्रकार वर्षा ऋतु के आरम्भ में बोए गए अन्न से शरद् ऋतु में कृषकों को प्रचुर अन्नराशि मिलती है, उसी प्रकार विचारपूर्वक आरम्भ किए गए कर्म से भी यथासमय सफलता प्राप्त होती है ।

एकाएक कार्य आरम्भ करने वालों को कभी-कभी ही सफलता प्राप्त होती है, किन्तु विचारशीलों के लिए तो वह निश्चित ही है । श्लेषमूलातिशयोक्ति और उसी के द्वारा उत्थापित उपमा अलङ्कार की संसृष्टि ।

नियता विवेकिनः फलसिद्धिरित्युक्तम् । सम्प्रति तामेव रुच्यर्थं स्तौति—

शुचि भूषयति श्रुतं वपुः प्रशमस्तस्य भवत्यलंक्रिया ।
प्रशमाभरणं पराक्रमः स नयापादितसिद्धिभूषणः ।। ३२ ।।

अन्वयः—शुचि श्रुतं वपुः भूषयति प्रशमः तस्य अलंक्रिया भवति । पराक्रमः प्रशमाभरणम् । सः नयापादितसिद्धिभूषणः ।। ३२ ।।

शुचीति । शुचि संप्रदायशुद्धं श्रुतं शास्त्रश्रवणं कर्तृ वपुर्भूषयति । अन्यथा विद्वान् पुरुषः शोच्य इति भावः । तस्य श्रुतस्य प्रशमः क्रोधोपशान्तिरलङ्क्रिया भूषणं

भवति । अन्यथा श्रुतवैफल्यादिति भावः । पराक्रमः सत्यवसरे शौर्य प्रशमस्याभरणं भवति । अन्यथा सर्वैः परिभूयत इति भावः । स पराक्रमः । नयापादिता नीति-सम्पादिता विवेकपूर्विकेति यावत् । सा चासौ सिद्धिश्च सैव भूषणं यस्य स तथोक्तः । अन्यथा साहसिकस्य सिद्धिः काकतालीयत्वेन पक्षे पराक्रमवैयर्थ्य स्यादिति भावः । 'वपुषो भूष्यतैवात्र सिद्धेर्भूषणतैव तु । उभयं मध्यमानां तु तेषां पूर्वोत्तरेच्छया' ।। इति विवेकः । एवं विशिष्टसिद्धेरनन्यभूषिताया एव भूषणत्वोक्त्या सर्वोत्तरतया स्तुति-र्गम्यते । अत्रोत्तरोत्तरस्य पूर्वपूर्वविशेषणत्वादेकावल्यलङ्कारः । तदुक्तं—

'यत्र विशेषणभावं पूर्वं पूर्वं प्रति क्रमेणैव ।
भजति परं परमेषाऽलङ्कृतिरेकावली कथिता' ।। इति ।। ३२ ।।

हिन्दी—गुरु-सम्प्रदाय से पवित्र शास्त्रों का श्रवण अथवा अभ्यास शरीर को सुशोभित करता है । क्रोध की शान्ति करना उस शास्त्रज्ञान का अलङ्करण करना है । पराक्रम अथवा ऐश्वर्य उस क्रोध-शक्ति को शोभा देने वाला है और वह पराक्रम नीतिपूर्वक सम्पन्न की गयी सफलता का आभूषण है ।। ३२ ।।

विमर्श—यहाँ एकावली अलङ्कार है ।

'विमृश्य कुर्यादि'ति स्थितम् । तत्र विमर्शोपायः कः? इत्युक्ते शास्त्रमेवेत्याह —

मतिभेदतमस्तिरोहिते गहने कृत्यविधौ विवेकिनाम् ।
सुकृतः परिशुद्ध आगमः कुरुते दीप इवार्थदर्शनम् ।। ३३ ।।

अन्वयः—मतिभेदतमस्तिरोहिते गहने कृत्यविधौ विवेकिनां सुकृतः परिशुद्धः आगमः दीपः इव अर्थदर्शनम् कुरुते ।। ३३ ।।

मतीति । मतिभेदः कार्यविप्रतिपत्तिः । मतिभेदस्तम इवेत्युपमितसमासः । दीप इवेत्युपमाऽनुसारात् । तेन तिरोहित आच्छन्नेऽत एव गहने दुरवगाहे कृत्यविधौ कार्यानुष्ठाने विवेकिनां सुकृतः सदभ्यस्तोऽत एव परिशुद्धो निश्चितोऽन्यत्र सुविहितः प्रवातादिदोषरहितश्च । आगमः शास्त्रम् । 'आगमः शास्त्र आयतौ' इति विश्वः । दीप इवार्थदर्शनं कार्यज्ञानं वस्तुप्रतिभासनं च कुरुते ।। ३३ ।।

हिन्दी—(कार्य की सफलता के सम्बन्ध में उत्पन्न) बुद्धिभेद-रूपी अन्धकार से आच्छादित होने के कारण दुर्गम कार्य-निष्पत्ति में विवेकी पुरुषों का भली भाँति अभ्यस्त एवं निश्चित शास्त्रज्ञान (सुशोभित एवं वायु आदि के झकोरों से रहित) दीपक की भाँति कर्त्तव्य-पथ को अवलोकित कराता है ।। ३३ ।।

विमर्श—जिस प्रकार अँधेरे पथ को वायु आदि के विघ्नों से रहित दीपक आलोकित करता है उसी प्रकार विवेकी पुरुष का शास्त्रज्ञान भी कर्त्तव्याकर्त्तव्य के व्यामोह में पड़े व्यक्ति का पथ-प्रदर्शन करता है ।

यहाँ पूर्णोपमा अलङ्कार है ।

एवं विमृश्य कुर्वतो दैवादनर्थागमोऽपि न कश्चिदपराध इत्याह—

स्पृहणीयगुणैर्महात्मभिश्चरिते वर्त्मनि यच्छतां मनः ।
विधिहेतुरहेतुरागसां विनिपातोऽपि समः समुन्नतेः ।। ३४ ।।

अन्वयः—स्पृहणीयगुणैः महात्मभिः चरिते वर्त्मनि मनः यच्छताम् । विधिहेतुः आगसाम् अहेतुः विनिपातः अपि समुन्नतेः समः ।। ३४ ।।

स्पृहणीयेति । स्पृहणीयगुणैर्लोकश्लाघ्यगुणैर्महात्मभिः सज्जनैश्चरितेऽनुष्ठिते वर्त्मन्याचारे मनो यच्छतां निदधताम् । सन्मार्गेण व्यवहरतामित्यर्थः । विधिहेतुर्दैवनिमित्तकः । 'विधिविधाने दैवे च' इत्यमरः । अत एवागसामपराधानामहेतुर्विनिपातो दैविकानर्थोऽपि । 'विनिपातोऽवपाते स्याद् दैवादिव्यसनेऽपि च' इति विश्वः । समुन्नतेरतिवृद्धेः समस्तुल्यः । दैविकेषु पुरुषस्यानुपालभ्यत्वादिति भावः । यथाऽऽह कामन्दकः—'यत्तु सम्यगुपक्रान्तं कार्यमेति विपर्ययम् । पुरुषस्त्वनुपालभ्यो दैवान्तरितपौरुषः' ।। इति ।। ३४ ।।

हिन्दी—प्रशंसनीय गुणों से सुशोभित महापुरुषों द्वारा आचरित (अङ्गीकृत) पथ पर मन लगाने वाले व्यक्तियों की, उनके अपराधों के कारण नहीं, प्रत्युत दैव द्वारा पैदा की गई असफलता भी उनकी उन्नति के समान ही होती है ।। ३४ ।।

विमर्श—प्रशस्त गुण वाले महापुरुषों के द्वारा आचरित पथ के अवलम्बन कर्त्ता व्यक्ति की आपत्ति या अवनति किन्हीं अपराधों के कारण नहीं होती । अदृष्ट ही उसका कारण होता है अर्थात्—दैव द्वारा असफलता प्राप्त होने पर पुरुषार्थी को उलाहना नहीं दिया जा सकता । यहाँ समालङ्कार है ।

शिवमौपयिकं गरीयसीं फलनिष्पत्तिमदूषितायतिम् ।
विगणय्य नयन्ति पौरुषं विजितक्रोधरया जिगीषवः ।। ३५ ।।

अन्वयः—जिगीषवः विजितक्रोधरया अदूषितायतिम् गरीयसीम् फलनिष्पत्तिम् विगणय्य पौरुषम् शिवम् औपयिकम् नयन्ति ।। ३५ ।।

शिवमिति । जिगीषवो विजयेच्छवो नृपा विजितक्रोधरया जितक्रोधवेगाः सन्तो गरीयसीं प्रभूतामदूषितायतिमक्षतोत्तरकालाम् । स्वन्तामित्यर्थः । फलनिष्पत्तिं फलसिद्धिं विगणय्या । फलवत्त्वं निश्चित्येत्यर्थः । पौरुषं पुरुषकारं शिवमनुकूलमौपयिकमुपायम् । विनयादित्वात्स्वार्थे ठक् । उपायाद्ध्रस्वत्वं च । नयन्ति प्रापयन्ति । पौरुषमुपायेन योजयन्तीत्यर्थः । नानिश्चितफलं कर्म कुर्वत इति भावः ।

यथाऽऽह कामन्दकः— 'निष्फलं क्लेशबहुलं सन्दिग्धफलमेव च ।
न कर्म कुर्यान्मतिमान्सदा वैरानुबन्धि च' ।। इति ।

नयतिः प्रपणार्थे द्विकर्मकः । अत्र पौरुषस्य कर्तृस्थकर्मत्वेऽप्युपायस्यातथात्वात् क्रोधं विनयत इत्यादिवत् 'कर्तृस्थे चाशरीरे कर्मणि' इत्यात्मनेपदं न भवति ।। ३५ ।।

हिन्दी—विजयाभिलाषी पुरुष अपने क्रोधावेश को वश में करके, उत्तर काल में सुख देने वाली गौरवपूर्ण कार्यसिद्धि को ध्यान में रखकर पुरुषार्थ के अनुकूल अथवा कल्याणदायी उपायों से समन्वित करते हैं ।। ३५ ।।

विमर्श—अर्थात् विजयाभिलाषी राजा क्रोध का त्याग कर अपने पुरुषार्थ को अच्छे-अच्छे उपायों से संयुक्त करते हैं, क्योंकि निश्चित फल वाले कार्य स्वयमेव प्रसिद्धि के कारण बनते हैं । यहाँ पदार्थहेतुक काव्यलिङ्ग अलङ्कार है ।

यदुक्तं 'विजितक्रोधरया' इति तदावश्यकमित्याह—

अपनेयमुदेतुमिच्छता तिमिरं रोषमयं धिया पुरः ।
अविभिद्य निशाकृतं तमः प्रभया नांशुमताऽप्युदीयते ।। ३६ ।।

अन्वयः—उदेतुम् इच्छता रोषमयं तिमिरम् धिया पुरः अपनेयम् । अंशुमता अपि प्रभया निशाकृतं तमः अविभिद्य न उदीयते ।। ३६ ।।

अपनेयमिति । उदेतुमभ्युदेतुमिच्छता राज्ञा पुरः प्रथमं रोषमयं रोषादागतम् 'मयट् च' इति मयट् । तिमिरमज्ञानं धिया विवेकबुद्ध्या करणेनापनेयमपनोद्यम् । तथा हि—अंशुमताऽपि कर्त्रा प्रभया तेजसा करणेन निशाकृतं तमो ध्वान्तमविभिद्य नोदीयते । किन्तु विभिद्यैवेत्यर्थः । सूर्यस्याप्येवं किमुतान्येषामित्यपिशब्दार्थः । इणो भावे लट् ।। ३६ ।।

हिन्दी—अभ्युदय के इच्छुक पुरुष को अपने क्रोध से उत्पन्न अन्धकार को अपनी सद्बुद्धि द्वारा दूर करना चाहिये । क्योंकि भगवान् भास्कर भी अपनी कान्ति से रात्रि के अन्धकार को बिना दूर किये उदित नहीं होते ।। ३६ ।।

विमर्श—जब परम तेजस्वी भास्कर भी ऐसा करते हैं तब साधारण मनुष्य को तो ऐसा करना (शत्रुरूप क्रोध के अन्धकार को हटाना) ही चाहिये । यहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ।

ननु दुर्बलस्यैवमस्तु, बलीयसस्तु क्रोधादेव कार्यसिद्धिरित्यत आह—

बलवानपि कोपजन्मनस्तमसो नाभिभवं रुणद्धि यः ।
क्षयपक्ष इवैन्दवीः कलाः सकला हन्ति स शक्तिसम्पदः ।। ३७ ।।

अन्वयः—बलवान् अपि यः कोपजन्मनः तमसः अभिभवं न रुणद्धि सः क्षयपक्षः ऐन्दवीः कलाः इव सकलाः शक्तिसम्पदः हन्ति ।। ३७ ।।

बलवानिति । बलवाञ्छूरोऽपि यः कोपाज्जन्म यस्य तस्य कोपजन्मनः । 'अवर्ज्यो बहुव्रीहिर्व्यधिकरणे जन्माद्युत्तरपदः' इति वामनः । तमसो मोहस्य । कृद्योगात्कर्त्तरि षष्ठी । अभिभवमाक्रामिति न रुणद्धि न निवारयति । स नृपः । क्षयस्य पक्षः क्षयपक्षः । कृष्णपक्ष ऐन्दवीरिन्दुसम्बन्धिनीः कला इव । 'कला तु षोडशो भागः'

इत्यमरः । सकलाः समग्राः शक्तिसम्पदः प्रभुमन्त्रोत्साहशक्तीस्तिस्त्रोऽपि हन्ति नाशयति ।अन्धस्य जङ्घाबलमिव क्रोधान्धस्य लोकोत्तरमपि सामर्थ्यं व्यर्थमेवेत्यर्थः । अत्र कालस्य सर्वकारणत्वात्क्षयपक्षस्य कलाक्षयकारित्वमस्त्येव । तमसस्तु तत्कालविजृम्भणात्तथा व्यपदेशः ।। ३७ ।।

हिन्दी—शूरवीर होकर भी जो मनुष्य अपने क्रोध से उत्पन्न अज्ञान-अन्धकार के आक्रमण को नहीं रोकता वह कृष्ण पक्ष में चन्द्रमा की कला की भाँति अपनी समस्त शक्ति-सम्पत्ति (प्रभुता, मन्त्रगुप्ति और उत्साह रूप तीनों शक्तियों से समन्वित सम्पत्ति) को विनष्ट करता है ।। ३७ ।।

विमर्श—क्रोधान्ध व्यक्ति की सम्पूर्ण शक्ति व्यर्थ होती है । यहाँ उपमा अलङ्कार है ।

विमृश्य कुर्वतः क्रियाप्रकारमाह—

समवृत्तिरुपैति मार्दवं समये यश्च तनोति तिग्मताम् ।
अधितिष्ठति लोकमोजसा स विवस्वानिव मेदिनीपतिः ।। ३८ ।।

अन्वयः—यः समवृत्तिः समये मार्दवम् उपैति तिग्मतां च तनोति, सः मेदिनीपतिः विवस्वान् इव ओजसा, लोकम् अधितिष्ठति ।। ३८ ।।

समेति । यः समा नातिमृदुर्नातितिग्मा धृत्तिर्यस्य स समवृत्तिः सन् समये सत्यवसरे मार्दवं मृदुवृत्तित्वमुपैति तिग्मतां तीक्ष्णवृत्तित्वं च तनोति । स मेदिनीपतिर्विवस्वानिव, ओजसा तेजसा लोकमधितिष्ठत्याक्रामति, सूर्योऽपि, ऋतुभेदेन समवृत्तिरित्यादि योज्यम् ।। ३८ ।।

हिन्दी—जो (राजा) समान भाव से (न तो अत्यन्त क्रोध से, न अत्यन्त मृदुता से) समय आने पर मृदुता (शान्ति) धारण करता है तथा (समय आने पर) तीक्ष्ण होता है वह राजा सूर्य की भाँति अपने तेज से सम्पूर्ण भूमण्डल पर आधिपत्य स्थिर रखता है ।। ३८ ।।

विमर्श—समय-समय पर मृदुता तथा तीक्ष्णता धारण करने वाला मनुष्य सूर्य की भाँति अपने तेज से सब को वशवर्ती बनाता है । यहाँ दीपक अलङ्कार से सङ्क्रान्त श्रौती पूर्णोपमा है ।

उक्तान्यथाकरणेऽनिष्टमाह—

क्व चिराय परिग्रहः श्रियां क्व च दुष्टेन्द्रियवाजिवश्यता ।
शरदभ्रचलाश्चलेन्द्रियैरसुरक्षा हि बहुच्छलाः श्रियः ।। ३९ ।।

अन्वयः—श्रियां चिराय परिग्रहः क्व? दुष्टेन्द्रियवाजिवश्यता च क्व? हि शरदभ्रचलाः बहुच्छलाः श्रियः चलेन्द्रियैः असुरक्षाः ।। ३९ ।।

क्वेति । श्रियां संपदां चिराय बहुकालं परिग्रहः स्वायत्तीकरणं क्व? इन्द्रियाणि वाजिन इवेत्युपमितसमासः । दुष्टानाममार्गधाविनामिन्द्रियवाजिनां वश्यो वशङ्गत-स्तस्य भावस्तत्ता क्व? नोभयमेकत्र तिष्ठतीत्यर्थः । कुतः । हि यस्माच्छरद-भ्रवच्चलाश्चञ्चलाः । किञ्चबहुच्छला बहुव्याजाः । बहुरन्ध्रा इति यावद् । 'छलं तु स्खलिते व्याजे' इति विश्वः । श्रियः संपदः । चलेन्द्रियैरजितेन्द्रियैरसुरक्षा रक्षितुम-शक्याः । कथञ्चित्प्राप्ता अपि श्रियो नाविनीतेषु तिष्ठन्तीत्यर्थः । वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः ।। ३९ ।।

हिन्दी—कहाँ लक्ष्मी को चिरकाल तक अपने वश में रखना और कहाँ दुष्ट घोड़ों की भाँति कुमार्ग पर दौड़ने वाली इन्द्रियों की वशवर्तिता? (दोनों की एक स्थान पर स्थिति असम्भव है, क्योंकि) शरद् ऋतु के बादलों की भाँति चञ्चल एवं अनेक छल-प्रपञ्चों से पूर्ण लक्ष्मी चञ्चल इन्द्रियों द्वारा सुरक्षित नहीं रखी जा सकती ।।३९।।

विमर्श—अर्थात् किसी प्रकार से एक बार प्राप्त की गई लक्ष्मी चञ्चल इन्द्रिय वालों के वश में चिरकाल तक नहीं ठहर सकती । यहाँ वाक्यार्थहेतुक काव्यलिङ्ग अलङ्कार है ।

क्रोधस्य दुष्टतामुक्त्वा तस्य त्यागमुपदिशति—

> **किमसामयिकं वितन्वता मनसः क्षोभमुपात्तरंहसः ।**
> **क्रियते पतिरुच्चकैरपां भवता धीरतयाऽधरीकृतः ।। ४० ।।**

अन्वयः—उपात्तरंहसः मनसः असामयिकं क्षोभं वितन्वता भवता धीरतया अधरीकृतः अपां पतिः किम् उच्चकैः क्रियते ।। ४० ।।

किमिति । उपात्तरंहसः, प्राप्तत्वरस्य मनसः । समयोऽस्य प्राप्तः सामयिकः 'समयस्तदस्य प्राप्तम्' इति ठञ् । स न भवतीत्यसामयिकस्तमप्राप्तकालं क्षोभं वितन्वता भवता धीरतया धैर्यगुणेन । 'मनसो निर्विकारत्वं धैर्य सत्स्वपि हेतुषु' इति रसिकाः । अधरीकृतस्तिरस्कृतः । प्रागिति शेषः । अपां पतिः समुद्रः किं किमर्थमुच्च-कैरधिकः क्रियते । न पराजितं पुनरुच्चकैः कुर्यादिति भावः । अत्र वितन्वतेति भीम-विशेषणत्वेन, अपाम्पतिपदार्थस्योच्चैःकरणे हेतुत्वोक्त्या काव्यलिङ्गमलङ्कारः ।। ४० ।

हिन्दी—वेगयुक्त मन के असामयिक क्षोभ का विस्तार करते हुए तुम धीरता में पराजित किये गए समुद्र को (अब) किसलिए ऊँचा बना रहे हो? ।। ४० ।।

विमर्श—तात्पर्य यह है कि तुम तो समुद्र से भी बढ़कर धीर-गम्भीर थे, फिर क्यों आज वेगयुक्त मन की चञ्चलता को बढ़ा रहे हो । धैर्य में तुमसे पराजित समुद्र भी क्षोभ में अपनी मर्यादा नहीं छोड़ता और तुम अपनी मर्यादा छोड़ कर उसे अपने से ऊँचा बना रहे हो । अपने से पराजित को कोई भी ऊँचा नहीं बनाना चाहता । यहाँ पदार्थहेतुक काव्यलिङ्ग अलङ्कार है ।

श्रुतमप्यधिगम्य ये रिपून् विनयन्ते न शरीरजन्मनः ।
जनयन्त्यचिराय सम्पदामयशस्ते खलु चापलाश्रयम् ॥ ४१ ॥

अन्वयः—ये श्रुतम् अधिगम्य अपि शरीरजन्मनः रिपून् न विनयन्ते ते खलु अचिराय सम्पदां चापलाश्रयम् अयशः जनयन्ति ॥ ४१ ॥

श्रुतमिति । किञ्च । ये श्रुतं शास्त्रमधिगम्यापि शरीरजन्मनः शरीरप्रभवान् रिपून्कामक्रोधादीन्न विनयन्ते न नियच्छन्ति । 'कर्तृस्थे चाशरीरे कर्मणि' इत्यात्मनेपदम् ते खल्वचिराय सम्पदां चापलाश्रयमस्थैर्यनिबन्धनमयशो दुष्कीर्त्तिं जनयन्ति । आश्रयदोषादस्थैर्य सम्पदां न स्वदोषादित्यर्थः । अजितारिषड्वर्गस्य कुतः सम्पद इति भावः ॥ ४१ ॥

हिन्दी—जो मनुष्य शास्त्रज्ञान प्राप्त करके भी अपने शरीर में उत्पन्न होने वाले काम-क्रोधादि शत्रुओं को नहीं पराजित करते, वे निश्चय ही बहुत शीघ्र सम्पत्तियों की चञ्चलता से उत्पन्न अपकीर्ति के भागी होते हैं ॥ ४१ ॥

विमर्श—जो काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर-इन छहों शरीरज शत्रुओं को वश में नहीं रख सकते उन्हें विजयश्री की अकीर्तिकरी अस्थिरता ही प्राप्त होती है । यहाँ काव्यलिङ्ग अलङ्कार है ।

तथा क्रोधात्कार्यहानिरित्याशयेनाह—

अतिपातितकालसाधना स्वशरीरेन्द्रियवर्गतापनी ।
जनवन्न भवन्तमक्षमा नयसिद्धेरपनेतुमर्हति ॥ ४२ ॥

अन्वयः—अतिपातितकालसाधना स्वशरीरेन्द्रियवर्गतापनी अक्षमा भवन्तं जनवद् नयसिद्धेः अपनेतुम् न अर्हति ॥ ४२ ॥

अतिपातितेति । अतिपातितान्यतिक्रान्तानि कालः समयोऽनुरूपः साधनानि सहायादीनि यया सा तथोक्ता । तापयतीति तापनी । कर्त्तरि ल्युट् । टित्त्वान्ङीप् । स्वस्य यच्छरीरमिन्द्रियवर्गश्च तयोस्तापन्यक्षमा क्रोधो भवन्तं जनवत्पृथग्जनमिव । 'तेन तुल्यम्—' इति वतिप्रत्ययः । तेनेवार्थो लक्ष्यते । 'तद्धितश्चासर्वविभक्तिः' इत्यव्ययम् । नयसिद्धेर्नयसाध्यफलादपनेतुं पृथक्कर्तुं नार्हति । असमयक्रोधस्यात्म-सन्तापातिरिक्तं फलं नास्तीत्यर्थः ॥ ४२ ॥

हिन्दी—उपयुक्त समय और साधनों का अतिक्रमण करने वाली तथा अपने ही शरीर तथा इन्द्रियों को कष्ट देने वाली असहिष्णुता आपको साधारण मनुष्य की भाँति न्याय द्वारा प्राप्त होने वाली सफलता से पृथक् करने में उचित नहीं प्रतीत होती ॥ ४२ ॥

विमर्श—बिना समय का क्रोध अपने ही शरीर और इन्द्रियों को सन्ताप देने के अतिरिक्त कुछ दूसरा परिणाम नहीं देता । यहाँ उपमा अलङ्कार है ।

'दुष्टः क्रोध' इत्युक्तम् । अत्र क्षमाया गुणानाह—

उपकारकमायतेर्भृशं प्रसवः कर्मफलस्य भूरिणः ।
अनपायि निबर्हणं द्विषां न तितिक्षासममस्ति साधनम् ।। ४३ ।।

अन्वयः—आयतेः भृशम् उपकारकम् भूरिणः कर्मफलस्य प्रसवः अनपायि तितिक्षासमम् द्विषां निबर्हणं साधनं न अस्ति ।। ४३ ।।

उपकारकमिति । आयतेरुत्तरकालस्य भृशमत्यन्तमुपकारकं स्थिरफलहेतुरित्यर्थः भूरिणः प्रभूतस्य कर्मफलस्य । प्रसूयतेऽनेनेति प्रसवः कारणम् । अपायि न भवतीत्यनपायि स्वयमविनश्यदेव द्विषां निबर्हणं विनाशकमेवं गुणकं साधनं तितिक्षासमं क्षमातुल्यं नास्ति । 'क्षान्तिः क्षमा तितिक्षा च' इत्यमरः । 'तिज निशाने' इति धातोः 'गुप्तिज्किद्भ्यः सन्' इति क्षमार्थे सन्प्रत्ययः । तितिक्षासममित्यनुक्तोपमेया समास आर्थी लुप्तोपमा, भृशायत्यनपायिशब्दैः साधनान्तरवैलक्षण्याद् व्यतिरेकश्च व्यज्यते । भेदप्राधान्य उपमानादुपमेयस्याधिक्ये विपर्यये च व्यतिरेकः ।। ४३ ।।

हिन्दी—परवर्ती काल में अत्यन्त उपकारी तथा प्रचुर मात्रा में कर्मफल की देने वाली, स्वयम् कभी विनष्ट न होने वाली क्षमा के समान शत्रुओं का विनाश करने वाला कोई दूसरा साधन नहीं है ।। ४३ ।।

विमर्श—अर्थात् क्षमा सबसे बड़ी अभीष्टसाधिका है । यहाँ लुप्तोपमा तथा व्यतिरेक अलङ्कार है ।

{यदि तुम्हें यह सन्देह है कि क्षमापूर्वक कालयापन करने से दुर्योधन सभी राजाओं को अपने वश में कर लेगा तो ऐसा भी नहीं समझना चाहिए, क्योंकि—}

ननु तितिक्षया कालक्षेपे दुर्योधनः सर्वान् राज्ञो वशीकुर्यादित्यत्राह—

प्रणतिप्रवणान्विहाय नः सहजस्नेहनिबद्धचेतसः ।
प्रणमन्ति सदा सुयोधनं प्रथमे मानभृतां न वृष्णयः ।। ४४ ।।

अन्वयः—सहजस्नेहनिबद्धचेतसः मानभृतां प्रथमे वृष्णयः प्रणतिप्रवणान् नः विहाय सुयोधनं सदा न प्रणमन्ति ।। ४४ ।।

प्रणतीति । सहजस्नेहेनाकृत्रिमप्रेम्णा निबद्धचेतसोऽस्मासु गाढं लग्नचित्ताः । सुयोधने तु न तथेति भावः । किं च मानभृतामहङ्कारिणां प्रथमेऽग्रेसराः । सुयोधनस्तु ततोऽपीति भावः । वृष्णयो यादवाः प्रणतिप्रवणान् प्रणामपरान् । सुयोधनस्तु न तथेति भावः । नोऽस्मान्विहाय सुयोधनं सदा न प्रणमन्ति न नमन्ति नानुसरन्ति । किन्तु कार्यकाले त्यक्ष्यन्त्येवेत्यर्थः । सति यादवविग्रहे न किञ्चिदस्माकमसाध्यं भवेदिति भावः । अनेकपदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः ।। ४४ ।।

हिन्दी—स्वाभाविक प्रेम से बँधे हुए, अभिमानियों में प्रमुख यदुवंशी लोग प्रणाम करने हम लोगों को छोड़कर दुर्योधन को सर्वदा प्रणाम नहीं करते हैं ।। ४४ ।।

विमर्श—अर्थात् दुर्योधन तो उन यदुवंशियों से भी बढ़ कर अभिमानी है, इसलिए ये यदुवंशी लोग जितना विनम्र रहने के कारण हम लोगों से स्वाभाविक प्रेम करते हैं, उतना दुर्योधन से नहीं । अत: जब कभी अवसर लगेगा वे हमारी सहायता करेंगे, दुर्योधन को छोड़ देंगे । यहाँ काव्यलिङ्ग अलङ्कार है ।

सुहृद: सहजास्तथेतरे मतमेषां न विलङ्घयन्ति ये ।
विनयादिव यापयन्ति ते धृतराष्ट्रात्मजमात्मसिद्धये ।। ४५ ।।

अन्वय:—एषां ये सहजा: सुहृद: तथा इतरे च मतं न विलङ्घयन्ति । ते आत्मसिद्धये धृतराष्ट्रात्मजं विनयाद् इव यापयन्ति ।। ४५ ।।

सुहृद इति । किं चैषां वृष्णीनां ये सहजा: सहजाता: । मातृपितृपक्षा इत्यर्थ: । 'अन्येष्वपि दृश्यते' इति डप्रत्यय: । सुहृदो मित्राणि तथेतरे कृत्रिमसुहृदश्च मतं वृष्णिपक्षं न विलङ्घयन्ति नातिक्रामन्ति । ते द्वयेऽपि नृपा: । दुर्योधनोपजीविनोऽपीति-भाव: । आत्मसिद्धये । आत्मजीवनार्थं धृतराष्ट्रात्मजं दुर्योधनं विनयादानुकूल्यादिव यापयन्ति कालं, गमयन्ति । कार्यकाले तु वृष्णिपक्षप्रवेशिन एवेत्यर्थ: । यातेर्ण्यन्ता-ल्लट् । 'अर्तिही—' इत्यादिना पुगागम: ।। ४५ ।।

हिन्दी—यही नहीं, इन यदुवंशियों के जो सहज मित्र हैं, तथा जो कृत्रिम मित्र हैं, वे इनकी (यदुवंशियों की) इच्छा का उल्लङ्घन नहीं करते । वे दोनों प्रकार के लोग तो अपने-अपने स्वार्थों के लिए धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन के साथ विनम्र जैसा व्यवहार रखते हैं ।। ४५ ।।

विमर्श—अर्थात् जब अनुकूल अवसर आयेगा तो वे सब के सब यदुवंशियों के पक्ष में होकर हमारी ही सहायता करेंगे । यहाँ दीपक और उत्प्रेक्षा की संसृष्टि है ।

किञ्च नायमभियोगकाल इत्याशयेनाह—

अभियोग इमान्महीभुजो भवता तस्य कृत: कृतावधे: ।
प्रविघाटयिता समुत्पतन् हरिदश्व: कमलाकरानिव ।। ४६ ।।

अन्वय:—कृतावधे: तस्य भवता कृत: अभियोग: इमान् महीभुज: हरिदश्व: कमलाकरान् इव समुत्पतन् प्रविघाटयिता ।। ४६ ।।

अभियोग इति । कृतावधे: परिभाषितकालस्य । 'अवधिस्त्ववसाने स्यात्सी-म्निकाले विलेऽपि च' इति विश्व: । तस्य सुयोधनस्य । कर्मणि षष्ठी । भवता कृत: । अवधित प्रागिति शेष: । अभियोग: । आर्द्राभिभव इति यावत् । 'अभियोगस्तु शपथे स्यादार्द्रे च पराभवे' इति विश्व: । इमान्पूर्वोक्तान्महीभुजो राज्ञो हरिदश्व उष्णरश्मि: कमलाकरानिव समुत्पतन्नुद्यन्नेव प्रविघाटयिता भेत्स्यति । घाटयतेर्भौवादिकाल्लट् चौरादिकस्य तु 'मितां ह्रस्व:' इति ह्रस्वत्वं स्यात् ।। ४६ ।।

{यह अभियान का उचित अवसर नहीं है, क्योंकि—}

हिन्दी—दुर्योधन ने जो हमारे वनवास की अवधि बाँध दी है, उसके भीतर यदि आप उसके (दुर्योधन के) ऊपर अभियान करते हैं तो हमारा यह कार्य इन यदुवंशी तथा इनके मित्र राजाओं को, हरे रंगों के अश्वों वाले सूर्य द्वारा कमलों की पंखुड़ियों की भाँति, उदय होते ही छिन्न-भिन्न कर देगा ।। ४६ ।।

विमर्श—अन्यायी का साथ कोई नहीं देगा और इस प्रकार आपका असमय का अभियान अपने ही पक्ष को छिन्न-भिन्न करने का कारण बन जायगा । यहाँ उपमा अलङ्कार है ।

अथ ये वृष्णिपक्षास्तान् प्रत्याह—

उपजापसहान्विलङ्घयन् स विधाता नृपतीन्मदोद्धतः ।
सहते न जनोऽप्यधःक्रियां किमु लोकाधिकधाम राजकम् ।। ४७ ।।

अन्वयः—मदोद्धतः सः नृपतीन् विलङ्घयन् उपजापसहान् विधाता । जनः अपि अधःक्रियां न सहते लोकाधिकधाम राजकं किमु ।। ४७ ।।

उपजापेति । मदोद्धतः स दुर्योधनो नृपतीनन्यान् नृपान्विलङ्घयन् मदादवमानयन् । सहन्त इति सहाः, पचाद्यच् । उपजापस्य सहान् भेदयोग्यान् । 'समौ भेदोपजापौ' इत्यमरः । विधाता विधास्यति । दधातेर्लुट् । अवमानितो जनः सुभेद्य इति भावः । न च ते सहिष्णव इत्याह—जनः प्राकृतोऽप्यधः क्रियामपमानं न सहते । लोकाधिकधाम लोकोत्तरप्रतापं राजकं राजसमूहः । 'गोत्रोक्षोष्ट्र—' इत्यादिना वुञ्प्रत्ययः । किमु । न सहत इति किं वक्तव्यमित्यर्थः । तथा सति कृत्स्नमेव राजमण्डलमस्मानेवावलम्बिष्यत इति भावः ।। ४७ ।।

{और जो यदुवंशियों के साथ नहीं है, उनका क्या होगा?}

हिन्दी—अभिमान के मद में मत वाला वह दुर्योधन अन्य राजाओं का अपमान कर उन्हें भेदयोग्य बना देगा और जब साधारण मनुष्य भी अपना अपमान नहीं सहन करते तो साधारण लोगों की अपेक्षा अधिक तेजस्वी राजा लोग फिर क्यों सहन करेंगे ? ।। ४७ ।।

विमर्श—अपमानित लोग टूट जाते ही हैं और ऐसी स्थिति में समय आने पर सम्पूर्ण राज-मण्डल हमारे पक्ष में हो जायगा ।

यहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ।

ननु 'सखीनिवे'त्यादिवनेचरोक्त्या तस्य मदसम्भावनाऽपि कथमित्यत्राह—

असमापितकृत्यसम्पदां हतवेगं विनयेन तावता ।
प्रभवन्त्यभिमानशालिनां मदमुत्तम्भयितुं विभूतयः ।। ४८ ।।

अन्वय:—असमापितकृत्यसम्पदाम् अभिमानशालिनां विभूतयः तावता विनयेन हतवेगं मदम् उत्तम्भयितुं प्रभवन्ति ।। ४८ ।।

असमापितेति । असमापितकृत्यसम्पदाम् अकृतकृत्यानामतोऽभिमानशालिनामहङ्कारिणां विभूतयः सम्पद एव तावता स्वल्पेन विनयेन । कार्यवशादारोपितेनेति शेषः । हतवेगं प्रतिबद्धवेगं न तु स्वरूपतो हतं मदमुत्तम्भयितुं वर्धयितुं प्रभवन्ति । सर्वथा दुर्जनसम्पदो विकारयन्तीति भावः ।। ४८ ।।

{यदि यह कहो कि वनवासी चर ने दुर्योधन को निरभिमानी बताया है तो ऐसा भी नहीं है—}

हिन्दी—कार्य को अधूरा छोड़ने वाले अभिमानी व्यक्तियों की सम्पत्तियाँ ऊपर से धारण किये गये स्वल्प विनय के द्वारा प्रतिहत वेग अभिमान को बढ़ाने में समर्थ हो जाती हैं ।। ४८ ।।

विमर्श—अर्थात् वह अपने स्वार्थों के कारण बगुलाभगत बना रहता है, किन्तु किसी कार्य की समाप्ति के भीतर तो उसका अभिमान प्रकट होकर ही रहता है क्योंकि थोड़ी देर के लिए चिकनी-चुपड़ी विनयभरी बातों से उसके न्यून वेग वाले अभिमान को बढ़ावा ही मिलता है । लोग समझ जाते हैं कि यह बनावटी विनयी है, सहज नहीं । यहाँ काव्यलिङ्ग अलङ्कार है ।

अथ मदस्यानर्थहेतुतां युग्मेनाह—

मदमानसमुद्धतं नृपं न वियुङ्क्ते नियमेन मूढता ।
अतिमूढ उदस्यत नयान्नयहीनादपरज्यते जनः ।। ४९ ।।

अन्वय:—मदमानसमुद्धतं नृपं मूढता नियमेन न वियुङ्क्ते । अतिमूढः नयाद् उदस्यते, नयहीनाद् जनः अपरज्यते ।। ४९ ।।

मदेति । मदमानाभ्यां दर्पाहङ्काराभ्यां समुद्धतं नृपं मूढता कार्यापरिज्ञानं नियमेनावश्यं न वियुङ्क्ते न विमुञ्चति । अतिमूढो नयान्नीतिमार्गादुदस्यत उत्क्षिप्यते । कर्मकर्त्तरि लट् । नयहीनाज्जनोऽपरज्यतेऽपरक्तो भवति । 'स्वरितञितः—' इत्यादिनाऽऽत्मनेपदम् ।। ४९ ।।

{अभिमान द्वारा होने वाले अनर्थ की चर्चा नीचे के दो श्लोकों में हैं—}

हिन्दी—दर्प और अहङ्कार से उद्धत राजा को मूर्खता अवश्य ही नहीं छोड़ती । अत्यन्त मूर्ख राजा न्याय-पथ से पृथक् हो जाता है और अन्यायी राजा से जनता अलग हो जाती है ।। ४९ ।।

विमर्श—अर्थात् कार्य का अवसर आने पर अभिमान के कारण देश के सभी राजा तथा जनता भी दुर्योधन से पृथक् हो जायगी । यहाँ कारणमाला अलङ्कार है ।

अपरागसमीरणेरितः क्रमशीर्णाकुलमूलसन्ततिः ।
सुकरस्तरुवत्सहिष्णुना रिपुरुन्मूलयितुं महानपि ॥ ५० ॥

अन्वयः—अपरागसमीरणेरितः क्रमशीर्णाऽऽकुलमूलसन्ततिः रिपुः महान् अपि तरुवत् सहिष्णुना उन्मूलयितुं सुकरः ॥ ५० ॥

अपरागेति । अपरागोऽप्रीतिः । द्वेष इति यावत् । समीरण इव । तेनेरितश्चोदितः । अत एव क्रमेण शीर्णा शीर्णीभूताऽऽकुला चला च मूलसन्ततिः प्रकृत्यादिस्वजनवर्गः शिफासङ्घातश्च यस्य स तथोक्तः । 'मूलं वशीकृते स्वीये शिफाताराऽन्तिकादिषु' इति वैजयन्ती । रिपुर्महानपि तरुवद् वृक्ष इव सहिष्णुना क्षमावतोन्मूलयितुमुद्धर्तुं सुकरः सुसाध्यः, सुकरोन्मूलन इत्यर्थः । अत्र मदादेः पूर्वपूर्वस्योत्तरोत्तरं प्रति कारणत्वात् कारणमाला, तरुवदित्युपमा चेति द्वयोः संसृष्टिः ॥ ५० ॥

हिन्दी—द्वेष की वायु से प्रेरित, धीरे-धीरे चञ्चलबुद्धि मंत्रियों आदि अनुगामियों से विनष्ट शत्रु यदि महान् भी है, तब भी (भयङ्कर तूफान से प्रकम्पित तथा क्रमशः डालियों एवं जड़ समेत विनष्ट) वृक्ष की भाँति क्षमाशील पुरुष द्वारा विनष्ट करने में सुगम हो जाता है ॥ ५० ॥

विमर्श—तात्पर्य यह है कि क्षमाशील पुरुष धीरे-धीरे बिना प्रयास के ही अपने शत्रुओं का समूल नाश कर डालता है ।

यहाँ कारणमाला और उपमा—इन दोनों अलङ्कारों की संसृष्टि है ।

नन्वन्तर्भेदमात्रेण कथं सुसाध्यस्तत्राह—

अणुरप्युपहन्ति विग्रहः प्रभुमन्तः प्रकृतिप्रकोपजः ।
अखिलं हि हिनस्ति भूधरं तरुशाखाऽन्तनिघर्षजोऽनलः ॥ ५१ ॥

अन्वयः—अणुः अपि अन्तःप्रकृतिप्रकोपजः विग्रहः प्रभुम् उपहन्ति । हि तरुशाखाऽन्तनिघर्षजः अनलः अखिलं भूधरं हिनस्ति ॥ ५१ ॥

अणुरिति । अणुरल्पोऽप्यन्तःप्रकृतिप्रकोपजोऽन्तरङ्गामात्याद्यपरागसमुत्थः । 'प्रकृतिः पञ्चभूतेषु स्वभावे मूलकारणे । छन्दःकारणगुह्येषु जन्त्वमात्यादिकेष्वपि' । इति वैजयन्ती । विग्रहो वैरं प्रभुमुपहन्ति नाशयति ।

अत्र दृष्टान्तमाह—तरुशाखाऽन्तानां निघर्षो घर्षणं तज्जोऽनलोऽग्निः । भूधरं गिरिमखिलं साकल्येन हिनस्ति हि, दहतीत्यर्थः । अत्रोपमानोपमेयसमानधर्माणां प्रतिबिम्बतया निर्देशेन दृष्टान्तालङ्कारः ॥ ५१ ॥

{यदि कहिए कि थोड़े से अन्तर्भेद के कारण वह सुसाध्य कैसे हो गया तो यह सुनिये—}

हिन्दी—अणुमात्र भी अन्तरङ्ग सचिवादि की उदासीनता से उत्पन्न वैर राजा का विनाश कर देता है । क्योंकि वृक्षों की शाखाओं के परस्पर सङ्घर्ष से उत्पन्न अग्नि (दावाग्नि) समूचे पर्वत को जला देती है ।। ५१ ।।

विमर्श—जैसे मामूली वृक्षों की डालियों की रगड़ से उत्पन्न दावाग्नि विशाल पर्वत को जला देती है, उसी प्रकार राजाओं के साधारण सेवकों में उत्पन्न पारस्परिक कटुता या विरोध राजा को नष्ट कर देता है ।

यहाँ दृष्टान्त अलङ्कार है ।

तथाऽपि कथं वर्द्धमानं शत्रुमुपेक्षेतेत्याशङ्क्य दुर्विनीतत्वादित्याह—

मतिमान्विनयप्रमाथिनः समुपेक्षेत समुन्नतिं द्विषः ।
सुजयः खलु तादृगन्तरे विपदन्ता ह्यविनीतसम्पदः ।। ५२ ।।

अन्वयः—मतिमान् विनयप्रमाथिनः द्विषः समुन्नतिं समुपेक्षेत । तादृग् अन्तरे सुजयः खलु । हि अविनीतसम्पदः विपदन्ताः ।। ५२ ।।

मतिमानिति । मतिमान् प्राज्ञः । विनयं प्रमथ्नातीति विनयप्रमाथिनो दुर्विनीतस्य द्विषः समुन्नति वृद्धिं समुपेक्षेत । उपेक्षायाः फलमाह—तादृगविनीतोऽन्तरे क्वचिद्रन्ध्रे सुजयः सुखेन जेतुं शक्यतः खलु । हि यस्मादविनीतसम्पदो विपदन्ताः विपन्मर्यादकाः । अनर्थोदर्का इत्यर्थः ।। ५२ ।।

{यद्यपि दुर्योधन का उत्कर्ष हो रहा है, तथापि इस समय तो उसकी उपेक्षा ही करना उचित है क्योंकि—}

हिन्दी—बुद्धिमान् पुरुष को चाहिये कि वह अविनयी शत्रु के अभ्युदय की उपेक्षा करे । ऐसे अविनयी को तो किसी छिद्र के द्वारा ही सुखपूर्वक जीता जा सकता है, क्योंकि अविनयशील लोगों की सम्पत्तियों की समाप्ति विपत्तियों में ही होती है ।। ५२ ।।

विमर्श—अविनयी शत्रु को उपेक्षा द्वारा ही जीता जा सकता है । यहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ।

कथं दुर्विनीतस्य शत्रोः सुजयत्वमित्याशङ्क्य भेदजर्जरितत्वादित्याह—

लघुवृत्तितया भिदां गतं बहिरन्तश्च नृपस्य मण्डलम् ।
अभिभूय हरत्यनन्तरः शिथिलं कूलमिवापगारयः ।। ५३ ।।

अन्वयः—लघुवृत्तितया बहिः अन्तः च भिदां गतं नृपस्य मण्डलम् अनन्तरः आपगारयः शिथिलं कूलम् इव अभिभूय हरति ।। ५३ ।।

लघ्विति । लघुवृत्तितया स्वस्य दुर्वृत्तरूपतया बहिर्मित्रादिजनपदेष्वन्तर-मात्यादिषु च भिदां भेदं गतम् । 'षिद्भिदादिभ्योऽङ्' इत्यङ्प्रत्ययः । नृपस्य मण्डलं

राष्ट्रमनन्तरः सन्निहितो जिगीषुरापगारयो नदीवेगः शिथिलमन्तर्भेदजर्जरं कूलमिवाभि-भूयाक्रम्य हरति ।। ५३ ।।

{अविनीत शत्रु को उपेक्षा से कैसे जीता जा सकता है—यह सुनिए ।}

हिन्दी—अपनी अविनयशीलता के कारण बाहर मित्रों में तथा भीतर सेवकों आदि में भेद पड़ जाने के कारण छिन्न-भिन्न राजा के राज्य को समीपवर्ती विजयाभिलाषी इस प्रकार से पराजित करके विनष्ट कर देता है जैसे नीचे से जर्जरित तट को नदी का वेग गिराकर नष्ट कर देता है ।। ५३ ।।

विमर्श—परस्पर भेद के कारण अविनयी राजा का विनाश सुगम रहता है । यहाँ उपमा अलङ्कार है ।

अनुशासतमित्यनाकुलं नयवर्त्माकुलमर्जुनाग्रजम् ।
स्वयमर्थ इवाभिवाञ्छितस्तमभीयाय पराशरात्मजः ।। ५४ ।।

अन्वयः—इति आकुलम् अर्जुनाग्रजम् नयवर्त्म अनाकुलम् अनुशासतं तं पराशरात्मजः अभिवाञ्छितः अर्थः इव स्वयम् अभीयाय ।। ५४ ।।

अन्विति ।इतीत्थमाकुलमरिनिकारस्मरणात्क्षुभितमर्जुनाग्रजं भीमसेनं नयवर्त्म नीतिमार्गमनाकुलमसङ्कीर्णं यथा तथाऽनुशासतमुपदिशन्तम् । 'जक्षित्यादयः षट्' इत्यभ्यस्ताच्छतुर्नुमभावः । तं युधिष्ठिरं पराशरात्मजो वेदव्यासः स्वयमभि-वाञ्छितोऽर्थ इव ।साक्षान्मनोरथ इवेत्युत्प्रेक्षा ।अभीयाय प्राप्तः ।। ५४ ।।

हिन्दी—इस प्रकार से (शत्रु द्वारा हुए अपमान का स्मरण करने के कारण) क्षुब्ध भीमसेन को सुन्दर न्याय-पथ का उपदेश करते हुए राजा युधिष्ठिर के पास मानों अभिलषित मनोरथ की भाँति वेदव्यास जी स्वयमेव आ पहुँचे ।। ५४ ।।

विमर्श—यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ।

अथ युग्मेनाह—

मधुरैरवशानि लम्भयन्नपि तिर्यञ्चि शमं निरीक्षितैः ।
परितः पटु बिभ्रदेनसां दहनं धाम विलोकनक्षमम् ।। ५५ ।।
सहसोपगतः सविस्मयं तपसां सूतिरसूतिरापदाम् ।
ददृशे जगतीभुजा मुनिः स वपुष्मानिव पुण्यसञ्चयः ।। ५६ ।।

अन्वयः—मधुरैः निरीक्षितैः अवशानि अपि तिर्यञ्चि शमं लम्भयन् परितः पटु एनसां दहनं विलोकनक्षमं धाम बिभ्रत् । सहसा उपगतः तपसां सूतिः आपदाम् असूतिः सः मुनिः वपुष्मान् पुण्यसञ्चयः इव जगतीभुजा सविस्मयं ददृशे ।। ५५-५६ ।।

मधुरैरिति । मधुरैः शान्तैर्निरीक्षितैरवलोकनैः । नपुंसके भावे क्तः । न विद्यते वशमायत्तत्वं येषां तान्यवशानि प्रतिकूलानि । 'वशमायत्ततायां च' इति विश्वः । तिर्यञ्चि मृगपक्ष्यादीनि शमं शान्तिं लम्भयन् प्रापयन् । 'लभेश्च' इति नुमागमः । 'गत्यर्थ—' इत्यादिना द्विकर्मकत्वम् । परितः पटूज्ज्वलमेनसाम् । दह्यतेऽनेनेति दहनं निवर्तकं तथाऽपि विलोकनक्षमं दर्शनीयम् । वह्न्यादिविलक्षणमिति भावः । धाम तेजो बिभ्रत् ।। ५५ ।।

सहसेति । पुनः सहसोपगतोऽकस्मादागतस्तपसां सूतिः प्रभव आपदामसूतिरप्रभवः । निवर्तक इति यावत् । स मुनिर्व्यासो वपुष्मान् देहधारी पुण्यसञ्चयः पुण्यराशिरिवेत्युत्प्रेक्षा । जगतीभुजा राज्ञा सविस्मयं ददृशे दृष्टः ।। ५६ ।।

हिन्दी—अपने शान्तिपूर्ण दृष्टिनिःक्षेप से प्रतिकूल स्वभाव के पशु-पक्षियों को भी शान्ति दिलाते हुए, चारों ओर से उज्ज्वल रूप में चमकते एवं पाप कर्मों को जलाते हुए अवलोकनीय तेज को धारण करने वाले, अकस्मात् आए हुए, तपस्या के मूल कारण तथा आपत्तियों के निवारणकर्त्ता उन भगवान् वेदव्यास को मानों शरीरधारी पुण्यपुञ्ज की भाँति राजा युधिष्ठिर ने बड़े विस्मय के साथ देखा ।। ५५-५६ ।।

विमर्श—यहाँ द्वितीय श्लोक में उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ।

अथोच्चकैरासनतः परार्ध्यादुद्यन् स धूतारुणवल्कलाग्रः ।
रराज कीर्णाकपिशांशुजालः शृङ्गात्सुमेरोरिव तिग्मरश्मिः ।। ५७ ।।

अन्वयः—अथ उच्चकैः परार्ध्याद् आसनतः उद्यन् धूतारुणवल्कलाग्रः सः कीर्णाकपिशांशुजालः सुमेरोः शृङ्गात् तिग्मरश्मिः इव रराज ।। ५७ ।।

अथेति । अथ दर्शनानन्तरम् । उच्चकैरुन्नतात्परार्ध्याच्छ्रेष्ठाद् । 'अर्धाद्यत्' । 'परावराधमोत्तमपूर्वाच्च' इति यत्प्रत्ययः । आसनतः सिंहासनादुद्यन्नुत्तिष्ठन्नत एव धूतानि कम्पितान्यरुणानि वल्कलाग्राणि यस्य स तथोक्तः । स नृपः कीर्णं विस्तृतमाकपिशमंशुजालं यस्य स तथोक्तः । सुमेरोः शृङ्गादुद्यंस्तिग्मरश्मिरिव रराज ।। ५७ ।।

हिन्दी—इसके बाद (वेदव्यास जी के स्वागतार्थ) अपने श्रेष्ठ ऊँचे सिंहासन से उठते हुए राजा युधिष्ठिर के लाल रंग के वल्कल का अग्रभाग हिलने लगा । और उस समय वह पीले रंग की किरण-पुञ्जों को विस्तृत करने वाले सुमेरु पर्वत से ऊपर उठते हुए सूर्य की भाँति सुशोभित हुए ।। ५७ ।।

विमर्श—जिस प्रकार से सुमेरु के शिखर से ऊँचे उठते हुए सूर्य सुशोभित होते हैं, उसी प्रकार अपने ऊँचे सिंहासन से भगवान् वेदव्यास के स्वागतार्थ उठते हुए राजा युधिष्ठिर सुशोभित हुए । यहाँ उपमा अलङ्कार है ।

अवहितहृदयो विधाय सोऽर्हामृषिवदृषिप्रवरे गुरूपदिष्टाम् ।
तदनुमतमलञ्चकार पश्चात् प्रशम इव श्रुतमासनं नरेन्द्रः ॥५८ ॥

अन्वयः—सः नरेन्द्रः अवहितहृदयः ऋषिप्रवरे ऋषिवद् गुरूपदिष्टाम् अर्हां विधाय पश्चात् तदनुमतम् आसनम् प्रशमः श्रुतम् इव अलञ्चकार ॥ ५८ ॥

अवहितेति । स नरेन्द्रोऽवहितहृदयोऽप्रमत्तचित्तः सन् । ऋषिप्रवरे मुनिश्रेष्ठे ऋषिवदृष्यर्हाम् । अर्हार्थे वतिप्रत्ययः । गुरूपदिष्टाम् । शास्त्रीयामित्यर्थः । अर्हां पूजाम् । 'गुरोश्च हलः' इत्यकारप्रत्ययः । विधाय पश्चादनन्तरं तदनुमतं तेनानुज्ञात-मासनम् । प्रशमः शान्तिः श्रुतं शास्त्रश्रवणमिव । अलञ्चकार । उक्तं च—'प्रशमस्तस्य भवत्यलंक्रिया' इति । मुन्याज्ञयोपविष्टवानित्यर्थः ॥५८ ॥

हिन्दी—राजा युधिष्ठिर ने शान्तचित्त से ऋषिप्रवर वेदव्यास जी की आचार्य द्वारा उपदिष्ट शास्त्रीय विधि से पूजा करने के अनन्तर उनकी आज्ञा से अपने सिंहासन को इस प्रकार से सुशोभित किया, जिस प्रकार से क्षमा शास्त्रीय ज्ञान को सुशोभित करती है ॥ ५८ ॥

विमर्श—जिस प्रकार से क्षमा शास्त्रज्ञान को सुशोभित करती है उसी प्रकार से युधिष्ठिर ने वेदव्यास जी की आज्ञा से अपने सिंहासन को सुशोभित किया । यहाँ उपमा अलङ्कार है ।

व्यक्तोदितस्मितमयूखविभासितोष्ठ-
स्तिष्ठन्मुनेरभिमुखं स विकीर्णधाम्नः ।
तन्वन्तमिद्धमभितो गुरुमंशुजालं
लक्ष्मीमुवाह सकलस्य शशाङ्कमूर्त्तेः ॥५९ ॥

॥ इति भारविकृतौ महाकाव्ये किरातार्जुनीये द्वितीयः सर्गः ॥ २ ॥



अन्वयः—व्यक्तोदितस्मितमयूखविभासितोष्ठः विकीर्णधाम्नः मुनेः अभिमुखं तिष्ठन् सः इद्धम् अंशुजालं तन्वन्तं गुरुम् अभितः सकलस्य शशाङ्कमूर्त्तेः लक्ष्मीम् उवाह ॥ ५९ ॥

व्यक्तेति । व्यक्तोदितैः स्फुटोद्गतैः स्मितमयूखैर्विभासितावोष्ठौ यस्य स तथोक्तः । विकीर्णधाम्नो विस्तीर्णतेजसो मुनेरभिमुखं तिष्ठन् स नृपः । इद्धं दीप्तमंशुजालं तन्वन्तं गुरुं गीष्पतिम् । 'गुरुर्गीष्पतिपित्रादौ' इत्यमरः । 'अभितः परितः—' इत्यादिना द्वितीया । अभितोऽभिमुखम् । तिष्ठत इति शेषः । सकलस्य संपूर्णस्य

शशाङ्का मूर्त्तिर्यस्य तस्येन्दोर्लक्ष्मीमुवाह वहति स्म । अत्रोपमेयस्य राज्ञ उपमानेन्दुधर्मेण लक्ष्म्या: साक्षात्सम्बन्धासम्भवात्तत्सदृशीं लक्ष्मीमिवेति प्रतिबिम्ब-करणाक्षेपादसम्भवद्वस्तुसम्बन्धात्पदार्थवृत्तिर्निदर्शनालङ्कार: । तदुक्तम्—

'प्रतिबिम्बस्याकरणं सम्भवता यत्र वस्तुयोगेन ।
तत्साम्यमसम्भवता निदर्शना सा द्विधाऽभिमता' ।। इति ।। ५९ ।।

।। इति श्रीमहामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितायां किरातार्जुनीयकाव्य व्याख्यायां घण्टापथसमाख्यायां द्वितीय: सर्ग: समाप्त: ।। २ ।।



हिन्दी—मुस्कराने के कारण छिटकी हुई दाँत की किरणों से राजा युधिष्ठिर के दोनों ओंठ उद्भासित हो रहे थे । उस समय चतुर्दिक व्याप्त तेज वाले वेदव्यास जी के सम्मुख बैठे हुए वह प्रदीप्त तेज की किरण-पुञ्जों को फैलाते हुए वृहस्पति के सम्मुख बैठे पूर्ण चन्द्रमा की कान्ति को धारण कर रहे थे ।। ५९ ।।

विमर्श—देवगुरु बृहस्पति के सम्मुख बैठे हुए चन्द्रमा के समान राजा युधिष्ठिर सुशोभित हो रहे थे । यहाँ पदार्थवृत्ति निदर्शना तथा उपमा अलङ्कार है । वसन्ततिलका छन्द है ।

।। इस प्रकार श्रीभारविकृत किरातार्जुनीयम् महाकाव्य के द्वितीय सर्ग की डॉ सुधाकर मालवीय कृत हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ।। २ ।।



तृतीयः सर्गः

अथ त्रिभिर्मुनिं विशिंषंश्चतुर्भिः कलापकमाह । तदुक्तं—'द्वाभ्यां युग्ममिति प्रोक्तं त्रिभिः श्लोकैर्विशेषकम् । कलापकं चतुर्भिः स्यात्तदूर्ध्वं कुलकं स्मृतम्' ।। इति।

ततः शरच्चन्द्रकराभिरामैरुत्सर्पिभिः प्रांशुमिवांशुजालैः ।
बिभ्राणमानीलरुचं पिशङ्गीर्जटास्तडित्वन्तमिवाम्बुवाहम् ।। १ ।।
प्रसादलक्ष्मीं दधतं समग्रां वपुःप्रकर्षेण जनातिगेन ।
प्रसह्य चेतःसु समासजन्तमसंस्तुतानामपि भावमार्द्रम् ।। २ ।।
अनुद्धताकारतया विविक्तां तन्वन्तमन्तःकरणस्य वृत्तिम् ।
माधुर्यविस्रम्भविशेषभाजा कृतोपसम्भाषमिवेक्षितेन ।। ३ ।।
धर्मात्मजो धर्मनिबन्धिनीनां प्रसूतिमेनःप्रणुदां श्रुतीनाम् ।
हेतुं तदभ्यागमने परीप्सुः सुखोपविष्टं मुनिमाबभाषे ।। ४ ।।

अन्वयः—ततः शरच्चन्द्रकराभिरामैः उत्सर्पिभिः अंशुजालैः प्रांशुम् इव आनीलरुचम् पिशङ्गीः जटाः बिभ्राणं तडित्वन्तम् अम्बुवाहम् इव । समग्रां प्रसादलक्ष्मीं दधतं जनातिगेन वपुःप्रकर्षेण असंस्तुतानाम् अपि चेतःसु आर्द्रं भावं प्रसह्य समासजन्तम्, अनुद्धताकारतया अन्तःकरणस्य वृत्तिं विविक्तां तन्वन्तम् माधुर्यविस्रम्भविशेषभाजा ईक्षितेन कृतोपसम्भाषम् इव । धर्मनिबन्धिनीनाम् एनःप्रणुदां श्रुतीनाम् प्रसूतिं सुखोपविष्टं मुनिम् तदभ्यागमने हेतुं परीप्सुः धर्मात्मजः आबभाषे ।। १-४ ।।

तत इति । तत उपवेशानन्तरं धर्मात्मजो युधिष्ठिरः शरच्चन्द्रकराभिरामैः । आह्लादकैरित्यर्थः । उत्सर्पिभिरूर्ध्वं प्रसारिभिरंशुजालैः प्रांशुमुन्नतमिव स्थितमित्युत्प्रेक्षा । पुनरानीलरुचं कृष्णवर्णं पिशङ्गीः पिङ्गलवर्णाः । गौरादित्वान् ङीष् । जटा बिभ्राणं धारयन्तमत एव तडित्वन्तं विद्युद्युक्तमम्बुवाहमिव स्थितमित्युत्प्रेक्षा ।। १ ।।

प्रसादेति । पुनः समग्रां संपूर्णां प्रसादः सौम्यता तस्य लक्ष्मीं सम्पदं दधतम् । अत एव जनमतिगच्छतीति जनातिगेन लोकातिशायिना । 'अन्येष्वपि दृश्यते' इति डप्रत्ययः । वपुःप्रकर्षेणाकारसंपदाऽसंस्तुतानामपरिचितानामपि । व्यासोऽयमित्यजानतामपीत्यर्थः । 'संस्तवः स्यात्परिचयः' इत्यमरः । चेतःसु चित्तेष्वार्द्रस्नेहार्दं भावमभिप्रायं प्रसह्य बलात्समासजन्तम् । लगयन्तमिति यावत् । 'दंशसञ्जस्वञ्जां शपि' इत्युपधाया लोपः । प्रसन्नाकारेषु सर्वोऽपि स्निह्यतीति भावः ।। २ ।।

अनुद्धतेति । पुनरनुद्धताकारतया शान्ताकारत्वेन लिङ्गेनान्तःकरणस्य वृत्तिं विविक्तां पूताम् । शान्तामिति यावत् । 'विविक्तौ पूतविजनौ' इत्यमरः । तन्वन्तं

प्रकटयन्तम् । आकृतिरेवास्य चित्तशुद्धिं कथयतीत्यर्थः । पुनर्माधुर्यं निसर्गसौम्यता विस्रम्भो विश्वासः 'समौ विस्रम्भविश्वासौ' इत्यमरः । तयोर्विशेषमतिशयं भजतीति यथोक्तेनेक्षितेन दर्शनेनैव कृतोपसम्भाषा सम्भाषणं येन तमिवेत्युत्प्रेक्षा । दृष्टि-विशेषेणैवोपसम्भाषमाणमिव स्थितमित्यर्थः । काशिकायां तु 'उपसम्भाषणमुप-सान्त्वनम्' इति भासनादिसूत्रे ।। ३ ।।

धर्मेति । पुनर्धर्मं निबध्नन्तीति धर्मनिबन्धिनीनामग्निहोत्रादिधर्मप्रतिपादिकानाम्। एनःप्रणुदामघच्छिदाम् । क्विप् । श्रुतीनां वेदानाम् । 'श्रुतिः स्त्री वेद आम्नायः' इत्यमरः । प्रसूतिं प्रभवं सुखेनोपविष्टं मुनिं तदभ्यागमने तस्य मुनेरागमने हेतुं परीप्सुर्जिज्ञासुः । आप्नोतेः सन्नन्तादुप्रत्ययः । 'आज्ञप्यृधामीत्' इतीकारः । 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य' इत्यभ्यासलोपः । आबभाषे उवाच ।। ४ ।।

हिन्दी—(मुनिवर वेदव्यास के आदेश से आसन पर बैठ जाने के) अनन्तर शरद ऋतु के चन्द्रमा के समान आनन्ददायी, ऊपर फैलते हुए प्रभापुञ्ज से मानों उन्नत से, श्यामल शरीर पर पीले वर्ण की जटा धारण करने के कारण मानों बिजली से युक्त मेघ की भाँति, प्रसन्नता की सम्पूर्ण शोभा से समलङ्कृत, लोकोत्तर शरीर-सौन्दर्य के कारण अपरिचित लोगों के चित्त में भी अपने सम्बन्ध में उच्च भाव पैदा करने वाले, अपनी शान्त आकृति से अन्तःकरण की (स्वच्छ पवित्र) भावनाओं को प्रकट करते हुए, अपनी अति स्वाभाविक सौम्यता तथा विश्वासदायकता से युक्त अवलोकन के कारण मानों (पहले ही से) सम्भाषण किये हुए की तरह, एवं अग्निहोत्र आदि धर्मों के प्रतिपादक तथा पापों के विनाशकारी वेदों के व्याख्याता व्यास जी से, जो सुखपूर्वक आसन पर विराजमान (हो चुके) थे, उनके आगमन का कारण जानने के लिए, धर्मराज युधिष्ठिर ने (यह) निवेदन किया ।। १-४ ।।

विमर्श—तीनों श्लोकों के सब विशेषण व्यासजी के लोकोत्तर व्यक्तित्व से सम्बन्धित हैं । अलौकिक सौन्दर्य के कारण लोगों में उच्च भाव पैदा होना स्वाभाविक है । प्रथम श्लोक में दो उत्प्रेक्षाएँ हैं । द्वितीय में काव्यलिङ्ग तथा तृतीय में भी उत्प्रेक्षा अलङ्कार है । चतुर्थ में पदार्थहेतुक काव्यलिङ्ग है ।

अनाप्तपुण्योपचयैर्दुरापा फलस्य निर्धूतरजाः सवित्री ।
तुल्या भवद्दर्शनसम्पदेषा वृष्टेर्दिवो वीतबलाहकायाः ।। ५ ।।

अन्वयः—अनाप्तपुण्योपचयैः दुरापा फलस्य सवित्री निर्धूतरजाः एषा भवद्दर्शनसम्पद् वीतवलाहकायाः दिवः वृष्टेः तुल्या ।। ५ ।।

अनाप्तेति । अनाप्तपुण्योपचयैरकृतपुण्यसंग्रहैर्दुरापा दुर्लभा फलस्य सवित्री श्रेयस्करी निर्धूतरजा हतरजोगुणा, अन्यत्र निरस्तधूलिः । 'रजो रजोगुणे धूलौ परागार्त्तवयोरपि' इति शाश्वतः । एषा भवद्दर्शनसंपत्संपत्तिः । लाभ इति यावत् । संपदादिभ्यः क्विपो भावार्थत्वात् । वीतबलाहकाया गतमेघाया दिव आकाशस्य सम्बन्धिन्या वृष्टेस्तुल्येत्युपमाऽलङ्कारः । अनभ्रवृष्टिवदतर्कितोपनतं भवद्दर्शनं सर्वथा कस्य

चिच्छ्रेयसो निदानमित्यर्थः । वारि वहतीति बलाहकः । पृषोदरादित्वात्साधुः ।। ५ ।।

हिन्दी—पुण्यपुञ्जसञ्चित न करने वाले लोगों के लिए दुर्लभ, अभिलाषाओं को सफल करने वाली, रजोगुणरहित यह आपके (मङ्गलदायी) दर्शन की सम्पत्ति बादलों से विहीन आकाश की वर्षा के समान (आनन्ददायिनी) है ।। ५ ।।

विमर्श—बिना बादल की वृष्टि के समान यह आपका अप्रत्याशित शुभ दर्शन हमारे लिए सर्वथा किसी न किसी कल्याण का सूचक है । यहाँ उपमा अलंकार है ।

अद्य क्रियाः कामदुघाः क्रतूनां सत्याशिषः सम्प्रति भूमिदेवाः ।
आ संसृतेरस्मि जगत्सु जातस्त्वय्यागते यद् बहुमानपात्रम् ।। ६ ।।

अन्वयः—अद्य क्रतूनां क्रियाः कामदुघाः सम्प्रति भूमिदेवाः सत्याशिषः । यत् त्वयि आगते अस्मि आसंसृतेः जगत्सु बहुमानपात्रं जातः ।। ६ ।।

अद्येति । अद्य क्रतूनां क्रिया अनुष्ठानानि कामान् दुहन्तीति कामदुघाः । फलदा इत्यर्थः । 'दुहः कब्घश्च' इति कप्प्रत्ययो घादेशश्च । संप्रत्यद्य भूमिदेवा ब्राह्मणाः । 'द्विजात्यग्रजन्मभूदेववाडवाः विप्रश्च ब्राह्मणः' इत्यमरः । सत्याशिषो जाताः । ब्राह्मणाशिषोऽद्य फलिता इत्यर्थः । यद्यतः कारणात्त्वय्यागते सति । त्वदागमनेन निमित्तेनेत्यर्थः । अस्मीत्यहमर्थेऽव्ययम् । 'अस्मीत्यस्मदर्थानुवादेऽहमर्थेऽपि' इति प्रयोगाच्च । आ संसृतेरा संसारात् । यावत्संसारमित्यर्थः । अभिविधावाङ्विकल्पाद-समासः । जगत्सु बहुमानपात्रं बहुयोग्यताभाजनम् । जातः । सकलसत्कर्मफलभूतं त्वदागमनं येन मे जगन्मान्यतेति भावः ।। ६ ।।

हिन्दी—आज के दिन मेरे किये हुए यज्ञों के अनुष्ठान फल देने वाले बन गए । इस समय भूमि के देवता ब्राह्मणों के आशीर्वचन सत्य हुए । आपके इस आगमन से (आज मैं) जब से इस सृष्टि की रचना हुई है तब से आज तक संसार भर में सब से अधिक सम्मान का भाजन बन गया हूँ ।। ६ ।।

विमर्श—सम्पूर्ण सत्कर्मों के पुण्य प्रभाव से ही आपका यह मङ्गलदायी दर्शन हुआ है । मुझसे बढ़कर इस सृष्टि में कोई दूसरा भाग्यशाली व्यक्ति आज तक नहीं हुआ । यहाँ पदार्थहेतुक काव्यलिङ्ग अलङ्कार है ।। ६ ।।

श्रियं विकर्षत्यपहन्त्यघानि श्रेयः परिस्नौति तनोति कीर्त्तिम् ।
सन्दर्शनं लोकगुरोरमोघं तवात्मयोनेरिव किं न धत्ते ।। ७ ।।

अन्वयः—आत्मयोनेः इव लोकगुरोः तव अमोघं सन्दर्शनम् श्रियं विकर्षति अघानि अपहन्ति श्रेयः परिस्नौति कीर्त्तिं तनोति । किं न धत्ते ।। ७ ।।

श्रियमिति । आत्मयोनेर्ब्रह्मण इव लोकगुरोस्तवामोघममविफलं संदर्शनं श्रियं विकर्षत्याकर्षति । अघानि दुःखान्यपहन्ति । 'अंहोदुःखव्यसनेष्वघम्' इत्यमरः । श्रेयः

पुरुषार्थं परिस्नौति स्रवति । कीर्त्तिं च तनोति किं बहुना किं न धत्ते किं न करोति । सर्वं करोतीत्यर्थः ॥ ७ ॥

हिन्दी—ब्रह्मा के समान जगत्पूज्य आप का यह अमोघ (कभी व्यर्थ न होने वाला) पुण्यदर्शन लक्ष्मी की वृद्धि करने वाला है, पापों का विनाशक है, कल्याण का जनक है तथा यश का विस्तारक है । वह क्या नहीं कर सकता है ॥ ७ ॥

विमर्श—अर्थात् उससे संसार में मनुष्य के सभी मनोरथ पूरे होते हैं । पूर्वार्द्ध में समुच्चय अलङ्कार है तथा उत्तरार्द्ध में उपमा एवं अर्थापत्ति अलङ्कार हैं । इस प्रकार इन तीनों की संसृष्टि है ।

श्च्योतन्मयूखेऽपि हिमद्युतौ मे ननिर्वृतं निर्वृतिमेति चक्षुः ।
समुज्झितज्ञातिवियोगखेदं त्वत्सन्निधावुच्छ्‌वसितीव चेतः ॥ ८ ॥

अन्वयः—श्च्योतन्मयूखे हिमद्युतौ अपि ननिर्वृतं मे चक्षुः त्वत्सन्निधौ निर्वृतिम् एति । चेतः समुज्झितज्ञातिवियोगखेदम् उच्छ्‌वसिति इव ॥ ८ ॥

श्च्योतदिति । हे भगवन् ! श्च्योतन्मयूखे सुधास्राविकरे हिमद्युताविन्दावपि विषये ननिर्वृतम् । नञर्थस्य नशब्दस्य सुप्सुपेति समासः । मे चक्षुस्त्वत्सन्निधौ निर्वृतिं सुखमेति । तथा चेतश्च समुज्झितज्ञातिवियोगखेदं त्यक्तबन्धुविरहदुःखं समुच्छ्‌वसितीवानुपरोधेन प्राणितीवेत्युत्प्रेक्षा । पूर्वार्द्धे तु निर्वृतिकारणे सत्यपीन्दावनिर्वृतिकथनाद्विशेषोक्तिः । तदुक्तं —'तत्सामग्र्यामनिर्वृत्तिर्विशेषोक्तिर्निगद्यते' इति ॥ ८ ॥

हिन्दी—अमृत परिस्रवण करने वाली किरणों से युक्त हिमांशु चन्द्रमा में भी शान्ति न प्राप्त करने वाले मेरे नेत्र आपके (इस) दर्शन से तृप्त हो रहे हैं तथा मेरा चित्त छूटे हुए बन्धु-बान्धवों के वियोग-जनित दुःख को भूल कर मानों पुनः जीवित-सा हो रहा है ॥ ८ ॥

विमर्श—आपके इस पुण्यदर्शन से मेरे नेत्र सन्तुष्ट हो गए और मेरा मन नूतन उत्साह से भर गया । यहाँ पूर्वार्द्ध में विशेषोक्ति तथा उत्तरार्द्ध में उत्प्रेक्षा - इन दोनों की संसृष्टि है ।

निरास्पदं प्रश्नकुतूहलित्वमस्मास्वधीनं किमु निःस्पृहाणाम् ।
तथाऽपि कल्याणकरीं गिरं ते मां श्रोतुमिच्छा मुखरीकरोति ॥ ९ ॥

अन्वयः—प्रश्नकुतूहलित्वं निरास्पदम् निःस्पृहाणाम् अस्मासु अधीनं किमु । तथाऽपि ते कल्याणकरीं गिरं श्रोतुम् इच्छा मां मुखरीकरोति ॥ ९ ॥

निरास्पदमिति । प्रश्नकुतूहलित्वं निरास्पदम् । त्वदागमनप्रयोजनप्रश्नो निरास्पद इत्यर्थः । 'आस्पदं प्रतिष्ठायाम्' इति निपातः । प्रश्नानवकाशे हेतुमाह—निःस्पृहाणाम् । युष्मादृशामित्यर्थः । युष्मादृशामित्यर्थः । अस्मास्वधीनमायत्तं किमु । न किञ्चिदस्मत्तो लभ्यमित्यर्थः । आधारत्वविवक्षायां सप्तमी । तथाऽपि कल्याण-

करीम् । अस्मद्धितैकहेतुमित्यर्थः । निःस्पृहवृत्तेः पारार्थ्यादिति भावः । 'कृञो हेतु—' इति टप्रत्यये ङीप् । अतस्ते गिरं श्रोतुमिच्छा माम् । मुखं वागस्यास्तीति मुखरो निरन्तरभाषी । 'रप्रकरणे खमुखकुञ्जेभ्य उपसंख्यानम्' इति रः । 'दुर्मुखे मुखराबद्धमुखौ' इत्यमरः । ततश्च्विप्रत्ययः । मुखरीकरोति । व्याहारयतीत्यर्थः । निःस्पृहस्यापि ते वाक्यमस्मद्धितकरत्वाच्छ्रोतव्यमिति भावः ॥ ९ ॥

हिन्दी—(आप के आगमन के प्रयोजन का) प्रश्न पूछने का मेरा जो कौतूहल था वह शान्त हो गया, क्योंकि आप जैसे निःस्पृह वीतराग महापुरुषों का हम लोगों के अधीन है ही क्या? किन्तु फिर भी आपकी मङ्गलकारिणी वाणी को सुनने की इच्छा मुझे मुखर (बोलने को विवश) कर रही है ॥ ९ ॥

विमर्श—यहाँ पदार्थहेतुक काव्यलिङ्ग अलङ्कार है ।

इत्युक्तवानुक्तिविशेषरम्यं मनः समाधाय जयोपपत्तौ ।
उदारचेता गिरमित्युदारां द्वैपायनेनाभिदधे नरेन्द्रः ॥१० ॥

अन्वयः—इति उक्तिविशेषरम्यम् उक्तवान् उदारचेताः नरेन्द्रः द्वैपायनेन जयोपपत्तौ मनः समाधाय इति उदारां गिरम् अभिदधे ॥ १० ॥

इतीति । इतीत्थमुक्तिविशेषरम्यमुक्तिवैचित्र्यचारु यथा तथोक्तवान् । उदारचेता महामना नरेन्द्रो द्वैपायनेन व्यासेन । द्वीपमयनं स्थानं जन्मभूमिर्यस्य स द्वीपायनः । स एव द्वैपायनस्तेन । 'प्रज्ञादिभ्यश्च' इति स्वार्थेऽण्प्रत्ययः । नापत्यार्थे । 'नडादिभ्यः फक्' । तेष्वेव पाठाद् बाधितार्थत्वाच्च । जयोपपत्तौ मनः समाधाय । जयसिद्धि-मपेक्ष्येत्यर्थः । इति वक्ष्यमाणप्रकारामुदारामर्थवतीं गिरमभिदध उक्तः । दुहादित्वाद-प्रधाने कर्मणि लिट् । 'प्रधानकर्मण्याख्येये लादीनाहुर्द्विकर्मणाम् । अप्रधाने दुहादीनां ण्यन्ते कर्तुश्च कर्मणः' ॥ इति वचनात् ॥१० ॥

हिन्दी—उक्त प्रकार की सुन्दर विचित्र उक्तियों से मनोहर वाणी बोलने वाले उदारचेता महाराज युधिष्ठिर से, उनकी विजय की अभिलाषा में चित्त लगा कर महर्षि द्वैपायन इस प्रकार की उदार वाणी में बोले ॥ १० ॥

विमर्श—यहाँ काव्यलिङ्ग अलङ्कार है ।

आदौ तावत्तस्य माध्यस्थभङ्गदोषं युग्मेन परिहरति —

चिचीषतां जन्मवतामलघ्वीं यशोऽवतंसामुभयत्र भूतिम् ।
अभ्यर्हिता बन्धुषु तुल्यरूपा वृत्तिर्विशेषेण तपोधनानाम् ॥११ ॥

अन्वयः—अलघ्वीं यशोऽवतंसाम् उभयत्र भूतिम् चिचीषता जन्मवतां बन्धुषु तुल्यरूपा वृत्तिः अभ्यर्हिता, तपोधनानां विशेषेण ॥ ११ ॥

चिचीषतामिति । अलघ्वीं गुर्वीम् । 'वोतो गुणवचनात्' इति ङीष् । यशोऽवतंसां कीर्तिभूषणाम् । उभयत्रेह चामुत्र च भूतिं श्रेयश्चिचीषतां चेतुं सङ्ग्रहीतुमिच्छताम्,

चिनोते: सन्नन्ताच्छप्रत्यय: । जन्मवतां शरीरिणां बन्धुषु विषये तुल्यरूपैकविधा वृत्तिर्व्यवहारोऽभ्यर्हितोचिता। तपोधनानां त्वस्मत्सदृशां विशेषेण नियमेनाभ्यहिता ॥११॥

हिन्दी—गम्भीर, कीर्ति को विभूषित करने वाले, इस लोक तथा परलोक में सुखदायी कल्याण की इच्छा रखने वाले शरीरधारी को (भी) अपने कुटुम्बियों के प्रति समान व्यवहार करना उचित है और तपस्वियों के लिए तो यह समान व्यवहार विशेष रूप से उचित है ॥ ११ ॥

विमर्श—संसार में समस्त शरीरधारी को अपने कुटुम्बी जनों के लिए समान व्यवहार करना उचित है किन्तु तपस्वी को तो विशेष रूप से सम व्यवहार करना ही चाहिये । उसे किसी के साथ पक्षपात नहीं करना चाहिये । यहाँ पदार्थहेतुक काव्यलिङ्ग अलङ्कार है ।

तथाऽपि निघ्नं नृप! तावकीनैः प्रह्वीकृतं मे हृदयं गुणौघैः।
वीतस्पृहाणामपि मुक्तिभाजां भवन्ति भव्येषु हि पक्षपाताः ॥१२॥

अन्वयः—नृप ! तथाऽपि तावकीनैः गुणौघैः प्रह्वीकृतम् मे हृदयं निघ्नम् हि वीतस्पृहाणां मुक्तिभाजाम् अपि भव्येषु पक्षपाताः भवन्ति ॥ १२ ॥

तथापीति । तथापि तुल्यवृत्त्यौचित्येऽपि । हे नृप ! तावकीनैस्त्वदीयैः । 'युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां खञ्च' इति खञ्प्रत्ययः । 'तवकममकावेकवचने' इति तवकादेशः । गुणौघैः प्रह्वीकृतमावर्जितं मे हृदयं निघ्नं त्वदायत्तम् । 'अधीनो निघ्न आयत्तः' इत्यमरः । ननु निःस्पृहस्य कोऽयं पक्षपात इत्यत्राह—वीतेति । वीतस्पृहाणां विरक्तानां मुक्तिभाजाम् । मुमुक्षूणामपीत्यर्थः । भवन्तीति भव्याः साधवः । 'भव्य—गेय—' इत्यादिना कर्त्तरि निपातः । तेषु पक्षपाताः स्नेहा भवन्ति । न तु साध्वनुग्रहो महतां माध्यस्थ्यभञ्जक इति भावः ॥१२॥

हिन्दी—किन्तु ऐसा होते हुए भी हे राजन् ! तुम्हारे उत्तम गुणों के समूहों से आकृष्ट मेरा हृदय तुम्हारे वश में हो गया है । (यदि यह कहो कि तपस्वी के हृदय में यह पक्षपात क्यों हो गया है तो) वीतराग मुमुक्षुओं के हृदय में भी सज्जनों के प्रति पक्षपात हो ही जाता है ॥ १२ ॥

विमर्श—सज्जनों के प्रति पक्षपात करने से मुमुक्षु तपस्वियों का तप खण्डित नहीं होता, यह तो स्वाभाविक धर्म है । यहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ।

अथ नृपस्य गुणवत्तां प्रकटयितुं धृतराष्ट्रस्य दुश्चेष्टामुद्घाटयति —

सुता न यूयं किमु तस्य राज्ञः सुयोधनं वा न गुणैरतीताः ।
यस्त्यक्तवान्वः स वृथा बलाद्वा मोहं विधत्ते विषयाभिलाषः ॥१३॥

अन्वयः—यूयं तस्य राज्ञः सुताः न किमु गुणैः सुयोधनं न अतीताः वा । यः वः वृथा त्यक्तवान् सः विषयाभिलाषः बलाद् वा मोहं विधत्ते ॥ १३ ॥

सुता इति । यूयं तस्य राज्ञे धृतराष्ट्रस्य सुताः पुत्रा न किमु । अपि तु सुता एवेत्यर्थः । गुणैः शान्तिदानदाक्षिण्यादिभिः । सुयोधनं नातीता नातिक्रान्ता वा । अतीता एवेत्यर्थः । कर्त्तरि क्तः । असुतत्वमगुणत्वं च त्यागे हेतुः । युष्मासु तन्नास्तीत्यर्थः । उपालम्भे कारणमाह—य इति । यो धृतराष्ट्रो वो युष्मान् वृथा निष्कारणमेव त्यक्तवान् । यदि वयं सुता गुणाधिकाश्च तर्हि कथमत्याक्षीत्तत्राह—बलादिति । स विषयाभिलाषो भोगतृष्णा बलाद्वा बलादिव । 'वा स्याद्विकल्पोपमयोरेवार्थेऽपि समुच्चये' इति विश्वः । मोहमविवेकं विधत्ते । विषयाभिलाषातिरिक्तो न कश्चिद्युष्मत्त्यागहेतुरस्तीत्यर्थः । अत्र कार्यकारणसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ।।१३ ।।

हिन्दी—आप लोग क्या उस राजा धृतराष्ट्र के पुत्र नहीं हैं ? क्या अपने उत्तम गुणों से आप लोगों ने दुर्योधन को पीछे नहीं छोड़ दिया है? जो उसने बिना किसी कारण के ही आप लोगों को छोड़ दिया है । अथवा (यह सच है कि) विषयों की अभिलाषा (मनुष्य को) बलपूर्वक अविवेकी ही बना देती है ।। १३ ।।

विमर्श—अर्थात् धृतराष्ट्र की विषयाभिलाषा ही उसके अविवेक का कारण है । यहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ।

अथ राज्ञ उत्साहवर्द्धनाय शत्रोर्हानिं सूचयति —

जहातु नैनं कथमर्थसिद्धिः संशय्य कर्णादिषु तिष्ठते यः ।
असाधुयोगा हि जयान्तरायाः प्रमाथिनीनां विपदां पदानि ।।१४ ।।

अन्वयः—यः कर्णादिषु संशय्य तिष्ठते एनम् अर्थसिद्धिः कथं न जहातु । हि असाधुयोगाः जयान्तरायाः प्रमाथिनीनां विपदां पदानि ।। १४ ।।

जहात्विति । एनं धृतरा मर्थसिद्धिः कथं न जहातु । जहात्वेवेत्यर्थः । 'प्रैषातिसर्गप्राप्तकालेषु कृत्याश्च' इति प्राप्तकाले लोट् । तस्य हानिकालः प्राप्त इत्यर्थः । कुतः । यो धृतराष्ट्रः संशय्य संदिह्य कर्णादिषु तिष्ठते । कर्णादीन्दुर्मन्त्रिणः सन्दिग्धार्थे निर्णेतृत्वेनावलम्बत इत्यर्थः। 'प्रकाशनस्थेयाख्ययोश्च' इति स्थेयाख्याया-मात्मनेपदम् । तिष्ठतेऽस्मिन्निति स्थेयो विवादपदनिर्णेता । तथा हि । असाधुयोगा दुर्जनसंसर्गा जयान्तराया जयविघातकाः । किञ्च प्रमाथिनीनामुन्मूलनशीलानां विपदां पदानि स्थानानि । 'पदं व्यवसितत्राणस्थानलक्ष्माङ्घ्रिवस्तुषु' इत्यमरः । न केवलं जयघातिनः किंत्वनर्थकारिणश्चेत्यर्थः । धृतराष्ट्रोऽपि दुर्जनविधेयत्वाद्विनङ्क्ष्यतीति भावः ।।१४ ।।

हिन्दी—जो कर्ण प्रभृति दुष्ट मंत्रियों पर सन्देहजनक कार्यों के निर्णयार्थ निर्भर रहता है, उस धृतराष्ट्र को प्रयोजनों की सिद्धियाँ क्यों न छोड़ें । क्योंकि दुष्टों का सम्पर्क विजय का विघातक (ही नहीं होता, प्रत्युत) ध्वंस करने वाली विपत्तियों का आधार (भी) होता है ।। १४ ।।

विमर्श—दुष्टों की सङ्गति न केवल विजय में ही बाधा डालती है, प्रत्युत

वह अनर्थकारिणी भी होती है । ऐसे दुष्टों के सम्पर्क से धृतराष्ट्र का अवश्य विनाश हो जायगा । यहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ।

एवं शत्रोरनर्थं सूचयित्वा राज्ञोऽर्थसिद्धिं सूचयति —

पथश्च्युतायां समितौ रिपूणां धर्म्यां दधानेन धुरं चिराय ।
त्वया विपत्स्वप्यविपत्तिरम्यमाविष्कृतं प्रेम परं गुणेषु ॥१५ ॥

अन्वयः—पथः च्युतायां रिपूणां समितौ चिराय धर्म्यो धुरं दधानेन त्वया विपत्सु अपि अविपत्तिरम्यं गुणेषु परं प्रेम आविष्कृतम् ॥ १५ ॥

पथ इति । रिपूणां समितौ सभायाम् । 'सभासमितिसंसदः' इत्यमरः । पथश्च्युतायां मार्गाद् भ्रष्टायाम् । दुरात्मनो दुःशासनस्य स्त्रीग्रहणसाहसमङ्गीकृतवत्यामित्यर्थः । चिराय धर्म्यां धर्मादनपेताम् । 'धर्मपथ्यर्थन्यायादनपेते' इति यत्प्रत्ययः । धुरं भारं दधानेन कृच्छ्रेष्वपि धर्मादचलतेत्यर्थः । त्वया विपत्स्वपि, अविपत्त्यविनाश्यत एव रम्यं गुणेषु शान्त्यादिषु विषये परमुत्कृष्टम् । प्रेमाविष्कृतम् प्रकटीकृतम् । दुःसहमपि सोढवता त्वया साधुकृतमिति भावः ॥१५ ॥

हिन्दी—सज्जनों के पथ से भ्रष्ट शत्रुओं की सभा में चिरकाल तक धर्म के साथ अपना कर्त्तव्य पूरा करके आपने विपत्तियों में भी अविपत्ति अर्थात् सुख-शान्ति के समय शोभा देने वाले सात्विक गुणों के साथ ऊँचा प्रेम प्रदर्शित किया है ॥१५॥

विमर्श—असहनीय कष्टों को भी आपने सुख के साथ बिताकर अच्छा ही किया है । यहाँ विरोधाभास अलङ्कार है ।

विधाय विध्वंसमनात्मनीनं शमैकवृत्तेर्भवतश्छलेन ।
प्रकाशितत्वन्मतिशीलसाराः कृतोपकारा इव विद्विषस्ते ॥१६ ॥

अन्वयः—शमैकवृत्तेः भवतः छलेन अनात्मनीनं विध्वंसं विधाय प्रकाशितत्वन्मतिशीलसाराः ते विद्विषः कृतोपकाराः इव ॥ १६ ॥

विधायेति । किं च शम एवैका मुख्या वृत्तिर्यस्य तस्यापरोपतापिनो भवतश्छलेन कपटेन । आत्मने हितं आत्मनीनः । स न भवतीत्यनात्मनीनः । स्वस्यैवानर्थहेतुरित्यर्थः । तम् । 'आत्मन्विश्जनभोगोत्तरपदात्खः' इति खप्रत्ययः । विध्वंसमपकारं विधाय कृत्वा । प्रकाशितः प्रख्यापितस्त्वन्मतिशीलयोस्तव प्रज्ञासद्वृत्तयोः सारः प्रकर्षो यैस्ते तथोक्ताः । ते तव विद्विषः कृतोपकारा इवोपकृतवन्त इव । अपकारोऽप्युपकारायैव संवृत्तः । यदेषां दौर्जन्यं युष्मत्सौजन्यं च जगति सुव्यक्तमासीदित्यर्थः विद्यमानस्यापि सुजनस्य चन्दनदारुण इव गुणाः परिभव एव प्रचुरीभवन्तीति भावः ॥१६ ॥

हिन्दी—शान्ति के प्रमुख उपासक आप के साथ छल करके उन शत्रुओं ने

अपना ही विनाश किया है ऐसा करके उन्होंने आपकी सद्बुद्धि एवं शील-सदाचरण का परिचय देते हुए मानों आपका उपकार ही किया है ।। १६ ।।

विमर्श—ऐसा करके उन्होंने अपनी दुर्जनता तथा आपकी सज्जनता का अच्छा प्रचार किया है । चन्दन की भाँति सज्जनों की विपत्ति भी उनके गुणों का प्रकाशन ही करती है । यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ।

अथ प्रयोजनान्तरमाह—

लभ्या धरित्री तव विक्रमेण ज्यायांश्च वीर्यास्त्रबलैर्विपक्षः ।
अतः प्रकर्षाय विधिर्विधेयः प्रकर्षतन्त्रा हि रणे जयश्रीः ।।१७ ।।

अन्वयः—तव धरित्री विक्रमेण लभ्य। विपक्षः च वीर्यास्त्रबलैः ज्यायान् अतः प्रकर्षाय विधिः विधेयः । हि रणे जयश्रीः प्रकर्षतन्त्रा ।। १७ ।।

लभ्येति । तव । त्वयेत्यर्थः । 'कृत्यानां कर्त्तरि वा' इति षष्ठी । धरित्री विक्रमेण लभ्या प्राप्तव्या । न च सुलभ्या तं विनेत्याह — विपक्षश्च शत्रुरपि । वीर्यं शौर्यमस्त्राण्याग्नेयादीनि बलानि सैन्यानि तैर्ज्यायान्प्रशस्यतरः । अधिकतर इति यावत् । ज्येष्ठस्य 'ज्यादादीयसः' इति ज्यादेशः । अतः प्रकर्षायाधिक्याय विधि-रुपायो विधेयः कर्त्तव्यः । कुतः । हि यस्माद्रणे जयश्रीः प्रकर्षतन्त्रा प्रकर्षप्रधाना । प्रकर्षायत्तेत्यर्थः । 'तन्त्रं प्रधाने सिद्धान्ते' इत्यमरः । बलिन एव जयः, न तु दुर्बल स्येति भावः ।।१७ ।।

हिन्दी—तुम पराक्रम के द्वारा (ही) पृथ्वी को प्राप्त कर सकते हो । तुम्हारा शत्रु पराक्रम और अस्त्रबल में तुमसे बढ़ा चढ़ा है । इसलिए तुम्हें भी अपने उत्कर्ष के लिए उपाय करना होगा, क्योंकि युद्ध में विजयश्री उत्कर्ष के ही अधीन रहती है ।। १७ ।।

विमर्श—बलवान् एवं पराक्रमी ही रण में विजयी होते हैं, बलहीन और आलसी नहीं । यहाँ काव्यलिङ्ग और अर्थान्तरन्यास की संसृष्टि है ।

अथ 'त्रिः—'इत्यादिना श्लोकचतुष्टयेन विपक्षज्यायस्त्वं वर्णयति —

त्रिःसप्तकृत्वो जगतीपतीनां हन्ता गुरुर्यस्य स जामदग्न्यः ।
वीर्यावधूतः स्म तदा विवेद प्रकर्षमाधारवशं गुणानाम् ।।१८ ।।

अन्वयः—त्रिःसप्तकृत्वः जगतीपतीनां हन्ता गुरुः सः जामदग्न्यः यस्य वीर्यावधूतः तदा गुणानां प्रकर्षम् आधारवशं विवेद ।। १८ ।।

त्रिःसप्तेति । त्रिरावृत्तान्सप्तवारांस्त्रिःसप्तकृत्वः । एकविंशतिकृत्व इत्यर्थः । त्रिः-सप्तशब्दयोः 'सुप्सुपे'ति समासः । 'संख्यायाः क्रियाऽभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुच्' इति कृत्वसुच्प्रत्ययः । जगतीपतीनां महीपतीनां हन्ता नाशको गुरुरस्त्रवेदोपदेष्टा । सः

प्रसिद्ध इत्यर्थः । अत एव यच्छब्दानपेक्षत्वम् । तदुक्तं काव्यप्रकाशे —'प्रक्रान्त-प्रसिद्धानुभूतार्थविषयस्तच्छब्दो यच्छब्दोपादानं नापेक्षते' इति । जमदग्नेरपत्यं पुमान् जामदग्न्यः । 'गर्गादिभ्यो यञ्' इति यञ्प्रत्ययः । यस्य भीष्मस्य वीर्यावधूतो विक्रमाभिभूतः । अम्बिकास्वयंवर इत्यर्थः । तदा भङ्गप्राप्तिसमये गुणानां शौर्यादीनां प्रकर्षमतिशयमाधारवशमाश्रयाधीनं विवेद जज्ञे । स्म । स्वविद्यायाः स्वशिष्ये भीष्मे स्वस्मादपि प्रकर्षाधानदर्शनादिति भावः । 'स्म पादपूरणे भूतेऽर्थे च' इति विश्वः ॥

हिन्दी—इक्कीस बार धरती के राजाओं का जो संहार करने वाला है, वह धनुर्वेद का शिक्षक सुप्रसिद्ध जमदग्नि का पुत्र परशुराम जिस (भीष्म) के पराक्रम से पराजित हो गया और यह जान सका कि गुणों का उत्कर्ष पात्र के अनुसार ही होता है ॥ १८ ॥

विमर्श—जमदग्नि के पुत्र परशुराम ने अपने पिता के वैर का बदला चुकाने के लिए समस्त भूमण्डल के क्षत्रिय राजाओं का इक्कीस बार विनाश कर दिया था, यह एक सुप्रसिद्ध पौराणिक कथा है । वही परशुराम भीष्म के धनुर्विद्या के आचार्य थे, किन्तु अम्बिका-स्वयम्बर के समय उन्हें अपने ही शिष्य भीष्म से पराजित हो जाने पर यह स्वीकार करना पड़ा कि गुणों का विकास पात्र के अनुसार होता है । किसी साधारण पात्र में पड़कर वही गुण अविकसित अथवा अर्धविकसित होता है और किसी विशेष पात्र में पड़कर वह पूर्व की अपेक्षा अत्यधिक मात्रा में विकसित होता है । यहाँ पदार्थहेतुक काव्यलिङ्ग अलङ्कार है ।

यस्मिन्ननैश्वर्यकृतव्यलीकः पराभवं प्राप्त इवान्तकोऽपि ।
धुन्वन्धनुः कस्य रणे न कुर्यान्मनो भयैकप्रवणं स भीष्मः ॥१९ ॥

अन्वयः—यस्मिन् अनैश्वर्यकृतव्यलीकः अन्तकः अपि पराभवं प्राप्तः इव सः भीष्मः रणे धनुः धुन्वन् कस्य मनः भयैकप्रवणं न कुर्यात्? ॥ १९ ॥

यस्मिन्निति । यस्मिन्भीष्मे विषये । अनीश्वरस्य भावोऽनैश्वर्यमसामर्थ्यम् । 'नञः शुचीश्वरक्षेत्रज्ञकुशलनिपुणानाम्' इति विकल्पान्नञः पूर्वपदवृद्ध्यभावः । तेन कृतव्यलीको जनितवैलक्ष्यः । 'दुःखे वैलक्ष्ये व्यलीकम्' इति यादवः । अन्तकोऽपि यमोऽपि पराभवं प्राप्त इव । भीष्मस्येच्छामरणत्वादन्तकोऽपि पराजित इवास्ते, किमुतान्य इति भावः । स भीष्मो रणे धनुर्धुन्वन्कम्पयन्कस्य मनो भयैकप्रवणं भय एकप्रवणमेकोन्मुखम् । शिवभागवतवत्समासः । न कुर्यात् । सर्वस्यापि मनसि भयं कुर्यादिवेत्यर्थः ॥१९ ॥

हिन्दी—जिन महापराक्रमी (भीष्म) के सम्बन्ध में अपने ऐश्वर्य की विफलता के कारण दुःखी होकर मृत्यु का देवता यमराज भी मानों पराजित-सा हो गया है, वही भीष्म रणभूमि में अपने धनुष को कँपाते हुए किस वीर के मन को नितान्त भयभीत नहीं बना देंगे ॥ १९ ॥

विमर्श—भीष्म स्वेच्छामृत्यु थे, यमराज का भी उन्हें भय नहीं था । तब फिर उनके धनुष को देखकर कौन ऐसा वीर था जो भयभीत न होता? यहाँ पदार्थ हेतुक काव्यलिङ्ग अलङ्कार है ।

सृजन्तमाजाविषुसंहतीर्वः सहेत कोपज्वलितं गुरुं कः ।
परिस्फुरल्लोलशिखाऽग्रजिह्वं जगज्जिघत्सन्तमिवान्तवह्निम् ।। २० ।।

अन्वयः—आजौ इषुसंहतीः सृजन्तं कोपज्वलितं परिस्फुरल्लोलशिखाऽग्रजिह्वं जगद् जिघत्सन्तम् अन्तवह्निम् इव गुरुम् वः कः सहेत ।। २० ।।

सृजन्तमिति । आजौ रण इषुसंहतीर्बाणसङ्घान् सृजन्तं वर्षन्तं कोपज्वलितमत एव परिस्फुरन्त्यो लोलाश्च शिखाग्राण्येव जिह्वा यस्य तं तथोक्तम् । जगल्लोकं जिघत्सन्तमत्तुमिच्छन्तम् । अदेः सन्नन्ताच्छतृप्रत्ययः । 'लुङ्सनोर्घस्लृ' इति घस्लादेशः । अन्तवह्निं कालाग्निमिव स्थितं गुरुं द्रोणं वो युष्माकं मध्ये कः सहेत सोढुं शक्नुयात् । न कोऽपीत्यर्थः । 'शक्ति लिङ् च' इति शक्यार्थे लिङ् ।। २० ।।

हिन्दी—अपने विकट वाणों के समूहों को बरसाते हुए, क्रोध से जाज्वल्यमान, जीभ की भाँति भयङ्कर लपटें छोड़ते हुए मानों समूचे संसार को खा जाने के लिए उद्यत प्रलय काल की अग्नि की तरह रणभूमि में स्थित द्रोणाचार्य को, आप की ओर कौन ऐसा वीर है जो सहन कर सकेगा? ।। २० ।।

विमर्श—अर्थात् आप के पक्ष में ऐसा कोई वीर नहीं है, जो रणभूमि में क्रुद्ध द्रोणाचार्य का सामना कर सके । यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ।

निरीक्ष्य संरम्भनिरस्तधैर्यं राधेयमाराधितजामदग्न्यम् ।
असंस्तुतेषु प्रसभं भयेषु जायेत मृत्योरपि पक्षपातः ।। २१ ।।

अन्वयः—संरम्भनिरस्तधैर्यम् आराधितजामदग्न्यं राधेयं निरीक्ष्य मृत्योः अपि असंस्तुतेषु भयेषु प्रसभं पक्षपातः जायेत ।। २१ ।।

निरीक्ष्येति । संरम्भेण कोपेन निरस्तं त्याजितं धैर्यं निर्विकारचित्तत्वं येन तं तथोक्तम् । आटोपेनैव परधैर्यापहारिणमित्यर्थः । आराधितजामदग्न्यं शुश्रूषितभार्गवम् । जामदग्न्यादधिगतास्त्ररहस्यमित्यर्थः । राधेयं राधासुतं कर्णम् । 'स्त्रीभ्यो ढक्' । निरीक्ष्य मृत्योरप्यसंस्तुतेष्वपरिचितेषु । 'संस्तवः स्यात्परिचयः' इत्यमरः । भयेषु प्रसभं पक्षपातः परिचयो जायेत । मृत्युरप्यस्माद्बिभीयात्किमुतान्य इति भावः । सम्भावनायां लिङ् । अत्र जनिक्रियाऽपेक्षया समानकर्तृकत्वाभावेऽपि पक्षपातक्रियाऽपेक्षया तत्सम्भवान्निरीक्ष्येति ल्यब्निर्देशः समर्थनीयः । 'प्रधानोपसर्जन भावस्त्वप्रयोजकः' इति व्यक्तिविवेककारः । अत्र भयसम्बन्धरहितस्य मृत्योर्भयसम्बन्धाभिधानादसम्बन्धे सम्बन्धरूपाऽतिशयोक्तिरलङ्कारः ।। २१ ।।

हिन्दी—अपने क्रोध से दूसरों के धैर्य को दूर करने वाले परशुराम के

शिष्य राधासुत कर्ण को देखकर मृत्यु को भी अपरिचित भय से हठात् परिचय हो जाता है ।। २१ ।।

विमर्श—तात्पर्य यह है कि मृत्यु भी कर्ण से डरती है तो दूसरों की बात ही क्या? यहाँ अतिशयोक्ति अलङ्कार है ।

अथानन्तरं करणीयमागमनप्रयोजनं च युग्मेनाह —

यया समासादितसाधनेन सुदुश्चरामाचरता तपस्याम् ।
एते दुरापं समवाप्य वीर्यमुन्मूलितार: कपिकेतनेन ।। २२ ।।

महत्त्वयोगाय महामहिम्नामाराधनीं तां नृप! देवतानाम् ।
दातुं प्रदानोचित! भूरिधाम्नीमुपागत: सिद्धिमिवास्मि विद्याम् ।। २३ ।।

अन्वय:—यया सुदुश्चरां तपस्याम् आचरता समासादितसाधनेन कपिकेतनेन दुरापं वीर्यं समवाप्य एते उन्मूलितार: । प्रदानोचित नृप! महत्त्वयोगाय महामहिम्नां देवतानाम् आराधनीं भूरिधाम्नीं तां विद्यां सिद्धिम् इव ! दातुम् उपागत: अस्मि ।। २२-२३ ।।

ययेति । यया विद्यया करणेन सुदुश्चरामतिदुष्करां तपस्यां तपश्चर्याम् 'कर्म्मणो रोमन्थतपोभ्यां वर्त्तिचरो:' इति क्यङ् । 'अ प्रत्ययात्' इति स्त्रियामप्रत्यय: । आचरता । पशुपतिं प्रति तप: कुर्वतेत्यर्थ: । अत एव समासादितं प्राप्तं साधनं पाशुपतास्त्ररूपं येन तेन । कपिर्हनुमान्केतनं चिह्नं यस्य तेन । अर्जुनेत्यर्थ: । दुरापमन्यस्य दुर्लभं वीर्यं तेज: समवाप्य । एते पूर्वोक्ता भीष्मादय उन्मूलितार उन्मूलयिष्यन्ते । उन्मूलयतेर्ण्यन्तात्कर्मणि लुट् । अत्र चिण्वदिडागमेऽपि तस्य 'असिद्धवदत्राभात्' इत्यसिद्धत्वाद् 'णेरनिटि' इति णिलोप: । तन्निमित्तस्यैव 'अनिटि' इति निषेधात् । उक्तं च —'चिण्वद् वृद्धिर्युक्च हन्तेश्च घत्वं, दीर्घश्चोक्तो यो मितां वा चिणीति । इट् चासिद्धस्तेन मे लुप्यते णिर्नित्यश्चायं वल्निमित्तो विधाती ।।' इति ।। २२ ।।

महत्त्वेति । हे नृप ! महत्त्वयोगाय प्रकर्षलाभाय महामहिम्नां महानुभावानां देवतानामिन्द्रादीनाम् । आराध्यतेऽनयेत्याराधनी ताम् । प्रसादयित्रीमित्यर्थ: । करणे ल्युट् । ङीप् । भूरिधाम्नीं महाप्रभावाम् । 'धाम देशे गृहे रश्मौ स्थाने जन्मप्रभावयो:' इति विश्व: । 'अन उपधालोपिनोऽन्यतरस्याम्' इति वा ङीप् । तां विद्यामिन्द्रमन्त्ररूपां सिद्धिं साक्षात्कार्यसिद्धिमिवेति विद्याया अमोघत्वोक्ति: । हे प्रदानोचित! दानपात्रभूत! फलभोक्तृत्वादस्य पात्रत्वोक्ति: । दातुमुपागतोऽस्मि ।। २३ ।।

हिन्दी—जिस विद्या के द्वारा अत्यन्त कठोर तपस्या करके पाशुपत-अस्त्र-रूपी साधन प्राप्त करने वाले अर्जुन दूसरों के लिये दुर्लभ तेज प्राप्त कर इन सब (भीष्म आदि) का विनाश करेंगे । हे उचित दान के पात्र राजन् ! उसी महनीय महिमा से समन्वित, देवताओं के लिये भी आराध्य तथा परम शक्तिशालिनी विद्या को, सिद्धि की भाँति उत्कर्ष-प्राप्ति के निमित्त मैं (अर्जुन को) देने के लिये यहाँ आया हुआ हूँ ।। २२-२३ ।।

विमर्श—इस विद्या से शिव की प्रसन्नता से प्राप्त पाशुपत अस्त्र के द्वारा अर्जुन उन भीष्म आदि का संहार करेंगे । यहाँ पूर्व श्लोक में वाक्यार्थ हेतुक काव्यलिङ्ग तथा दूसरे में उपमा अलङ्कार है ।

इत्युक्तवन्तं व्रज साधयेति प्रमाणयन्वाक्यमजातशत्रोः ।
प्रसेदिवांसं तमुपाससाद वसन्निवान्ते विनयेन जिष्णुः ।। २४ ।।

अन्वयः—इति उक्तवन्तं प्रसेदिवांसं तं जिष्णुः व्रज साधय इति अजातशत्रोः वाक्यम् प्रमाणयन् अन्ते वसन् इव विनयेन उपाससाद ।। २४ ।।

इतीति । इत्युक्तवन्तं प्रसेदिवांसं प्रसन्नम् । 'भाषायां सदवसश्रुवः' इति क्वसुः। तं मुनिं जिष्णुर्जयनशीलोऽर्जुनः । 'ग्लाजिस्थश्च—' इति ग्स्नुप्रत्ययः । व्रज साधयानुतिष्ठेत्येवंरूपम्। अजातशत्रोर्धर्मराजस्य । स्वयमविद्वेषणशीलत्वादियं संज्ञा। वाक्यं प्रमाणयन् । तदादिष्टः सन्नित्यर्थः । अन्ते वसंश्छात्र इव 'छात्रान्तेवासिनौ शिष्ये' इत्यमरः । विनयेनानौद्धत्येनोपाससाद समीपं प्राप ।। २४ ।।

हिन्दी—इस प्रकार की बातें करते हुए सुप्रसन्न वेदव्यास जी के समीप अर्जुन राजा युधिष्ठिर के इस वाक्य—'जाओ और (इस सिद्धि की) साधना करो ।' को स्वीकार करते हुए छात्र की भाँति सविनय उपस्थित हो गये ।। २४ ।।

विमर्श—यहाँ उपमा अलङ्कार है ।

निर्याय विद्याऽथ दिनादिरम्याद् विम्बादिवार्कस्य मुखान्महर्षेः ।
पार्थाननं वह्निकणावदाता दीप्तिः स्फुरत्पद्ममिवाभिपेदे ।। २५ ।।

अन्वयः—अथ वह्निकणावदाता विद्या दिनादिरम्याद् अर्कस्य बिम्बाद् इव महर्षेः मुखाद् निर्याय दीप्तिः स्फुरत पद्मम् इव पार्थाननम् अभिपेदे ।। २५ ।।

निर्यायेति । अथ वह्निकणावदाता स्फुलिङ्गवदुज्ज्वला । देवतासान्निध्यादिति भावः । विद्येन्द्रमन्त्ररूपा । दिनादिरम्यादर्कस्य प्रभातभास्करस्य बिम्बादिव महर्षेर्व्यासस्य मुखान्निर्याय निर्गत्य । 'समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्' । दीप्तिरर्कदीधितिः । स्फुरद्विकसत्पद्ममिव । पार्थाननमर्जुनस्य मुखमभिपेदे प्रविष्टा ।। २५ ।।

हिन्दी—तदनन्तर चिनगारी की भाँति उज्ज्वल वह विद्या, प्रातःकाल के मनोहर सूर्य-मण्डल के समान महर्षि वेदव्यास के मुख से निकलकर (सूर्य की) किरणों से विकसित होने वाले कमल के समान अर्जुन के मुख में प्रविष्ट हो गयी ।। २५ ।।

विमर्श—प्रातःकाल में सूर्य मण्डल से निकली हुई किरणें जैसे कमल में प्रवेश करती हैं वैसा ही वेदव्यास के मुख से निकली हुई वह विद्या अर्जुन के मुख में प्रविष्ट हुई । यहाँ उपमा अलङ्कार है ।

योगं च तं योग्यतमाय तस्मै तपः प्रभावाद्वितताार सद्यः ।
येनास्य तत्त्वेषु कृतेऽवभासे समुन्मिमीलेव चिराय चक्षुः।। २६ ।।

अन्वयः—योग्यतमाय तस्मै तं योगं च तपःप्रभावात् सद्यः विततार । येन तत्त्वेषु अवभासे कृते अस्य चक्षुः चिराय समुन्मिमील इव ॥ २६ ॥

योगं चेति । योग्यतमायार्हतमाय तस्मै पार्थाय तं वक्ष्यमाणमहिमानं योगं ध्यानविधिं च । 'योगः संनहनोपायध्यानसङ्गतियुक्तिषु' इत्यमरः । तपः प्रभावात् सद्यो विततार ददौ । चिरकालग्राह्यमपीति भावः । येन योगेन तत्त्वेषु प्रकृतिमहदादिषु। तथा च — मूलप्रकृतिर्महानहङ्कारो मनश्च पञ्च तन्मात्राणि पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि पञ्च महाभूतानीति चतुर्विंशति तत्त्वानि । तत्रावभासे साक्षात्कारे कृते सत्यस्यार्जुनस्य चक्षुरक्षि चिराय समुन्मिमीलेवोन्मिषितमिवेत्युत्प्रेक्षा । तदा तस्य कोऽपि महानखिलाज्ञानभञ्जनस्तत्त्वावभासश्चिरादन्धस्य दृष्टिलाभ इवाभवदिति भावः ॥ २६ ॥

हिन्दी—मुनिवर वेदव्यास ने परम योग्य अर्जुन को वह योग-विद्या अपने तपोबल के प्रभाव से शीघ्र ही प्रदान कर दी, जिसके द्वारा प्रकृति महदादि चौबीस पदार्थों का साक्षात्कार हो जाने के कारण अर्जुन के नेत्र चिरकाल के लिए मानों खुले हुए से हो गये ॥ २६ ॥

विमर्श—अन्धे को दृष्टिलाभ के समान अर्जुन को कोई नूतन ज्ञान प्राप्त हो गया, जिससे उन्हें ऐसा अनुभव हुआ मानों आँखें खुल गयीं हों । यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ।

आकारमाशंसितभूरिलाभं दधानमन्तःकरणानुरूपम् ।
नियोजयिष्यन्विजयोदये तं तपःसमाधौ मुनिरित्युवाच ॥ २७ ॥

अन्वयः—आशंसितभूरिलाभम् अन्तःकरणानुरूपम् आकारं दधानं तं मुनिः विजयोदये तपःसमाधौ नियोजयिष्यन् इति उवाच ॥ २७ ॥

आकारमिति । आशंसित आख्यातो भूरिलाभोऽनेकश्रेयःप्राप्तिर्येन तं तथोक्तम्। महाभाग्यसूचकमित्यर्थः । अन्तःकरणशब्देन तद्वृत्तिरुत्साहो लक्ष्यते । तदनुरूपं तदनुकूलम् । उत्साहानुगुणव्यापारक्षममित्यर्थः । आकारं मूर्त्तिं दधानं तमर्जुनं मुनिर्विजयोदये विजयफलके तपःसमाधौ तपोनियमे । 'समाधिर्नियमे ध्याने नीवाके च समर्थने' इति विश्वः । नियोजयिष्यन् नियोजयितुमिच्छन्नित्यर्थः । 'लृट् शेषे च' इति लृट् । 'लृटः सद्वा' इति सत्प्रत्ययः । इति वक्ष्यमाणमुवाच ॥ २७ ॥

हिन्दी—मुनिवर वेदव्यास महाभाग्य के सूचक एवं अन्तःकरण के अनुरूप आकार (आकृति) धारण करने वाले अर्जुन को विजय लाभ दिलाने वाली तपस्या के नियमों में नियुक्त करने की इच्छा से इस प्रकार बोले ॥ २७ ॥

विमर्श—यहाँ पदार्थहेतुक काव्यलिङ्ग अलङ्कार है ।

अनेन योगेन विवृद्धतेजा निजां परस्मै पदवीमयच्छन् ।
समाचराचारमुपात्तशस्त्रो जपोपवासाभिषवैर्मुनीनाम् ॥ २८ ॥

अन्वय:—अनेन योगेन विवृद्धतेजा निजां पदवीं परस्मै अयच्छन् उपात्तशस्त्र: जपोपवासाभिषवै: मुनीनाम् आचारं समाचर ।। २८ ।।

अनेनेति । अनेन स्वोपदिष्टेन योगेन विवृद्धतेजा निजां पदवीं परस्मा अयच्छन् । परस्य प्रवेशमयच्छन्नित्यर्थ: । उपात्तशस्त्रो निगृहीतायुध: सन् । जपोपवासाभिषवै: स्वाध्यायानशनस्नानैर्मुनीनामाचारं समाचरानुतिष्ठ ।। २८ ।।

हिन्दी—इस योग विद्या से तुम्हारा तेज बहुत बढ़ जायगा और इस प्रकार अपनी इस साधना के पथ को दूसरों से छिपा कर, सदा शस्त्रास्त्र धारण कर, स्वाध्याय, उपवास एवं स्नानादि मुनियों के सदाचरणों का पालन करना ।। २८ ।।

विमर्श—अर्थात् मुनियों की तरह तपस्या में रत रहना किन्तु हथियार तब भी धारण किये रहना, इससे तुम्हारी तेजस्विता बहुत बढ़ जायगी ।

क्षेत्रविशेषे तप:सिद्धिरित्याशयेन तं निदर्शयन्नाह —

करिष्यसे यत्र सुदुश्चराणि प्रसत्तये गोत्रभिदस्तपांसि ।
शिलोच्चयं चारुशिलोच्चयं तमेष क्षणान्नेष्यति गुह्यकस्त्वाम् ।। २९ ।।

अन्वय:—यत्र गोत्रभिद: प्रसत्तये सुदुश्चराणि तपांसि करिष्यसे चारुशिलोच्चयं तं शिलोंच्चयम् त्वाम् एष: गुह्यक: क्षणाद् नेष्यति ।। २९ ।।

करिष्यसे इति । यत्र शिलोच्चये गोत्रभिद इन्द्रस्य प्रसत्तये प्रसादाय सुदुश्चराणि तपांसि करिष्यसे, चारुशिलोच्चयं रम्यशिखरं तं शिलोच्चयं गिरिमिन्द्रकीलरूपम् । 'अद्रिगोत्रगिरिग्रावाचलशैलशिलोच्चया:' इत्यमर: । त्वामेष गुह्यको यक्ष: । अनन्तरमेवास्य पुर: प्रादुर्भावादेष इति निर्देश: । क्षणान्नेष्यति प्रापयिष्यति ।। २९ ।।

हिन्दी—जिस पर्वत पर इन्द्र की प्रसन्नता के लिए तुमको घोर तपस्या करनी है, उस परम रमणीय शिखरों से युक्त पर्वत पर तुमको यह यक्ष क्षणभर में पहुँचा देगा ।। २९ ।।

विमर्श—अनुप्रास और काव्यलिङ्ग की संसृष्टि ।

इति ब्रुवाणेन महेन्द्रसूनुं महर्षिणा तेन तिरोबभूवे ।
तं राजराजानुचरोऽस्य साक्षात् प्रदेशमादेशमिवाधितष्ठौ ।। ३० ।।

अन्वय:—इति महेन्द्रसूनुम् ब्रुवाणेन तेन महर्षिणा तिरोबभूवे । राजराजानुचर: अस्य आदेशम् साक्षाद् इव तं प्रदेशम् अधितष्ठौ ।। ३० ।।

इतीति । इतीत्थं महेन्द्रसूनुमर्जुनं ब्रुवाणेनोक्तवता । 'वर्त्तमानसमीप्ये' इति भूते वर्त्तमानवत्प्रत्ययस्तिरोधानस्याविलम्बसूचनार्थ: । तेन महर्षिणा तिरोबभूवेऽन्तर्दधे । भावे लिट् । राजराजो यक्षराज: । 'राजा प्रभौ नृपे चन्द्रे यक्षे क्षत्रियशक्रयो:' इति विश्व: । तस्यानुचर: पूर्वोक्तयक्षोऽस्य मुनेरादेशं साक्षादिव तं प्रदेशमर्जुनाधिष्ठित-

स्थानमधितष्ठौ । प्राप्त इत्यर्थः । 'स्थादिष्वभ्यासेन चाभ्यासस्य' इति षत्वम् ।। ३०।।

हिन्दी—इस प्रकार की बातें इन्द्रपुत्र अर्जुन से कहकर वे महर्षि वेदव्यास (वहीं) अन्तर्हित हो गये । तदनन्तर कुबेर का सेवक वह यक्ष मानों मुनिवर के प्रत्यक्ष आदेश की भाँति, उस अर्जुन के निवास-स्थल पर पहुँच गया ।। ३० ।।

विमर्श—यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ।

कृतानतिर्व्याहृतसान्त्ववादे जातस्पृहः पुण्यजनः स जिष्णौ ।
इयाय सख्याविव सम्प्रसादं विश्वासयत्याशु सतां हि योगः ।। ३१ ।।

अन्वयः—सः पुण्यजनः कृतानतिः व्याहृतसान्त्ववादे जिष्णौ जातस्पृहः सख्यौ इव सम्प्रसादम् इयाय । हि सतां योगः आशु विश्वासयति ।। ३१ ।।

कृतेति । स पुण्यजनो यक्षः कृतानतिः कृतप्रणामः सन्, व्याहृतसान्त्ववादे उक्तप्रियवचने । 'व्याहार उक्तिर्लपितम्' इत्यमरः । जिष्णावर्जुने जातस्पृहो जातानुरागः सन् । सख्यौ सुहृदीव । 'अथ मित्रं सखा सुहृद्' इत्यमरः । संप्रसादं विस्रम्भमियाय प्राप । तथा हि—सतां साधूनां योगः सङ्गतिराशु विश्वासयति विश्वासं जनयति हि । सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ।। ३१ ।।

हिन्दी—उस यक्ष ने (आते ही) प्रणाम किया, तथा प्रिय वचन बोलने वाले अर्जुन में अनुराग प्रकट करते हुए मित्र की भाँति विश्वास प्राप्त किया । (क्यों न ऐसा होता) क्योंकि सज्जनों की सङ्गति शीघ्र ही विश्वास पैदा करती है ।। ३१ ।।

विमर्श—तात्पर्य यह है कि यक्ष ने आने के साथ ही अर्जुन को प्रणाम किया तथा उनसे अपनी मैत्री मान ली । यहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ।

अथोष्णभासेव सुमेरुकुञ्जान् विहीयमानानुदयाय तेन ।
बृहद्द्युतीन्दुःखकृतात्मलाभं तमः शनैः पाण्डुसुतान्प्रपेदे ।। ३२ ।।

अन्वयः—अथ उष्णभासा उदयाय विहीयमानान् बृहद्द्युतीन् सुमेरुकुञ्जान् इव तेन पाण्डुसुतान् दुःखकृतात्मलाभं तमः शनैः प्रपेदे ।। ३२ ।।

अथेति । अथोष्णभासा सूर्येणोदयाय पुनरुद्गमाय विहीयमानांस्त्यज्यमानानिति समःप्राप्तिकारणोक्तिः । बृहद्द्युतीन् सौवर्णत्वाद्दीप्यमानानित्यर्थः । इति तमसः सङ्कोच-कारणोक्तिः सुमेरुकुञ्जानिव । अत्र सुमेरुग्रहणं कुञ्जानां सौवर्णत्वद्योतनार्थम् । तेनार्जुनेनोदयाय श्रेयसे विहीयमानान्बृहद्द्युतीननेकबुद्धिप्रकाशान् । पूर्ववद्विशेषण-द्वययोजनमनुसंधेयम् । पाण्डुसुतान् । चतुर इति शेषः । दुःखेन कृच्छ्रेण कृत उपपादित आत्मलाभ उत्पत्तिर्यस्य तत्तथोक्तम् । तेषां विवेकित्वात्कथं चिल्लब्धोदयमित्यर्थः । तमः शोकोऽन्धकारश्च । 'तमोऽन्धकारे स्वर्भानौ तमः शोके गुणान्तरे' इत्युभयत्रापि विश्वः । शनैर्मन्दं प्रपेदे । तेषां विवेकित्वाद्भीतभीतमिवेति भावः । अत्र तमःशब्दस्य श्लिष्टत्वाच्छ्लेषानुप्राणितेयमुपमा ।। ३२ ।।

हिन्दी—(यक्ष के आने तथा प्रणामादि के) अनन्तर भगवान् भास्कर द्वारा उदय केलिए छोड़े गए परम प्रकाशमान सुमेरु के कुञ्जों की भाँति अर्जुन द्वारा अपने अभ्युदय केलिए छोड़े गये परम तेजस्वी पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर आदि को, दुःख के साथ अपना प्रसार प्राप्त करने वाले अन्धकार ने धीरे-धीरे व्याप्त कर लिया ।। ३२ ।।

विमर्श—जिस प्रकार सूर्य उदय के लिए जब सुमेरु के कुञ्जों को छोड़ देता है तो उन्हें अन्धकार घेर लेता है उसी प्रकार अपने अभ्युदय के लिए जब अर्जुन ने पाण्डवों को छोड़ दिया तो उन्हें शोक रूप अन्धकार ने घेर लिया । यहाँ श्लेषानुप्राणित उपमा अलङ्कार है ।

असंशयालोचितकार्यनुन्नः प्रेम्णा समानीय विभज्यमानः ।
तुल्याद्विभागादिव तन्मनोभिर्दुःखातिभारोऽपि लघुः स मेने ।। ३३ ।।

अन्वयः—असंशयालोचितकार्यनुन्नः प्रेम्णा समानीय विभज्यमानः सः दुःखातिभारः अपि तन्मनोभिः तुल्याद् विभागाद् इव लघुः मेने ।। ३३ ।।

असंशयेति ।असंशयमसंदिग्धं यथा तथाऽऽलोचितं विवेचितं यत्कार्यं तेन नुन्नो निरस्तीति लघुत्वहेतूक्तिः 'नुदविदोन्दत्राघ्राह्रीभ्योऽन्यतरस्याम्' इति निष्ठानत्वम्। कार्यगौरवमालोच्य निरस्त इत्यर्थः । तथाऽपि प्रेम्णा भ्रातृवात्सल्येन कर्त्रा समानीय पुनराकृष्य विभज्यमानः समशोकभागी क्रियमाणः । तुल्येन प्रेम्णा तुल्य दुःखत्वं भवतीति भावः । स पूर्वोक्तो दुःखमेवातिभारोऽपि । अतिभारभूतमपि दुःखमित्यर्थः । तन्मनोभिस्तेषां चतुर्णां पार्थानां मनोभिस्तुल्याद्विभागादिव पूर्वोक्तात्प्रेमकृतात् समविभागादिवेत्यर्थः । वस्तुतस्तु विवेकादेवेति भावः । पुनर्विभागग्रहणं तस्य हेतुत्वोत्प्रेक्षाऽर्थमनुवादाददोषः । लघुर्मेने मतः । यथैकोऽनेकधा विभज्य बहुभिरूह्यमानो महानपि भारो लघुर्मन्यते तद्वदित्यर्थः ।। ३३ ।।

हिन्दी—बिना सन्देह के सम्यक् विचार किए गए भविष्य के कार्यक्रमों के कारण दूर किए गए तथा पारस्परिक स्नेह से विभक्त दुःख का वह अत्यन्त भारी बोझ भी युधिष्ठिर आदि चारों भाइयों के चित्तों से मानों बराबर-बराबर बँटकर हल्का मान लिया गया ।। ३३ ।।

विमर्श—अर्थात् चारों भाइयों ने पारस्परिक स्नेह से अर्जुन के वियोगजनित शोक के भार को कम करके भविष्य के कार्यक्रमों पर विचार किया । यहाँ हेतूत्प्रेक्षा अलङ्कार है ।

अथैवं प्रेम्णाऽऽकृष्यमाणमपि शोकं विवेको निर्जिगायेत्याह—

धैर्येण विश्वास्यतया महर्षेस्तीव्रादरतिप्रभवाच्च मन्योः ।
वीर्यं च विद्वत्सु सुते मघोनः स तेषु न स्थानमवाप शोकः ।। ३४ ।।

अन्वयः—धैर्येण महर्षेः विश्वास्यतया अरातिप्रभवात् तीव्राद् मन्योः मघोनः सुते वीर्यं च विद्वत्सु तेषु सः शोकः स्थानं न अवाप ।। ३४ ।।

धैर्येणेति । धैर्येण तेषां निसर्गतो निर्विकारचित्तत्वेन तथा महर्षेर्व्यासस्य । प्रवर्त्तकस्येति शेषः। विश्वास्यतया । श्रद्धेयवचनत्वेनेत्यर्थः । अरातिप्रभवादरातिहेतु-कात्तीव्राद् दुःसहान्मन्योः क्रोधाद्धेतोस्तथाऽर्जुनप्रभावपरिज्ञानाच्चेति हेत्वन्तरं विशेषण-मुखेनाह — मघोनः सुतेऽर्जुने वीर्ये च । 'न लोके —' इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधः । विद्वत्सु । ज्ञानवत्स्विति यावत् । 'विदेः शतुर्वसुः' इति वैकल्पिको वस्वादेशः । तेषु पार्थेषु स शोकः स्थानं स्थितिं नावाप न प्राप ।। ३४ ।।

हिन्दी—अपने स्वाभाविक धैर्य से, इस कार्य के प्रवर्त्तक महर्षि वेदव्यास की बातों में अडिग विश्वास करने के कारण तथा दुर्योधनादि शत्रुओं द्वारा उत्पन्न होने वाले तीव्र क्रोध के कारण इन्द्रपुत्र अर्जुन के पराक्रम को जानने वाले उन युधिष्ठिर आदि पाण्डवों को वह शोक आक्रान्त नहीं कर सका ।। ३४ ।।

विमर्श—अर्थात् युधिष्ठिर आदि चारों पाण्डवों को अर्जुन के वियोग का दुःख इन उपर्युक्त कारणों से अधिक नहीं सता सका । यहाँ हेतु अलङ्कार है ।

तान् भूरिधाम्नश्चतुरोऽपि दूरं विहाय यामानिव वासरस्य ।
एकौघभूतं तदशर्म कृष्णां विभावरीं ध्वान्तमिव प्रपेदे ।। ३५ ।।

अन्वयः—तद् अशर्म भूरिधारनः तान् चतुरः अपि वासरस्य यामान् इव दूरं विहाय एकौघभूतं विभावरीम् ध्वान्तम् इव कृष्णां प्रपेदे ।। ३५ ।।

तानिति । तत्पार्थांस्त्यक्तवच्छर्म सुखम् । 'शर्मशातसुखानि च' इत्यमरः । तद्विरुद्धमशर्म दुःखम् । 'नञ्' इति नञ्समासः । भूरिधाम्नोऽतितेजस्विन इति हानि-हेतुत्वोक्तिः । चतुरस्तान् पार्थानपि वासरस्य भूरिधाम्नश्चतुरो यामान् प्रहरानिव । दूरं विहाय त्यक्त्वैकौघभूतमेकराशिभूतं सत् । 'श्रेण्यादयः कृतादिभिः' इत्यर्थे कर्म-धारयः, 'श्रेण्यादिराकृतिगणः' इति शाकटायनः । कृष्णां विभावरीं कृष्णपक्षरात्रिं ध्वान्तमिव । कृष्णां द्रौपदीं प्रपेदे प्राप ।। ३५ ।।

हिन्दी—अर्जुन के वियोगजनित शोक ने उन चारों परम तेजस्वी युधिष्ठिर प्रभृति पाण्डवों को, परम प्रकाशमान दिन के चारों प्रहरों की तरह दूर से छोड़ कर, एक राशि होकर कृष्णपक्ष की रात्रि के अन्धकार की तरह मात्र द्रौपदी को घेर लिया ।। ३५ ।।

विमर्श—जिस प्रकार से अन्धकार दिन के चारों प्रहरों को छोड़कर कृष्ण पक्ष की रात्रि को ही घेरता है उसी प्रकार से अर्जुन के वियोग का वह शोक चारों पाण्डवों को छोड़कर द्रौपदी पर छा गया । यहाँ उपमा अलङ्कार है ।

तुषारलेखाऽऽकुलितोत्पलाभे पर्यश्रुणी मङ्गलभङ्गभीरुः ।
अगूढभावाऽपि विलोकने सा न लोचने मीलयितुं विषेहे ।। ३६ ।।

अन्वयः—सा विलोकने अगूढभावा अपि मङ्गलभङ्गभीरुः तुषारलेखाऽऽकुलि-तोत्पलाभे पर्यश्रुणी लोचने मीलयितुं न विषेहे ।। ३६ ।।

तुषारेति। सा द्रौपदी विलोकनेऽर्जुनावलोकनेऽगूढभावाऽगूढाभिप्रायाऽपि। स्फुटाभिलाषिणीति यावत् । 'भावो लीलाक्रियाचेष्टाभूत्यभिप्रायजन्तुषु' इति वैजयन्ती । मङ्गलभङ्गभीरुर्मङ्गलहानेर्भीता सती । पर्यश्रुणी परिगताश्रुके । बाष्पावृते इत्यर्थः । अत एव तुषारलेखाऽऽकुलितोत्पलाभे हिमबिन्दुसहितेन्दीवरसंनिभे इत्युपमाऽलङ्कारः । लोचने मीलयितुं न विषेहे न शशाक । अश्रुणो दृष्ट्यावरकत्वेऽपि तन्निपातस्यामङ्गलत्वात्तन्निर्वर्त्तकं निमीलनं सा न चकारेत्यर्थः ।। ३६ ।।

हिन्दी—द्रौपदी यद्यपि अर्जुन को देखने के लिए स्पष्ट रूप में इच्छुक थी तथापि अमङ्गल के भय से वह हिमकण से युक्त कमल के समान, आँसुओं से भरे हुए अपने नेत्रों को मूँदने में समर्थ न हो सकी ।। ३६ ।।

विमर्श—अर्जुन के वियोग की गहरी व्यथा से द्रौपदी की आँखों में आँसू भरे हुए थे, जिससे वह ठीक तरह से अर्जुन को देख नहीं पाती थी । और चाहती थी हृदय भर कर देखना, किन्तु ऐसा तब तक नहीं हो सकता था जब तक नेत्र आँसुओं से स्वच्छ न हों । यदि वह आँसू गिराती तो अमङ्गल होता, क्योंकि यात्रा के समय स्त्री के आँसू अपशकुन के सूचक होते हैं, अतः वह जैसी की तैसी रही । उस समय उनके नेत्र हिमकण से युक्त कमल पत्र के समान सुशोभित हो रहे थे । यहँ उपमा और काव्यलिङ्ग का सङ्कर है ।

अकृत्रिमप्रेमरसाभिरामं रामाऽर्पितं दृष्टिविलोभि दृष्टम् ।
मनःप्रसादाञ्जलिना निकामं जग्राह पाथेयमिवेन्द्रसूनुः ।। ३७ ।।

अन्वयः—इन्द्रसूनुः अकृत्रिमप्रेमरसाभिरामं रामाऽर्पितं दृष्टविलोभि दृष्टं मनः प्रसादाञ्जलिना पाथेयम् इव निकामं जग्राह ।। ३७ ।।

अकृत्रिमेति । इन्द्रसूनुरर्जुनः । क्रियया निर्वृत्तः कृत्रिमः । 'ड्वितः क्त्रिः' इति क्त्रिः । 'क्त्रेर्मम्नित्यम्' इति मम्प्रत्ययः । तद्विरुद्धम् । प्रेमैव रसः। अकृत्रिमेण प्रेमरसेनाभिरामम् । अन्यत्र—प्रेमरसेन मधुरादिना चाभिरामम् । रामया रमण्याऽर्पितम्। दृष्टिं विलोभयतीति दृष्टिविलोभि । दृष्टिप्रियमित्यर्थः । दृष्टं दर्शनं 'नपुंसके भावे क्तः' । मनः प्रसादः । प्रसन्नं मन इत्यर्थः । सोऽञ्जलिरिवेत्युपमितसमासः । तेन मनःप्रसादाञ्जलिना । पथि साधु पाथेयं शम्बलमिव । 'पथ्यतिथिवसतिस्वपतेर्ढञ्' निकाममतिशयेन जग्राह । रामाऽर्पितं पाथेयं पथि क्षेमाय भवतीत्यागमः ।। ३७ ।।

हिन्दी—इन्द्रपुत्र अर्जुन ने सहज प्रेमरस से मनोहर, पत्नी द्वारा समर्पित, दृष्टि को लुभाने वाले उसके अवलोकन को अपने प्रसन्न मनरूपी अञ्जलि से पाथेय (मार्ग सम्बल) की भाँति यथेष्ट रूप में ग्रहण किया ।। ३७ ।।

विमर्श—जिस प्रकार से कोई पथिक सहज प्रेम से अपनी प्रियतमा द्वारा दिए गए मधुर पाथेय को अञ्जलि में ग्रहण करता है, उसी प्रकार से सहज स्नेह से मनोहर नेत्रानन्ददायी द्रौपदी के दर्शन को अर्जुन ने अञ्जलि के समान अपने प्रसन्न मन से ग्रहण किया । यहाँ उपमा अलङ्कार है ।

धैर्यावसादेन हृतप्रसादा वन्यद्विपेनेव निदाघसिन्धुः ।
निरुद्धवाष्पोदयसन्नकण्ठमुवाच कृच्छ्रादिति राजपुत्री ॥ ३८ ॥

अन्वयः—वन्यद्विपेन हृतप्रसादा निदाघसिन्धुः इव धैर्यावसादेन राजपुत्री निरुद्ध-वाष्पोदयसन्नकण्ठं कृच्छ्राद् इति उवाच ॥ ३८ ॥

धैर्येति । वन्यद्विपेन । वन्यग्रहणमुच्छृङ्खलत्वद्योतनार्थम् । निदाघसिन्धु-ग्रींष्मनदीव । निदाघग्रहणं दौर्बल्यद्योतनार्थम् । धैर्यावसादेन धैर्यभ्रंशेन कर्त्रा हृत-प्रसादाहृतनैर्मल्या । क्षोभं गमितेत्यर्थः । राजपुत्री क्षत्रियसुता द्रौपदी । अतः क्षात्त्रयुक्तमेव वक्ष्यतीति भावः । निरुद्धवाष्पोदयं संरुद्धरोदनं सन्नकण्ठं हीनस्वरम् । अथ तयोरुभयोः कृतबहुव्रीह्योः क्रियाविशेषणयोर्विशेषणसमासः । कृच्छ्रात्कथञ्चि-दिति वक्ष्यमाणमुवाच ॥ ३८ ॥

हिन्दी—जङ्गली हाथी द्वारा गन्दली की गई ग्रीष्म की नदी की भाँति, धैर्य के छूटने से उदास राजपुत्री, वाष्प के रुक जाने से गद्गद् कण्ठ द्वारा बड़ी कठिनाई से यह बोली ॥ ३८ ॥

विमर्श—यहाँ उपमा अलङ्कार है ।

मग्नां द्विषच्छद्मनि पङ्कभूते सम्भावनां भूतिमिवोद्धरिष्यन् ।
आधिद्विषामा तपसां प्रसिद्धेरस्मद्विना मा भृशमुन्मनीभूः॥ ३९ ॥

अन्वयः—पङ्कभूते द्विषच्छद्मनि मग्नां सम्भावनाम् भूतिम् इव उद्धरिष्यन् आधिद्विषां तपसाम् आप्रसिद्धेः अस्मद्विना भृशम् मा उन्मनीभूः ॥ ३९ ॥

मग्नामिति । पङ्कभूते पङ्कोपमिते । 'भूतं क्ष्माऽऽदौ पिशाचादौ न्याय्ये सत्योपमानयोः' इति विश्वः । द्विषच्छद्मनि शत्रुकपटे मग्नाम् । दुरुद्धरामित्यर्थः । सम्भावनां योग्यताम् । गौरवमिति यावत् । भूतिं सम्पदमिव । 'भूतिर्भस्मनि संपदि' इत्यमरः । उद्धरिष्यन् उद्धारकस्त्वमिति शेषः । आधिद्विषां दुःखच्छिदां तपसामा प्रसिद्धेः सम्यक्सिद्धिपर्यन्तमस्मद्विना । अस्माभिर्विनेत्यर्थः । 'पृथग्विना—' इत्यादिना विकल्पात्पञ्चमी । भृशं मोन्मनीभूः । अस्मद्विरहाद् दुर्मना मा भूरित्यर्थः । दौर्मनस्य-स्य तपः परिपन्थित्वादिति भावः । 'माङि—' इत्याशीरर्थे लुङ् । 'न माङ्योगे' इत्यडागमप्रतिषेधः । अनुन्मना उन्मनः सम्पद्यमान उन्मनी । अभूततद्भावे च्विः । 'अरुर्मनुश्चक्षुश्चेतोरहोरजसां लोपश्च' इति सकारलोपः । 'अस्य च्वौ' इतीकारः ॥३९॥

हिन्दी—कीचड़ के समान शत्रुओं के कपट-व्यवहार में डूबी हुई हम सब की सम्पत्ति के-सम्मान के योग्यतम उद्धारकर्त्ता तुम ही हो, अतः मन की व्यथा को दूर करने वाली साधना की सफलता-पर्यन्त तुम हम लोगों के बिना अत्यन्त व्यथित मत होना ॥ ३९ ॥

विमर्श—शत्रु के कपट से नष्ट हम सब की योग्यता को तुम ही पहले जैसी

बना सकते हो । अत: जब तक तपस्या का फल न मिल जाय तब तक तुम्हें अत्यन्त उदास या व्यथित नहीं होना चाहिए । यहाँ उपमा अलङ्कार है ।

अथानौत्सुक्यदार्ढ्यार्थं तस्य सर्वार्थसिद्धिनिदानत्वमाह—

यशोऽधिगन्तुं सुखलिप्सया वा मनुष्यसंख्यामतिवर्त्तितुं वा ।
निरुत्सुकानामभियोगभाजां समुत्सुकेवाङ्कमुपैति सिद्धि: ॥४० ॥

अन्वय:—यश: अधिगन्तुम् वा सुखलिप्सया मनुष्यसंख्याम् अतिवर्त्तितुं वा अभियोगभाजां निरुत्सुकानां सिद्धि: समुत्सुका इव अङ्कम् उपैति ॥ ४० ॥

यश इति । यशोऽधिगन्तुम् । कीर्तिं लब्धुमित्यर्थ: । सुखस्य लिप्सया लब्धुमिच्छया वा । मनुष्यसंख्यां मनुष्यगणनामतिवर्त्तितुमतिक्रमितुं वा । अमानुषं कर्म कर्त्तुं वेत्यर्थ: । अभियोगभाजामभिनिवेशवतां निरुत्सुकानामनुत्सुकानाम् । अदुर्मनायमानानामित्यर्थ: । सिद्धि: पूर्वोक्तं यश: सुखाद्यर्थसिद्धिश्च । समुत्सुकेवानुरक्तकान्तेवाङ्कमुत्सङ्गमन्तिकं चोपैति । तस्मादस्मद्विरहदु:खमा तप:सिद्धे: सोढव्यमिति भाव: ॥

हिन्दी—उज्ज्वल कीर्ति पाने के लिए, सुख प्राप्ति के लिए अथवा साधारण मनुष्यों से ऊपर उठकर कोई असाधारण काम करने के लिए उद्यत होने वाले एवं कभी अनुत्साहित न होने वाले लोगों को अनुरक्ता स्त्री की भाँति सफलता स्वयमेव अङ्कगत होती है ॥ ४० ॥

विमर्श—जिस प्रकार प्रेमी में अनुरक्त रमणी उसके अङ्क में स्वयमेव आ बैठती है उसी प्रकार सफलता भी उस मनुष्य के समीप स्वयमेव आती है जो उपर्युक्त प्रकार से कठिन से कठिन कार्य करने के लिए सदैव उद्यत रहते हैं । यहाँ उपमा अलङ्कार है ।

{नीचे के चार श्लोकों में द्रौपदी शत्रुओं द्वारा किए गए अपमान का स्मरण दिलाते हुए तपस्या की आवश्यकता दिखाकर अर्जुन के क्रोध को भड़काती है । इन चारों श्लोकों का कर्त्ता और क्रियापद एक ही में है—}

अथास्य मन्यूद्दीपनद्वारा तप:प्रवृत्तिं प्रथयितुमरिनिकारं तावच्चतुर्भिरुद्घाटयति —

लोकं विधात्रा विहितस्य गोप्तुं क्षत्रस्य मुष्णन् वसु जैत्रमोज: ।
तेजस्वितायाा विजयैकवृत्तेर्निघ्नन् प्रियं प्राणमिवाभिमानम् ॥४१ ॥

अधिक्षेपाद्यसहनं तेज: प्राणात्ययेष्वपि न त्याज्यमित्याह —

व्रीडानतैराप्तजनोपनीत: संशय्य कृच्छ्रेण नृपै: प्रपन्न: ।
वितानभूतं विततं पृथिव्यां यश: समूहन्निव दिग्विकीर्णम् ॥४२ ॥
वीर्यावदानेषु कृतावमर्षस्तन्वन्नभूतामिव सम्प्रतीतिम् ।
कुर्वन्प्रयामक्षयमायतीनामर्कत्विषामह्न इवावशेष: ॥४३ ॥

प्रसह्य योऽस्मासु परैः प्रयुक्तः स्मर्त्तुं न शक्यः किमुताधिकर्तुम् ।
नवीकरिष्यत्युपशुष्यदार्द्रः स त्वद्विना मे हृदयं निकारः ॥ ४४ ॥

अन्वयः—विधात्रा लोकं गोप्तुं विहितस्य क्षत्रस्य जैत्रम् ओजः वसु मुष्णन् विजयैकवृत्तेः तेजस्वितायाः प्रियं प्राणम् इव अभिमानं निघ्नन्, आप्तजनोपनीतः संशय्य व्रीडानतैः नृपैः कृच्छ्रेण प्रपन्नः पृथिव्यां वितानभूतं दिग्विकीर्णं विततं यशः समूहन् इव, वीर्यावदानेषु कृतावमर्षः सम्प्रतीतिम् अभूताम् इव तन्वन् अह्नः अवशेषः अर्कत्विषाम् इव आयतीनाम् प्रयामक्षयं कुर्वन्, परैः अस्मासु प्रसह्य प्रयुक्तः यः स्मर्त्तुं न शक्यः अधिकर्त्तुंकिमुत, सः निकारः त्वद्विना आर्द्रः उपशुष्यद् मे हृदयं नवीकरिष्यति ॥ ४१-४४ ॥

लोकमिति । विधात्रा ब्रह्मणा लोकं गोप्तुं विहितस्य सृष्टस्य क्षत्रस्य क्षत्रियजातेः सम्बन्धि । जयनशीलं जेतृ तदेव जैत्रम् । जेतृशब्दात्तुन्नन्तात् 'प्रज्ञादिभ्यश्च' इति स्वार्थेऽण्प्रत्ययः । ओजो बलं दीप्तिर्वा । 'ओजो बले च दीप्तौ च' इति विश्वः । तदेव वसु धनमिति रूपकालङ्कारः । मुष्णन्नपहरन् । अरिनिराकृतस्य कुतः क्षात्रं तेज इति भावः । किञ्च विजयैकवृत्तेर्विजयैकजीवितायाः । 'क्षत्रियस्य विजितव्यम्' इति स्मरणादिति भावः । 'वृत्तिर्वर्तनजीवने' इत्यमरः । तेजस्वितायाः, तेजस्विनामित्यर्थः। तेजःप्रधान्यद्योतनार्थं भावप्रधाननिर्देशः । प्रियं प्राणसममित्यर्थः। अभिमानमहङ्कारं निघ्नन् खण्डयन् । तेजस्विनां प्राणहानिप्राया मानहानिरिति भावः ॥ ४१ ॥

व्रीडेति । पुनश्च । आप्तजनेनोपनीतः साधितः । प्रापित इत्यर्थः । तथाऽपि संशय्य संदिह्य । असम्भावितबुद्ध्येति भावः । व्रीडानतैः । जुगुप्सितघृत्तान्तश्रवणादिति भावः । नृपैर्देशान्तरस्थैः कृच्छ्रेण प्रपन्नः । आप्तोक्तत्वात्कथञ्चिद्विश्वस्त इत्यर्थः । यः शृण्वतामपि दुःसहः किमुतानुभवतामिति भावः । इत्येषा पूर्वेषां व्याख्या । अन्यथा च व्याख्यायते — आप्तजनोपनीतो ज्ञातिकृतः संशय्य कथमिदमन्याय्यमुपेक्ष्यमिति विचार्य व्रीडानतैः । जुगुप्सितकर्मदर्शनादिति भावः । नृपैस्तत्रत्यैः कृच्छ्रेण प्रपन्नोऽङ्गीकृतः । गोत्रकलहेषु मध्यस्थैरुदासितव्यमिति बुद्ध्योपेक्षित इत्यर्थः । पक्षद्वयेऽपि प्रपन्नः इत्यत्राप्तजनोपनीतत्वस्य पदार्थभूतस्य विशेषणगत्या हेतुत्वोक्त्या काव्यलिङ्गमलङ्कारः । पृथिव्यां वितानभूतमुल्लोचोपमितम् । यद्वा वितानभूतं वितानसमम् । उल्लोचतुल्यमिति यावत् । 'युक्ते क्ष्माऽऽदावृते भूते प्राण्यतीते समे त्रिषु' इत्यमरः । 'अस्त्री वितानमुल्लोचः' इत्यमरः । दिग्विकीर्णं दिगन्तलग्नम् । वितानमपि दिगन्तलग्नमिति भावः । विततं प्रथितं यशः समूहन्निव सङ्कोचयन्निवेत्युत्प्रेक्षा । अरातिपरिभूतस्य कुतः कीर्त्तिरिति भावः ॥ ४२ ॥

वीर्येति । पुनश्च । वीर्याण्येवावदानानि तेषु कृतावमर्षः कृतास्कन्दनः । पुराकृतपराक्रमजातान्यपि प्रमृजन्नित्यर्थः । 'अवदानं कर्म वृत्तम्' इत्यमरः । अत एव सम्प्रतीतिं ख्यातिम् । 'प्रतीते प्रथितख्यातवित्तविज्ञातविश्रुताः' इत्यमरः । अभूतामविद्यमानामिवेत्युत्प्रेक्षा । सतोऽप्यसत्त्वमुत्प्रेक्ष्यते —तन्वन् कुर्वन् । पुनश्चाह्नोऽवशेषो

दिनान्तोऽर्कत्विषामिवायतीनामुत्तरकालानां प्रयामक्षयं दैर्घ्यनाशं कुर्वन्निति श्रौती पूर्णोपमा । अरिनिराकृतस्य कुतश्चिरावस्थानमिति भावः ।। ४३ ।।

प्रसह्येति । पुनश्च । परैः शत्रुभिरस्मासु प्रसह्य प्रयुक्त आचरितो यो निकारः परिभवः केशाकर्षणरूपः स्मर्तुं न शक्यः । अधिकर्तुमनुभवितुं किमुत । यस्य स्मरणमपि दुःसहमनुभवस्तु दुःसह इति किमु वक्तव्यमित्यर्थः । स निकारस्त्वद्विना त्वया विना 'पृथग्विना—' इत्यादिना पञ्चमी । आर्द्रः सन्कुतश्चिदभिभूतात्पुराणप्रहार इव । त्वद्विरहदुःखात् पुनर्नवीकरिष्यति । नवीभविष्यतीत्यर्थः । उपशुष्यत् । त्वया विना शुष्कमिति भावः । दुःखस्तम्भनं शोषपदार्थो मे हृदयं नवीकरिष्यत्यार्द्रीकरिष्यति। व्रणमिवेति भावः । दुःखितस्य पुनर्दुखोपचयः प्रशान्तप्रायमपि दुःखहेतुं पुनरुद्घाटयतीत्यर्थः । अत्र शोषादिविशेषणसाम्याद् व्रणाद्यप्रस्तुतार्थप्रतीतेः समासोक्तिरलङ्कारः ।। ४४ ।।

हिन्दी—ब्रह्मा द्वारा लोक-रक्षा के निमित्त बनाये गये क्षत्रियों के विजय शील तेज-रूपी धन का अपहरण करता हुआ, एकमात्र विजय-प्राप्ति ही जिनकी वृत्ति है, ऐसे तेजस्वियों के प्रिय प्राणों की भाँति अभिमान को खण्डित करता हुआ, परिचित लोगों द्वारा कहे जाने पर सन्देहयुक्त किन्तु लज्जा से नीचे मुख किए हुए राजाओं द्वारा बड़ी कठिनाई से कहे जाने पर किसी प्रकार विश्वास योग्य पृथ्वी पर तम्बू की भाँति सभी दिशाओं में फैले हुए हमारे यश को मानो संकुचित सा करता हुआ, पहले के पराक्रमपूर्ण कार्यों को करने के कारण प्राप्त प्रसिद्धि को मानों झूठा-सा सिद्ध करता हुआ, दिन के चौथे पहर द्वारा सूर्य की कान्ति के समान भविष्य की प्रतिष्ठा को नष्ट करता हुआ, शत्रुओं द्वारा हम पर हठपूर्वक किया गया, जो स्मरण करने योग्य भी नहीं हो, उसके अनुभव की बात क्या कही जाय, वही मेरा केशाकर्षण रूप अपमान तुम्हारे न रहने पर ताजा (गीला) होकर, तुम्हारी विरह-व्यथा में सूखते हुए मेरे हृदय को फिर गीला कर देगा ।। ४१-४४ ।।

विमर्श—चारों श्लोकों में दिए गए सभी विशेषण 'निकार' शब्द के लिए ही हैं । द्रौपदी अर्जुन के क्रोध को उद्दीप्त करने के लिए ही इस प्रकार की बातें कह रही है । प्रथम श्लोक का तात्पर्य यह है कि तेजस्वी पुरुष की मानहानि ही उनकी मृत्यु के समान है । इसमें उपमा अलङ्कार है । द्वितीय श्लोक का तात्पर्य यह है कि शत्रुओं से पराजित लोग कभी यश के भागी नहीं होते । इसमें काव्यलिङ्ग और उत्प्रेक्षा का सङ्कर है । तृतीय श्लोक का तात्पर्य यह है कि शत्रुओं द्वारा अपमानित व्यक्ति को चिरकाल तक कहीं प्रतिष्ठा नहीं प्राप्त होती । इसमें उत्प्रेक्षा और उपमा की संसृष्टि है । चतुर्थ श्लोक का तात्पर्य है कि मेरा वह अपमान अब तुम्हारे यहाँ न रहने पर मुझे और भी सताएगा । इसमें समासोक्ति अलङ्कार है ।

प्राप्तोऽभिमानव्यसनादसह्यं दन्तीव दन्तव्यसनाद्विकारम् ।
द्विषत्प्रतापान्तरितोरुतेजाः शरद्घनाकीर्ण इवादिरह्नः ।। ४५ ।।

अन्वयः—अभिमानव्यसनाद् दन्तव्यसनाद् दन्ती इव असह्यं विकारं प्राप्तः द्विषत्प्रतापान्तरितोरुतेजः शरद्घनाकीर्णः अह्नः आदिः इव ॥ ४५ ॥

प्राप्त इति । अभिमानस्य व्यसनाद् भ्रंशाद् 'व्यसनं विपदि भ्रंशे दोषे कामजकोपजे' इत्यमरः । दन्तव्यसनाद् दन्तभङ्गाद्दन्तीवासह्यं विकारं वैरूप्यं प्राप्तः । अतो न प्रत्यभिज्ञायत इति भावः । एवमुत्तरत्राप्यनुसन्धेयम् । पुनश्च । द्विषत्प्रतापेन शत्रुतेजसाऽन्तरितं तिरस्कृतमुरु तेजः प्रतापो यस्य स तथोक्तः । अत एव शरद्घनाकीर्णः शरन्मेघच्छन्नोऽह्न आदिः प्रत्यूष इव स्थितः । तद्वदेवाप्रत्यभिज्ञायमान इत्यर्थः । मध्याह्नस्तु मेघावरणेऽपि कथञ्चित्प्रत्यभिज्ञायत एवेत्याशयेनोक्तमादिरिति ॥ ४५ ॥

हिन्दी—अभिमान् अर्थात् अपनी मान-मर्यादा के नष्ट हो जाने से (इस समय) आप दाँतों के टूट जाने से कुरूप हाथी की भाँति असह्य कुरूपता को प्राप्त हो गए हैं । शत्रुओं के प्रताप से आप का तेज मलिन हो गया है अतः आप शरद् ऋतु के मेघों से छिपे हुए प्रभात की भाँति दिखाई पड़ रहे हैं ॥ ४५ ॥

विमर्श—अर्थात् शत्रुओं के प्रताप से आप का तेज बिल्कुल नष्ट हो गया है । दन्तविहीन हाथी के समान मानमर्यादाविहीन आप का जीवन कुरूप हो गया है । यहाँ उपमा अलङ्कार है ।

सव्रीडमन्दैरिव निष्क्रियत्वान्नात्यर्थमस्त्रैरवभासमानः ।
यशः क्षयक्षीणजलार्णवाभस्त्वमन्यमाकारमिवाभिपन्नः ॥ ४६ ॥

अन्वयः—निष्क्रियत्वात् सव्रीडमन्दैः इव अस्त्रैः अत्यर्थं न अवभासमानः यशः क्षयक्षीणजलार्णवाभः त्वम् अन्यम् आकारम् अभिपन्न इव ॥ ४६ ॥

सव्रीडेति । पुनश्च । निष्क्रियत्वादर्थक्रियाशून्यत्वात्सव्रीडमन्दैरिव सव्रीडैरत एव मन्दैरपटुभिरिव स्थितैरित्युत्प्रेक्षा । 'मूढाल्पापटुनिर्भाग्या मन्दाः' इत्यमरः । अस्त्रैरत्यर्थं नावभासमानो न प्रकाशमानः । पूर्वं तु नैवमिति भावः । किं तु यशःक्षयाद्धेतोः क्षीणजलो योऽर्णवस्तदाभस्तत्सदृशस्त्वमन्यमाकारमभिपन्नः प्राप्त इव स्थित इवेत्युत्प्रेक्षा । तस्य क्षीणजलार्णवाभ इत्युपमासंसृष्टिः ॥ ४६ ॥

हिन्दी—उपयोग में न आने के कारण मानों लज्जित एवं कुण्ठित अस्त्रों से (इस समय आप) अत्यन्त शोभायमान नहीं हो रहे हैं, प्रत्युत यश के नष्ट होने से जलहीन समुद्र के समान आप मानों किसी भिन्न ही आकृति को प्राप्त हो गये हैं ॥ ४६ ॥

विमर्श—यहाँ उपमा एवं उत्प्रेक्षा की संसृष्टि है ।

दुःशासनामर्षरजोविकीर्णैरेभिर्विनाथैरिव भाग्यनाथैः ।
केशैः कदर्थीकृतवीर्यसारः कच्चित्स एवासि धनञ्जयस्त्वम् ॥ ४७ ॥

अन्वयः—दुःशासनामर्षरजोविकीर्णैः विनाथैः इव भाग्यनाथैः एभिः केशैः कदर्थीकृतवीर्यसारः त्वं सः एव धनञ्जयः असि कच्चित् ।। ४७ ।।

दुःशासनेति । पुनश्च । दुःशासनस्य कर्तुरामर्षं अमर्षणमाकर्षणं स एव रजो धूलिः । मालिन्यहेतुत्वादिति भावः । तेन विकीर्णैर्विक्षिप्तैरत एव विनाथैरिव स्थितवतां युष्माकमसत्त्वप्रायत्वादनाथैरिव स्थितैरित्युत्प्रेक्षा । अन्यथा कथमियं दुर्दशेति भावः । किन्तु भाग्यनाथैर्दैवमात्रशरणैः । अन्यथा स्वरूपमपि लुप्येतेति भावः। एभिः-परिदृश्यमानैः । असंयमितैरिति भावः । केशैः शिरोरुहैः कुत्सितोऽर्थो वस्तु कदर्थः । 'अर्थोऽभिधेयरैवस्तुप्रयोजननिवृत्तिषु' इत्यमरः । 'कोः कत्तत्पुरुषेऽचि' इति कुशब्दस्य कदादेशः । कदर्थीकृतौ गर्ह्यार्थीकृतौ वीर्यसारौ शौर्यबले यस्य स तथोक्तः । इत्थं पूर्व विलक्षणस्त्वं स एव धनञ्जयोऽसि कच्चित् । 'कच्चित्कामप्रवेदने' इत्यमरः । स एव चेत्त्वं नैवमस्मानुपेक्षस इति भावः ।। ४७ ।।

हिन्दी—दुःशासन के आकर्षण रूप धूलि से धूसरित, मानों असहायों के समान भाग्य के भरोसे रहने वाले इन मेरे केशों से, जिनके बल और पराक्रम का तिरस्कार हो चुका है, तुम क्या वही अर्जुन हो ? ।। ४७ ।।

विमर्श—अर्थात् यदि तुम वही अर्जुन हो तो मुझे भरोसा है कि तुम अब हमारी वैसी उपेक्षा न करोगे और इन्हें फिर पूर्ववत् सुसम्माननीय कर दोगे । यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ।

अथाप्युपेक्षणे दोषमाह—

स क्षत्रियस्त्राणसहः सतां यस्तत्कार्मुकं कर्मसु यस्य शक्तिः ।
वहन् द्वयीं यद्यफलेऽर्थजाते करोत्यसंस्कारहतामिवोक्तिम् ।। ४८ ।।

अन्वयः—यः सतां त्राणसहः सः क्षत्रियः यस्य कर्मसु शक्तिः तद् कार्मुकम् यदि द्वयीम् उक्तिम् अफले अर्थजाते वहन् असंस्कारहताम् इव करोति ।। ४८ ।।

स इति । क्षतात्त्रायत इति क्षत्त्रं क्षत्रियकुलम् । 'सुपि' इति योगविभागात्क-प्रत्ययः । पृषोदरादित्वात्पूर्वपदस्यान्त्यलोपः । अथवा क्षदिति क्विबन्तोपपदात्क-प्रत्ययः । क्षत्त्रे जातः क्षत्त्रियः । 'क्षत्त्राद् घः' इति घप्रत्ययः । कर्मणे प्रभवतीति कार्मुकम् । 'कर्मण उकञ्' इत्युकञ्प्रत्ययः । एवं स्थिते वाक्यार्थः कथ्यते । यः सतां साधूनाम् । सहत इति सहः । पचाद्यच् । त्राणस्य सहस्त्राणसहो रक्षणक्षमः स एव क्षत्रियशब्दवाच्यः । तथा यस्य कार्मुकस्य कर्मसु रणक्रियासु शक्तिः । अस्तीति शेषः । तदेव कार्मुकशब्दवाच्यम् । अत्रैवेन्तौ शब्दौ मुख्यौ । नान्यत्रेत्यर्थः । एवं स्थिते द्वयीं द्विविधामुक्तिम् । द्राविमौ क्षत्रिकार्मुकशब्दावित्यर्थः । अफले । पूर्वोक्तावयवार्थ-शून्ये, अर्थजाते । स्वाभिधेयसामान्यजातिमात्र इत्यर्थः । 'जातं जात्योघजन्मसु' इति विश्वः । वहन् वर्त्तयन् । असंस्कारहतामव्युत्पत्तिदूषितामिव करोतीत्योत्प्रेक्षा । तस्मा-त्त्वमस्मद्रक्षणेनोक्तदोषादात्मानं मोचयस्वेत्यर्थः ।। ४८ ।।

हिन्दी—जो सत्पुरुषों की रक्षा करने में समर्थ है, वही क्षत्रिय है। जिसमें कर्म करने अर्थात् रणक्षेत्र में शक्ति दिखाने की क्षमता है उसी को कार्मुक अर्थात् धनुष कहते हैं। ऐसी स्थिति में इन दोनों शब्दों को (मण्डप और कुशल शब्दों के समान अवयवार्थ शून्य) केवल जातिमात्र में प्रवृत्ति करने वाला मनुष्य इन्हें मानों अव्युत्पत्ति दूषित अर्थात् व्याकरण विरुद्ध वाणी के समान (प्रयोग) करता है ॥४८॥

विमर्श—व्याकरण प्रक्रिया की रीति से प्रकृत्यर्थ और प्रत्ययार्थ मिलकर क्षत्रिय और कार्मुक शब्द से ऐसे ही अर्थ की प्रतीति कराते हैं। यदि कोई क्षत्रिय सत्पुरुषों की रक्षा करने में असमर्थ है तथा धनुष रणभूमि में पराक्रम दिखाने वाला नहीं है तो वे केवल जातिबोधक शब्द हैं जैसे 'मण्डप' और 'कुशल' शब्द हैं। तुम यदि यथार्थ में क्षत्रिय शब्द के अधिकारी हो और तुम्हारा धनुष शक्तिशाली है तो मेरे अपमान का बदला चुकाकर अपना कलङ्क दूर करो। यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार है।

अथ त्वद्गुणा अपि नोज्जीवयेयुरित्याह —

वीतौजसः सन्निधिमात्रशेषा भवत्कृतां भूतिमपेक्षमाणाः।
समानदुःखा इव नस्त्वदीयाः सरूपतां पार्थ ! गुणा भजन्ते ॥४९॥

अन्वयः—हे पार्थ! वीतौजसः सन्निधिमात्रशेषाः भवत्कृतां भूतिम् अपेक्षमाणाः त्वदीयाः गुणाः समानदुःखाः इव नः सरूपतां भजन्ते ॥ ४९ ॥

वीतेति। हे पार्थ ! वीतौजसो निष्प्रभाः सन्निधिमात्रशेषाः सत्तामात्रावशिष्टा भवत्कृतां भवता करिष्यमाणाम्। 'आशंसायां भूतवच्च' इति भूतवत्प्रत्ययः। भूतिमभ्युदयमपेक्षमाणास्त्वदीया गुणाः समानदुःखाः समदुःखभाज इव नोऽस्माकं सरूपतां वीतौजस्त्वादिसाधर्म्यं भजन्त इत्युपमा। सा च समानदुःखा इवेत्युत्प्रेक्षया वीतौजस्त्वादिसम्भावितयाऽनुप्राणितेत्यनुसन्धेयम् ॥४९॥

हिन्दी—हे अर्जुन! कान्तिविहीन, अस्तित्वमात्र शेष, आपके द्वारा सम्भव अभ्युदय की अपेक्षा रखने वाले आपके शौर्यादि गुण मानों समान दुःखभोगी के समान हमारी समानधर्मिता प्राप्त कर रहे हैं ॥ ४९ ॥

विमर्श—अर्थात् जैसे हम लोग कान्तिविहीन हैं, प्राणमात्र धारण किये हैं और आपके अभ्युदयाकांक्षी हैं, वैसे ही आपके शौर्यादि गुण भी इस समय हो गये हैं। यहाँ उत्प्रेक्षा से अनुप्राणित उपमा अलङ्कार है।

तथाऽपि ममैव कोऽयं भार इत्यत आह —

आक्षिप्यमाणं रिपुभिः प्रमादान्नागैरिवालूनसटं मृगेन्द्रम्।
त्वां धूरियं योग्यतयाऽधिरूढा दीप्त्या दिनश्रीरिव तिग्मरश्मिम् ॥५०॥

अन्वयः—नागैः आलूनसटं मृगेन्द्रम् इव प्रमादाद् रिपुभिः आक्षिप्यमाणं त्वाम् इयं धूः तिग्मरश्मिम् दीप्त्या दिनश्रीः इव योग्यतया अधिरूढा ॥ ५० ॥

आक्षिप्येति । प्रमादात्प्रज्ञाहीनत्वात् । न तु दौर्बल्यादिति भाव: । रिपुभिराक्षिप्यमाणमभिक्षिप्यमाणमत एव प्रमादात् । नागैर्गजै: । 'ग्रहेभाहिगजा नागा:' इति वैजयन्ती । आलूनसटमाक्षिप्तकेसरम् । 'सटा जटाकेसरयो:' इत्यमर: । मृगेन्द्रं सिंहमिव स्थितम् । त्वामियं धू: कार्यभार: । तिग्मरश्मिं सूर्यं दीप्त्या दिनश्रीरिव योग्यतया निर्वाहकयाऽधिरूढाऽऽरूढवती । कर्त्तरि क्त: । त्वदधीनेत्यर्थ: ।। ५० ।।

हिन्दी—हाथियों द्वारा जिसके गर्दन के बाल नोच लिये गये हैं -ऐसे सिंह की भाँति, अपनी असावधानी के कारण शत्रुओं द्वारा अपमानित आपके ऊपर, योग्य समझकर यह कार्य-भार उसी प्रकार से आरूढ हो रहा है जिस प्रकार से दिनश्री अपनी कान्ति से प्रचण्ड किरणों वाले सूर्य का आश्रय लेती है ।। ५० ।।

विमर्श—जिस प्रकार से दिनश्री सूर्य का आश्रय लेती है उसी प्रकार से हमारे शत्रुओं के विनाश का भार केवल आपके ऊपर है । यहाँ उपमा अलङ्कार है ।

पूर्वं निर्व्यवसायस्य 'स क्षत्रिय:' – इत्यादिना दोष उक्त: । संप्रति व्यवसायिना गुणमाह—

करोति योऽशेषजनातिरिक्तां सम्भावनामर्थवतीं क्रियाभि: ।
संसत्सु जाते पुरुषाधिकारे न पूरणी तं समुपैति संख्या ।। ५१ ।।

अन्वय:—य: अशेषजनातिरिक्तां सम्भावनां क्रियाभि: अर्थवतीं करोति, तं संसत्सु पुरुषाधिकारे जाते पूरणी संख्या न समुपैति ।। ५१ ।।

करोतीति । य: पुमान् अशेषजनादितरजनादतिरिक्तामधिकाम् । सर्वातिशायिनीमित्यर्थ: । सम्भावनां योग्यतां क्रियाभिश्चरितैरर्थवतीं सफलां करोति । तं पुमांसं संसत्सु सभासु 'सभासमितिसंसद:' इत्यमर: । पुरुषाधिकारे योग्यपुरुषगणनाप्रस्तावे जाते सति पूर्यतेऽनयेति पूरणी संख्या । द्वित्वादिसंख्या । न समुपैति न गच्छति । अद्वितीयो भवतीत्यर्थ: । तस्मादसाधारणलाभाय त्वयाऽपि महानुत्साह आस्थेय इति भाव: ।। ५१ ।।

हिन्दी—जो मनुष्य सर्वसाधारण से ऊपर उठकर अधिक योग्यता वाले कार्य को अपने प्रयत्नों से सफल करता है, उसी को सभा में योग्य पुरुष की गणना का प्रस्ताव उपस्थित होने पर, समानता के लिए कोई दूसरी संख्या नहीं मिलती ।। ५१ ।।

विमर्श—अर्थात् सभा में वही सर्वश्रेष्ठ अथवा अद्वितीय पुरुष माना जाता है, जो साधारण मनुष्यों की शक्ति से ऊपर उठ कर कोई असाधारण कार्य कर दिखलाता है । यहाँ काव्यलिङ्ग अलङ्कार है ।

अथ द्वाभ्यां सुलभविपक्षस्य प्रोषितस्यार्जुनस्य कर्त्तव्यमुपदिशति —

अन्वय:—पार्थ! प्रियेषु उपपत्ते: बिना विचिन्त्यमानै: यै: चेत: क्लमम् एति जयाय प्रयातस्य तव तेषाम् अघानां मघवा विघातं क्रियात् ।। ५२ ।।

प्रियेहे ष्विति । पार्थ ! प्रियेष्वस्मासु विषये । उपपत्तेः कारणाद्विनैव विचिन्त्य-मानैर्यैरघैश्चेतः क्लमं खेदमेति । जयाय प्रयातस्य तव सम्बन्धिनां तेषामघानां व्यसनानाम् । 'दुःखैनोव्यसनेष्वघम्' इत्यमरः । मघवेन्द्रः । योऽस्माभिरुपास्यत इति भावः । विघातं निवारणं क्रियात्करोतु । आशिषि लिङ् । तस्मादस्मच्चिन्तया न चेतः खेदयितव्यं जयार्थिना त्वया । अन्यथा तदसम्भवादिति भावः ॥ ५२ ॥

हिन्दी—हे अर्जुन! हम प्रियजनों के विषम में जो दुःख बिना किसी कारण के ही, चिन्तन किये जाने मात्र से तुम्हारे चित्त को खिन्न कर देने वाले हैं, विजयार्थ प्रस्थित तुम्हारे उन (सब) दुःखों को देवराज इन्द्र नष्ट करें ॥ ५२ ॥

विमर्श—द्रौपदी के कथन का तात्पर्य यह है कि हम लोगों के कल्याण के सम्बन्ध में आपके चित्त में जो आशङ्काएँ हों वह इन्द्र की कृपा से दूर हो जायँ, अर्थात् आप वहाँ पहुँचकर हम सब की चिन्ता न करें, अन्यथा आपकी विजयाभिलाषा में बाधा पहुँचेगी ।

मा गाश्चिरायैकचरः प्रमादं वसन्नसम्बाधशिवेऽपि देशे ।
मात्सर्यरागोपहतात्मनां हि स्खलन्ति साधुष्वपि मानसानि ॥ ५३ ॥

अन्वयः—असम्बाधशिवे अपि देशे चिराय एकचरः वसन् प्रमादं मागाः । हि मात्सर्यरागोपहतात्मनां मानसानि साधुषु अपि स्खलन्ति ॥ ५३ ॥

मा गा इति । असम्बाधोऽसङ्कटः । विजन इत्यर्थः । 'सङ्कटं ना तु सम्बाधः' इत्यमरः । शिवो निर्बाधः । द्वयोरन्यतरस्य विशेष्यत्वविवक्षायां विशेषणसमासः । अस्मिन्नसम्बाधशिवेऽपि देशे चिराय चिरमेकश्चासौ चरश्चेत्येकचर एकाकी वसन् प्रमादं दौर्बल्यं मा गाः । 'इणो गा लुङि' इति गाऽऽदेशः । ननु निःस्पृहस्य ममाकिञ्चित्करः प्रमाद इति वाच्यमित्याशङ्क्याह — मात्सर्येति । मत्सर एव मात्सर्यं द्वेषो रागः स्नेहस्ताभ्यामुपहतात्मनां रागद्वेषदूषितस्वभावानां मानसानि मनांसि साधुषु सज्जनेष्वपि विषये स्खलन्ति विकुर्वते हि । अत्र प्रमादनिषेधलब्धाप्रमादरूपकारणेनार्थ-प्राप्तिरूपकार्यस्य व्यतिरेककारणसमर्थनाद्वैधर्म्येण कार्यकारणसमर्थनरूपोऽर्थान्तर-न्यासः ॥ ५३ ॥

हिन्दी—(उस) निर्जन और विघ्नबाधा से रहित स्थान में भी चिरकाल तक अकेले निवास करते हुए तुम कोई असावधानी मत करना, क्योंकि राग द्वेष से दूषित स्वभाव वाले व्यक्तियों के चित्त महापुरुषों के सम्बन्ध में भी विकृत हो जाते हैं ॥ ५३ ॥

विमर्श—रागद्वेष से दूषित लोग महापुरुषों के सम्बन्ध में भी जब विकृत धारणाएँ बना लेते हैं तो उस निर्जन देश में यद्यपि कोई विघ्नबाधा नहीं आयेगी तथापि असहाय होने के कारण कोई असावधानी मत करना, क्योंकि अकेले में चित्त का विक्षुब्ध होना स्वाभाविक है । यहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ।

तदाशु कुर्वन्वचनं महर्षेर्मनोरथान्नः सफलीकुरुष्व ।
प्रत्यागतं त्वाऽस्मि कृतार्थमेव स्तनोपपीडं परिरब्धुकामा ।। ५४ ।।

अन्वयः—तद् आशु महर्षेः वचनम् कुर्वन् नः मनोरथान् सफलीकुरुष्व । कृतार्थं प्रत्यागतम् एव त्वां स्तनोपपीडं परिरब्धुकामा अस्मि ।। ५४ ।।

तदिति । तत्तस्मात्कारणात् । आशु शीघ्रं महर्षेर्वचनं कुर्वन् । तपस्यन्नित्यर्थः । नोऽस्माकं मनोरथान्सफलीकुरुष्व । अरिनिर्यातनेनास्मान्प्रतिष्ठापयेत्यर्थः । प्रार्थनायां लोट् । किञ्च, कृतार्थं कृतकृत्यं प्रत्यागतमेव त्वा त्वाम् । 'त्वामौ द्वितीयायाः' इति त्वाऽऽदेशः । स्तनयोरुपपीड्य स्तनोपपीडम् । 'सप्तभ्यां चोपपीडरुधोः' इति णमुल् । परिरब्धुं कामो यस्याः सा परिरब्धुकामाऽस्मि । आलिङ्गितुमिच्छामीत्यर्थः । 'तुं काम-मनसोरपि' इति मकारलोपः । प्राक्कार्यसिद्धेः प्रमदाऽऽलिङ्गनमपि न प्रीतिदमिति भावः ।

हिन्दी—इसलिये शीघ्र की महर्षि वेदव्यास जी के आदेश का पालन करते हुए तुम हम लोगों के मनोरथ को सफल बनाओ । कार्य पूरा करके वापस लौट कर आने पर ही तुम्हें आलिङ्गन करने की मैं अभिलाषिणी हूँ ।। ५४ ।।

विमर्श—कार्यसिद्धि के पूर्व इस समय तुम्हें मेरा आलिङ्गन करना भी उचित नहीं है । यहाँ अर्थापत्ति अलङ्कार है ।

उदीरितां तामिति याज्ञसेन्या नवीकृतोद्ग्राहितविप्रकाराम् ।
आसाद्य वाचं स भृशं दिदीपे काष्ठामुदीचीमिव तिग्मरश्मिः ।। ५५ ।।

अन्वयः—सः इति याज्ञसेन्या उदीरितां नवीकृतोद्ग्राहितविप्रकारां तां वाचम् आसाद्य उदीचीं काष्ठाम् तिग्मरश्मिः इव भृशं दिदीपे ।। ५५ ।।

उदीरितामिति । सोऽर्जुन इतीत्थं यज्ञसेनस्यापत्येन स्त्रिया याज्ञसेन्या द्रौपद्योदी-रितामुक्ताम् । नवीकृतः पुनरुद्धाटनेन तथा प्रत्यायितोऽत एवोद्ग्राहितो मनसि निधापितश्च विप्रकारः परिभवो यया सा तां वाचमासाद्य आकर्ण्येत्यर्थः । उदीचीं काष्ठां दिशम् । 'दिशस्तु ककुभः काष्ठा आशाश्च हरितश्च ताः' इत्यमरः । तिग्मरश्मिरिव । भृशं दिदीपे जज्वाल । चुक्रोधेत्यर्थः ।। ५५ ।।

हिन्दी—राजा यज्ञसेन की कन्या द्रौपदी की इस प्रकार कही गई उन बातों को सुनकर, जिसने शत्रुओं के अपकार को फिर से नूतन रूप देकर हृदय में जमा दिया, अर्जुन उत्तर दिशा में प्राप्त सूर्य की तरह अत्यन्त जल उठे ।। ५५ ।।

विमर्श—उत्तर दिशा (उत्तरायण) में पहुँच कर सूर्य जिस प्रकार से अत्यन्त दीप्त हो जाते हैं, उसी प्रकार से द्रौपदी की बातें सुनकर अर्जुन अत्यन्त क्रोध से जल उठे । पदार्थहेतुक काव्यलिङ्ग और उपमा अलङ्कार की संसृष्टि ।

अथाभिपश्यन्निव विद्विषः पुरः पुरोधसाऽऽरोपितहेतिसंहतिः ।
बभार रम्योऽपि वपुः स भीषणं गतः क्रियां मन्त्र इवाभिचारिकीम् ।। ५६ ।।

अन्वयः—अथ विद्विषः पुरः अभिपश्यन् इव पुरोधसा आरोपितहेतिसंहतिः सः रम्यः अपि आभिचारिकीम् क्रियां गतः मन्त्रः इव भीषणं वपुः बभार ॥ ५६ ॥

अथेति । अथ विद्विषः शत्रून्पुरोऽभिपश्यन्निव स्थितस्तथा पुरोधसा धौम्येनारोपिता समन्त्रमाहिता हेतिसंहतिरायुधकलापो यस्य स तथोक्तः । 'हेतिर्ज्वालाऽङ्कुरायुधे' इति वैजयन्ती । सोऽर्जुनो रम्यः सौम्यः सन्नपि । अभिचारः परहिंसा प्रयोजनं यस्याः साऽऽभिचारिकी । 'प्रयोजनम्' इति ठञ् । तां क्रियां गतः । अभिचारुकर्मणि नियुक्त इत्यर्थः । मन्त्र इव रम्यः प्रकृत्या रमणीयः । भीषयत इति भीषणम् । नन्द्यादित्वाल्ल्युप्रत्ययः । वपुर्बभार । शान्तो मन्त्रः प्रयोगभेदादिव सोऽप्यवस्थाभेदाद्भीषणो बभूवेत्यर्थः ॥ ५६ ॥

हिन्दी—तदनन्तर शत्रुओं को सामने उपस्थित की तरह देखते हुए, पुरोहित (धौम्य) द्वारा मन्त्रोच्चारण सहित उपस्थापित शस्त्रों से युक्त अर्जुन ने रम्याकृति होते हुए भी दूसरों के मारण अनुष्ठान में प्रयुक्त मन्त्र के समान, अति भयङ्कर स्वरूप धारण कर लिया ॥ ५६ ॥

विमर्श—जिस प्रकार मारण आदि आभिचारिक अनुष्ठानों में नियुक्त मन्त्र भयङ्कर हो जाते हैं उसी प्रकार से मनोहर आकृति होते हुए भी धौम्य द्वारा मन्त्रोच्चारण पूर्वक उपस्थापित शस्त्रों से अर्जुन भयानक हो गये । उपमा अलङ्कार ।

अविलङ्घ्यविकर्षणं परैः प्रथितज्यारवकर्म कार्मुकम् ।
अगतावरिदृष्टिगोचरं शितनिस्त्रिंशयुजौ महेषुधी ॥ ५७ ॥
यशसेव तिरोदधन्मुहुर्महसा गोत्रभिदायुधक्षतीः ।
कवचं च सरत्नमुद्वहञ्ज्वलितज्योतिरिवान्तरं दिवः ॥ ५८ ॥
अलकाऽधिपभृत्यदर्शितं शिवमुर्वीधरवर्त्म सम्प्रयान् ।
हृदयानि समाविवेश स क्षणमुद्बाष्पदृशां तपोभृताम् ॥ ५९ ॥

अन्वयः—परैः अविलङ्घ्यविकर्षणं प्रथितज्यारवकर्म कार्मुकम् अरिदृष्टिगोचरम् अगतौ शितनिस्त्रिंशयुजौ महेषुधी; गोत्रभिदायुधक्षतीः महसा यशसा इव मुहुः तिरोदधद्, सरत्नं ज्वलितज्योतिः दिवः अन्तरम् इव कवचं च उद्वहन्; सः अलकाऽधिपभृत्यदर्शितं शिवम् उर्वीधरवर्त्म सम्प्रयान् क्षणं उद्बाष्पदृशां तपोभृतां हृदयानि समाविवेश ॥ ५७-५९ ॥

अविलंघ्येति । परैः शत्रुभिरविलङ्घ्यमनतिक्रमणीयं विकर्षणं यस्य तत् । अमोघाकर्षणमित्यर्थः । किञ्च प्रथितो ज्यारवो गुणध्वनिः कर्म बाणमोक्षणादिकं च यस्य तत्कार्मुकं चोद्वहन्नित्यन्वयः । तथाऽरीणां दृष्टिगोचरं दृष्टिपथमगतौ । आहवेष्वनिवर्त्तित्वादस्येति भावः । निर्गतस्त्रिंशतोऽङ्गुलिभ्यो निस्त्रिंशः खड्गः । डप्रत्यये संख्यायास्तत्पुरुषस्योपसंख्यानात्समासान्तः । तेन शितेन तीक्ष्णेन युङ्क्त इति शितनिस्त्रिंशयुजौ । 'सत्सूद्विष'' इत्यादिना क्विप् । महेषुधी महानिषङ्गौ । इषवो धीयन्तेऽ-

नयोरिति विग्रहः । 'कर्मण्यधिकरणे च' इति क्विप्रत्ययः । 'तूणोपासङ्गतूणीरनिषङ्गा इषुधिर्द्वयोः । तूण्यां खड्गे तु निस्त्रिंशचन्द्रहासासिरिष्टयः' इत्यमरः ।

यशसेति । किञ्च । गोत्रभिद इन्द्रस्यायुधक्षतीर्वज्रप्रहाररन्ध्राणि । खाण्डवदाहसम्भवादिति भावः । महसा स्वकान्त्या यशसेव मूर्त्या कीर्त्येव मुहुस्तिरोदधदाच्छादयन् । सरत्नं रत्नसहितमत एव ज्वलितज्योतिर्दीप्ततारकम् । 'ज्योतिस्ताराऽग्निभाज्वालादृक्पुत्रात्मधरासु च' इति वैजयन्ती । दिवोऽन्तरं नभो मध्यमिवावस्थितम् । 'अन्तरं परिधानीये बाह्ये स्वीयेऽन्तरात्मनि । क्लीवे मध्ये प्रकाशे च' इति वैजयन्ती । कवचं चोद्वहन् ॥ ५७—५८ ॥

अलकेति । सोऽर्जुनोऽलकाऽधिपभृत्येन यक्षेण दर्शितमतः शिवं निर्बाधमुर्वीधरवर्त्म हिमवन्मार्गं प्रति सम्प्रयान् गच्छन् क्षणमुद्बाष्पदृशां वियोगदुःखात्साश्रुनेत्राणां तपोभृतां द्वैतवननिवासिनां तपस्विनां हृदयानि समाविवेश। खेदयामासेत्यर्थः ॥ ५९ ॥

हिन्दी—खींचे जाने पर शत्रु जिससे (धनुष से) पार नहीं पा सकते, जिसकी प्रत्यञ्चा की टङ्कार और (लक्ष्य वेधादिक) कार्य प्रसिद्ध हैं (ऐसे गाण्डीव धनुष तथा पीठ पर बाँधे होने के कारण) जो शत्रु की दृष्टि में नहीं आते थे, तथा तेज तलवार से युक्त थे (ऐसे दो तरकस धारण किये हुए) देवराज इन्द्र के वज्र-प्रहार के चिह्नों को मानों अपने तेज से मूर्तिमान यश की भाँति बारम्बार आच्छादित करने वाले तथा रत्नयुक्त होने के कारण मानों उज्ज्वल नक्षत्रों से युक्त आकाश के मध्य भाग की भाँति सुशोभित कवच को धारण किये हुए, अर्जुन ने अलकापति कुबेर के सेवक उस यक्ष द्वारा दिखाये गये निर्बाध हिमवान् पर्वत के मार्ग पर जाते हुए, क्षणभर के लिए वियोग से दुःखित होने के कारण अश्रु से भरे नेत्रों वाले उन (द्वैतवन निवासी) तपस्वियों के चित्तों में प्रवेश कर लिया । (अर्थात् उनको अपने वियोग से खिन्न कर दिया) ॥ ५७-५९ ॥

विमर्श—अपने उत्कृष्ट गाण्डीव धनुष, तेज तलवार से युक्त दो तरकस तथा रत्न-जटित देदीप्यमान कवच को धारण कर अर्जुन हिमालय की ओर यक्ष के साथ चल पड़े । उस समय उन्हें इस प्रकार जाते देखकर द्वैत-वनवासी तपस्वियों का मन खिन्न हो गया । यहाँ द्वितीय श्लोक में उपमा और उत्प्रेक्षा अलङ्कार की संसृष्टि तथा तृतीय श्लोक में पदार्थहेतुक काव्यलिङ्ग अलङ्कार है ।

अनुजगुरथ दिव्यं दुन्दुभिध्वानमाशाः
सुरकुसुमनिपातैर्व्योम्नि लक्ष्मीर्वितेने ।
प्रियमिव कथयिष्यन्नालिलिङ्ग स्फुरन्तीं
भुवमनिभृतवेलावीचिबाहुः पयोधिः ॥ ६० ॥

॥ इति भारविकृतौ महाकाव्ये किरातार्जुनीये तृतीयः सर्गः ॥ ३ ॥

अन्वयः—अथ आशाः दिव्यं दुन्दुभिध्वानम् अनुजगुः, व्योम्नि सुरकुसुम निपातैः लक्ष्मीः वितेने, अनिभृतवेलावीचिबाहुः पयोधिः स्फुरन्तीं भुवम् प्रियं कथयिष्यन् इव आलिलिङ्ग ।। ६० ।।

अनुजगुरिति । अथाशा दिशः । दिवि भवं दिव्यम् । 'द्युप्रागपागुदक्प्रतीचो यत्' । दुन्दुभिध्वानमनुजगुरनुदध्वनुः । गायतेर्लिट् । व्योम्नि सुरकुसुमनिपातैर्लक्ष्मीर्वितेने । पुष्पवृष्टिश्चाजनिष्टेत्यर्थः । किञ्च । अनिभृताश्चञ्चला वेलायां कूले या वीचयस्ता एव बाहवो यस्य स तथोक्तः । 'वेला कूलविकारयोः' इति शाश्वतः । 'पयोधिः स्फुरन्तीं हर्षात्स्पन्दमानां च भुवं प्रियमिष्टं भारावतारणरूपं कथयिष्यन्निव । कथयितुमिवेत्यर्थः । 'लृट् शेषे च' इति चकारात्क्रियार्थायां क्रियायां लृट् । आलिलिङ्ग । सर्वं चेदं शिवं दैवकार्यप्रवृत्तत्वादस्येति भावः । अत्र विशेषणमात्रसाम्यादप्रस्तुतस्य गम्यत्वात् समासोक्तिरलङ्कारः । तत्र चाप्रस्तुतयोर्भूमिसमुद्रयोः प्रतिपन्नाभ्यां नायकाभ्यां भेदेऽभेदलक्षणातिशयोक्तिवशादालिङ्गनोक्तिरिति रहस्यम् । एवमतिशयोक्त्यनुप्राणिता समासोक्तिः । प्रियकथनात्स्नेहमुज्जीवयति तदङ्गभावं भजत इत्युभयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्कर इति विवेचनीयम् ।। ६० ।।

इति श्रीमहामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितायां किरातार्जुनीयकाव्यव्याख्यायां घण्टापथसमाख्यायां तृतीयः सर्गः समाप्तः ।। ३ ।।



हिन्दी—तदनन्तर (तपस्या के लिये अर्जुन के चले जाने के पश्चात्) दिशाएँ आकाश में दिव्य दुन्दुभियों की आवाज करने लगीं, पारिजात आदि देव-कुसुमों की वृष्टि से आकाशमण्डल में विचित्र शोभा हो गई और तट पर पहुँचने वाली चञ्चल-तरङ्गरूपी भुजाओं से समुद्र भी मानों हर्षातिरेक से भरी पृथ्वी को प्रिय सन्देश सुनाते हुए की भाँति आलिङ्गन करने लगा ।। ६० ।।

विमर्श—अर्थात् सर्वत्र शुभ-शकुन होने लगे । दिशा, आकाश, समुद्र और पृथ्वी-सब आनन्द से भर गये । समुद्र पृथ्वी को यह शुभ सन्देश सुनाने लगा कि अब शीघ्र ही तुम्हारा असह्य भार उतरने वाला है, क्योंकि अन्यायियों के विनाशार्थ ही अर्जुन तपस्या करने जा रहे हैं । उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति से अनुप्राणित समासोक्ति अलङ्कार का अङ्गाङ्गी भाव से सङ्कर ।

।। इस प्रकार श्रीभारविकृत किरातार्जुनीयम् महाकाव्य के तृतीय सर्ग की डॉ सुधाकर मालवीय कृत हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ।। ३ ।।



चतुर्थः सर्गः

ततः स कूजत्कलहंसमेखलां सपाकसस्याहितपाण्डुतागुणाम् ।
उपाससादोपजनं जनप्रियः प्रियामिवासादितयौवनाम् भुवम् ॥१॥

अन्वयः—ततः जनप्रियः सः कूजत्कलहंसमेखलाम् सपाकसस्याहितपाण्डुता-गुणाम् भुवम् आसादितयौवनाम् प्रियाम् इव उपजनम् उपआससाद ॥ १ ॥

ततं इति । **ततः प्रस्थानानन्तरं जनप्रियः जनप्रियः सोर्जुनः । कलहंसा मेखला इवेत्युपमितसमासः । अन्यत्र कलहंसा इव मेखलेति विशेषणामासः । कूजन्ती कलहंसमेखला यस्यास्ताम् । सह पाकेन वर्तन्त इति सपाकानि सस्यानि तैः सस्यैराहितः संपादितः पाण्डुतैव गुणो यस्यास्तां भुवमासादितयौवनां प्राप्तयौवनां प्रियामिव । उपजनं जनसमीपे । अन्यत्र सखीसमक्षम् । समीपार्थेऽव्ययीभावः ।** उपाससादोपगतवान् । उपमालङ्कारः ॥१ ॥

हिन्दी—तदनन्तर सर्वजनप्रिय अर्जुन मधुर ध्वनि करती हुई मेखला के समान राजहंसों को धारण करने वाली तथा पके हुए अन्नों से पीले वर्णों वाली पृथ्वी के पास, (मधुर ध्वनि करने वाले राजहंसों के समान मेखला धारण करने वाली) युवावस्था प्राप्त अपनी प्रियतमा के पास पहुँचने की भाँति जन समीप में (सखियों के समक्ष) पहुँच गये ॥ १ ॥

विमर्श—जिस प्रकार कोई नायक उसकी सखियों के समक्ष अपनी युवती प्रियतमा के पास पहुँच जाता है, उसी प्रकार लोकप्रिय अर्जुन उस भूमि में पहुँच गये, जहाँ कृषकों का निवास था । यहाँ उपमा अलङ्कार है ।

विनम्रशालिप्रसवौघशालिनीरपेतपङ्काः ससरोरुहाम्भसः ।
ननन्द पश्यन्नुपसीम स स्थलीरुपायनीभूतशरद्गुणश्रियः ॥ २ ॥

अन्वयः—सः विनम्रशालिप्रसवौघशालिनीः अपेतपङ्का ससरोरुहाम्भसः उपायनीभूतशरद्गुणश्रियः उपसीम स्थलीः पश्यन् ननन्द ॥ २ ॥

विनम्रेति । **सोऽर्जुनो विनम्रशालिप्रसवौघशालिनीः = अवनतशालिफलस्तोम-शोभिनीरपेतपङ्का निष्पङ्काः ससरोरुहाण्यम्भांसि यासु तास्तथोक्ताः उपायनीभूता अर्जुनं प्रत्युपहारीभूताः शरद्गुणश्रियः पूर्वोक्ताः शरद्धर्मसंपदो यासु ताः । उपसीम ग्रामसी-मासु । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । समासान्तविधेरनित्यत्वात् 'अनश्च' इति समासान्तो न भवति। केचित्तु—'अप्यन्येषां कठिनवपुषां दुर्गमे ग्रामसीम्नि' इत्यादौ नपुंसकप्रयोग-दर्शनात् 'नपुंसकादन्यतरस्याम्' इति विकल्पात्साधुरित्याहुः । स्थलीरकृत्रिमा भुवः ।**

'जानपद—' इत्यादिना अकृत्रिमार्थे ङीष् । पश्यन्ननन्द जहर्ष । अत्र शरद्गुणेषु तादात्मयेनारोप्यमाणस्योपायनस्य प्रकृते नन्दनक्रियोपयोगित्वात् परिणामालङ्कारः ॥ २ ॥

हिन्दी—अर्जुन नीचे की ओर झुकी हुई धान की बालों से सुशोभित, पङ्क विहीन तथा कमलों से युक्त जलों वाली ऐसी सहज मनोहर ग्राम-सीमा की भूमि को देखते हुए बहुत हर्षित हुए, जिसमें शरद् ऋतु की सम्पूर्ण समृद्धियाँ उन्हें भेंट रूप में अर्पित कर दी गई थीं ॥ २ ॥

विमर्श—यहाँ परिणाम अलङ्कार है ।

निरीक्ष्यमाणा इव विस्मयाकुलैः पयोभिरुन्मीलितपद्मलोचनैः ।
हृतप्रियादृष्टिविलासविभ्रमा मनोऽस्या जहुः शफरीविवृत्तयः ॥ ३ ॥

अन्वयः—विस्मयाकुलैः उन्मीलितपद्मलोचनैः पयोभिः निरीक्ष्यमाणः इव स्थिताः हृतप्रियादृष्टिविलासविभ्रमाः शफरीविवृत्तयः अस्य मनः जहुः ॥ ३ ॥

निरीक्ष्यमाणा इति । विस्मयाकुलैराश्चर्यरसाविष्टैरत एवोन्मीलितानि पद्मानीव लोचनानि येषां तैः पयोभिरम्भोभिर्निरीक्ष्यमाणा इव स्थिताः । हृतः प्रियादृष्टिविलासानां विभ्रमः शोभा याभिस्तास्तथोक्ता इति मनोहरणे हेतूक्तिः । 'विभ्रमः संशये भ्रान्तौ शोभायां च' इति वैजयन्ती । शफरीविवृत्तयो मत्स्यीस्फुरितान्यस्यार्जुनस्य मनो जहुः ॥ ३ ॥

हिन्दी—आश्चर्य रस से भरे, खिले हुये कमल रूपी नेत्रों के द्वारा मानो जलों द्वारा देखी जाती हुई तथा प्रियतमा रमणियों के दृष्टि-विलास की चञ्चलता को हरण करने वाली शफरी (सहरी) मछलियों की उछल-कूद की चेष्टाओं ने अर्जुन के मन को हर लिया ॥ ३ ॥

विमर्श—मार्ग के सरोवरों में कमल खिले थे और सहरी मछलियाँ उछल कूद रहीं थीं, जिन्हें देखकर अर्जुन का मन मुग्ध हो गया । रूपक और उत्प्रेक्षा अलङ्कार का सङ्कर ।

तुतोष पश्यन्कलमस्य सोऽधिकं सवारिजे वारिणि रामणीयकम् ।
सुदुर्लभे नार्हति कोऽभिनन्दितुं प्रकर्षलक्ष्मीमनुरूपसङ्गमे ॥ ४ ॥

अन्वयः—सः सवारिजे वारिणि कलमस्य रामणीयकम् पश्यन् अधिकं तुतोष, सुदुर्लभे अनुरूपसङ्गमे प्रकर्षलक्ष्मीम् अभिनन्दितुं कः न अर्हति ॥ ४ ॥

तुतोषेति । सोर्जुनः सवारिजे साम्बुजे वारिणि कलमस्य शालिविशेषस्य । 'शालयः कलमाद्याश्च षष्टिकाद्याश्च पुंस्यमी' इत्यमरः । रमणीयस्य भावो रामणीयकम् । 'योपधाद्गुरूपोत्तमाद्वुञ्' । तत्पश्यन्नधिकं तुतोष । अनुरूपसङ्गमादिति भावः । तथाहि । सुदुर्लभेऽनुरूपसङ्गमे योग्यसमागमे लब्धे सतीति शेषः । प्रकर्षलक्ष्मीं योग्यसमागमननिमित्ताम् उत्कर्षसम्पदमभिनन्दितुं स्तोतुं को नार्हति । सर्वोऽप्यभिनन्दत्येवेत्यर्थः । सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ।

हिन्दी—अर्जुन कमलों से सुशोभित जल में जड़हन धान की मनोहर शोभा को देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुए । क्यों न होते? अत्यन्त दुर्लभ और योग्य व्यक्तियों के समागम की उत्कृष्ट शोभा का अभिनन्दन कौन नहीं करना चाहता? ॥ ४ ॥

विमर्श—अर्थात् ऐसे सुन्दर समागम की शोभा का सभी अभिनन्दन करते हैं । यहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ।

नुनोद तस्य स्थलपद्मिनीगतं वितर्कमाविष्कृतफेनसन्तति ।
अवाप्तकिञ्जल्कविभेदमुच्चकैर्विवृत्तपाठीनपराहतं पयः ॥ ५ ॥

अन्वयः—उच्चकैः विवृत्तपाठीनपराहतं आविष्कृतफेनसन्तति आवाप्तकिञ्जल्क विभेदम् पयः तस्य स्थलपद्मिनीगतम् वितर्कम् नुनोद ॥ ५ ॥

नुनोदेति । आविष्कृता प्रकटीकृता फेनसन्ततिर्डिण्डीरसमूहो यस्य तत्तथोक्तम् । 'डिण्डीरोऽब्धिकफः फेनः' इत्यमरः । अवाप्तः किञ्जल्कविभेदः केसरोपगमो येन तत्तथोक्तम् । कुतः । उच्चकैरुच्चकं यथा तथा विधृत्तेन लुठितेन पाठीनेन मत्स्यविशेषेण पराहतं ताडितम्, 'सहस्रदंष्ट्रः पाठीनः' इत्यमरः । पयः कर्तृ तस्यार्जुनस्य स्थलपद्मिनीगतम् । तद्गोचरमित्यर्थः । वितर्कं संशयं नुनोद चिच्छेद । पाठीनपराहत्या किञ्जल्कापायेन जलदर्शनात् स्थलपद्मिनीशङ्का निधृत्तेत्यर्थः । अत्र निश्चयोत्तरसंदेहालङ्कारः ॥ ५ ॥

हिन्दी—ऊँचाई तक उछलती हुई रोहू नामक मछलियों से ताडित होने के कारण, फेन समूहों को प्रकट करने वाले तथा सटे हुये पद्मों के केसर समूहों से सुशोभित जल ने अर्जुन की (कमलों में) गुलाब के फूल सम्बन्धी शङ्का को निवृत्त कर दिया ॥ ५ ॥

विमर्श—रोहू मछलियाँ जब ऊँचाई तक कूदती थीं, तब जल के ऊपर तैरने वाली पद्म-केसर दूर हट जाती थी तथा निर्मल जल में फेनों के समूह भी दिखाई पड़ने लगते थे, इससे कमलों के पुष्पों में अर्जुन को गुलाब के पुष्प होने की जो शङ्का हो रही थी, वह निवृत्त हो गयी । यहाँ निश्चयोत्तर सन्देह अलङ्कार है ।

कृतोर्मिरेखं शिथिलत्वमायता शनैः शनैः शान्तरयेण वारिणा ।
निरीक्ष्य रेमे स समुद्रयोषितां तरङ्गितक्षौमविपाण्डु सैकतम् ॥ ६ ॥

अन्वयः—सः शनैः शनैः शिथिलत्वम् आयता शान्तरयेण वारिणा कृतोर्मि-रेखं समुद्रयोषितां तरङ्गितक्षौमविपाण्डु सैकतं निरीक्ष्य रेमे ॥ ६ ॥

कृतेति । सोऽर्जुनः शिथिलत्वमायता गच्छता । दिने दिने क्षीयमाणेनेत्यर्थः । अतएव शनै शनैः शान्तरयेण । अन्यथोर्मिरेखानुदयादिति भावः । वारिणा कृता ऊर्मयः पर्वाण्येव रेखा राजयो यस्य तत्तथोक्तम् । तरङ्गा अस्य सञ्जातास्तरङ्गितं भङ्गितम् । 'तदस्य सञ्जातं —' इतीतच् । यत्क्षौमं दुकूलं तद्वद्विपाण्डु शुभ्र-

मित्युपमालङ्कारः । समुद्रयोषितां नदीनाम् । सिकतास्यास्तीति सैकतं पुलिनम् । 'सिकताशर्कराभ्यां च' इत्यण्प्रत्ययः । 'तोयोत्थितं तत्पुलिनं सैकतं सिकतामयम्' इत्यमरः । निरीक्ष्य रेमे तुतोष ।। ६ ।।

हिन्दी—अर्जुन धीरे-धीरे क्षीणोन्मुख एवं शान्त-वेग जल से निर्मित लहरों की रेखाओं से सुशोभित समुद्रपत्नी नदियों के भंगिमायुक्त (चुन्नटदार) रेशमी साड़ी की भाँति शुभ्र बालुकामय तटों को देखकर बहुत प्रसन्न हुए ।। ६ ।।

विमर्श—{नीचे के तीन श्लोकों में धान की रखवाली करने वाली स्त्रियों का वर्णन है -}

ततस्त्रिभिः शालिगोप्त्रीं वर्णयति —

मनोरमं प्रापितमन्तरं भ्रुवोरलङ्कृतं केसररेणुनाणुना ।
अलक्तताम्राधरपल्लवश्रिया समानयन्तीमिव बन्धुजीवकम् ।। ७ ।।
नवातपालोहितमाहितं मुहुर्महानिवेशौ परितः पयोधरौ ।
चकासयन्तीमरविन्दजं रजः परिश्रमाम्भः पुलकेन सर्पता ।। ८ ।।
कपोलसंश्लेषि विलोचनत्विषा विभूषयन्तीमवतंसकोत्पलम् ।
सुतेन पाण्डोःकलमस्य गोपिकां निरीक्ष्य मेने शरदः कृतार्थता ।। ९ ।।

अन्वयः—अणुना केसररेणुना अलङ्कृतं मनोरमं भ्रुवोः अन्तरं प्रापितं बन्धुजीवकम् अलक्तताम्राधरपल्लवश्रिया समानयन्तीम्ः इव, महानिवेशौ पयोधरौ परितः मुहुः आहितं नवातपालोहितम् अरविन्दजं रजः सर्पता परिश्रमाम्भः पुलकेन चकासयन्तीम्; कपोलसंश्लेषि अवतंसकोत्पलं विलोचनत्विषा विभूषयन्तीं कलमस्य गोपिकां निरीक्ष्य पाण्डोः सुतेन शरदः कृतार्थता मेने ।। ७-९ ।।

मनोरममिति । अणुना सूक्ष्मेण केसरेषु किञ्जल्केषु । 'किञ्जल्कः केसरोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः । यो रेणुः परागस्तेनालङ्कृतमत एव मनो रमयतीति मनोरमम् । 'कर्मण्यण्' इत्यण् । भ्रुवोरन्तरं प्रापितं भ्रूमध्ये निवेशितं बन्धुजीवकं बन्धूकपुष्पम् । 'बन्धूको बन्धुजीवकः' इत्यमरः । अलक्तताम्रस्य लाक्षारागरक्तस्याधरपल्लवस्य श्रिया शोभया समानयन्तीं समीकुर्वतीमिव । साम्यपरीक्षां कुर्वतीमिवेत्यर्थः । उत्प्रेक्षालङ्कारः ।। ७ ।।

नवेति । महान्निवेशः स्थानं ययोस्तौ महानिवेशौ । पीवरावित्यर्थः । पयोधरौ परितः । स्तनयोः समन्तादित्यर्थः । 'अभितः परितः समयानिकषाहाप्रतियोगेऽपि' इति द्वितीया । मुहुराहितं नवातपालोहितं बालातपताम्रमरविन्दजं रजः परागं सर्पता प्रसरता परिश्रमाम्भःपुलकेन स्वेदोद्भेदेन चकासयन्तीं शोभयन्तीम् । चकास्तेर्ण्यन्ताच्छतरि ङीप् । अलङ्करणं कुर्वतीम् । तत्रापि विकृततेति भावः ।। ८ ।।

कपोलेति । पुनः कपोलसंश्लेषि यदवतंसकोत्पलं कर्णोत्पलं तद्विलोचनत्विषा विभूषयन्तीम् । आभरणस्याप्याभरणमिति भावः । कलमं गोपायतीति गोपिकां

शालिगोप्त्रीम् । ण्वुल्प्रत्ययः । निरीक्ष्य पाण्डोः सुतेनार्जुनेन । शरदः कृतार्थाया भावः कृतार्थता साफल्यम् । शरदः स्वगुणसम्पत्तिसिद्धिनियोगलाभादिति भावः । 'त्वतलो-र्गुणवचनस्य पुंवद्भावो वक्तव्यः' । मेनेऽमानि । मन्यतेः कर्मणि लिट् ।। ९ ।।

हिन्दी—महीन केसरों के पराग से अलङ्कृत होने के कारण मनोहर और दोनों भौहों के मध्य में स्थापित बन्धूक पुष्प की मानों जावक के रंग से रँगे हुए अधरपल्लवों की शोभा से तुलना करती हुई-सी, पीन (विशाल) स्तनों के चारों ओर फिर से लगाये गये प्रातःकाल की धूप के समान लाल कमल-पराग को चूते हुए परिश्रमजनित पसीनों की बूंदों से अत्यन्त सुशोभित करती हुई तथा कपोल तट पर लगे हुए कान के आभूषण-कमल को अपने नेत्रों की कान्ति से विभूषित करती हुई, अगहनी धान को रखाने वाली रमणियों को देखकर पाण्डुपुत्र अर्जुन ने शरद् ऋतु की कृतार्थता को स्वीकार किया ।। ७-९ ।।

विमर्श—शरद् ऋतु के प्राकृतिक उपकरणों से अलङ्कृत रमणियों की सुन्दरता ही उस की सफलता थी । यहाँ प्रथम छन्द में उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ।

उपारताः पश्चिमरात्रिगोचरादपारयन्तः पतितुं जवेन गाम् ।
तमुत्सुकाश्चक्रुरवेक्षणोत्सुकं गवां गणाः प्रस्नुतपीवरौधसः ।।१० ।।

अन्वयः—पश्चिमरात्रिगोचराद् उपारताः जवेन गां पतितुम् अपारयन्तः प्रस्नुत-पीवरौधसः उत्सुकाः गवां गणाः तम् अवेक्षणोत्सुकं चक्रुः ।। १० ।।

उपारता इति । पश्चिमा चासौ रात्रिश्चेति विशेषणसमासः । अपररात्र इत्यर्थः । 'पूर्वा दिक्पश्चिमं नभः' इत्यादिवदेकदेशिशब्दस्यैकदेशशब्दसामानाधिकरण्यादेकदेशे पर्यवसानम्, नतु पश्चिमं रात्रेरित्येकदेशिसमासः । तद्विधायके पूर्वापरादिसूत्रे पश्चिम-शब्दाग्रहणात् । अत एव 'अहः सर्वैकदेश—' इत्यादिना न समासान्तोऽपि । तस्यापि पूर्वापरादिसूत्रोक्तसमासविषयत्वादिति । प्रकाशवर्षस्तु एकदेशिसमासमेवाश्रित्य समा-सान्तमाह, तन्मृग्यम् । गावश्चरन्त्यत्रेति गोचरो गवां जग्धिस्थानं वनम् । पश्चिमरात्रौ यो गोचरस्तस्मादुपारताः संनिवृत्ता जवेन गां भुवं पतितुं धावितुमपारयन्तोऽशक्नुवन्तः प्रस्नुतपीवरौधसो वत्सस्मरणात् स्रवत्पीनापीनाः । 'ऊधस्तु क्लीबमापीनम्' इत्यमरः। 'ऊधसोऽनङ्' इति स्त्रीग्रहणं कर्तव्यमिति नियमान्नानडादेशः । उत्सुका वत्सेषू-त्कण्ठिता गवां गणास्तमर्जुनमवेक्षणोत्सुकं दर्शनलालसं चक्रुः । 'स्वर्गेषुपशुवाग्वज्र-दिङ्नेत्रघृणिभूजले । लक्ष्यदृष्ट्या स्त्रियां पुंसि गौः' इत्युभयत्राप्यमरः । अत्र स्वभावो-क्तिरलङ्कारः — 'स्वभावोक्तिरलङ्कारो यथावद्वस्तुवर्णनम्' इति लक्षणात् ।।१० ।।

हिन्दी—पिछली रात्रि में चरने के स्थान से लौटी हुई, वेग से भूमि पर दौड़ने में असमर्थ, अत्यन्त मोटे स्तनों से क्षीर-क्षरण करने वाली एवं अपने-अपने बच्चों के लिए उत्कण्ठित गौओं ने अर्जुन को अपने देखने के लिए उमुत्सुक कर दिया ।। १० ।।

विमर्श—यहाँ स्वभावोक्ति अलङ्कार है ।

परीतमुक्षावजये जयश्रिया नदन्तमुच्चैः क्षतसिन्धुरोधसम् ।
ददर्श पुष्टिं दधतं स शारदीं सविग्रहं दर्पमिवाधिपं गवाम् ॥११ ॥

अन्वयः—उक्षावजये जयश्रिया परितम् उच्चैः नदन्तं क्षतसिंधुरोधसं शारदीं पुष्टि दधतं गवाम् अधिपं सः सविग्रहं दर्पम् इव ददर्श ॥ ११ ॥

परीतमिति । सोऽर्जुन उक्षावजये उक्षान्तरभङ्गे सति जयश्रिया परीतं वेष्टितमुच्चैर्नदन्तं क्षतसिन्धुरोधसं रुग्णसरित्तटं शरदि भवां शारदीं पुष्टिमवयवोपचयं दधतं गवामधिपं महोक्षं सविग्रहं मूर्तिमन्तम् । 'कायो देहः क्लीबपुंसोः शरीरं वर्ष्म विग्रहः' इत्यमरः । दर्पमिवेत्युत्प्रेक्षा । ददर्श ॥११ ॥

हिन्दी—दूसरे (अपने प्रतिद्वन्द्वी) बलवान साँड़ को जीतकर विजय शोभा से समलङ्कृत, उच्च स्वर में गरजते हुए, नदी तट को (अपनी सींगों से) क्षत-विक्षत करते हुए, एवं शरद् ऋतु की पुष्टि को धारण करने वाले (शरद् ऋतु की पौष्टिक घासों को चर कर खूब हृष्टपुष्ट) एक साँड़ को अर्जुन ने मानों मूर्तिमान अभिमान की भाँति देखा ॥ ११ ॥

विमर्श—यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ।

विमुच्यमानैरपि तस्य मन्थरं गवां हिमानीविशदैः कदम्बकैः ।
शरन्नदीनां पुलिनैः कुतूहलं गलद्दुकूलैर्जघनैरिवादधे ॥१२ ॥

अन्वयः—हिमानीविशदैः गवां कदम्बकैः मन्थरं विमुच्यमानैः अपि शरन्नदीनां पुलिनैः गलद्दुकूलैः जघनैः इव तस्य कुतूहलम् आदधे ॥ १२ ॥

विमुच्यमानैरपि । हिमानीविशदैर्हिमसङ्घातशुभ्रैः । 'हिमानी हिमसंहतिः' इत्यमरः । 'इन्द्रवरुण—' इत्यादिना ङीष् । तत्संनियोगादानुगागमश्च । गवां कदम्बकैः कर्तृभिः । 'कदम्बकं समूहे श्रीफले पुष्पविशेषके' इत्यमरः । मन्थरं मन्दं विमुच्यमानरपि किमुताविमुच्यमानैरिति भावः। शरन्नदीनां सम्बन्धिभिः। शरद्ग्रहणं प्रावृण्निवृत्त्यर्थम्, तत्र पुलिनादर्शनादिति भावः । पुलिनैः कर्तृभिः गलद्दुकूलैर्जघनैरिव तस्यार्जुनस्य कुतूहलं कौतुकमादध आहितम् ॥१२ ॥

हिन्दी—हिमराशि के समान श्वेत गौओं के समूहों द्वारा धीरे-धीरे छोड़े जाते हुए भी शरद्ऋतु की नदियों के तटों ने, रमणी के उस जघन-प्रदेश के समान अर्जुन के कुतूहल का उत्पादन किया, जिस पर से साड़ी नीचे सरक गई हो ॥ १२ ॥

विमर्श—शरद् ऋतु के विशेषण का तात्पर्य यह है कि उसी ऋतु में नदियों के तट मनोहर दिखाई पड़ते हैं । यहाँ उपमा अलङ्कार है ।

गतान्पशूनां सहजन्मबन्धुतां गृहाश्रयं प्रेम वनेषु बिभ्रतः ।
ददर्श गोपानुपधेनु पाण्डवः कृतानुकारानिव गोभिरार्जवे ॥१३ ॥

अन्वयः—पाण्डवः पशूनां सहजन्मबन्धुतां गतान् गृहाश्रयं प्रेम वनेषु विभ्रतः आर्जवे गोभिः कृतानुकारान् इवं गोपान् उपधेनु ददर्श ॥ १३ ॥

गतानिति । पाण्डवोऽर्जुनः पशूनां गवाम् । सह जन्म येषां ते सहजन्मानः सोदरास्त एव बन्धवस्तेषां भावस्तत्ता तां गतान् । पशुषु सोदराभिमानवत इत्यर्थः । गृहाश्रयं गृहविषयं प्रेम वनेषु बिभ्रतः । वनेषु गृहाभिमानिन इत्यर्थः । आर्जवे विधेयत्वे गोभिः पशुभिः कृतानुकाराननुकृतानिव स्थितानित्युत्प्रेक्षा । ततो विधेयानित्यर्थः । गाः पान्तीति गोपा गोपालकाः । 'आतोऽनुपसर्गे कः' इति कप्रत्ययः । तानुपधेनु धेनुसमीपे । समीपार्थेऽव्ययीभावः । ददर्श । अत्रोत्प्रेक्षानुप्राणिता स्वभावोक्तिरलङ्कारः ॥१३ ॥

हिन्दी—अर्जुन ने पशुओं के साथ सहोदर जैसी बन्धु-भावना रखने वाले, वनों में (भी) घर जैसा प्रेम रखने वाले तथा सरलता में मानों गौओं का अनुकरण करते हुये गोपों को गौओं के समीप देखा ॥ १३ ॥

विमर्श—यहाँ उत्प्रेक्षा से अनुप्राणित स्वभावोक्ति अलङ्कार है ।

{नीचे के चार श्लोकों में गोपियों की तुलना नर्तकियों से की गयी हैं —}

अथ चतुर्भिर्वल्लवीर्नर्तकीसाम्येन वर्णयति —

परिभ्रमन्मूर्धजषट्पदाकुलैः स्मितोदयादर्शितदन्तकेसरैः ।
मुखैश्चलत्कुण्डलरश्मिरञ्जितैर्नवातपामृष्टसरोजचारुभिः ॥१४ ॥
निबद्धनिःश्वासविकम्पिताधरा लता इव प्रस्फुरितैकपल्लवाः ।
व्यपोढपार्श्वैरपवर्तितत्रिका विकर्षणैः पाणिविहारहारिभिः ॥१५ ॥
व्रजाजिरेष्वम्बुदनादशङ्किनीः शिखण्डिनामुन्मदयत्सु योषितः ।
मुहुः प्रणुन्नेषु मथां विवर्तनैर्नदत्सु कुम्भेषु मृदङ्गमन्थरम् ॥१६ ॥
स मन्थरावल्गितपीवरस्तनीः परिश्रमक्लान्तविलोचनोत्पलाः ।
निरीक्षितुं नोपरराम बल्लवीरभिप्रनृत्ता इव वारयोषितः ॥१७ ॥

अन्वयः—परिभ्रमन् मूर्धजषट्पदाकुलैः स्मितोदयादर्शितदन्तकेसरैः चलत्कुण्डलरश्मिरञ्जितैः नवातपामृष्टसरोजचारुभिः मुखैः; निबद्धनिःश्वासविकम्पिताधराः प्रस्फुरितैकपल्लवाः लताः इव व्यपोढपार्श्वैः पाणिविहारहारिभिः विकर्षणैः अपवर्तितत्रिकाः; ब्रजाजिरेषु अम्बुदनादशङ्किनीः मथाम् विवर्तनैः मुहुः प्रणुन्नेषु कुम्भेषु मृदङ्गमन्थरम् नदत्सु शिखण्डिनाम् योषितः उन्मदयत्सु; सः मन्थरावल्गितपीवरस्नीः परिश्रमक्लान्तविलोचनोत्पलाः बल्लवीः अभिप्रनृत्ताः वारयोषितः इव निरीक्षितुम् न उपरराम ॥ १४-१७ ॥

परिभ्रमदिति । मूर्धजाः षट्पदा इवेत्युपमितसमासः । सरोजचारुभिरित्युपमानुसारात् । परिभ्रमद्भिश्चलद्भिर्मूर्धजैः षट्पदैराकुलानि तैः । दन्ताः केसरा इवेति पूर्ववत्समासः । स्मितोदयेनादर्शिताः ईषत्प्रकाशिता दन्तकेसरा येषां तैस्तथोक्तैः चलत्कुण्डल-

रश्मिरञ्जितैश्चलकनककर्णवेष्टनप्रभानुलिप्तैरत एव नवातपामृष्टं बालातपस्पृष्टं यत्सरोजं तद्वच्चारुभिर्मुखैरुपलक्षिता: ।।१४ ।।

निबद्धेति ।निबद्धनानुरुद्धेन नि:श्वासेन विकम्पिता अधरा यासां तास्तथोक्ता:। अतएव प्रस्फुरितैकपल्लवा: । प्रचलितैकपल्लवा: इत्यर्थ: । क्वचित्संख्याशब्दस्य धृत्ति विषये वीप्सार्थत्वं सप्तपर्णादिवत्' इति कैयट: ।लता इव स्थिता: ।दैवादेक-पल्लवस्फुरणस्यापि लोके सम्भवादुपमैवेयं नोत्प्रेक्षा ।किंच ।व्यपोढानि विपरीतानि पार्श्वानि येषु तै: पाणिविहारहारिभि: पाणिविक्षेपमनोहरै: । 'अङ्गहारोऽङ्गविक्षेप:' इत्यमर: ।विकर्षणैर्मन्थगुणाकर्षणैरपवर्तितत्रिका: सञ्चलितनितम्बा: । यद्यपि 'पृष्ठ-वंशाधरे त्रिकम्' इत्यमर:, तथाप्यत्र नितम्बो लक्ष्यते तन्नैकट्यादिति भाव: ।।१५ ।।

व्रजेति ।व्रजाजिरेषु गोष्ठप्राङ्गणेषु ।अधिकरणे सप्तमी । 'व्रजो गोष्ठाध्व-वृन्देषु' इति विश्व: अम्बुदनादशङ्किनीर्गर्जितभ्रमवतीरिति भ्रान्तिमदलङ्कार:।शिखण्डिनां योषितो मयूरा: । योषिद्ग्रहणं मौग्ध्यातिशयार्थम् । उन्मदयत्सून्मदा: कुर्वत्सु । 'तत्करोति—' इति ण्यन्ताच्छतृप्रत्यय: ।मथां मन्थनदण्डानाम् । 'वशाखमन्थमन्थान-मन्थानो मन्थदण्डके' इत्यमर: । विवर्तनै: परिभ्रमणैर्मुहु: प्रणुन्नेषु कम्पितेष्विति स्वभावोक्ति: ।कुम्भेषु कलशेषु मृदङ्गवन्मन्थरं मन्दं नदत्सु सत्स्विति वाद्यसाम्योक्ति: । भावलक्षणे सप्तमीयम् ।।१६ ।।

स इति ।मन्थरं मन्दमावल्गिताश्चञ्चला: पीवरा: स्तना यासां तास्तथोक्ता: । 'स्वाङ्गच्चोपसर्जनादसंयोगोपधात्' इति ङीष् ।परिश्रमेण क्लान्तानि ग्लानानि विलो-चनोत्पलानि यासां तास्तथोक्ता वल्लवीर्गोपी: । 'गोपे गोपालगोसख्यगोधुगाभीर बल्लवा:' इत्यमर: ।अभिप्रनृत्ता नृत्यन्ती: । 'गत्यर्थाकर्मक—' इत्यादिना कर्तरि क्त:। 'मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च' इति चकाराद्वर्तमानार्थत्वम् ।वारयोषितो वेश्या इव । 'वारस्त्री गणिका वेश्या' इत्यमर: ।सोऽर्जुनो निरीक्षितुम् ।ईक्षतेस्तुमुन् ।नोपरराम न विरमति स्म । 'उपाच्च' । 'विभाषाकर्मकात्' इति परस्मैपदम् ।अत्र चतु:श्लोक्यामुपमास्व-भावोक्त्यो: संसृष्टि: ।।१७ ।।

हिन्दी—चञ्चल भ्रमरों के समान घुँघराले बालों से सुशोभित, किञ्चित् मुस्कराने से प्रकाशित केसर के समान दाँतों से विभूषित, चञ्चल कुण्डलों की कान्तियों से रंजित होने के कारण प्रात: कालीन सूर्य की किरणों से स्पर्श किए गए कमल के समान सुन्दर मुखों से युक्त, परिश्रम के कारण रुकी हुई श्वासों से कम्पित अधरों के कारण एक-एक पल्लव जिनके हिल रहे हों—ऐसी लताओं के समान मनोज्ञ, बगलों के बारम्बार परिवर्तनों तथा (दधिमन्थन के कारण) हाथों के सञ्चालन से मनोहर तथा (मथानी की रस्सियों के खींचने से) चञ्चल नितम्बों वाली; गोष्ठ प्राङ्गणों में मन्थनदण्डों के घुमाने से बारम्बार कम्पित होकर दधि अथवा दुग्ध के कलशों के मृदङ्गों के समान गम्भीर ध्वनि करने के कारण बादलों के गर्जन का भ्रम पैदा करके मयूरियों को उन्मत्त करती हुई, धीरे-धीरे चलने वाले पीन (विशाल) स्तनों

से युक्त और परिश्रम से मलिन नेत्र-कमलों वाली गोपियों को, नृत्य-कार्य में लगी हुई वेश्याओं की भाँति देखते हुए अर्जुन नहीं थके ।। १४-१७ ।।

विमर्श—गोपियाँ गोष्ठों में दधि या दूध का मन्थन कर रहीं थीं, उस समय उनकी जो शोभा थी वह नर्तकी वेश्याओं के समान ही थी । नृत्य के समय नर्तकियों के अङ्गों की जो-जो क्रियाएँ होती हैं, वही उस समय गोपियों की भी थीं । चारों श्लोकों में उपमा और स्वाभावोक्ति अलङ्कार की संसृष्टि है । यहाँ तृतीय श्लोक में भ्रान्तिमान् अलङ्कार है ।

पपात पूर्वां जहतो विजिह्मतां वृषोपभुक्तान्तिकसस्यसम्पदः ।
रथाङ्गसीमन्तितसान्द्रकर्दमान्प्रसक्तसंपातपृथक्कृतान्पथः ।।१८ ।।

अन्वयः—पूर्वाम् विजिह्मताम् जहतः वृषोपभुक्तान्तिकसस्यसम्पदः रथाङ्ग-सीमन्तितसान्द्रकर्दमान् प्रसक्तसंपातपृथक्कृतान् पथः पपात ।। १८ ।।

पपातेति । सोऽर्जुनः पूर्वां प्रावृषेण्यां विजिह्मतां वक्रतां जहतस्त्यजतः । शरदि निष्पङ्कत्वेन समरेखस्यैव सुगमत्वादिति भावः । जहातेः शतृप्रत्ययः । धृषोपभुक्तान्तिकसस्यसंपदो वृषभचर्वितप्रान्तसस्यसमृद्धीन् । 'सुकृते वृषभे वृषः' इत्यमरः । सीमन्ता इव सीमन्ताश्चक्राङ्गपद्धतयः सीमन्तवन्तः कृताः सीमन्तिताः । मत्वन्तात् 'तत्करोति' इति णिचि क्तः । णाविष्ठवद्भावान्मतुपो लुक् । रथाङ्गैश्चक्रैः सीमन्तिताः सान्द्राः कर्दमा घनीभूताः पङ्का येषु तान् प्रसक्तसंपातेन सन्ततसञ्चारेण पृथक्कृतान् पथो मार्गान् पपात जगामेति स्वभावोक्तिः ।।१८ ।।

हिन्दी—पूर्वकालिक अर्थात् वर्षा काल के टेढ़ेपन को त्याग कर शरद् ऋतु में सीधे बने हुए, बैलों द्वारा खाई गई दोनों ओर के सस्यों (फसलों) की सम्पत्तियों वाले तथा रथों के चक्कों के आने-जाने से जिनके गीले कीचड़ घनीभूत हो गए थे एवं बहुतेरे लोगों के निरन्तर आने-जाने से जो स्पष्ट दिखाई दे रहे थे, ऐसे पथों पर से होते हुए अर्जुन (आगे) चलने लगे ।। १८ ।।

विमर्श—वर्षा ऋतु में जगह-जगह पानी होने के कारण मार्ग टेढ़े-मेढ़े हो जाते हैं, किन्तु वही शरद् ऋतु में पानी सूख जाने पर सीधे बन जाते हैं । मार्गों के दोनों ओर के खेतों के अन्न अथवा घासें प्रायः पशुओं द्वारा चर ली जाती हैं । गाड़ी अथवा रथ के चक्कों के आने-जाने से गीले कीचड़ घनीभूत हो जाते हैं । लोगों के निरन्तर आने-जाने से शरद् ऋतु में मार्ग स्पष्ट हो ही जाते हैं । यहाँ स्वभावोक्ति अलङ्कार है ।

जनैरुपग्राममनिन्द्यकर्मभिर्विविक्तभावेङ्गितभूषणैर्वृताः ।
भृशं ददर्शाश्रममण्डपोपमाः सपुष्पहासाः स निवेशवीरुधः ।।१९ ।।

अन्वयः—सः उपग्रामम् अनिन्द्यकर्मभिः विविक्तभावेङ्गितभूषणैः जनैः वृताः आश्रममण्डपोपमाः सपुष्पहासाः निवेशवीरुधः भृशम् ददर्श ।। १९ ।।

जनैरिति । सोऽर्जुन उपग्रामं ग्रामेषु । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । अनिन्द्यकर्मभिरनिषिद्धवृत्तिभिः । वृत्तिश्चैकत्र कृष्यादिरन्यत्र शिलोञ्छादिः । विविक्तान्येकाग्राणि भावोऽभिप्राय इङ्गितं चेष्टा भूषणमलङ्कारश्च येषां तैस्तथोक्तैर्जनैर्वृताः । अधिष्ठिता इत्यर्थः । अत एवाश्रमेषु मुनिस्थानेषु ये मण्डपास्तदुपमाः । 'मण्डपोऽस्त्री जनाश्रयः' इत्यमरः । सपुष्पहासाः पुष्पविकाससहिताः । 'तेन सह—' इत्यादिना बहुव्रीहिः । निवेशवीरुधो गृहगुल्मिनीः । 'वीरुधौ वल्लिगुल्मिन्यौ' इति वैजयन्ती । भृशं सादरं ददर्श । उपमाऽलङ्कारः ॥१९ ॥

हिन्दी—अर्जुन ने ग्रामों में अनिन्द्य अर्थात् प्रशंसनीय कार्य करनेवाले विशुद्ध अभिप्राय, चेष्टा तथा आभूषणों से अलङ्कृत ग्राम निवासियों द्वारा अधिष्ठित होने के कारण (द्वैत-वनवासी) मुनियों के आश्रमों के लता-मण्डपों के समान शोभा देने वाली एवं खिले हुए पुष्पों से मानों हास करने वाली गृहलताओं को आदरपूर्वक देखा ।

विमर्श—गाँवों में किसानों के घरों के सामने लताएँ लगी थीं और उनके गुल्मों की छाया में बैठकर वे आनन्दपूर्वक गोष्ठी-सुख का अनुभव करते थे । वे लताएँ मुनियों के आश्रमों में बने हुए लता मण्डपों के समान थीं, क्योंकि उनके नीचे बैठने वाले ग्राम्य-कृषक भी मुनियों के समान ही सीधे-सादे आचार-विचार वाले थे । यहाँ उपमा अलङ्कार है ॥ १९ ॥

ततः स संप्रेक्ष्य शरद्गुणश्रियं शरद्गुणालोकनलोलचक्षुषम् ।
उवाच यक्षस्तमचोदितोऽपि गां न हीङ्गितज्ञोऽवसरेऽवसीदति ॥ २० ॥

अन्वयः—ततः सः यक्षः शरद्गुणश्रियम् संप्रेक्ष्य शरद्गुणालोकनलोलचक्षुषम्। तम् अचोदितः अपि गाम् उवाच । हि इङ्गितज्ञः अवसरे न अवसीदति ॥ २० ॥

तत इति । ततः स पूर्वोक्तो यक्षः शरद्गुणश्रियं संप्रेक्ष्य । दर्शनीयां वर्णनीयां च विचार्येत्यर्थः । शरद्गुणालोकने लोलचक्षुषं सतृष्णदृष्टिम् । 'लोलश्चलसतृष्णयोः' इत्यमरः । तमर्जुनमचोदितोऽप्यपृष्टोऽपि गां वाचमुवाच । तथाहि । इङ्गितज्ञो भावज्ञः । 'इङ्गितं हृद्गतो भावः' इति विश्वः । अवसर उक्तियोग्ये काले नावसीदति न वाचं यच्छति। 'नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयात्' इति निषेधस्त्वनाकाङ्क्षितोक्तिविषय इति भावः। सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ २० ॥

हिन्दी—तदनन्तर उस यक्ष ने शरद् ऋतु की मनोहारिणी शोभा देखकर, शरद् की शोभा को देखने में उत्सुक नेत्रों वाले अर्जुन से बिना उसके कुछ पूछे ही ये बातें कहीं । गूढ़ सङ्केतों को समझने वाला बोलने का अवसर आने पर चूकता नहीं ॥ २० ॥

विमर्श—यहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ।

इयं शिवाया नियतेरिवायतिः कृतार्थयन्ती जगतः फलैः क्रियाः ।
जयश्रियं पार्थ! पृथूकरोतु ते शरत्प्रसन्नाम्बुरनम्बुवारिदा ॥ २१ ॥

अन्वयः—हे पार्थ ! शिवायाः नियतेः आयतिः इव जगतः क्रियाः फलैः कृतार्थयन्ती प्रसन्नाम्बुः अनम्बुवारिदा इयम् शरत् ते जयश्रियम् पृथूकरोतु ।। २१ ।।

इयमिति । हे पार्थ, शिवायाः कल्याणकारिण्या नियतेः । 'दैवं दिष्टं भागधेयं भाग्यं स्त्री नियतिर्विधिः' इत्यमरः । शुभावहदैवस्यायतिः फलदानकालः सैव जगतः क्रिया कृष्यादिकर्माणि फलैर्लाभैः । 'लाभो निष्पत्तियोगेषु बीजभावे धने फलम्' इति वैजयन्ती । कृतार्थयन्ती सफलयन्ती प्रसन्नाम्बुर्निर्मलोदकाऽनम्बुवारिदा निर्जलमेघा । अनेन विशेषणद्वयेन द्यावापृथिव्योरानुकूल्यं सूचयति । इयं शरत्ते जयश्रियं पृथूकरोतु। आशीरर्थे लोट् ।। २१ ।।

हिन्दी—हे अर्जुन ! मङ्गलदायिनी भाग्य के फल देने वाले शुभ अवसर के समान संसार की समस्त क्रियाओं को फलों द्वारा कृतार्थ करती हुई, निर्मल जलों तथा जलहीन बादलों से सुशोभित यह शरद् ऋतु तुम्हारी विजयश्री का वर्द्धन करे ।

विमर्श—निर्मल जल तथा जलहीन बादल - ये दोनों विशेषण पृथ्वी और आकाश दोनों की प्रसन्नता के परिचयार्थ हैं । यहाँ उपमा अलङ्कार है ।। २० ।।

उपैति सस्यं परिणामरम्यतां नदीरनौद्धत्यमपङ्कतां मही ।
नवैर्गुणैः सम्प्रति संस्तवस्थिरं तिरोहितं प्रेम घनागमश्रियः ।। २२ ।।

अन्वयः—सस्यं परिणामरम्यतां उपैति नदीरनौद्धत्यम् मही अपङ्कताम् उपैति, सम्प्रति नवैर्गुणैः संस्तवस्थिरम् घनागमश्रियः प्रेम तिरोहितम् ।। २२ ।।

उपैतीति । सस्यं व्रीह्यादिकं परिणामेन परिपाकेन या रम्यता सोपैति । नदीरनौद्धत्यं रम्यरूपत्वमुपैति । मही चापङ्कतां निष्पङ्कत्वमुपैति । तथाहि । संप्रति नवैर्गुणैः पूर्वोक्तैः शरद्धर्मैः संस्तवेन परिचयेन स्थिरं दृढमपि घनागमश्रियः प्रावृड्-लक्ष्म्याः सम्बन्धि । तद्विषयमित्यर्थः । प्रेम तिरोहितम् । निरर्थकं कृतमित्यर्थः । गुणतन्त्राः प्रेमाणो न परिचयतन्त्रा इति भावः । वास्तवालङ्कारः ।। २२ ।।

हिन्दी—(इस शरद् ऋतु में) अन्न पकने के कारण मनोहर हो जाते हैं, नदियाँ निर्मल जल एवं स्थिर धारा होने के कारण रमणीय हो जाती हैं, पृथ्वी कीचड़ रहित हो जाती है । इस प्रकार अब अपने नूतन गुणों से इस शरद् ऋतु ने अत्यन्त परिचय हो जाने के कारण वर्षाऋतु के सुदृढ़ प्रेम को निरर्थक बना दिया है ।। २२ ।।

विमर्श—अर्थात् कई महीनों से चलने वाली वर्षा ऋतु के मनोहर गुणों से यद्यपि लोगों का उसके प्रति सुदृढ़ प्रेम हो गया था किन्तु इस शरद् ने थोड़े ही दिनों में अपने इस नूतन गुणों से उसे निरर्थक बना दिया । क्योंकि प्रेम उत्कृष्ट गुणों के अधीन होते हैं, परिचय के अधीन नहीं ।

पतन्ति नास्मिन्विशदाः पतत्रिणो धृतेन्द्रचापा न पयोदपङ्क्तयः।
तथापि पुष्णाति नभः श्रियं परां न रम्यमाहार्यमपेक्षते गुणम् ।। २३ ।।

अन्वयः—अस्मिन् विशदाः पतत्रिणः न पतन्ति धृतेन्द्रचापाः पयोदपङ्क्तयः न पतन्ति, तथापि नभः पराम् श्रियम् पुष्णाति। रम्यम् आहार्यम् गुणम् न अपेक्षते ।।२३।।

पतन्तीति ।। अस्मिन्नभसि विशदाः पतत्रिणो बलाका न पतन्ति न प्रसरन्ति । धृतेन्द्रचापाः पयोदपङ्क्तयश्च न पतन्ति । तथापि श्रीकारणाभावेऽपि नभः परां श्रियं शोभां पुष्णाति । तथाहि । रम्यं स्वभावसुन्दरं वस्त्वाहार्यमारोप्यमाणं गुणं नापेक्षते । तत्र स्वभावस्यैव समर्थत्वादिति भावः । अर्थान्तरन्यासः ।। २३ ।।

हिन्दी—इस शरद् ऋतु में यद्यपि श्वेत पक्षिगण (बगुलों की पंक्तियाँ) नहीं उड़ते और न इन्द्रधनुष से सुशोभित मेघों की पंक्तियाँ ही उड़ती हैं, तथापि आकाश की शोभा निराली रहती है । क्यों न हो, स्वभाव से सुन्दर वस्तु सुन्दर बनने के लिए बाहरी उपकरणों की अपेक्षा नहीं रखती ।। २३ ।।

विमर्श—यहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ।

विपाण्डुभिर्म्लानतया पयोधरैश्च्युताचिराभागुणहेमदामभिः ।
इयं कदम्बानिलभर्तुरत्यये न दिग्वधूनां कृशता न राजते ।। २४ ।।

अन्वयः—कदम्बभर्तुः अत्यये म्लानतया विपाण्डुभिः च्युताचिराभागुणहेमदामभिः पयोधरैः दिग्वधूनाम् इयम् कृशता न राजते न ।। २४ ।।

विपाण्डुभिरिति ।। कदम्बानिलशब्देन वर्षर्तुरुपलक्ष्यते । स एवं भर्ता तस्यात्यये विरहे म्लानतया निर्जलतया दुर्बलतया च विपाण्डुभीश्च्युतानि रहितान्यचिराभागुणा विद्युल्लता एव हेमदामानि सुवर्णसूत्राभरणानि येभ्यस्तैः पयोधरैरम्भोदैः, अन्यत्र स्तनैः । उपलक्षितानाम् । 'स्तनाम्भोदौ पयोधरौ' इति वैजयन्ती । दिश एव वध्वस्तासामियं कृशता न राजत इति न । किन्तु राजत एव वियुक्तत्वात् । 'आर्तार्ते मुदिते हृष्टा प्रोषिते मलिना कृशा' इति स्मरणादिति भावः। सामान्यतः प्रसक्तमराजनं कार्श्यस्यैकेन नञा सम्भाव्य द्वितीयेन निषेधति । यथाह वामनः—'सम्भाव्यनिषेधनिवर्तने द्वौ प्रतिषेधौ' इति । अत्र रूपकालङ्कारः स्फुट एव ।। २४ ।।

हिन्दी—वर्षाऋतु रूपी पति के विरह में विद्युत्-रूपी सुवर्ण-हार से रहित तथा मलिनता (निर्जलता अथवा दुर्बलता) के कारण पाण्डु वर्ण (पीले रंग) को धारण करने वाले पयोधरों (मेघों तथा स्तन-मण्डलों) से युक्त (इन) दिशा-रूपी सुन्दरियों की यह दुर्बलता शोभा न दे रही हो—ऐसा नहीं है अपितु ये अत्यन्त शोभा दे रही हैं ।। २४ ।।

विमर्श—पति के वियोग में पत्नी का मलिन, कृश तथा अलङ्कारविहीन होना शास्त्रीय विधान है । उस समय की उनकी शोभा इसी में है । वर्षाऋतु रूपी पति की वियोग-व्यथा में दिव्याङ्गनाओं की यह दशा प्रोषित्पतिका की भाँति कवि ने चित्रित की है । वर्षाऋतु पति है, दिशाएँ स्त्रियाँ हैं, मेघ स्तन-मण्डल हैं, बिजली सुवर्ण हार है । यहाँ रूपक अलङ्कार है ।

विहाय वाञ्छामुदिते मदात्ययादरक्तकण्ठस्य रुते शिखण्डिनः ।
श्रुतिः श्रयत्युन्मदहंसनिःस्वनं गुणाः प्रियत्वेऽधिकृता न संस्तवः ।।२५।।

अन्वयः—मदात्ययादरक्तकण्ठस्य शिखण्डिनः उदिते रुते वाञ्छाम् विहाय श्रुतिः उन्मदहंसनिःस्वनम् श्रयति । प्रियत्वे गुणाः अधिकृताः संस्तवः न ।। २५ ।।

विहायेति । मदात्ययान्मदक्षयादरक्तकण्ठस्याश्राव्यस्वरस्य । कण्ठशब्देनात्र तद्गतः स्वरो लक्ष्यते । शिखण्डिनो मयूरस्य सम्बन्धिन्युदित उच्चैस्तरे रुते कूजिते वाञ्छां विहाय । श्रुतिः श्रोत्रम् । 'कर्णशब्दग्रहौ श्रोत्रं श्रुतिः स्त्री श्रवणं श्रवः' इत्यमरः । उन्मदहंसनिःस्वनं मत्तमरालकूजितं श्रयति भजते । नन्वकाण्डे परिचितपरिहारेणापरिचिते कथं प्रीत्युदय इत्याशङ्क्यार्थान्तरं न्यस्यति —गुणा इति । प्रीणातीति प्रियः । 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः' इति कप्रत्ययः। प्रियत्वे प्रीतिकरत्वे गुणा अधिकृता नियुक्ताः। संस्तवः परिचयो नाधिकृतो न समर्थः । प्रेमाधाने गुणवत्त्वं प्रयोजकं न परिचय इत्यर्थः ।। २५ ।।

हिन्दी—(इस शरद् ऋतु में) मद के क्षय हो जाने से सुनने में अनाकर्षक अथवा कटु स्वर वाले मयूरों के उच्च स्वर के कूजन में अभिलाषा छोड़कर लोगों के कान अब मतवाले हंसों के कल-कूजन के इच्छुक हो गए हैं । क्यों न हो, प्रीति में गुण ही अधिकारी हैं, परिचय नहीं ।। २५ ।।

विमर्श—अर्थात् किसी चीज पर प्रेम होने का कारण उसके गुण हैं, चिरकाल का परिचय नहीं । यहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ।

अमी पृथुस्तम्बभृतः पिशङ्गतां गता विपाकेन फलस्य शालयः ।
विकासि वप्राम्भसि गन्धसूचितं नमन्ति निघ्रातुमिवासितोत्पलम् ।। २६ ।।

अन्वयः—अमी फलस्य विपाकेन पिशङ्गताम् गताः पृथुस्तम्बभृतः शालयः वप्राम्भसि विकासि गन्धसूचितम् असितोत्पलम् निघ्रातुम् इव नमन्ति ।। २६ ।।

अमी इति । अमी पृथून् स्तम्बान् गुच्छान् बिभ्रतीति पृथुस्तम्बभृतः । 'स्तम्बो गुच्छस्तृणादिनः' इत्यमरः । फलस्य प्रसवस्य विपाकेन परिमाणेन पिशङ्गतां गताः शालयो व्रीहिविशेषाः । वप्राम्भसि केदारोदके । 'पुंनपुंसकयोर्वप्रः केदारः क्षेत्रम्' इत्यमरः । विकसतीति विकासि विकसितं गन्धेन सूचितं ज्ञापितमसितोत्पलं निध्रातुमाघ्रातुमिव नमन्ति । 'निध्यातुमिव' इति पाठे द्रष्टुमित्यर्थः निर्वर्णयितुं वा । 'निर्वर्णनं तु निध्यानं दर्शनालोकनेक्षणम्' इत्यमरः। अत्र फलभारान्नमनस्य निघ्राणफलकत्वमुत्प्रेक्ष्यत इति फलोत्प्रेक्षा ।। २६ ।।

हिन्दी—ये बालों के पक जाने से पीतिमा धारण करने वाले तथा मोटे-मोटे पुञ्जों वाले जड़हन धानके पौधे, जलयुक्त क्षेत्रों में विकसित होने वाले एवं मनोहर सुगन्ध से परिपूर्ण नीले कमलों को मानों सूँघने के लिए नीचे की ओर झुके हुए हैं ।। २६।।

विमर्श—यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ।

अथ चतुर्भिः कलापकमाह—

मृणालिनीनामनुरञ्जितं त्विषा विभिन्नमम्भोजपलाशशोभया ।
पयः स्फुरच्छालिशिखापिशङ्गितं द्रुतं धनुष्खण्डमिवाहिविद्विषः ।।२७।।
विपाण्डु संव्यानमिवानिलोद्धतं निरुन्धतीः सप्तपलाशजं रजः।
अनाविलोन्मीलितबाणचक्षुषः सपुष्पहासा वनराजियोषितः ।। २८ ।।
अदीपितं वैद्युतजातवेदसा सिताम्बुदच्छेदतिरोहितातपम् ।
ततान्तरं सान्तरवारिसीकरैः शिवं नभोवर्त्म सरोजवायुभिः ।। २९ ।।
सितच्छदानामपदिश्य धावतारुतैरमीषां ग्रथिताः पतत्रिणाम् ।
प्रकुर्वते वारिदरोधनिर्गताः परस्परालापमिवामला दिशः ।। ३० ।।

अन्वयः—मृणालिनीनाम् त्विषा अनुरञ्जितम् अम्भोजपलाशशोभया विभिन्नम् स्फुरच्छालिशिखापिशङ्गितम् द्रुतम् अहिविद्विषः धनुष्खण्डम् इव पयः, विपाण्डु अनिलोद्धतम् सप्तपलाशजम् रजः संव्यानम् इव निरुन्धतीः अनाविलोन्मीलितबाणचक्षुषः सपुष्पहासाः वनराजियोषितः वैद्युतजातवेदसा आदीपितम् सिताम्बुदच्छेदतिरोहितातपम् सान्तरवारिसीकरैः ततान्तरम् सरोजवायुभिः शिवम् नभोवर्त्म अपदिश्य धावताम् अमीषाम् सितच्छदानाम् पतत्रिणाम् रुतैः ग्रथिताः वारिदरोधनिर्गताः अमलाः दिशः परस्परालापम् प्रकुर्वते इव ।। २७-३० ।।

मृणालिनीनामिति ।। मृणालिनीनां पद्मिनीनां त्विषा हरिद्वर्णेनानुरञ्जितम् । तद्वर्णतामापादितमित्यर्थः। तथाम्भोजपलाशशोभया पद्मदलकान्त्या । आरुण्येनेत्यर्थः। विभिन्नं मिश्रितम् । तथा स्फुरच्छालिशिखापिशङ्गितं स्फुरद्भिः कलमाग्रैः पिङ्गलीकृतमित्थं नानावर्णत्वाद् द्रुतं पलायितमहिविद्विषो वृत्रशत्रोरिन्द्रस्य । 'सर्पे वृत्रासुरेऽप्यहिः' इति वैजयन्ती । धनुष्खण्डमिव स्थितम् । 'नित्यं समासेऽनुत्तरपदस्थस्य' इति विसर्जनीयस्य षत्वम् । पयो वप्राम्भोऽपदिश्य व्याजीकृत्य धावतामित्यागामिना सम्बन्धः । अत्र धनुष्खण्डस्य द्रुतस्य लोकेऽप्रसिद्धत्वादुत्प्रेक्षेयं नोपमा ।। २७ ।।

विपाण्ड्वति । विपाण्डु शुभ्रमनिलोद्धतमनिलोत्क्षिप्तम् । सप्त सप्त पलाशानि पत्राणि पर्वसु येषां ते वृक्षाः सप्तपलाशाः । 'क्वचित्सङ्ख्याशब्दस्य वृत्तिविषये वीप्सार्थत्वं सप्तपर्णादिव' दित्युक्तम् । तेषां पुष्पाणि सप्तपलाशानि । द्विहीनं प्रसवे सर्वम्' इत्यमरः । 'फले लुक्' इत्यणो लुक् । तेषु जातं सप्तपलाशजं रजः परागं संख्यानमुत्तरीयमिव । 'संव्यानमुत्तरीयं च' इत्यमरः । निरुन्धतीर्निवारयन्तीः । प्रावृतवतीरिति यावत् । अनाविलान्यकलुषाण्युन्मीलितानि च वाणानि नीलसैरेयकाणि चक्षूंषीव यासां तास्तथोक्ताः । 'नीलस्त्वर्थगलो दासी बाण ओदनपाक्यपि' इति धन्वन्तरिः । पुष्पाणि हासा इव तैः सह वर्तन्त इति सपुष्पहासाः । वनराजयां योषित इव वनराजियोषितः। ता अपदिश्येत्यन्वयः। अत्र संव्यानमिवेत्युपमैवान्यत्रोपमितसमासे लिङ्गम्। यथा काचित्केनचित्कामुकेनाक्षिप्तं स्तनांशुकं निरुन्धे तद्वदिति भावः ।। २८।।

अदीपितमिति । वैद्युतजातवेदसा वैद्युताग्निनाऽदीपितमप्रकाशितम् । विद्यु-त्प्रकाशस्य दृष्टिविघातकत्वात्तद्राहित्यं गुण इति भावः । सिताम्बुदानां छेदैः खण्डै-स्तिरोहितातपम् । न दृष्टिबाधो नाप्यातपबाध इति भावः। सान्तरवारिसीकरैर्विरलाम्बु-कणैस्ततान्तरं व्याप्तमध्य सरोजवायुभिः शिवं रम्यं नभो वर्त्म चापदिश्येति । स्वभावोक्तिरलङ्कारः ।। २९ ।।

सितेति । अपदिश्य धावतामिति पूर्वश्लोकत्रयोक्तं पयः प्रभृतिकमुद्दिश्य' धावताममीषां सितच्छदानां पतत्रिणां हंसानाम् । 'हंसास्तु श्वेतगरुतश्चक्राङ्गा मान-सौकसः' इत्यमरः । रुतैः शब्दैर्ग्रथिता दृब्धाः । ग्रथितं गुम्फितं दृब्धम्' इत्यमरः । वारिदरोधनिर्गता मेघोपरोधनिर्मुक्ता अतएवामलाः प्रसन्ना दिशः परस्परालापं प्रकुर्वत इव । दिष्ट्या मेघोपरोधनिर्मुक्ताश्चिरादुच्छ्वसिता इति हंसकूजितव्याजेन परस्परमाल-पन्तीवेत्युत्प्रेक्षा ।। ३० ।।

हिन्दी—पद्मिनियों की लताओं की कान्ति से अनुरञ्जित (हरे वर्ण), कमल दलों के अरुण छटा-पुञ्जों से मिला हुआ (लाल वर्ण), इधर-उधर हिलने वाले पके जड़हन धान की बालों से पीले वर्ण—इस प्रकार विविध वर्णों में भासमान (खेतों का पानी) मानों गलते हुये अर्थात् (अस्त होते हुए) इन्द्र के धनुष-खण्ड की भाँति यह केदार जल, एवं शुभ्र तथा वायु द्वारा हिलाये-डुलाये गये (खींचे गये) छितवन के पुष्प-रागों को साड़ी के अञ्चल की भाँति सँभालती हुई, निर्मल एवं उन्मीलित नील झिंटी (कटसरैया, अथवा वाण) के पुष्प-रूपी लोचनों से सुशोभित तथा पुष्प-रूपी हास्य से विभूषित ये वन-पङ्क्ति-रूपी कामिनियाँ, एवं आँखों को चकाचौंध करने वाली विद्युत-अग्नि से रहित, श्वेत बादलों के खण्डों द्वारा धूप के छिप जाने से मनोहर, विरल जलबिन्दुओं से व्याप्त मध्य भाग वाले एवं कमलों की सुगन्ध से पूरित वायु द्वारा रमणीय आकाश मार्ग—इन तीनों (केदार जल, वन-पङ्क्ति-रूपी कामिनियों एवं आकाश मार्ग) को लक्ष्य करके दौड़ते हुए श्वेत पंखों वाले हंसों के कल-कूजन द्वारा गुम्फित अर्थात् व्याप्त बादलों की बाधा से निर्मुक्त निर्मल दिशाएँ मानों परस्पर बातें करती हुई प्रतीत हो रही हैं ।। २७-३० ।।

विमर्श—प्रथम श्लोक में सब विशेषण केदार-जल अर्थात् खेतों में इकट्ठे पानी के लिये हैं द्वितीय श्लोक के सब विशेषण वन-पङ्क्ति-रूपी कामिनियों के लिये हैं तथा तृतीय श्लोक के सब विशेषण आकाश-मार्ग के लिये हैं । यक्ष की दृष्टि में मानों इन्हीं तीनों अपूर्व सुन्दर वस्तुओं को पाने के उद्देश्य से दौड़ने वाले हंसों के कल-कूजन से व्याप्त निर्मल दिशाएँ परस्पर आनन्द-गोष्ठी कर रही हैं । प्रथम श्लोक में उत्प्रेक्षा अलङ्कार है, उपमा अलङ्कार नहीं, क्योंकि इन्द्र-धनुष का गलना लोक-प्रसिद्ध नहीं है । यहाँ द्वितीय श्लोक में उपमा अलङ्कार है । तृतीय श्लोक में स्वभावोक्ति है तथा चतुर्थ में उत्प्रेक्षा है ।

विहारभूमेरभिघोषमुत्सुकाः शरीरजेभ्यश्च्युतयूथपङ्क्तयः ।
असक्तमूधांसि पयःक्षरन्त्यमूरुपायनानीव नयन्ति धेनवः ।। ३१ ।।

अन्वयः—विहारभूमेः अभिघोषम् उत्सुकाः च्युतयूथपङ्क्तयः अमूः धेनवः असक्तम् पयः क्षरन्ति ऊधांसि शरीरजेभ्यः उपायनानि इव नयन्ति ।। ३१ ।।

विहारेति । विहारभूमेः । अपररात्रगोचरादित्यर्थः । आगच्छन्त्य इति शेषः । अभिघोषमुत्सुका व्रजं प्रत्युत्कण्ठिताः । वत्सप्रेम्णेति भावः । 'घोष आभीरपल्ली स्यात्' इत्यमरः। च्युता त्रुटिता यूथानां कुलानां पङ्क्तिः श्रेणीबन्धो यासां तास्तथोक्ताः। 'सजातीयैः कुल यूथम्' इत्यमरः । अमूर्धेनवोऽसक्तमप्रतिबन्धं पयः क्षीरं क्षरन्ति स्रवन्ति । वत्सस्मरणात्प्रस्रवन्तीत्यर्थः । क्षरतेः शतृप्रत्ययः । ऊधांसि शरीरजेभ्योऽपत्येभ्य उपायनानीवातितोषकारीणीवेत्युत्प्रेक्षा नयन्ति प्रापयन्ति यथा । लोके कुतश्चित्प्रवासादेत्य मातरः किञ्चित्खाद्यमानयन्ति तद्वदिति भावः ।। ३१ ।।

हिन्दी—अपनी विहार-भूमि से निवास-स्थल की ओर उत्कण्ठित, समूह से बिछुड़ी हुई ये गौएँ निरन्तर दुग्ध बहाती हुई अपने स्तनों को मानों अपने बछड़ों के लिए उपहार में लिये जा रही हैं ।। ३१ ।।

विमर्श—जैसे माताएँ किसी मेले-ठेले से लौटते हुए अपने बच्चों के लिए उपहार लाती हैं, उसी प्रकार गौएँ भी अपने विशाल स्तनों को मानों उपहार की गठरी के रूप में लिए जा रही हैं । उनके स्तन इतने बड़े हैं कि वे शरीर के अङ्ग की भाँति नहीं प्रत्युत गठरी के समान मालूम पड़ते हैं । यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ।

जगत्प्रसूतिर्जगदेकपावनी व्रजोपकण्ठं तनयैरुपेयुषी ।
द्युतिं समग्रां समितिर्गवामसावुपैति मन्त्रैरिव संहिताहुतिः ।। ३२ ।।

अन्वयः—जगत्प्रसूतिः जगदेकपावनी व्रजोपकण्ठम् तनयः उपेयुषी असौ गवाम् समितिः मन्त्रैः संहिताहुतिः इव समग्राम् द्युतिम् उपैति ।। ३२ ।।

जगदिति । जगत्प्रसूतिर्जगत्कारणम् । आज्यादिहविर्द्वारेणेति भावः । जगतामेकपावनी मुख्यशोधनी व्रजोपकण्ठं गोष्ठान्तिकम् । 'दूरान्तिकार्थेभ्यो द्वितीया च' इति द्वितीया । 'उपकण्ठान्तिकाभ्यर्णाभ्यग्राः' इत्यमरः । तनयैर्वत्सैरुपेयुषी सङ्गता । 'उपेयिवाननाश्वाननूचानश्च' इति क्वसुप्रत्ययान्तो निपातः । 'उगितश्च' इति ङीप् । असौ गवां समितिः संहतिः । मन्त्रैर्ऋग्यजुषादिभिः । 'मन्त्रो ऋगादिगुह्योक्तिः—' इति वैजयन्ती । संहिता योजिताहुतिरिव । समग्रां द्युतिमुपैति । आहुतिरपि जगत्प्रसूतिर्जगदेकपावनी च । 'अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते । आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ।' इति स्मरणादिति भावः ।। ३२ ।।

हिन्दी—अपने घृत आदि हवनीय सामग्रियों के द्वारा संसार की स्थिति के कारण तथा संसार को पवित्र करने में एक मुख्य हेतुभूत ये गौओं के समूह गोष्ठ भूमि के समीप अपने बछड़ों से मिलकर, वेद-मन्त्रों से पवित्र आहुति के समान सम्पूर्ण शोभा धारण कर रहे हैं ।। ३२ ।।

विमर्श—यज्ञ की आहुतियाँ भी संसार की स्थिति का कारण तथा संसार को पवित्र करने का एक मुख्य साधन हैं । क्योंकि कहा गया है—

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते ।
आदित्याज्जायते वृष्टिः वृष्टेरन्नं ततःप्रजाः ॥

अर्थात् अग्नि में वेदमन्त्रों से पवित्र आहुतियाँ आदित्य को प्राप्त होती हैं और आदित्य से वृष्टि, वृष्टि से अन्न तथा अन्न से प्रजा की उत्पत्ति होती है । यहाँ उपमा अलङ्कार है ।

कृतावधानं जितबर्हिणध्वनौ सुरक्तगोपीजनगीतनिःस्वने ।
इदं जिघत्सामपहाय भूयसीं न सस्यमभ्येति मृगीकदम्बकम् ॥ ३३ ॥

अन्वयः—जितबर्हिणध्वनौ सुरक्तगोपीजनगीतनिःस्वने कृतावधानम् इदं मृगीकदम्बकम् भूयसीम् जिघत्साम् अपहाय सस्यम् न अभ्येति ॥ ३३ ॥

कृतेति ।जितबर्हिणध्वनौ ।केकानुकारिणीत्यर्थः ।एतेन षड्जस्वरप्रायं गायन्तीति गम्यते । यथाह मातङ्गः—'षड्जं मयूरो वदति' इति । गाः पान्तीति गोपास्तेषां भार्या गोप्यः । 'आतोऽनुपसर्ग कः' इति कप्रत्ययः । 'पुंयोगादाख्यायाम्' इति ङीष् । ता एव जनः। सुरक्तो मधुरकण्ठो यो गोपीजनो बल्लवीजनस्तस्य गीतनिःस्वने गाने कृतावधानमेकाग्रचित्तमिदं पुरोवर्ति मृगीकदम्बकं कर्तृ भूयसीमतिमहतीं जिघत्सामत्तुमिच्छाम् ।अदेः सन्नन्तादुप्रत्ययः । 'लुङ्सनोर्घस्लृ' एति घस्लादेशः ।अपहाय हित्वा सस्यं नाभ्येति नोपैति । गीतासक्त्या क्षुधामपि न गणयतीत्यर्थः ॥ ३३ ॥

हिन्दी—मयूरों की षड्ज ध्वनि को जीतने वाली मधुर-कंठ गोपियों के गीतों में दत्तचित्त यह हरिणियों का समूह खाने की प्रबल इच्छा को छोड़कर घासों की ओर नहीं जा रहा है ॥ ३३ ॥

विमर्श—मधुर स्वर में गाने वाली गोपियों के गीतों के आकर्षण में इनकी भूख ही बन्द हो गई ।

असावनास्थापरयावधीरितः सरोरुहिण्या शिरसा नमन्नपि ।
उपैति शुष्यन्कलमः सहाम्भसा मनोभुवा तप्त इवाभिपाण्डुताम् ॥ ३४ ॥

अन्वयः—शिरसा नमन्नपि अनास्थापरया सरोरुहिण्या अवधीरितः सहाम्भसा शुष्यन् असौ कलमः मनोभुवा तप्त इव अभिपाण्डुताम् उपैति ॥ ३४ ॥

असाविति । शिरसग्रेण मूर्ध्ना च नमन् प्रणमन्नप्यनास्थापरयानादरपरया सरोरुहिण्यावधीरितोऽवज्ञातः ।अम्भसा सह ।शरभूतेनेति भावः ।शुष्यन्नसौ कलमः शालिविशेषः । मनोभुवा तप्त इव कामार्त इव । अभिपाण्डुतामुपैति । अत्रानास्थापरयेति प्रकृतसरोरुहिणीविशेषणसामर्थ्यादप्रस्तुतनायिकाप्रतीतेः समासोक्तिः। उत्तिष्ठमानायाः सरोरुहिण्याः प्रतीयमानया नायिकया शुद्धभेदेऽप्यभेदलक्षणातिशयोक्तिमहिम्नावधीरणक्रियासम्बन्धान् निर्वहन्ती मनोभुवा तप्त इवेत्युत्प्रेक्षानिर्वाहिकेत्यतिशयोक्त्यनुप्राणितसमासोक्त्युपमयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः ॥ ३४ ॥

हिन्दी—(नायक की भाँति) शिर झुकाकर प्रणत होने पर भी अनादर करने वाली (नायिका की भाँति) कमलिनी से तिरस्कृत होकर सहचारी जल के साथ सूखता हुआ यह जड़हन धान मानों कामदेव से सताए हुए की भाँति पीले वर्ण का हो रहा है ।। ३४ ।।

विमर्श—जैसे कोई नायक कुपिता नायिका द्वारा अपमानित होकर कामाग्नि से सूख कर काँटा हो जाता है, वैसे ही शरदृऋतु में जड़हन धान भी पक कर पीले हो गए हैं । अतिशयोक्ति अलङ्कार से अनुप्राणित समासोक्ति और उपमा का अङ्गाङ्गी भाव से सङ्कर ।

अमी समुद्धूतसरोजरेणुना हृता हृतासारकणेन वायुना ।
उपागमे दुश्चरिता इवापदां गतिं न निश्चेतुमलं शिलीमुखाः ।। ३५ ।।

अन्वयः—समुद्धूतसरोजरेणुना हृतासारकणेन वायुना हृता अमी शिलीमुखाः आपदाम् उपागमे दुश्चरिताः इव गतिम् निश्चेतुम् नालम् ।। ३५ ।।

अमी इति । समुद्धूतसरोजरेणुनेति सौरभ्योक्तिः । हृतासारकणेनोपात्ताम्बुकणेनेति शैत्योक्तिः । 'धारासम्पात आसारः' इत्यमरः । वायुनां हृता आकृष्टा अमी शिलीमुखा भृङ्गाः । आपदामुपागमे राजादिभयागमे दुश्चरिता दुष्टकर्माणश्चौरादय इव । गम्यत इति गतिं गन्तव्यदेशम् । 'देशोपायगमे गतिः' इति वैजयन्ती । निश्चेतुं नालं न समर्थाः । एकत्र वायोः सार्वत्रिकत्वेनोपादानादनिश्चयादन्यत्र भयान्धत्वादिति भावः ।। ३५ ।।

हिन्दी—उड़ते हुए कमल-परागों से भरे हुए तथा वर्षा के जल-कणों से युक्त (शीतल, मन्द, सुगन्ध) वायु द्वारा आकृष्ट ये भ्रमरों के समूह राजा आदि का भय उपस्थित होने पर चोरों एवं लम्पटों की भाँति अपने गन्तव्य प्रदेश का निश्चय नहीं कर पा रहे हैं ।। ३५ ।।

विमर्श—अर्थात् शीतल मन्द सुगन्ध वायु बह रही है तथा भ्रमरावली उड़ती हुई गुञ्जार कर रही है । यहाँ उपमा अलङ्कार है ।

मुखैरसौ विद्रुमभङ्गलोहितैः शिखाः पिशङ्गीः कलमस्य बिभ्रती ।
शुकावलिर्व्यक्तशिरीषकोमला धनुःश्रियं गोत्रभिदोऽनुगच्छति ।। ३६ ।।

अन्वयः—विद्रुमभङ्गलोहितैः मुखैः पिशङ्गीः कलमस्य शिखाः बिभ्रती व्यक्त शिरीषकोमला असौ शुकावलिः गोत्रभिदः धनुःश्रियम् अनुगच्छति ।। ३६ ।।

मुखैरिति । विद्रुमभङ्गलोहितैर्मुखैः पिशङ्गीः पिशङ्गवर्णाः कलमस्य शिखाः शाल्यग्राणि बिभ्रती व्यक्तशिरीषकोमला विकसितशिरीषसवर्णासौ शुकावलिर्गोत्रभिद इन्द्रस्य धनुषः श्रियमनुगच्छत्यनुकरोति । नानावर्णत्वादिन्द्रधनुरिवाभातीत्युपमालङ्कारः ।। ३६ ।।

हिन्दी—मूंगे के टुकड़ों की भाँति अपने लाल रँग के मुखों (चोंच) में पीले रंग की जड़हन धान की बालों को धारण किये हुए एवं विकसित शिरीष के पुष्प की भाँति हरे रंग वाले इन शुकों की पङ्क्तियाँ इन्द्रधनुष की शोभा का अनुकरण कर रही हैं ॥ ३६ ॥

विमर्श—तीन रङ्गों (लाल, पीले और हरे) के संयोग से इन्द्रधनुष की उपमा दी गई है । यहाँ उपमा अलङ्कार है ।

इति कथयति तत्र नातिदूरादथ ददृशे पिहितोष्णरश्मिबिम्बः ।
विगलितजलभारशुक्लभासां निचय इवाम्बुमुचां नगाधिराजः ॥ ३७ ॥

अन्वयः—अथ तत्र इति कथयति नातिदूरात् पिहितोष्णरश्मिबिम्बः नगाधिराजः विगलितजलभारशुक्लभासाम् अम्बुमुचाम् निचयः इव ददृशे ॥ ३७ ॥

इतीति । तत्र तस्मिन्पूर्वोक्ते यक्ष इतीत्थं कथयति सति नातिदूरादनतिदूरात् । ईषद्दूर इत्यर्थः । नञर्थस्य नशब्दस्य सुप्सुपेति समासः । पिहितोष्णरश्मिबिम्बस्तिरोहितार्कमण्डल इत्यौन्नत्योक्तिः । नगाधिराजो हिमाद्रिविगलितो जलभारो येषां ते तथोक्ताः अतएव शुक्लभासः । द्वयोरन्यतरस्य विशेष्यत्वविवक्षया विशेषणसमासः । तेषां विगलितजलभारशुक्लभासां शुभ्राणामम्बुमुचां निचय इव मेघवृन्दमिव ददृशे दृष्टः ॥ ३७ ॥

हिन्दी—इस प्रकार अर्जुन से बातें करते हुए उस यक्ष ने समीप से, भगवान् भास्कर के मण्डल को छिपाने वाले पर्वतराज हिमालय को, जलभार से मुक्त होने के कारण श्वेत कान्ति वाले मेघों के समूह की भाँति देखा ॥ ३७ ॥

विमर्श—अर्थात् हिमालय समीप आ गया । पुष्पिताग्रा छन्द है । यहाँ उपमा अलङ्कार है ।

तमतनुवनराजिश्यामितोपत्यकान्तं
नगमुपरि हिमानीगौरमासाद्य जिष्णुः ।
व्यपगतमदरागस्यानुसस्मार लक्ष्मी—
मसितमधरवासो बिभ्रतः सीरपाणेः ॥ ३८ ॥

॥ इति भारविकृतौ महाकाव्ये किरातार्जुनीये चतुर्थः सर्गः ॥ ४ ॥

—※—

अन्वयः—अतनुवनराजिश्यामितोपत्यकान्तम् तम् उपरि हिमानीगौरम् नगम् आसाद्य जिष्णुः व्यपगतमदरागस्य असितम् अधरवासः बिभ्रतः सीरपाणेः लक्ष्मीम् अनुसस्मार ।। ३८ ।।

तमिति । जिष्णुरर्जुनोऽतनुभिर्महतीभिर्वनराजिभिः श्यामिताः श्यामला उपत्यकान्ता आसन्नभूमिप्रदेशा यस्य तं तथोक्तम् । 'उपत्यकाद्रेरासन्ना भूमिरुर्ध्वममधित्यका' इत्यमरः । 'उपाधिभ्यां त्यकन्नासन्नारूढयोः' इति त्यकन् प्रत्ययः । उपरि हिमानीभिर्हिमसङ्घातैर्गौरं शुभ्रं नगं हिमाद्रिमासाद्य । व्यपगतो निवृत्तो मदरागो यस्य तस्य । असितं नीलमधरं वास उत्तरीयं बिभ्रतो धृतवतः । सीरं हलं पाणौ यस्य तस्य सीरपाणेर्हलायुधस्य । 'हलायुधः । नीलाम्बरो रौहिणेयस्तालाङ्को मुसली हली । सङ्कर्षणः सीरपाणिः' इत्यमरः । 'सप्तमीविशेषणे—' इति ज्ञापकाद् व्यधिकरणपदो बहुव्रीहिः । 'प्रहरणार्थेभ्यः परे निष्ठासप्तम्यौ स्तः' इति सप्तम्याः परनिपातः । लक्ष्मीं शोभामनुसस्मार स्मृतवान् अत्र सदृशदर्शनेन सदृशान्तरस्य स्मरणात्स्मरणालङ्कारः 'सदृशं सदृशानुभवाद्यत्र स्मर्येन्त तत्स्मरणम्' इति विद्याधरः ।। ३८ ।।

।। इति श्रीमहामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितायां किरातार्जुनीयकाव्यव्याख्यायां घण्टापथसमाख्यायां चतुर्थः सर्गः समाप्तः ।। ४ ।।



हिन्दी—विशाल वनों की पङ्क्तियों से नीले वर्ण वाली घाटियों से युक्त, बर्फ की चट्टानों से ढके हुए शुभ्रवर्णों वाले हिमालय पर पहुँचकर अर्जुन ने, मदिरा के नशे से रहित कटि प्रदेश में नीलाम्बरधारी बलदेव जी की शोभा का स्मरण किया ।। ३८ ।।

विमर्श—यहाँ मदिरा के नशे से रहित होने का तात्पर्य है प्रकृतिस्थ होना । यहाँ मालिनी छन्द है । स्मरणालङ्कार ।

।। इस प्रकार श्रीभारविकृत किरातार्जुनीयम् महाकाव्य के चौथे सर्ग की डॉ सुधाकर मालवीय कृत हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ।। ४ ।।



पञ्चमः सर्गः

अथ हिमवद्वर्णनमारभते । तत्र पञ्चदशभिः कुलकमाह—

अथ जयाय नु मेरुमहीभृतो रभसया नु दिगन्तदिदृक्षया ।
अभिययौ स हिमाचलमुच्छ्रितं समुदितं नु विलङ्घयितुं नभः॥१ ॥

अन्वयः—अथ सः मेरुमहीभृतः जयाय नु रभसया दिगन्तदिदृक्षया नु नभः विलङ्घयितुम् न समुदितम् उच्छ्रितम् हिमाचलम् अभिययौ ॥ १ ॥

अथेति । अथानन्तरं सोऽर्जुनो मेरुमहीभृतो हेमाद्रेर्जयाय नु जयार्थ वा । नुशब्दोऽत्र वितर्के । 'नु पृच्छायां वितर्के च' इत्यमरः । रभसो वेगः । 'रभसो वेगहर्षयोः' इति वैजयन्तीविश्वप्रकाशौ। तद्वत्या रभसया। अतीवोत्कण्ठयेति यावत्। अर्शआदित्वादच्प्रत्ययः । दिगन्तानां दिदृक्षया न द्रष्टुमिच्छया वा । नभोऽन्तरिक्षं विलङ्घयितुं न्वतिक्रमितुं वा । समुदितम् । समुत्पतितमिव स्थितमित्यर्थः । कुतः । उच्छ्रितमुन्नतं हिमस्याचलं हिमाचलमभिययौ । अत्र निर्धारितानेकफल औन्नत्यगुण-निमित्तोदितादि क्रियोत्प्रेक्षा । सा च व्यञ्जकाप्रयोगात् प्रतीयमानेति सङ्क्षेपः । द्रुत-विलम्बितं वृत्तम्—'द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ' इति लक्षणात् ॥१ ॥

हिन्दी—तदनन्तर अर्जुन उस हिमालय पर्वत के सम्मुख पहुँच गए, जो या तो सुमेरु पर्वत को जीतने के लिए, अथवा अत्यन्त उत्कण्ठा से दिशाओं का अवसान देखने के लिए अथवा मण्डल का उल्लङ्घन करने के लिए मानो उछलकर अत्यन्त ऊँचा उठ खड़ा हुआ है ॥ १ ॥

विमर्श—यहाँ गम्योत्प्रेक्षा अलङ्कार है तथा द्रुतविलम्बित छन्द है ।

तपनमण्डलदीपितमेकतः सततनैशतमोवृतमन्यतः ।
हसितभिन्नतमिस्रचयं पुरः शिवमिवानुगतं गजचर्मणा ॥ २ ॥

अन्वयः—एकतः तपनमण्डलदीपितम् अन्यतः सततनैशतमोवृतम् पुरः हसित-भिन्नतमिस्रचयम् गजचर्मणा अनुगतम् शिवम् इव स्थितम् ॥ २ ॥

तपनेति । पुनः एकत एकस्मिन्भागे । सार्वविभक्तिकस्तसिः । तपनमण्डलेन दीपितं प्रकाशितम् । अन्यतोऽन्यस्मिन्भागे सततेनानिषिद्धेन नैशेन निशिभवेन तमसा वृतम् । एकत्राह्ना रात्र्या चान्यत्र सङ्गतमित्यर्थः । अत एव पुरोऽग्रे हसितेनाट्टहासेन भिन्नतमिस्रचयं निरस्ततमस्तोमं तथा गजचर्मणानुगतं पश्चाद् व्याप्तम् । 'पश्चात्सादृश्य-

योरनु' इत्यमरः । शिवमिव स्थितम् । तपनतेजःप्रसारोऽप्यस्य कण इव कुत्रचित्परि-समाप्यत इति महत्त्वातिशयोक्तिः ।। २ ।।

हिन्दी—एक ओर सूर्यमण्डल से सुप्रकाशित तथा दूसरी ओर रात्रि के घोर अन्धकार से आवृत (वह हिमालय) सामने की ओर अपने मुक्त अट्टहास से अन्धकार को दूर करने वाले तथा पिछले भाग को गजचर्म से विभूषित करने वाले भगवान् शङ्कर के समान स्थित है ।। २ ।।

विमर्श—हिमालय इतना ऊँचा है कि इसके एक ओर प्रकाश और दूसरी ओर अन्धकार रहता है । शिव जी भी ऐसे ही हैं । उनका मुखभाग तो उनके अट्टहास से प्रकाशमान रहता है और पृष्ठभाग गजचर्म से आवृत होने के कारण काले बर्फ का है । यहाँ अतिशयोक्ति अलङ्कार है ।

क्षितिनभःसुरलोकनिवासिभिः कृतनिकेतमदृष्टपरस्परैः ।
प्रथयितुं विभुतामभिनिर्मितं प्रतिनिधिं जगतामिव शम्भुना ।। ३ ।।

अन्वयः—अदृष्टपरस्परैः क्षितिनभः सुरलोकनिवासिभिः कृतनिकेतम् शम्भुना विभुताम् प्रथयितुम् अभिनिर्मितम् जगताम् प्रतिनिधिम् इव ।। ३ ।।

क्षितीति । परस्परेऽन्योन्ये । 'कर्मव्यतिहारे सर्वनाम्नो द्वे भवतः' इति वक्तव्या-त्परशब्दस्य द्विर्भावः । 'समासवच्च बहुलं यदा न समासवत्प्रथमैकवचनं तदा पूर्व-पदस्य' इति वक्तव्यात्प्रथमैकवचनम् । सुट् । कस्कादित्वाद्विसर्जनीयस्य सत्वं बहु-वचनं चान्योन्यशब्दवत् । यथा माघे—'अन्योन्येषां पुष्करैरामृशन्तः' इति । अदृष्टाः परस्परे यैस्तेऽदृष्टपरस्परास्तैस्तथोक्तैः । क्षितौ नभसि सुरलोके च निवसन्तीति तैस्तथोक्तैः । भूर्भुवःस्वर्लोकवासिभिरित्यर्थः । कृतनिकेतं कृतास्पदम् । अतएव शम्भुना विभुतां स्वसामर्थ्यं प्रथयितुमभिनिर्मितं जगतां प्रतिनिधिं प्रतिकृतिमिव स्थितमित्युत्प्रेक्षा । 'प्रतिकृतिरर्चा पुंसि प्रतिनिधिरुपमोपमानं स्यात्' इत्यमरः। त्रैलोक्य श्लाघ्योपममपरिच्छेद्यं चेति भावः ।। ३ ।।

हिन्दी—परस्पर एक दूसरे को न देखने वाले पृथ्वी, आकाश तथा स्वर्गलोक के निवासियों द्वारा निवास स्थान बनाये जाने के कारण (यह हिमालय) ऐसा मालूम पड़ता है कि शङ्कर भगवान् ने अपनी व्यापकता के विस्तार के लिए मानों संसार के प्रतिनिधि के रूप में इस पर्वत का निर्माण किया है ।। ३ ।।

विमर्श—यह शङ्कर भगवान् के निर्माण-कौशल का ही नमूना है कि तीनों लोकों के निवासी यहाँ रहते हैं और कोई किसी को देख नहीं पाते । जो बात किसी दूसरे से नहीं हो सकती थी उसे ही तो शङ्कर भगवान् करते आ रहे हैं । यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ।

भुजगराजसितेन नभः श्रिता कनकराजिविराजितसानुना ।
समुदितं निचयेन तडित्वतीं लङ्घयता शरदम्बुदसंहतिम् ।। ४ ।।

अन्वयः—भुजगराजसितेन नभःश्रिता कनकराजिविराजितसानुना तडित्वतीम् शरदम्बुदसंहतिम् लङ्घयता निचयेन समुदितम् ।। ४ ।।

भुजगेति । पुनश्च । भुजगराजसितेन शेषाहिधवलेन नभः श्रिता गगनस्पृशा कनकस्य राजिभी रेखाभिर्विराजिताः सानवो यस्य तेन तथोक्तेन । अतएव तडित्वतीं शरदम्बुदसंहतिं शरन्मेघचयं लङ्घयता लघूकुर्वता । तत्तुल्येनेत्यर्थः । अत एवोपमा-लङ्कारः। निचयेन शिखरसमूहेन समुदितं समुन्नतम् । निचयेनेति । यद्यपि निचयशब्दः। शिखरस्यावाचकस्तथापि पर्वतवर्णनप्रकरणोक्तत्वात्पाषाणनिचयः शृङ्गवाची भवितु-मर्हति । यथा—'कूटोऽस्त्री शिखरं शृङ्गम्' इति कूटशब्दः समूहापरपर्यायः । अतएव लक्षणाश्रयणीया । अतएवावाच्यवचनं न दोषः ।। ४ ।।

हिन्दी—शेषनाग के समान श्वेत-शुभ्र वर्ण की गगनचुम्बी, सुवर्ण रेखाओं से सुशोभित चट्टानों से युक्त होने के कारण यह हिमालय विद्युत्-रेखाओं से युक्त शरदृतु के बादलों की पङ्क्तियों को तिरस्कृत करने वाले शिखरों से अत्यन्त ऊँचा (दिखाई पड़ रहा) है ।। ४ ।।

विमर्श—इस श्लोक में यद्यपि शिखर शब्द नहीं आया है किन्तु प्रसंगानुरोध से 'निचय' शब्द का ही 'पाषाण निचय' अर्थात् शिखर अर्थ ले लिया गया है । यहाँ उपमा अलङ्कार है ।

मणिमयूखचयांशुकभासुराः सुरवधूपरिभुक्तलतागृहाः ।
दधतमुच्चशिलान्तरगोपुराः पुर इवोदितपुष्पवना भुवः ।। ५ ।।

अन्वयः—मणिमयूखचयांशुकभासुराः सुरवधूपरिभुक्तलतागृहाः उच्चशिलान्तर-गोपुराः उदितपुष्पवनाः पुरः इव भुवः दधतम् ।। ५ ।।

मणीति । पुनः । मणिमयूखचया अंशुकानीव पटकादीनीव तैर्भासुराः । सुर-वधूभिः परिभुक्ता लता गृहा इव यासु तास्तथोक्ताः। उच्चानि शिलान्तराणि गोपुराणीव शिलान्तराणि शिलामध्यानि पुरद्वाराणि यासु ताः । उदितान्यूर्जितानि पुष्पाणां वनानि यासु ताः । अतएव पुर इव नगराणीव स्थिताः । भुवो दधतम् ।। ५ ।।

हिन्दी—वस्त्रों के समान मणियों के किरण समूहों से चमकते हुए देवाङ्गनाओं द्वारा सेवित गृहों के समान लताओं से युक्त, ऊँचे-ऊँचे पुर-द्वारों की भाँति शिलाखण्डों के मध्य भागों से-युक्त एवं पुष्पों से समृद्ध वनों से सुशोभित नगरों के समान भूमि भागों को यह हिमालय धारण किये हुए है ।। ५ ।।

विमर्श—यहाँ उपमा अलङ्कार है ।

अविरतोज्झितवारिविपाण्डुभिर्विरहितैरचिरद्युतितेजसा ।
उदितपक्षमिवारतनिःस्वनैःपृथुनितम्बविलम्बिभिरम्बुदैः ।। ६ ।।

अन्वयः—अविरतोज्झितवारिविपाण्डुभिः अचिरद्युतितेजसा विरहितैः आरतनिः-स्वनैः पृथुनितम्बविलम्बिभिः अम्बुदैः उदितपक्षम् इव ।। ६ ।।

अविरतेति ।पुनश्च ।अविरतमविच्छिन्नमुज्झितवारय: ।अधृष्टिमन्त इत्यर्थ: । अतएव विपाण्डवश्च तैरविरतोज्झितवारिविपाण्डुभि: ।अतएव हिमवत्पक्षत्वं सम्भव-तीति भाव:।अचिरद्युतितेजसा विरहितैर्विद्युत्तेजोरहितै: ।आरतनि:स्वनै: प्रशान्तगर्जि-तैश्च ।अन्यथा पक्षत्वहानि: स्यादिति भाव:।पृथुनितम्बविलम्बिभिर्महाकटकसङ्गिभि:। 'कटकोऽस्त्री नितम्बोऽद्रे:' इत्यमर: । अम्बुदेरुदितपक्षं सञ्जातपक्षमिव स्थितम् । प्राक्छिन्नपक्षस्यापि हिमाद्रेर्धवलाम्बुदसम्बन्धात्पुन: पक्षोत्थानमुत्प्रेक्ष्यते ।। ६ ।।

हिन्दी—निरन्तर वृष्टि करने से जलशून्य होने के कारण श्वेत वर्णों वाले, बिजली की चमक से विहीन, गर्जनरहित, एवं विस्तृत नितम्ब अर्थात् मध्य भाग में फैले हुए बादलों से यह हिमालय ऐसा मालूम पड़ रहा है मानों इसके पक्ष फिर से उग आए हों ।। ६ ।।

विमर्श—पौराणिक कथाओं के अनुसार पूर्वकाल में सभी पर्वत पक्षधारी होते थे और जब जहाँ चाहते थे उड़ा करते थे । उनके इस कार्य से लोगों को सदा बड़ा भय बना रहता था कि न जाने कब कहाँ गिर पड़े । देवताओं की प्रार्थना पर देवराज इन्द्र ने अपने वज्र से सभी पर्वतों के पक्षों को काट डाला था ।

यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ।

दधतमाकरिभि: करिभि: क्षतै: समवतारसमैरसमैस्तटै: ।
विविधकामहिता महिताम्भस: स्फुटसरोजवना जवना नदी: ।। ७ ।।

अन्वय:—आकरिभि: करिभि: क्षतै: समवतारसमै: असमै: तटै: महिताम्भस: विधिकामहिता स्फुटसरोजवना: । जवना: नदी: दधतम् ।। ७ ।।

दधतमिति । पुनश्च । आकर: खनिरेषामस्ति योनित्वेनेत्याकरिभिराकरजै: 'स्त्रनि: स्त्रियामाकर: स्यात्' इत्यमर: ।करिभिर्गजै: कर्तृभि: ।क्षतै रुग्णै: समवतारेषु तीर्थेषु समैरविषमैरसमैरसदृशै: ।अनुपमैरित्यर्थ: ।तटैरुपलक्षितास्तथा महिताम्भस: श्लाध्योदका अतएव विविधेम्य: कामेभ्योऽवगाहनाद्युपभोगेभ्यो हिता अनुकूला: । 'चतुर्थी तदर्थ—' इत्यादिना समास: ।स्फुटानि विकसितानि सरोजवनानि यासु ता: । जवना वेगवती: । 'जुचङ्क्रम्य—' इत्यादिना युच् ।नदीर्दधतम् ।यमकवृत्त्यनुप्रास-भेदत्वात्स्वयमेवालङ्कार: ।अर्थालङ्कारस्त्वभ्युच्चय: ।तस्यातिदुष्करत्वाद् रसपोषोऽपि नाद्रियते ।तदुक्तम् —'प्रायशो यमके चित्रे रसवृद्धिर्न मृग्यते' इति ।। ७ ।।

हिन्दी—(यह हिमालय) आकर अर्थात् खानों से उत्पन्न हाथियों द्वारा क्षत-विक्षत, स्नानादि योग्य स्थलों पर सम एवं अनुपम तटों से युक्त, प्रशस्त जलयुक्त होने के कारण विविध कामों के लिए हितकारी एवं विकसित कमलों के समूहों से सुशोभित वेगवती नदियों को धारण करने वाला है ।। ७ ।।

विमर्श—तात्पर्य यह है कि इस हिमालय के जिन भागों में रत्नों की खानें हैं उनमें हाथियों की भी अधिकता है । वे हाथी नदियों के तटों को तोड़ा-फोड़ा करते हैं । किन्तु फिर भी स्नान करने योग्य स्थलों पर वे तट बहुत सम हैं । नदियों में

कमल खिले रहते हैं तथा उनकी धारा बहुत तीव्र है । यहाँ शब्दालङ्कारों में यमक और वृत्यनुप्रास तथा अर्थालङ्कारों में अभ्युच्चय है ।

नवविनिद्रजपाकुसुमत्विषां द्युतिमता निकरेण महाश्मनाम् ।
विहितसान्ध्यमयूखमिव क्वचिन्निचितकाञ्चनभित्तिषु सानुषु ॥ ८ ॥

अन्वयः—नवविनिद्रजपाकुसुमत्विषाम् द्युतिमताम् महाश्मनाम् निकरेण क्वचित् निचितकाञ्चनभित्तिषु विहितसान्ध्यमयूखम् इव ॥ ८ ॥

नवेति ।पुनश्च ।नवानि विनिद्राणि विकसितानि च यानि जपाकुसुमानि ताम्रपुष्पिकाकुसुमानि तेषां त्विष इव त्विषो येषां ते तेषाम् । 'ओण्ड्रपुष्पं जपापुष्पं रूपिका ताम्रपुष्पिका' इति वाग्भटः । द्युतिमतां महाश्मनां मणीनाम् । पद्मरागाणामित्यर्थः । विशेषणसामर्थ्यात् ।निकरेण समूहेन हेतुना क्वचिन्निचिताः संघटिताः काञ्चनभित्तयो येषु तेषु सानुषु विहिताः सान्ध्याः सन्ध्यायां भवामयूखा यस्मिस्तमिव स्थितम् । काञ्चनभित्तिषु पद्मरागप्रभाप्रसरादुदितसन्ध्याराग इव भातीत्युत्प्रेक्षा ॥ ८ ॥

हिन्दी—नूतन विकसित जपाकुसुम की कान्ति के समान कान्ति वाली चमकती हुई पद्मरागमणियों के समूहों से कहीं-कहीं पर (यह हिमालय) सुवर्ण खचित भित्तियों वाली चोटियों पर मानों सायङ्काल के सूर्य की किरणों से प्रतिभासित-सा (दिखाई पड़ता) है ॥ ८ ॥

विमर्श—अर्थात् इस हिमालय की सुवर्णयुक्त भित्तियों में पद्मरागमणि की कान्ति जब पड़ती है तो वह संध्या काल की सूर्य-किरणों की भाँति अरुण वर्ण का दिखाई पड़ता है । यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ।

पृथुकदम्बकदम्बकराजितं ग्रथितमालतमालवनाकुलम् ।
लघुतुषारतुषारजलश्च्युतं धृतसदानसदाननदन्तिनम् ॥ ९ ॥

अन्वयः—पृथुकदम्बकदम्बकराजितम् ग्रथितमालतमालवनाकुलम् लघुतुषारतुषारजलश्च्युतम् धृतसदानसदाननदन्तिनम् ॥ ९ ॥

पृथ्विति । पुनश्च ! पृथुभिः कदम्बवतां कदम्बकैर्नीपकुसुमसमूहै राजितम् । 'कदम्बमाहुः सिद्धार्थे नीपे च निकुरम्बके' इत्युभयत्रापि विश्वः । ग्रथितमालैर्बद्धपङ्क्तिभिस्तमालवनैस्तापिच्छवनैराकुलमाकीर्णम् । 'कालस्कन्धस्तमालः स्यात्तापिच्छोऽपि' इत्यमरः । लघुतुषारमल्पशीकरं यत्तुषारजलं हिमोदकं श्च्योतति वर्षति तं तथोक्तम् । 'तुषारौ हिमसीकरौ' इति शाश्वतः । 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' इति क्विप् । सदानाः समदाः सदाननाः शोभनाननाश्च ये दन्तिनस्ते धृता येन तं तथोक्तम् ॥ ९ ॥

हिन्दी—यह हिमालय विशाल कदम्बों के पुष्प समूहों से सुशोभित, पंक्तियों में लगे हुए तमालों के वनों से संकुलित, छोटे-छोटे हिमकणों की वृष्टि करता हुआ एवं सर्वदा मद बरसाने वाले सुन्दरमुख गजराजों से युक्त है ॥ ९ ॥

रहितरत्नचयान्न शिलोच्चयानपलताभवना न दरीभुवः ।
विपुलिनाम्बुरुहा न सरिद्वधूरकुसुमान्दधतं न महीरुहः ।।१० ।।

अन्वयः—रहितरत्नचयान् शिलोच्चयान् न दधतम् अपलताभवना दरीभुवः न विपुलिनाम्बुरुहाः सरिद्वधूः न अकुसुमान् महीरुहः न ।। १० ।।

रहितेति । पुनश्च । रहितरत्नचयान् रहितः परित्यक्तो रत्नचयो यैस्तान् रत्नराशिरहिताञ्छिलोच्चयाञ्छिखराणि न दधतम् । अपलताभवना लतागृहरहिता दरीभुवो गुहाप्रदेशान्न दधतम् । 'दरी तु कन्दरो वा स्त्री देवखातबिले गुहा' इत्यमरः । विगतानि पुलिनान्यम्बुरुहाणि च यासां ताः । सरितो वध्व इव ताः सरिद्वधूर्न दधतम्। अत्र सरितां वध्वौपम्यात्पुलिनानामम्बुरुहाणां च वदनजघनौपम्यं गम्यते । अकुसुमान् महीरुहो वृक्षान्न दधतम्, किन्तु रत्नादिसम्पन्नानेव शिलोच्चयादीन् दधतमित्यर्थः । महाविभाषया नात्र नञ्समासः ।।१० ।।

हिन्दी—यह हिमालय रत्नराशिरहित कोई शिखर नहीं धारण करता, लता-गृहों से शून्य कोई गुफा नहीं धारण करता, मनोहर पुलिनों तथा कमलों से विहीन कोई सरिद्वधू (नव वधू की भाँति नदियाँ) नहीं धारण करता तथा बिना पुष्पों का कोई वृक्ष नहीं धारण करता ।। १० ।।

विमर्श—तात्पर्य यह है कि हिमालय की चोटियाँ रत्नों से व्याप्त हैं, गुफाएँ लतागृहों से सुशोभित हैं, नदियाँ मनोहर तटों तथा कमलों से भरी हैं तथा वृक्ष पुष्पों से लदे हैं । यहाँ नदियों की वधू के साथ उपमा देकर पुलिनों की उनके जघन स्थल तथा कमलों की उनके मुख से उपमा प्रकट होती है ।

व्यथितसिन्धुमनीरशनैः शनैरमरलोकवधूजघनैर्घनैः ।
फणभृतामभितो विततं ततं दयितरम्यलताबकुलैः कुलैः ।।११ ।।

अन्वयः—अनीरशनैः घनैः अमरलोकवधूजघनैः शनैः व्यथितसिन्धुम् दयितरम्यलताबकुलैः फणभृताम् कुलैः अभितः ततम् विततम् ।। ११ ।।

व्यथितेति । पुनश्च । अनीरशनैरनिर्मेखलैः । सरशनैरित्यर्थः । घनैर्निबिडैरमरलोकवधूजघनैः शनैर्मन्दं व्यथितसिन्धुं क्षोभितनदीकम् । अयमपरः स्वर्ग इति भावः । ये रम्या लताश्च बकुलाः केशराश्च ते दयिताः प्रिया येषां तैस्तथोक्तैः । 'विशारदो मद्यगन्धो बकुलः स च केसरः' इति वैद्यके । फणभृतां सर्पाणां कुलैरभितस्ततं व्याप्तं तथा विततं विस्तृतम् ।।११ ।।

हिन्दी—(यह हिमालय) सुन्दर मेखलाओं से सुशोभित, देवाङ्गना-समूहों के जघन-स्थलों से धीरे-धीरे क्षुब्ध धारा वाली नदियों एवं मनोहर लताओं एवं केसर के प्रेमी सर्पों से चारों ओर व्याप्त एवं विस्तृत है ।। ११ ।।

विमर्श—यहाँ यमक और वृत्यनुप्रास अलङ्कार है ।

ससुरचापमनेकमणिप्रभैरपपयोविशदं हिमपाण्डुभिः ।
अविचलं शिखरैरुपबिभ्रतं ध्वनितसूचितमम्बुमुचां चयम् ।।१२ ।।

अन्वयः—अनेकमणिप्रभैः हिमपाण्डुभिः शिखरैः ससुरचापम् अपपयोविशदम् अविचलम् ध्वनितसूचितम् अम्बुमुचाम् चयम् उपबिभ्रतम् ।। १२ ।।

ससुरेति ।। अनेका विचित्रा मणिप्रभा येषां तैस्तथोक्तैः । हिमेन पाण्डुभिः शिखरैः कृत्वा ससुरचापं सेन्द्रचापम् । अपपया निर्जलोऽतएव विशदश्च तमपपयोविशदम् । अविचलं दैवान्निश्चलम् । अतः शिखरशङ्कास्याभूदित्यर्थः । किन्तु ध्वनितेन गर्जितेन सूचितं ज्ञापितमम्बुमुचां चयमविरतमुपबिभ्रतम् । अत्र किल कल्पितसादृश्याच्छिखरमेघसन्देहो मेघनिश्चयान्तः सन्देहालङ्कारः ।।१२ ।।

हिन्दी—अनेक प्रकार की विचित्र मणियों की प्रभा से सुशोभित हिमशुभ्र शिखरों वाला (यह हिमालय) इन्द्र-धनुष से युक्त, जलरहित होने के कारण श्वेत एवं निश्चल (अतएव शिखर की शङ्का कराने वाले किन्तु) गर्जन से अपनी सूचना देने वाले मेघ-समूहों को धारण करता है ।। १२ ।।

विमर्श—भाव यह है कि जल न होने से मेघ श्वेत एवं निश्चल हो जाते हैं, हिमालय के शिखर भी ऐसे ही हैं । मेघों में इन्द्रधनुष की रंग-बिरंगी छटा होती है तो वह विचित्र मणियों की प्रभा के कारण हिमालय के शिखरों में भी है । केवल गर्जन ऐसा है, जो शिखरों में नहीं है और इसी से दोनों में अन्तर मालूम पड़ता है । यहाँ सन्देह अलङ्कार है ।

विकचवारिरुहं दधतं सरः सकलहंसगणं शुचि मानसम् ।
शिवमगात्मजया च कृतेर्ष्यया सकलहं सगणं शुचिमानसम् ।।१३ ।।

अन्वयः—विकचवारिरुहम् सकलहंसगणम् शुचि मानसम् सरः दधतम् कृतेर्ष्यया अगात्मजया सकलहम् सगणम् शुचिमानसम् शिवम् च (दधतम्) ।। १३ ।।

विकचेति ।। पुनश्च । विकचवारिरुहम् । नित्यविकसितारविन्दमित्यर्थः । वृत्तिसामर्थ्यात् । कलहंसगणैः सह वर्तत इति सकलहंसगणम् । 'कादम्बः कलहंसः स्यात्' इत्यमरः । यद्वा । सकलाः सर्वे हंसगणा यस्मिँस्तत्तथोक्तम् । शुचि नित्यनिर्मलं मानसं मानसाख्यं सरो दधतम् । किञ्च । कृतेर्ष्यया । कुतश्चिन्निमित्तात्कुपितयेत्यर्थः । अगात्मजया पार्वत्या सकलहं सविवादम् । सगणं सप्रमथम् । 'गणाः प्रमथसंख्यौघाः' इति वैजयन्ती । शुचिमानसमविद्याविनिर्मुक्तचित्तं शिवं च दधतम् । एतेन सकलशैलवैक्षण्यमस्योक्तम् ।।१३ ।।

हिन्दी—नित्य विकसित होने वाले कमलों से सुशोभित तथा राजहंसों से युक्त निर्मल मानस सरोवर को एवं किसी कारण से कदाचित् कुपिता पार्वती के साथ कलह करने वाले अपने गणों समेत अविद्यादि दोषों से रहित भगवान् शङ्कर को (यह हिमालय) धारण किये हुए है ।। १३ ।।

विमर्श—संसार के अन्य पर्वतों से हिमालय की यही विलक्षणता है । यहाँ यमक अलङ्कार है ।

ग्रहविमानगणानभितो दिवं ज्वलयतौषधिजेन कृशानुना ।
मुहुरनुस्मरयन्तमनुक्षपं त्रिपुरदाहमुमापतिसेविनः ॥ १४ ॥

अन्वयः—दिवम् अभितः ग्रहविमानगणान् ज्वलयता ओषधिजेन कृशानुना अनुक्षपम् उमापतिसेविनः त्रिपुरदाहम् मुहुः अनुस्मरयन्तम् ॥ १४ ॥

ग्रहेति ॥ दिवमभितो दिवोऽभिमुखम् । 'अभितः परितः—' इत्यादिना द्वितीया। ग्रहाश्चन्द्रादयो विमानानि देवयानानि च । 'व्योमयानं विमानोऽस्त्री' इत्यमरः । तेषां गणाञ्ज्वलयता प्रदीपयता । 'मितां ह्रस्वः' इति ह्रस्वः । ओषधिजेन तृणविशेषजन्येन कृशानुना वह्निना कृत्वानुक्षपं प्रतिक्षपम् । वीप्सायामव्ययीभावः । उमापतिसेविनः प्रमथादीन् । 'गतिबुद्धि—' इत्यादिना द्विकर्मकत्वम् । त्रयाणां पुराणां समाहारस्त्रिपुरम् । 'तद्धितार्थ—' इत्यादिना समासः । 'पात्रादिभ्यः प्रतिषेधो वक्तव्यः' इति स्त्रीलिङ्ग-प्रतिषेधः । तस्य दाहं त्रिपुरदाहं मुहुरनुस्मरयन्तम् । ननु 'अधीगर्थ—' इत्यादिना दाहमित्यत्र षष्ठी किं न स्यात् । तस्याः शेषार्थे विधानाच्छेषत्वस्याविवक्षितत्वात् । अत्र 'कविसम्मतसादृश्यात्स्मृतिः' इति स्मरणालङ्कारः ॥ १४ ॥

हिन्दी—यह हिमालय आकाशस्थित चन्द्र सूर्यादि ग्रहों एवं देवयानों को सुप्रकाशित करते हुए अपनी औषधियों से उत्पन्न अग्नि द्वारा प्रत्येक रात्रि में भगवान् शङ्कर के सेवकों अर्थात् गणों को त्रिपुरदाह का बारम्बार स्मरण दिलाता है ॥ १४ ॥

विमर्श—तात्पर्य यह है कि इसमें अनेक प्रकार की दिव्य औषधियाँ हैं जिनसे ग्रहगण एवं देवयान ही नहीं प्रकाशित होते वरन् रात्रियों में त्रिपुरदाह जैसा दृश्य भी दिखाई पड़ता है । यहाँ स्मरण अलङ्कार है ।

विततशीकरराशिभिरुच्छ्रितैरुपलरोधविवर्तिभिरम्बुभिः ।
दधतमुन्नतसानुसमुद्धतां धृतसितव्यजनामिव जाह्नवीम् ॥ १५ ॥

अन्वयः—विततशीकरराशिभिः उच्छ्रितैः उपलरोधविवर्तिभिः अम्बुभिः धृतसितव्यजनाम् इव उन्नतसानुसमुद्धताम् जाह्नवीम् दधतम् ॥ १५ ॥

वितततेति ॥ विततशीकरराशिभिर्विस्तृतशीकरपुञ्जैरुच्छ्रितैरुत्पर्तितैः । कुतः । उपलरोधेन । विवर्तिभिरम्बुभिर्हेतुभिर्धृतसितव्यजनामिव गृहीतामलचामरामिव स्थितामित्युत्प्रेक्षा । उन्नतसानुषु समुद्धतां वहन्तीं जाह्नवीं गङ्गां दधतम् ॥ १५ ॥

हिन्दी—यह हिमालय अपने उन्नत शिखरों पर गङ्गा जी को धारण करता है, जो पत्थरों की विशाल चट्टानों से धारा के रुक जाने पर जब उनके ऊपर से बहने लगती हैं तब ऊपर अनन्त जल-कणों के फौवारे की तरह छूटने से ऐसा मालूम होता है मानों वह श्वेत चामर धारण किये हुए हैं ॥ १५ ॥

विमर्श—यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ।

अनुचरेण धनाधिपतेरथो नगविलोकनविस्मितमानसः ।
स जगदे वचनं प्रियमादरान्मुखरताऽवसरे हि विराजते ।।१६ ।।

अन्वयः—अथ: धनाधिपते: अनुचरेण नगविलोकनविस्मितमानस: स: आदरात् प्रियम् वचनम् जगदे । हि मुखरता अवसरे विराजते ।। १६ ।।

अनुचरेणेति ।। अथोऽनन्तरम् । 'मङ्गलानन्तरारम्भप्रश्नकात्स्न्येष्वथो अथ' इत्यमरः । धनाधिपतेरनुचरेण यक्षेण नगविलोकनेन विस्मितमानसः । सोऽर्जुनः । आदरात्प्रियं वचनं जगदे गदितः । गदतेर्गत्यर्थस्य दुहादित्वात्प्रधाने कर्मणि लिट् । अपृष्टपरिभाषणदोषं परिहरति—मुखरतेति। मुखरता वाचालत्वम् । अपृष्टपरिभाषित्वमिति यावत् । अवसरे श्रोतुराकाङ्क्षासमये विराजते हि । आकाङ्क्षितमपृष्टोऽपि ब्रूयादिति भावः ।।१६ ।।

हिन्दी—तदनन्तर धनपति कुबेर के सेवक उस यक्ष ने हिमालय की अलौकिक छटा के अवलोकन से आश्चर्यचकित अर्जुन से आदरपूर्वक यह प्रिय वचन कहे । वाचालता (बहुत बोलना) (ऐसे ही) उचित अवसरों पर शोभा देती है ।

विमर्श—अर्थात् मनुष्य उचित अवसर समझकर बिना पूछे भी यदि कुछ कह देता है तो उसकी शोभा होती है । यहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ।। १६ ।।

अलमेष विलोकितः प्रजानां सहसा संहतिमंहसां विहन्तुम् ।
घनवर्त्म सहस्रधेव कुर्वन्हिमगौरैरचलाधिपः शिरोभिः ।।१७ ।।

अन्वयः—हिमगौरैः शिरोभिः घनवर्त्म सहस्रधा कुर्वन् इव एषः अचलाधिपः विलोकितः प्रजानाम् अंहसा संहतिम् सहसा विहन्तुम् अलम् ।। १७ ।।

अलमिति । हिमेन गौरैः शुभ्रैः शिरोभिः शिखरैर्घनवर्त्म खं सहस्रधा कुर्वन्विपाटयन्निवेत्युत्प्रेक्षा । एषोऽचलाधिपो हिमवान्विलोकितो दृष्टमात्र एव प्रजानामहसां संहतिं पापसङ्घातं सहसा विहन्तुमलं समर्थः । 'पर्याप्तिवचनेष्वलमर्थेषु' इति तुमुन् । औपच्छन्दसिकं वृत्तम् — 'पर्यन्तेर्यौ तथैव शेषं चौपच्छन्दसिकं सुधीभिरुक्तम्' इति स्मरणात् ।।१७ ।।

हिन्दी—हिम के कारण शुभ्र शिखरों से मेघ-पंथों को मानों सहस्रों भागों में विभक्त करता हुआ यह पर्वतराज हिमालय देखने मात्र से ही लोगों के पाप-समूहों को नष्ट करने में समर्थ है ।। १७ ।।

विमर्श—अर्थात् इसे देखने मात्र से ही पाप नष्ट हो जाते हैं, चित्त प्रसन्न हो जाता है । औपच्छन्दसिक वृत्त ।

इह दुरधिगमैः किञ्चिदेवागमैः सततमसुतरं वर्णयन्त्यन्तरम् ।
अमुमतिविपिनं वेद दिग्व्यापिनं पुरुषमिव परं पद्मयोनिः परम् ।।१८ ।।

अन्वयः—इह असुतरम् अन्तरम् दुरधिगमैः आगमैः किञ्चिदेव सततम् वर्णयन्ति । (किन्तु) अतिविपिनम् दिग्व्यापिनम् अमुम् परम् पुरुषम् इव पद्मयोनिः एव वेद ॥ १८ ॥

इहेति ॥ इहास्मिन्पर्वते । सुतरं न भवतीत्यसुतरम् । दुस्तरमित्यर्थः । तरतेः खल्प्रत्ययः । अन्तरं मध्यभागम् । पुरुषे त्वन्तरं तत्त्वम् । दुरधिगमैर्दुरारोहैन्यत्र दुर्ग्रहैरागमैर्वृक्षैरन्यत्र पुराणादिभिः । 'पुराणेऽप्यागमो वृक्षे' इति रुद्रः । किञ्चिदेव सततं वर्णयन्ति न तु कदाचित्प्रत्यक्षेणापि निःशेषं ज्ञातुमशक्यत्वादिति भावः । किं त्वतिविपिनमतिगहनं दिग्व्यापिनमुभयत्रापि समम् । अमुं गिरिं परं पुरुषं परमात्मानमिव परं केवलम् । 'परमव्ययमिच्छन्ति केवले' इति विश्वः । पद्मयोनिर्ब्रह्मैव वेद नान्य इत्यर्थः । 'विदो लटो वा' इति ण्लादेशः । अत्रोपमायमकयोः संसृष्टिः ।

क्षमा वृत्तम् —'तुरगरसयतिर्नौ भरौ गः क्षमा' लक्षणात् ॥ १८ ॥

हिन्दी—इस हिमालय पर्वत के दुस्तर अन्तर्वर्ती अर्थात् मध्य भाग को कठिनाई द्वारा चढ़ने योग्य वृक्षों से (उन पर चढ़कर पक्षान्तर में पुष्पादि का अध्ययन कर) कुछ-कुछ बताया जा सकता है, किन्तु परमात्मा के समान इस अत्यन्त गहन एवं दिगन्तव्यापी पर्वतराज को सम्पूर्ण रीति से केवल पद्मयोनि अर्थात् ब्रह्मा जी ही जानते हैं ॥ १८ ॥

विमर्श—अर्थात् ब्रह्मा के सिवा कोई दूसरा इसके विशाल स्वरूप को नहीं जानता । क्षमा वृत्त । उपमा और यमक अलङ्कारों की संसृष्टि ।

रुचिरपल्लवपुष्पलतागृहैरुपलसज्जलजैर्जलराशिभिः ।
नयति सन्ततमुत्सुकतामयं धृतिमतीरुपकान्तमपि स्त्रियः ॥ १९ ॥

अन्वयः—अयम् रुचिरपल्लवपुष्पलतागृहैः उपलसज्जलजैः जलराशिभिः उपकान्तम् धृतिमतीः अपि स्त्रियः सन्ततम् उत्सुकताम् नयति ॥ १९ ॥

रुचिरपल्लवेति ॥ अयं गिरिः । रुचिराणि पल्लवानि पुष्पाणि च येषां ते तथाभूता लतागृहा येषु तैस्तथोक्तैरुपलसज्जलजैः शोभितकमलैर्जलराशिभिः सरोभिः करणैः उपकान्तं कान्तसमीपे धृतिमतीर्धैर्यवतीरपि समीपस्थानपि प्रियान्न गणयन्तीः । मानिनीरित्यर्थः । स्त्रियः सन्ततमुत्सुकतां नयति । तासां मानग्रन्थिं शिथिलयतीत्यर्थः । अथवा । उपकान्तं धृतिमतीस्तुष्टिमतीरपि सुरततृप्ता अपि पुनरप्युत्सुकतां नयतीत्यर्थः । उभयत्राप्युद्दीपकत्वादतिशयोक्तिः । वृत्तमुक्तम् ॥ १९ ॥

हिन्दी—यह हिमालय अपने मनोहर पल्लवों एवं पुष्पों से सुशोभित लतामण्डपों तथा विकसित कमलों से समचित सरोवरों से अपने प्रियतम के समीप में स्थित धैर्यशालिनी मानिनी रमणियों को भी निरन्तर उत्सुक बना देता है ॥ १९ ॥

विमर्श—अर्थात् जो मानिनी रमणियाँ पहले अपने समीपस्थ प्रियतमों का भी

अपमान करती थीं वे भी उत्कण्ठित हो उठती हैं, उनकी मान-ग्रन्थि इस हिमालय में आने से छूट जाती है । यहाँ अतिशयोक्ति अलङ्कार है । द्रुतविलंबित छन्द है ।

सुलभैः सदा नयवताऽयवता निधिगुह्यकाधिपरमैः परमैः ।
अमुना धनैः क्षितिभृतातिभृता समतीत्य भाति जगती जगती ।। २० ।।

अन्वयः—नयवता अयवता सदा सुलभैः निधिगुह्यकाधिपरमैः परमैः धनैः अमुना क्षितिभृता अतिभृता जगती जगती समतीत्य भाति ।। २० ।।

सुलभैरिति ।। नयवता नीतिमताऽयवता भाग्यवता च सदा सुलभैः । नान्यैरित्यर्थः । 'अयः शुभावहो विधिः' इत्यमरः । निधीनां महापद्मादीनाम् । 'अस्त्री पद्मो महापद्मः शङ्खो मकरकच्छपौ । मुकुन्दकुन्दनीलाश्च खर्वश्च निधयो नव ।।' इत्यमरः । गुह्यकानां चाधिपं कुबेरं रमयन्तीति तथोक्तैः । 'कर्मण्यण्' । परमैरुत्कृष्टैर्धनैः करणैः । अमुना क्षितिभृता हिमाद्रिणातिभृता पूर्णा सती जगती मही जगती स्वर्गपाताललोकौ समतीत्यातिक्रम्य भाति । अमानुषैरपि दुर्लभाः सम्पदोऽत्र सम्भवन्तीति भावः । अत्र धनातिभृतेति पदार्थस्य विशेषणगत्या जगदतिक्रमणहेतुत्वोक्त्या काव्यलिङ्गम् । तस्य यमकेन संसृष्टिः । प्रमिताक्षरावृत्तम् — 'प्रमिताक्षरा सजससैरुदिता' इति लक्षणात् ।। २० ।।

हिन्दी—नीतिपरायण एवं भाग्यशाली पुरुषों के लिए सर्वदा सुलभ, एवं महापद्म आदि नव निधियों एवं यक्षों के अधिपति कुबेर को भी प्रसन्न करने वाली उत्कृष्ट धन-सम्पत्तियों के द्वारा इस पवर्तराज हिमालय से परिपूर्णा यह पृथ्वी स्वर्ग और पाताल-दोनों लोकों को जीत कर सुशोभित होती है ।। २० ।।

विमर्श—अर्थात् जो सम्पत्तियाँ देवताओं एवं यक्षों को भी दुर्लभ हैं, वे यहाँ हैं । नव निधियाँ ये हैं —

अस्त्री पद्मो (१) महापद्मो (२) शंखो (३) मकर कच्छपौ (४-५) ।
मुकुन्दकुन्दनीलाश्च (६-७-८) खर्वश्च (९) निधयो नव ।।

काव्यलिङ्ग और यमक की संसृष्टि । यहाँ प्रमिताक्षरा छन्द है ।

अखिलमिदममुष्य गौरीगुरोस्त्रिभुवनमपि नैति मन्ये तुलाम् ।
अधिवसति सदा यदेनं जनैरविदितविभवो भवानीपतिः ।। २१ ।।

अन्वयः—मन्ये इदम् अखिलम् त्रिभुवनम् अपि अमुष्य गौरीगुरोः तुलाम् नैति यत् जनैः अविदितविभवः भवानीपतिः सदा एनम् अधिवसति ।। २१ ।।

अखिलमिति । अमुष्य गौरीगुरोर्हिमवत इदमखिलम् । त्रयाणां भुवनानां समाहारस्त्रिभुवनमपि । 'तद्धितार्थ—' इत्यादिना समासः । पात्रादित्वात्स्त्रीत्वप्रतिषेधः। तुलां साम्यं नैतीति मन्ये । यद्यतो जनैरविदितविभवोऽज्ञातमहिमा भवानीपतिः शिवः सदैनं गिरिमधिवसति । अस्मिन्वसतीत्यर्थः । 'उपान्वध्याङ्वसः' इति कर्मत्वम् ।

अतोऽयं धर्मक्षेत्रमिति भावः । प्रभावृत्तम् — 'स्वरशरविरतिर्ननौ सरौ प्रभा इति लक्षणात् ।। २१ ।।

हिन्दी—मैं मानता हूँ कि यह सम्पूर्ण त्रैलोक्य भी इस पवर्तराज हिमालय की तुलना नहीं कर सकता क्योंकि जिनकी महिमा लोग नहीं जान पाते ऐसे भवानीपति भगवान् शङ्कर सर्वदा इस पर्वत पर निवास करते हैं ।। २१ ।।

विमर्श—अर्थात् यह धर्मक्षेत्र है । प्रभावृत्त छन्द है ।

वीतजन्मजरसं परं शुचि ब्रह्मणः पदमुपैतुमिच्छताम् ।
आगमादिव तमोपहादितः सम्भवन्ति मतयो भवच्छिदः ।। २२ ।।

अन्वयः—वीतजन्मजरसम् ब्रह्मणः परम् शुचि पदम् उपैतुम् इच्छताम् आगमात् इव तमोपहात् इतः भवच्छिदः मतयः सम्भवन्ति ।। २२ ।।

वीतेति । विते निवृत्ते जन्मजरसौ यस्य तद्वीतजन्मजरसम् । 'जराया जरसन्यतरस्याम्' इति जरसादेशः । अत्र तदन्तविधेरिष्टत्वात्परत्वेन स्यादेशबाधकत्वाच्च । तथा हि—'टाङसिङसामिनात्स्या' इति स्यादेशबाधनात् । परत्वाज्जरसादेशं बभाषे भाष्यकृत्स्वयम् । सूत्रकारमते यत्तु ज्ञापकात्परबाधनम् । भवेत्तदपि टाङस्योर्नपुनर्ङसि सम्भवि । मतद्वयेऽपि तत्तुल्यं ङसि यत्पूर्वबाधनम् । परत्वाज्जरसादेशस्तत्स्यात्स्यादेशबाधनात् । ज्ञापकं यच्च टाङस्योर्यावादेशाविनादिति । ईकारदीर्घयोस्तत्र वैयर्थ्यं तत्तु तौ विना । एत्वे सवर्णे दीर्घे च रूपसिद्धिर्भवेद्यतः । व्यर्थसूत्राक्षरत्यागाद्बङ्क्त्वै तज्ज्ञापकं फणी । स्वातन्त्र्याज्जरसादेशं जगौ पूर्वस्य बाधनात् । समर्थनप्रपञ्चस्तु भाष्यकैयटयोः स्फुटः ।।' एवं च यदत्र जरस इति केषाञ्चित्पाठान्तरकल्पनं तदज्ञानविजृम्भितमेव । ब्रह्मणः परमात्मनः सम्बन्धि परमुत्कृष्टं शुचि निष्कलङ्कम् । पद्यत इति पदं स्थानं तादात्म्यलक्षणम् । मुक्तिमित्यर्थः । उपैतुं प्राप्तुमिच्छतां मुमुक्षूणामागमाच्छास्त्रादिव । तमोपहन्तीति तमोपहादविद्यानिवर्तकात् । 'अपे क्लेशतमसोः'इति डप्रत्ययः। इतोऽस्माद्रिरेः । भवं छिन्दन्तीति भवच्छिदः संसारनिवर्तकाः । 'सत्सूद्विष —' इत्यादिना क्विप् । मतयस्तत्त्वज्ञानानि सम्भवन्त्युत्पद्यन्ते । क्षेत्रविशेषस्यापि ज्ञानोपायत्वादित्याशयः । न केवलमियं भोगभूमिः किन्तु मुक्तिक्षेत्रमपीति तात्पर्यार्थः । रथोद्धतावृत्तम् । तल्लक्षणम् — 'रान्नराविह रथोद्धता लगौ' इति ।। २२ ।।

हिन्दी—जिसकी प्राप्ति से पुनर्जन्म और वृद्धता का भय बीत जाता है, ऐसे ब्रह्म के परमोत्कृष्ट पद अर्थात् मुक्ति को पाने के इच्छुक लोगों के लिए शास्त्रों की भाँति अज्ञानान्धकार को दूर करने वाले इस हिमालय से संसार के कष्टों को नष्ट करने वाली बुद्धि अर्थात् तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति होती है ।। २२ ।।

विमर्श—अर्थात् यह केवल भोगभूमि नहीं है प्रत्युत मुक्ति प्राप्त करने का पुण्यस्थल भी है । यहाँ रथोद्धता छन्द है ।

दिव्यस्त्रीणां सचरणलाक्षारागा रागायाते निपतितपुष्पापीडाः ।
पीडाभाजः कुसुमचिताः साशंसं शंसन्त्यस्मिन्सुरतविशेषं शय्याः।।२३।।

अन्वय:—अस्मिन् सचरणलाक्षारागा: निपतितपुष्पापीडा: पीड़ाभाज: कुसुम-चिता: दिव्यस्त्रीणाम् शय्या: रागायाते साशंसम् सुरतविशेषम् शंसन्ति ।। २३ ।।

दिव्येति । अस्मिन्गिरौ । चरणलाक्षारागै: सह वर्तन्ते तास्तथोक्ता: । धेनुक-पुरुषायितादिबन्धेषु स्त्रिया: पादतलस्याध: स्पर्शात्तद्रागाङ्किता इत्यर्थ:। निपतिता व्यान-तकरणे स्त्रीणामधोमुखत्वाद्भ्रष्टा: पुष्पापीडा: कुसुमशेखरा यासु तास्तथोक्ता: । 'शिखास्वापीडशेखरौ' इत्यमर: । पीडाभाजो विमर्दभाज: । भङ्गिमत्य इत्यर्थ: । भ्रमर भ्रमरप्रेङ्खोलितादौ सर्वत: कटीपरिभ्रमणसम्भवादिति भाव: । कुसुमैश्चिता: कुसुम व्याप्ता: । इभमार्जारादिकरणेषु स्तनभुजाद्यवयवानां शय्यातलस्थायित्वान्मर्दनाय-कुसुमाचिता इत्यर्थ: । दिव्यस्त्रीणां सम्बन्धिन्य: । शेरत आस्विति शय्यास्तल्पानि । 'संज्ञायां समजनिषद —' इत्यादिना क्यप् । रागायाते रागोद्रेके सति य: साशंस: सतृष्ण: समजनिषद—' इत्यादिना क्यप्। रागायाते रागोद्रेके सति य: साशंस: सतृष्ण: सुरतविशेषस्तम् । जातावेकवचनम् । सुरतविशेषानित्यर्थ: । शंसन्ति सूचयन्ति । विवृण्वन्तीत्यर्थ: । अत्र लाक्षारागादिपदार्थानां सुरत विशेषशंसनं प्रति विशेषणगत्या हेतुत्वोक्त्या काव्यलिङ्गमलङ्कारो यमकेन संसृज्यते । जलधरमालावृत्तम् —'म्भौ स्मौ चेत्स्याज्जलधरमाला ख्याता' इति लक्षणात् । धेनुकादिबन्धलक्षणं तु रतिरहस्ये— 'न्यस्तहस्तयुगला निजे पदे योषिदेति कटिरूढवल्लभा । अग्रतो यदि शनैरधोमुखी धेनुकं वृषवदुन्नते प्रिये । स्वेच्छया भ्रमति वल्लभेऽपि या योषिदाचरतिवल्लभायितम्। व्यानतं रतमिदं यदि प्रिया स्यादधोमुखचतुष्पदाकृति: । तत्कटिं समधिरुह्यवल्लभ: स्याद्घृषादिपशुसंस्थितिस्थित: । चक्रवद्भ्रमति कुञ्चिताङ्घ्रिका भ्रामरं न जघने समुद्गते ।। पर्वत: कटिपरिभ्रमो यदि प्रेङ्खपूर्वमिदमुक्तमूलितम् । भूगतस्तनयुगास्य-मस्तकामुन्नतस्फिचमधोमुखीं स्त्रियम् । क्रामति स्वकरकृष्टमेहने वल्लभे करिरतं तदुच्यते । 'प्रसारिते पाणिपादे शय्यास्पृशि मुखोरसि । उन्नताया: स्त्रिया: कट्यां मार्जारकरणं विदु: ।।' इति ग्रन्थान्तरे । 'कान्तोत्पीडाम्भौ स्मौ' इति वृत्तम् ।।

हिन्दी—इस हिमालय पर्वत में देवाङ्गनाओं के लिए पुष्पों से रचित शय्याएँ उनके चरणों में लगाये हुए महावर के रंग से चिह्नित गिरे हुए मुरझाये पुष्पों से युक्त एवं विमर्दित दशा में कामोद्रेक की अवस्था में की गई सतृष्ण विशेष सुरत क्रियाओं की सूचना देती हैं ।। २३ ।।

विमर्श—यहाँ धेनुकादि विपरीत बन्धों की सूचना मिलती है । यहाँ जलधरमाला छन्द है ।

गुणसम्पदा समधिगम्य परं महिमानमत्र महिते जगताम् ।
नयशालिनि श्रिय इवाधिपतौ विरमन्ति न ज्वलितुमौषधय: ।। २४ ।।

अन्वय:—जगताम् महिते अत्र औषधय: नयशालिनि अधिपतौ श्रिय: इव गुणसम्पदा परम् महिमानम् समधिगम्य ज्वलितुम् न विरमन्ति ।। २४ ।।

गुणेति ।। जगतां महिते जगद्भि: पूजिते पूज्यमाने । 'मतिबुद्धि' इत्यादिना

वर्तमाने क्तः । 'क्तस्य च वर्तमाने' इति षष्ठी । अत्र हिमवत्यौषधयस्तृणज्योतींषि नयशालिन्यधिपतौ नीतिसम्पन्ने राज्ञि श्रियः सम्पद इव गुणसम्पदा क्षेत्रगुणसम्पत्त्या । अन्यत्र सन्ध्यादिगुणसम्पदा । परं महिमानम् । उभयत्रापि प्रकाशसामर्थ्यम् । समधिगम्य ज्वलितुं प्रकाशितुं न विरमन्ति । अविरतं ज्वलन्तीत्यर्थः । अन्यत्र रात्रादावेवेति भावः ।। २४ ।।

हिन्दी—जगत् पूज्य इस हिमालय में औषधियाँ नीतिमान राजा में राज्य लक्ष्मी की भाँति क्षेत्रीयगुणों की सम्पत्ति से (राजा के पक्ष में सन्ध्या, पूजन, तर्पणादि गुणों से) अत्यन्त शक्ति प्राप्त कर अहर्निश प्रज्वलित रहने से विश्राम नहीं लेती हैं ।। २४ ।।

विमर्श—अर्थात् रात-दिन प्रज्वलित रहा करती है । तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार सन्ध्या-पूजनादि गुणों से नीतिमान राजा के प्रताप की अभिवृद्धि होती है उसी प्रकार से हिमालय के क्षेत्रीय गुणों से उस पर उगी औषधियाँ सदा प्रज्वलित रहती हैं । यहाँ उपमा अलङ्कार है तथा प्रमिताक्षरा छन्द है ।। २४ ।।

कुररीगणः कृतरवस्तरवः कुसुमानताः सकमलं कमलम् ।
इह सिन्धवश्च वरणावरणाः करिणां मुदे सनलदानलदाः ।। २५ ।।

अन्वयः—इह कुररीगणः कृतरवः तरवः कुसुमानताः कमलम् सकमलम् वरणावरणाः सनलदानलदाः सिन्धवः करिणाम् मुदे "भवन्ति" ।। २५ ।।

कुररीति । इहाद्रौ कुररीगण उत्क्रोशसङ्घः । 'उत्क्रोशकुररौ समौ' इत्यमरः । कृतरवः कृतारवः । तरवः कुसुमरानताः । कमल जल सकमल सपद्मम् । 'कमलं जलपद्मयोः' इति विश्वः । यद्वा कं जलमलमत्यन्तं सपद्मं वर्तते । 'क जले शिरसि च' इत्यमरः । किञ्च । वरणा द्रुमा आवरणं यासां ता वरणावरणाः । 'वरणो वरुणः सेतु स्तिक्तशाकः कुमारकः' इत्यमरः। सनलदाः सोशीराः । 'मूलेऽस्योशीरमस्त्रियाम्। अभयं नलदं सेव्यम्' इत्यमरः । अनलं सन्तापं घ्नन्ति खण्डयन्ति शमयन्तीत्यनलदाः सनलदाश्च ता अनलदाः सिन्धवो नद्यः करिणां मुदे । भवन्तीति शेषः । न कुत्राप्युक्तवैपरीत्यमिति भावः ।। २५ ।।

हिन्दी—इस हिमालयय पर्वत में कुररी पक्षी बोल रहे हैं, वृक्ष पुष्पभार से नीचे को झुक गये हैं, जलाशय कमलों से सुशोभित हैं, वृक्षों के आवरण एवं उशीरों से युक्त सन्ताप दूर करने वाली नदियाँ हाथियों का आनन्द बढ़ाने वाली हैं ।। २५।।

विमर्श—वृक्षों के आवरण का तात्पर्य है, तटवर्ती सघन वृक्ष पंक्तियों से आकीर्ण है । यहाँ यमक अलङ्कार एवं प्रमिताक्षरा छन्द है ।

सादृश्यं गतमपनिद्रचूतगन्धैरामोदं मदजलसेकजं दधानः ।
एतस्मिन्मदयति कोकिलानकाले लीनालिः सुरकरिणां कपोलकाषः ।।

अन्वयः—एतस्मिन् अपनिद्रचूतगन्धैः सादृश्यम् गतम् मदजलसेकजम् आमोदम् दधानः लीनालिः सुरकरिणाम् अकाले कोकिलान मदयति ॥ २६ ॥

सादृश्यमिति । एतस्मिन्पर्वतेऽपनिद्रचूतगन्धैः सादृश्यं गतं फुल्लाम्रपुष्पगन्धसदृशं मदजलसेकजमामोदं परिमलं दधानो बिभ्राणः । अतएव लीनालिः संसक्तभृङ्गः सुरकरिणाम् । कष्यतेऽनेनेति काषः । कपोलानां काषः कषणस्थानं द्रुमस्कन्धादि । अकाले वसन्तातिरिक्ते कालेऽपि कोकिलान्मदयति । 'मितां ह्रस्वः' इति ह्रस्वः । अत्र वसन्तरूपकारणाभावेऽपि मदाख्यकार्यात्पत्तिकथनाद्विभावनालङ्कारः । तदुक्तम् — 'कारणेन विना कार्यस्योत्पत्तिः स्याद्विभावना' इति । सा च चूतगन्धैः सादृश्यमित्युपमया वामोदं दधान इति पदार्थहेतुककाव्यलिङ्गेन चाङ्गाङ्गिभावेन सङ्कीर्यते । किञ्च कोकिलानां मदगन्धे चूतगन्धभ्रान्त्या भ्रान्तिमदलङ्कारो व्यज्यते । प्रहर्षिणीवृत्तम् —'म्नौज्रौ गस्त्रिदशयतिः प्रहर्षिणीयम्' इति लक्षणात् ॥ २६ ॥

हिन्दी—इस हिमालय पर्वत में बौरे हुए आम की मञ्जरी की सुगन्ध के समान सुगन्धित मदजल के सिञ्चन से उत्पन्न सुगन्ध धारण करने वाले, भ्रमरों से व्याप्त देवगजों के कपोलों (गण्डस्थलों) के घर्षण के स्थान (अर्थात् वृक्षों की शाखाएँ) बिना बसन्त ऋतु के ही कोकिलों को उन्मत्त बना देते हैं ॥ २६ ॥

विमर्श—विभावना उपमा और काव्यलिङ्ग अलङ्कारों का अङ्गागी भाव से सङ्कर और भ्रान्तिमान अलङ्कार की व्यञ्जना भी है । यहाँ प्रहर्षिणी छन्द है ।

सनाकवनितं नितम्बरुचिरं चिरं सुनिनदैर्नदैर्वृतममुम् ।
मता फणवतोऽवतो रसपरापरास्तवसुधा सुधाधिवसति ॥ २७ ॥

अन्वयः—सनाकवनितम् नितम्बरुचिरम् सुनिनदैः नदैः वृतम् अमुम् अवतः फणवतः मता रसपरा वरास्तवसुधा सुधा चिरम् अधिवसति ॥ २७ ॥

सनाकेति । पुनश्च । सनाकवनितं साप्सरस्कं नितम्बैः कटकै रुचिरं सुनिनदैः सुघोषैर्नदैः प्रवाहैर्वृतममुम् । अमुष्मिन्गिरावित्यर्थः । 'उपान्वध्याङ्वसः' इति कर्मत्वम् । अवतोऽधोलोकरक्षकस्य फणवतो नागराजस्य मतेष्टा । 'मतिबुद्धि—' इत्यादिना वर्तमाने क्तः । तद्योगात्षष्ठी । रसेन स्वादेन परोत्कृष्टा परास्तवसुधा त्यक्तभूलोका सुधामृतं चिरमधिवसति । अतोऽन्यत्र भूमण्डले कुत्रापि सुधा नास्तीत्यर्थः । मेरुप्रतिभटोऽयं गिरिरिति भावः । अत्र प्रस्तुतविशेषणसामर्थ्यादप्रस्तुतमेरुप्रतीतेः समासोक्तिरलङ्कारः । स च यमकेन संसृज्यते । जलोद्धतगतिर्वृत्तम् — 'रसैर्जसजसा जलोद्धतगतिः' इति लक्षणात् ॥ २७ ॥

हिन्दी—अप्सराओं से युक्त मनोहर कटि प्रदेश से सुशोभित कलकल शब्द करने वाले नदों से व्याप्त इस पर्वतराज हिमालय पर पाताल लोक के रक्षक नागराज बासुकि की अत्यन्त उत्कृष्ट प्यारी स्वादयुक्त एवं भूलोक को त्यागने वाली सुधा चिरकाल से निवास करती है ॥ २७ ॥

विमर्श—इस पर्वत के अतिरिक्त संसार में अन्यत्र कहीं भी सुधा नहीं है । यह सुमेरु की समानता करने वाला है । समासोक्ति अलङ्कार और यमकालङ्कार की संसृष्टि । जलोद्धतगति वृत्त ।

श्रीमल्लताभवनमोषधयः प्रदीपाः
शय्या नवानि हरिचन्दनपल्लवानि ।
अस्मिन्रतिश्रमनुदश्च सरोजवाताः
स्मर्तुं दिशन्ति न दिवः सुरसुन्दरीभ्यः ।। २८ ।।

अन्वयः—अस्मिन् श्रीमत् लताभवनम् ओषधयाः प्रदीपाः नवानि हरिचन्दन-पल्लवानि शय्याः रतिश्रमनुदः सरोजवाताश्च सुरसुन्दरीभ्यः दिवः स्मर्त्तुम् न दिशन्ति ।

श्रीमदिति । अस्मिन्नद्रौ श्रीमत्समृद्धिमल्लता एव भवनम् । ओषधयस्तृण-ज्योतींष्येव प्रदीपाः । नवानि हरिचन्दनपल्लवानि सुरतरुकिसलयान्येव शय्याः । 'हरिचन्दनमाख्यातं गोशीर्षे सुरपादपे' इति विश्वः । रतिश्रमनुदः सुरतश्रमहारिणः सरोजवाताश्च । सुरसुन्दरीभ्यः । क्रियाग्रहणाच्चतुर्थी । दिवो दिवम् । 'अधीगर्थ —' इत्यादिना कर्मणि षष्ठी । स्मर्तुं न दिशन्ति । विस्मारयन्तीत्यर्थः । स्वर्गादप्यतिरिच्यतेऽसाविति भावः । अत्र पूर्वार्धे रूपकत्रयं स्फुटमेव ।। २८ ।।

हिन्दी—इस हिमालय पर्वत पर शोभायुक्त लता-मण्डप रूपी भवन, प्रकाश-मान औषधि रूप के दीपक, नूतन कल्पवृक्ष के पल्लव रूपी शय्याएँ तथा सुरत के श्रम को दूर करने वाला कमल वन का वायु-ये सभी सामग्रियाँ देवाङ्गनाओं को स्वर्ग का स्मरण नहीं करने देतीं ।। २८ ।।

विमर्श—अर्थात् देवाङ्गनाएँ यहाँ आकर स्वर्ग को भी भूल जाती हैं । उनके लिए यह स्वर्ग से बढ़ कर सुखदायी है । यहाँ वसन्ततिलका छन्द है एवं रूपक अलङ्कार है ।

ईशार्थमम्भसि चिराय तपश्चरन्त्या
यादोविलङ्घनविलोलविलोचनायाः ।
आलम्बताग्रकरमत्र भवो भवान्याः
श्च्योन्निदाघसलिलाङ्गुलिना करेण ।। २९ ।।

अन्वयः—ईशार्थम् चिराय अम्भसि तपश्चरन्त्या यादोविलङ्घनविलोलविलोचनायाः भवान्याः अग्रकरम् भवः श्च्योतन्निदाघसलिलाङ्गुलिना करेण अत्र आलम्बत् ।।२९।।

ईशार्थमिति । ईशायेतीशार्थं यथा तथेति क्रियाविशेषणम् । 'अर्थेन सह नित्य-समासः सर्वलिङ्गता च वक्तव्या' । चिराय चिरमम्भसि तपश्चरन्त्या अतएव यादो-विलङ्घनविलोलविलोचनाया जलजन्तुविघट्टितचकितेक्षणायाः । तपसोऽप्यधिकं दृष्ट्वैव विलोभयन्त्येति भावः । 'यादांसि जलजन्तवः' इत्यमरः । भवान्या भव-

पत्याः । प्रयोगकालापेक्षोऽयं निर्देशः । 'इन्द्रवरुणभव—' इत्यादिना ङीप् । आनुगागमश्च । करैकदेशस्यापि करत्वादग्रश्चासौ करश्चेति समानाधिकरणे समासः । अतएव वामनः 'हस्ताग्राग्रहस्तयोर्गुणगुणिनोर्भेदाभेदौ' इति । तमग्रकरं भवः शिवः श्च्योतन्निदाघसलिलाङ्गुलिना स्रवत्स्वेदाङ्गुलिनेति सात्त्विकोदयोक्तिः । करेणात्र गिरावालम्बत गृहीतवान् । अत्राद्भुतातीतवृत्तान्तस्य प्रत्यक्षवदभिधानाद्भाविकालङ्कारः — 'अतीतानागते यत्र प्रत्यक्षवदलक्षिते । अत्यद्भुतार्थकार्यत्वाद्भाविकं तदुदाहृतम् ॥' इति लक्षणात् । वसन्ततिलकावृत्तम् — 'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः' इति तल्लक्षणात् ॥ २९ ॥

हिन्दी—भगवान् शङ्कर को प्राप्त करने के लिए चिरकाल तक जल में तपः साधना में लगी हुई, क्षुद्र जल-जन्तुओं के कूदने से चकित नेत्रों वाली पार्वती जी के पाणि को शङ्कर जी ने चूते हुए पसीने की बूँदों से युक्त अँगुलियों वाले अपने हाथ से इसी पर्वत पर ग्रहण किया था ॥ २९ ॥

विमर्श—अर्थात् स्वेदाङ्गुलि से सात्त्विक भाव को कहा गया है । इसी हिमालय पर पार्वती जी का पाणिग्रहण हुआ था । यहाँ वसन्ततिलका छन्द एवं भाविक अलङ्कार है ।

येनापविद्धसलिलः स्फुटनागसद्मा
देवासुरैरमृतमम्बुनिधिर्ममन्थे
व्यावर्तनैरहिपतेरयमाहिताङ्कः खं
व्यालिखन्निव विभाति स मन्दराद्रिः ॥ ३० ॥

अन्वयः—येन देवासुरैः अपविद्धसलिलः स्फुटनागसद्मा अम्बुनिधिः अमृतम् ममन्थे । अहिपतेः व्यावर्तनैः आहिताङ्कः सः अयम् मन्दराद्रिः खम् व्यालिखन् इव विभाति ॥ ३० ॥

येनेति । देवाश्चासुराश्च तैर्देवासुरैः । 'येषां च विरोधः शाश्वतिकः' इति नैकवद्भावः । येषां यतः कार्यत एव विरोधो न गोव्याघ्रादिवच्छाश्वतिक इत्याहुः । येन मन्दराद्रिणा । मन्थदण्डीकृतेनेति भावः। अपविद्धसलिलः क्षिप्तजलोऽत एव स्फुटं नागसद्म पातालं यस्मिन्सोऽम्बुनिधिरमृतं ममन्थे मथितः । मथ्नातेर्द्विकर्मकत्वाद्वहादित्वादप्रधाने कर्मणि लिट् । अहिपतेः मन्थगुणीकृतस्य वासुकेरित्यर्थः । 'मन्थानं मन्दरं कृत्वा नेत्रं कृत्वा तु वासुकिम्' इति भारतवचनात् । व्यावर्तनैर्वेष्टनैराहिताङ्कः कृतचिह्नः सोऽयं मन्दराद्रिः खमाकाशं व्यालिखन्व्यापाटयन्निव विभाति । अत्रौन्नत्यानुपादानेनैव खलेखनोत्प्रेक्षणादनुपात्तगुणनिमित्ता क्रियास्वरूपोत्प्रेक्षा ॥ ३० ॥

हिन्दी—जिस (मन्दराचल) के द्वारा देवताओं और असुरों ने अमृत प्राप्ति के लिए समुद्र-मन्थन किया था और जिससे समुद्र का जल अत्यन्त क्षुब्ध हो गया था और पाताल लोक स्पष्टतया दृष्टिगोचर हो रहा था । मथानी की रस्सी की भाँति

सर्पराज वासुकि के लपेटने से चिह्नित वह यही मन्दराचल है जो आकाश-मण्डल का मानों भेदन-सा करता हुआ सुशोभित हो रहा है ।। ३० ।।

विमर्श—यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ।

नीतोच्छ्रायं मुहुरशिशिररश्मेरुस्त्रै-
रानीलाभैर्विरचितपरभागारत्नैः ।
ज्योत्स्नाशङ्कामिह वितरति हंसश्येनी
मध्येऽप्यह्नः स्फटिकरजतभित्तिच्छाया ।। ३१ ।।

अन्वयः—इह अशिशिररश्मेःजस्त्रैः नीतोच्छ्रायम् आनीलाभैः रत्नैः विरचित-परभागा हंसश्येनी स्फटिकरजतभित्तिच्छाया अह्नः मध्येऽपि मुहुः ज्योत्स्नाशङ्काम् वितरति ।। ३१ ।।

नीतेति । इहाद्रावशिशिररश्मेरुष्णांशोरुस्त्रैर्मयूखैः । सङ्क्रान्तैरित्यर्थः । नीतोच्छ्रायमुच्छ्रायं नीता । विस्तारितेत्यर्थः । तथानीलाभैरसितप्रभै रत्नैरिन्द्रनीलैर्विरचितपरभागा । तत्सन्निधानाल्लब्धोत्कर्षेत्यर्थः । हंस इव श्येनी श्वेतवर्णा । 'विशदश्येतपाण्डराः' इत्यमरः । वर्णादनुदात्तात्तोपधात्तो नः' इति रयेतशब्दान् ङीप् । तकारस्य च नकारः । स्फटिकानां रजतानां च भित्तयस्तासां छाया कान्तिः । अह्नो मध्ये । मध्याह्नेऽपीत्यर्थः । मुहुर्ज्योत्स्नाशङ्कां ज्योत्स्नाभ्रान्ति वितरति जनयतीति भ्रान्तिमदलङ्कारः ।। ३१ ।।

हिन्दी—इस हिमालय पर्वत पर सूर्य की किरणों द्वारा विस्तारित तथा इन्द्रनील मणि की समीपता के कारण अत्यधिक उत्कर्ष अर्थात् स्वच्छता को प्राप्त हंस के समान श्वेतवर्ण की स्फटिक एवं चाँदी की भित्तियाँ मध्याह्न काल में भी बारम्बार चाँदनी की शङ्का उत्पन्न करती हैं ।। ३१ ।।

विमर्श—यहाँ भ्रान्तिमान् अलङ्कार है ।

दधत इव विलासशालि नृत्यं मृदु पतता पवनेन कम्पितानि ।
इह ललितविलासिनीजनभ्रूगतिकुटिलेषु पयःसु पङ्कजानि ।। ३२ ।।

अन्वयः—इह मृदु पतता पवनेन कम्पितानि पङ्कजानि ललितविलासिनीजन-भ्रूगतिकुटिलेषु पयःसु विलासशालि नृत्यम् दधत इव ।। ३२ ।।

दधत इति । इहाद्रौ मृदु पतता मन्दं वहता पवनेन कम्पितानि पङ्कजानि ललितविलासिनीजनस्य भ्रूगतिवत्कुटिलेषु । ईषत्तरङ्गितेष्वित्यर्थः । पयःसु विलासशालि नृत्यं दधत इव । सविलासं नृत्यन्तीवेत्युत्प्रेक्षा । पुष्पिताग्रावृत्तम् ।। ३२ ।।

हिन्दी—इस हिमालय पर्वत पर मन्द-मन्द बहने वाली वायु द्वारा कम्पित कमलवृन्द विलासिनी रमणियों की कुटिल भौहों के समान तरंगयुक्त जलराशि में मानों मनोहर नृत्य-सा करते हुए दिखाई पड़ते हैं ।। ३२ ।।

विमर्श—यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार है एवं पुष्पिताग्रा छन्द है ।

अस्मिन्नगृह्यत पिनाकभृता सलीलमाबद्धवेपथुरधीरविलोचनायाः ।
विन्यस्तमङ्गलमहौषधिरीश्वरायाः स्रस्तोरगप्रतिसरेण करेण पाणिः ।।३३।।

अन्वयः—अस्मिन् पिनाकभृता अधीरविलोचनायाः ईश्वरायाः विन्यस्तमङ्गल महौषधिः आबद्धवेपथुः पाणिः स्रस्तोरग प्रतिसरेण करेण सलीलम् अगृह्यत ।। ३३ ।।

अस्मिन्निति । अस्मिन्नद्रौ पिनाकभृता शिवेनाधीरविलोचनायाश्चकितदृष्टेः । उरगदर्शनादिति भावः । ईश्वराया गौर्याः । 'स्थेशभास—' इत्यादिना वरच् । पुंयोग विवक्षाभावान्न ङीष् । आबद्धवेपथुः प्राप्तकम्प इति सात्विकोक्तिः । 'ट्वितोऽथुच्' इत्यथुच्प्रत्ययः । विन्यस्ता मङ्गलमहौषधिर्यवाङ्कुरादिर्यस्मिन्स पाणिः । स्रस्तो गलित उरग एव प्रतिसरः कौतुकसूत्रं यस्य तेन । 'आहुः प्रतिसरो हस्तसूत्रे माल्ये च मण्डने' इति विश्वः । करेण सलीलमगृह्यतेति देवस्य पार्वतीपरिणयनवर्णनम् । ईषार्थमित्यत्र त्वनुग्रहमात्रोक्तिरित्यपौनरुक्त्यम् । भाविकमेवालङ्कारः ।। ३३ ।।

हिन्दी—इसी हिमालय पर्वत पर पिनाकपाणि भगवान् शङ्कर ने (सर्पदर्शन से भयभीत होने के कारण) चकितलोचना पार्वती के यवांकुर आदि माङ्गलिक उपकरणों से अलङ्कृत कम्पित हाथ को लीलापूर्वक ग्रहण किया था और उस समय उनके हाथ से सर्परूप कौतुक-सूत्र नीचे की ओर खिसक पड़ा था ।। ३३ ।।

विमर्श—पार्वती जी के पाणिग्रहण के समय सर्प भगवान् शङ्कर के हाथ की कलाई में कौतुक-सूत्र की भाँति विराजमान् था । जिस समय शङ्कर जी पार्वती जी का पाणिग्रहण करने लगे उस समय उनके हाथ का वह सर्प नीचे की ओर सरकने लगा । उस सर्प को देखकर पार्वती जी भयत्रस्त हो गयीं और उनका हाथ काँपने लगा । यहाँ वसन्ततिलका छन्द एवं भाविक अलङ्कार है ।

क्रामद्भिर्घनपदवीमनेकसंख्यैस्तेजोभिः शुचिमणिजन्मभिर्विभिन्नः ।
उस्राणां व्यभिचरतीव सप्तसप्तेः पर्यस्यान्निव निचयः सहस्रसंख्याम् ।।३४।।

अन्वयः—इह घनपदवीम् क्रामद्भिः अनेकसंख्यैः शुचिमणिजन्भभिः तेजोभिः विभिन्नः पर्यस्यद् सप्तसप्तेः उस्राणाम् निचयः सहस्रसंख्याम् व्यभिचरति इव ।।३४।।

क्रामद्भिरिति । घनपदवीमाकाशं क्रामद्भिर्व्यश्नवानैरनेकसंख्यैः । परःसहस्रै-रित्यर्थः। क्वचित् 'अनेकवर्णैः' इति पाठस्तु प्रामादिक एव । वैयर्थ्याद्व्याघाताच्चेति। शुचिमणिभ्यः स्फटिकेभ्यो जन्म येषां तैः । 'जन्माद्युत्तरपदो बहुव्रीहिर्व्यधिकरणोऽ-पीष्यते' इति वामनः । तेजोभिर्विभिन्नो मिश्रोऽतएव पर्यस्यन्प्रसर्पन्निहाद्रौ सप्तसप्तेः सवितुरुस्राणां किरणानां निचयो निकरः । सहस्रमिति संख्या सहस्रसंख्या ताम् । स्वनियतामिति शेषः । व्यभिचरत्यतिक्रामतीवेत्युत्प्रेक्षा ।। ३४ ।।

हिन्दी—इस हिमालय पर्वत पर आकाश-मण्डल में व्याप्त बहुसंख्यक

स्फटिक मणियों से उत्पन्न किरण-जालों से मिश्रित होने के कारण फैलता हुआ सूर्य की किरणों का समूह मानों अपनी नियत सहस्र की संख्या का अतिक्रमण - सा करता है ।। ३४ ।।

विमर्श—हिमालय पर्वत पर स्फटिक की सहस्रों किरणें नीचे की ओर से आकाश में चमकती रहती हैं, ऊपर से सूर्य को किरणें चमकती हैं । दोनों का जब मेल हो जाता है तो ऐसा मालूम होता है मानों सूर्य की किरणों की संख्या अपनी नियत सहस्र-संख्या से ऊपर बढ़ गई है । यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ।

व्यधत्त यस्मिन्पुरमुच्चगोपुरं पुरां विजेतुर्धृतये धनाधिप: ।
स एष कैलास उपान्तसर्पिण: करोत्यकालास्तमयं विवस्वत: ।। ३५ ।।

अन्वय:—यस्मिन् धनाधिप: पुराम् विजेतु: धृतये उच्चगोपुरम् पुरम् व्यधत्त । स: एष: कैलास: उपान्तसर्पिण: विवस्वत: अकाले अस्तमयम् करोति ।। ३५ ।।

व्यधत्तेति । यस्मिन्कैलासे धनाधिप: कुबेर: पुरां विजेतु: शिवस्य धृतये सन्तोषायोच्चगोपुरमुन्नतपुरद्वारम् । 'पुरद्वारं तु गोपुरम्' इत्यमर: । पुरमलकाख्यां पुरीं व्यधत निर्मितवान् । तत्सखित्वादिति भाव: । स एष कैलास उपान्तसर्पिण: प्रान्तचारिणो विवस्वत: सूर्यस्याकाले प्रसिद्धेतरकालेऽस्तमयं करोतीवेत्युत्प्रेक्षा । वस्तुतस्तु तत्कारणाभावाद्व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्योत्प्रेक्षा । सा चोपान्तवर्तितयाऽसम्बन्धे सम्बन्धलक्षणातिशयोक्त्युत्थापितेति विवेक: । अस्तमिति मकारान्तमव्ययम् । तस्य पञ्चाद्यजन्तेनायशब्देन षष्ठीसमास: । वृत्तमुक्तम् ।। ३५ ।।

हिन्दी—जिस कैलास पर्वत पर कुबेर ने त्रिपुरविजयी भगवान् शंङ्कर के सन्तोष के लिए उन्नत गोपुरों (फाटकों) से समलङ्कृत अलकापुरी का निर्माण किया था, यह वही कैलास है जो अपनी सीमा में सञ्चरण करने वाले सूर्य नारायण को समय के पहले ही मानों अस्त-सा बना देता है ।। ३५ ।।

विमर्श—यहाँ अतिशयोक्ति से उत्थापित गम्योत्प्रेक्षा अलङ्कार है । वंशस्थ वृत्त ।

नानारत्नज्योतिषां सन्निपातैश्छन्नेष्वन्त:सानु वप्रान्तरेषु ।
बद्धाम्बद्धां भित्तिशङ्कामममुष्मिन्नावानावान्मातरिश्वा निहन्ति ।। ३६ ।।

अन्वय:—अमुष्मिन् अन्त:सानु नानारत्नज्योतिषाम् सन्निपातै: छन्नेषु वप्रान्तरेषु बद्धाम्बद्धाम् भित्तिशङ्काम् आवान् मातरिश्वा निहन्ति ।। ३६ ।।

नानेति । अमुष्मिन्कैलासेऽन्त:सानु । सानुष्वित्यर्थ: । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभाव: । नानारत्नज्योतिषां अनेकमणिकान्तीनां सन्निपातैर्व्यतिकरैश्छन्नेषु छादितेषु । 'वा दान्तशान्त—' इत्यादिना निपात: । वप्रान्तरेषु कटकान्तरेषु बद्धाम्बद्धामभीक्ष्णबद्धाम् । दृढोत्पादितामित्यर्थ: । 'नित्यवीप्सयो:' इति नित्यार्थे द्विर्भाव: । नित्यमभीक्ष्णम्' इति

काशिका । एकपदं चैतत् । भित्तिरिति सन्देहमावानावानभीक्ष्णबद्धाम् । दृढोत्पादिता-मित्यर्थः । 'नित्यवीप्सयोः' इति नित्यार्थे द्विर्भावः । 'नित्यमभीक्ष्णम्' इति काशिका । एकपदं चैतत् । भित्तिरिति सन्देहमावानावानभीक्ष्णमापतन् । आङ्पूर्वाद्वाधातोः शतृप्रत्ययः । द्विर्भावादि पूर्ववत् । मातर्यन्तरिक्षे गच्छतीति मातरिश्वा वायुः । कनिन्प्रत्ययः । 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' इत्यलुक् । निहन्ति निवर्तयति वायुसञ्चाराद्भित्त्यभावोऽवधार्यत इत्यर्थः । अतो निश्चयान्तः सन्देहालङ्कारः । शालिनीवृत्तम् ॥ ३६ ॥

हिन्दी—इस कैलास पर्वत के शिखरों पर विविध प्रकार के रत्नों के प्रभापुञ्जों से आच्छादित होने पर उनके वप्रान्तर अर्थात् कगारों के बीच के स्थल-भाग सुदृढ़ भित्ति (दीवाल) की शङ्का उत्पन्न करते हैं, किन्तु बारम्बार पवन का आगमन उस शङ्का को निवृत्त कर देता है ॥ ३६ ॥

विमर्श—रत्नों के प्रभापुञ्जों से व्याप्त होने के कारण शिखर के गह्वर या खड्ड भी सुदृढ़ दीवाल की शङ्का उत्पन्न करते हैं । किन्तु जब हवा का झोंका बारम्बार चलता है और उनका अवरोध नहीं होता तो शङ्का दूर हो जाती है, क्योंकि यदि दीवाल रहती तो हवा रुक जाती । यहाँ निश्चयान्त सन्देह अलङ्कार है एवं शालिनी छन्द है ।

रम्या नवद्युतिरपैति न शाद्वलेभ्यः
श्यामीभवन्त्यनुदिनं नलिनीवनानि ।
अस्मिन्विचित्रकुसुमस्तबकाचितानां
शाखाभृतां परिणमन्ति न पल्लवानि ॥ ३७ ॥

अन्वयः—अस्मिन् शाद्वलेभ्यः रभ्या नवद्युतिः न अपैति । नलिनीवनानि अनुदिनम् श्यामीभवन्ति । विचित्रकुसुमसतबकाचितानाम् शाखाभृताम् पल्लवानि न परिणमन्ति ॥ ३७ ॥

रस्येति । अस्मिन्नद्रौ । शादाः शष्पाणि सन्त्येष्विति शाद्वलास्तेभ्यः । 'शाद्वलः शादहरिते' इत्यमरः । 'नडशादाद् ड्वलच्' । रम्या नवा द्युतिर्नापैति । किन्तु नित्येत्यर्थः । नलिनीवनान्यनुदिनं सर्वदा श्यामी भवन्ति । न कदाचित्पाण्डुरी-भवन्तीत्यर्थः । विचित्रकुसुमस्तबकैराचितानां व्याप्तानां शाखाभृतां तरूणां पल्लवानि न परिणमन्ति । न जीर्णानि भवन्तीत्यर्थः । सर्वदा नूतनमेव सर्वं वर्तत इत्यर्थः । अत्र प्रस्तुतस्यैव तत्तद्वस्तुगतकान्तिस्थैर्यरूपकार्यस्य वर्णनात्प्रस्तुतमिव कारणं कश्चिद-साधारणः कैलासस्य महिमावगम्यत इति पर्यायोक्तिरलङ्कारः । तदुक्तम्—'कारणं गम्यते यत्र प्रस्तुतं कार्यवर्णनात् । प्रस्तुतत्वेन सम्बन्धस्तत्पर्यायोक्तमुच्यते ॥' इति ।

हिन्दी—इस कैलास पर्वत पर नूतन घासों से व्याप्त प्रदेशों की मनोहर नूतन शोभा कभी दूर नहीं होती, नील कमलों के वन प्रतिदिन नूतन श्यामलता धारण

करते हैं, और रंग-बिरंगे पुष्पों के गुच्छों से सुशोभित वृक्षों के पल्लव कभी पुराने नहीं होते ।। ३७ ।।

विमर्श—अर्थात् यहाँ सभी वस्तुएँ सदा नूतन बनी रहती हैं । किसी में पुरानापन नहीं आता । यहाँ पर्यायोक्ति अलङ्कार है एवं वसन्ततिलका छन्द है ।

परिसरविषयेषु लीढमुक्ता हरिततृणोद्गमशङ्कया मृगीभिः ।
इह नवशुककोमला मणीनां रविकरसंवलिताः फलन्ति भासः ।। ३८ ।।

अन्वयः—इह परिसरविषयेषु मृगीभिः हरिततृणोद्गमशङ्कया लीढमुक्ता नवशुककोमलाः मणीनाम् भासः रविकरसंवलिताः फलन्ति ।। ३८ ।।

परिसरेति । इहाद्रौ परिसरविषयेषु पर्यन्तदेशेषु । 'विषयो देशे' इति निपातः । मृगीभिर्हरिततृणोद्गमशङ्कया नीलतृणाङ्कुरभ्रान्त्येति भ्रान्तिमदलङ्कारः । लीढाः पूर्वमास्वादिताः पश्चान्मुक्ताः लीढमुक्ताः । दग्धप्ररूढ इत्यादिवत् 'पूर्वकाल—' इत्यादिना समानाधिकरणसमासः । नवशुककोमलाः शुकसवर्णाः मणीनां मरकतमणीनां भासो रविकरैः संवलिता मिश्रिताः सत्यः फलन्ति सम्मूर्छन्ते । वर्धन्त इति यावत् ।। ३८ ।।

हिन्दी—इस कैलास पर्वत के इर्द-गिर्द के प्रदेशों में हरिणियों द्वारा नीले तृणों के अंकुर की आशङ्का से पहले चाट कर पीछे छोड़ दी गयी । नूतन शुक के पंखों के समान हरे रंग की मरकतमणियों की कान्तियाँ सूर्य-किरणों से मिश्रित होकर अधिकाधिक प्रकाशयुक्त हो जाती हैं ।। ३८ ।।

विमर्श—यहाँ भ्रान्तिमान अलङ्कार है ।

उत्फुल्लस्थलनलिनीवनादमुष्मादुद्धूतः सरसिजसम्भवः परागः ।
वात्याभिर्वियति विवर्तितः समन्तादाधत्ते कनकमयातपत्रलक्ष्मीम् ।। ३९ ।।

अन्वयः—वात्याभिः उद्धूतः अमुष्मात् उत्फुल्लस्थलनलिनीवनात् वियति समन्तात् विवर्तितः सरसिजसम्भवः परागः कनकमयातपत्रलक्ष्मीम् आधत्ते ।। ३९ ।।

उत्फुल्लेति । अस्मिन्नद्रौ वात्याभिर्वातसमूहैः । 'वातादिभ्यो यत्' इति यत्प्रत्ययः । अमुष्माद्दृश्यमानादुत्फूल्लस्थलनलिनीवनात् । जलपतितस्य परागस्योत्थानासम्भवात्स्थलग्रहणम् । उत्फुल्लसंफुल्लयोरुपसंख्यानान्निष्ठानत्वम् । उद्धूत उत्थापितो वियति समन्ताद्विवर्तितः परिमण्डलितः । अन्तराले तु दण्डायमान एवेति भावः । सरसिजसम्भवः पद्मोद्भवः परागः । रूढ्यभिप्रायेणात्र सरसिजशब्दप्रयोगो द्रष्टव्यः । कनकमयातपत्रलक्ष्मीमाधत्तेऽनुकरोति । अत्र परागस्यातपत्रलक्ष्मीसम्बन्धासम्भवात्तत्सदृशीं लक्ष्मीमिति प्रतिबिम्बेनाक्षेपादसम्भविधर्म सन्बन्धेयं निदर्शना ।

तदुक्तम् — 'असम्भवद्धर्मयोगादुपमानोपमेययोः ।
प्रतिबिम्बक्रिया गम्या यत्र सा स्यान्निदर्शना ।।' इति ।। ३९ ।।

हिन्दी—इस पर्वत में बवण्डरों द्वारा उड़ाये जाने पर इस दिखाई पड़ने वाले

विकसित स्थलकमलिनी वन से उड़ता हुआ चारों ओर आकाश में मण्डलाकार रूप में फैला हुआ कमलपराग सुवर्णमय छत्र की शोभा धारण कर रहा है ॥ ३९ ॥

विमर्श—यहाँ निदर्शना अलङ्कार है ।

इह सनियमयोः सुरापगायामुषसि सयावकसव्यपादरेखा ।
कथयति शिवयोः शरीरयोग विषमपदा पदवी विवर्तनेषु ॥ ४० ॥

अन्वयः—इह उषसि सुरापगायाम् सयावकसव्यपादरेखा विषमपदा पदवी विवर्तनेषु सनियमयोः शिवयोः शरीरयोगम् कथयति ॥ ४० ॥

इहेति । इहाद्रावुषसि प्रभाते सुरापगायां लक्षणया तत्कूले सयावका सालक्तका सव्यपादस्य रेखा वामचरणमुद्रा यस्यां सा । 'यावोऽलक्तो द्रुमामयः' इत्यमरः । तथा विषमाणि महदल्पानि पदानि यस्यां सा विवर्तनेषु प्रदक्षिणक्रियासु पदवी । शिवयोः प्रदक्षिणपद्धतिरित्यर्थः । सनियमयोः सन्ध्यायां प्रणमतीरित्यर्थः । शिवा च शिवश्च तयोः शिवयोरुमाशङ्करयोः । 'पुमान्स्त्रिया' इत्येकशेषः । शरीरयोगमर्धाङ्गसङ्घटनारूपं कथयति । सनियमयोरिति नियमविषयेऽपि विरहासहाविह विहरतः शिवाविति भावः । अत्र पदवीविशेषणपदार्थयोः कथनं प्रति हेतुत्वोक्त्या काव्यलिङ्गमलङ्कारः ॥ ४० ॥

हिन्दी—इस पर्वत में उषाकाल के समान सुरनदी गङ्गा के तट पर लाक्षा अर्थात् महावर के रंग से रँगे हुए बायें चरण की रेखा से चिन्हित तथा छोटी बड़ी विषम पद-पक्तियों से युक्त परिक्रमा-मार्ग सन्ध्यावन्दनादि नियमों में लगे हुए उमाशङ्कर के अर्धनारीश्वर रूप का परिचय देता है ॥ ४० ॥

विमर्श—तात्पर्य यह है कि इस कैलास पर्वत पर अत्यन्त प्रातःकाल में भगवान् अर्द्धनारीश्वर उमाशङ्कर गङ्गा तट पर सन्ध्यावन्दनादि करते हैं, जिससे उनके बाएँ पैर तथा दाहिने पैर की छोटी-बड़ी पद-पङ्क्तियाँ यहाँ सुशोभित होती हैं । अर्धनारीश्वर रूप में पार्वती का पैर बायाँ होता है, जिसमें महावर लगे रहते हैं और वह दाहिने पैर की अपेक्षा छोटा भी होता है अर्थात् शिव-पार्वती का यह विहार-स्थल है । सन्ध्यावन्दनादि के क्षणों में भी वे परस्पर विरह नहीं सहन कर सकते । यहाँ काव्यलिङ्ग अलङ्कार है ।

सम्मूर्च्छतां रजतभित्तिमयूखजालै-
रालोलपादपलतान्तरनिर्गतानाम् ।
घर्मद्युतेरिह मुहुः पटलानि धाम्ना-
मादर्शमण्डलनिभानि समुल्लसन्ति ॥ ४१ ॥

अन्वयः—इह रजतभित्तिमयूखजालैः सम्मूर्च्छताम् आलोलपादपलतान्तरनिर्गतानाम् धर्मद्युतेः धाम्नाम् आदर्शमण्डलनिभानि पटलानि मुहुः समुल्लसन्ति ॥ ४१ ॥

संमूर्च्छतामिति । इहाद्रौ रजतभित्तिमयूखजालैः संमूर्च्छतां बहुलीभवतामा-लोलानां पादपलतानां तरुशाखानामन्तरेषु रन्ध्रेषु निर्गतानां प्रसृतानां धर्मद्युतेरुष्णां-शोर्धाम्नां तेजसामादर्शमण्डलनिभानि दर्पणबिम्बसदृशानीत्युपमालङ्कारः । पटलानि मण्डलानि मुहुर्वारम्बारं समुल्लसन्ति पुनःपुनः स्फुरन्ति न तु सातत्वेन । लतानामा-लोलत्वाभावात् । तच्च नान्यत्र मृत्पाषाणादिप्राये सम्भवतीति भावः ।। ४१ ।।

हिन्दी—इस कैलास पर्वत पर चाँदी की भित्तियों के किरण समूहों से उत्कर्ष अर्थात् बहुलता को प्राप्त एवं कम्पित वृक्षों एवं लताओं के मध्यभागों से निकली हुई सूर्य की किरणों के दर्पण-बिम्ब के समान मण्डल बारम्बार प्रस्फुटित होते हैं ।। ४१ ।।

विमर्श—यहाँ उपमा अलङ्कार है ।

शुक्लैर्मयूखनिचयैः परिवीतमूर्ति-
र्वप्राभिघातपरिमण्डलितोरुदेहः ।
शृङ्गाण्यमुष्य भजते गणभर्तुरुक्षा
कुर्वन्वधूजनमनःसु शशाङ्कशङ्काम् ।। ४२ ।।

अन्वयः—शुक्लैः मयूखनिचयैः परिवीतमूर्तिः वप्राभिघातपरिमण्डलितोरुदेहः गणभर्तुः उक्षा वधूजनमनःसु शशाङ्कशङ्कां कुर्वन् अमुष्य शृङ्गाणि भजते ।। ४२ ।।

शुक्लैरिति । शुक्लैर्मयूखनिचयैः शुभ्रकिरणसमूहैः परिवीतमूर्तिर्व्याप्तदेहः । वप्राभिघातेन वप्रक्रीडया परिमण्डलिता वर्तुलीकृत उरुदेहो बृहच्छरीरं यस्य तथोक्तो गणभर्तुः प्रमथनाथस्योक्षा वृषभः। 'उक्षानड्वान्बलीवर्द ऋषभो वृषभो वृषः' इत्यमरः। वधूजनमनःसु शशाङ्कशङ्कां चन्द्रभ्रान्तिं कुर्वन् । तेषां मौग्ध्यादिति भावः । अमुष्याद्रेः शृङ्गाणि भजते सेवते । अत्र शङ्काशब्दस्य सन्देहार्थत्वे सन्देहालङ्कारः । भ्रान्तिपरत्वे भ्रान्तिमदलङ्कारः । यथेच्छसि तथास्तु । नवोक्षविशेषणोत्थेन काव्यलिङ्गेनाङ्गाङ्गिभावेन सङ्कीर्यते ।। ४२ ।।

हिन्दी—श्वेत किरण-समूहों से व्याप्त शरीर वाले, सींगों से मिट्टी कुरेदने की वप्रकीडा में मस्त होने के कारण अपने विशाल शरीर को समेटे हुए, प्रमथाधिपति शङ्कर के वाहनभूत नन्दिकेश्वर युवतियों के मन में शशलाञ्छन चन्द्रमा की भ्रान्ति उत्पन्न करते हुए उस पर्वत के शिखरों का आश्रय लेता है ।। ४२ ।।

विमर्श—सन्देह, भ्रान्तिमान तथा काव्यलिङ्ग अलङ्कारों का अङ्गांगी भाव से सङ्कर ।

सम्प्रति लब्धजन्म शनकैः कथमपि लघुनि
क्षीणपयस्युपेयुषि भिदां जलधरपटले ।
खण्डितविग्रहं बलभिदो धनुरिह विविधाः
पूरयितुं भवन्ति विभवः शिखरमणिरुचः ।। ४३ ।।

अन्वयः—इह विविधाः शिखरमणिरुचः सम्प्रति लघुनि क्षीणपयसि (अत एव) भिदां उपेयुषि जलधरपटले शनकैः लब्धजन्म (अतएव) खण्डितविग्रहम् बलभिदः धनुः पूरयितं विभवः भवन्ति ।। ४३ ।।

सम्प्रतीति । इहाद्रौ विविधा नानावर्णाः शिखरमणिरुचः सम्प्रति शरदीत्यर्थः । लघुन्यगुरुणि । कुतः । क्षीणपयस्यत इव भिदां भेदम् । 'षिद्भिदादिभ्योऽङ्' इत्यङ्प्रत्ययः । उपेयुषि गते जलधरपटले मेघमण्डले कथमपि शनकैर्लब्ध जन्म । उत्पन्नमित्यर्थः । अत एव खण्डितविग्रहं छिन्नस्वरूपं बलभिद् इन्द्रस्य धनुः पूरयितुं विभवः समर्था भवन्ति । अत्रेन्द्रधनुषो मणिरुचीनामसम्बन्धे सम्बन्धकथनादतिशयोक्तिरलङ्कारः । वंशपत्रपतितं वृत्तम् — 'दिङ्मुनि वंशपत्रपतितं भरनभरलगैः' इति लक्षणात् ।। ४३ ।।

हिन्दी—इस पर्वत में शिखरों की मणिकान्तियाँ इस शरदऋतु में क्षीण जल वाले एवं छोटे-छोटे टुकड़ों में विभक्त मेघमण्डलों में किसी प्रकार से उत्पन्न होने के कारण छिन्न अथवा अस्पष्ट स्वरूप वाले इन्द्रधनुष की पूर्ति करने में समर्थ होती हैं ।

विमर्श—अर्थात् छोटे-छोटे श्वेत बादलों में मणियों की प्रभाएँ चमक कर इन्द्रधनुष की पूर्ति कर देती हैं । यहाँ अतिशयोक्ति अलङ्कार है एवं वंश पत्र पतित छन्द है ।। ४३ ।।

स्नपितनवलतातरुप्रवालैरमृतलवस्नुतिशालिभिर्मयूखैः ।
सततमसितयामिनीषु शम्भोरमलयतीह वनान्तमिन्दुलेखा ।। ४४ ।।

अन्वयः—इह शम्भोः इन्दुलेखा स्नपितनवलतातरुप्रवालैः अमृतलवस्नुतिशालिभिः मयूखैः सततम् असितयामिनीषु वनान्तम् अमलयति ।। ४४ ।।

स्नपितेति । इहाद्रौ शम्भोरिन्दुलेखा । स्नपितानि सिक्तानि नवानि लतानां तरूणां च प्रवालानि यैस्तैः अमृतलवस्नुत्यामृतबिन्दुनिःस्यन्देन शालन्ते ये तैर्मयूखैः सततं सर्वकालमसितयामिनीषु कृष्णपक्षरात्रिष्वपि वनान्तममलयति धवलयति । अन्यत्र नैतदस्तीति व्यतिरेको व्यज्यते ।। ४४ ।।

हिन्दी—इस पर्वत में भगवान् शङ्कर के भाल में स्थित चन्द्रमा की कान्ति नूतन लताओं और वृक्षों के पल्लवों को सींचने वाली एवं अमृत-बिन्दु बरसाने वाली अपनी किरणों से सर्वदा कृष्णपक्ष की रात्रियों में भी वन प्रदेशों को धवल बनाती रहती है ।। ४४ ।।

विमर्श—अन्य पर्वतों में यह नहीं है, यह तो इसकी ही विशेषता है । व्यतिरेक अलङ्कार की व्यञ्जना ।

क्षिपति योऽनुवनं विततां बृहद्बृहतिकामिव रौचनिकीं रुचम् ।
अयमनेकहिरण्मयकन्दरस्तव पितुर्दयितो जगतीधरः ।। ४५ ।।

अन्वयः—यः अनुवनं विततां रौचनकीं रुचम् बृहद्बृहतिकाम् इव क्षिपति । अनेकहिरण्मयकन्दरः अयम् तव पितुः दयितः जगतीधरः ।। ४५ ।।

क्षिपतीति । अथ योऽद्रिरनुवनं विततां रौचनिकीं रुचम् । सौवर्णीं कान्तिमित्यर्थः । रोचनया रक्तां रौचनिकीम् । 'लाक्षारोचनशकलकर्दमाट्ठक्' इति ठ । 'टिड्ढाणञ्—' इत्यादिना ङीप् । उत्प्रेक्षते – बृहती चासौ वृहतिका च तां महोत्तरासङ्गमिव । द्वौ प्रावारोत्तरासङ्गौ समौ बृहतिका तथा' इत्यमरः । क्षिपति प्रसारयति । अनेका हिरण्मय्यः कन्दरा यस्य सः । हिरण्मयशब्दो 'दाण्डिनायन—' इत्यादिना निपातनात्साधुः । अयं पुरोवर्ती गिरिरित्यर्थः । तव पितुरिन्द्रस्य दयितः प्रियः । जगत्या धरो जगतीधरः । यस्ते गन्तव्य इन्द्रकीलाख्य इत्यर्थः ।। ४५ ।।

हिन्दी—जो पर्वत विस्तृत चादर की भाँति प्रत्येक वन में अपनी सुवर्णमयी कान्ति प्रसारित कर रहा है, अनेक सुवर्णमयी कन्दराओं से युक्त वही यह सामने दिखाई पड़ने वाला तुम्हारे पिता इन्द्र का सबसे प्रिय पर्वत हैं ।। ४५ ।।

विमर्श—अर्थात् तुम्हारी तपस्या का पुण्य-स्थल इन्द्रनील पर्वत अब वही सामने दिखाई पड़ रहा है जिसकी सुवर्णमयी छाया चारों ओर के वन्य-प्रदेशों पर सुनहली चादर की भाँति पड़ रही है । यहाँ उपमा अलङ्कार है ।

सक्तिं जवादपनयत्यनिले लतानां
वैरोचनैर्द्विगुणिताः सहसा मयूखैः ।
रोधोभुवां मुहुरमुत्र हिरण्मयीनां
भासस्तडिद्विलसितानि विडम्बयन्ति ।। ४६ ।।

अन्वयः—अमुत्र अनिले जवात् लतानां सक्तिं अपनयति सति सहसा वैरोचनैः मयूखैः द्विगुणितः हिरण्यमयीनाम् रोधोभुवां भासः मुहुः तडिद्विलसितानि विडम्बयन्ति ।। ४६ ।।

सक्तिमिति । अमुत्रामुष्मिन्नद्रावनिले जवाज्झटिति लतानां सक्तिमन्योन्यसङ्गमपनयति सति । सहसा हठाद्वैरोचनैः सावित्रैर्मयूखैर्द्विगुणा द्विरावृत्ताः कृता इति द्विगुणिताः । 'गुणस्त्वावृत्तिशब्दादिष्विन्द्रिय मुख्यतन्तुषु' इति वैजयन्ती । हिरण्मयीनां हिरण्यविकाराणाम् । 'दाण्डिनायन—' इत्यादिना निपातनात्साधुः । रोधोभुवां तटभुवां भासो मुहुस्तडिद्विलसितानि विडम्बयन्ति । अनुकुर्वन्तीत्यर्थः । उपमालङ्कारः ।। ४६ ।।

हिन्दी—इस इन्द्रनील पर्वत पर वायु द्वारा वेगपूर्वक लताओं के परस्पर संयोग को छुड़ा देने पर उसी क्षण सूर्य की किरणों से द्विगुणित कान्ति प्राप्त करने वाली सुवर्णमयी तटवर्ती भूमि की प्रभाएँ बारम्बार बिजली चमकने की शोभा का अनुकरण करने लगती हैं ।। ४६ ।।

विमर्श—यहाँ उपमा अलङ्कार है ।

कषणकम्पनिरस्तमहाहिभिः क्षणविमत्तमतङ्गजवर्जितैः ।
इह मदस्नपितैरनुमीयते सुरगजस्य गतं हरिचन्दनैः ।। ४७ ।।

अन्वयः—इह कषणकम्पनिरस्तमहाहिभिः क्षणविमत्तमतङ्गजवर्जितैः मदस्नपितैः हरिचन्दनैः सुरगजस्य गतं अनुमीयते ।। ४७ ।।

कषणेति ।इहाद्रौ कषणेन कण्डूयनेन यः कम्पस्तेन निरस्ता महाहयो महासर्पा येभ्यस्तैः । क्षणं विमत्तमतङ्गजवर्जितैर्मत्तमतङ्गजरहितैः । कुतः । मदस्नपितैः । ऐरावतमदसिक्तैरित्यर्थः । 'मितां ह्रस्वः । हरिचन्दनैश्चन्दनद्रुमैः सुरगजस्यैरावतस्य गतं प्राप्तिरनुमीयते ।हरिचन्दनविशेषणैः काव्यलिङ्गमुन्नेयम् ।। ४७ ।।

हिन्दी—इस पर्वत पर ऐरावत के मद से सिञ्चित उन हरिचन्दनों के द्वारा ऐरावत का आना-जाना मालूम हो जाता है, जो ऐरावत के गण्डस्थल के खुजलाने के कारण होने वाले कम्पन से बड़े बड़े भीषण सर्पों से रहित हो जाते हैं, तथा क्षणभर के लिए बड़े-बड़े मतवाले गजराज भी जिन्हें छोड़कर भाग जाते हैं ।। ४७ ।।

विमर्श—अर्थात् इसी पर्वत पर हरिचन्दनों के वे वृक्ष हैं, जिन पर बड़े-बड़े सर्प लिपटे रहते हैं तथा जिनके बीच देवराज इन्द्र का वाहन क्रीडा करता है । किन्तु जब कभी ऐरावत अपने गण्डस्थल को खुजलाने के लिए किसी हरिचन्दन पर धक्का लगाता है तो वे भीषण सर्प भाग जाते हैं तथा ऐरावत के मद की विचित्र सुगन्ध से अन्यान्य मतवाले गजराज भी भाग जाते हैं । यहाँ काव्यलिङ्ग अलङ्कार है।

जलदजालघनैरसिताश्मनामुपहतप्रचयेह मरीचिभिः ।
भवति दीप्तिरदीपितकन्दरा तिमिरसंवलितेव विवस्वतः ।। ४८ ।।

अन्वयः—इह जलदजालघनैः असिताश्मनाम् मरीचिभिः उपहतप्रचया अदीपितकन्दरा विवस्वतः दीप्तिः तिमिरसंवलिता इव भवति ।। ४८ ।।

जलदेति । इहास्मिन्नद्रौ जलदजालघनैर्मेघवृन्दसान्द्रैरसिताश्मनामिन्द्रनीलानां मरीचिभिर्दीधितिभिः । 'भानुः करो मरीचिः स्त्रीपुंसयोर्दीधितिः स्त्रियाम्' इत्यमरः । उपहतप्रचया विघट्टितसङ्घाता अतएवादीपितकन्दरा अप्रकाशितगह्वरा विवस्वतो दीप्तिस्तिमिरैः संवलिता संहता व्यामिश्रितेव भवतीत्युत्प्रेक्षा ।। ४८ ।।

हिन्दी—इस पर्वत पर काले मेघ समूहों की भाँति सघन इन्द्रनील मणियों की किरणों से सामना होने पर सूर्य की किरणों का तेज-पुञ्ज मलिन हो जाता है और कन्दराएँ प्रकाश से विहीन हो जाती हैं, उस समय ऐसा मालूम पड़ता है मानों सूर्य की कान्ति अन्धकार से मिश्रित हो गई है ।। ४८ ।।

विमर्श—यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ।

भव्यो भवन्नपि मुनेरिह शासनेन
क्षात्रे स्थितः पथि तपस्य हतप्रमादः ।

प्रायेण सत्यपि हितार्थकरे विधौ हि
श्रेयांसि लब्धुमसुखानि विनान्तरायैः ।। ४९ ।।

अन्वयः—इह, भव्यः भवन्नपि मुनेः शासनेन क्षात्रे पथि स्थितः हतप्रमादः सन् तपस्य हि प्रायेण हितार्थकरे विधौ सति अन्तरायैः विना श्रेयांसि लब्धुमसुखानि।।४९।।

भव्य इति । इहाद्रौ भव्यः शान्तो भवन्नपि मुनेर्व्यासस्य शासनेनेन्द्राराधनरूपेण क्षात्रे पथि क्षत्रियमार्गे स्थितः । गृहीतशस्त्र एवेत्यर्थः । हतप्रमादोऽप्रमत्तः सन् । तपस्य तपश्चर्यां कुरु । तपस्येति 'कर्मणो रोमन्थतपोभ्यां वर्तिचरोः' इति क्यङ् । तदन्ताद्धातोर्लोट् । न च सर्वभूतहितकारिणो मे प्रमादः किं करिष्यतीति विश्वसितव्यमित्यर्थान्तरन्यासेनाह — हि यस्मात्प्रायेण बाहुल्येन । 'प्रायो वयस्यनशने मृतौ बाहुल्यतुल्ययोः' इति हेमचन्द्रः । हितमर्थं करोतीति हितार्थकरे विधौ व्यापारे सति । अन्तरायैर्विघ्नैर्विना श्रेयांसि लब्धुमसुखानि । अशक्यानीत्यर्थः । अतएव 'शकधृष—' इत्यादिना समानकर्तृकेषु तुमुन् । अकारणवैरिणः सर्वत्र सर्वस्यापि सन्तीति भावः ।।

हिन्दी—इस इन्द्रनील पर्वत पर शान्त स्वभाव होने पर भी असावधानी से रहित और क्षत्रिय धर्म में स्थित अर्थात् शस्त्र ग्रहण कर महर्षि वेदव्यास के बताये हुए नियमों के अनुसार आप तपस्या करें । क्योंकि प्रायः हितकारी उपायों के होते हुए भी बिना विघ्न-बाधा के कल्याण की प्राप्ति असम्भव होती है ।। ४९ ।।

विमर्श—अर्थात् अकाट्य वैर रखने वाले सर्वत्र होते है । यहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ।

मा भूवन्नपथहृतस्तवेन्द्रियाश्वाः
सन्तापे दिशतु शिवाः शिवां प्रसक्तिम् ।
रक्षन्तस्तपसि बलं च लोकपालाः
कल्याणीमधिकफलां क्रियां क्रियासुः ।। ५० ।।

अन्वयः—तव इन्द्रियाश्वाः अपथहृतः मा भूवन् । सन्तापे शिवः शिवाम् प्रसक्तिम् दिशतु । लोकपालाः तपसि बलम् रक्षन्तः कल्याणीम् क्रियाम् अधिक फलाम् क्रियासुः (कुर्वन्तु) ।। ५० ।।

मा भूवन्निति । तवेन्द्रियाण्येवाश्वास्ते । अपथेन हरन्तीत्यपथहृतो मा भूवन् । त्वामपथं मा निनीषुरित्यर्थः । 'माङि लुङ्' इत्याशीरर्थे लुङ् । सन्तापे तपःक्लेशे सति शिवः शिवां साधीयसीं प्रसक्तिं प्रवृत्तिमुत्साहं दिशतु । किञ्चेति चार्थः लोकपाला इन्द्रादयस्तपसि विषये बलं शक्तिं रक्षन्तो वर्धयन्तः सन्तः कल्याणीं साध्वीं क्रियामनुष्ठानमधिकफलां क्रियासुः कुर्वन्तु । करोतेराशिषि लोट् ।। ५० ।।

हिन्दी—तुम्हारे इन्द्रिय-रूपी अश्वगण तुम्हें कुमार्ग में न ले जायँ, तपस्या में

कोई क्लेश उपस्थित होने पर भगवान् शङ्कर आपको पर्याप्त उत्साह-शक्ति प्रदान करें। लोकपालगण तप:साधना में तुम्हारे बल की रक्षा करते हुए इस कल्याणदायी अनुष्ठान को अधिकाधिक फल देने वाला बनायें ।। ५० ।।

विमर्श—यहाँ प्रथम चरण में रूपक अलङ्कार है ।

> **इत्युक्त्वा सपदि हितं प्रियं प्रियार्हे**
> **धाम स्वं गतवति राजराजभृत्ये ।**
> **सोत्कण्ठं किमपि पृथासुतः प्रदध्यौ**
> **संधत्ते भृशमरतिं हि सद्वियोगः ।। ५१ ।।**

अन्वयः—प्रियार्हे राजराजभृत्ये हितम् प्रियम् इति उक्त्वा सपदि स्वम् धामं गतवति पृथासुतः सोत्कण्ठम् किमपि प्रदध्यौ । तथाहि सद्वियोगः भृशम् अरतिम् सन्धत्ते ।। ५१ ।।

इतीति ।। प्रियार्हे राजराजभृत्य इति पूर्वोक्तम् । हितं प्रियं वचनमिति शेषः । उक्त्वा सपदि स्वं स्वकीयं धाम स्थानं गतवति सति । पृथासुतोऽर्जुनः सोत्कण्ठं सौत्सुक्यं किमपि प्रदध्यौ चिन्तयामास । तथाहि । सद्वियोगः सुजनवियोगो भृशमरतिं व्यथां सन्धत्ते । करोतीत्यर्थः । अर्थान्तरन्यासः ।। ५१ ।।

हिन्दी—प्रेमपात्र कुबेर-सेवक यक्ष के इस प्रकार कल्याणयुक्त एवं प्रिय वचन कहकर शीघ्र ही अपने निवास-स्थान को चले जाने के अनन्तर कुन्ती पुत्र अर्जुन कुछ उत्कण्ठित से होकर सोचने लगे । क्यों न हो, सज्जनों का वियोग अत्यन्त दुःखदायी होता ही है ।। ५१ ।।

विमर्श—यहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ।

> **तमनतिशयनीयं सर्वतः सारयोगा—**
> **दविरहितमनेकेनाङ्कभाजा फलेन ।**
> **अकृशमकृशलक्ष्मीश्चेतसाशंसितं स**
> **स्वमिव पुरुषकारं शैलमभ्याससाद ।। ५२ ।।**

।। इति भारविकृतौ महाकाव्ये किरातार्जुनीये पञ्चमः सर्गः ।। ५ ।।



अन्वयः—अकृशलक्ष्मीः सः सर्वतः सारयोगात् अनतिशयनीयम् अनेकेनाङ्क-भाजा फलेन इव अविरहितम् अकृशम् चेतसाशंसितम् शैलम् स्वम् पुरुषकारम् इव अभ्याससाद ।। ५२ ।।

तमिति । अकृशाः पूर्णा लक्ष्म्यः शोभा यस्य सोऽकृशलक्ष्मीरिति बहुवचनाश्रिता बहुव्रीहिः । एवं च 'उरःप्रभृतिभ्यः—' इति कप्प्रत्ययानवकाशः । तत्र लक्ष्मीशब्दस्यै कवचनान्तस्यैव पाठात् । नापि 'नद्यृतश्च' इत्यस्यावकाशः । उरःप्रभृतिपाठसामर्थ्यादिव शैषिकस्तु वैभाषिक इत्यविरोधः । सोऽर्जुनः सर्वतः सर्वत्र सारयोगादुत्कृष्टबलप्रयोगात् । 'सारो बले स्थिरांशे च न्याय्ये क्लीबं वरे त्रिषु' इत्युभयत्राप्यमरः । अनतिशयनीयम् अनतिक्रमणीयमनेकेन बहुनाङ्कभाजा समीपं गतेन । शीघ्रभाविनेति यावत् । फलेन कार्यसिद्ध्याऽविरहितमशून्यम् । कार्यसिद्धेरवश्यं साधकमित्यर्थः । अकृशमतनुं चेतसाशंसितं प्राप्तुमिष्टं शैलमिन्द्रकीलं स्वमात्मीयम् । पुरुषस्य कारः कर्म तं पुरुषकारमुक्तविशेषणविशिष्टं पौरुषमिवाभ्यास-साद प्राप्तवान् । मालिनीवृत्तम् ॥ ५२ ॥

॥ इति श्रीमहामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितायां किरातार्जुनीयकाव्य व्याख्यायां घण्टापथसमाख्यायां पञ्चमः सर्गः समाप्तः ॥ ५ ॥



हिन्दी—परिपूर्ण शोभा से समलङ्कृत उन अर्जुन ने सभी प्रकार से बल प्रयोग करने पर भी अनतिक्रमणीय अर्थात् दुर्जेय एवं शीघ्र पूर्ण होने वाले अनेक प्रकार के सत्फलों से युक्त, तथा चिरकाल से पाने के लिए मन में अभिलषित एवं विशाल उस इन्द्रकील पर्वत पर अपने पुरुषार्थ की भाँति आश्रय प्राप्त किया ॥५२॥

विमर्श—जो-जो विशेषण पर्वत के लिए हैं, वही सब अर्जुन के पुरुषार्थ के लिए भी हैं । यहाँ उपमा अलङ्कार है एवं मालिनी छन्द है ।

॥ इस प्रकार श्रीभारविकृत किरातार्जुनीयम् महाकाव्य के पाँचवें सर्ग की डॉ सुधाकर मालवीय कृत हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ ५ ॥



षष्ठः सर्गः

रुचिराकृतिः कनकसानुमथो परमः पुमानिव पतिं पतताम् ।
धृतसत्पथस्त्रिपथगामभितः स तमारुरोह पुरुहूतसुतः ।। १ ।।

अन्वयः—अथ रुचिराकृतिः धृतसत्पथः सः पुरुहूतसुतः कनकसानुम् तम् त्रिपथ-गाम् अभितः परमः पुमान् पततां पतिम् इव आरुरोह ।। १ ।।

रुचिराकृतिरिति । अथो आसादनानन्तरं रुचिराकृतिः सौम्यविग्रहो धृतसत्पथोऽवलम्बितसन्मार्गः । आकारानुरूपगुणवानित्यर्थः । 'यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति' इति सामुद्रिकाः । उपमानेऽपि समानमेतत् । स पुरुहूतसुतोऽर्जुनः । सनकस्य विकाराः सानवो यस्य तं कनकसानुम् । गरुडसावर्ण्यार्थं विशेषणमेतत् । 'समुदाये विकार-षष्ट्योश्च' इति बहुव्रीहिरुत्तरपदलोपश्च । तमिन्द्रकीलम् । परमः पुमान्विष्णुः पततां पक्षिणां पतिं गरुडमिव । त्रिभिः पथिभिर्गच्छतीति त्रिपथगा भागीरथी । 'अन्येष्वपि दृश्यते' इति डप्रत्ययः । उपपदसमास उत्तरपदसमासश्च। तामभितोऽभिमुखमारुरोह । 'समीपोभयतः शीघ्रसाकल्याभिमुखेऽभितः' इत्यमरः । प्रमिताक्षरावृत्तम्—'प्रमिताक्ष-रासजससैरुदिता' इति लक्षणात् ।। १ ।।

हिन्दी—इन्द्रकील पर्वत पर पहुँचने के अनन्तर मनोहर शरीरधारी तथा सन्मार्गगामी इन्द्रपुत्र अर्जुन ने सुवर्णमय शिखरों से युक्त उस इन्द्रकील पर्वत पर त्रिपथगा गङ्गा के सामने की ओर से होकर इस प्रकार आरोहण किया जिस प्रकार से भगवान् विष्णु अपने वाहन पक्षिराज गरुड़ पर आरूढ़ होते हैं ।। १ ।।

विमर्श—यहाँ उपमा अलङ्कार है । प्रमिताक्षरा वृत्त ।

अथास्य कार्यसिद्धिनिमित्तानि सूचयन् मार्गं वर्णयतिः—

तमनिन्द्यबन्दिन इवेन्द्रसुतं विहितालिनिक्वणजयध्वनयः ।
पवनेरिताकुलविजिह्मशिखा जगतीरुहोऽवचकरुः कुसुमैः ।। २ ।।

अन्वयः—विहितालिनिक्वणजयध्वनयः पवनेरिताकुलविजिह्मशिखा जगतीरुहः अनिन्द्यबन्दिनः इव तम् इन्द्रसुतम् कुसुमैः अवचकरुः ।। २ ।।

तमिति । विहिता अलिनिक्कणा जयध्वनय इव यैस्ते तथोक्ताः पवनेन वायु-नेरिता नुन्ना अत एवाकुला लोला विजिह्मा वक्राश्च शिखाः शाखाग्राणि येषां ते तथोक्ताः । 'शिखा ज्वाला केकिमौल्योः शिखाशाखाग्रपौलिषु' इति वैजयन्ती ।

जगतीरुहो भूरुहः क्विप् । अनिन्द्या अनवद्या ये बन्दिनः स्तुतिपाठकास्त इव । तमिन्द्र-सुतमर्जुनं कुसुमैरवचकरुः । अभिवनृषुरित्यर्थः । 'ऋच्छत्यृताम्' इति गुणः । अत्र किरतेर्वृष्ट्यर्थत्वात्कुसुमानां करणत्वम् । विक्षेपार्थत्वे तु कर्मत्वमेव । यथा 'कटाक्षा-न्वामा किरति' इति । दृश्यते च धातूनामर्थभेदात्कारकव्यत्ययः । यथा सिञ्चतेः क्षरणार्द्रीकरणयोरर्थयोर्द्रवद्रव्यस्य कर्मत्वकरणत्वे । यथा —'मेघोऽमृतं सिञ्चति गौः पयश्च' सिञ्चतीवामृतैर्वपुः' इति च । अत्र वाक्ये समासगतयोरुपमयोः साध्यसाधन-भावादङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः ।। २ ।।

हिन्दी—जय-जयकार की तरह भ्रमरों के गुञ्जन से युक्त, वायु द्वारा प्रकम्पित होने के कारण डालियों के टेढ़े-मेढ़े अग्रभागों वाले वृक्षों ने अच्छे स्तुति- पाठकों की भाँति उन इन्द्रपुत्र अर्जुन के ऊपर पुष्पों की वृष्टि की ।। २ ।।

विमर्श—यहाँ उपमा अलङ्कार है ।

अवधूतपङ्कजपरागकणास्तनुजाह्नवीसलिलवीचिभिदः ।
परिरेभिरेऽभिमुखमेत्य सुखाः सुहृदः सखायमिव तं मरुतः ।। ३ ।।

अन्वयः—अवधूतपङ्कजपरागकणः तनुजाह्नवीसलिलवीचिभिदः सुखाः मरुतः तम् सुहृदः सखायम् इव अभिमुखम् एत्य परिरेभिरे ।। ३ ।।

अवधूतेति । अवधूताः पङ्कजपरागकणा यैस्ते तथोक्ता इति सौरभ्योक्तिः । तनुजाह्नव्याः सलिलवीचीर्भिन्दन्तीति तथोक्ता इति शैत्योक्तिः । सुखयन्तीति सुखाः । पचाद्यच् । सुखस्पर्शा इति मान्द्योक्तिः । मरुतो वातास्तमर्जुनं सुहृदः सखायमिवाभि-मुखमेत्यागत्य परिरेभिरे आलिङ्गितवन्तः ।। ३ ।।

हिन्दी—कमलों के पराग-कणों को बिखेरते हुए, छोटी-छोटी गङ्गाजल की लहरियों का सम्पर्क करते हुए शीतल सुखदायी वायु ने अर्जुन को अपने सन्मित्र की भाँति सम्मुख आकर परिरम्भण (आलिङ्गन) किया ।। ३ ।।

विमर्श—अर्थात् अनुकूल शीतल मन्द-सुगन्ध वायु बह रही थी । मित्र का भी सामने से आकर परिरम्भण किया जाता है । यहाँ उपमा अलङ्कार है ।

उदितोपलस्खलनसंवलिताः स्फुटहंससारसविरावयुजः ।
मुदमस्य माङ्गलिकतूर्यकृतां ध्वनयः प्रतेनुरनुवप्रमपाम् ।।४ ।।

अन्वयः—उदितोपलस्खलनसंवलिताः स्फुटहंससारसविरावयुजः अनुवप्रमपाम् ध्वनयः अस्य माङ्गलिकतूर्यकृताम् मुदम् प्रतेनुः ।। ४ ।।

उदितेति । उदितोपलेषून्नतपाषाणेषु स्खलनेन प्रतिघातेन संवलिताश्चूर्णिताः । अतस्तूर्यघोष इव घुमघुमायमाना इत्यर्थः । स्फुटैर्हंसानां सारसानां च विरावैर्युज्यन्त इति तथोक्ताः। क्विप्। अनुवप्रमपाम्। अन्तः पतन्तीनामिति शेषः। ध्वनयोऽस्यार्जुनस्य मङ्गलं प्रयोजनमेषां ते माङ्गलिकाः । 'प्रयोजनम्' इति ठञ् । तैस्तूर्यैः कृतां मुदं हर्षं

प्रतेनुः । अत्रान्यस्यान्यकार्यकारणसम्भवात् तूर्यकृतमुत्सदृशीं मुदमिति प्रतिबिम्बेनाक्षेपान्निदर्शनालङ्कारः ।। ४ ।।

हिन्दी—ऊँचे-ऊँचे पत्थरों की शिलाओं से टकरा कर चूर-चूर, होने वाले हंस और सारस के गुञ्जन से युक्त नीचे गिरते हुए जल की कल-कल ध्वनियों ने अर्जुन के लिए मङ्गलसूचक तुरुही आदि के शब्दों से होने वाली प्रसन्नता का विस्तार किया ।। ४ ।।

विमर्श—यहाँ निदर्शना अलङ्कार है ।

अवरुग्णतुङ्गसुरदारुतरौ निचये पुरः सुरसरित्पयसाम् ।
स ददर्श वेतसवनाचरितां प्रणतिं बलीयसि समृद्धिकरीम् ।। ५ ।।

अन्वयः—सः पुरः अवरुग्णतुङ्गसुरदारुतरौ बलीयसि सुरसरित्पयसाम् निचये वेतसवनाचरिताम् समृद्धिकरीम् प्रणतिम् ददर्श ।। ५ ।।

अवरुग्णेति । सोऽर्जुनः पुरोऽग्रेवरुग्णतुङ्गसुरदारुतरौ भग्नोन्नतदेवदारुद्रुमे बलीयसि बलवत्तरे । मत्वन्तादीयसुनि मतुपो लुक् । सुरसरित्पयसां निचये पूरे विषये वेतसवनेन वानीरवनेनाचरिताम् । 'अथ वेतसे । रथाभ्रपुष्पविदुलशीतवानीरवञ्जुलाः' इत्यमरः। समृद्धिकरीं श्रेयस्करीम् । लोके यथादृष्टामित्यर्थः । प्रणतिं ददर्श। या सर्वलोकदृष्टान्तभूतेति भावः ।। ५ ।।

हिन्दी—अर्जुन ने ऊँचे-ऊँचे देवदारु के वृक्षों को उखाड़ फेंकने वाले प्रखर वेगयुक्त सुरनदी गङ्गा के जलप्रवाह में बेंत के वनों की कल्याणदायी विनम्रता को देखा ।। ५ ।।

विमर्श—अर्थात् एक ओर तो ऊँचे ऊँचे देवदारु के वृक्षों को गङ्गा की प्रखर धारा उखाड़ फेंकती थी किन्तु विनम्रतायुक्त बेंत के वन उसी में आनंद पूर्वक झूम रहे थे । जो लोग गर्वोन्मत्त होकर अपना शिर व्यर्थ ही ऊँचा उठाकर अकड़ते फिरते हैं उनका गर्व चूर्ण हुए बिना नहीं रहता है, किन्तु विनम्रता से व्यवहार करने वाले सर्वत्र कल्याण प्राप्त करते हैं, आपत्तियाँ उन्हें नहीं सता सकतीं अर्थात् विनम्रता कितनी हितकारिणी है ।

प्रबभूव नालमवलोकयितुं परितः सरोजरजसारुणितम् ।
सरिदुत्तरीयमिव संहतिमत्स तरङ्गरङ्गि कलहंसकुलम् ।। ६ ।।

अन्वयः—सः परितः सरोजरजसा रुणितम् संहतिमत् तरङ्गरङ्गि, सरिदुत्तरीयम् इव कलहंसकुलम् अवलोकयितुम् नालम् प्रबभूव ।। ६ ।।

प्रबभूवेति । सोऽर्जुनः परितः सरोजरजसा कमलरेणुनारुणितं पाटलितम् । उत्तरीयं च कुसुमादिनारुणितं भवति । संहतिमन्नीरन्ध्रं तरङ्गरङ्गि वारितरङ्गशोभि सरिदुत्तरीयं स्तनांशुकमिव स्थितं कलहंसकुलं कादम्बकुलमवलोकयितुमलमत्यर्थं न प्रबभूव न शशाक । तत्सौन्दर्योद्वेलत्वादिति भावः ।। ६ ।।

हिन्दी—अर्जुन चारों ओर से कमल पराग से लाल रंग में रँगे हुए, बिल्कुल एक दूसरे से सटे हुए, जल तरङ्गों के समान शोभायमान, गंगा के स्तनों को ढँकने वली ओढ़नी की भाँति दिखाई पड़ने वाली राजहंसों की पङ्क्तियों को बड़ी देर तक देखने में समर्थ नहीं हुए ।। ६ ।।

विमर्श—अर्थात् उनका सौन्दर्य अत्यधिक उत्तेजक था । अत: अर्जुन विचलित होने लगे ।

दधति क्षती: परिणतद्विरदे मुदितालियोषिति मदस्रुतिभि: ।
अधिकां सा रोधसि बबन्ध धृति महते रुजन्नपि गुणाय महान् ।। ७ ।।

अन्वय:—स: क्षती: दधति परिणतद्विरदे मदश्रुतिभि: मुदितालियोषिति, रोधसि अधिकाम् धृतिम् बबन्ध । तथाहि महान् रुजन्नपि महते गुणाय ।। ७ ।।

दधतीति । सोऽर्जुन: क्षती: क्षतानि दधति धारयति । कुत: । परिणतास्तिर्यग्दन्तप्रहारिणो द्विरदा यस्मिंस्तस्मिन् । 'तिर्यग्दन्तप्रहारस्तु गज: परिणतो मत:' इति हलायुध:। मदस्रुतिभिर्मुदितालियोषिति रोधस्यधिकां धृतिं प्रीतिं बबन्ध । निश्चलीकृतवानित्यर्थ: । तथाहि । महान्रुजन्पीडयन्नपि महते गुणायोत्कर्षाय भवति । महत्कृता पीडापि शुभावहैवेत्यर्थ: । तद्युक्तं गजरुग्णस्यापि रोधस: प्रीतिकरत्वमिति भाव: ।

हिन्दी—अर्जुन ने मतवाले हाथियों के तिरछे दन्तप्रहारों की चोटों को धारण करने वाले, मद के चूने के कारण उसकी सुगन्ध से लुब्ध प्रमुदित एवं भ्रमरियों से युक्त गङ्गातट में अत्यधिक प्रीति प्रकट की । क्यों न हो, महान् लोग पीड़ा पहुँचा कर भी पीड़ित को उत्कर्ष की प्राप्ति करा ही देते हैं ।। ७ ।।

विमर्श—मतवाले हाथियों के दन्तप्रहारों से गंगातट क्षत-विक्षत हो गया था, उसकी, शोभा नष्ट हो गई थी, किन्तु हाथियों के मद की धारा उनमें वही थी, अत: वहाँ मद-सुगन्ध-लोभी भ्रमरियाँ गुञ्जार कर रही थीं, जिससे अर्जुन को बड़ी प्रसन्नता हुई । क्यों न होती, महान् लोगों का विरोध भी उत्कर्ष का कारण होता है । यहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ।

अनुहेमवप्रमरुणै: समतां गतमूर्मिभि: सहचरं पृथुभि: ।
स रथाङ्गनामवनितां करुणैरनुबध्नतीमभिननन्द रुतै: ।। ८ ।।

अन्वय:—अनुहेमवप्रम् अरुणै: पृथुभि: ऊर्मिभि: समताम् गतम् सहचरम् अरुणै: रुतै: अनुबध्नतीम् रथाङ्गनामवनिताम् अभिननन्द ।। ८ ।।

अन्विति । सोऽर्जुनोऽनुहेमवप्रं कनकसानुसमीपे । समीपार्थेऽव्ययीभाव: । अरुणै:। कनककान्त्युपरञ्जनादिति भाव: । पृथुभिरूर्मिभि: समतां तुल्यरूपतां गतम् । सादृश्याद्दुर्विवेच्यमित्यर्थ: । सह भूतं सहचरं प्रियम् । सहशब्दस्य पचाद्यजन्तेन चरशब्देन समास: । करुणैर्दीनै रुतै: कूजितैरनुबध्नतीमन्विष्यन्तीं रथाङ्गनामवनितां

चक्रवाकीमभिननन्द । प्रकृष्टप्रेमदर्शनात्कस्य नानन्द इति भावः । अत्र तावदूर्मीणां स्वधावल्यत्यागेनारुण्यस्वीकारात्तद्गुणालङ्कारः— 'तद्गुणः स्वगुणत्यागादन्योत्कृष्ट-गुणाश्रयात्' इति लक्षणात् । तन्मूला चेयं चक्रवाक्याः स्वकान्ते तरङ्गभ्रान्तिरिति तद्गुणभ्रान्तिमतोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः ।। ८ ।।

हिन्दी—अर्जुन ने (इन्द्रकील गिरि के) सुवर्णमय शिखर के समीप, (शिखर के स्वर्णिम कान्ति से युक्त होने के कारण) लाल रंग की विशाल तरङ्गों की समानता को प्राप्त अपने प्रिय सहचर को अपने करुण कूंजन से खोजती हुई चक्रवाकी का अभिनन्दन किया ।। ८ ।।

विमर्श—सुवर्णमय शिखर की समीपता के कारण गंगा की बड़ी-बड़ी लहरें लाल रंग के चक्रवाकों के समान दिखाई पड़ रही थीं । उनमें से अपने प्यारे चक्रवाक को अपने करुण स्वर से कोई चक्रवाकी ढूँढ़ना चाहती थी । वह अर्जुन को बहुत पसन्द आई, उन्होंने उसके इस अत्यधिक प्रेम की मन में प्रशंसा की । तद्गुण और भ्रान्तिमान अलङ्कार का अङ्गांगीभाव से संकर ।

सितवाजिने निजगदू रुचयश्चलवीचिरागरचनापटवः ।
मणिजालमम्भसि निमग्नमपि स्फुरितं मनोगतमिवाकृतयः ।। ९ ।।

अन्वयः—चलवीचिरागरचनापटवः रुचयः अम्भसि निमग्नमपि मणिजालम् मनोगतम् स्फुरितम् इव आकृतयः सितवाजिने निजगदुः ।। ९ ।।

सितवाजिन इति । चलवीचिनां रागो रञ्जनं वर्णान्तरापादनं तस्य रचना क्रिया तत्र पटवः समर्था रुचयः प्रभाः । अम्भसि निमग्नमपि मणिजालम् । स्वाश्रयभूतमिति भावः । मनोगतं स्फुरितं रोषादिविकारमाकृतयो भ्रूभङ्गादिबाह्यविकारा इव । सितवा-जिनेऽर्जुनाय निजगदुः । ज्ञापयामासुरित्यर्थः । आकृत्या हि मनोगतं विचक्षणा जानन्तीति भावः ।। ९ ।।

हिन्दी—चञ्चल तरङ्गों को अपने रंग में रँग देने की रचना में निपुण मणि-कान्तियों ने जल की तह में डूबे हुए मणियों के समूहों के होने की सूचना, भ्रूभङ्ग आदि वाह्य विकारों द्वारा मन के क्रोधादि विकारों की भाँति अर्जुन को दे दी ।। ९ ।।

विमर्श—गङ्गा की निर्मल शुभ्र जल धारा की तह में मणियाँ पड़ी थीं, उनकी कान्ति ऊपर चञ्चल जलतरङ्गों में भी संक्रान्त हो रही थीं और इस प्रकार अर्जुन को ऊपर की लहरों को देखकर ही उनकी सूचना मिल गयी थी । बाह्य आकृति से मनोगत विकारों की सूचना चतुर लोग पा ही जाते हैं । यहाँ उपमा अलङ्कार है ।

उपलाहतोद्धततरङ्गधृतं जविना विधूतविततं मरुता ।
स ददर्श केतकशिखाविशदं सहितः प्रहासमिव फेनमपाम् ।।१० ।।

अन्वयः—सः उपलाहतोद्धततरङ्गधृतम् जविना मरुता विधूतविततम् केतक-

शिखाविशदम् अपाम् सरित: प्रहासम् इव ददर्श ।। १० ।।

उपलेति । उपलैराहत अतएवोद्धताश्च ये तरङ्गास्तैर्धृतम् । निर्गमरोधादित्यर्थ: । जविना वेगवता मरुता वातेन विधूतं विततं च केतकस्य शिखाग्रं तद्वद्विशदमपां फेनं दिण्डीरम् । 'दिण्डीरोऽब्धिकफ: फेन:' इत्यमर: । सरित: प्रहासमट्टहासमिवेत्युत्प्रेक्षा । सोऽर्जुनो ददर्श ।।१० ।।

हिन्दी—अर्जुन ने बड़े-बड़े पत्थरों से टकराने के कारण चञ्चल तरङ्गों से युक्त, तीव्र वायु के झोकों से प्रकम्पित एवं खण्ड-खण्ड में विशीर्ण, केतकी के शिखाग्र की भाँति श्वेत जल के फेनों को मानो गङ्गा के हास्य के समान देखा ।। १० ।।

विमर्श—हास्य भी श्वेत ही वर्णित होता है । यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ।

बहु बर्हिचन्द्रकनिभं विदधे धृतिमस्य दानपयसां पटलम् ।
अवगाढमीक्षितुमिवेभपतिं विकसद्विलोचनशतं सरित: ।।११ ।।

अन्वय:—बर्हिचन्द्रकनिभम् बहु दानपयसाम् पटलम् अवगाढम्, इभपतिम् ईक्षितुम् विकसत् सरित: विलोचनशतम् अस्य धृतिं विदधे ।। ११ ।।

बह्विति ।। बर्हिचन्द्रकनिभं मयूरमेचकसदृशम् । 'समौ चन्द्रकमेचक्रौ' इत्यमर:। बह्वनेकधा दानपयसां पटलम् । जातावेकवचनम् । बहवो मदाम्बुबिन्दव इत्यर्थ: । अवगाढमन्त: प्रविष्टम् । गाहे: कर्तरि क्त: । इभपतिमीक्षितुं विकसदुन्मिषत्सरितो विलोचनशतमिवेत्युत्प्रेक्षा । अस्यार्जुनस्य धृति प्रीतिं विदधे चकार ।।११ ।।

हिन्दी—मयूरों की पुच्छों के चन्द्रक के समान दिखाई पड़ने वाले अनेक मदजल के बिन्दुओं ने जल के भीतर डूबे हुए गजराज को देखने के लिए मानों नदी के खुले हुए सैकड़ों नेत्रों के समान अर्जुन में प्रीति उत्पन्न की ।। ११ ।।

विमर्श—गजराज तो पानी में डूब कर आनन्द ले रहा था और उसके मदजल के बिन्दु धारा के ऊपर तेल की भाँति तैर रहे थे, जो रंग-विरंगे होकर मयूरों के पुच्छों में रहने वाले चन्द्रकों की भाँति दिखाई पड़ रहे थे । कवि उसी की उत्प्रेक्षा कर रहा है, मानो नदी अपने सैकड़ों नेत्रों को खोलकर उस गजराज को ढूँढ़ना चाहती है कि यह क्या हो गया ? अर्जुन को यह दृश्य परम प्रीतिकर लगा । यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ।

प्रतिबोधजृम्भणविभिन्नमुखी पुलिने सरोरुहदृशा ददृशे ।
पतदच्छमौक्तिकमणिप्रकरा गलदश्रुबिन्दुरिव शुक्तिवधू: ।।१२ ।।

अन्वय:—सरोरुहदृशा प्रतिबोधजृम्भणविभिन्नमुखी, पतदच्छमौक्तिकमणिप्रकरा: गलदश्रुबिन्दु: इव शुक्तिवधू: पुलिने ददृशे ।। १२ ।।

प्रतिबोधेति । प्रतिबोध: स्फुटनं निद्रापगमश्च तत्र यज्जृम्भणमुच्छूनता जृम्भा च

तेन विभिन्नमुखी विश्लिष्टाग्रा विधृतास्या च । अतएव पतन्प्रसरन्नच्छो मौक्तिकमणीनां प्रकर: स्तोमो यस्या: सा तथोक्ता । अतएव गलदश्रुबिन्दुरिव स्थितेत्युत्प्रेक्षा । शुक्तिर्वधूरिव शुक्तिवधू: । पुलिने । शयनीय इवेति भाव: । सरोरुहदृशार्जुनेन ददृशे दृष्टा । अत्र प्रतिबोधादिश्लिष्टपदोपात्तानां प्रकृतानां शुक्तिवध्वोश्चोपमारूपकयो: साधकबाधकाभावात्सन्देहालङ्कार: । तत्सापेक्ष चाश्रुगलनोत्प्रेक्षेति तयोरङ्गाङ्गिभाव: ।। १२ ।।

हिन्दी—कमलनयन अर्जुन ने स्फुटित होने के कारण (नींद से जागने के कारण जम्भाई लेने से) खुले मुखवाली, अतएव स्वच्छमुक्ता की कान्तियों का प्रसार करती हुई, मानों जलबिन्दु गिराती हुई सीपी रूपिणी वधू को तटवर्ती प्रदेश पर देखा।

विमर्श—जैसे कोई नववधू निद्रा से जागकर अपनी शैया पर जँभाई लेती हुई मुँह बाती है, अपने शुभ्र दाँतों की किरणों का प्रसार करती है तथा आनन्दाश्रु बहाती है, उसी प्रकार नदी के तटवर्ती प्रदेश पर यह सीपी पड़ी हुई थी । उसका मुँह चटक गया था और उसमें से मोती की कान्ति बाहर झलक रही थी तथा जलबिन्दु चू रहे थे । यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ।। १२ ।।

शुचिरप्सु विद्रुमलताविटपस्तनुसान्द्रफेनलवसंवलित: ।
स्मरदायिन: स्मरयति स्म भृशं दयिताधरस्य दशनांशुभृत: ।। १३ ।।

अन्वय:—अप्सु शुचि: तनुसान्द्रफेनलवसंवलित: विद्रुमलताविटप: स्मरदायिन: दशनांशुभृत: दयिताधरस्य भृशम् स्मरयति स्म ।। १३ ।।

शुचिरिति । अप्सु शचि: स्वच्छस्तनुना सान्द्रेण च फेनस्य लवेन शकलेन संवलित: सङ्गतो विद्रुमलताया विटप: पल्लव: । 'विटप: पल्लवे षिड्गे विस्तारे स्तम्बशाखयो:' इति विश्व: । स्मरदायिन: कामोद्दीपकस्य दशनांशुभृतो दन्तकान्तिकलितस्य । दयिताधरस्य । 'अधीगर्थ —' इत्यादिना षष्ठी । भृशं स्मरयति स्म । —लट् स्मे' इति भूतार्थे लट् । 'मितां ह्रस्व:' । स्मरणालङ्कार: ।। १३ ।।

हिन्दी—(नदी की) जलराशि में स्वच्छ छोटे-छोटे एवं सघन फेन के टुकड़ों के साथ मिले हुए प्रवाललता के पल्लव, कामोत्तेजना देने वाले, स्वच्छ दाँतों की किरणों से मनोहर प्रियतमा के अधरों का अत्यधिक स्मरण करा रहे थे ।। १३ ।।

विमर्श—यहाँ स्मरण अलङ्कार है ।

उपलभ्य चञ्चलतरङ्गधृतं मदगन्धमुत्थितवतां पयस: ।
प्रतिदन्तिनामिव स सम्बुबुधे करियादसामभिमुखान्करिण: ।। १४ ।।

अन्वय:—स: चञ्चलतरङ्गधृतम् मदगन्धम् उपलभ्य पयस: उत्थितवताम् करियादसाम् प्रतिदन्तिनाम् इव अभिमुखान् करिण: सम्बुबुधे ।। १४ ।।

उपलभ्येति । सोऽर्जुनश्चञ्चलतरङ्गैर्धृतम् । तत्सङ्क्रान्तमित्यर्थ: । मदगन्धमुपलभ्याघ्राय पयस उत्थितवताम् । रोषादिति शेष: । कर्याकाराणां यादसाम् । शाक-

पार्थिवादिषु द्रष्टव्यः । प्रतिदन्तिनामिवाभिमुखान् । अभियातानित्यर्थः । करिणो गजा-न्सम्बुबुधे । ददर्शेत्यर्थः ।। १४ ।।

हिन्दी—अर्जुन ने चञ्चल लहरों पर तैरते हुए मदगन्ध को सूँघकर जल की सतह से ऊपर निकले हुए गजाकृति जलजन्तुओं (जलहस्ती) को अपना प्रतिपक्षी हाथी समझ कर उन पर आक्रमण करने के लिए तत्पर हाथियों को देखा ।। १४ ।।

स जगाम विस्मयमुदीक्ष्य पुरः सहसा समुत्पिपतिषोः फणिनः ।
प्रहितं दिवि प्रजविभि श्वसितैः शरदभ्रविभ्रममपां पटलम् ।। १५ ।।

अन्वयः—सः पुरः सहसा समुत्पिपतिषः फणिनः प्रजविभिः श्वसितैः दिवि, प्रहितम् शरदभ्रविभ्रमम् अपाम् पटलम् उदीक्ष्य विस्मयम् जगाम ।। १५ ।।

स इति । सोऽर्जुनः पुरोऽग्रे सहसा समुत्पिपतिषो समुत्पतितुमिच्छोः । पतेः सन्नन्तादुप्रत्ययः। 'तनिपतिदरिद्रातिभ्यः सन् इड्वा वक्तव्यः' इति विकल्पादिडागमः। फणिनः सर्पस्य प्रजविभिरतिवेगवद्भिः श्वसितैः फूत्कारैर्दिव्याकाशे प्रहितं प्रेरितं शरदभ्रस्य विभ्रम इव विभ्रमः सौन्दर्यं यस्य तत् । शुभ्रमभ्रव्यापकं चेत्यर्थः । अपां पटलं पुर उदीक्ष्य विस्मयं जगाम । अत्रोपमानुप्राणिता स्वभावोक्तिरलङ्कारः ।। १५ ।।

हिन्दी—अर्जुन ने आगे की ओर अकस्मात् ऊपर आने के इच्छुक एक सर्प के अत्यन्त वेगयुक्त फुफकार से आकाश में फेंके हुए, शरद ऋतु के बादलों की भाँति दिखाई पड़ने वाले जल के मण्डलाकार समूह को देखकर बड़ा आश्चर्य माना ।। १५ ।।

विमर्श—यहाँ उपमा से अनुप्राणित स्वभावोक्ति अलङ्कार है ।

स ततार सैकतवतीरभितः सफरीपरिस्फुरितचारुदृशः ।
ललिताः सखीरिव बृहज्जघनाः सुरनिम्नगामुपयतीः सरितः ।। १६ ।।

अन्वयः—सः सैकतवतीरभितः शफरीपरिस्फुरितचारुदृशः सुरनिम्नगाम् उपयतीः बृहज्जघनाः ललिताः सखीः इव सरितः ततार ।। १६ ।।

स इति । सोऽर्जुनः सैकतवतीः पुलिनवतीरभितः शफरीणां मत्स्यीनां परिस्फुरितान्येव चारवो दृशो यासां ताः । सुरनिम्नगां गङ्गामुपयतीर्भजन्तीः । इणः शतुरुगित्त्वान् ङीप् । अतएव बृहज्जघना ललिताः सखीरिव स्थिताः सरित-स्ततारातिचक्रमे ।। १६ ।।

हिन्दी—अर्जुन ने बालुकामय तटवर्ती प्रदेशों से युक्त, चारों ओर मछलियों के फुदकने रूपी सुन्दर नेत्रों से सुशोभित सुरनदी गङ्गा में मिलने वाली उसकी सहायक नदियों को, मोटी जंघाओं वाली मनोहर सखियों की भाँति पार किया ।। १६ ।।

विमर्श—अर्थात् वे सहायकनदियाँ पुलिन प्रदेश होने के कारण स्थूल जंघाओं से युक्त एवं श्रेष्ठ सौन्दर्य से गुणान्विता सखी की समानता कर रही थीं । रूपक और उपमा अलङ्कार का संकर ।

अधिरुह्य पुष्पभरनम्रशिखैः परितः परिष्कृततलां तरुभिः ।
मनसः प्रसत्तिमिव मूर्ध्नि गिरेः शुचिमाससाद स वनान्तभुवम् ॥१७ ॥

अन्वयः—सः अधिरुह्यगिरेः मूर्ध्नि पुष्पभरनम्रशिखैः तरुभिः परितः परिष्कृततलाम् शुचिम् वनान्तभुवम् मनसः प्रसत्तिम् इव आससाद ॥ १७ ॥

अधिरुह्येति । सोऽर्जुनोऽधिरुह्य । अर्थाद्गिरिमिति शेषः । पुष्पभरेण नम्रशिखैर्नताग्रैस्तरुभिः परितः परिष्कृततलां भूषितस्वरूपाम् । 'अधः स्वरूपयोरस्त्री तलम्' इत्यमरः । 'सम्परिभ्यां करोतौ भूषणे' इति सुडागमः । शुचिं शुद्धाम् । अतएव मनसः प्रसत्तिमिव मूर्त्तं मनः प्रसादमिव स्थिताम् । तद्धेतौ तद्भावोत्प्रेक्षा । गिरेर्मूर्ध्नि वनान्तभुवमाससाद । अन्तः शब्दः स्वरूपवचनः । 'अन्तोऽध्यवसिते मृत्यौ स्वरूपे निश्चयेऽन्तिके' इति वैजयन्ती ॥१७ ॥

हिन्दी—अर्जुन ने इन्द्रकील पर्वत पर चढ़ कर उसके शिखर पर पुष्पों के भार से अवनत शिखा वाले वृक्षों से चारों ओर झाड़-पोंछ कर परिष्कृत एवं पवित्र वन्यभूमि को मानों मन की मूर्तिमती प्रसन्नता की भाँति प्राप्त किया ॥ १७॥

विमर्श—अर्थात् अर्जुन ने वनस्थली को मानो साक्षात् मूर्तिधारिणी मन की प्रसन्नता के समान देखा । यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ।

अनुसानु पुष्पितलताविततिः फलितोरुभूरुहविविक्तवनः ।
धृतिमाततान तनयस्य हरेस्तपसेऽधिवस्तुमचलामचलः ॥१८ ॥

अन्वयः—अनुसानु पुष्पितलताविततिः फलितोरुभूरुहविविक्तवनः अचलः हरेः तनयस्य तपसे अभिवस्तुम् अचलाम् धृतिम् आततान ॥ १८ ॥

अनुसान्विति । अनुसानु प्रतिसानु । वीप्सार्थेऽव्ययीभावः । पुष्पिताः सञ्जात-पुष्पा लताविततयो यस्मिन्सः । फलिता उरवो भूरुहा येषु तानि विविक्तानि विजनानि पूतानि वा वनानि यस्मिन्स तथोक्तः । 'विविक्तौ पूतविजनौ' इत्यमरः । अचल इन्द्रकीलो हरेस्तनयस्यार्जुनस्य तपसे तपश्चर्यार्थमधिवस्तुमधिष्ठातुम् । तनिक्रिया-पेक्षया समानकर्तृकत्वात्तुमुन् । अचलां धृतिमुत्साहमाततान । अत्राचलविशेषणपदार्थस्य धृतिकरणहेतुत्वात्काव्यलिङ्गमलङ्कारः ॥१८ ॥

हिन्दी—प्रत्येक शिखर पर फूली हुई लताओं के वितानों से युक्त, एवं फले हुए वृक्षों से सुशोभित पवित्र अथवा निर्जन वनों से विभूषित इन्द्रकील पर्वत ने इन्द्रपुत्र अर्जुन को तपश्चर्या के अनुष्ठान में अविचल उत्साह प्रदान किया ॥ १८ ॥

विमर्श—यहाँ काव्यलिङ्ग अलङ्कार है ।

प्रणिधाय तत्र विधिनाऽथ धियं दधतः पुरातनमुनेर्मुनिताम् ।
श्रममादधावसुकरं न तपः किमिवावसादकरमात्मवताम् ॥१९ ॥

अन्वयः—अथ तत्र विधिना धियम् प्रणिधाय मुनिताम् दधतः पुरातनमुनेः असुकरम् तपः श्रमम् न आदधौ । आत्मवताम् अवसादकरम् किमिव ॥ १९ ॥

प्रणिधायेति । अथ तत्रादौ विधिना योगशास्त्रानुसारेण धियं चित्तवृत्ति प्रणिधाय ध्येयविषये धियं नियम्य । 'नेर्गद—' इत्यादिना णत्वम् । मुनितां दधतः । तपस्यत इत्यर्थः । पुरातनमुनेः । अर्जुनस्येत्यर्थः । असुकरं दुष्करं तपःश्रमं खेदं नादधौ न चकार । तथाहि आत्मवतां मनस्विनामवसादकरमशान्तिजनकं किमिव । न किञ्चिदित्यर्थः । इवशब्दो वाक्यालङ्कारे ॥१९ ॥

हिन्दी—तदनन्तर उस इन्द्रकील पर्वत पर योगशास्त्र के अनुसार अपनी चित्तवृत्तियों का नियमन कर मुनियों जैसी वृत्ति धारण करने वाले उस पुराने मुनि (नर के अवतार) अर्जुन को दुष्कर तपस्या के क्लेशों ने नहीं सताया । वस्तुतः मनस्वियों को उद्वेग पहुँचाने वाली भला कौन-सी वस्तु है? (कोई नहीं) ॥ १९ ॥

विमर्श—यहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ।

शमयन्धृतेन्द्रियशमैकसुखः शुचिभिर्गुणैरघमयं स तमः ।
प्रतिवासरं सुकृतिभिर्ववृधे विमलः कलाभिरिव शीतरुचिः ॥ २० ॥

अन्वयः—धृतेन्द्रियशमैकसुखः शुचिभिः गुणैः अघमयम् तमः शमयन् विमलः सः प्रतिवासरम् सुकृतिभिः कलाभिः शीतरुचिः इव ववृधे ॥ २० ॥

शमयन्निति । धृतमिन्द्रियशमो विषयव्यावृत्तिरेवैकं मुख्यं सुखं येन स तथोक्तः । आत्माराम इत्यर्थः । अन्यत्र धृत इन्द्रियाणां शमः सन्तापनिवर्तनमेकमद्वितीयं सुखमाह्लादश्च येन स तथोक्तः । शुचिभिर्निर्मलैर्गुणैर्मैत्र्यादिभिः । अन्यत्र कान्त्यादिभिः । अघमयं पापरूपं तमोऽज्ञानम् । अन्यत्रान्धकारं च शमयन्निवर्तयन् । विमलोऽमलिनः पापरहितः शुभ्रोऽन्यत्र । सोऽर्जुनः प्रतिवासरं सुकृतिभिः सुकृतैः । तपोभिरित्यर्थः । स्त्रियां क्तिन् । कलाभिः शीतरुचिश्चन्द्र इव । ववृधे ॥ २० ॥

हिन्दी—इन्द्रियदमन को ही मुख्य सुख के रूप में स्वीकार कर पवित्र गुणों से अपने पापमय अन्धकार का शमन करते हुए पापरहित अर्जुन प्रतिदिन अपनी उस विधिविहित तपस्या से (दूसरों के सन्ताप को दूर करने को ही मुख्य कार्य समझने वाले अपनी कान्ति से अन्धकार को दूर करने वाले एवं अपनी कमनीय कलाओं से शुक्लपक्ष में प्रतिदिन बढ़ने वाले) चन्द्रमा की भाँति बढ़ने लगे ॥ २० ॥

विमर्श—यहाँ उपमा अलङ्कार है ॥ २० ॥

अधरीचकार च विवेकगुणादगुणेषु तस्य धियमस्तवतः ।
प्रतिघातिनीं विषयसङ्गरतिं निरुपप्लवः शमसुखानुभवः ॥ २१ ॥

अन्वयः—किञ्च विवेकगुणात् अगुणेषु धियम् अस्तवतः तस्य निरुपप्लवः शमसुखानुभवः प्रतिघातिनीम् विषयसङ्गरतिम् अधरीचकार ।। २१ ।।

अधरीचकारेति। किञ्चेति चार्थः। विवेकस्तत्त्वावधारणं स एव गुणस्तस्मात् । तेन हेतुनेत्यर्थः । 'विभाषा गुणेऽस्त्रियाम्' इति पञ्चमी । अगुणेषु कामक्रोधादिदोषेषु, विषये । तद्विरोधेन नञ्समासः । धिय चित्तवृत्तिमस्तवतो निवारितवतस्तस्यार्जुनस्य निरुपप्लवो निर्बाधः शमसुखानुभवः शान्त्यानन्दानुभवः प्रतिघातिनीं सोपप्लवां विषय सङ्गरति शब्दाद्युपभोगरुचिमधरीचकार । विषयनिःस्पृहं चकारेत्यर्थः । उत्कृष्टसुख-लाभस्य प्रकृष्टवैराग्यहेतुत्वादिति भावः ।। २१ ।।

हिन्दी—और भी विवेक के उदय से तत्त्वों के विनिश्चय रूप गुण के द्वारा काम क्रोधादि विकारों में प्रवृत्तियों को रोकने वाले निष्कण्टक शान्ति, एवं सुखोपभोग ने उन अर्जुन की तपश्चर्या में अनेक प्रकार का विघ्न पहुँचाने वाली विषय वासनाओं की अभिरुचि को दबा दिया ।। २१ ।।

विमर्श—अर्थात् अर्जुन विषय-वासनाओं से निर्मुक्त होकर तपश्चर्या में रत हो गए ।

मनसा जपैः प्रणतिभिः प्रयतः समुपेयिवानधिपतिं स दिवः ।
सहजेतरौ जयशमौ दधती बिभराम्बभूव युगपन्महसी ।। २२ ।।

अन्वयः—प्रयतः मनसा जपैः प्रणतिभिः दिवः अधिपतिम् समुपेयिवान् सः सहजेतरौ जयशमौ दधती महसी युगपत् बिभराम्बभूव ।। २२ ।।

मनसेति । प्रयतोऽहिंसादिनिरतो मनसा ध्यानेन जपैर्विशिष्टमन्त्राभ्यासैः प्रणतिभिर्नमस्कारैः । एवं मनोवाक्कायकर्मभिर्दिवोधिपतिमिन्द्रं समुपेयिवानुपसेदिवा-न्सोऽर्जुनः सहजेतरौ नैसर्गिकागन्तुकौ । जीयतेऽनेनेति जयो वीररसः। 'एरच्' इत्यच् । शम्यतेऽनेनेति शमः । जयशमौ वीरशान्तिरसौ दधती पुष्णती महसी तेजसी युगपद् बिभराम्बभूव बभार । 'भीह्रीभृहुवाम्—' इति विकल्पादाम्प्रत्ययः । अत्र युगपद्वीर-शान्ताधिकरणत्वाभिधानादस्य लोकाद्भुतमहिमत्वं व्यज्यते ।। २२ ।।

हिन्दी—अहिंसा आदि में निरत रहकर ध्यान, जप एवं नमस्कारादि के द्वारा स्वर्ग के अधिपति इन्द्र को प्राप्त करने की चेष्टा में लगे हुए अर्जुन ने अपने स्वाभाविक एवं अभ्यास से प्राप्त वीररस एवं शान्त रसों को पुष्ट करने वाले तेजों को एक साथ धारण किया ।। २२ ।।

विमर्श—अर्थात् वीरों के समान शस्त्रास्त्र से सुसज्जित होकर भी वह जप, तप, अहिंसा आदि शान्त कर्मों के उपासक बन गये । अर्थात् एक साथ ही इन दो परस्पर विरोधी तेजों को धारण करना अद्भुत महिमा का कार्य है ।

शिरसा हरिन्मणिनिभः स वहन् कृतजन्मनोऽभिषवणेन जयः ।
उपमां ययावरुणदीधितिभिः परिमृष्टमूर्द्धनि तमालतरौ ।। २३ ।।

अन्वयः—हरिन्मणिनिभः अभिषवणेन कृतजन्मनः जटाः शिरसा वहन् सः अरुणदीधितिभिः परिमृष्टमूर्धनि तमालतरौ उपमाम् ययौ ॥ २३ ॥

शिरसेति ॥ हरिन्मणिनिभो मरकतमणिश्यामोऽभिषवणेन स्नानेन कृतजन्मनो जनिताः। अतः पिशङ्गीरिति भावः। जटाः शिरसा वहन्सोऽर्जुनोऽरुणस्यानूरोर्दीधितिभिः परिमृष्टमूर्धनि व्याप्तशिरसि तमालतरावुपमां तमालतरोः सादृश्यं ययावित्यार्थीय-मुपमा । तरोरौपम्याधिकरणत्वात्तदपेक्षया सप्तमी ॥ २३ ॥

हिन्दी—मरकत मणि के समान हरे वर्ण वाले एवं नियमानुष्ठित स्नान करने के कारण पीले वर्ण की जटाओं को धारण किये हुए अर्जुन बाल सूर्य की किरणों से सुशोभित शिखर वाले तमाल के वृक्ष के समान सुशोभित हो रहे थे ॥ २३ ॥

विमर्श—यहाँ उपमा अलङ्कार है ॥ २३ ॥

धृतहेतिरप्यधृतजिह्ममतिश्चरितैर्मुनीनधरयञ्शुचिभिः ।
रमयाञ्चकार विरजाः स मृगान् कमिवेशते रमयितुं न गुणाः ॥ २४ ॥

अन्वयः—धृतहेतिः अप्यधृतजिह्ममतिः शुचिभिः चरितैः मुनीनधरयन् विरजाः सः मृगान् रमयाञ्चकार । गुणाः कमिव रमयितुम् न एशते ॥ २४ ॥

धृतेति । धृतहेतिर्धृतायुधोऽप्यधृता जिह्मा मतिः कुटिलमतिर्यैन सः । शुचिभि-श्चरितैर्मुनीनधरयंस्तिरस्कुर्वन् । वेषेणैव भीषणो न तु कर्मणेति भावः । कुतः । विरजा रजोगुणरहितः सोऽर्जुनो मृगान्रमयाञ्चकार रमयामास । 'रञ्जेर्णौ मृगरमणे नलोपो वक्तव्यः' इति नलोपः । तथाहि । गुणा दयादयः कमिव रमयितुं नेशते । कं वा वशीकर्तुं न शक्नुवन्तीति भावः । शुद्धिरेव हि परं विश्वासबीजं परस्य न वेषो नापि संस्तव इति भावः ॥ २४ ॥

हिन्दी—हथियार धारण करने पर भी सरल बुद्धि वाले एवं अपने पवित्र आचरणों से मुनियों को नीचा दिखाने वाले रजोगुणविहीन अर्जुन ने वन्य पशुओं को प्रसन्न कर दिया । भला दया दाक्षिण्यादि गुण किसे नहीं वश में कर सकते ॥ २४ ॥

विमर्श—चरित्र की शुद्धता ही विश्वास का कारण होती है, वेश अथवा परिचय नहीं । यहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ।

अथास्य त्रिभिस्तपःसिद्धिमाह—अनुकूलेत्यादिना ।

अनकूलपातिनमचण्डगतिं किरता सुगन्धिमभितः पवनम् ।
अवधीरितार्तवगुण सुखतां नयता रुचां निचयमंशुमतः ॥ २५ ॥

नवपल्लवाञ्जलिभृतः प्रचये बृहतस्तरून् गमयताऽवनतिम् ।
स्तृणता तृणैः प्रतिनिशं मृदुभिः शयनीयतामुपयतीं वसुधाम् ॥ २६ ॥

पतितैरपेतजलदान्नभसः पृषतैरपां शमयता च रजः ।
स दयालुनेव परिगाढकृशः परिचर्ययाऽनुजगृहे तपसा ।। २७ ।।

अन्वयः—अनुकूलपातिनम् अचण्डगतिम् सुगन्धिम् पवनम् अभितः किरता अवधीरितार्तवगुणम् अंशुमतः रुचाम् निचयम् सुखताम् नयता । प्रचये नवपल्लवाञ्जलिभृतः बृहतः तरून् अवनतिम् गमयता प्रतिनिशम् शयनीयताम् उपयतीम् वसुधाम् मृदुभिः तृणैः स्तृणता । अपेतजलदान्नभसः पतितैः अपाम् पृषतैः रजः च शमयता तपसा दयालुना एव परिगाढकृशः सः परिचर्यया अनुजगृहे ।। २५-२७ ।।

अनुकूलेति ।अनुकूलपातिनं न तु प्रतिकूलपातिनमचण्डगतिं मन्दगामिनं सुगन्धिम् । गन्धस्येकत्वे तदेकान्तग्रहणेऽपि कवीनां निरङ्कुशत्वात्समासान्तः । अथवा केचिदागन्तुकत्वेऽप्येकवचनेन समासान्तमिच्छन्ति । पवनमभितः किरता । प्रवर्तयतेत्यर्थः । ऋतुरस्य प्राप्त आर्तवः । 'ऋतोरण्' इत्यण्प्रत्ययः । स चासौ गुणस्तिग्मत्वरूपः सोऽवधीरितस्तिरस्कृतो यस्य तमंशुमतो रुचां निचयं सुखतां सुखस्पर्शतां नयता प्रापयता । नयतेर्द्विकर्मकत्वम् ।। २५ ।।

नवेति । प्रचये पुष्पावचयप्रसङ्गे नवपल्लवा एवाञ्जलयस्तान्बिभ्रतीति तथोक्तान्बृहत उच्चास्तरूनवनतिं नम्रतां गमयता। 'गतिबुद्धि—' इत्यादिना तरुणां कर्मत्वम्। प्रतिनिशं निशि शयनीयतामुपयतीम् । शयनस्थानभूतामित्यर्थः । वसुधां मृदुभिस्तृणैः स्तृणताच्छादयता ।। २६ ।।

पतितैरिति । अपेतजलदान्निरभ्रान्नभसः पतितैरपां पृषतैर्जलबिन्दुभी रजश्च शमयता तपसा कर्त्रा दयालुनेवेत्युत्प्रेक्षा । दयालुत्वे हेतुं सूचयति — परिगाढः कृशोऽतिक्षीणः सोऽर्जुनः परिचर्ययोक्तविधया शश्रूषयानुजगृहेऽनुगृहीतः । अनुग्रहोऽत्र सहकारित्वमेव सर्वभूतानुकूल्यलिङ्गात्पचेलिमं तयोऽस्येति भावः ।अस्य श्लोकत्रयस्याप्येकवाक्यत्वादुत्प्रेक्षैव प्रधानालङ्कारः ।। २७ ।।

हिन्दी—अर्जुन की उस तपश्चर्या ने अनुकूल मन्द-मन्द सुगन्धित वायु को उसके (अर्जुन के) चारों ओर विकीर्ण कर दिया तथा सूर्य की किरणों की ग्रीष्मकालीन तेजस्विता को दबाकर उसे सुखस्पर्शी बना दिया । पुष्प चुनने के अवसर पर नूतन पल्लव रूपी अंजलियों को धारण करने वाले विशाल वृक्षों को नम्र बना दिया तथा प्रत्येक रात्रि में शयन स्थान अर्थात् शैय्या बनने वाली पृथ्वी को कोमल तृणों से आच्छादित कर दिया एवं जलरहित बादलों से बरसते हुए जल बिन्दुओं द्वारा धरती की धूल को शान्त कर दिया । इस प्रकार की उस दयालु तपश्चर्या की शुश्रूषा से मानो अत्यन्त क्षीणशरीर अर्जुन परम अनुगृहीत हुए ।। २५-२७ ।।

विमर्श—तात्पर्य यह है कि उस कठोर साधना में निरत अर्जुन को प्रकृति की सारी सुविधाएँ प्राप्त हुई । यद्यपि वह खुली धूप में रहते थे, पृथ्वी पर शयन करते थे, स्वयं वृक्षों से पुष्प चुनते थे और वह तपोभूमि धूल-धक्कड़ से भरी थी किन्तु उनके तपोलीन होने पर सब असुविधाएँ स्वतः दूर हो गयीं । तीनों श्लोकों में

उत्प्रेक्षा ही प्रधान अलङ्कार है । जैसे किसी दुर्बल दीन हीन व्यक्ति को देखकर कोई दयालु व्यक्ति उसकी सेवा शुश्रूषा में लीन हो जाता है, उसी प्रकार उनकी तपस्या भी मानों उन पर दयालु हो गई ।

महते फलाय तदवेक्ष्य शिवं विकसन्निमित्तकुसुमं स पुरः ।
न जगाम विस्मयवशं वशिनां न निहन्ति धैर्यमनुभावगुणः ।। २८ ।।

अन्वयः—सः महते फलाय विकसत् शिवम् तद् निमित्तकुसुमम् पुरः अवेक्ष्य विस्मयवशम् न जगाम । (तथाहि) वशिनाम् अनुभावगुणः धैर्यम् न निहन्ति ।। २८ ।।

महत इति ।। सोऽर्जुनो महते फलाय श्रेयसे सस्याय च विकसत्पूर्वोक्तं शिवं सुखदं तन्निमित्तमेव कुसुमं पुरोऽग्रेऽवेक्ष्य विस्मयवशं न जगाम । तथाहि । वशिनामनुभाव एव गुणः स च धैर्यं न निहन्ति । विस्मयादिविकारं न जनयतीत्यर्थः । जनने वा तपः क्षीयेत । 'तपः क्षरति विस्मयात्' इति स्मरणादिति भावः ।। २८ ।।

हिन्दी—महान् सिद्धि रूप कल्याण (फल) की प्राप्ति के लिए विकसित होने वाले उन कल्याणकारी शकुन रूपी पुष्पों को सामने देखकर विस्मित नहीं हुए । जितेन्द्रिय लोग फल प्राप्ति के सूचक अनुभवों के होने पर भी अपना धैर्य नहीं छोड़ते ।। २८ ।।

विमर्श—क्योंकि यदि विस्मय करते तो तप:सिद्धि क्षीण हो जाती, जैसा कि शास्त्रीय विधान है । 'तप:क्षरति विस्मयात् ।' यहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ।

तदभूरिवासरकृतं सुकृतैरुपलभ्य वैभवमनन्यभवम् ।
उपतस्थुरास्थितविषादधियः शतयज्वनो वनचरा वसतिम् ।। २९ ।।

अन्वयः—सुकृतैः अभूरिवासरकृतम् तत् वैभवम् अनन्यभवम् उपलभ्य आस्थितविषादधियः वनचराः शतयज्वनः वसतिम् उपतस्थुः ।। २९ ।।

तदिति ।। सुकृतैस्तपोभिः करणैः अभूरिभिः कतिपयैरेव वासरैः कृतं तत्पूर्वोक्तं वैभवमतोऽन्यस्य न भवतीत्यनन्यभवन् । अन्यस्यासम्भवतीत्यर्थः । पचाद्यजन्तोत्तर-पदेन नञ्समासः । उपलभ्य निश्चित्यास्थितविषादाः प्राप्तखेदा धियो येषां ते वनचराः । 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' इति बहुलग्रहणाल्लुक् । शतेन शतस्य वा मखानां यज्वनः शतक्रतोः । अत्र सङ्ख्येयविशेषलाभो यजिसन्निधानादवगन्तव्यः । 'यज्वा तु विधिनेष्टवान्' इत्यमरः । 'सुयजोर्ङ्वनिप्' । वसतिमुपतस्थुः प्रापुः ।। २९ ।।

हिन्दी—इस प्रकार की तपश्चर्या द्वारा थोड़े ही दिनों में अर्जुन के दूसरों द्वारा असंभव अर्थात् अलौकिक प्रभाव को देखकर खेद से भरे हुए वनदेव वृन्द इन्द्र की पुरी अमरावती पहुँच गए ।। २९ ।।

विमर्श—वनदेवों को भ्रम हुआ कि कहीं अपनी कठोर तपस्या से यह इन्द्रपद तो प्राप्त नहीं करना चाहता ।। २९ ।।

विदिताः प्रविश्य विहितानतयः शिथिलीकृतेधिकृतकृत्यविधौ।
अनपेतकालमभिरामकथाः कथयाम्बभूवुरिति गोत्रभिदे ।। ३० ।।

अन्वयः—विदिताः प्रविश्य विहितानतयः अधिकृतकृत्यविधौ शिथिलीकृते अनपेतकालम् गोत्रभिदे इति अभिरामकथाः कथायाम्बभूवुः ।। ३० ।।

विदिता इति ।। वनचरा इत्यनुवर्तनीयम् । विदिता ज्ञाताः । अनुमतप्रवेशाः सन्त इत्यर्थः । प्रविश्य विहितानतयः कृतप्रणामा अधिकृतकृत्यस्य नियुक्तकर्मणः शैलरक्षणात्मकस्य विधावनुष्ठाने शिथिलीकृते सति । अनपेतकालमनतिक्रान्तकालं यथा तथा गोत्रभिदे शक्रायेति वक्ष्यमाणप्रकारेणाभिरामकथाः श्राव्यवाचः । 'चिन्ति-पूजिकथिकुम्बिचर्चश्च' इत्यङ्प्रत्ययः । कथयाम्बभूवुः ।। ३० ।।

हिन्दी—उन वनदेवों ने अनुमति लेकर इन्द्र के समीप प्रवेश किया और हाथ जोड़कर नमस्कार किया । पर्वत की रक्षा का गुरु कार्य छोड़कर वे आये थे अतः व्यर्थ में अधिक समय न लगाकर उन्होंने इन्द्र से इस प्रकार का श्रवणसुखद संवाद कह सुनाया ।। ३० ।।

शुचिवल्कवीततनुरन्यतमस्तिमिरच्छिदामिव गिरौ भवतः ।
महते जयाय मघवन्ननघः पुरुषस्तपस्यति तपञ्जगतीम् ।। ३१ ।।

अन्वयः—शुचिवल्कवीततनुः तिमिरच्छिदाम् अन्यतमः इव अनघः पुरुषः हे मघवन् भवतः गिरौ जगतीम् तपन् महते जयाय तपस्यति ।। ३१ ।।

शुचीति ।। शुचिना वल्केन वल्कलेन वीताच्छादिता तनुर्यस्य सः । तिमिर-च्छिदां सूर्यादीनामन्यतम इव स्थित इत्युत्प्रेक्षा । अनघः पुरुषः । मघवन्, भवतो गिराविन्द्रकीले जगतीं भुवं तपंस्तापयन्महते जयाय तपस्यति तपश्चरति । 'कर्मणो रोमन्थ'—इत्यादिना क्यङ् लट् ।। ३१ ।।

हिन्दी—हे महाराज इन्द्र ! पवित्र वल्कल से शरीर को आच्छादित कर अन्धकार दूर करने वाले सूर्य आदि तेजस्वियों में से मानों अन्यतम कोई एक निष्पाप पुरुष आपके इन्द्रकील नामक पर्वत पर, संसार को उत्तप्त करता हुआ किसी महान् विजय लाभ के लिए तपस्या कर रहा है ।। ३१ ।।

विमर्श—यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ।

जयाय तपस्यति इत्युक्तम् । तत्र हेतुमाह—

स बिभर्ति भीषणभुजङ्गभुजः पृथु विद्विषां भयविधायि धनुः ।
अमलेन तस्य धृतसच्चरिताश्चरितेन चातिशायिता मुनयः ।। ३२ ।।

अन्वयः—भीषणभुजङ्गभुजः सः विद्विषाम् भयविधायि पृथुः धनुः बिभर्ति । अमलेन तस्य चरितेन धृतसच्चरिताः च मुनयः अतिशयिताः ।। ३२ ।।

स इति ।। भीषयेते इति भीषणौ । नन्द्यादित्वाल्ल्युप्रत्ययः । तौ च तौ भुजङ्गौ च ताविव भुजौ यस्य स तथोक्तः । पुरुषो विद्विषां भयविधायि पृथु धनुर्बिभर्ति । अतो जयार्थीत्यर्थः । अमलेन तस्य पुरुषस्य चरितेन धृतानि सच्चरितानि यैस्ते मुनयोऽतिशयिता अतिक्रान्ताः ।। ३२ ।।

हिन्दी—भयङ्कर सर्पों के समान भुजाओं वाला वह पुरुष शत्रुओं को भयभीत करने वाला विशाल धनुष धारण किये हुए है । उसके निर्मल आचरणों ने सच्चरित ऋषियों मुनियों को भी जीत लिया है ।। ३२ ।।

विमर्श—यहाँ उपमा अलङ्कार है ।

अथास्य तपःसिद्धिं वर्णयति—

मरुतः शिवा नवतृणा जगती विमलं नभो रजसि वृष्टिरपाम् ।
गुणसम्पदाऽनुगुणतां गमितः कुरुतेऽस्य भक्तिमिव भूतगणः ।। ३३ ।।

अन्वयः—मरुतः शिवाः जगती नवतृणाः नभः विमलम् रजसि अपाम् वृष्टिः अस्य गुणसम्पदः अनुगुणताम् गमितः भूतगणः भक्तिम् कुरुते इव ।। ३३ ।।

मरुत इत्यादिना ।। मरुतो वाताः शिवाः सुखाः । जगती पृथ्वी नवतृणा । शयनासनाद्यनुकूलेत्यर्थः । नभो विमलं नीहारादिरहितम् । रजसि सत्यपां वृष्टिर्भवतीति शेषः । किं बहुना । अस्य पुरुषस्य गुणसम्पदा भूतहितादिगुणसम्पत्त्या अनुगुणतामनुकूलतां गमितः । वशीकृत इत्यर्थः । भूतगणः पृथिव्यादिपञ्चकं भक्तिं सेवां कुरुत इवेत्युत्प्रेक्षा ।। ३३ ।।

हिन्दी—उस तपस्वी पुरुष के सद्गुणों के प्रभाव से अनुकूलता को प्राप्त होने वाले पृथ्वी, जल, तेज, वायु आदि पाँचों महाभूत भी मानों उसके प्रति भक्ति करते हैं, क्योंकि हवाएँ सुखदायिनी हो गयी हैं, धरती नूतन कोमल घासों से आच्छादित हो गयी है, आकाश निर्मल हो गया है, धूल उठने पर जल की वृष्टि हो जाती है ।। ३३।।

विमर्श—यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ।।

इतरेतरानभिभवेन मृगास्तमुपासते गुरुमिवान्तसदः ।
विनसन्ति चास्य तरवः प्रचये परवान् स तेन भवतेव नगः ।। ३४ ।।

अन्वयः—मृगाः तम् अन्तसदः गुरुम् इव इतरेतरानभिभवेन उपासते । प्रचये तरवः अस्य विनमन्ति । सः नगः भवतेव तेन परवान् ।। ३४ ।।

इतरेतरेति ।। किं च । मृगाः पशवस्तम् । अन्तेऽन्तिके सीदन्तीत्यन्तसदोऽन्तेवासिनः । 'सत्सूद्विष—' इति क्विप् । गुरुमिवेतरेतरेषामनभिभवेनाद्रोहेणोपासते सेवन्ते । प्रचये पुष्पावचये तरवोऽस्य विनमन्ति । करप्रचेया भवन्तीत्यर्थः । तस्येति

सम्बन्धसामान्ये षष्ठी । किं बहुना । स नग इन्द्रकीलो भवतेव तेन पुरुषेण परवान्पराधीन: । सात्त्विकस्यापि तवेव स्यातिशयो वर्तत इत्यर्थ: ।। ३४ ।।

हिन्दी—वन्य पशु उस तपस्वी पुरुष की सेवा विद्यार्थियों द्वारा गुरु के समान परस्पर का वैर विरोध भूलकर करते हैं । पुष्प चुनने के समय वृक्ष उसके सामने स्वयं झुक आते हैं । (इस प्रकार) वह इन्द्रकील आप की भाँति ही अब उस तपस्वी के अधीन-सा हो गया है ।। ३४ ।।

उरु सत्त्वमाह विपरिश्रमता परमं वपु: प्रथयतीव जयम् ।
शमिनोऽपि तस्य नवसङ्गमने विभुतानुषङ्गि भयमेति जन: ।। ३५ ।।

अन्वय:—विपरिश्रमता उरु सत्वम् आह । परमं वपु: जयम् प्रथयति इव शमिन: अपि तस्य नवसङ्गमने जन: विभुतानुषङ्गि भयम् एति ।। ३५ ।।

उर्विति ।। किं च । विपरिश्रमतायासेऽपि श्रमराहित्यमुरु महत्सत्त्वमन्त:सारमाह। दुर्बलस्य श्रमजयासम्भवादिति भाव: । परममुत्तमं वपुर्जयं प्रथयतीव । आकारेणैव जिष्णुत्वं गम्यत इत्यर्थ: । शमिन: शान्तस्यापि तस्य नवसङ्गमनेऽपूर्वप्राप्तौ जनोवि-भुताया: प्रभावस्यानुषङ्गि व्यापकम् । न तु हिंस्रकत्वानुषङ्गीति भाव: । भयमेति । शान्तोद्भवं प्रभावं गमयतीति भाव: ।। ३५ ।।

हिन्दी—कठिन परिश्रम करने पर भी उसका श्रान्त न होना उसके महान् आन्तरिक बल की सूचना देता है, उसका सुन्दर एवं विशाल शरीर उसकी विजय की सूचना देता है, यद्यपि वह शान्त रहता है तथापि जब कभी किसी से उसका प्रथम समागम होता है उस समय आगन्तुक व्यक्ति में उसकी विभुता से भय उत्पन्न हो जाता है ।। ३५ ।।

ऋषिवंशज: स यदि दैत्यकुले यदि वाऽन्वये महति भूमिभृताम् ।
चरतस्तपस्तव वनेषु सहा न वयं निरूपयितुमस्य गतिम् ।। ३६ ।।

अन्वय:—स: ऋषिवंशज: यदि वा दैत्यकुले यदि वा महति भूमिभृताम् अन्वये तव वनेषु तप: चरत: अस्य गतिम् निरूपयितुम् वयम् न सहा: ।। ३६ ।।

ऋषीति ।। स पुरुष: । ऋषिवंशजो, वेति शेष: । काकुर्वा । यदि वा दैत्यकुले । जात इति शेष: । यदि वा महति भूमिभृतामन्वये जात: । तव वनेषु तपश्चरतोऽस्य गतिं स्वरूपं निरूपयितुं वयम् । सहन्त इति सहा: । पचाद्यच् । न सहा: स्म इति शेष: ।। ३६ ।।

हिन्दी—हम यह भी पता नहीं लगा सकते कि वह तपस्वी ऋषियों का वंशज है अथवा दैत्यों के वंश का है अथवा राजाओं के महान् कुल में उत्पन्न हुआ है? आपके वन में तपस्या करने वाले उस पुरुष के भेद को जानने में हम असमर्थ हैं ।। ३६ ।।

अपृष्टपरिभाषणापराधं परिहरन्ति—

विगणय्य कारणमनेकगुणं निजयाऽथवा कथितमल्पतया ।
असदप्यदः सहितुमर्हसि नः क्व वनेचराः क्व निपुणा यतयः ॥ ३७ ॥

अन्वयः—अनेकगुणं कारणम् विगणय्य अथवा निजया अल्पतया कथितम् नः अदः असद् अपि सहितुम् अर्हसि । वनेचराः क्व, निपुणाः यतयः क्व ॥ ३७ ॥

विगणय्येति ॥ अनेकगुणं बहुफलम् । इन्द्रत्वाद्यनेकफलसाधकत्वेन योग्य-मित्यर्थः । कारणं तपोरूपं विगणय्य विचार्य । अथवा निजया नैसर्गिक्याल्पतया बालिश्येनाज्ञानत्वेन वा कथितं नोऽस्माकमद इदम् । वचनमित्यर्थः । असदसाध्वपि सहितुं सोढुम् । 'तीषसह—' इत्यादिना विकल्पादिडागमः । अर्हसि योग्योऽसि । तर्हि सदेव किं नोक्तं तत्राहुः—वनेचराः क्व् । निपुणा यतयो विवेकबुद्धयः क्व् । नोभयं सङ्गच्छत इत्यर्थः । अज्ञानं नापराध्यतीति भावः । अर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः ॥ ३७ ॥

हिन्दी—(उसकी इस तपस्या का क्या प्रयोजन है, इसका) अनेक प्रकार से अनुमान करके अथवा अपनी स्वल्पबुद्धि से जो यह बात हमने आप से निवेदन की है, वह अनुचित भी हो तो आप उसे क्षमा करें । क्योंकि कहाँ हम बेचारे वनचारी और कहाँ वह कुशलमति तपस्वी ॥ ३७ ॥

विमर्श—यहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ।

अधिगम्य गुह्यकगणादिति तन्मनसः प्रियं प्रियसुतस्य तपः ।
निजुगोप हर्षमुदितं मघवा नयवर्त्मगाः प्रभवतां हि धियः ॥ ३८ ॥

अन्वयः—मघवा इति गुह्यकगणात् तत् मनसः प्रियम् प्रियसुतस्य तपः, अधिगम्य उदितम् हर्षम् निजुगोप । तथा हि प्रभवताम् धियः नयवर्त्मगाः ॥ ३८ ॥

अधिगम्येति ॥ मघवेन्द्र इति पूर्वोक्तं गुह्यकगणात्तन्मनसः प्रियं प्रियसुतस्यार्जुनस्य तपोऽधिगम्य ज्ञात्वा । गुप्त्यपेक्षया समानकर्तृकत्वात्क्त्वानिर्देशः । उदितं तत्तपसो देवकार्यार्थत्वादुत्पन्नं हर्षं निजुगोप गोपयामास । तथा हि । प्रभवतां प्रभूणां धियो नयवर्त्मगा नीतिमार्गानुसारिण्यो हि । अन्यथा मन्त्रभेदे कार्यहानिः स्यादिति भावः ॥ ३८ ॥

हिन्दी—देवराज इन्द्र ने इस प्रकार यक्षों के मुख से मन को आनन्दित करने वाली अपने प्यारे पुत्र की तपस्या का वृत्तान्त सुनकर अपनी प्रकट होने वाली प्रसन्नता को छिपा लिया । क्यों न हो, प्रभुओं अर्थात् बड़े लोगों की बुद्धि नीतिमार्गानुसारिणी होती है ॥ ३८ ॥

विमर्श—बड़े लोग किसी इष्ट कार्य के सिद्ध होने से उत्पन्न अपने मन की प्रसन्नता छिपाकर रखते हैं क्योंकि उसके प्रकट होने से कार्यहानि की संभावना रहती है । यहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ।

**प्रणिधाय चित्तमथ भक्ततया विदितेऽप्यपूर्व इव तत्र हरिः ।
उपलब्धुमस्य नियमस्थिरतां सुरसुन्दरीरिति वचोऽभिदधे ॥ ३९ ॥**

अन्वयः—अथ हरिः चित्तम् प्रणिधाय तत्र भक्ततया विदिते अपि अपूर्वः इव अस्य नियमस्थिरताम् उपलब्धुम् सुरसुन्दरी इति वचः अभिदधे ॥ ३९ ॥

प्रणिधायेति ॥ अथ हरिरिन्द्रश्चित्तं प्रणिधाय विषयान्तरपरिहारेणात्मन्यवस्थाप्य तत्र तस्मिन्नर्जुने भक्ततया विदिते सत्यपि । उपलक्षणे तृतीया । अपूर्व इव । अविदित इवेत्यर्थः । 'पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा' इति विकल्पान्न स्मिन्नादेशः । अस्यार्जुनस्य नियमस्थिरतां दार्ढ्यमुपलब्धुम् । परीक्षितुमित्यर्थः । लोकप्रतीत्यर्थमिति भावः । सुर-सुन्दरीरिति वक्ष्यमाणप्रकारं वचोऽभिदधे ॥ ३९ ॥

हिन्दी—तदनन्तर इन्द्र ने समाधिस्थ होकर अर्जुन को अपना अनन्य भक्त जान लेने पर भी, अनजान की भाँति उनकी नियम-निष्ठा की परीक्षा लेने के लिए देवाङ्गनाओं से इस प्रकार की बातें कीं ॥ ३९ ॥

विमर्श—इन्द्र यद्यपि यह जान गये थे कि अर्जुन अनन्य भाव से तपस्या में लीन है तथापि लोक-प्रतीति के लिए अप्सराओं द्वारा उसकी दृढ़ नियमानुवर्तिता की परीक्षा लेना उन्होंने उचित समझा । क्योंकि अर्जुन उनका पुत्र था । पुत्र के प्रति अनायास कृपा भाव का होना उनके पक्षपाती कहे जाने का कारण बनता । अतः लोगों को दिखाने के लिए उन्होंने यह नाटक रचा ।

**सुकुमारमेकमणु मर्मभिदामतिदूरगं युतममोघतया ।
अविपक्षमस्त्रमपरं कतमद्विजयाय यूयमिव चित्तभुवः ॥ ४० ॥**

अन्वयः—मर्मभिदाम् अस्त्रम् अपरम् कतमत् यूयम् इव सुकुमारम् एकम् अणु अतिदूरगम् अमोघतया युतम् तथा अविपक्षम् चित्तभुवः विजयाय ॥ ४० ॥

सुकुमारमिति ॥ मर्मभिदां मर्मच्छेदिनाम् । अस्त्रान्तराणां मध्य इत्यर्थः । 'यतश्च निर्धारणम्' इति षष्ठी । अपरमन्यत्कतमत् । 'वा बहूनां जातिपरिप्रश्ने डतमच्' । यूय-मिव सुकुमारं कोमलं न तु कठिनम् । अन्यत्तु कठिनं भवति । तथैकं न बहु । तत्त्वनेकं भवति । तथाणु सूक्ष्मं न स्थूलम् । अलक्ष्यलक्ष्यप्रवेशित्वादिति भावः । यत्तु लक्ष्य-लक्ष्यप्रवेशि । तत्तु समीपलक्ष्यभेदि । तथातिदूरगं दूरलक्ष्यभेदि, तथाऽमोघतयाऽ-मोघत्वगुणेन युतं युक्तम् । न कदाचिद्व्यभिचरतीति भावः । अन्यत्तु कदाचिदपि लक्ष्यादपराध्यति । तथाऽविपक्षमसत्प्रतीकारम् । यन्यत्तु विद्यमानप्रतीकारम् । चित्त-भुवः कामस्य । कर्तरि षष्ठी । विजयाय । एतद्विशेषणविशिष्टमस्त्रमस्तीति शेषः । न किंचिदस्तीत्यर्थः । अत्रोपमालङ्कारः । साभिप्रायविशेषणत्वात्परिकरालङ्कारश्च । तयो-रुभयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः ॥ ४० ॥

हिन्दी—मर्म पर आघात करने वाले शस्त्रास्त्रों में भला दूसरा कौन सा ऐसा अस्त्र हमारे पास है जो तुम लोगों की तरह सुकुमार, एकमात्र, सूक्ष्म, अत्यन्त दूर-

गामी, कभी निष्फल न होने वाला, एवं प्रतीकार रहित है कामदेव के ऐसे अस्त्रों को छोड़कर (आप लोगों की) विजय प्राप्ति के लिए कोई दूसरा अस्त्र नहीं है ।। ४० ।।

विमर्श—अर्थात् दूसरे अस्त्र तो कठोर होते हैं, बहुत से धारण करने पड़ते हैं क्योंकि एक से कभी काम चलने वाला नहीं होता, भारी और बड़े होते हैं, बहुत कम अथवा निर्दिष्ट दूरी तक जा सकते हैं, कभी-कभी निष्फल हो जाते हैं, और उनके प्रतिकार भी हैं, किन्तु तुम लोगों के सम्बन्ध में ऐसी कोई बात नहीं है । उपमा और परिकर अलङ्कार का अङ्गागी भाव से संकर ।

असामर्थ्यशङ्कां परिहरति—

भववीतये हतबृहत्तमसामवबोधवारि रजसः शमनम् ।
परिपीयमाणमिव वोऽसकलैरवसादमेति नयनाञ्जलिभिः ।। ४१ ।।

अन्वयः—भववीतये हतबृहत्तमसाम् रजसः शमनम् अवबोधवारि वः असकलैः नयनाञ्जलिभिः परिपीयमाणम् इव अवसादम् एति ।। ४१ ।।

भवेति ।। भववीतये संसारनिवृत्तये हतबृहत्तमसां निरस्तमहामोहानां योगिनां संम्बन्धि रजो गुणः । रजो धूलिरिति श्लिष्टरूपकम् । तस्य शमनं निवर्तकमवबोधस्तत्त्वज्ञानमेव वारि तद्वो युष्माकमसकलैरसमग्रैर्नयनान्येवाञ्जलयस्तैः परिपीयमाणमिवेत्युत्प्रेक्षा । अवसादं क्षयमेति । मुक्तानपि बध्नन्तीनां वः कथमसामर्थ्यमिति भावः । अत्रोत्प्रेक्षारूपकयोः सङ्करः ।। ४१ ।।

हिन्दी—सांसारिक दुःखों से सदा के लिए छूट जाने की इच्छा से माया मोह को दूर हटाने वाले महान् योगियों के, रजोगुण को शान्त करने वाले तत्वावबोध रूप जल को, आप लोग अपने नेत्रों के कटाक्ष रूपी अंजलियों से मानों क्षणभर में पान करके उसे विनष्ट कर देती हैं ।। ४१ ।।

विमर्श—जब मुमुक्षुओं की यह दशा केवल आपके कटाक्षों से हो जाती है तो साधारण व्यक्ति की बात ही क्या है ! उत्प्रेक्षा और रूपक का संकर ।

बहुधा गतां जगति भूतसृजा कमनीयतां समभिहृत्य पुरा ।
उपपादिता विदधता भवतीः सुरसद्मयानसुमुखी जनता ।। ४२ ।।

अन्वयः—पुरा जगति बहुधा गतां कमनीयताम् समभिहृत्य भवतीः विदधता, भूतसृजा जनता सुरसद्मयानसुमुखी उपपादिता ।। ४२ ।।

बहुधेति ।। किं च । पुरा जगति बहुधा गतां नानामुखेन विप्रकीर्णां कमनीयतां चन्द्राद्युपमानद्रव्यगतलावण्यं समभिहृत्य संगृह्य भवतीर्विदधता सृजता भूतसृजा ब्रह्मणा जनता जनसमूहः। 'ग्रामजन—' इत्यादिना तल्। सुरसद्मयानसुमुखी स्वर्लोकयात्राप्रवणोपपादिता कृता । स्वर्गस्यापि यत्प्रसादात्सर्वलोकश्लाघ्यत्वम्, तासां वः कथमसामर्थ्यमिति भावः । अत्राप्सरसां प्रकीर्णलावण्यसंग्रहासम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धाभिधानादतिशयोक्तिः ।। ४२ ।।

हिन्दी—प्राचीन काल में अनेक स्थलों में बिखरी हुई सुन्दरता को एकत्र कर आप लोगों की रचना करने वाले विधाता ने साधारण जनता को स्वर्ग लोक की यात्रा के लिए लालायित बना दिया है ।। ४२ ।।

विमर्श—अर्थात् चन्द्रमा आदि अनेक पदार्थों में जो सुन्दरता बिखरी हुई थी उसी को एकत्र कर विधाता ने तुम लोगों की रचना की है और लोग जो स्वर्ग की प्राप्ति के लिए लालायित रहते हैं, उसमें केवल तुम लोगों की प्राप्ति की लालसा ही मूल कारण है । यहाँ अतिशयोक्ति अलङ्कार है ।

अथ कार्यांशमाह—

तदुपेत्य विघ्नयत तस्य तपः कृतिभिः कलासु सहिताः सचिवैः ।
हतवीतरागमनसां ननु वः सुखसङ्गिनं प्रति सुखाऽवजितिः ।। ४३ ।।

अन्वयः—तत् कलासु कृतिभिः सचिवैः सहिताः उपेत्य तस्य तपः विघ्नयत ननु हतवीतरागमनसाम् वः सुखसङ्गिनम् प्रतिसुखावजितिः ।। ४३ ।।

तदिति ।। तत्तस्मात्समर्थत्वात्कलासु गीतवाद्यादिषु कृतिभिः कुशलैः सचिवैर्गन्धर्वैः सहिता उपेत्य गत्वा तस्य तपो विघ्नयत विघ्नवत्कुरुत । विहतेत्यर्थः । विघ्नवच्छब्दान्मत्वन्तात् 'तत्करोति—' इति णिचि लोट् । णाविष्ठवद्भावान्मतुपो लुक् । न चात्रासामर्थ्यशङ्का कार्येत्यर्थान्तरन्यासेनाह — हतेति । ननु सम्बोधने । हे अप्सरसः, हतानि वशीकृतानि वीतरागाणां निःस्पृहाणां मुमुक्षूणां मनांसि चित्तानि याभिस्तासां वो युष्माकमप्सरसां सुखसङ्गिनं पुरुषं प्रति सुखाभिलाषिणं प्रत्यवजितिर्विजयः सुखा सुखसाध्य न तु दुष्करा खलु । एतेनायं सुखार्थी न मुमुक्षुरित्युक्तम् । अर्थान्तरन्यासः ।। ४३ ।।

हिन्दी—अतएव आप लोग गायन-वादनादि कलाओं में निपुण अपने सहचर गन्धर्वों के साथ जा कर उस तपस्वी पुरुष की तपस्या में विघ्न प्रस्तुत करें । आप लोग जब वीतराग तपस्वियों के मन को भी अपनी ओर खींच लेती हैं तो सुखाभिलाषी पुरुष तो सुगमता से वश में हो सकता है ।। ४३ ।।

विमर्श—अर्थात् वह तपस्वी तो बड़ी सुगमता से आप लोगों के वश में हो जायगा । उसे वश में करना कठिन नहीं है । यहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ।

अथ सुखसङ्गित्वलिङ्गमाह—

अविमृष्यमेतदभिलष्यति स
द्विषतां वधेन विषयाभिरतिम् ।
भववीतये न हि तथा स विधिः
क्व शरासनं क्व च विमुक्तिपथः ।। ४४ ।।

अन्वयः—(हे अप्सरसः) सः द्विषताम् वधेन विषयाभिरतिम् अभिलष्यति

एतत् अविमृष्यम् हि स: विधि: भववीतये न (कुत:) शरासनम् क्व विमुक्ति-पथश्च क्व ।। ४४ ।।

अविमृष्यमिति ।। हे अप्सरस:, स पुरुषो शत्रूणां वधेन शत्रुहननद्वारा विषयाभिरतिं विषयसुखमभिलष्यति वाञ्छति । 'वा भ्राश—' इत्यादिना श्यन्प्रत्यय: । एतद्विषयासक्तत्वमविमृष्यमविचार्यम् । अविमृष्यमसंदिग्धव्यमिति । 'ऋदुपधाच्चाक्लृपिचृते:' इति क्यप् । भवतीभिर्न संदिग्धव्यमित्यर्थ: । हि यस्मात्स विधि: 'स बिभर्ति भीषणभुजङ्गभुज:' इत्यादिश्लोकोक्तोऽनुष्ठानप्रकारो भववीतये संसारमुक्तये न भवति। कुत इत्याह — शरासनं धनु: क्व, विमुक्ते: पन्थाश्च क्व । द्वयं परस्परं विरुद्धमित्यर्थ: । न खलु हिंसासाध्या मुक्तिरिति भाव: । अर्थान्तरन्यासोऽलङ्कार: ।। ४४ ।।

हिन्दी—वह तपस्वी अपने शत्रुओं का संहार कर विषय सुख भोगने का अभिलाषी है, यह बात तो असंदिग्ध ही है । उसकी यह तपस्या संसार से मुक्ति पाने के लिए नहीं है । क्योंकि कहाँ धनुष और कहाँ मुक्ति का मार्ग ? ।। ४४ ।।

विमर्श—वह धनुष लेकर तपस्या कर रहा है, यही इस बात का प्रमाण है कि मुमुक्षु नहीं है, क्योंकि मुक्ति हिंसा द्वारा प्राप्त नहीं होती दोनों विरोधी चीजें हैं अत: निश्चय ही वह विषयसुखाभिलाषी है । यहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ।

न च शापभयमपि सम्भाव्यं मस्मादित्याह—

> **पृथुधाम्नि तत्र परिबोधि च मा भवतीभिरन्यमुनिवद्विकृति: ।**
> **स्वयशांसि विक्रमवतामवतां न वधूष्वघानि विमृशन्ति धिय: ।। ४५ ।।**

अन्वय:—पृथुधाम्नि तत्र अन्यमुनिवद् विकृति: च भवतीभि: मा परिबोधि, स्वयशांसि, अवताम् विक्रमवताम् धिय: वधूषु, अघानि न विमृषन्ति ।। ४५ ।।

पृथ्विति ।। पृथुधाम्नि महातेजसि तत्र तस्मिन्पुरुषविषयेऽन्यमुनिवदन्यस्मिन्मुनाविव । 'तत्र तस्येव' इति वतिप्रत्यय: । विकृति: कोपविकारश्च भवतीभिर्मा परिबोधिमा विज्ञायि । मा शङ्कीति यावत् । बुध्यते: कर्मणि लुङ् । माङ्योगादाशीरर्थेऽडागमाभावश्च । तथा हि—स्वयशांस्यवतां रक्षताम् । यशोधनानामित्यर्थ: । विक्रमवतां धियश्चित्तानि वधूषु स्त्रीविषयेष्वघानि व्यसनानि । 'दु:खैनोव्यसनेष्वघम्' इति वैजयन्ती । न विमृषन्ति । अर्थान्तरन्यास: । स्त्रीहिंसाया: शूराणां यशोहानिकरत्वात्र सर्वथा वो हिनस्ति स इत्यर्थ: ।। ४५ ।।

हिन्दी—महान् तेजस्वी उस तपस्वी पुरुष के सम्बन्ध में दूसरे मुनियों की तरह क्रुद्ध होकर शाप देने की शङ्का तुम लोग मत करो । क्योंकि अपने यश की रक्षा करने वाले पराक्रमी लोगों की बुद्धि नारी जाति के प्रति प्रतिहिंसा की भावना नहीं रखती ।। ४५ ।।

विमर्श—पराक्रमी एवं वीर लोग अपने यश की हानि की चिन्ता से नारी जाति के प्रति प्रतिहिंसा की भावना नहीं रखते । यहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ।

आशंसितापचितिचारु पुरः सुराणा—
मादेशमित्यभिमुखं समवाप्य भर्तुः ।
लेभे परां द्युतिममर्त्यवधूसमूहः
सम्भावना ह्यधिकृतस्य तनोति तेजः ।। ४६ ।।

अन्वयः—अमर्त्यवधूसमूहः सुराणाम् पुरः आशंसितापचितिचारु अभिमुखम् भर्तुः इति आदेशम् समवाप्य पराम् द्युतिम् लेभे । तथाहि अधिकृतस्य सम्भावना तेजः तनोति ।। ४४ ।।

आशंसितेति । अमर्त्यवधूसमूहोऽप्सरसां गणः सुराणां पुरोऽग्र आशंसितापचितिभिरपेक्षितसम्भावनाभिश्चारु यथा तथा । 'क्षयार्चयोरपचितिः' इत्यमरः । अभिमुखं समक्षं भर्तुः स्वामिन इति पूर्वोक्तमादेशं नियोगं समवाप्य परां द्युतिं लेभे । तथा हि । अधिकृतस्य क्वचिदधिकारे नियुक्तस्य सम्भावना स्वामिकृता पूजा तेजः कान्तिं तनोति ।। ४६ ।।

हिन्दी—अप्सराओं का समूह देवताओं के समक्ष इस प्रकार की प्रशंसा से युक्त अपने स्वामी इन्द्र का उपर्युक्त आदेश प्राप्त कर और अधिक सुन्दर हो गया , वह खिल उठा । क्यों नहीं, स्वामी द्वारा प्राप्त समादर किसी कर्त्तव्य पर नियुक्त सेवक की तेजोवृद्धि तो करता ही है ।। ४६ ।।

विमर्श—यहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ।

**प्रणतिमथ विधाय प्रस्थिताः सद्मनस्ताः
स्तनभरनमिताङ्गीरङ्गनाः प्रीतिभाजः ।
अचलनलिनलक्ष्मीहारि नालं बभूव
स्तिमितममरभर्तुर्द्रष्टुमक्ष्णां सहस्रम् ।। ४७ ।।**

।। इति भारविकृतौ महाकाव्ये किरातार्जुनीये षष्ठः सर्गः ।। ६ ।।



अन्वयः—अथ प्रणतिम् विधाय सद्मनः प्रस्थिताः स्तनभरनमिताङ्गीः प्रीतिभाजः ताः अङ्गनाः अचलनलिनलक्ष्मीहारि स्तिमितम् अमरभर्तुः अक्ष्णाम् सहस्रम् द्रष्टुम् अलम् न बभूव ।। ४७ ।।

प्रणतिमिति । अथ प्रणतिं विधाय सद्मन इन्द्रभवनात्प्रस्थिताः प्रचलिताः स्तनभरैर्नमितान्यङ्गानि यासां ताः । 'अङ्गगात्रकण्ठेभ्यो वक्तव्यम्' इति ङीष् । प्रीतिभाजः स्वामिसम्भावनया सन्तुष्टास्ता अङ्गना अचलनलिनानां स्थिरकमलानां लक्ष्मी-

हरतीति तत्तथोक्तम् । तद्वन्मनोहरमित्यर्थः । कुतः । स्तिमितं विस्मयनिश्चलममर-भर्तुरक्ष्णां सहस्रं कर्तृ द्रष्टुमलं समर्थं न बभूव । तासां सौन्दर्यसागरस्योद्वेलत्वादिति भावः । अत्रोपमालङ्कारः ।। ४७ ।।

।। इति श्रीमहामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितायां किरातार्जुनीयकाव्य व्याख्यायां घण्टापथसमाख्यायां षष्ठः सर्गः समाप्तः ।। ६ ।।



हिन्दी—तदनन्तर इन्द्र को प्रणाम कर अमरावती से प्रस्थित, स्तनों के भार से अवनत अङ्गों वाली एवं स्वामी के समादर से सन्तुष्ट उन अप्सराओं को निश्चल कमल की शोभा को हरने वाली अर्थात् कमलों के समान मनोहर एवं विस्मय से निर्निमेष देवराज इन्द्र की सहस्र आँखें भी देखने में असमर्थ रह गयीं ।। ४७ ।।

विमर्श—अर्थात् अप्सराएँ एक तो वे वैसे ही सुन्दरी थीं, दूसरे इन्द्र ने देवताओं के समक्ष उनका जो अभिनन्दन किया, उससे वे और खिल उठीं तथा उनका सौन्दर्य-सागर हिलोरें लेने लगा । यहाँ उपमा अलङ्कार है ।

।। इस प्रकार श्रीभारविकृत किरातार्जुनीयम् महाकाव्य के छठवें सर्ग की डॉ सुधाकर मालवीय कृत हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ।। ६ ।।



सप्तमः सर्गः

श्रीमद्भिः सरथगजैः सुराङ्गनानां
गुप्तानामथ सचिवैस्त्रिलोकभर्त्तुः ।
सम्मूर्च्छन्नलघुविमानरन्ध्रभिन्नः
प्रस्थानं समभिदधे मृदङ्गनादः ॥१ ॥

अन्वयः—अथ श्रीमद्भिः सरथगजैः त्रिलोकभर्तुः सचिवैः गुप्तानाम् सुराङ्गनानाम् प्रस्थानम् अलघुविमानरन्ध्रभिन्नः संमूर्च्छन् मृदङ्गनादः समभिदधे ॥ १ ॥

श्रीमद्भिरिति ॥ अथ प्रस्थानानन्तरं श्रीमद्भिः शोभावद्भिः । सह रथगजेन सरथगजास्तैः । 'तेन सहेति तुल्ययोगे' इति बहुव्रीहिः । त्रयाणां लोकानां भर्तुस्त्रिलोकभर्तुरिन्द्रस्य । 'तद्धितार्थ—' इत्यादिनोत्तरपदसमासः । सचिवैर्गन्धर्वैर्गुप्तानां सुराङ्गनानां प्रस्थानं गमनमलघुषु महत्सु विमानरन्ध्रेषु विमानानां कुक्षिकुहरेषु भिन्नः प्रतिध्वानैरनेकीभूतोऽत एव संमूर्च्छन्व्याप्नुवन्मृदङ्गनादः समभिदधे आचख्यौ, पौरेभ्य इति शेषः अस्मिन्सर्गे प्रहर्षिणीवृत्तम्— 'म्नौ ज्रौ गस्त्रिदशयतिः प्रहर्षिणीयम्' इतिलक्षणात् ॥१ ॥

हिन्दी—तदनन्तर सुशोभित रथों और हाथियों के साथ त्रिलोकपति इन्द्र के सहचर गन्धर्वों से सुरक्षित देवाङ्गनाओं के प्रस्थान की सूचना विशाल विमानों के झरोखों से प्रतिध्वनित होने के कारण अनेक रूपों में फैलते हुए मृदङ्गों को ध्वनियों ने (पुरवासियों को) दी ॥ १ ॥

विमर्श—अर्थात् देव-विमानों पर गन्धर्वों के साथ अप्सराओं ने इन्द्रकूट के लिए प्रस्थान किया और उस समय मृदङ्ग आदि मांगलिक वाद्य बजने लगे । इस सर्ग में प्रहर्षिणी छन्द है ।

सोत्कण्ठैरमरगणैरनुप्रकीर्णान्निर्याय ज्वलितरुचः पुरान्मघोनः ।
रामाणामुपरि विवस्वतः स्थितानां नासेदे चरितगुणत्वमातपत्रैः ॥ २ ॥

अन्वयः—सोत्कण्ठैः अमरगणैः अनुप्रकीर्णात् ज्वलितरुचः मघोनः पुरात् निर्याय विवस्वतः उपरि स्थितानाम् रामाणाम् आतपत्रैः चरितगुणत्वम् नासेदे ॥ २ ॥

सोत्कण्ठैरिति ॥ सोत्कण्ठैः । अवेक्षणोत्सुकैरित्यर्थः । अमरगणैरनुप्रकीर्णादाकीर्णाज्ज्वलितरुचो दीप्तप्रभान्मघोन इन्द्रस्य पुरादमरावत्या निर्याय निर्गत्य । यातेः

क्त्वो ल्यप् । विवस्वत उपरि स्थितानां रामाणाम् । आतपात्त्रायन्त इत्यातपत्रैः । 'सुपि—' इति योगविभागात्कप्रत्ययः । चरितगुणत्वं सार्थकत्वं नासेदे न प्राप । तासां सूर्योपरिस्थितत्वादातपासम्भवादिति भावः ॥ २ ॥

हिन्दी—देखने के लिए समुत्सुक देवगणों द्वारा भरी हुई एवं अपनी अनुपम छटा से जाज्वल्यमान इन्द्रपुरी अमरावती से निकलकर सूर्य के ऊपर अवस्थित उन अप्सराओं के आतपत्रों अर्थात् छतरियों ने सच्चे अर्थ में अपनी चरितार्थता नहीं प्रकट की ॥ २ ॥

विमर्श—देवाङ्गनाएँ आकाश में सूर्य-मण्डल से ऊपर थीं, अतः नीचे की ओर पड़ने वाली सूर्य की किरणें वहाँ नहीं पहुँच रही थीं, जिससे वहाँ आतप अर्थात् धूप का अभाव था । जब आतप (धूप) ही नहीं थी तो आतपत्र (छतरियों) की चरितार्थता होती कैसे ?

धूतानामभिमुखपातिभिः समीरैरायासादविशदलोचनोत्पलानाम् ।
आनिन्ये मदजनितां श्रियं वधूनामुष्णांशुद्युतिजनितः कपोलरागः ॥ ३ ॥

अन्वयः—अभिमुखपातिभिः समीरैः धूतानाम् आयासात् अविशदलोचनोत्पलानाम् वधूनाम् उष्णांशुद्युतिजनितः कपोलरागः मदजनिताम् श्रियम् आनिन्ये ॥ ३ ॥

धूतानामिति ॥ अभिमुखपातिभिः समीरैः प्रतिकूलवायुभिर्धूतानामिति दुर्निमित्तसूचनम् । आयासाद्गतिप्रयासादविशदलोचनोत्पलानां वधूनामुष्णांशुद्युतिजनित आतपकृतः कपोलानां रागः पाटलत्वम् । मदेन जनितां श्रियम् । **तत्सदृशीं श्रियमित्यर्थः । अत एव निदर्शनालङ्कारः । आनिन्य आनीतवान् । वधूरिति शेषः । आङ्पूर्वान्नयतेः कर्तरि लिट् । ञकारानुबन्धत्वादात्मनेपदम् ॥ ३ ॥**

हिन्दी—प्रतिकूल बहने वाली वायु द्वारा थकी हुई एवं चलने-फिरने के परिश्रम से मलिन नेत्र कमलों वाली उन देवाङ्गनाओं के सूर्य की प्रचण्ड धूप से उत्पन्न कपोलों की लालिमा ने मद लालिमा की शोभा को प्राप्त किया ॥ ३ ॥

विमर्श—अर्थात् प्रचण्ड धूप, सामने की हवा तथा चलने फिरने की थकावट से देवाङ्गनाओं के कपोल ऐसे लाल हो गये थे जैसे मद पान करने पर होते हैं । यहाँ प्रतिकूल हवा अपशकुन की सूचना भी दे रही थी । यहाँ निदर्शना अलङ्कार है।

तिष्ठद्भिः कथमपि देवतानुभावादाकृष्टैः प्रजविभिरायतं तुरङ्गैः ।
नेमीनामसति विवर्तने रथौघैरासेदे वियति विमानवत्प्रवृत्तिः ॥ ४ ॥

अन्वयः—कथमपि देवातानुभावात् तिष्ठद्भिः प्रजविभिः तुरङ्गैः आयतम् आकृष्टैः रथौघैः वियति नेमीनाम् विवर्तने असति विमानवत्प्रवृत्तिः आसेदे ॥ ४ ॥

तिष्ठद्भिरिति ॥ कथमपि बाढम् । 'कथमादि तथाप्यन्ते यत्ने गौरवबाढयोः' इति वैजयन्ती । देवतानामनुभावात्तिष्ठद्भिः । अपतद्भिरित्यर्थः । रथविशेषणमेतत् ।

प्रजविभिर्वेगवद्भिस्तुरङ्गैरायतं दूरमाकृष्टै रथौघैर्वियत्याकाशे नेमीनां चक्रधाराणाम् । 'चक्रधारा प्रधिर्नेमिः' इति यादवः। विवर्तने भ्रमणेऽसति विमानवद्विमानानामिवेत्युपमा। 'तत्र तस्येव' इति वतिप्रत्ययः । प्रवृत्तिर्गतिरासेदे प्राप्ता । सदेः कर्मणि लिट् ।। ४ ।।

हिन्दी—किसी प्रकार देवताओं की कृपा से (आकाश मण्डल में) टिके हुए अत्यन्त वेग से चलने वाले अश्वों द्वारा तीव्रगति से खींचे जाते हुए वे रथों के समूह, आकाश-मण्डल में निराधार होने से चक्कों की गति न होने के कारण विमानों की स्थिति प्राप्त कर रहे थे ।। ४ ।।

विमर्श—अर्थात् आकाश में देवाङ्गनाओं के वे रथ विमानों की शोभा धारण कर रहे थे । विमानों में अश्व नहीं होते, उनका चक्का घूमता नहीं रहता तथा वे आकाश में चलते हैं । देवाङ्गनाओं के इन रथों की भी ऐसी ही स्थिति थी । इनमें यद्यपि अश्व थे, किन्तु वे अत्यन्त वेगशाली थे अतः बहुत तीव्रगति से रथों को खींच रहे थे, निराधार होने से इनके भी चक्के घूमते नहीं थे और ये भी देवताओं की कृपा से आकाश में टिके हुए थे । यहाँ उपमा अलङ्कार है ।। ४ ।।

कान्तानां कृतपुलकः स्तनांगरागे वक्त्रेषु च्युततिलकेषु मौक्तिकाभः।
सम्पेदे श्रमसलिलोद्गमो विभूषां रम्याणां विकृतिरपि श्रियं तनोति ।। ५ ।।

अन्वयः—कान्तानाम् स्तनाङ्गरागे कृतपुलकः च्युततिलकेषु वक्त्रेषु मौक्तिकाभः श्रमसलिलोद्गमः विभूषाम् सम्पेदे । (तथाहि) रम्याणाम् विकृतिः अपि श्रियम् तनोति ।। ५ ।।

कान्तानामिति।। कान्तानां स्तनानामङ्गरागे कृतपुलको जनितोद्भेदः । कृतरोमाञ्च इत्यर्थः । च्युताः प्रमृष्टास्तिलका येषां तेषु वक्त्रेषु मौक्तिकाभः श्रमसलिलोद्गमः स्वेदोद्भेदो विभूषां भूषणं सम्पेदे सम्पन्नः। कर्तरि लिट्। तथाहि। रम्याणां स्वभावसुन्दराणां विकृतिरपि श्रियं तनोति । अतः स्वेदस्यापि विभूषणत्वमुपपद्यत इति भावः ।। ५ ।।

हिन्दी—उन देवाङ्गनाओं के परिश्रम से उत्पन्न पसीनों की बूँदे नीचे ढुलककर स्तनों में लगे हुए अङ्गरागों को बहाकर रोमाञ्चित कर रही थीं तथा उनके भाल के तिलक को धो रही थीं, इस प्रकार मोतियों के दानों समान सुन्दर दिखाई पड़ने वाली वे बूँदे उनको अलङ्कृत करने का कार्य ही कर रही थीं । क्यों नहीं, सुन्दर लोगों की विकृति भी उनकी शोभा ही बढ़ाती है ।। ५ ।।

विमर्श—तात्पर्य यह है कि देवाङ्गनाएँ पसीने से लथपथ हो रही थीं और उनकी विचित्र शोभा थी । यहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ।

राजद्भिः पथि मरुतामभिन्नरूपैरुल्कार्चिः स्फुटगतिभिर्ध्वजांशुकानाम् ।
तेजोभिः कनकनिकाषराजिगौरैरायामः क्रियत इव स्म सातिरेकः ।। ६ ।।

अन्वयः—मरुताम् पथिराजद्भिः अभिन्नरूपैः उल्कार्चिः स्फुटगतिभिः कनकनिकषराजिगौरः ध्वजांशुकानाम् तेजोभिः आयामः सातिरेकः क्रियते स्म इव ।। ६ ।।

राजद्भिरिति ।। मरुतां पथ्याकाशे राजद्भिर्दीप्यमानैरभिन्नरूपैरविच्छिन्नाकारैरत-एवोल्कानामार्चांषीव स्फुटगतीनि दीप्तमार्गाणि येषां तैः । कनकस्य निकाषः कषणं तस्य राजीरेखा तद्वद्गैररुणैः । 'गौरः पीतेऽरुणे श्वेते' इति विश्वः । ध्वजांशुकानां तेजोभिः पताकाकान्तिभिरायामस्तेषामेव दैर्घ्यं सातिरेकः सातिशयः क्रियते स्मेव कृत इव । दीर्घा ध्वजपटाः स्वतेजः प्रसारेण दीर्घतमा इव लक्ष्यन्त इवेत्युत्प्रेक्षा । सा चोल्काद्युपमानुप्राणिता ।। ६ ।।

हिन्दी—आकाश में प्रकाशमान, एक समान दिखाई पड़ने वाली उल्काओं से स्फुट प्रकाश की तरह प्रतीत होने वाली, एवं कसौटी पर खिंची हुई सुवर्ण की रेखा के समान अरुण वर्ण की पताकाओं के रेशमी वस्त्रों की कान्तियाँ मानों उन वस्त्रों की लम्बाई को अधिक बढ़ाती हुई-सी प्रतीत होती थीं ।। ६ ।।

विमर्श—अर्थात् आकाश में पताकाओं के रेशमी वस्त्रों की चमक की कसौटी पर खिंची सुवर्ण रेखा की भाँति उल्का की गति के समान तीव्रगामी होने से ऐसी मालूम पड़ती थी मानों पताकाओं के वस्त्र ही उतने लम्बे हो गये हैं । उपमा से अनुप्राणित यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ।

रामाणामवजितमाल्यसौकुमार्ये सम्प्राप्ते वपुषि सहत्वमातपस्य ।
गन्धर्वैरधिगतविस्मयैः प्रतीये कल्याणी विधिषु विचित्रता विधातुः ।। ७ ।।

अन्वयः—माल्यसौकुमार्ये, रामाणाम् वपुषि आतपस्य सहत्वम् सम्प्राप्ते अधिगतविस्मयैः गन्धर्वैः विधातुः विधिषुं कल्याणी विचित्रता प्रतीये ।। ७ ।।

रामाणामिति ।। मालैव माल्यं तस्य सौकुमार्यमवजितं येन तस्मिन् । कुसुमादपि सुकुमार इत्यर्थः । रामाणां वपुष्यातपस्य । कृद्योगे कर्मणि षष्ठी । सहत इति सहः क्षमः पचाद्यच् । तस्य भावः सहत्वम् । तत्सम्प्राप्ते सत्यधिगतविस्मयैः सम्प्राप्ताश्चर्यैर्गन्धर्वै-र्विधातुर्विधिषु सृष्टिषु कल्याणी साधीयसी । उपकारकत्वादिति भावः । विचित्रता नानाविधत्वं प्रतीयेऽवगता ज्ञाता । प्रतिपूर्वादिणः कर्मणि लिट् ।। ७ ।।

हिन्दी—कुसुमों से भी कोमल देवाङ्गनाओं के शरीर में सूर्य की प्रचण्ड धूप को सहन करने की शक्ति देखकर आश्चर्यचकित गन्धर्वों ने यह अनुभव किया कि ब्रह्मा की सृष्टि में रचना-कुशलता बड़ी ही कल्याणकारिणी है ।। ७ ।।

सिन्दूरैः कृतरुचयः सहेमकक्ष्याः स्रोतोभिस्त्रिदशगजा मदं क्षरन्तः ।
सादृश्यं ययुररुणांशुरागभिन्नैर्वर्षद्भिः स्फुरितशतह्रदैः पयोदैः ।। ८ ।।

अन्वयः—सिन्दूरैः कृतरुचयः सहेमकक्ष्याः स्रोतोभिः मदम् क्षरन्तः त्रिदश-गजाः अरुणांशुरागभिन्नैः वर्षद्भिः स्फुरितशतह्रदैः पयोदैः सादृश्यम् ययुः ।। ८ ।।

सिन्दूरैरिति ।। सिन्दूरैर्नागसंभवाख्यै रागद्रव्यैः । 'सिन्दूरं नागसम्भवम्' इत्यमरः । कृतरुचयः । अलङ्कृता इत्यर्थः । सह हेम्नः कक्ष्याभिर्मध्येभबन्धनैः

सहेमकक्ष्याः । 'तेन सहेति तुल्ययोगे' इति बहुव्रीहिः । 'कक्ष्या प्रकोष्ठे हर्म्यादेः काञ्च्यां मध्येभबन्धने' इत्यमरः । स्रोतोभिः सप्तभिर्मदनाडीभिः । 'करात्कटाभ्यां मेढ्राच्च नेत्राभ्यां च मदच्युतिः' इति पालकाप्ये । करान्नासारन्ध्राभ्यामित्यर्थः । मदं क्षरन्तो वर्षन्तस्त्रिदशगजा अरुणस्यार्कस्यांशूनां रागेणारुण्येन भिन्नैः संसृष्टैर्वर्षद्भिः स्फुरितशतह्रदैः स्फुरिततडित्कैः पयोदैः सादृश्यं ययुरित्युपमालङ्कारः ।। ८ ।।

हिन्दी—सिन्दूर से अलङ्कृत, सुवर्ण की शृंखलाओं से मध्यभाग में बँधे हुए, सातों मद-नाड़ियों से मद की वर्षा करते हुए देवताओं के गजराजों ने सूर्य की किरणों की लालिमा से अनुरंजित बरसते हुए तथा बिजली की चमक से सुशोभित मेघों की समानता प्राप्त की ।। ८ ।।

विमर्श—हाथियों की मद बहाने वाली नाड़ियाँ सात होती हैं । सूँड़ के दोनों छिद्र, दोनों गण्डस्थल, दोनों आँखें तथा लिङ्ग । वे गजराज काले बादलों के समान थे । उनका सिन्दूररंजित अलङ्कार सूर्य की किरणों के सम्पर्क की शोभा धारण कर रहा था, सुवर्ण की शृंखला बिजली के समान थी और सात स्थानों से मद-क्षरण जल-वृष्टि के समान था । यहाँ उपमा अलङ्कार है ।

अत्यर्थं दुरुपसदादुपेत्य दूरं पर्यन्तादहिममयूखमण्डलस्य ।
आशानामुपरचितामिवैकवेणीं रम्योर्मिं त्रिदशनदीं ययुर्बलानि ।। ९ ।।

अन्वयः—बलानि अत्यर्थम् दुरुपसदाद् अहिममयूखमण्डलस्य पर्यन्तात् दूरम् उपेत्य आशानाम् अपरचिताम् एकवेणीम् इव रम्योर्मिम् त्रिदशनदीम् ययुः ।। ९ ।।

अत्यर्थमिति ।। बलानि सैन्यान्यत्यर्थं दुरुपसदाद् दुःसहादहिममयूखमण्डलस्य सूर्यबिम्बस्य पर्यन्तात्समीपाद्दूरमुपेत्यागत्याशानामुपरचितां गुम्फितामेकवेणीमिव स्थितामिवेत्युत्प्रेक्षा । रम्या ऊर्मयस्तरङ्गा भङ्गयश्च यस्यास्तां त्रिदशनदीं मन्दाकिनीं ययुः प्रापुः ।। ९ ।।

हिन्दी—देवाङ्गनाओं की वह सेना सूर्यमण्डल के अत्यन्त असहनीय प्रान्त भाग से दूर निकलकर दिग्वधुओं द्वारा मानों रची गयी एक वेणी की भाँति प्रतीत होने वाली रमणीय तरङ्गों से युक्त देवनदी मन्दाकिनी के तट पर पहुँच गई ।। ९ ।।

विमर्श—यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ।

आमत्तभ्रमरकुलाकुलानि धुन्वन्नुद्धूतग्रथितरजांसि पङ्कजानि ।
कान्तानां गगननदीतरङ्गशीतः सन्तापं विरमयति स्म मातरिश्वा ।।१०।।

अन्वयः—आमत्तभ्रमरकुलाकुलानि, उद्धूतग्रथितरजांसि पङ्कजानि धुन्वन् गगन-नदीतरङ्गशीतः मातरिश्वा कान्तानाम् सन्तापम् विरमयति स्म ।। १० ।।

आमत्तेति ।। आमत्तैर्भ्रमरकुलैराकुलान्युद्धूतान्युत्थापितानि ग्रथितान्यन्योन्य-सम्बद्धानि च रजांसि येषु तानि पङ्कजानि धुन्वन्कम्पयन् । सुरभिरित्यर्थः । गगन-

नदीतरङ्गैः शीतो मातरिश्वा वायुः । कान्तानां सन्तापं विरमयति स्म शमयामास । मातर्यन्तरिक्षे श्वयतीति मातर्या श्वयतीति वेति नैरुक्ताः ।।१० ।।

हिन्दी—मधुमत्त भ्रमर-समूहों से संकुलित एवं अब तक जमे हुए किन्तु भ्रमरों के सङ्घट्ट से ऊपर उड़ते हुए परागों से युक्त कमलों को कम्पित करने वाली एवं देवनदी मन्दाकिनी की तरङ्गों के स्पर्श से शीतल वायु ने देवांगनाओं की थकावट को दूर कर दिया ।। १० ।।

सम्भिन्नैरिभतुरगावगाहनेन प्राप्योर्वीरनु पदवीं विमानपङ्क्तीः ।
तत्पूर्वं प्रतिविदधे सुरापगायाः वप्रान्तस्खलितविवर्तनं पयोभिः ।।११ ।।

अन्वयः—इभतुरगावगाहनेन सन्निभैः सुरापगायाः पयोभिः पदवीम् अनु उर्वीः विमानपङ्क्तीः प्राप्य तत्पूर्वम् वप्रान्तस्खलितविवर्तनम् प्रतिविदधे ।। ११ ।।

सम्भिन्नैरिति ।। इभतुरगावगाहनेन हस्त्यश्वावलोडनेन सम्भिन्नैः संक्षुभितैः सुरापगायाः पयोभिः कर्तृभिः । पदवीमनु । पदव्यामित्यर्थः । 'लक्षणेत्थंभूत—' इत्यादिना कर्मप्रवचनीयत्वाद् द्वितीया । उर्वीर्विपुला विमानपङ्क्तीः प्राप्य । तदेव पूर्वं तत्पूर्वमिदं प्रथमं यथा तथाकाशगङ्गायास्तटाभावादिति भावः । वप्रान्तेषु रोधोभूमिषु स्खलितानि तैर्विवर्तनं प्रत्यावृत्तिर्वप्रान्तस्खलितविवर्तनं तटान्तस्खलनप्रतिवर्तनम् । 'वप्रः पितरि केदारे वप्रः प्राकाररोधसोः' इति वैजयन्ती । प्रतिविदधे चक्र इत्यतिशयोक्तिः ।।११ ।।

हिन्दी—हाथियों और अश्वों को जलक्रीड़ा से क्षुब्ध देव नदी मन्दाकिनी के जल की लहरें (आकाश-मण्डल में खड़े हुए देवाङ्गनाओं के) विमानों की लंबी पङ्क्तियों के पास पहुँचकर सर्वप्रथम वार (किसी) रोकने वाले से टकरा कर वापस लौट पड़ीं ।। ११ ।।

विमर्श—आकाश में तटवर्ती भूमि कोई नहीं थी, इसलिये आकाश गंगा की लहरें पहले टकराकर वापस नहीं लौटती थीं किन्तु इस बार वे देवाङ्गनाओं की लम्बी रथ पङ्क्तियों से टकरा कर वापस लौट पड़ीं । यहाँ अतिशयोक्ति अलङ्कार है ।

क्रान्तानां ग्रहचरितात्पथो रथानामक्षाग्रक्षतसुरवेश्मवेदिकानाम् ।
निःसङ्गं प्रधिभिरुपाददे विवृत्तिः संपीडक्षुभितजलेषु तोयदेषु ।।१२ ।।

अन्वयः—ग्रहचरितात् पथः क्रान्तानाम् अक्षाग्रक्षतसुरवेश्मवेदिकानाम् रथानाम् प्रधिभिः संपीडक्षुभितजलेषु तोयदेषु निःसङ्गम् विवृत्तिः उपाददे ।। १२ ।।

क्रान्तानामिति ।। ग्रहैः सूर्यादिभिश्चरितादाश्रितात् । कर्मणि क्तः । पथो मार्गात्क्रान्तानां निष्क्रान्तानामक्षाश्चक्राधारा दारुविशेषास्तेषामग्रैः क्षता दारिताः सुरवेश्मवेदिका यैस्तेषां रथानां प्रधिभिर्नेमिभिश्चक्रान्तैः । 'चक्रं रथाङ्गं तस्यान्ते नेमिः स्त्री स्यात्प्रधिः पुमान्' इत्यमरः । संपीडेन नोदनेन क्षुभितानि जलानि येषां तेषु तोयदेषु

निःसङ्गमप्रतिघातं यथा तथा विवृत्तिः परिभ्रमणमुपाददे स्वीकृतेत्यतिशयोक्तिः स्वभावोक्त्या संसृज्यते ॥ १२ ॥

हिन्दी—सूर्य आदि ग्रहों द्वारा आश्रित मार्ग को पार करके अपने चक्कों की धुरियों के अग्रभाग से दोनों ओर के देव-भवनों के चबूतरों को तोड़ते-फोड़ते हुए उन अप्सराओं के रथ पहियों की रगड़ से बादलों के जल को क्षुब्ध करते हुए बड़े वेग से आगे बढ़ने लगे ॥ १२ ॥

विमर्श—यहाँ अतिशयोक्ति अलङ्कार है ।

तप्तानामुपदधिरे विषाणभिन्नाः प्रह्लादं सुरकरिणां घनाः क्षरन्तः ।
युक्तानां खलु महतां परोपकारे कल्याणी भवति रुजत्स्वपि प्रवृत्तिः ॥१३॥

अन्वयः—विषाणभिन्नाः क्षरन्तः घनाः तप्तानाम् सुरकरिणाम् प्रह्लादम् उपदधिरे। परोपकारे युक्तानाम् महताम् रुजत्स्वपि कल्याणी खलु प्रवृत्तिः भवति ॥ १३ ॥

तप्तानामिति ॥ विषाणभिन्ना गजदन्तक्षताः । 'विषाणं दन्तशृङ्गयोः' इति हलायुधः । अतएव क्षरन्तः स्रवन्तो घनास्तप्तानां सुरकरिणां प्रह्लादमुपदधिरे चक्रिरे । तथाहि । परोपकारे युक्तानामासक्तानां महतां सतां रुजत्स्वपि पीडयत्स्वपि विषये कल्याणी हितकारिणी खलु प्रवृत्तिर्व्यापारो भवतीत्यर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः । ततो युक्तं मेघानां गजदन्तक्षतानामपि तदाह्लादकत्वमिति भावः ॥ १३ ॥

हिन्दी—(हाथियों के) दाँतों से क्षत-विक्षत होने के कारण जल बिन्दु बरसाने वाले बादलों ने सन्तप्त देवगजों को खूब प्रसन्न किया । सच है, परोपकार-परायण महापुरुषों का यह स्वभाव ही है कि वे अपने को पीड़ा पहुँचाने वाले का भी कल्याण ही करते हैं ॥ १३ ॥

विमर्श—यहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ।

संवाता मुहुरनिलेन नीयमाने दिव्यस्त्रीजघनवरांशुके विवृत्तिम् ।
पर्यस्यत्पृथुमणिमेखलांशुजालं सञ्जज्ञे युतकमिवान्तरीयमूर्वोः ॥ १४ ॥

अन्वयः—संवाता अनिलेन दिव्यस्त्रीजघनवरांशुके विवृत्तिम् मुहुः नीयमाने पर्यस्यत्पृथुमणिमेखलांशुजालम् ऊर्वोः युतकम् इव अन्तरीयम् सञ्जज्ञे ॥ १४ ॥

संवातेति ॥ संवाता संवहता । वातेर्गत्यर्थाच्छतृप्रत्ययः । अनिलेन । कामिनेवेति भावः । दिव्यस्त्रीणां जघनेषु वरं श्रेष्ठं यदंशुकं तस्मिन्विवृत्तिमपसारं मुहुर्नीयमाने सति पर्यस्यत्प्रसर्पत्पृथु विशालं मणिमेखलांशुजालमूर्वोर्युतकं चल्लनाख्यमिव। 'युतकं संश्रये युग्मे यौतके चल्लनेऽपि च' इति विश्वः । अन्तरे भवमन्तरीयमधोंशुकम् । 'गहादिभ्यश्च' इति छप्रत्ययः । 'अन्तरीयोपसंव्यानपरिधानान्यधोंशुके' इत्यमरः । सञ्जज्ञे सञ्जातम् । जनिधातोः कर्तरि लिट् । उत्प्रेक्षालङ्कारः ॥ १४ ॥

हिन्दी—(तेजी से) चलने वाली वायु द्वारा (कामुक की भाँति) देवाङ्गनाओं के जघन-स्थलों को ढँकने वाले सुन्दर वस्त्रों के बारम्बार उड़ा देने पर रत्नों की मेखला से चमकती हुई कान्तियों के बृहत् समूह उनके दोनों जंघों को ढँकने के लिए मानों लँहगे की तरह बन गये ।। १४ ।।

विमर्श—यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ।

प्रत्यार्द्रीकृततिलकास्तुषारपातैः प्रह्लादं शमितपरिश्रमा दिशन्तः ।
कान्तानां बहुमतिमाययुः पयोदा नाल्पीयान् बहु सुकृतं हिनस्ति दोषः ।। १५ ।।

अन्वयः—तुषारपातैः प्रत्यार्द्रीकृततिलकाः शमितपरिश्रमाः प्रह्लादम् दिशन्तः पयोदाः कान्तानाम् बहुमतिम् आययुः । अल्पीयान् दोषः बहुसुकृतम् न हिनस्ति ।

प्रतीति ।। तुषारपातैः शीकरवर्षैः। 'तुषारौ हिमशीकरौ' इति विश्वः । प्रत्यार्द्रीकृततिलका मार्जितविशेषका अपि शमितपरिश्रमाः प्रह्लादमानन्दं दिशन्तः पयोदाः कान्तानाम् । कर्तरि षष्ठी । बहुमतिं सम्मानमाययुः । तथाहि । अल्पीयानल्पो दोषो बहु प्रभूतं सुकृतमुपकारं न हिनस्ति न हन्ति । अर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः ।।१५ ।।

हिन्दी—सूक्ष्म जल-बिन्दुओं की वर्षा करके देवाङ्गनाओं के तिलकों को मिटा कर भी उनकी थकावट को दूर कर आनन्दित करने वाले मेघवृन्द देवाङ्गनाओं के सम्मान के पात्र बन गए । सच है, थोड़ा-सा अपराध बड़े उपकार को नष्ट नहीं करता ।। १५ ।।

विमर्श—यहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ।

यातस्य ग्रथिततरङ्गसैकताभे विच्छेदं विपयसि वारिवाहजाले ।
आतेनुस्त्रिदशवधूजनाङ्गभाजां सन्धानं सुरधनुषः प्रभा मणीनाम् ।। १६ ।।

अन्वयः—ग्रथिततरङ्गसैकताभे विपयसि वारिवाहजाले विच्छेदम् यातस्य सुरधनुषः त्रिदशवधूजनाङ्गभाजाम् मणीनाम् प्रभाः संधानम् आतेनुः ।। १६ ।।

यातस्येति । ग्रथिततरङ्गं बद्धोर्मि यत्सैकतं तस्यामेवाभा यस्य तस्मिन्विगतानि पयांसि यस्मात्तस्मिन्विपयसि निर्जले। 'शेषाद्विभाषा' इत्यादिना विकल्पान्न समासान्तः। उरःप्रभृतिपाठस्तु पयःशब्दस्यैकवचनान्तस्यैवेति न कश्चिद्विरोधः। वारिवाहजाले मेघवृन्दे विच्छेदं त्रुटिं यातस्य सुरधनुष इन्द्रचापस्य त्रिदशवधूजनाङ्गभाजां मणीनाम् । तरङ्गसङ्गिविभूषामणीनामित्यर्थः । प्रभाः कान्तयः सन्धानमातेनुश्चक्रुः । अत्राभरणप्रभाणामिन्द्रधनुःसन्धानासम्बन्धेऽपि सम्बन्धाभिधानादतिशयोक्तिरलङ्कारः ।

हिन्दी—तरङ्गों के चिह्नों से सुशोभित बालुकामय प्रदेशों की भाँति दिखाई पड़ने वाले निर्जल मेघ-मण्डलों पर खण्डित होने के कारण सम्पूर्ण रूप से न दिखाई पड़ने वाले इन्द्रधनुष को, देवाङ्गनाओं के शरीर पर अलङ्कृत मणियों की कान्तियों से पूर्णता प्राप्त हो गयी ।। १६ ।।

विमर्श—यहाँ अतिशयोक्ति अलङ्कार है ।

संसिद्धाविति करणीयसन्निबद्धैरालापैः पिपतिषतां विलंघ्य वीथीम् ।
आसेदे दशशतलोचनध्वजिन्या जीमूतैरपिहितसानुरिन्द्रकीलः ।।१७ ।।

अन्वयः—संसिद्धौ इति करणीयसंनिबद्धैः आलापैः दशशतलोचनध्वजिन्या पिपतिषताम् । वीथीम् विलंघ्य जीमूतैः अपिहितसानुरिन्द्रकीलः आसेदे ।। १७ ।।

संसिद्धाविति ।। संसिद्धौ कार्यसिद्धिविषय इतीत्थम्भाविना प्रकारेण । कर्तव्यमिति करणीयं तेन संनिबद्धैः । संयोजितैरित्यर्थः । आलापैराभाषणैरुपलक्षितया । 'स्यादाभाषणमालापः' इत्यमरः । दशशतानि संख्या येषु तानि लोचनानि यस्य सः । सहस्रलोचन इत्यर्थः । तस्य ध्वजिन्या सेनया पिपतिषतां पक्षिणां वीथीं मार्गम् । 'पित्सन्तो नभसङ्गमाः' इत्यमरः । 'तनिपति—' इत्यादिना विकल्पादिडागमः । विलङ्घ्य जीमूतैर्जीवस्योदकस्य मूतः पटबन्धो येषां तैः । पृषोदरादित्वात्साधुः । अपिहितसानुराच्छादिततटः । उन्नत इत्यर्थः । इन्द्रकील आसेदे प्राप्तः । सीदतेः कर्मणि लिट् ।।१७ ।।

हिन्दी—कार्यसिद्धि के सम्बन्ध में क्याक्या करना चाहिए — इस प्रकार की बातें करते हुई इन्द्र की वह सेना, पक्षियों के मार्ग को पार करके उस इन्द्रकील गिरि के ऊपर पहुंच गयी, जिसके शिखरों पर बादल छाए हुए थे ।। १७ ।।

आकीर्णा मुखनलिनैर्विलासिनीनामुद्धूतस्फुटविशदातपत्रफेना ।
सा तूर्यध्वनितगभीरमापतन्ती भूभर्तुः शिरसि नभोनदीव रेजे ।।१८ ।।

अन्वयः—विलासिनीनाम् मुखनलिनैः आकीर्णा उद्धूतस्फुटविशदातपत्रफेना तूर्यध्वनितगभीरम् भूभर्तुः शिरसि आपतन्ती सा नभोनदी इव रेजे ।। १८ ।।

आकीर्णेति ।। विलासिनीनां मुखनलिनैः । उपमितसमासः । आकीर्णा व्याप्ता उद्धूतान्यूर्ध्वमुत्क्षिप्तानि स्फुटान्यसङ्कुचितानि विशदातपत्राणि श्वेतच्छत्राणि फेना इव यस्यास्तथोक्ता तूर्यध्वनितैर्वाद्यघोषैर्गभीरं यथा स्यात् तथा भूभर्तुरिन्द्रकीलस्य शिरस्यापतन्ती सा सेना नभोनदीव रेजे ।।१८ ।।

हिन्दी—उन देवाङ्गनाओं के मुख-रूपी कमलों से व्याप्त, ऊपर उठी हुई छतरियों-रूपी फेनों से युक्त तथा मृदंगादि वाद्यों की ध्वनि-रूपी गंभीर शब्दों से युक्त, इन्द्रकील के शिखर पर उतरती हुई वह देवसेना आकाश-गंगा की भाँति सुशोभित हुई ।। १८ ।।

विमर्श—रूपक से अनुप्राणित यहाँ उपमा अलङ्कार है ।

सेतुत्वं दधति पयोमुचां विताने संरम्भादभिपततो रथाङ्गवेन ।
आनिन्युर्नियमितरश्मिभुग्नघोणाः कृच्छ्रेण क्षितिमवनामिनस्तुरङ्गाः ।।१९ ।।

अन्वयः—पयोमुचाम् विताने सेतुत्वम् दधति संरम्भाद् जवेन अभिपततः रथान् नियमितरश्मिभुग्नघोणाः अवनामिनः तुरङ्गाः कृच्छ्रेण क्षितिम् आनिन्युः ।। १९ ।।

सेतुत्वमिति ।। पयोमुचां विताने सेतुत्वं दधति सति संरम्भादाटोपाज्जवेनाभिपततः । मेघवृन्दमधरीकृत्य धावत इत्यर्थः । तथाभूतान्रथान्नियमितैराकृष्टै रश्मिभिः प्रग्रहैर्भुग्ना आकुञ्चिता घोणाः प्रोथा येषां तैः । 'कुञ्चितं नतम् । आविद्धं कुटिलं भुग्नं वेल्लितं वक्रम्' इत्यमरः । 'किरणप्रग्रहौ रश्मी' इत्यमरः । 'घोणा तु प्रोथमस्त्रियाम्' इत्यमरः । अवनमन्तीत्यवनामिनोऽवनतपूर्वकायास्तुरङ्गाः कृच्छ्रेण महता प्रयत्नेन क्षितिमानिन्युरिति स्वभावोक्तिः ।।१९ ।।

हिन्दी—बादलों के वितानों के पुल की भाँति स्थिर होने से उनके ऊपर से (ढालू होने के कारण) अन्यन्त वेग से नीचे उतरते हुए रथों को उनके अश्वों ने बड़ी कठिनाई से धरती तक पहुँचाया । उस समय लगाम के अत्यधिक खींचे जाने के कारण उनकी नासिक का अगला भाग टेढ़ा हो गया था और वे सम्पूर्ण अङ्गों का भार अपने अगले अङ्गों पर सँभाले हुए थे ।। १९ ।।

विमर्श—यहाँ स्वभावोक्ति अलङ्कार है ।

माहेन्द्रं नगमभितः करेणुवर्याः पर्यन्तस्थितजलदा दिवः पतन्तः ।
सादृश्यं निलयननिष्प्रकम्पपक्षैराजग्मुर्जलनिधिशायिभिर्नगेन्द्रैः ।। २० ।।

अन्वयः—माहेन्द्रम् नगम् अभितः दिवः पतन्तः पर्यन्तस्थितजलदाः करेणुवर्याः निलयननिष्प्रकम्पपक्षैः जलनिधिशायिभिः नगेन्द्रैः सादृश्यम् आजग्मुः ।। २० ।।

माहेन्द्रमिति ।। माहेन्द्रं नगमभित इन्द्रकीलाभिमुखम् । 'अभितः परितः—' इत्यादिना द्वितीया । दिवोऽन्तरिक्षात्पतन्तोऽवतरन्तः पर्यन्तस्थिताः पार्श्वस्था जलदा येषां ते करेणुवर्याः करेणुषु वर्याः । श्रेष्ठा इत्यर्थः । 'न निर्धारणे' इति षष्ठीसमासनिषेधात् 'सप्तमी' इति योगविभागात्सप्तमीसमासः । निलयने स्थाने निष्प्रकम्पपक्षैर्निश्चलपत्रैर्जलनिधिशायिभिर्नगेन्द्रैर्मैनाकादिभिः सादृश्यमाजग्मुरित्युपमा ।। २० ।।

हिन्दी—इन्द्रकील गिरि के चारों तरफ आकाश से नीचे उतरते हुए, अगल-बगल में बादलों के खण्डों से युक्त श्रेष्ठ गजराज अपने स्थान पर निश्चल पंखों से युक्त, जल में शयन करने वाले मैनाक प्रभृति पर्वतों की समानता प्राप्त कर रहे थे ।। २० ।।

विमर्श—यहाँ उपमा अलङ्कार है ।

उत्संगे समविषमे समं महाद्रेः क्रान्तानां वियदभिपातलाघवेन ।
आमूलादुपनदि सैकतेषु लेभे सामग्री खुरपदवी तुरङ्गमाणाम् ।। २१ ।।

अन्वयः—महाद्रेः उत्सङ्गे समविषमे वियदभिपातलाघवेन समम् क्रान्तानाम् तुरङ्गमाणाम् खुरपदवी उपनदि सैकतेषु आमूलात् सामग्री लेभे ।। २१ ।।

उत्सङ्ग इति ।। महाद्रेरुत्सङ्गे मूर्ध्नि यत्समविषमं समं च विषमं च निम्नोन्नतं तस्मिन् । द्वन्द्वैकवद्भावः । वियदभिपातलाघवेन गगनसञ्चारपाटवेन सममेकरूपम् । आरोहावरोहरहितमित्यर्थः । क्रान्तानां गच्छतां तुरङ्गमाणां खुरपदवी खुरपङ्क्तिरुपनदि नदीसमीपे। 'अव्ययीभावश्च' इति नपुंसकत्वाद्ध्रस्वत्वम् । सैकतेष्वामूलान्मूलमारभ्य। आदित आरभ्येति यावत् । समग्रस्य भावः सामग्री साकल्यम् । भावे ष्यञ् । ङीप् । लेभे । सैकतादन्यत्र निम्नेषु गगनचारेण समखुरस्पर्शाभावाद्विच्छिन्ना खुरसरणिः । सैकतेषु तु सर्वत्र समत्वादविच्छिन्नेत्यर्थः ।। २१ ।।

हिन्दी—उस महान् पर्वत इन्द्रकील के ऊँचे-नीचे शिखर पर, आकाश में चलने की निपुणता के कारण चढ़ाव-उतार से रहित एक समान गति से चलने वाले अश्वों के खुरों के निशान, नदी तट के समीप बालुकामयी भूमि में आदि से लेकर अन्त तक सम्पूर्ण रूप से दिखाई पड़ने लगे ।। २१ ।।

विमर्श—तात्पर्य यह है जिन इन्द्रकील गिरि का शिखर ऊँचा-नीचा था, उस पर खुर रखकर चलने में कठिनाई थी, अतः आकाश में चलने में निपुण वे अश्व पर्वत शिखर से दस-पाँच अंगुल ऊपर ही ऊपर चलते रहे, किन्तु जब वे नदी के बालुकामय तट-प्रदेशों में आए तो पूरी खुर रखकर चलने लगे, जिससे आदि से लेकर अन्त तक उनके खुर के निशान दिखाई पड़ रहे थे ।

सध्वानं निपतितनिर्झरासु मन्द्रैः सम्मूर्च्छन्प्रतिनिनदैरधित्यकासु ।
उद्ग्रीवैर्घनरवशङ्कया मयूरैः सोत्कण्ठं ध्वनिरुपशुश्रुवे रथानाम् ।। २२ ।।

अन्वयः—सध्वानम् निपतितनिर्झरासु अधित्यकासु मन्द्रैः प्रतिनिनदैः संमूर्च्छन् रथानां ध्वनिः घनरवशङ्कया उद्ग्रीवैः मयूरैः सोत्कण्ठम् उपशुश्रुवे ।। २२ ।।

सध्वानमिति ।। सध्वानं सशब्दं निपतिता निर्झराः प्रवाहा यासु तासु । 'प्रवाहो निर्झरो झरः' इत्यमरः। अधित्यकासु नगोर्ध्वभूमिषु । 'भूमिरूर्ध्वमधित्यका' इत्यमरः। 'उपाधिभ्यां—' इत्यादिना त्यकन्प्रत्ययः । मन्द्रैर्गम्भीरैः । 'मन्द्रस्तु गम्भीरे' इत्यमरः । प्रतिनिनदैः प्रतिध्वानैः सन्मूर्च्छन्वर्धमानो रथानां ध्वनिर्घनरवशङ्कया मेघगर्जितभ्रमेणेति भ्रान्तिमदलङ्कारः । उद्ग्रीवैर्मयूरैः सोत्कण्ठमुपशुश्रुवे उपश्रुतः । शृणोतेः कर्मणि लिट् ।

हिन्दी—शब्द करते हुए प्रवाहित होने वाले झरनों से युक्त उस इन्द्रकील पर्वत की अधित्यका में गम्भीर प्रतिध्वनि से प्रवर्द्धित रथों की घड़घड़ाहट को, बादलों के गरजने के भ्रम में पड़कर गरदन ऊपर उठाकर देखने वाले मयूरों ने उत्कण्ठापूर्वक सुना ।। २२ ।।

विमर्श—यहाँ भ्रान्तिमान् अलङ्कार है ।

सम्भिन्नामविरलपातिभिर्मयूखैर्नीलानां भृशमुपमेखलं मणीनाम् ।
विच्छिन्नामिव वनिता नभोऽन्तराले वप्राम्भःस्रुतिमवलोकयां बभूवुः ।। २३ ।।

अन्वयः—उपमेखलं नीलानां मणीनां अविरलपातिभिः मयूखैः भृशं सम्भिन्नां वप्राम्भःस्रुतिम् वनिताः नभोन्तराले विच्छिन्नाम् इव अवलोकयाम्बभवुः ।। २३ ।।

संभिन्नामिति ।। अविरलपातिभिर्निरन्तरप्रसारिभिरुपमेखलम् । तटेष्वित्यर्थः । 'अथ मेखला । श्रोणिस्थानेऽद्रिकटके कटिबन्धेऽसिबन्धने' इति यादवः । नीलानां मणीनां मयूखैर्भृशं संभिन्नामेकीभूतामत एव नभोन्तराले विच्छिन्नामिव स्थितामित्युत्प्रेक्षा । वप्राम्भःस्रुतिं वप्रोदकधारां वनिता अवलोकयाम्बभूवुः । वप्राम्भःस्रुतेः स्वधवलिमत्यागेनेन्द्रनीलानां नीलिमस्वीकाररूपतद्गुणोत्थापिता विच्छेदोत्प्रेक्षेति तयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः । तेन च नैल्यविच्छेदभ्रमरूपो भ्रान्तिमान्व्यज्यते ।। २३ ।।

हिन्दी—इन्द्रकील पर्वत के तट-प्रान्त में स्थित नीलम मणि की निरन्तर प्रकाशमान किरणों से मिलकर अत्यन्त नीले वर्ण के शिखरों से गिरने वाली जलधाराओं को अप्सराओं ने आकाश के मध्य-भाग में बीच से गुप्त (छिपी हुई) के समान देखा ।। २३ ।।

विमर्श—नीलम मणि की किरणें शिखरों से गिरती हुई जलधारा को भी नीला बना देती थीं, जिसके कारण वे नीले आकाश में लुप्त-सी हो जाती थीं । तद्गुण अलङ्कार से उत्थापित उत्प्रेक्षा है । दोनों अलङ्कारों का अङ्गीभाव से सङ्कर और भ्रान्तिमान् की व्यञ्जना है ।

आसन्नद्विपपदवीमदानिलाय क्रुध्यन्तो धियमवमत्य धूर्गतानाम् ।
सव्याजं निजकरिणीभिरात्तचित्ताः प्रस्थानं सुरकरिणः कथञ्चिदीषुः ।। २४ ।।

अन्वयः—धूर्गतानाम् धियम् अवमत्य आसन्नद्विपपदवीमदानिलाय क्रुध्यन्तः सव्याजम् निजकरिणीभिः आत्तचित्ताः सुरकरिणः प्रस्थानम् कथञ्चित् ईषुः ।।

आसन्नेति ।। धुरं गतास्तेषां धूर्गतानां नियन्तॄणां धियमवमत्यावज्ञायासन्नायां द्विपपदव्यां वनगजमार्गे यो मदानिलस्तस्मै क्रुध्यन्तस्तं प्रति कुप्यन्तः । 'क्रुधद्रुह—' इत्यादिना सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी । सव्याजं सकपटं निजकरिणीभिरात्तचित्ता आकृष्टचित्ताः सुरकरिणो देवनागाः प्रस्थानं गमनं कथञ्चित्कष्टेनेषुरभिलेषुः ।। २४ ।।

हिन्दी—हथवानों की अवज्ञा कर समीपस्थ जंगली हाथियों के मार्ग में आने वाली मदजल की सुगन्ध के प्रति क्रुद्ध, एवं फिर अपनी-अपनी हथिनियों द्वारा बहलाए जाने पर आकृष्ट होने वाले देव गजराज बड़ी कठिनाई से किसी प्रकार आगे चलने के लिए राजी किए गए ।। २४ ।।

विमर्श—जब महावत हथिनियों को उन क्रुद्ध हाथियों के आगे कर देते थे तब वे किसी तरह आगे बढ़ने के लिए तेयार होते थे ।

नीरन्ध्रं पथिषु रजो रथाङ्गनुन्नं पर्यस्यन्नवसलिलारुणं वहन्ती ।
आतेने वनगहनानि वाहिनी सा घर्मान्तक्षुभितजलेव जह्नुकन्या ।। २५ ।।

अन्वयः—नीरन्ध्रम् पथिषु रथाङ्गनुन्नम् पर्यस्यन्नवसलिलारुणम् रजः वहन्ती सा वाहिनी धर्मान्तक्षुभितजला जह्नुकन्या इव वनगहनानि आतेने ।। २५ ।।

नीरन्ध्रमिति ।। नीरन्ध्रं सान्द्रं पथिषु रथाङ्गैश्चक्रैर्नुन्नं प्रेरितम् । 'नुत्तनुन्नास्तनिष्ठ्यूताविद्धक्षिप्तेरिताः समाः' इत्यमरः । पर्यस्यत्प्रसर्पन्नवसलिलमिवारुणं रजो वहन्ती सा वाहिनी सेना । धर्मान्ते प्रावृषि क्षुभितजला । कलुषोदकेत्यर्थः । जह्नुकन्या गङ्गेव । वनानि फलकुसुमप्रधानानि, गहनानि जीर्णारण्यानि च तानि वनगहनान्यातेने व्यानशे। अत्र समासगतवाक्यगतोपमयोः सजातीययोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः ।। २५ ।।

हिन्दी—मार्ग में रथ के चक्कों से उठकर अत्यन्त सघन रूप में उड़ती हुई, नूतन अर्थात् गँदले जल की तरह अरुण वर्ण की धूलों से ढँकी हुई वह देवाङ्गनाओं की सेना वर्षा ऋतु के गँदले जल वाली गङ्गा की तरह फल फूलों से युक्त एवं पुराने भयङ्कर जंगलों वाले उस पर्वतीय प्रदेश में फैल गयी ।। २५ ।।

विमर्श—यहाँ उपमा अलङ्कार है ।

सम्भोगक्षमगहनामथोपगङ्गं बिभ्राणां ज्वलितमणीनि सैकतानि ।
अध्यूषुश्च्युतकुसुमाचितां सहाया वृत्रारेरविरलशाद्वलां धरित्रीम् ।। २६ ।।

अन्वयः—अथ वृत्रारेः सहायाः उपगङ्गम् सम्भोगक्षमगहनाम् ज्वलितमणीनि सैकतानि बिभ्राणाम् च्युतकुसुमाचिताम् अविरलशाद्वलाम् धरित्रीम् अध्यूषुः ।। २६ ।।

सम्भोगेति ।। अथ वृत्रारेः शक्रस्य सहायाः सचिवा गन्धर्वा उपगङ्गं गङ्गासमीपे। अव्ययीभावस्य नपुंसकत्वाद्ध्रस्वत्वम् । सम्भोगक्षमगहनामुपभोगयोग्यवनां ज्वलिता मणयो येषु तानि सैकतानि बिभ्राणाम् । भृञः कर्तरि लटः शानच् । च्युतैः स्वयं पतितैः कुसुमैराचितां व्याप्तामविरलाः सान्द्राः शाद्वलाः शादप्रायप्रदेशा यस्यां सा तां धरित्रीमध्यूषुरधितस्थुः । वसतेर्यजादित्वात्सम्प्रसारणम् । अत्र धरित्रीविशेषणार्थानामधिवासहेतुत्वादनेकपदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः ।। २६ ।।

हिन्दी—तदनन्तर वृत्रासुर के शत्रु देवराज इन्द्र के उन सहायकों ने गङ्गा के समीप, निवासादि के लिए उपयोगी, उज्ज्वल मणियों से युक्त बालुकामय तट प्रदेश से सुशोभित, वृक्षों से गिरे हुए पुष्पों से व्याप्त एवं सघन हरी घासों से मनोहर धरती पर अपना आवास स्थल बनाया ।। २६ ।।

विमर्श—यहाँ काव्यलिङ्ग अलङ्कार है ।

भूभर्तुः समधिकमादधे तदोर्व्याः श्रीमत्तां हरिसखवाहिनीनिवेशः ।
संसक्तौ किमसुलभं महोदयानामुच्छ्रायां नयति यदृच्छयापि योगः ।। २७ ।।

अन्वयः—तदा हरिसखवाहिनीनिवेशः भूभर्तुः उर्व्याः समधिकम् श्रीमत्ताम् आदधे । महोदयानाम् संसक्तौ किमसुलभम् । यदृच्छया योगः अपि उच्छ्रायम् नयति ।

भूभर्तुरिति ।। तदा हरिसखवाहिनीनिवेशो गन्धर्वसेनाशिविरम् । 'निवेशः

शिविरोद्वाहविन्यासेषु प्रकीर्तितः' इति शाश्वतः। भूभर्तुः पर्वतस्योर्व्याः समधिकं पूर्वस्मादभ्यधिकं यथा तथा श्रीमत्ताम् ।श्रियमित्यर्थः । आदधे जनयामास । तथा हि महोदयानां महात्मनां संसक्तौ सम्यक्सम्बन्धे। 'सम्भक्तौ' इति पाठे तु सम्यक्सेवायाम्। किमसुलभम् । न किञ्चिद्दुर्लभमित्यर्थः । यतः—यदृच्छया दैवाद्योगोऽप्युच्छ्रायमुत्कर्षं नयति। अत्र प्रकृतयदृच्छया योगस्योत्कर्षाभिधानादप्रकृतशक्तियोगस्योत्कर्षाधायकत्वे कैमुतिकन्यायेनार्थापत्तिरिति प्राकरणिकादप्राकरणिकरूपार्थापत्तिरलङ्कारः । तदुक्तम् —'एकस्य वस्तुनो भावाद्यत्र वस्त्वन्यथा पतेत् । कैमुत्येन यतः सा स्यादर्थापत्तिरलङ्क्रिया ।।' इति ।। २७ ।।

हिन्दी—उस समय गन्धर्वों की सेना के उस शिविर ने इन्द्रकील गिरि की उस धरती की पूर्व की अपेक्षा अधिक श्रीवृद्धि की । सच है, महान् पुरुषों का सम्पर्क होने पर कौन सी वस्तु दुर्लभ है, उनका आकस्मिक सम्पर्क भी उत्कर्ष की प्राप्ति कराता है ।। २७ ।।

विमर्श—यहाँ अर्थापत्ति अलङ्कार है ।

सामोदाः कुसुमतरुश्रियो विविक्ताः सम्पत्तिः किसलयशालिनीलतानाम् ।
साफल्यं ययुरमराङ्गनोपभुक्ताः सा लक्ष्मीरुपकुरुते यया परेषाम् ।। २८ ।।

अन्वयः—सामोदाः कुसुमतरुश्रियः विविक्ताः किसलयशालिनीलतानाम् सम्पत्तिः अमराङ्गनोपभुक्ताः साफल्यम् ययुः । यया परेषाम् उपकुरुते सा लक्ष्मीः ।। २८ ।।

सामोदा इति ।। सामोदाः ससौरभाः कुसुमप्रधानास्तरवः । शाकपार्थिवादिषु द्रष्टव्यः । तेषां श्रियः समृद्धयो विविक्ता विजनप्रदेशाः । विविक्तविजनच्छन्ननिःशलाकास्तथा रहः' इत्यमरः । किसलयशालिनीलतानां नवपल्लवयुतवल्लीनां सम्पत्तिरेता अमराङ्गनोपभुक्ताः सत्यः साफल्यं ययुः । तथा हि । यया लक्ष्म्या करणेन परेषामुपकुरुते । लक्ष्मीवानिति शेषः । सा लक्ष्मीर्नान्येति भावः । परेषामित्यत्र 'अनुकरोति भगवतो नारायणस्य' इत्यादिवत्क्रियायोगे हि सम्बन्धसामान्ये षष्ठी ।। २८ ।।

हिन्दी—सुगन्ध से युक्त पुष्प-प्रधान वृक्षों की शोभा, निर्जन प्रदेश, और नूतन पल्लवों से सुशाभित होने वाली लताओं की सम्पत्ति ये सब सुररमणियों से उपभुक्त होकर सफल हो गयीं । सच है, जिससे दूसरों का उपचार हो वही लक्ष्मी है ।। २८ ।।

विमर्श—अर्थात् जिसके द्वारा दूसरे का कल्याण न हो वह लक्ष्मी लक्ष्मी नहीं है । यहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ।

क्लान्तोऽपि त्रिदशवधूजनः पुरस्ताल्लीनाहिश्वसितविलोलपल्लवानाम् ।
सेव्यानां हतविनयैरिवावृतानां सम्पर्कं परिहरति स्म चन्दनानाम् ।। २९ ।।

अन्वयः—क्लान्तोऽपि त्रिदशवधूजनः पुरस्तात् लीनाहिश्वसितविलोलपल्लवानाम् सेव्यानाम् चन्दनानाम् सम्पर्कम् हतविनयैः आवृतानाम् इव परिहरति स्म ।।२९।।

क्लान्त इति ।। क्लान्तोऽपि त्रिदशवधूजनः पुरस्तादग्रे लीनानां संश्रितानामहीनां श्वसितैर्निश्वासैर्विलोलाः पल्लवा येषां तेषां चन्दनानां सम्पर्कं हतविनयैर्दुर्जनैःखलैरावृतानां संवृतानां सेव्यानां प्रभूणां सम्पर्कमिव परिहरति स्म । दुष्टवद्दुष्टसंसृष्टा गुणाढ्या अपि त्याज्या इति भावः ।। २९ ।।

हिन्दी—थकी होने पर भी दिवाङ्गनाएँ अपने आगे खड़े हुए, लिपटे हुए सर्पों की फूत्कार से चञ्चल पल्लवों वाले सेवनीय चन्दन वृक्षों के समीप उसी प्रकार से नहीं गयीं जिस प्रकार से दुर्जनों से घिरे हुए सज्जनों के पास लोग नहीं जाते ।।२९।।

विमर्श—यहाँ उपमा अलङ्कार है ।

उत्सृष्टध्वजकुथकङ्कटा धरित्रीमानीता विदितनयैः श्रमं विनेतुम् ।
आक्षिप्तद्रुमगहना युगान्तवातैः पर्यस्ता गिरय इव द्विपा विरेजुः ।। ३० ।।

अन्वयः—विदितनयैः उत्सृष्टध्वजकुथकङ्कटाः श्रमम् विनेतुम् धरित्रीम् आनीताः द्विपाः युगान्तवातैः आक्षिप्तद्रुमगहनाः पर्यस्ताः गिरयः इव विरेजुः ।। ३० ।।

उत्सृष्टेति ।। उत्सृष्टा आक्षिप्ता ध्वजाः कुथा आस्तरणानि कङ्कटास्तनुत्राणानि च येभ्यस्ते । 'प्रवेण्यास्तरणं वर्णः परिस्तोमः कुथोः द्वयोः' इत्यमरः । विदितनयैः शिक्षाभिज्ञैर्यन्तृभिः श्रमं विनेतुं क्लममपनेतुं धरित्रीमानीताः । निवेश्यमाना इत्यर्थः । द्विपा युगान्तवातैराक्षिप्तान्युद्धृतानि द्रुमाणां गहनानि वनानि येभ्यस्ते पर्यस्ता विपर्यासिता गिरय इव विरेजुः शुशुभिरे ।। ३० ।।

हिन्दी—गज-शिक्षा में निपुण महावतों द्वारा थकावट दूर करने के लिए जिन पर से ध्वजा, झूल, हौदा आदि सामग्रियाँ उतार कर भूमि पर रख दी गई थीं, वे गज प्रलयकाल के झंझावात से उखाड़ कर फेंके गये झाड़-झंखाड़ से विहीन पर्वतों के समान सुशोभित हो रहे थे ।। ३० ।।

विमर्श—यहाँ उपमा अलङ्कार है ।

प्रस्थानश्रमजनितां विहाय निद्रामामुक्ते गजपतिना सदानपङ्के ।
शय्यान्ते कुलमलिनां क्षणं विलीनं संरम्भच्युतमिव शृङ्खलं चकाशे ।। ३१ ।

अन्वयः—गजपतिना प्रस्थानश्रमजनिताम् निद्राम् विहाय आमुक्ते सदानपङ्के शय्यान्ते क्षणम् विलीनम् अलिनाम् कुलम् संरम्भच्युतम् शृङ्खलम् इव चकासे ।। ३१ ।।

प्रस्थानेति ।। गजपतिना प्रस्थानश्रमेण गमनक्लेशेन जनितां निद्रां विहायामुक्तेऽत एव सदानपङ्के गजमदयुक्ते शय्यान्ते शयनीयप्रदेशे क्षणं विलीनं लग्नमलिनां कुलं संरम्भेणोत्थानसम्भ्रमेण च्युतं भ्रष्टं शृङ्खलं निगडमिवेत्युत्प्रेक्षा । 'अथ शृङ्खले । अन्दुको निगडोऽस्त्री स्यात्' इत्यमरः । चकाशे शुशुभे ।। ३१ ।।

हिन्दी—(सेना का एक) गजराज जब मार्ग की थकावट से उत्पन्न निद्रा को छोड़कर मदजल के पंकिल अपने शयन-स्थल को त्याग कर चला, तब क्षणभर में

ही एकत्र (गन्धलोभी) भ्रमरों की पङ्क्ति वहाँ इस प्रकार से सुशोभित हुई मानों उस गजराज के वेग से टूटी हुई उसकी जञ्जीर हो ।। ३१ ।।

विमर्श—यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ।

आयस्तः सुरसरिदोघरुद्धवर्त्मा सम्प्राप्तुं वनगजदानगन्धिरोधः ।
मूर्धानं निहितशिताङ्कुशं विधुन्वन् यन्तारं न विगणयाञ्चकार नागः ।। ३२।।

अन्वयः—वनगजदानगन्धि रोधः सम्प्राप्तुम् आयस्तः सुरसरिदोघरुद्धवर्त्मानागः निहितशिताङ्कुशम् मूर्धानम् विधुन्वन् यन्तारम् न विगणयाञ्चकार ।। ३२ ।।

आयस्त इति ।। वनगजदानस्य गन्धोऽस्यास्तीति तथोक्तं रोधः । परकूलमित्यर्थः । सम्प्राप्तुं गन्तुमायस्त उत्सुकः । प्रयत्नं कुर्वाण इत्यर्थः । 'यसु प्रयत्ने' इति धातोः कर्तरि क्तः । किन्तु सुरसरिदोघेन गङ्गाप्रवाहेण रुद्धं वर्त्म यस्य सः । नागो गजो निहितो दत्तः शितस्तीक्ष्णोऽङ्कुशो यस्मिन् । 'अंकुशोऽस्त्री सृणिः स्त्रियाम्' इत्यमरः । तं मूर्धानं विधुन्वन् । रोषादिति भावः । यन्तारं न विगणयाञ्चकार न विगणयामास ।

हिन्दी—जङ्गली हाथी के मदजल की सुगन्ध से पूर्ण दूसरे तट पर जाने के लिए उत्सुक एक दूसरा गजराज देवनदी मन्दाकिनी के प्रवाह से मार्ग के रुद्ध हो जाने के कारण धँसाए हुए तीक्ष्ण अंकुश से युक्त अपने शिर को (क्रोध से) हिलाते हुए अपने महावत को तनिक भी नहीं गिन रहा था ।। ३२ ।।

आरोढुः समवनतस्य पीतशेषे साशङ्कं पयसि समीरिते करेण ।
सम्मार्जन्नरुणमदस्रुती कपोलौ सस्यन्दे मद इव शीकरः करेणोः ।। ३३ ।।

अन्वयः—समवनतस्य करेणोः करेण पीतशेषे पयसि आरोढुः साशङ्कम् समीरिते शीकरः अरुणमदस्रुती कपोलौ संमार्जन् मद इव सस्यन्दे ।। ३३ ।।

आरोढुरिति ।। समवनतस्य जलपानार्थमानतपूर्वकायस्य करेणोर्गजस्य । 'करेणुरिभ्या स्त्री नेभे;' इत्यमरः । करेण पीतस्य शेषे पयस्यारोढुर्हस्तिपकात्साशङ्कं सभयं समीरिते । क्षिप्ते सतीत्यर्थः । शीकरोऽम्बुकणः । अरुणे मदस्रुती मदधारे ययोस्तौ । कपोलौ संमार्जन् प्रमृजन् ।। 'मृजेरजादौ सङ्क्रमे विभाषावृद्धिर्वक्तव्या' इति वृद्धिः । मद इव सस्यन्दे सुस्राव । मदसंपृक्तस्य मदसादृश्यान्मदोपमा ।। ३३ ।।

हिन्दी—(नदी में पानी पीने के लिए) झुके हुए एक गजराज ने अपनी सूँड़ से जब पानी पी लिया तब अपने महावत को डरते हुए शेष पानी को उसने ऊपर की ओर उछाला । उस समय उसके फेंके हुए पानी की बूँदे लाल मद चुआने वाले उसके दोनों कपोलों को धोती हुई, मद की बूंदों के समान नीचे चूने लगीं ।। ३३ ।।

विमर्श—यहाँ उपमा अलङ्कार है ।

आघ्राय क्षणमतितृष्यतापि रोषादुत्तीरं निहितविवृत्तलोचनेन ।
सम्पृक्तं वनकरिणां मदाम्बुसेकैर्नाचेमे हिममपि वारि वारणेन ।। ३४ ।।

अन्वयः—अतितृष्यतापि वनकरिणाम् मदाम्बुसेकैः सम्पृक्तम् वारि क्षणम् आघ्राय रोषादुत्तीरम् निहितविवृत्तलोचनेन वारणेन हिमम् अपि नाचेमे ।। ३४ ।।

आघ्रायेति ।। अतितृष्यताप्यतिपिपासतापि क्षणमाघ्राय रोषादुत्तीरं परतीरे । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । निहिते विवृत्ते घूर्णिते लोचने यस्य तेन । प्रतिगजदिदृक्षयेति भावः । वारणेन हिमं शीतलमपि वनकरिणां मदाम्बुसेकैर्दानधाराभिः सम्पृक्तं वारि नाचेमे न पीतम् । 'चमु अदने' इति धातोः कर्मणि लिट् ।। ३४ ।।

हिन्दी—अत्यन्त प्यास से पीड़ित होने पर भी एक गजराज जंगली हाथी के मद से सुगन्धित जल को क्षणभर के लिए सूँघकर क्रोध से दूसरे तट की ओर आँखे फाड़-फाड़ कर घूरने लगा । किन्तु अत्यन्त शीतल होते हुए भी उस जल को उसने नहीं पिया ।। ३४ ।।

विमर्श—उसे प्रतिद्वन्द्वी हाथी के स्मरण से क्रोध आ गया और क्रोध आने पर बलवान् का भूख-प्यास की चिन्ता छोड़ देना स्वाभाविक ही है ।

प्रश्च्योतन्मदसुरभीणि निम्नगायाः क्रीडन्तो गजपतयः पयांसि कृत्वा ।
किञ्जल्कव्यवहितताम्रदानलेखैरुत्तेरुः सरसिजगन्धिभिः कपोलैः ।। ३५ ।।

अन्वयः—क्रीडन्ताः गजपतयः निम्नगायाः पयांसि प्रश्च्योतन्मदसुरभीणि कृत्वा किञ्जल्कव्यवहितताम्रदानलेखैः सरसिजगन्धिभिः कपोलैः उत्तेरुः ।। ३५ ।।

प्रश्च्योतदिति । क्रीडन्तो विहरन्तो गजपतयो निम्नगाया गङ्गायाः पयांसि प्रश्च्योतद्भिः क्षरद्भिर्मदैः सुरभीणि कृत्वा किञ्जल्कैः केसरैर्व्यवहितास्तिरोहितास्ताम्रा-सताम्रवर्णा दानलेखा मदराजयो येषु तैरत एव सरसिजगन्धिभिः कपोलैरुपलक्षिताः सन्त उत्तेरुर्निर्जग्मुः । अत्र मदसरसिजगन्धयोः समयोर्विनिमयोक्त्या समपरिवृत्ति-रलङ्कारः । तेन च गजानां निम्नगायाश्च परिमलव्यत्ययान्तरसंरम्भो व्यज्यते ।। ३५ ।।

हिन्दी—क्रीडा में निमग्न वे गजराज देवनदी गङ्गा के जल को अपने चूते हुए मदजल से सुगन्धित बनाकर, कमलों के पीले-पीले परागों से लाल वर्ण की मदरेखा को छिपाते हुए, कमल की सुगन्ध से पूरित कपोलों को लेकर बाहर निकले ।। ३५ ।।

विमर्श—यहाँ समपरिवृत्ति अलङ्कार है ।

आकीर्णं बलरजसा घनारुणेन प्रक्षोभैः सपदि तरङ्गितं तटेषु ।
मातङ्गोन्मथितसरोजरेणुपिङ्गं माञ्जिष्ठं वसनमिवाम्बु निर्बभासे ।। ३६ ।।

अन्वयः—घनारुणेन बलरजसा आकीर्णम् सपदि प्रक्षोभैः तटेषु तरङ्गितम् मातङ्गोन्मथितसरोजरेणुपिङ्गम् अम्बु माञ्जिष्ठम् वसनम् इव निर्बभासे ।। ३६ ।।

आकीर्णमिति ।। घनारुणेन सान्द्रलोहितेन । विशेषणसमासः । बलरजसा सेनापरागेणाकीर्णे सपदि प्रक्षोभैरालोडनैस्तटेषु तीरेषु तरङ्गितं सञ्जाततरङ्गम् । तारका-

दित्वादितच् । यद्वा । तरङ्गवत्कृतम् । मत्वन्तात् 'तत्करोति—' इति णिचि कर्मणि क्तः । णाविष्ठवद्भावान्मतुपो लुक् । तथा मातङ्गैरुन्मथितानां लुलितानां सरोजानां रेणुभिः पिङ्गं पिशङ्गमम्बु माञ्जिष्ठेन महारजनेनारक्तं माञ्जिष्ठं वसनमिव निर्बभासे 'तेन रक्तं—' इत्यण् । 'कौशेयम्' इति वा पाठे 'कोशाड्ढञ्'। 'कौशेयं कृमिकोशोत्थम्' इत्यमरः।

हिन्दी—अत्यन्त लाल रंग की सेना की धूल से भरा, (हाथियों के) स्नान से शीघ्र ही क्षुब्ध होकर तटों से टकराता हुआ, एवं गजराजों द्वारा विमर्दित कमलों के पीले परागों से मिश्रित वह देवनदी गंगा का जल मञ्जीठ के रंग में रँगे हुए वस्त्र की तरह सुशोभित होने लगा ।। ३६ ।।

विमर्श—यहाँ उपमा अलङ्कार है ।

श्रीमद्भिर्नियमितकन्धरापरान्तैः संसक्तैरगुरुवनेषु साङ्गहारम् ।
सम्प्रापे निसृतमदाम्बुभिर्गजेन्द्रैः प्रस्यन्दिप्रचलितगण्डशैलशोभा ।। ३७ ।।

अन्वयः—श्रीमद्भिः नियमितकन्धारापरान्तैः अगुरुवनेषु साङ्गहारम् संसक्तैः निसृतमदाम्बुभिः गजेन्द्रैः प्रस्यन्दिप्रचलितगण्डशैलशोभा सम्प्रापे ।। ३७ ।।

श्रीमद्भिरिति ।। श्रीमद्भिः शोभावद्भिर्नियमिताः कन्धरा अपरान्ताश्चरमपादाग्राणि च येषां तैः । 'अपरः पश्चिमः पादः' इति वैजयन्ती । अगुरुवनेषु साङ्गहारं साङ्गविक्षेपं यथा तथा संसक्तैर्निसृतानि प्रसृतानि मदाम्बूनि येषां तैर्गजेन्द्रैः प्रस्यन्दिनो जलस्राविणः प्रचलिता ये गण्डशैलाश्च्युतोपलास्तेषां शोभा सम्प्रापे प्राप्ता । कर्मणि लिट् । 'गण्डशैलास्तु च्युताः स्थूलोपला गिरेः' इत्यमरः । अत्रान्यशोभाप्राप्त्यसम्भवात्तत्सदृशी शोभेति प्रतिबिम्बत्वाक्षेपान्निदर्शनालङ्कारः ।। ३७ ।।

हिन्दी—अत्यन्त शोभायुक्त, पिछले पैर और कन्धों से अगुरु के वृक्षों में बँधे हुए और झूमते हुए कुछ गजराज, जिनके शरीर से मद-जल की धारा बह रही थी ऐसे पर्वतों की शोभा धारण कर रहे थे, जिनसे बड़ी बड़ी शिलाएँ टूट कर गिर रही हों और साथ ही जल की धारा भी चू रही हो ।। ३७ ।।

विमर्श—यहाँ निदर्शना अलङ्कार है ।

निःशेषं प्रशमितरेणु वारणानां स्रोतोभिर्मदजलमुज्झतामजस्रम् ।
आमोदं व्यवहितभूरिपुष्पगन्धो भिन्नैलासुरभिमुवाह गन्धवाहः ।। ३८ ।।

अन्वयः—स्रोतोभिः अजस्रम् निःशेषम् प्रशमितरेणु मदजलम् उज्झताम् वारणानाम् व्यवहितभूरिपुष्पगन्धः भिन्नैलासुरभिम् आमोदम् गन्धवाहः उवाह ।। ३८ ।।

निःशेषमिति ।। गन्धं वहतीति गन्धवाहो वायुः । कर्मण्यण् । विशेष यथा तथा प्रशमितो रेणुर्येन तन्मदजलं स्रोतोभिर्मदनाडीभिरजस्रमुज्झतां वर्षतां वारणानां सम्बन्धिनं व्यवहितस्तिरस्कृतो भूरिर्बहुलः पुष्पगन्धो येन सः । भिन्नाः फुल्ला एला लताविशेषाः । 'पृथ्वी का चन्द्रवालैला' इत्यमरः । तत्पुष्पाणि चैलाः । 'पुष्पेजातीप्रभृतयः

स्वलिङ्गा व्रीहयः फले' इत्यमरः। भिन्नैलावत्सुरभिं घ्राणेन्द्रियतर्पणमित्युपमा । आमोदं परिमलमुवाह वहति स्म ।। ३८ ।।

हिन्दी—देवसेना के गजराजों ने अपने सातों मदस्रावी स्थानों से निरन्तर मद चुवाकर सम्पूर्ण धूल को शान्त कर दिया था । उस मदजल की सुगन्ध से पुष्पों की तीव्र सुगन्ध भी ढँक (दब) गयी थी और वहाँ पिसी हुई इलायची के समान मनोहर सुगन्ध बिखेर रही थी । ऐसी सुगन्ध को गन्धों का वाहक वायु (चतुर्दिक्) फैला रहा था ।। ३८ ।।

विमर्श—हाथी के सात अंगों से मद की धारा बहती है । यहाँ उपमा अलङ्कार है ।

सादृश्यं दधति गभीरमेघघोषैरुन्निद्रक्षुभितमृगाधिपश्रुतानि ।
आतेनुश्चकितचकोरनीलकण्ठान् कच्छान्तानमरमहेभबृंहितानि ।। ३९ ।।

अन्वयः—गभीरमेघघोषैः सादृश्यम् दधति उन्निद्रक्षुभितमृगाधिपश्रुतानि अमरमहेभबृंहितानि कच्छान्तान् चकितचकोरनीलकण्ठान् आतेनुः ।। ३९ ।।

सादृश्यमिति ।। गभीरमेघघोषैः सान्द्रगर्जितैः सादृश्यं दधतीत्युपमा । दधातेः शतृप्रत्ययः । 'वा नपुंसकस्य' इति विकल्पानुमभावः । उन्निद्रा बृंहितश्रवणादेव प्रबुद्धा क्षुभिताः संरब्धाश्च ये मृगाधिपास्तैः श्रुतान्याकर्णितानि । न तु प्रतिबुद्धानीति भावः । अमरमहेभबृंहितानि सुरगजगर्जितानि कच्छान्ताननूपप्रदेशान् । 'जलप्रायमनूपं स्यात्पुंसि कच्छस्तथाविधः' इत्यमरः । चकिता गर्जितशङ्कया सम्भ्रान्ताश्चकोराः पक्षिविशेषा नीलकण्ठा मयूराश्च येषु तांस्तथाभूतानातेनुः । भ्रान्तिमदलङ्कारः ।। ३९ ।।

हिन्दी—बादलों के गम्भीर रूप से गरजने की समानता धारण करने वाली, नींद के उचट जाने के कारण क्षुब्ध सिंहों द्वारा सुनी गई, देवताओं के गजराजों की चिग्घाड़ समूचे कच्छ प्रदेश में चकोरों और मयूरों को चकित करते हुए फैल गयी ।। ३९ ।।

विमर्श—चकोरों और मयूरों को बादल गरजने की भ्रान्ति हुई, अतः वे चकित रह गये क्योंकि आकाश में बादल नहीं थे । यहाँ भ्रान्तिमान् अलङ्कार है ।

शाखावसक्तकमनीयपरिच्छदाना-
मध्वभ्रमातुरवधूजनसेवितानाम् ।
जज्ञे निवेशनविभागपरिष्कृतानां
लक्ष्मीः पुरोपवनजा वनपादपानाम् ।। ४० ।।

।। इति भारविकृतौ महाकाव्ये किरातार्जुनीये सप्तमः सर्गः ।। ७ ।।

अन्वय:—शाखावसक्तकमनीयपरिच्छदानाम् अध्वश्रमातुरवधूजनसेवितानाम् निवेशनविभागपरिष्कृतानाम् वनपादपानाम् पुरोपवनजा लक्ष्मी: जज्ञे ।। ४० ।।

शाखेति ।। परिच्छाद्यतेऽनेनेति परिच्छद: परिकरो वसनाभरणादि: । 'पुसि संज्ञायां घ: प्रायेण' इति घप्रत्यय:। 'छादेर्घेऽद्व्युपसर्गस्य' इति ह्रस्वत्वम्। शाखास्ववसक्ता: कमनीया: परिच्छदा येषां तेषामध्वनि श्रमस्तेनातुरै: पीडितैर्वधूजनै: सेवितानां निवेशनविभागैरावसतिकावच्छेदै: परिष्कृतानामलङ्कृतानाम् । 'संपर्युपेभ्य:' इत्यादिना सुट् । वनपादपानामरण्यवृक्षाणां पुरे यदुपवनं कृत्रिमवनं तत्र जाता पुरोपवनजा लक्ष्मी: शोभा जज्ञे जाता । अत्रान्योन्यलक्ष्मीसम्बन्धासम्भवात्तत्सदृशीति सादृश्याक्षेपादसंभवे तद्वस्तुसम्बन्धेयं निदर्शना । वसन्ततिलकावृत्तम् — 'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ ग:' इति लक्षणात् ।। ४० ।।

।। इति श्रीमहामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितायां किरातार्जुनीयकाव्य व्याख्यायां घण्टापथसमाख्यायां सप्तम: सर्ग: समाप्त: ।। ७ ।।



हिन्दी—जिनकी शाखाओं में मनोहर वस्त्र और आभूषण टँगे हुए थे, जो मार्ग की थकावट से चूर देवाङ्गनाओं द्वारा सेवित थे, शिविर बनने के कारण जिनके नीचे की भूमि झाड़-बुहार कर परिष्कृत कर दी गई थी - ऐसे वन-वृक्षों की शोभा नगर के उपवनों (पार्कों) जैसी हो रही थी ।। ४० ।।

विमर्श—नगर के उपवनों में भी भ्रमणार्थी दलों द्वारा ऐसी ही वृक्ष शोभा होती है । यहाँ निदर्शना अलङ्कार है एवं वसन्ततिलका छन्द है ।

।। इस प्रकार श्रीभारविकृत किरातार्जुनीयम् महाकाव्य के सातवें सर्ग की डॉ सुधाकर मालवीय कृत हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ।। ७ ।।



अष्टमः सर्गः

अथ स्वमायाकृतमन्दिरोज्ज्वलं ज्वलन्मणि व्योमसदां सनातनम् ।
सुराङ्गना गोपतिचापगोपुरं पुरं वनानां विजिहीर्षया जहुः ।।१ ।।

अन्वयः—अथ सुराङ्गनाः स्वमायाकृतमन्दिरोज्ज्वलं ज्वलन्मणि व्योमसदां सनातनं गोपतिचापगोपुरं वनानां विजिहीर्षया जहुः ।। १ ।।

अथेति ।। अथ निवेशनानन्तरं सुराङ्गना अप्सरसः स्वमायया स्वेच्छाविशेषेण कृतैर्निर्मितैर्मन्दिरैरुज्ज्वलं दीप्तम् । ज्वलन्तो मणयो यस्मिंस्तद्व्योमसदां गन्धर्वाणां सनातनं सदातनम् । 'सायंचिरं—' इत्यादिना भावार्थे ट्युप्रत्ययः। गौर्वज्रं तत्पतिरिन्द्रस्तच्चापवर्णानि गोपुराणि यस्य तत्तथोक्तमित्युपमा । पुरं नगरं वनानां विजिहीर्षया वनानि विहर्तुमिच्छया । कर्मणि षष्ठी । जहुस्तत्यजुः । जहातेर्लिट् । अत्र ज्वलं ज्वलदिति पुरंपुरमिति चासकृद्व्यञ्जनद्वयावृत्त्या छेकानुप्रासः । अन्यत्र तद्वैपरीत्याद्वृत्त्यनुप्रास इति तयोपमायाश्च संसृष्टिः । अस्मिन्सर्गे वंशस्थं वृत्तम् —'जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ' इति लक्षणात् ।। १ ।।

हिन्दी—तदनन्तर अपनी माया से निर्मित भवनों से सुन्दर, चमकते हुए रत्नों से सुशोभित व इन्द्रधनुष के समान अनेक रंगों वाले गोपुरों (फाटकों) से विभूषित गन्धर्वों के उस सनातन (सदैव एक रूप रहने वाले) नगर को देवाङ्गनाओं के वन विहार की इच्छा से त्याग दिया ।। १ ।।

विमर्श—अर्थात् अप्सराएँ गन्धर्व नगर से बाहर निकल कर वन-विहार के लिए चल पड़ीं । छेकानुप्रास, वृत्यनुप्रास तथा उपमा अलङ्कार की संसृष्टि । इस सर्ग में वंशस्थ वृत्त है ।

यथायथं ताः सहिता नभश्चरैः प्रभाभिरुद्भासितशैलवीरुधः ।
वनं विशन्त्यो वनजायतेक्षणाः क्षणद्युतीनां दधुरेकरूपताम् ।। २ ।।

अन्वयः—वनजायतेक्षणाः ताः यथायथं नभश्चरैः सहिताः प्रभाभिः उद्भासितशैलवीरुधः वनं विशन्त्यः क्षणद्युतीनाम् एकरूपतां दधुः ।। २ ।।

यथायथमिति ।। यथायथं यथास्वम् । स्वकीयमनतिक्रम्येत्यर्थः । 'यथास्वं तु यथायथम्' इत्यमरः । नपुंसकनिपातनं तु ह्रस्वार्थम् । नभश्चरैगन्धर्वैर्मेघैश्च सहिताः प्रभाभिः स्वदीप्तिभिरुद्भासिताः शैलवीरुधो याभिस्ताः पूर्वोक्ता वनजायतेक्षणाः पद्म-

लोचनाः श्रियो वनं विशन्त्यः । क्षणं द्युतिर्यासां तासां क्षणद्युतीनां विद्युतामेकरूपतां समानरूपतां दधुः । मुहुर्द्रुमान्तराले तासां स्फुरणस्य क्षणिकत्वादिति भावः । श्लेषानुप्राणितेयमुपमा । श्लेषत्वमिति केचित् । उभयथाप्यनुप्रासेन संसर्गः ।। २ ।।

हिन्दी—वे कमललोचना अप्सराएँ अपने अपने प्रिय गन्धर्वों के साथ अपनी कान्ति से पर्वतों एवं लताओं आदि को उद्भासित करती हुई वन में प्रवेश करते समय (रुक रुक कर चमकने वाली) बिजली की छटा के समान सुशोभित होने लगीं ।। २ ।।

विमर्श—मेघों में बिजली जैसे रुक रुक कर चमकती है वैसे ही वृक्षों एवं लताओं के बीच-बीच में अप्सराएँ अपने प्रियतमों के साथ चमकती हुई दिखाई पड़ रही थीं । यहाँ श्लेष से अनुप्राणित उपमा अलङ्कार है ।

निवृत्तवृत्तोरुपयोधरक्लमः प्रवृत्तनिर्ह्रादिविभूषणारवः ।
नितम्बिनीनां भृशमादधे धृतिं नभः प्रयाणादवनौ परिक्रमः ।। ३ ।।

अन्वयः—निवृत्तवृत्तोरुपयोधरक्लमः प्रवृत्तनिर्ह्रादिविभूषणारवः अवनौ परिक्रमः नितम्बिनीनां नभः प्रयाणात् भृशं धृतिं आदधे ।। ३ ।।

निवृत्तेति ।। निवृत्तो गतो वृत्तस्य वर्तुलस्योरुपयोधरस्य क्लमो यस्मिन्सः । पादप्रक्षेपेषु विश्रान्तिसंभवादिति भावः । किञ्च । प्रवृत्तो जातो निर्ह्रादिविभूषणानां नूपुरादीनामारवो यस्मिन्सः । अवनौ पृथिव्यां परिक्रमः सञ्चारो नितम्बिनीनां नभः प्रयाणाद्भृशमधिकम् । 'पञ्चमी विभक्ते' इति पञ्चमी । धृतिं सन्तोषमादधे । अत्र विशिष्टपरिक्रमस्य धृत्यादानहेतुत्वात् काव्यलिङ्गमलङ्कारः ।। ३ ।।

हिन्दी—उन नितम्बिनी सुरबालाओं को पृथ्वी पर पैदल चलना आकाश के संचरण से अधिक रुचिकर प्रतीत हुआ क्योंकि इससे उनके गोले-गोले जघनस्थलों एवं स्तनों की थकावट दूर हो रही थी और साथ ही उनके नूपुरों से मञ्जुल ध्वनि भी हो रही थी ।। ३ ।।

विमर्श—यहाँ काव्यलिङ्ग अलङ्कार है ।

घनानि कामं कुसुमानि बिभ्रतः करप्रचेयान्यपहाय शाखिनः ।
पुरोऽभिसस्त्रे सुरसुन्दरीजनैर्यथोत्तरेच्छा हि गुणेषु कामिनः ।। ४ ।।

अन्वयः—घनानि करप्रचेयानि कामं कुसुमानि बिभ्रतः शाखिनः अपहाय सुरसुन्दरीजनैः पुरः अभिसस्त्रे । हि कामिनः गुणेषु यथोत्तरेच्छा ।। ४ ।।

घनानीति ।। घनानि सान्द्राणि । न तु विरलानि । करप्रचेयानि हस्तग्राह्याण्यनुच्चानि । 'कृत्यैरधिकार्थवचने' इति तृतीयासमासः कामं कुसुमानि बिभ्रतो नवकुसुमिताञ्छाखिनस्तरूनपहाय सुरसुन्दरीजनैः पुरोऽग्रेऽभिसस्त्रेऽभिसृतम् । भावे लिट् । तथा हि । कामिनो गुणेष्वतिशयेषु विषय उत्तरमुत्तरम् । वीप्सार्थेऽव्ययीभावः । यथोत्तर-

मिच्छा येषां ते यथोत्तरेच्छा उत्तरोत्तराभिलाषुका हि । अत्र परिकरोत्थापितोऽर्थान्तर-न्यासोऽलङ्कारः ।। ४ ।।

हिन्दी—अत्यन्त सघन हाथ से पाने योग्य यथेष्ट पुष्पों को धारण करने वाले वृक्षों को छोड़कर वे सुर बालाएँ आगे ही बढ़ती गयीं । सच है, कामी लोग सर्वदा अच्छे अच्छे गुणों की खोज में लगे रहते हैं ।। ४ ।।

विमर्श—यहाँ परिकरोत्थापित अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ।

तनूरलक्तारुणपाणिपल्लवाः स्फुरन्नखांशूत्करमञ्जरीभृतः ।
विलासिनीबाहुलता वनालयो विलेपनामोदहृताः सिषेविरे ।। ५ ।।

अन्वयः—विलेपनामोदहृताः वनालयः तनूः अलक्तारुणपाणिपल्लवाः स्फुरन्न-खांशूत्करमञ्जरीभृतः विलासिनीबाहुलताः सिषेविरे ।। ५ ।।

तनूरिति ।। विलेपनामोदैर्हृता आकृष्टा वनालयो वनभृङ्गास्तनूः कृशा अलक्तै-रुरुणाः पाणय एव पल्लवा यासां ताः स्फुरन्तो नखांशूनामुत्कराः पुञ्जा एव मञ्जर्यस्ता बिभ्रतीति तथोक्ताः । क्विप् । विलासिनीनां बाहव एव लतास्ताः सिषेविरे । अत्र समस्तवस्तुविषयरूपकालङ्कारः । बाह्ववयवानां लतावयवानां पल्लवादीनामपि निरूपणादिति ।। ५ ।।

हिन्दी—अङ्गरागों की सुगन्ध से आकृष्ट वन के भ्रमरों ने देवांगनाओं की उन पतली पतली भुजलताओं का सेवन किया, जो आलते से रंगी हुई लाल हथेली रूपी पल्लवों से युक्त थीं, एवं चमकते हुए नखों की कान्ति रूपी मञ्जरियों से सुशोभित थीं ।। ५ ।।

विमर्श—यहाँ रूपक अलङ्कार है ।

निपीयमानस्तबका शिलीमुखैरशोकयष्टिश्चलबालपल्लवा ।
विडम्बयन्ती ददृशे वधूजनैरमन्ददष्टौष्ठकरावधूननम् ।। ६ ।।

अन्वयः—शिलीमुखैः निपीयमानस्तबकाः चलबालपल्लवाः अमन्ददष्टौष्ठ-करावधूननं विडम्बयन्ती अशोकयष्टिः वधूजनैः ददृशे ।। ६ ।।

निपीयमानेति ।। शिलीमुखैरलिभिः । 'अलिबाणौ शिलीमुखौ' इत्यमरः । निपीयमानः स्तबको गुच्छो यस्याः सा । चला बालपल्लवा यस्याः सा । अतएवामन्दं दृढं दष्ट ओष्ठो यस्मिंस्तत्करावधूननं करकम्पनं तद्विडम्बयन्ती । स्तबकपानेनौष्ठ-दंशनं पल्लवचलनेन करावधूननं चानुकुर्वतीत्यर्थः । धूञो ण्यन्ताल्ल्युट् । णिचि धूञ्प्रीञोर्नुग्वक्तव्यः । अशोकयष्टिः अशोकशाखेत्यर्थः । वधूजनैर्ददृशे दृष्टा । अत्र विडम्बयन्तीति प्रस्तुताशोकशाखाविशेषणभूतोपमामहिम्नाप्रस्तुतनायिकाप्रतीतेः समा-सोक्तिरुत्तिष्ठमानतयैवोपमयाङ्गाङ्गिभावेन सङ्कीर्यते ।। ६ ।।

हिन्दी—अप्सराओं ने भ्रमरों द्वारा जिनके पुष्प स्तबकों के मकरन्द पी लिए

गए थे, और जिनके चञ्चल लाल पल्लव हिल रहे थे, उन अशोक-लताओं को नायक द्वारा कसकर होंठ के काट लेने पर दोनों हाथों को झटकने वाली नायिका का अनुकरण करते हुए देखा ।। ६ ।।

विमर्श—जैसे नायक द्वारा कस कर होंठ काट लेने पर नायिका दोनों हथेलियाँ झटकती हैं, उसी प्रकार भ्रमरों द्वारा पुष्प-स्तबकों को पी लेने पर अशोक लता भी अपने नूतन लाल पल्लवों को हिला रही थी । उपमा और समासोक्ति का अङ्गाङ्गीभाव से संकर। {कोई नायक किसी भ्रमरपीडिता-नायिका से कहता है —}

अथ कश्चिन्मधुकराक्रान्तां काञ्चिदाह—

करौ धुनाना नवपल्लवाकृती वृथा कृथा मानिनि मा परिश्रमम् ।
उपेयुषी कल्पलताभिशङ्कया कथं न्वितस्त्रस्यति षट्पदावलिः ।। ७ ।।

अन्वयः—हे मानिनि ! नवपल्लवाकृती करौ धुनाना वृथा परिश्रमं मा कृथाः। कल्पलताभिशङ्कया उपेयुषी षट्पदावलिः कथं नु इतस्त्रस्यति ।। ७ ।।

कराविति ।। मानपरिहारेण मधुपाश्रयणे तु न किश्चद्बाध इत्याशयेन सम्बोधयति — हे मानिनीति । नवपल्लवस्याकृतिरिवाकृतिर्ययोरित्युपमा । तौ करौ धुनाना । धूञः क्रैयादिकात्कर्तरि लटः शानच् । वृथा व्यर्थं परिश्रमं मा कृथा मा कुरुष्व । करोतेराशीरर्थे माङि लुङ् । वृथात्वे हेतुमाह—कल्पलताभिशङ्कया कल्पवल्लिभ्रमेणेति भ्रान्तिमदलङ्कारः । उपेयुष्युपगता षट्पदावलिः कथं न्वितस्त्रस्यति बिभेति । न त्रस्यत्येवेत्यर्थः । 'वा भ्राश—' इत्यादिना विकल्पेन श्यन्प्रत्ययः । अत्र कान्तापरिश्रमवैयर्थ्यरूपकार्यस्य षट्पदावलेः कल्पवल्लीभ्रमनिबन्धनवित्रासरूपकारणसमर्थनात्कारणेन कार्यसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासो भ्रान्तिमताङ्गाङ्गिभावेन सङ्कीर्णः । स तूपमया संसृज्यते ।।

हिन्दी—अरी मानिनी ! नूतन किसलयों के समान मनोहर हथेलियों को कँपाती हुई तुम व्यर्थ परिश्रम मत करो । यह भ्रमर पङ्क्ति कल्पलता की शङ्का से समीप में आई हुई है, तुम इससे क्यों डर रही हो ।। ७ ।।

विमर्श—अर्थात् इससे डरने की आवश्यकता नहीं है । भ्रान्तिमान्, उपमा और अर्थान्तरन्यास का सङ्कर ।

{कोई सखी किसी प्रणय-कुपिता मानिनी से कह रही है—}

अथ काचित्सखी काञ्चित्प्रणयकुपितामाह—

जहीहि कोपं दयितोऽनुगम्यतां पुरानुशेते तव चञ्चलं मनः ।
इति प्रियं काञ्चिदुपैतुमिच्छतीं पुरोनुनिन्ये निपुणः सखीजनः ।। ८ ।।

अन्वयः—प्रियम् उपैतुम् इच्छतीं काञ्चित् निपुणः सखीजनः कोपं जहीहि, दयितः अनुगम्यताम् । चञ्चलं तव मनः पुरा अनुशेते—इति पुरः अनुनिन्ये ।। ८ ।।

जहीहीति ।। प्रियमुपैतुं स्वयमेवानुसर्तुमिच्छतीम् । 'आच्छीनद्योर्नुम्' इति विकल्पान्नुमभावः । काञ्चिनायिकां निपुणश्चित्तज्ञः सखीजनः । कोपं जहीहि त्यज । 'आ च हौ' इति विकल्पादीकारादेशः । दयितोऽनुगम्यतामनुस्रियताम् । उभयथापि प्रार्थनायां लोट् । अन्यथा चञ्चलमस्थिरं तव मनः पुरानुशेतेऽग्रेनुशयिष्यते । अनुतप्स्यत इत्यर्थः । 'यावत्पुरानिपातयोर्लट्' इति लट् । इत्यनेन प्रकारेण पुरः पूर्वमेवानुनिन्ये प्रसादयामास ।। ८ ।।

हिन्दी—'मान त्याग दो, अपने प्रियतम के पास चलो, तुम्हारा मन चञ्चल है, आगे चलकर पछताओगी ।' अपने प्रियतम के पास जाने के लिए इच्छुक किसी नायिका से उसकी चित्तवृत्ति समझने वाली किसी सखी ने इस प्रकार की बातें करके उसे पहले ही प्रसन्न कर लिया ।। ८ ।।

{नीचे के चार श्लोकों का अर्थ एक ही में हैं —}

अथ चतुर्भिः श्लोकैः कलापकमाह—

समुन्नतैः काशदुकूलशालिभिः परिक्वणत्सारसपङ्क्तिमेखलैः ।
प्रतीरदेशैः स्वकलत्रचारुभिर्विभूषिताः कुञ्जसमुद्रयोषितः ।। ९ ।।
विदूरपातेन भिदामुपेयुषश्च्युताः प्रवाहादभितः प्रसारिणः ।
प्रियाङ्कशीताः शुचिमौक्तिकत्विषो वनप्रहासा इव वारिबिन्दवः ।। १० ।।
सखीजनं प्रेमगुरूकृतादरं निरीक्षमाणा इव नम्रमूर्त्तयः ।
स्थिरद्विरेफाञ्जनशारितोदरैर्विसारिभिः पुष्पविलोचनैर्लताः ।। ११ ।।
उपेयुषीणां बृहतीरधित्यका मनांसि जह्रुः सुरराजयोषिताम् ।
कपोलकाषैः करिणां मदारुणैरुपाहितश्यामरुचश्च चन्दनाः ।। १२ ।।

अन्वयः—समुन्नतैः काशदुकूलशालिभिः परिक्वणत्सारसपङ्क्तिमेखलैः स्वकलत्रचारुभिः प्रतीरदेशैः विभूषिताः कुञ्जसमुद्रयोषितः विदूरपातेन भिदां उपेयुषः प्रवाहात् च्युताः अभितः प्रसारिणः प्रियाङ्कशीताः शुचिमौक्तिकत्विषः वनप्रहासा इव वारिबिन्दवः, स्थिरद्विरेफाञ्जनशारितोदरैः विसारिभिः पुष्पविलोचनैः गुरूकृतादरं प्रेम सखीजनं निरीक्षमाणाः इव नम्रमूर्तयः लताः, मदारुणैः करिणाम् कपोलकाषैः उपाहितश्यामरुचः चन्दनाः च बृहतीः अधित्यकाः उपेयुषीणाम् सुरराजयोषितां मनांसि जह्रुः ।। ९-१२ ।।

समुन्नतैरिति। समुन्नतैः काशान्यश्वबालकुसुमानि तानि दुकूलानीव तैः शालन्त इति तथोक्तैः । सारसपङ्क्तयो मेखला इव ताः परिक्वणन्त्यो येषु ते तैः स्वेषां कलत्राणि श्रोण्यास्तद्वच्चारवस्तैः । 'कलत्रं श्रोणिभार्ययोः' इत्यमरः । प्रतीरदेशैर्विभूषितास्तटप्रदेशैर्भूषिताः । कुञ्जसमुद्रयोषितः । वननद्य इत्यर्थः । अत्र तीरादीनां कलत्राद्यौपम्योपमेयत्वाद्योषिच्छब्दसामर्थ्याच्च नदीनां योषिदौपम्यं गम्यते ।। ९ ।।

विदूरेति ।। विदूरपातेन भिदां भेदम् । 'षिद्भिदादिभ्योऽङ्' । उपेयुषः उपगतात्प्रवाहाच्च्युता अतएवाभितः प्रसारिणः प्रसर्पन्त इति प्रियायां अङ्क उत्सङ्ग इव शीताः

शीतला: शुचीनां मौक्तिकानां त्विष इव त्विषो येषां ते किञ्च वनस्य प्रहासा इव स्थिता इत्युत्प्रेक्षा । वारिबिन्दवश्च । अत्रोपमयोरुभयोरुत्प्रेक्षायाश्च संसृष्टि: ॥१० ॥

सखीति ॥ द्वौ रेफौ वर्णविशेषौ येषां ते द्विरेफा: । भ्रमरशब्देन तदर्थो लक्ष्यते । 'द्व्यक्षरं मासमिति विदधाति' इति भाष्यकार: । स्थिरा निश्चला द्विरेफा एवाञ्जनानि तै: शारितानि शवलीकृतान्युदराणि येषां तै:। 'शार: शबलवातयो:' इति विश्व: । विसारिभिर्विस्तृतै: पुष्पाण्येव विलोचनानि तै: प्रेम्णा गुरुकृत: आदरो यस्मिन्कर्मणि तत्तथा सखीजनं निरीक्षमाणा: पश्यन्त्य इव स्थिता: । कुत: । नम्रमूर्तयोऽवनताङ्ग्यो लताश्च । अत्र रूपकोत्प्रेक्षयो: सङ्कर: ॥११ ॥

उपेयुषीणामिति॥ मदेनारुणैर्व्यक्तरागै:। 'अव्यक्तरागस्त्वरुण:' इत्यमर:। करिणां कपोलानां काषै: कषणैरुपाहितश्यामरुचो जनितकृष्णवर्णा इति तद्भूषणालङ्कार: । चन्दना मलयजा: । 'गन्धसारो मलयजो भद्रश्रीश्चन्दनोऽस्त्रियाम्' इत्यमर: । बृहतीरधित्यका ऊर्ध्वभूमीरुपेयुषीणां सुरराजयोषितां मनांसि जह्रु: । अत्र चतु:श्लोक्या नद्यादीनां विशिष्टानामेवाप्सरोमनोहरणहेतुत्वोक्त्या काव्यलिङ्गमुन्नेयम् ॥१२ ॥

हिन्दी—फूली हुई ऊँची-ऊँची कास रूपी साड़ियों से अलङ्कृत, बोलते हुए सारसों की पङ्क्ति रूपी मेखलाओं से सुशोभित, ऊँचे-ऊँचे कगारों रूपी अपने मनोहर नितम्बों से विभूषित वन की नदियाँ; दूर से गिरने के कारण खण्ड खण्ड रूप में विभक्त प्रवाहों से दूर हटकर चारों ओर फैले हुए प्रियतम के अङ्क के समान शीतल, पवित्र मोती के समान चमकने वाले मानों वन के हास की भाँति दिखाई पड़ने वाले जलबिन्दु; निश्चल भ्रमर रूपी अञ्जनों से अंजित एवं विकसित पुष्प-रूपी नेत्रों से मानों सखियों को आदर सत्कार के लिए अत्यन्त प्रेम से देखती हुई की भाँति नीचे झुकी हुई लताएँ एवं मदजल से लाल रंग के कपोलों के खुजलाने से श्यामल रंग के चन्दनों के वृक्ष पर्वत की अधित्यका (चोटी) पर पहुँची हुई उन देवाङ्गनाओं के मन को हरने लगे ॥ ९-१२ ॥

विमर्श—जिन चारों वस्तुओं ने देवाङ्गनाओं का मन मोह लिया, उन्हीं का एक-एक श्लोक में वर्णन किया गया है । प्रथम श्लोक में गम्यमान उपमा । द्वितीय श्लोक में उपमा और उत्प्रेक्षा की संसृष्टि । तृतीय श्लोक में रूपक और उत्प्रेक्षा का संकर और चतुर्थ श्लोक में काव्यलिङ्ग अलङ्कार है ।

स्वगोचरे सत्यपि चित्तहारिणा विलोभ्यमाना: प्रसवेन शाखिनाम् ।
नभश्चराणामुपकर्तुमिच्छतां प्रियाणि चक्रु: प्रणयेन योषित: ॥१३ ॥

अन्वय:—चित्तहारिणा शाखिनां प्रसवेन विलोभ्यमाना: योषित: स्वगोचरे सत्यपि उपकर्तुं इच्छतां नभश्चराणां प्रणयेन प्रियाणि चक्रु: ॥ १३ ॥

स्वगोचर इति ॥ चित्तहारिणा मनोहरेण शाखिनां प्रसवेन पुष्पजातेन विलोभ्यमाना आकृष्यमाणा योषित: स्वगोचरे स्वविषये । स्वकरप्रचये सत्यपीत्यर्थ: । प्रसव

इति शेषः । उपकर्तुं परिचरितुमिच्छतां नभश्चराणां गन्धर्वाणां प्रणयेन सहायहेतुना प्रियाणि चक्रुः । स्वकरग्राह्यमपि प्रसवं स्वकान्तप्रियार्थं तद्दीयमानमेवाग्रहीषुरित्यर्थः ।।

हिन्दी—चित्त को मोहित कर लेने वाले वृक्षों की पुष्प समृद्धि से आकृष्ट उन देवाङ्गनाओं ने अपने हाथ से पुष्पादि के सुलभ होने पर भी, सेवा शुश्रूषा द्वारा उपकार करने के इच्छुक गन्धर्वों के प्रेम से उनका प्रिय कार्य किया ।। १३ ।।

विमर्श—अर्थात् यद्यपि उन वृक्षों में पुष्पादि इतने समीप थे कि देवाङ्गनाएँ अपने ही हाथ से चुन सकती थीं, तथापि गन्धर्वों को प्रसन्न करने के लिए उन्हीं से चुनवा कर लिया ।

प्रयच्छतोच्चैः कुसुमानि मानिनी विपक्षगोत्रं दयितेन लम्भिता ।
न किञ्चिदूचे चरणेन केवलं लिलेख वाष्पाकुललोचना भुवम् ।।१४ ।।

अन्वयः—कुसुमानि प्रयच्छता दयितेन उच्चैः विपक्षगोत्रम् लम्भिता मानिनी न किञ्चित् ऊचे । केवलं वाष्पाकुललोचना सती चरणेन भुवं लिलेख ।। १४ ।।

प्रयच्छतेति ।। कुसुमानि प्रयच्छता ददता दयितेनोच्चैरुच्चैस्तरां विपक्षगोत्रं सपत्नीनामधेयं लम्भिता प्रापिता । तन्नाम्नाहूतेत्यर्थः । 'नाम गोत्र कुलं गोत्रम्' इति शाश्वतः । मानिन्यत एव न किंचिदूचे । कर्तरि लिट् । किन्तु केवलं बाष्पाकुललोचना सती चरणेन भुवं लिलेख । गोत्रस्खलनजनितेर्ष्यानिमित्तनिर्वेदादिति भावः । मानिन्यत एव न किञ्चिदूच इत्युक्तम् । तदुक्तं दशरूपके —'तत्त्वाज्ञानापदीर्ष्यादेर्निर्वेदः स्वावमानना । तत्र चिन्ताश्रुतिः श्वासवैवर्ण्योच्छ्वासदीनताः ।' इति ।।१४ ।।

हिन्दी—पुष्प चुनकर देते समय नायक ने उच्चस्वर से जब सपत्नी का नाम ले लिया तब मानिनी नायिका कुछ भी नहीं बोली । वह केवल आँसुओं से डबडबाई हुई आँखों से युक्त होकर चरणों द्वारा धरती पर मिट्टी कुरेदती रही ।। १४ ।।

विमर्श—सपत्नी का नाम लेने से उसे जलन हुई । मानिनी थी अतः बोली कुछ भी नहीं, केवल रोती ही रही । यदि बोल देती तो मान ही भङ्ग हो जाता ।

प्रियेऽपरा यच्छति वाचमुन्मुखी निबद्धदृष्टिः शिथिलाकुलोच्चया ।
समादधे नांशुकमाहितं वृथा विवेद पुष्पेषु न पाणिपल्लवम् ।।१५ ।।

अन्वयः—वाचं यच्छति प्रिये निबद्धदृष्टिः उन्मुखी शिथिलाकुलोच्चया अपरा अंशुकं न समादधे । पुष्पेषु वृथा आहितं पाणिपल्लवं न विवेद ।। १५ ।।

प्रिय इति ।। वाचं यच्छति ददाति । समालपतीत्यर्थः । दाञः शतृप्रत्ययः । 'पाघ्रा—' इत्यादिना यच्छादेशः । प्रिये निबद्धदृष्टिरत एवोन्मुखी । शिथिलः श्लथ आकुलश्चलितश्च तादृश उच्चयो नीवीबन्धो यस्याः सा । 'नारीकट्यंशुकग्रन्थौ नीवी स्यादुच्चयोऽप्यथ' इति मार्तण्डः । अपरान्यास्त्र्यंशुकं न समादधेन न बबन्ध । रागपारवश्यादिति भावः । पुष्पेषु वृथा व्यर्थमाहितमारोपितम् । अस्थाने प्रसारितमित्यर्थः ।

पाणिपल्लवं च न विवेद । प्रियासक्तचित्तत्वादिति भावः । एषा च प्रगल्भानायिका । 'पाणिपल्लवम्' इत्यत्रान्यतरसाधकबाधकप्रमाणाभावादुपमारूपकयोः सन्देहसङ्करः ।

हिन्दी—नायक के साथ वार्तालाप करती हुई एक दूसरी नायिका अपलक दृष्टि से उसी की ओर उन्मुख होकर देख रही थी, उसकी नीवी (फुँफुदी) ढीली हो गयी थी किन्तु वह उसे सँभाल नही रही थी । यही नहीं, फूलों को तोड़ते समय उसके पल्लव रूपी हाथ व्यर्थ ही इधर उधर हो रहे थे, यह भी वह नहीं जान पा रही थी ।। १५ ।।

विमर्श—उसका चित्त नायक की बातों में लगा था । वह प्रगल्भा नायिका थी । यहाँ उपमा और रूपक का सन्देहसंकर है ।

सलीलमासक्तलतान्तभूषणं समासजन्त्या कुसुमावतंसकम् ।
स्तनोपपीडं नुनुदे नितम्बिना घनेन कश्चिज्जघनेन कान्तया ।।१६ ।।

अन्वयः—आसक्तलतान्तभूषणं कुसुमावतंसकं सलीलं समासजन्त्या कान्तया कश्चित् स्तनोपपीडं नितम्बिना घनेन जघनेन नुनुदे ।। १६ ।।

सलीलमिति ।। आसक्ता लतान्ताः पल्लवा भूषणं यस्य तत् । पल्लवैः सह ग्रथितमित्यर्थः । कुसुमावतंसकं पुष्पशेखरम् । कान्तदत्तमिति भावः । सलीलं सविलासं समासजन्त्या शिरसि प्रतिदधत्या । 'दंशसञ्जस्वञ्जां शपि' इति नलोपः । कान्तया कश्चित्स्तनाभ्यामुपपीड्येति स्तनोपपीडम् । 'सप्तम्यां च—' इत्यादिना णमुल्प्रत्ययः । नितम्बिना । प्रशंसायामिनिः । घनेन निबिडेन जघनेन । 'पश्चान्नितम्बः स्त्रीकट्याः क्लीबे तु जघनं पुरः' इत्यमरः । नुनुदे नुन्नः । अंशुकातिरेकादिति भावः । एषा च प्रगल्भैव ।।१६ ।।

हिन्दी—(प्रियतम द्वारा दिए गए) नूतन कोमल पल्लवों के साथ बनाए गए पुष्प के मस्तकाभूषण को लीलापूर्वक धारण किये हुए किसी एक सुन्दरी ने स्तनों का गाढ़ आलिङ्गन देकर अपने सघन जघनस्थलों से अपने नायक को प्रसन्न कर लिया ।। १६ ।। **विमर्श**—यह भी प्रगल्भा नायिका थी ।

{नीचे के दोनों श्लोकों का अर्थ एक ही में है —}

कलत्रभारेण विलोलनीविना गलद्दुकूलस्तनशालिनोरसा ।
वलिव्यपायस्फुटरोमराजिना निरायतत्वादुदरेण ताम्यता ।।१७ ।।
विलम्बमानाकुलकेशपाशया कयाचिदाविष्कृतबाहुमूलया ।
तरुप्रसूनान्यपदिश्य सादरं मनोधिनाथस्य मनः समाददे ।।१८ ।।

अन्वयः—विलोलनीविना कलत्रभारेण गलद्दुकूलस्तनशालिनोरसा वलिव्यपायस्फुटरोमराजिना निरायत्वात् ताम्यता उदरेण विलम्बमानाकुलकेशपाशया आविष्कृत-बाहुमूलया कयाचित् तरुप्रसूनानि अपदिश्य सादरं मनोधिनाथस्य मनः समाददे ।

कलत्रेति ।। विलोलनीविना गात्रोन्नमनाद्विश्लिष्टवस्त्रग्रन्थिना कलत्रभारेण श्रोणिभारेण । 'कलत्रं श्रोणिभार्ययोः' इत्यमरः । तथा गलत्स्रंसमानं दुकूलं याभ्यां ताभ्यां स्तनाभ्यां शालत इति तथोक्तेनोरसा तथा वलिव्यपायेन भङ्गिनिवृत्त्या स्फुटा रोमराजिर्यस्मिंस्तेन निरायतत्वादप्रसरितत्वात्ताम्यता तनुभवतोदरेण चोपलक्षितया । स्वभावोक्तिरलङ्कारः ।।१७ ।।

विलम्बमानेति ।। विलम्बमानो विस्रंसमान आकुलो विलुलितश्च केशपाशो यस्यास्तयाविष्कृतबाहुमूलयादर्शितकक्षप्रदेशाया कयाचित्कान्तया तरुप्रसूनान्यपदिश्य । प्रसूनग्रहणं व्याजीकृत्येत्यर्थः । 'व्याजोऽपदेशो लक्ष्यं च' इत्यमरः । सादरं साभिलाषं मनोधिनाथस्य प्रियस्य मनः समादद आचकृषे । कर्मणि लिट् । सर्वाङ्गसौष्ठव-दर्शनात्सद्यो लग्नं प्रियमनस्तत्रेति भावः । अत्र प्रियमनोहरणहेतुभिः कान्ताविशेषण-पदार्थैः काव्यलिङ्गमुत्तिष्ठमानं स्वभावोक्त्या सहाङ्गाङ्गिभावेन सङ्कीर्यते ।।१८ ।।

हिन्दी—एक दूसरी देवाङ्गना के, जिसके नितम्ब के भारी होने के कारण उसके भार से नीवी-बन्धन ढीले हो गए थे, जिसके वक्षस्थल के वस्त्रों के उड़ जाने से दोनों स्तन स्पष्ट दिखाई पड़ रहे थे और अति विस्तृत न होने के कारण जिसके दुर्बल उदर भाग पर त्रिवली के न होने से रोमावली स्पष्ट दिखाई पड़ रही थी, पीठ पर लंबी-लंबी केशराशि लटक रही थी और उसके बाहुओं के मूलभाग भी खुले हुए थे । (इस प्रकार) फूलों के चुनने के बहाने से अत्यन्त अभिलाषा के साथ उसने अपने प्रियतम के मन को अपनी ओर खींच लिया ।। १७-१८ ।।

विमर्श—प्रथम श्लोक में स्वभावोक्ति तथा दूसरे में स्वभावोक्ति और काव्यलिङ्ग का अङ्गाङ्गीभाव से संकर ।

व्यपोहितुं लोचनतो मुखानिलैरपारयन्तं किल पुष्पजं रजः ।
पयोधरेणोरसि काचिदुन्मनाः प्रियं जघानोन्नतपीवरस्तनी ।।१९ ।।

अन्वयः—उन्नतपीवरस्तनी काचित् लोचनतः पुष्पजं रजः मुखानिलैः व्यपोहि-तुम् अपारयन्तं किल प्रियम् उन्मनाः पयोधरेण उरसि जघान ।। १९ ।।

व्यपोहितुमिति ।। उन्नतौ च पीवरौ च स्तनौ यस्याः सोन्नतपीवरस्तनी । 'स्वाङ्गच्च—' इत्यादिना ङीप् । काचिल्लोचनतः स्वनेत्रात्पुष्पजं रजः परागं मुखानिलैः फूत्कारमारुतैर्व्यपोहितुमपनेतुमपारयन्तं किलाशक्नुवन्तं । किलेत्यलीके । वस्तुतस्त-दास्यस्पर्शलोभादपारयन्तमित्यर्थः । प्रियमुन्मुना उत्सुका सत्यत एव पयोधरेणोरसि जघान । तत्कपटपरिज्ञानजन्यादौत्सुक्यादिति भावः । हननस्थानत्वादुरसीति सप्तमी । इयं च प्रगल्भैव ।।१९ ।।

हिन्दी—ऊँचे, कठोर विशाल स्तनों वाली एक देवाङ्गना ने मुख की साँस द्वारा आँखों से पुष्प-पराग निकालने में व्यर्थ ही असमर्थ होने वाले अपने प्रियतम के वक्षस्थल पर उत्कण्ठित होकर अपने स्तनों से प्रहार कर दिया ।। १९ ।।

विमर्श—उसका प्रियतम भाप से पराग निकालने के बहाने से उसके मुख के सुखद-स्पर्श का आनन्द ले रहा था । जब नायिका को उसकी चालाकी मालूम हो गयी तो उसने अपने स्तनों से उसके वक्षस्थल को ताडित किया । यह भी प्रगल्भा नायिका थी ।

इमान्यमूनीत्यपवर्जिते शनैर्यथाभिरामं कुसुमाग्रपल्लवे ।
विहाय निःसारतयेव भूरुहान्पदं वनश्रीर्वनितासु सन्दधे ।। २० ।।

अन्वयः—यथाभिरामम् कुसुमाग्रपल्लवे इमानि अमूनि-इति शनैः अपवर्जिते वनश्रीः निःसारतया इव भूरुहान् विहाय वनितासु पदं सन्दधे ।। २० ।।

इमानीति ।। यथाभिरामम् । वीप्सायामव्ययीभावः । कुसुमान्यग्रपल्लवानि च कुसुमाग्रपल्लवं तस्मिन् । 'जातिरप्राणिनाम्' इत्येकवद्भावान्नपुंसकत्वम् । इमान्यमूनीतीत्थम् । निर्देशपूर्वकमित्यर्थः । इदमदसी सनिकृष्टविप्रकृष्टार्थे । शनैरपवर्जितेऽपचिते सति वनश्रीर्निःसारतयेवेति हेतूत्प्रेक्षा । भूरुहांस्तरून्विहाय वनितासु पदं सन्दधे । अत्र वनितागतायाः पुष्पप्रसाधनसम्भवाया लक्ष्म्या विषयभूताया निगरणेन विषयेण वनश्रियो वनितागमनत्वोक्त्याऽसम्बन्धे सम्बन्धरूपाऽभेदे भेदरूपा वातिशयोक्तिरलङ्कारः । 'विषयस्यानुपादानाद्विषय्युपनिबध्यते । यत्र सातिशयोक्तिः स्यात्कविप्रौढोक्तिजीविता ।।' इति लक्षणादुत्प्रेक्षाङ्गत्वमस्याः ।। २० ।।

हिन्दी—अच्छे-अच्छे पुष्पों और पल्लवों के, इनको, (मैं लूँगी) उनको (तुम ले लो) धीरे-धीरे ऐसा कह कर चुन लिए जाने पर उस वन की शोभा ने मानों वृक्षों को निस्सार समझ कर छोड़ दिया और उन देवाङ्गनाओं में आकर अपना आश्रय बना लिया ।। २० ।।

विमर्श—अर्थात् धीरे-धीरे देवाङ्गनाओं ने वन के अच्छे-अच्छे पुष्पों और पल्लवों को चुन लिया और वनश्री मानों उन्हीं में आकर बस गई । अतिशयोक्ति और उत्प्रेक्षा अलङ्कार का संकर ।

प्रवालभङ्गारुणपाणिपल्लवः परागपाण्डूकृतपीवरस्तनः ।
महीरुहः पुष्पसुगन्धिराददे वपुर्गुणोच्छ्रायमिवाङ्गनाजनः ।। २१ ।।

अन्वयः—प्रवालभङ्गारुणपाणिपल्लवः परागपाण्डूकृतपीवरस्तनः पुष्पसुगन्धिः अङ्गनाजनः महीरुहः वपुः गुणोच्छ्रायं आददे इव ।। २१ ।।

प्रवालेति ।। प्रवालभङ्गेन पल्लववलयेनारुणः पाणिपल्लवो यस्य । तद्रसरञ्जनादित्यर्थः । परागेण पुष्परजसा पाण्डूकृतौ पीवरौ स्तनौ यस्य सः । पुष्पैः सुगन्धिः सुरभिरङ्गनाजनो महीरुहो वृक्षजाताद्वपुर्गुणस्य स्वदेहगुणस्योच्छ्रायः पाणिपल्लवारुण्यादेर्य उत्कर्षस्तमाददे लब्धवानिवेत्युत्प्रेक्षा । वस्तुतस्तु स्वाभाविक एव प्रवालभङ्गादिभिरभिव्यज्यत इति भावः । उत्कृष्टः श्राय उच्छ्राय इति घञन्तेन प्रादिसमासः । न तूपसृष्टाद्धञ्प्रत्ययः । 'श्रिणीभुवोऽनुपसर्गे' इति प्रतिषेधात् ।। २१ ।।

हिन्दी—नूतन पल्लवों के तोड़ने के कारण उनके रस से रँगकर देवाङ्गनाओं के कर किसलय लाल वर्ण के हो गए थे, पुष्पों के पराग से उनके कठोर स्तन पीले वर्ण के हो गए थे, उनके अङ्ग पुष्पों की सुगन्ध से सुवासित हो रहे थे, इस प्रकार मानों उन देवाङ्गनाओं ने अपने शरीर की शोभावृद्धि की समस्त सामग्री उन्हीं वृक्षों से प्राप्त कर ली थी ।। २१ ।।

विमर्श—यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ।

{निम्न पाँच श्लोकों का एक पुलक है—}

वरोरुभिर्वारणहस्तपीवरैश्चिराय खिन्नान्नवपल्लवश्रियः ।
समेऽपि यातुं चरणाननीश्वरान्मदादिव प्रस्खलतः पदे पदे ।। २२ ।।
विसारिकाञ्चीमणिरश्मिलब्धया मनोहरोच्छ्रायनितम्बशोभया ।
स्थितानि जित्वा नवसैकतद्युतिं श्रमातिरिक्तैर्जघनानि गौरवैः ।। २३ ।।
समुच्छ्वसत्पङ्कजकोशकोमलैरुपाहितश्रीण्युपनीवि नाभिभिः ।
दधन्ति मध्येषु वलीविभङ्गिषु स्तनातिभारादुदराणि नम्रताम् ।। २४ ।।
समानकान्तीनि तुषारभूषणैः सरोरुहैरस्फुटपत्रपङ्क्तिभिः ।
चितानि घर्माम्बुकणैः समन्ततो मुखान्यनुत्फुल्लविलोचनानि च ।। २५ ।।
विनिर्यतीनां गुरुखेदमन्थरं सुराङ्गनानामनुसानु वर्त्मनः ।
सविस्मयं रूपयतो नभश्चरान् विवेश तत्पूर्वमिवेक्षणादरः ।। २६ ।।

अन्वयः—वारणहस्तपीवरैः वरोरुभिः चिराय खिन्नान् नवपल्लवश्रियः समे । अपि यातुम् अनीश्वरान् मदात् इव पदे पदे प्रस्खलतः चरणान्; विसारिकाञ्चीमणि-रश्मिलब्धया मनोहरोच्छ्रायनितम्बशोभया नवसैकतद्युतिं जित्वा स्थितानि श्रमातिरिक्तैः गौरवैः जघनानि; समुच्छ्वसत्पङ्कजकोशकोमलैः नाभिभिः उपनीवि उपाहितश्रीणि वली-विभङ्गिषु मध्येषु स्तनातिभारात् नम्रतां दधन्ति उदराणि; धर्माम्बुकणैः समन्ततः चितानि अनुत्फुल्लविलोचनानि तुषारभूषणैः अस्फुटपत्रपङ्क्तिभिः सरोरुहैः समानकान्तीनि मुखानि च—अनुसानु वर्त्मनः गुरुखेदमन्थरं विनिर्यतीनां सुराङ्गनानां सविस्मयं रूपयतः नभश्चरान् तत्पूर्वम् इव ईक्षणादरः विवेश ।। २२-२६ ।।

वरोरुभिरिति।। अनुसानु सानुषु यद्वर्त्म ततः सकाशाद्गुरुणा खेदेन मन्थरमलसं विनिर्यतीनां निर्गच्छन्तीनां सुराङ्गनानां सम्बन्धिभिर्वारणहस्तपीवरैः करिकरस्थूलैः । वराश्च त उरवश्चेति तैः । चिराय खिन्नान् । किंच नवपल्लवानां श्रीरिव श्रीर्येषां तान् । तद्वन्मृदूनित्यर्थः । अत एव समे समस्थलेऽपि । किं पुनर्विषम इति भावः । यातुं गन्तुमनीश्वरानशक्तानत एव मदादिव पदे पदे । वीप्सायां द्विर्भावः। प्रस्खलतश्चरणान्। मदादिवेत्युपमा ।। २२ ।।

विसारीति ।। विसारिभिः काञ्चीमणिरश्मिभिर्लब्धया । तज्जनितयेत्यर्थः । मनोहर उच्छ्राय उत्सेधो येषां तेषां नितम्बानां शोभया करणेन नवसैकतानां द्युतिं शोभां

जित्वा स्थितानि । तत्तुल्यानीत्यर्थः । अत एवोपमालङ्कारः । श्रमेणातिरिक्तैरतिशयितै-गौरवैर्गुरुत्वैरुपलक्षितानि । नितरां भारायमाणानीत्यर्थः । जघनानि च । उच्छ्रायो व्याख्यातः ।। २३ ।।

समुच्छ्वसदिति ।। समुच्छ्वसत्पङ्कजकोशकोमलैर्दलत्कमलमुकुलमुग्धैरित्यु-पमा । नाभिभिः प्रतारिकाख्यैः । 'अथ नाभिस्तु जन्त्वङ्गे यस्य संज्ञा प्रतारिका' इति केशवः । पुंलिङ्गतायां तु कविरेव प्रमाणम् । उपनीवि नीवीसमीपे । उपाहितश्रीणि जनितशोभानि तथा वलीविभङ्गिषूर्मिमत्सु मध्येषु जघनस्थलेषु स्तनातिभारान्नम्रतां दधन्ति बिभ्राणानि । 'वा नपुंसकस्य' इति विकल्पाच्छतुर्नु मागमः । उदराणि च ।

समानेति ।। किंच, धर्माम्बुकणैः स्वेदोदकबिन्दुभिः समन्ततश्चितानि व्याप्तानि । अनुत्फुल्लविलोचनान्यविकसदक्षीण्यत एव तुषारभूषणैः शीकरपरिवृतैः । 'तुषारौ हिमशीकरौ' इति शाश्वतः । अस्फुटपत्रपङ्क्तिभिरविकचदलावलिभिः । 'व्याकोश-विकचस्फुटाः' इत्यमरः । सरोरुहैः समानकान्तीनीत्युपमा । मुखानि च ।। २५ ।।

विनिर्यतीनामिति ।। सविस्मयं रूपयतः पूर्वोक्तचरणादीनि वर्णयतो नभश्चरान् गन्धर्वान् तत्पूर्वमिव तदेव प्रथमं यथा तथेत्युत्प्रेक्षा । ईक्षणादर आलोकनकौतुकं विवेश । पूर्वार्धं व्याख्यातम् । अत्र कुलके स्वभावोक्तिरुत्प्रेक्षाङ्गम् ।। २६ ।।

हिन्दी—इन्द्रकील के शिखरों के मार्गों पर अत्यन्त थकावट के कारण धीरे धीरे चलती हुई उन देवाङ्गनाओं की हाथी के सूँड़ की सदृश मांसल सुन्दर जंघाओं के भार से देर से थके हुए नूतन किसलय के समान शोभायमान कोमल चरण समतल भूमि पर भी चलने में असमर्थ थे । वे पग-पग पर मानों शराबी के पैरों की भाँति लड़खड़ा रहे थे । इसी प्रकार उनकी जंघाएँ करधनी में जड़े हुए रत्नों की कान्ति से उत्पन्न मनोहर तथा ऊँचे पृथुल नितम्बों की शोभा से (गङ्गा के) नूतन वालुकामय तटों की शोभा को जीत रही थीं तथा अधिक परिश्रम की थकावट से वे बहुत भारी हो रहीं थीं । इसी प्रकार उनके उदरों में किञ्चित् विकसित कमल की कलिका के समान मनोहर नाभियों से नीवी (फुंफुदी) के समीप लुभावनी शोभा हो रही थी । वे (उदर) मध्यभाग में त्रिवलियों से सुशोभित तथा (जघन स्थलों पर) उन्नत एवं विशाल स्तनों के भारी बोझ के पड़ने के कारण भीतर की ओर झुके हुए थे । इसी प्रकार उनके नेत्र पसीने की बूँदों से चारों ओर व्याप्त होने के कारण पूर्ण रूप से खुल नहीं पा रहे थे, अतएव उनके मुख भी उन कमलों की शोभा की समानता कर रहे थे, जो जलबिन्दुओं से विभूषित एवं अविकसित पंखुड़ियों से युक्त होते हैं, इस प्रकार उपर्युक्त रीति से सुशोभित उन देवाङ्गनाओं के चरणों, जंघाओं, उदरों, नेत्रों तथा मुखों को विस्मयपूर्वक देखने वाले गन्धर्वों ने इस तरह के कुतूहल से देखा मानों उन्हें वे पहली बार देख रहे हों ।। २२-२६ ।।

विमर्श—प्रथम चार श्लोकों में इन्द्रकील के शिखरवर्ती मार्गों पर चलती हुई थकी देवाङ्गनाओं के चरणों, जंघाओं, उदरों, नेत्रों तथा मुखों का वर्णन करते हुए

कवि ने बताया है कि बहुत थक जाने के कारण उन सब की एक विचित्र ही शोभा हो गयी थी, जिससे उनके प्रियतम गन्धर्वों को भी ऐसा कुतूहल हुआ मानों वे प्रथम बार उनका दर्शन कर रहे हैं। प्रथम श्लोक में उपमा अलङ्कार है। द्वितीय में भी उपमा अलङ्कार है। चतुर्थ में भी उपमा है और पंचम में उत्प्रेक्षा अलङ्कार है किन्तु समष्टि रूप में इन पाँचों श्लोकों में स्वभावोक्ति अलङ्कार है जो उत्प्रेक्षा का अङ्ग बन गया है।

सम्प्रति सलिलक्रीडावर्णनमारभते—

अथ स्फुरन्मीनविधूतपङ्कजा विपङ्कतीरस्खलितोर्मिसंहतिः।
पयोऽवगाढुं कलहंसनादिनी समाजुहावेव वधूः सुरापगा ॥ २७ ॥

अन्वयः—अथस्फुरन्मीनविधूतपङ्कजा विपङ्कतीरस्खलितोर्मि संहतिः कलहंसनादिनी सुरापगा वधूः पयः अवगाढुं समाजुहाव इव ॥ २७ ॥

अथेति ॥ अथ पुष्पावचयानन्तरं स्फुरद्भिश्चलद्भिर्मीनैर्विधूतपङ्कजेति। सदृङ्-मुखवीक्षणोक्तिः। विपङ्कं पङ्करहितम्। विहारयोग्यमिति यावत्। तत्र तीरे स्खलिता विचलिता ऊर्मिसंहतिर्यस्याः सेति हस्तसंज्ञोक्तिः। कलहंसनादिनी कादम्बशब्दवतीति वाग्व्यापारोक्तिः। अत एव सुरापगा गङ्गा वधूरप्सरसः पयोऽवगाढुमवगाहितुम्। गाहे-रूदित्त्वादिङ्विकल्पः। समाजुहावेवाकारयामासेवेत्युत्प्रेक्षा। 'हूतिराकारणाह्वानम्' इत्यमरः। हूयतेर्लिट् 'अभ्यस्तस्य च' इति संप्रसारणम् ॥ २७ ॥

हिन्दी—{ अब जलक्रीड़ा का वर्णन कवि आरम्भ कर रहा है - } (पुष्पों के चुनने के अनन्तर) चञ्चल मछलियों के किल्लोल से जिसमें कमल कम्पित हो रहे थे, कीचड़ रहित तटों से चञ्चल लहरें जिसमें टकरा-टकरा कर फैल रही थीं, एवं राजहंस जिसमें कलकूजन कर रहे थे — ऐसी (वह) देवनदी मानों उन देवाङ्गनाओं को अपने शीतल जल में स्नान के लिए बुला रही थी ॥ २७ ॥

विमर्श—चञ्चल मछलियों से गङ्गा के नेत्र, चञ्चल लहरों से हाथ तथा राजहंसों के कलकूजन से उनकी वाणी का संकेत कवि ने किया है। यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार है।

प्रशान्तघर्माभिभवः शनैर्विवान् विलासिनीभ्यः परिमृष्टपङ्कजः।
ददौ भुजालम्बमिवात्तशीकरस्तरङ्गमालान्तरगोचरोऽनिलः ॥ २८ ॥

अन्वयः—प्रशान्तघर्माभिभवः शनैः विवान् परिमृष्टपङ्कजः आत्तशीकरः तरङ्गमालान्तरगोचरः अनिलः विलासिनीभ्यः भुजालम्बं ददौ इव ॥ २८ ॥

प्रशान्तेति ॥ प्रशान्तघर्माभिभवः प्रशान्तोष्णबाधः। 'वा दान्तशान्त—' इत्यादिना निपातनात्साधुः शनैर्विवान् मन्दं वहन्। वातेः शतृप्रत्ययः। परिमृष्टपङ्कजः। पद्मगन्धीत्यर्थः। आत्तशीकरः। कुतः। तरङ्गमालानामन्तरे गोचरः स्थानं यस्य

सोऽनिलो विलासिनीभ्यो भुजालम्बं ददाविवेत्युत्प्रेक्षा । विशिष्टवायुसंपर्कात्तथोच्छ्वसुरित्यर्थः ॥

हिन्दी—धूप की परेशानियों को शान्त करने वाले मन्द मन्द बहते हुए कमल गन्धवाही वायु ने तरङ्गों की पंक्तियों में से होते हुए मानों उन देवाङ्गनाओं को अपनी भुजाओं का अवलम्बन दे दिया ॥ २८ ॥

विमर्श—तात्पर्य यह है कि देवाङ्गनाएँ नदी तट पर ज्योंही पहुँचीं वहाँ की शीतल मन्द सुगन्ध वायु ने उनका स्वागत किया । कछार की ऊँची भूमि से नीचे उतरने वाली थकी माँदी उन सुकुमार देवाङ्गनाओं को हाथ का अवलम्ब देकर उतारना उचित ही था । यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ।

गतैः सहावैः कलहंसविक्रमं कलत्रभारैः पुलिनं नितम्बिभिः ।
मुखैः सरोजानि च दीर्घलोचनैः सुरस्त्रियः साम्यगुणान्निरासिरे ॥ २९ ॥

अन्वयः—सुरस्त्रियः सहावैः गतैः कलहं सविक्रमं नितम्बिभिः कलत्रभारैः पुलिनं दीर्घलोचनैः मुखैः सरोजानि च साम्यगुणात् निरासिरे ॥ २९ ॥

गतैरिति ॥ सुरस्त्रियोऽप्सरसः सहावैः सविलासैर्गतैर्गतिभिः । नपुंसके भावे क्तः । कलहंसानां विक्रमं गतिम् । विलासविधुरमिति शेषः । तथा नितम्बिभिः प्रशस्तनितम्बैः कलत्रभारैः जघनभारैः पुलिनम् । नितम्बभारशून्यमित्यर्थः । तथा दीर्घलोचनैर्मुखैः सरोजानि च । आलोचनानीति शेषः । साम्यगुणात् समानगुणत्वान्निरासिरे निरस्तवत्यः । गुणवदगुणयोः कुतः साम्यमिति भावः । अस्यतेः कर्तरि लिट् । 'उपसर्गादस्यत्यूह्योर्वा—' इति विकल्पादात्मनेपदम् ॥ २९ ॥

हिन्दी—देवाङ्गनाओं ने अपनी हाव-भाव भरी गति से राजहंसों की गति को, पृथुल नितम्बों से युक्त जघनों के भार से नदी के बालुकामय तट प्रान्तों को तथा लम्बे एवं विशाल नेत्रों से युक्त मुखों से कमलों की समानता को दूर कर दिया ।

विमर्श—राजहंसों की गति में अप्सराओं की गति जैसी मन्दता तो थी किन्तु हाव भाव नहीं थे, बालुकामय तट-प्रान्त उनके जघनों के समान ऊँचे एवं चिकने तो थे किन्तु उनमें पृथुल नितम्बों के समान कोई भार नहीं था एवं कमल उनके मुखों के समान मनोहर तो थे किन्तु उनमें आँखें नहीं थीं । तब फिर गुणवान् एवं निर्गुण में समानता कैसी ? ॥ २९ ॥

विभिन्नपर्यन्तगमीनपङ्क्तयः पुरो विगाढाः सखिभिर्मरुत्वतः ।
कथञ्चिदापः सुरसुन्दरीजनैः सभीतिभिस्तत्प्रथमं प्रपेदिरे ॥ ३० ॥

अन्वयः—मरुत्वतः सखिभिः पुरः विगाढाः विभिन्नपर्यन्तगमीनपंक्तयः सभीतिभिः सुरसुन्दरीजनैः तत्प्रथमं कथञ्चित् आपः प्रपेदिरे ॥ ३० ॥

विभिन्नेति ॥ विभिन्ना विच्युतसङ्घाताः पर्यन्तगाः प्रान्तगता मीनानां पङ्क्तयो-

यासां ताः। कुतः। मरुत्वतः सखिभिरिन्द्रस्य सचिवैर्गन्धर्वैः पुरः पूर्वं विगाढाः प्रविष्टाः। तासां विश्वासार्थं गर्तग्राहादिपरीक्षार्थं चेति भावः । सभीतिभिरप्रविष्टविषयत्वात् सभयैः। 'विषादिभिः' इति पाठेऽप्ययमेवार्थः। सुरसुन्दरीजनैस्तदेवावगाहनं प्रथमं यथा तथात एव कथञ्चिद्भयात् कृच्छ्रेण । आपः प्रपेदिरे जगाहिरे ।। ३० ।।

हिन्दी—इन्द्र के सचिव गन्धर्वों द्वारा (कहीं गड्ढा अथवा ग्राह आदि तो नहीं है, इसकी प्रतीति के लिए) प्रथम प्रवेश किये जाने पर, मछलियों की पंक्तियाँ समूह से च्युत होकर जिसमें इधर उधर तैर रही थीं—ऐसे उस नदी के जल में डरती हुई देवाङ्गनाओं का समूह, मानों प्रथम बार हो, इस तरह से किसी प्रकार प्रविष्ट हुआ ।

विमर्श—स्त्रियाँ अनजाने प्रदेश में यों ही डरती हैं तब फिर नदी के जल में उनका यह डरना तो स्वाभाविक ही था । अतएव उनके प्रियतम गन्धर्वों ने पहिले प्रविष्ट होकर उन्हें यह विश्वास दिलाया कि इसमें गड्ढा और मगर आदि हिंसक जन्तु नहीं हैं ।। ३० ।।

विगाढमात्रे रमणीभिरम्भसि प्रयत्नसंवाहितपीवरोरुभिः ।
विभिद्यमाना विससार सारसानुदस्य तीरेषु तरङ्गसंहतिः ।। ३१ ।।

अन्वयः—प्रयत्नसंवाहितपीवरोरुभिः रमणीभिः अम्भसि विगाढमात्रे विभिद्यमाना तरङ्गसंहतिः तीरेषु सारसान् उदस्य विससार ।। ३१ ।।

विगाढेति ।। प्रयत्नेन संवाहिताः संचारिताः पीवराः स्थूला ऊरवो याभिस्ताभी रमणीभिरम्भसि विगाढमात्रे प्रविष्ट एव सति । सुप्सुपेति समासः । 'मात्रं कार्त्स्न्येऽवधारणे' इत्यमरः । विभिद्यमाना स्वयं विशीर्यमाणा । कर्मकर्तर शानच् । तरङ्ग संहतिस्तीरेषु सारसान् पक्षिविशेषान् । 'सारसो मैथुनी कामी गोनर्दः पुष्कराह्वयः' इति यादवः । यद्वा, —सारसान् हंसान् । 'चक्राङ्गः सारसो हंसः' इति शब्दार्णवे । उदस्योत्सार्य विससार वितस्तार: ।। ३१ ।।

हिन्दी—बड़े प्रयत्न से किसी प्रकार अपनी स्थूल मांसल जंघाओं को उठा कर वे देवाङ्गनाएँ जैसे ही जल में प्रविष्ट हुईं तैसे ही नदी की लहरों की पंक्तियाँ टूट फूट कर तटों पर स्थित सारस आदि जल पक्षियों को दूर दूर हटाकर फैल गईं ।। ३१ ।।

शिलाघनैर्नाकसदामुरःस्थलैर्बृहन्निवेशैश्च वधूपयोधरैः ।
तटाभिनीतेन विभिन्नवीचिना रुषेव भेजे कलुषत्वमम्भसा ।। ३२ ।।

अन्वयः—शिलाघनैः नाकसदां उरःस्थलैः बृहन्निवेशैः वधूपयोधरैश्च तटाभिनीतेन विभिन्नवीचिना अभ्भसा रुषा इव कलुषत्वं भेजे ।। ३२ ।।

शिलेति।। शिलावद्धनैः कठिनैः। नाकसदां गन्धर्वाणामुरःस्थलैर्बृहन्निवेशैर्महासंस्थानैः । अतिस्थूलैरित्यर्थः । वधूपयोधरैश्च तटमभितो नीतेन प्रापितेनात एक

विभिन्नवीचिना भग्नोर्मिणाम्भसा कर्त्रा । रुषेवेति हेतूत्प्रेक्षा । कलुषत्वमाविलत्वं मनः—क्षोभश्च ध्वन्यते । भेजे । कर्मणि लिट् । यथा कश्चिन्मृदुस्वभावः केनचित्कठिनादिना साङ्गभङ्गं ताडयित्वा निष्कासितः क्षुभ्यति तद्वदिति भावः । 'कलुषत्वम्' इत्यत्र वाच्य-प्रतीयमानयोरभेदाध्यवसायः । अन्यथा शुद्धवाच्यस्याविलत्वस्य रोषहेतुकत्वादुत्प्रे-क्षानुविधानादिति ।। ३२ ।।

हिन्दी—पत्थर की शिलाओं के समान कठोर गन्धर्वों के वक्षस्थलों तथा अत्यन्त स्थूल एवं कठोर देवाङ्गनाओं के स्तनों से टकरा कर तटों पर पहुँचने के कारण टूटी हुई लहरियों से युक्त गङ्गा का जल मानों उन लोगों पर क्रुद्ध होकर कलुषित हो गया ।। ३२ ।।

विमर्श—जिस प्रकार से कोई मधुर स्वभाव का व्यक्ति कठोर स्वभाव के व्यक्ति द्वारा ताड़ित होकर निकाल दिया जाता है, तब वह क्षुब्ध होता है । उसी प्रकार नदी का जल भी मानों क्षुब्ध हो गया । यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ।

विधूतकेशाः परिलोलितस्रजः सुराङ्गनानां प्रविलुप्तचन्दनाः ।
अतिप्रसङ्गाद्विहितागसो मुहुः प्रकम्पमीयुः सभया इवोर्मयः ।। ३३ ।।

अन्वयः—विधूतकेशाः परिलोलितस्रजः प्रविलुप्तचन्दनाः अतिप्रसङ्गात् सुराङ्ग-नानां विहितागसः ऊर्मयः सभया इव, मुहुः प्रकम्पम् ईयुः ।। ३३ ।।

विधूतेति ।। विधूता विक्षिप्ताः केशा यैस्ते परिलोलिता विलोलिताः स्रजो यैस्ते प्रविलुप्तचन्दनाः प्रमृष्टाङ्गरागा अतिप्रसङ्गादविच्छेदात् सुराङ्गनानां विहितागसः कृतमण्डनखण्डनरूपापराधा अत एव ऊर्मयस्तरङ्गाः सभया इव स्त्रीभ्यो भीता इव मुहुः प्रकम्पमीयुः। स्वाभाविकस्य कम्पस्य भयहेतुकत्वमुत्प्रेक्ष्यते—यद्वा,—सुराङ्गनानां विधूतकेशा इत्यादियोजना । सापेक्षत्वेऽपि गमकत्वात् समासः । स्त्रीसंग्रहणसाहस-मपराधः । भयं तु राजादिभ्य इति ।। ३३ ।।

हिन्दी—देवाङ्गनाओं की केशराशि को बिखराती हुई, उनकी पुष्पमालाओं को चञ्चल करती हुई, उनके चन्दनादि अङ्गरागों को मिटाती हुई और इस प्रकार उनका अत्यन्त अपराध करती हुई मानों वे नदी की लहरें भयभीत-सी होकर बारम्बार काँपने लगीं ।। ३३ ।।

विमर्श—अपराधी अपने अपराध के कारण दण्ड के भय से काँपता ही है । तात्पर्य यह है कि देवाङ्गनाओं की जलक्रीड़ा से नदी की लहरें चञ्चल हो गईं । यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ।

विपक्षचित्तोन्मथना नखव्रणास्तिरोहिता विभ्रममण्डनेन ये ।
हृतस्य शेषानिव कुङ्कुमस्य तान् विकत्थनीयान्दधुरन्यथा स्त्रियः।। ३४।।

अन्वयः—विपक्षचित्तोन्मथनः ये नखव्रणाः विभ्रममण्डनेन तिरोहिताः हृतस्य, कुङ्कुमस्य शेषान् इव विकत्थनीयान् तान् स्त्रियः अन्यथा दधुः ।। ३४ ।।

विपक्षेति ।। विपक्षस्य सपत्नीजनस्य चित्तानामुन्मथनाः । व्यथका इत्यर्थः । बहुलग्रहणात्कर्तरि ल्युट् । ये नखव्रणा नखक्षतानि । 'व्रणोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः । विभ्रमस्य सौन्दर्यस्य मण्डनम् । तादर्थ्येऽप्यश्वघासादिवत् षष्ठीसमासः । न तु चतुर्थीसमासो यूपदार्वादिवत् प्रकृतिविकाराभावादिति । तेन कुङ्कुमलेपादिना तिरोहिताश्छन्ना हृतस्य क्षालितस्य कुङ्कुमस्य व्यञ्जकत्वेन शेषानिवावशिष्टलेशानिव स्थितानित्युत्प्रेक्षा । विकत्थनीयान् भर्तृत्वाल्लभ्यस्य व्यञ्जकत्वेन श्लाघनीयान् । तान् नखव्रणान् । स्त्रियोऽन्यथा दधुः । प्रकाशं दधुरित्यर्थः ।। ३४ ।।

हिन्दी—सपत्नियों के चित्त को खटकने वाले जो नखक्षत अब तक शृङ्गार प्रसाधनों से ढँके हुए थे वे जल से धुलकर मानों कुंकुमादि की शेष रेखा के समान बन गए थे अतः उनको उन रमणियों ने प्रियतम की प्राणवल्लभा होने की शेष मधुर स्मृति के रूप में स्पष्ट ही रखा ।। ३४ ।।

विमर्श—यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ।

अथ युग्मेनाह—सरोजेत्यादिना,—

सरोजपत्रे नु विलीनषट्पदे विलोलदृष्टेः स्विदमू विलोचने ।
शिरोरुहाः स्विन्नतपक्ष्मसन्ततेर्द्विरेफवृन्दं नु निशब्दनिश्चलम् ।। ३५ ।।
अगूढहासस्फुटदन्तकेसरं मुखं स्विदेतद्विकसन्नु पङ्कजम् ।
इति प्रलीनां नलिनीवने सखीं विदाम्बभूवुः सुचिरेण योषितः ।। ३६ ।।

अन्वयः—अमू विलीनषट्पदे सरोजपत्रे नु, विलोलदृष्टेः विलोचने स्वित् नतपक्ष्मसन्ततेः शिरोरुहाः स्वित् निशब्दनिश्चलम् द्विरेफवृन्दं नु । अगूढहासस्फुटदन्तकेसरं-मुखं स्वित् विकसत् एतत् पङ्कजं नु—इति नलिनीवने, प्रलीनां सखीं योषितः सुचिरेण विदाम्बभूवुः ।। ३५-३६ ।।

सरोजेति ।। अमू पुरोवर्तिनी विलीनषट्पदे संसक्तभृङ्गे । सकनीनिकत्वमक्ष्णोरर्थसिद्धमित्युपमानं विशिष्यते । सरोजपत्रे नु । यद्वा,—विलोलदृष्टेश्चञ्चलाक्ष्या विलोचने स्वित् । 'नु-स्वित्' शब्दौ वितर्के । किंच, नतपक्ष्मसंततेश्चञ्चलाक्ष्याः शिरोरुहाः स्विन्निशब्दं नीरवं च तन्निश्चलं च तद्विरेफवृन्दं नु ।। ३५ ।।

अगूढेति ।। किंच, अगूढहासो व्यक्तस्मितं तेन स्फुटा दन्ताः केसरा इव दन्त, केसरा यस्य तन्मुखं स्वित् । यद्वा,—विकसत्पङ्कजं नु । इतीत्थम् । संशयेनेति शेषः । नलिनीवने प्रलीनां निगूढां सखीं योषितः सुचिरेणातिविलम्ब्य । विकल्पादाम्प्रत्ययः । अत्र युग्मे निश्चयान्तसंदेहालङ्कारः ।। ३६ ।।

हिन्दी—ये दोनों भ्रमरसेवित कमल दल हैं अथवा चञ्चल नेत्रों वाली हमारी सखी के नेत्र ? ये सघन भौंहों वाली हमारी सखी के केशपाश हैं या चुपचाप निश्चल बैठे हुए भ्रमरों की पङ्क्तियाँ ? मन्द-मन्द मुस्कान के कारण स्पष्ट केसर के समान शोभायमान दाँतों की कान्तियों से मनोहर हमारी सखी के ये मुख हैं या खिलते हुए

कमल—इस प्रकार का तर्क-वितर्क करते हुए कमलिनियों के वन में छिपी अपनी किसी सखी को रमणियों ने बड़ी देर में पहचाना ।। ३५-३६ ।।

विमर्श—यहाँ सन्देह अलङ्कार है ।

प्रियेण संग्रथ्य विपक्षसन्निधावुपाहितां वक्षसि पीवरस्तने ।
स्रजं न काचिद् विजहौ जलाविलां वसन्ति हि प्रेम्णि गुणा न वस्तुनि ।। ३७ ।।

अन्वयः—काचित् प्रियेण सङ्ग्रथ्य विपक्षसन्निधौ पीवरस्तने वक्षसि उपाहितां स्रजं जलाविलां तां न विजहौ । हि गुणाः प्रेम्णि वसन्ति वस्तुनि न ।। ३७ ।।

प्रियणेति । काचित् प्रियेण संग्रथ्य स्वयमेव रचयित्वा विपक्षसंनिधौ सपत्नीजनसमक्षं पीवरस्तने वक्षस्युपाहितां स्रजं मालां जलाविलाम् । मृदितामपीत्यर्थः । तां न विजहौ न तत्याज । न च निर्गुणायां तत्र का प्रीतिरिति वाच्यमित्यर्थान्तरन्यासेनाह—गुणाः प्रेम्णि वसन्ति, वस्तुनि न वसन्ति हि । यत् प्रेमास्पदं तदेव गुणवत्। अन्यत्तु गुणवदपि निर्गुणमेव । प्रेम तु न वस्तुपरीक्षामपेक्षत इति भावः ।। ३७ ।।

हिन्दी—किसी नायिका ने सपत्नी के सम्मुख प्रियतम द्वारा गूँथकर उन्नत उरोजों से सुशोभित वक्षस्थल पर पहिनाई गई पुष्पमाला को जल से म्लान होने पर भी नहीं छोड़ा । सच है, गुण तो प्रेम में निवास करते हैं, वस्तु में नहीं ।। ३७ ।।

विमर्श—प्रेम वस्तु की उपयोगिता या अनुपयोगिता की अपेक्षा नहीं रखता । यहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ।

असंशयं न्यस्तमुपान्तरक्ततां यदेव रोद्धुं रमणीभिरञ्जनम् ।
हृतेऽपि तस्मिन् सलिलेन शुक्लतां निरास रागो नयनेषु न श्रियम् ।। ३८ ।।

अन्वयः—रमणीभिः यत् अञ्जनम् न्यस्तम् उपान्तरक्ततां रोद्धुं एव असंशयं तस्मिन् सलिलेन हृते अपि रागः नयनेषु शुक्लतां निरास श्रियम् न ।। ३८ ।।

असंशयमिति ।। स्त्रीणां नेत्रशोभार्थमञ्जनधारणमम्बुविहारोपगमाद्रक्तवर्णत्वं चाक्ष्णां ततः शुक्लत्वतिरोधानं च निश्चितमित्युत्प्रेक्ष्यते —रमणीभिर्यदञ्जनं न्यस्तम् । तदिति शेषः । यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात् । तदञ्जनमुपान्तयो रक्ततां रोद्धुं प्रतिबद्धुमेव न्यस्तम् । नतु शोभार्थमित्यर्थः । अन्यथा रागाभिव्याप्त्या शुक्लत्वतिरोधानां स्यादित्यर्थः । असंशयमित्युत्प्रेक्षाव्यञ्जकम् । संशयस्याप्यभावः । नात्र संशयोऽस्तीत्यर्थः । अर्थाभावेऽव्ययीभावः । कुत एतदिति चेद्यतस्तस्मिन्नञ्जने सलिलेन हृते क्षालिते सत्यपि रागः पूर्वोक्त एवोपान्तरक्तता किन्तु प्रतिबन्धाभावादभितो व्याप्त्येत्याशयः । नयनेषु शुक्लतां निरास निरस्तवान् । अस्यतेर्लिट् । श्रियं शोभां तु न निरास । अतः शुक्लत्वविरोधिरागनिरोधार्थमेवेदमञ्जनं स्यात् न तु शोभार्थम् । तस्यास्तदभावेऽपि सद्भावादित्यर्थः । अञ्जनापगमेऽपि तन्नयनानां राग एवालङ्कारोऽभूदिति भावः । अत्राञ्जनन्यासमनूद्य तस्य शोभार्थत्वनिषेधेन रागरोधार्थत्वोत्प्रेक्षणमुदितम्। उत्तरार्धे तस्यैव

समर्थनात् । एवमुपान्तरक्ततां रोद्धुं यदञ्जनं न्यस्तमित्येकान्वये विध्यनुवादविरोधः स्यात् ॥ ३८ ॥

हिन्दी—सुन्दरियों ने जो अञ्जन लगा रखा था वह मानों नेत्रों के समीप (कानों की) लालिमा की गति को रोकने के लिए ही था; यह निस्सन्देह समझना चाहिये, क्योंकि उसके जल से धुल जाने पर भी लालिमा ने नेत्रों की श्वेतता को तो दूर कर दिया किन्तु शोभा को वह नहीं दूर कर सकी ॥ ३८ ॥

विमर्श—नदियों आदि में देर तक स्नान करने से आँखें लाल हो जाती हैं । कवि उसी के सम्बन्ध में एक नूतन उत्प्रेक्षा कर रहा है । उसका कथन है कि उन अप्सराओं का अञ्जन का लगाना उनकी नेत्रों की शोभा-वृद्धि के लिए नहीं प्रत्युत आँखों के समीप अर्थात् आँखों के कोनों में जो लालिमा रहती है उसी को छिपाने के लिए था, क्योंकि स्नान से जब अञ्जन धुल गया तब लालिमा तो आँखों भर में फैल गयी किन्तु शोभा की हानि तनिक भी नहीं हुई । प्रत्युत वह लालिमा भी उनका अलङ्कार ही बन गयी । गम्योत्प्रेक्षा ।

द्युतिं वहन्तो वनितावतंसका हृता: प्रलोभादिव वेगिभिर्जलै: ।
उपप्लुतास्तत्क्षणशोचनीयतां च्युताधिकारा: सचिवा इवाययु: ॥ ३९ ॥

अन्वय:—द्युतिं वहन्त: वेगिभि: जलै: प्रलोभात् हृता: उपप्लुता: वनितावतंसका: च्युताऽधिकारा: सचिवा: इव तत्क्षणं शोचनीयताम् आययु: ॥ ३९ ॥

द्युतिमिति ॥ द्युतिं शोभां तेजश्च वहन्तो वेगिभिर्जविभिर्जलैर्जडैश्च । डलयोरभेदात् । हृता गृहीता उपप्लुता मृदिता: । यद्वा, —कर्तरि क्त: । प्लवमाना इत्यर्थ: । अन्यत्र,—धनग्रहणबन्धनादिना पीडिता वनितावतंसकाश्च्युताधिकारा भ्रष्टाधिकारा: साचवा इव तत्क्षणं शोचनीयतामाययु: प्रापु: ॥ ३९ ॥

हिन्दी—शोभा (तेज को) धारण करने वाले वेगवान जलों (मूर्खों) से लोभ के कारण छीने गएं रमणियों के वे बहते हुए, शिर के मलिन पुष्पाभूषण अधिकार से च्युत किए गए मन्त्रियों की भाँति तुरन्त ही शोचनीय स्थिति को पहुँच गए ॥ ३९ ॥

विमर्श—जिस प्रकार राजमन्त्री धूर्तों द्वारा पदच्युत करा दिए जाने पर श्रीविहीन हो जाते हैं, उसी प्रकार रमणियों की वे मालाएँ जिन्हें उन्होंने अपने शिर पर सजा रखा था, नदी की वेगवती जलधारा में बहती हुई अशोभित दिखाई पड़ीं । यहाँ उपमा अलङ्कार है ।

विपत्रलेखा निरलक्तकाधरा निरञ्जनाक्षीरपि बिभ्रती: श्रियम् ।
निरीक्ष्य रामा बुबुधे नभश्चरैरलङ्कृतं तद्वपुषैव मण्डनम् ॥ ४० ॥

अन्वय:—विपत्रलेखा: निरलक्तकाधरा: निरञ्जनाक्षी: अपि श्रियं बिभ्रती: रामा निरीक्ष्य नभश्चरै: तद्वपुषा एव मण्डनम् अलङ्कृतम् बुबुधे ॥ ४० ॥

विपत्रेति ।। विगता: पत्रलेखास्तिलकविशेषा यासां ता विपत्रलेखा: । निरलक्तका: क्षालितरागा अधरा यासां ता: । निरञ्जनान्यक्षीणि यासां ता निरञ्जनाक्षीरपि । 'बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णो: स्वाङ्गात्षच्'। 'षिद्गौरादिभ्यश्च' इति ङीष्। तथापि श्रियं बिभ्रती: शोभाकारणाभावेऽपि शोभमाना इति विभावनालङ्कार: । रामा निरीक्ष्य नभश्चरैर्गन्धर्वैस्तासां वपुषैव मण्डनमलङ्कृतम् । न तु मण्डनेन तद्वपुरित्यक्षरार्थ: । इति बुबुधे ज्ञातम् । कर्मणि लिट् । स्वभावरमणीयानां किमलङ्करणैरिति भाव: ।। ४० ।।

हिन्दी—स्नान के कारण रमणियों के तिलक एवं अङ्गरचनाएँ धुल गयी हैं, अधरों से आलते का रङ्ग छूट गया है, आँखों में से अञ्जन भी पुंछ गए है, किन्तु तब भी शोभा धारण करने वाली उन रमणियों को देखकर गन्धर्वों ने यह समझ लिया कि इनके सुन्दर शरीरों से ही आभूषणों की शोभा होती है । (न कि आभूषणों से इनके शरीरों की) ।। ४० ।।

विमर्श—अर्थात् सहज सुन्दर व्यक्तियों के लिए अलङ्कारों की क्या उपयोगिता ? यहाँ विभावना अलङ्कार है ।

तथा न पूर्वं कृतभूषणादर: प्रियानुरागेण विलासिनीजन: ।
यथा जलार्द्रो नखमण्डनश्रिया ददाह दृष्टीश्च विपक्षयोषिताम् ।। ४१ ।।

अन्वय:—विलासिनीजन: पूर्वं प्रियानुरागेण कृतभूषणादर: च विपक्षयोषितां दृष्टी: तथा न ददाह यथा जलार्द्र: नखमण्डनश्रिया ।। ४१ ।।

तथेति ।। विलासिनीजन: पूर्वं जलविहारात्प्राक् प्रियानुरागेण कृतो भूषणेष्वादर आसक्तिर्येन स: । अनुरक्तप्रियत्वात्सम्यक्प्रसाधित: सन्नपीत्यर्थ: । प्रियस्यानुरागेण च विपक्षयोषितां सपत्नीनां दृष्टीश्चक्षूंषि तथा न ददाह न दु:खीचकार । यथा जलार्द्र: सन् । 'नख' शब्देन नखक्षतानि लक्ष्यन्ते । तान्येव मण्डनं तस्य श्रिया । तत्कृतशोभयेत्यर्थ: । विपक्षयोषितां सपत्नीनां दृष्टीश्चक्षूंषि यथा ददाह तापयामास । मण्डनान्तरादपि नखमण्डनानुरागादपि तदनुभाव एव सपत्नीनां दु:खहेतुरिति भाव: । जलार्द्रो ददाहेति विरुद्धकार्योत्पत्तिरूपो विषमालङ्कार:। 'विरुद्धकार्यस्योत्पत्तिर्यत्रानर्थस्य वा भवेत् । विरूपघटना वा स्याद्विषमालङ्कृतिस्त्रिधा ।।' इति लक्षणात् ।। ४१ ।।

हिन्दी—रमणियों ने अपने प्रेमियों की प्रीति के लिए जिन आभूषणों को पहन रखा था, उनके द्वारा उन्होंने सपत्नियों की आंखों को उतना नहीं जलाया जितना जल से भींग कर उन्होंने अपने (स्पष्ट दिखाई पड़ने वाले) नख-क्षतों की शोभा से उन्हें जलाया ।। ४१ ।।

विमर्श—अर्थात् जल से भींगी हुई उन रमणियों के शरीर पर जब सपत्नियों ने नखक्षतों को देखा तो वे अत्यधिक जल उठीं, उतनी जलन उन्हें प्रेमियों द्वारा पहिनाए गए सपत्नी के आभूषणों से भी नहीं हुई थी । जल से भींगी हुई वस्तु के संयोग से आग की जलन कुछ कम हो जाती है, किन्तु यहाँ तो ठीक उसका विपरीत हुआ । जलन बढ़ गई । यहाँ विषम अलङ्कार है ।

शुभाननाः साम्बुरुहेषु भीरवो विलोलहाराश्चलफेनपङ्क्तिषु ।
नितान्तगौर्यो हृतकुङ्कुमेष्वलं न लेभिरे ताः परभागमूर्मिषु ॥ ४२ ॥

अन्वयः—शुभाननाः विलोलहाराः नितान्तगौर्यः भीरवः ताः साम्बुरुहेषु चल-फेनपङ्क्तिषु हृतकुङ्कुमेषु ऊर्मिषु अलं परभागम् न लेभिरे ॥ ४२ ॥

शुभेति ॥ शुभानना विलोलहारा नितान्तगौर्योऽरुणाङ्ग्यः । 'गौरोऽरुणे सिते पीते' इति वैजयन्ती । भीरवस्ताः स्त्रियः साम्बुरुहेषु चलाः फेनपङ्क्तयो येषु तेषु हृतानि कुसुमानि यैस्तेषु । कुङ्कुमसंक्रमारुणेष्वित्यर्थः । ऊर्मिषु विषयेषु । अलमत्यर्थं परभागं गुणोत्कर्षं न लेभिरे । 'परभागो गुणोत्कर्षः' इति यादवः । तासामूर्मीणां चारुणत्वादिगुणसाम्यान्न कश्चिद्विशेषो लक्ष्यत इत्यर्थः । अत एव सामान्यालङ्कारः, 'सामान्यं गुणसाम्येन यत्र वस्त्वन्तरैकता' इति लक्षणात् । शुभाननत्वसाम्बुरुहत्वाद्यु-भयविशेषणानां क्रमेणोभयस्मिन् समन्वयाद्यथासंख्यालङ्कारश्च । 'यथासंख्यं क्रमेणैव क्रमिकाणां समन्वयात्' इति काव्यप्रकाशे लक्षणात् । अनयोरङ्गाङ्गिभावेन संकरः ।

हिन्दी—सुन्दर (कमल के समान) मुख वाली, मुक्ताओं की चञ्चल माला से विभूषित एवं अत्यन्त गौरवर्ण की वे शङ्कालुप्रकृति रमणियाँ कमलों से विभूषित, चञ्चल फेनों की पङ्क्ति से सुशोभित तथा छूटे हुए कुंकुम आदि के लाल रङ्गों से अनुरंजित जल की लहरों में अपने से अधिक विशेषता नहीं पा सकीं ॥ ४२ ॥

विमर्श—अर्थात् जो-जो विशेषताएँ जल की लहरों में थीं, वे ही और अधिक सुन्दर रूप में स्वयं उनमें भी विद्यमान थीं । यथासंख्य और सामान्य अलङ्कार का अङ्गाङ्गी भाव से संकर ।

ह्रदाम्भसि व्यस्तवधूकराहते रवं मृदङ्गध्वनिधीरमुज्झति ।
मुहुः स्तनैस्तालसमं समाददे मनोरमं नृत्यमिव प्रवेपितम् ॥ ४३ ॥

अन्वयः—व्यस्तवधूकराहते ह्रदाम्भसि मृदङ्गध्वनिधीरं रवं उज्झति मुहुः स्तनैस्तालसमं मनोरमम् नृत्यम् इव प्रवेपितम् समाददे ॥ ४६ ॥

ह्रदेति ॥ व्यस्ताभ्यां विपर्यासिताभ्यां वधूकराभ्यामाहते । एकेन करेणो-त्सार्यान्येन ताडित इत्यर्थः । ह्रदाम्भसि मृदङ्गध्वनिवद्धीरं गम्भीरं रवमुज्झति सति । तथा ध्वनति सतीत्यर्थः । मुहुः स्तनैस्तालो गीतवाद्यनृत्यनां कालपरिच्छेदः । 'तालः कालक्रियामानम्' इत्यमरः । तस्य सममनुरूपं मनोरमं नृत्यमिव प्रवेपितं प्रकम्पः । भावे क्तः । समाददे स्वीकृतम् । उपमालङ्कारः ॥ ४३ ॥

हिन्दी—जलक्रीड़ा के समय रमणियों के एक हाथ से उठाकर दूसरे हाथ द्वारा ताड़ित होकर जल के मृदङ्ग के समान गंभीर ध्वनि करने पर उनके स्तन ताल देने के समान हिलने लगे तथा वे शीत से काँपती हुई (स्वयं) नृत्य सा करने लगीं ॥ ४३ ॥

विमर्श—यहाँ उपमा अलङ्कार है ।

श्रिया हसद्भिः कमलानि सस्मितैरलङ्कृताम्बुः प्रतिमागतैर्मुखैः ।
कृतानुकूल्या सुरराजयोषितां प्रसादसाफल्यमवाप जाह्नवी ॥ ४४ ॥

अन्वयः—श्रिया कमलानि हसद्भिः सस्मितैः प्रतिमागतैः मुखैः अलङ्कृताम्बुः सुरराजयोषितां कृतानुकूल्या जाह्नवी प्रसादसाफल्यम् अवाप ॥ ४४ ॥

श्रियेति ॥ श्रिया शोभया कमलानि हसद्भिः । कमलसदृशैरित्यर्थः । 'हसतीर्ष्यत्यसूयति' इति दण्डिना सदृशपर्यायपरा उक्ताः । सस्मितैः प्रतिमागतैः । प्रतिबिम्बगतैरित्यर्थः । 'प्रतिमानं प्रतिबिम्बं प्रतिमा' इत्यमरः । मुखैरलङ्कृतान्यम्बूनि यस्याः सा । किंच, सुरराजयोषितां कृतमानुकूल्यं विहाराद्युपकारो यया सा । इत्थं योषिद्भिरुपकृता स्वयं च तासामुपचिकीर्षुर्जाह्नवी गङ्गा प्रसादस्य स्वच्छत्वस्य साफल्यम् । अर्थगौरववत्षष्ठीसमासनिर्वाहः । अवाप । अप्रसन्नाम्भसि विहारबिम्बग्रहणयोरसंभवादित्यर्थः । स्वच्छा एव परैरुपक्रियन्ते । स्वयं चोपकुर्वते तेषामिति भावः । 'कृतानुकारा' इति पाठेऽनुकारोऽनुकूलकरणमुपकार इत्येवं व्याख्येयम् । अत्र जाह्नवीविशेषणपदार्थस्य साफल्यं प्रति हेतुत्वात्काव्यलिङ्गमलङ्कारः ॥ ४४ ॥

हिन्दी—अपनी शोभा से कमलों का उपहास करने वाले, ईषत् हास्य युक्त प्रतिबिम्बित मुखों से सुशोभित एवं देवाङ्गनाओं के जलविहारादि उपकारों में रत गङ्गा ने अपने निर्मल स्वच्छ जल की सफलता को यथेष्ट रूप में प्राप्त किया ॥ ४४ ॥

विमर्श—गङ्गा का जल यदि स्वच्छ निर्मल न होता तो देवाङ्गनाएँ न तो उसमें बिहार ही करतीं और न उनके मुख का प्रतिबिम्ब ही उसमें दिखाई पड़ता । स्वच्छ (हृदय के) लोग ही दूसरों द्वारा उपकृत हो सकते हैं और स्वयं दूसरों का उपकार कर सकते हैं । यहाँ काव्यलिङ्ग अलङ्कार है ।

परिस्फुरन्मीनविघट्टितोरवः सुराङ्गनास्त्रासविलोलदृष्टयः ।
उपाययुः कम्पितपाणिपल्लवाः सखीजनस्यापि विलोकनीयताम् ॥ ४५ ॥

अन्वयः—परिस्फुरन्मीनविघट्टितोरवः त्रासविलोलदृष्टयः कम्पितपाणिपल्लवाः सुराङ्गनाः सखीजनस्य अपि विलोकनीयताम् उपाययुः ॥ ४५ ॥

परीति ॥ परितः स्फुरद्भिर्विवर्तमानैर्मीनैर्विघट्टिता ऊरवो यासां ता अत एव त्रासाविलोलदृष्टयो भयविकसन्नेत्राः कम्पितपाणिपल्लवाश्च सुराङ्गनाः सखीजनस्यापि विलोकनीयतामुपाययुः । किमुत प्रियजनस्येति भावः । स्वभावोक्तिरलङ्कारः ॥ ४५ ॥

हिन्दी—जल में तैरती हुई मछलियों द्वारा जाँघों में धक्का लग जाने से भयभीत एवं चञ्चलदृष्टि रमणियाँ जब अपने पाणि पल्लवों को झटकने लगीं तो वे अपनी सखियों के लिए भी दर्शनीय बन गयीं । (प्रेमियों के बारे में तो ही क्या ?) ॥ ४५ ॥

विमर्श—यहाँ स्वाभावोक्ति अलङ्कार है ।

भयादिवाश्लिष्य झषाहतेऽम्भसि प्रियं मुदानन्दयति स्म मानिनी।
अकृत्रिमप्रेमरसाहितैर्मनो हरन्ति रामाः कृतकैरपीहितैः ।। ४६ ।।

अन्वयः—मानिनी अम्भसि झषाहते भयात् इव मुदा आश्लिष्य, प्रियं आनन्दयति स्म । रामाः अकृत्रिमप्रेमरसाहितैः कृतकैः अपि ईहितैः मनः हरन्ति ।। ४६ ।।

भयादिति ।। मानिनी । दुर्लभस्वयंग्रहणेति भावः। अम्भसि जले झषेण मत्स्येनाहते सति । 'पृथुरोमा झषो मत्स्यः' इत्यमरः। भयादिव । वस्तुतस्तु न तथेति भावः। किन्तु मुदौत्सुक्येनैवाश्लिष्य प्रियमानन्दयति स्म । तथा हि—रामाः श्रियोऽकृत्रिमोऽनारोपितो यः प्रेमरसस्तेनाहितैर्जनितैः कृतकैः कृत्रिमैरपीत्यर्थः । ईहितैश्चेष्टितैर्मनो हरन्ति । आरोपितमपि भयं प्रेममूलत्वान्मनोहरं बभूवेत्यर्थः । अत्राल्पानुभावेन भयेन सहजरागनिगूहनान्मीलनालङ्कारः 'मीलनं वस्तुना यत्र वस्त्वन्तरनिगूहनम्' इति लक्षणान्तरसंभवादर्थान्तरन्यासेन संसृज्यते ।। ४६ ।।

हिन्दी—एक मानिनी नायिका एक बड़ी मछली द्वारा जल में धक्का लग जाने से मानों भयभीत-सी होकर अत्यन्त उत्सुकतापूर्वक अपने प्रेमी से लिपट कर उसे आनन्दित करने लगी । सच है, स्त्रियाँ अपनी बनावटी चेष्टाओं से भी, यदि वे स्वाभाविक प्रेम-रस से परिपूर्ण होती हैं तो प्रेमियों का मन मोह लेती हैं ।। ४६ ।।

विमर्श—उसका बनावटी भय वास्तविक प्रेमरस से परिपूर्ण था । मीलन अलङ्कार तथा अर्थान्तरन्यास की संसृष्टि ।

तिरोहितान्तानि नितान्तमाकुलैरपां विगाहादलकैः प्रसारिभिः।
ययुर्वधूनां वदनानि तुल्यतां द्विरेफवृन्दान्तरितैः सरोरुहैः।। ४७ ।।

अन्वयः—अपां विगाहात् नितान्तम् आकुलैः प्रसारिभिः अलकैः तिरोहितान्तानि वधूनां वदनानि द्विरेफवृन्दान्तरितैः सरोरुहैः तुल्यतां ययुः ।। ४७ ।।

तिरोहितेति ।। अपां विगाहान्नितान्तमाकुलैर्विकीर्णैः प्रसारिभिरायतैः । अलकैः केशैः । तिरोहितान्तानि छन्नप्रान्तानि वधूनां वदनानि द्विरेफवृन्दैरन्तरितानि छन्नानि सरोरुहाणि तैः सरोरुहैस्तुल्यतां ययुरित्युपमालङ्कारः ।। ४७ ।।

हिन्दी—जल-विहार करने के कारण नितान्त बिखरे हुए लम्बे-लम्बे केशपाशों से ढँके हुए देवाङ्गनाओं के मुख भ्रमर की पङ्क्तियों द्वारा छिपे हुए कमलों की समानता को प्राप्त हो रहे थे ।। ४७ ।।

विमर्श—यहाँ उपमा अलङ्कार है ।

करौ धुनाना नवपल्लवाकृती पयस्यगाधे किल जातसम्भ्रमा ।
सखीषु निर्वाच्यमधार्ष्ट्यदूषितं प्रियाङ्गसंश्लेषमवाप मानिनी ।। ४८ ।।

अन्वयः—मानिनी पयसि अगाधे किल जातसम्भ्रमा नवपल्लवाकृती करौ धुनाना सखीषु निर्वाच्यम् अधार्ष्ट्य दूषितं प्रियाङ्गसंश्लेषं अवाप ।। ४८ ।।

कराविति।। मानिनी पयस्यगाधे सति । किलेत्यलीके। मज्जनभयादिवेत्यर्थ:। जातसंभ्रमा उत्पन्नभया । अत एव नवपल्लवाकृती करौ धुनाना कम्पयन्ती । धूनोते: क्रयादिकात्कर्तरि लट: शानच् । सखीषु विषये निर्वाच्यमवाच्यम् । अनिन्द्यमित्यर्थ: । धाष्टर्यदूषितश्च न भवतीति अधाष्टर्यदूषितस्तम् । वस्तुतो रागमूलमपि भयमूलत्वारोपादिति भाव: । प्रियाङ्गसंश्लेषमवाप । अत्रापि तुल्याङ्गेन भयेनागन्तुकेन सहजानुरागनिगूहनान्मीलनालङ्कार: । तदुक्तं काव्यप्रकाशे — 'समानलक्षणं वस्तु वस्तुना यन्निगूह्यते । निजेनागन्तुना वापि तन्मीलनमुदाहृतम् ।।' इति ।। ४८ ।।

हिन्दी—एक मानिनी नायिका अगाध जल में डूब जाने की शङ्का से त्रस्त होकर नूतन पल्लव के समान अपने मनोहर हाथों को कँपाती हुई अपने प्रेमी के अङ्गों से लिपट गई । उसके इस व्यवहार पर उसकी सखियों ने धृष्टता का आरोप नहीं लगाया ।। ४८ ।।

विमर्श—यहाँ मीलन अलङ्कार है ।

प्रियै: सलीलं करवारिवारित: प्रवृद्धनि:श्वासविकम्पितस्तन:।
सविभ्रमाधूतकराग्रपल्लवो यथार्थतामाप विलासिनीजन: ।। ४९ ।।

अन्वय:—प्रियै: सलीलं करवारिवारित: प्रवृद्धनि:श्वासविकम्पितस्तन: सविभ्रमाधूतकराग्रपल्लव: विलासिनीजन: यथार्थताम् आप ।। ४९ ।।

प्रियैरिति ।। प्रियै: कामिभि: सलीलं करवारिभिरञ्जलिजलैर्वारितोऽवरुद्ध: । सिक्तइत्यर्थ:। प्रवृद्धै: संततैर्नि:श्वासैर्विकम्पितौ स्तनौ यस्य स:। सविभ्रमं सविलासमाधूतानि कराग्रपल्लवानि पाणिपल्लवानि येन स: । विलसनशीला विलासिनी । 'वौ कषलसकत्थस्रम्भ:' इति घिनुण्प्रत्यय:। सैव जन:। जातावेकवचनम् । यथार्थतामाप। उक्तरीत्यानेकविलासवत्तया यथार्थनामकत्वमवापेत्यर्थ: । 'क्वचिद्गम्यमानार्थं स्याप्रयोग:' इति नाम्नो न प्रयोग: । यथा माघे —'चिराय याथार्थ्यमलम्भि दिग्गजै:' इति । क्वचित्प्रयुज्यते च; यथा रघुवंशे —'परतपो नाम यथार्थनामा' इति । नैषधेऽपि —'स जयत्यरिसार्थसार्थकीकृतनामा किल भीमभूपति:' इति। स्वभावोक्तिरलङ्कार: ।। ४९ ।।

हिन्दी—प्रेमियों द्वारा लीलापूर्वक हाथों से जल का छींटा देते हुए विलासिनियाँ जब रोक दी गयीं तो लम्बी-लम्बी साँसें खींचने लगीं और उनके स्तन काँपने लगे और वे हाव-भाव के साथ अपनी पल्लवानुकारिणी हथेलियाँ हिलाने लगीं। इस प्रकार उन्होंने अपने विलासिनी नाम की सार्थकता सिद्ध कर दी ।। ४९ ।।

विमर्श—यहाँ स्वभावोक्ति अलङ्कार है ।

उदस्य धैर्यं दयितेन सादरं प्रसादितायाः करवारिवारितम्।
मुखं निमीलन्नयनं नतभ्रुव: श्रियं सपत्नीवदनादिवाददे ।। ५० ।।

अन्वय:—दयितेन धैर्यं उदस्य सादरं प्रसादिताया: नतभ्रुव: करवारिवारितम् निमीलन् नयनं मुखं सपत्नीवदनात् इव श्रियम् आददे ।। ५० ।।

उदस्येति ।। दयितेन धैर्यं काठिन्यम् । उदस्यापनीय । अनुनीयेत्यर्थः । सादरं यथा तथा प्रसादितायाः सौमनस्यं गमितायाः नतभ्रुवः स्त्रियः सम्बन्धिकरवारिभिर्वारितमवरुद्धमत एव निमीलती नयने यस्य तन्मुखं सपत्नीवदनादिव श्रियमाददे जग्राह । तदानीं तद्वदनस्य निःश्रीकत्वात्तदीयश्रीग्रहणमुत्प्रेक्ष्यते ।। ५० ।।

हिन्दी—प्रेमी ने अपनी धीरता अर्थात् कठोरता दूर कर आदरपूर्वक प्रसन्न की गई सुन्दरी की नम्र भौहों वाली आँखों पर जब जल के छींटे डालना शुरू किया तब उसने आँखें मूँद लीं जिससे उसका मुख मानों सपत्नी के मुख की शोभा धारण करने लगा ।। ५० ।।

विमर्श—अर्थात् उस समय उसका मुख सुन्दर नहीं मालूम पड़ रहा था । सपत्नियाँ भी ऐसे प्रसङ्गों पर क्रोध से आँखें मूँद लेती हैं । यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ।

विहस्य पाणौ विधृते धृताम्भसि प्रियेण वध्वा मदनार्द्रचेतसः ।
सखीव काञ्ची पयसा घनीकृता बभार वीतोच्चयबन्धमंशुकम् ।। ५१ ।।

अन्वयः—धृताम्भसि पाणौ प्रियेण विहस्य विधृते सति मदनार्द्रचेतसः वध्वाः वीतोच्चयबन्धं अंशुकं पयसा घनीकृता काञ्ची सखी इव बभार ।। ५१ ।।

विहस्येति ।। धृताम्भसि प्रियसेचनार्थं गृहीतजले पाणौ । अञ्जलावित्यर्थः । प्रियेण विहस्य विधृतेऽवलम्बिते सति । अत एव मदनार्द्रचेतसो मदनपरवशाया वध्वाः सम्बन्धि वीतोच्चयबन्धं मुक्तनीविग्रन्थि । स्त्रंसमानमित्यर्थः । अशुकं पयसा घनीकृता काञ्ची सखी बभार जग्राह । स्त्रीणां किल स्त्रीष्वेवायत्तं लज्जारक्षणमिति भावः ।। ५१ ।।

हिन्दी—अपने प्रियतम के ऊपर डालने के लिए किसी सुन्दरी ने ज्योंही अपनी अञ्जलि में पानी लिया त्यों ही उसके प्रियतम ने हँसकर उसका हाथ पकड़ लिया । इससे चित्त में कामोद्रेक होने से परवश उस सुन्दरी का नीवी बन्धन ढीला हो गया और वस्त्र खिसकने लगा किन्तु उसे उसी क्षण जल में भींगने से कड़ी हुई करधनी ने मानों सखी की भाँति खिसकने से रोक लिया ।। ५१ ।।

विमर्श—स्त्रियों की लज्जा स्त्रियाँ ही रख सकती हैं । यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ।

निरञ्जने साचिविलोकितं दृशावयावकं वेपथुरोष्ठपल्लवम् ।
नतभ्रुवो मण्डयति स्म विग्रहे वलिक्रिया चातिलकं तदास्पदम् ।। ५२ ।।

अन्वयः—नतभ्रुवः विग्रहे निरञ्जने दृशौ साचिविलोकितं अयावकं ओष्ठ पल्लवं वेपथुः अतिलकं तदास्पदं वलिक्रिया च मण्डयति स्म ।। ५२ ।।

निरञ्जन इति ।। नतभ्रुवोऽङ्गनाया विग्रहे वपुषि निरञ्जने निर्धौतकज्जले दृशौ विलोचने कर्म साचिविलोकितं तिर्यगीक्षणं कर्तृ मण्डयति स्म । 'तिर्यगर्थे साचि तिरः'

इत्यमर:। अयावकं क्षालितलाक्षारागमोष्ठपल्लवं वेपथु: कम्पो मण्डयति स्म। 'टिव-तोऽथुच्' इत्यथुच्प्रत्यय: । अतिलकं तिलकरहितं तदास्पदं तिलकस्थानं ललाटम् । 'आस्पदं प्रतिष्ठायाम्' इति निपात: । वलिक्रिया रेखाबन्धश्च मण्डयति स्म । तदा निरलङ्कारस्याङ्गनाशरीरस्य तच्छरीरविकारैरेवालङ्कार: समजनीत्यर्थ: ।। ५२ ।।

हिन्दी—उन नीची भौंहों वाली सुन्दरियों के शरीर में अञ्जनरहित आँखों को उनकी तिरछी चितवन ने; लाल रंग से विहीन ओठों को उनके कम्पन ने तथा तिलकरहित उनके ललाटों को उनकी ललाट की तिरछी रेखाओं ने विभूषित किया ।। ५२ ।।

विमर्श—इस प्रकार इन अलङ्कारों से विहीन सुन्दरियों के शारीरिक विकारों ने ही उन्हें विभूषित किया ।

निमीलदाकेकरलोलचक्षुषां प्रियोपकण्ठं कृतगात्रवेपथु: ।
निमज्जतीनां श्वसितोद्धतस्तन: श्रमो नु तासां मदनो नु पप्रथे ।। ५३ ।।

अन्वय:—प्रियोपकण्ठं निमज्जतीनां निमीलदाकेकरलोलचक्षुषां तासां कृतगात्र-वेपथु: श्वसितोद्धतस्तन: श्रम: नु मदन: नु पप्रथे ।। ५६ ।।

निमीलदिति ।। प्रियोपकण्ठं प्रियसमीपे । अत्यन्तसंयोगे द्वितीया । निमज्ज-तीनां विगाहमानानाम एव निमीलन्ति निमिषन्त्याकेकराणि आकेकरवन्ति लोलानि चक्षूंषि यासां तासाम् । आकेकरलक्षणं तु नृत्यविलासे —'दृष्टिराकेकरा किंचि-त्स्फुटापाङ्गे प्रसारिता । मीलितार्धपुटा लोके ताराव्यावर्तनोत्तरा ।।' इति । तासां स्त्रीणाम् । कृतो गात्राणां वेपथु: कम्पो येन स: । श्वसितैर्नि:श्वासैरुद्धतावुत्पतितौ स्तनौ येन स: । श्रम: खेदो नु मदनो नु पप्रथे प्रादुर्बभूव । निमज्जनप्रियसंनिधान-रूपोभयकारण संभवान्नेत्रमीलनगात्रकम्पनि:श्वासधारणाच्च संदेह: । स एवालङ्कार: ।

हिन्दी—प्रेमियों के अत्यन्त समीप में स्नान करने के कारण अर्द्धनिमीलित एवं तिरछे कटाक्षों वाली उन रमणियों के शरीर के कम्पन एवं लंबी साँसों के लेने से हिलते हुए स्तन पता नहीं उनके थके होने की सूचना दे रहे थे या उनके कामपीड़ित होने की ।। ५३ ।।

विमर्श—कामपीड़ित होने पर भी यही सब विकार उत्पन्न होते हैं । यहाँ सन्देह अलङ्कार है ।

प्रियेण सिक्ता चरमं विपक्षतश्चुकोप काचिन्न तुतोष सान्त्वनै: ।
जनस्य रूढप्रणयस्य चेतस: किमप्यमर्षोऽनुनये भृशायते ।। ५४ ।।

अन्वय:—काचित् प्रियेण विपक्षत: चरमं सिक्ता चुकोप, सान्त्वनै: न तुतोष। रूढप्रणयस्य चेतस: अमर्ष: किमपि अनुनये भृशायते ।। ५४ ।।

प्रियेणेति ।। काचित् प्रियेण विपक्षत: सपत्नीत: । चरमं पश्चात् सिक्ता सती

चुकोप । सान्त्वनैरनुनयैर्न तुतोष । तथा हि—रूढप्रणयस्य गाढप्रेम्णो जनस्य सम्बन्धी चेतसो मनसोऽमर्षः प्रकोपः किमपि कुतोऽपि हेतोरनुनये सति भृशायते गाढो भवति । 'भृशादिभ्यो भुव्यच्वेर्लोपश्च हलः' इति क्यङ् । अन्यत्र शान्तिहेतुरनुनयोऽत्र प्रकोपायैव भवति । तत्र कारणं तु न ज्ञायत इत्यर्थः ॥ ५४ ॥

हिन्दी—एक सुन्दरी अपने प्रेमी द्वारा अपनी सपत्नी के अनन्तर (जल द्वारा) पाए जाने पर क्रुद्ध हो गयी । उसके अनुनय-विनय से भी वह सन्तुष्ट नहीं हुई । सच है, प्रगाढ़ प्रेमी जनों के चित्त का अमर्ष (कोप) अनुनय-विनय करने से बढ़ता ही है ॥ ५४ ॥

विमर्श—यहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ।

इत्थं विहृत्य वनिताभिरुदस्यमानं पीनस्तनोरुजघनस्थलशालिनीभिः ।
उत्सर्पितोर्मिचयलङ्घिततीरदेशमौत्सुक्यनुन्नमिव वारि पुरः प्रतस्थे ॥ ५५ ॥

अन्वयः—पीनस्तनोरुजघनस्थलशालिनीभिः वनिताभिः इत्थं विहृत्य उदस्यमान उत्सर्पितोर्मिचयलङ्घिततीरदेशम् वारि औत्सुक्यनुन्नम् इव पुरः प्रतस्थे ॥ ५५ ॥

इत्थमिति ॥ पीनैः स्तनैरूरुभिर्जघनस्थलैश्च शालन्त इति तथोक्ताभिरिति सलिलनोदनसामर्थ्योक्तिः । स्थलस्य साक्षादप्राण्यङ्गत्वान्न द्वन्द्वैकवद्भावः । वनिताभिरित्थं विहृत्य । उदस्यमानं नुद्यमानम् । उत्सर्पितैरुपरिभावं प्रापितैरूर्मिचयैर्लङ्घितस्तीरदेशो येन तत् । वारि । औत्सुक्यं विहारासहिष्णुत्वं तेन नुन्नं प्रेरितमिवेत्युत्प्रेक्षा । 'नुदविद—' इत्यादिना निष्ठानत्वम् । पुरोऽग्रे प्रतस्थे । स्वजनवदिति भावः ॥ ५५ ॥

हिन्दी—इस प्रकार कठोर एवं ऊँचे स्तनों तथा पृथुल जघन स्थलों से सुशोभित उन देवाङ्गनाओं द्वारा जल क्रीड़ा के अनन्तर (जल से) बाहर निकलने पर नदी का जल अत्यन्त क्षुब्ध होकर लम्बी लम्बी तरङ्गों के उठने से अपने तट प्रदेश को लाँघकर मानों उनके विरह की व्याकुलता से प्रेरित होकर साथ साथ बहुत आगे तक चला गया ॥ ५५ ॥

विमर्श—क्षुब्ध जल की लहरें अपने तट से दूर तक फैल जाती हैं । कवि उसी की उत्प्रेक्षा कर रहा है मानों जल देवाङ्गनाओं के वियोग से विह्वल होकर उनके साथ साथ दूर तक चला जा रहा है । प्रियजन अथवा स्वजन लोग विदाई के समय कुछ दूर तक साथ साथ चलते ही हैं । यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार है एवं वसन्ततिलका छन्द है ।

तीरान्तराणि मिथुनानि रथाङ्गनाम्नां
नीत्वा विलोलितसरोजवनश्रियस्ताः ।
संरेजिरे सुरसरिज्जलधौतहारा-
स्तारावितानतरला इव यामवत्यः ॥ ५६ ॥

अन्वयः—रथाङ्गनाम्नां मिथुनानि तीरान्तराणि नीत्वा विलोलितसरोजवनश्रियः सुरसरिज्जलधौतहाराः ताः तारावितानतरलाः यामवत्यः इव संरेजिरे ॥ ५६ ॥

तीरान्तराणीति ॥ रथाङ्गनाम्नां मिथुनानि चक्रवाकद्वन्द्वानि । अन्यानि तीराणि तीरान्तराणि नीत्वा । नियोज्येत्यर्थः । अविहितलक्षणतत्पुरुषो मयूरव्यंसकादिषु द्रष्टव्यः । विलोलिता विलुलिताः सरोजवनश्रियो याभिस्ताः सुरसरिज्जलैर्धौतहाराः क्षालितमुक्तावलयः । ताः स्त्रियः । ताराविनैरुडुगणैस्तरला भासुराः । 'तरलो भासुरे हीरे चञ्चलेऽपि' इति वैजयन्ती । यामवत्यो रात्रय इव । संरेजिरे शुशुभिरे ॥ ५६ ॥

हिन्दी—चक्रवाकों के जोड़ों को दूसरे तट पर पहुँचा कर एवं कमल वनों की शोभा को फीकी कर देवनदी गङ्गा के जल से धुली हुई मुक्तामालाओं से विभूषित वे देवाङ्गनाएँ तारागणों से सुशोभित रात्रियों के समान शोभायमान हुईं ।

विमर्श—देवाङ्गनाओं के सभी कार्य रात्रि के समान ही हुए। रात्रि में ही चक्रवाकों के जोड़ों का वियोग होता है और कमल वनों की शोभा फीकी होती है, एवं तारागण चमकते हैं । यहाँ उपमा अलङ्कार है एवं वसन्ततिलका छन्द है ॥ ५६ ॥

संक्रान्तचन्दनरसाहितवर्णभेदं
विच्छिन्नभूषणमणिप्रकरांशुचित्रम् ।
बद्धोर्मिनाकवनितापरिभुक्तमुक्तं
सिन्धोर्बभार सलिलं शयनीयलक्ष्मीम् ॥ ५७ ॥

॥ इति भारविकृतौ महाकाव्ये किरातार्जुनीये अष्टमः सर्गः ॥ ८ ॥



अन्वयः—सङ्क्रान्तचन्दनरसाहितवर्णभेदं विच्छिन्नभूषणमणि प्रकरांशुचित्रम् बद्धोर्मिनाकवनितापरिभुक्तमुक्तम् सिन्धोः सलिलम् शयनीयलक्ष्मीम् बभार ॥ ५७ ॥

संक्रान्तेति ॥ संक्रान्तैश्चन्दनरसैर्मलयजद्रवैराहितो वर्णभेदो रूपान्तरं यस्य तत् । विच्छिन्नानि त्रुटितानि यानि भूषणानि तेषां ये मणिप्रकरा मणिगणास्तेषामंशुभिश्चित्रं नानावर्णम् । बद्धोर्मि तरलं तरङ्गितं नाकवनिताभिः परिभुक्तमुक्तं पूर्वं परिभुक्तं पश्चान्मुक्तम् । पूर्वकाल—'इत्यादिना तत्पुरुषः । सिन्धोर्गङ्गायाः सलिलम् । शेरतेऽत्रेति शयनीयं तल्पम् । बहुलग्रहणात्साधुः । तस्य लक्ष्मीं बभार । अत एव निदर्शनालङ्कारः । लक्षणं तूक्तम् ॥ ५७ ॥

॥ इति श्रीमहामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितायां किरातार्जुनीयकाव्य व्याख्यायां घण्टापथसमाख्यायां अष्टमः सर्गः समाप्तः ॥ ८ ॥



हिन्दी—रमणियों के अङ्गों में लगे हुए चन्दन के लेपों के धुल जाने से अन्य रंग की बनकर, (स्नान के समय जल्दी में) टूटे हुए आभूषणों की मणियों की कान्तियों से रंग-बिरंगी एवं लहरों से युक्त, देवाङ्गनाओं द्वारा जलबिहार के अनन्तर छोड़ी गई उस देवनदी गङ्गा की जलराशि के समान शैय्या शोभा धारण कर रही थी ।। ५७ ।।

विमर्श—शैय्या में भी अङ्गरागों के छूटने से उसका दूसरा रंग हो जाता है । विहार के समय टूटकर गिरे हुए आभूषणों के रत्न बिखरे होते हैं तथा उसमें भी लहरों के समान ही सिकुड़न आ जाती है । यहाँ निदर्शना अलङ्कार है ।

।। इस प्रकार श्रीभारविकृत किरातार्जुनीयम् महाकाव्य के आठवें सर्ग की डॉ सुधाकर मालवीय कृत हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ।। ८ ।।



नवमः सर्गः

वीक्ष्य रन्तुमनसः सुरनारीरात्तचित्रपरिधानविभूषाः ।
तत्प्रियार्थमिव यातुमथास्तं भानुमानुपपयोधि ललम्बे ॥१ ॥

अन्वयः—अथ भानुमान् आत्तचित्रपरिधानविभूषाः रन्तुमनसः सुरनारीः वीक्ष्य तत्प्रियार्थम् इव अस्तं यातुम् उपपयोधि ललम्बे ॥ १ ॥

वीक्ष्येति ॥ अथ जलक्रीडानन्तरं भानुमानंशुमान् आत्तचित्रपरिधानविभूषाः स्वीकृतविविधवस्त्राभरणाः। सुरतसंनाहवतीरित्यर्थः । अत एव रन्तुमनसः । 'समानकर्तृकेषु तुमुन्' । 'लुम्पेदवश्यमः कृत्ये तुं काममनसोरपि' इति मकारलोपः । सुरनारीः वीक्ष्य तासां प्रियार्थं तत्प्रियार्थमिव । अवसरदानरूपं प्रियं कर्तुमिवेत्यर्थः । फलोत्प्रेक्षेयम् । अस्तमदर्शनम् । मकारान्तमव्ययमेतत् । यातुं प्राप्तुम् । उपपयोधि पयोधिसमीपे ललम्बे सस्रंसे । अस्मिन्सर्गे स्वागतावृत्तम् —'स्वागतेति रनभाद्गुरुयुग्मम्' इति लक्षणात् ॥१ ॥

हिन्दी—(जलक्रीड़ा के) अनन्तर विविध वस्त्रों एवं आभूषणों से विभूषित एवं रमण की इच्छुक उन देवाङ्गनाओं को देखकर सूर्य मानों उनकी अभिलाषा को पूर्ण करने के लिए अस्त होने की इच्छा से (पश्चिम) समुद्र की ओर लम्बायमान हो गए अर्थात् लटक गए ॥ १ ॥

विमर्श—अर्थात् रमणियों के जलक्रीड़ा से निवृत्त होकर विविध वस्त्राभूषणों से अलङ्कृत होने के साथ सूर्य भी अस्ताचलगामी हो गए । इस सर्ग में स्वागता छन्द है ।

मध्यमोपलनिभे लसदंशावेकतश्च्युतिमुपेयुषि भानौ ।
द्यौरुवाह परिवृत्तिविलोलां हारयष्टिमिव वासरलक्ष्मीम् ॥ २ ॥

अन्वयः—मध्यमोपलनिभे, लसदंशौ भानौ एकतः च्युतिं उपेयुषि द्यौः परिवृत्तिविलोलां वासरलक्ष्मीं हारयष्टिम् इव उवाह ॥ २ ॥

मध्यमेति ॥ मध्यमोपलनिभे नायकमणिसदृशे । 'निभसङ्काशनीकाशप्रतीकाशोपमादयः' इत्यमरः। 'शर्करायां स्त्रियां प्रोक्तः पुंस्यश्मन्युपलो मणौ' इति वैजयन्ती। लसदंशौ प्रसरद्रश्मौ भानौ । एकत एकस्मिन्भागे च्युतिं स्रस्ततामुपेयुषि प्राप्ते सति द्यौः परिवृत्त्या मध्याह्नातिक्रमेण विलोलां गत्वरीम् । अन्यत्र, गात्रस्य तिर्यगावृत्त्या मुहुश्चलन्तीम् । वासरलक्ष्मीं हारयष्टिं मुक्तावलीमिवोवाह वहति स्म ॥ २ ॥

हिन्दी—हार की मध्य मणि की तरह फैलती हुई किरणों से शोभायमान भगवान् भास्कर के एक ओर लंबायमान हो जाने पर आकाश (रूपी बाला) ने मध्याह्न बिताकर जाने वाली (दूसरे पक्ष में, शरीर के तिरछाकर देने से बारम्बार खिसकती हुई) दिन की लक्ष्मी को माला के समान धारण कर लिया ॥ २ ॥

विमर्श—यहाँ उपमा अलङ्कार है ।

अंशुपाणिभिरतीव पिपासुः पद्मजं मधु भृशं रसयित्वा ।
क्षीबतामिव गतः क्षितिमेष्यंल्लोहितं वपुरुवाह पतङ्गः ॥ ३ ॥

अन्वयः—पतङ्गः अतीव पिपासुः अंशुपाणिभिः पद्मजं मधु भृशं रसयित्वा, क्षीबतां गत इव क्षितिम् एष्यन् लोहितं वपुः उवाह ॥ ३ ॥

अंशुपाणिभिरिति ॥ पतङ्गः सूर्यः । 'पतङ्गः पक्षिसूर्ययोः' इत्यमरः । अतीव निर्भरम् । 'अत्यतीव च निर्भरे' इत्यमरः । पातुमिच्छुः पिपासुस्तृषितः सन् । पिबतेः सन्नन्तादुप्रत्ययः । अंशव एव पाणयस्तैः पद्मेषु जातं पद्मजं मधु मध्वेव । मध्विति श्लिष्टं रूपकम् । मकरन्दमद्यमित्यर्थः । 'मधु मद्ये पुष्परसे' इत्यमरः । भृशमत्यन्तं रसयित्वास्वाद्य क्षीबतां मत्तत्वं गत इवेत्युत्प्रेक्षा । 'मत्ते शौण्डोत्कटक्षीबाः' इत्यमरः । क्षितिमेष्यन् गमिष्यन् । लोहितं रक्तं वपुरुवाह । यथा मत्तः क्षीबतया क्षितौ लुठति रज्यते च तद्वदिति भावः । सूर्यस्य क्षितिविलयनमस्तमय इत्यागमः । अत्र रूपकोत्प्रेक्षयोः सापेक्षत्वादङ्गाङ्गिभावेन संकरः ॥ ३ ॥

हिन्दी—सूर्य ने मानों अत्यन्त प्यास से युक्त होकर अपनी किरण-रूपी अँजलियों से कमलों के मकरन्द-रूपी मद्य का भरपूर पान करने के कारण उन्मत्त सा होकर, धरती पर लोटते हुए लाल शरीर धारण कर लिया ॥ ३ ॥

विमर्श—जैसे कोई शराबी अत्यधिक शराब पीकर बेहोश हो कर धरती पर लोटने लगता है और उसका शरीर लाल हो जाता है वैसे ही सूर्य भी पश्चिम के क्षितिज पर लाल होकर लोटने लगा । रूपक और उत्प्रेक्षा अलङ्कार का अङ्गाङ्गी भाव संकर है ।

गम्यतामुपगते नयनानां लोहितायति सहस्रमरीचौ ।
आससाद विरहय्य धरित्रीं चक्रवाकहृदयान्यभितापः ॥ ४ ॥

अन्वयः—सहस्रमरीचौ लोहितायति नयनानां गम्यतां उपगते अभितापः धरित्रीम् विरहय्य चक्रवाकहृदयानि आससाद ॥ ४ ॥

गम्यतामिति ॥ सहस्रमरीचौ सूर्ये । लोहितो भवतीति लोहितायति । 'लोहितादिडाज्भ्यः क्यष' इति क्यष् । 'वा क्यषः' इति परस्मैपदे शतृप्रत्ययः । अत एव नयनानां गम्यतामुपगते दर्शनीयतां प्राप्ते सति । अभितापो धरित्रीं विरहय्य विहाय । 'ल्यपि लघुपूर्वात्' इत्ययादेशः । चक्रवाकहृदयान्याससाद प्राप । अत्र

धरित्र्या यादृशस्तीव्रार्ककरकृतसंतापस्तादृक्चक्रवाकहृदयेषु विरहसंताप: सञ्जात इति परमार्थ: । परंतु तदुपक्रमानन्तरमेतस्याविर्भावात् स एवात्र संक्रान्त इत्यभेदाध्यवसाये-नोपदेश: । अत एव भेदेऽभेदरूपातिशयोक्तिरलङ्कार: ॥ ४ ॥

हिन्दी—सहस्रमरीचि सूर्य के लोहित वर्ण हो जाने पर एवं (सर्व साधारण की) आँखों द्वारा दर्शनीय बन जाने पर सन्ताप ने धरती को छोड़कर चक्रवाक दम्पति के हृदयों में मानो निवास बना लिया है ॥ ४ ॥

विमर्श—दिन भर तो सूर्य अपनी सहस्र किरणों से धरती को तपाता रहा उसे कोई आँखों से देख भी नहीं सकता था, किन्तु संध्या समय लोहित वर्ण हो जाने पर वह जब अस्तोन्मुख होने लगा तो चक्रवाक दम्पति भावी विरह के कारण अत्यन्त सन्तप्त हो गए । सूर्य अब आँखों से दर्शनीय भी बन गया क्योंकि अब वह उतना प्रचण्ड नहीं रहा । यहाँ अतिशयोक्ति अलङ्कार है ।

मुक्तमूललघुरुज्झितपूर्व: पश्चिमे नभसि संभृतसान्द्र: ।
सामि मज्जति रवौ न विरेजे खिन्नजिह्म इव रश्मिसमूह: ॥ ५ ॥

अन्वय:—रवौ सामि मज्जति मुक्तमूललघुरुज्झितपूर्व: पश्चिमे नभसि सम्भृत-सान्द्र: रश्मिसमूह: खिन्नजिह्म इव न विरेजे ॥ ५ ॥

मुक्तेति ॥ रवौ साभिमज्जति अर्धास्तमिते सति । 'सामि त्वर्धे जुगुप्सायाम्' इत्यमर: । मुक्तं त्यक्तप्रायं मूलमाश्रयभूतो रवि: । अन्यत्र, —स्वामी, येन सोऽत एव लघुरल्पकश्च मुक्तमूललघुरुज्झितपूर्वस्त्यक्तपूर्वदिक्क: । अन्यत्र, — त्यक्तपूर्वजन: । पश्चिमे नभसि नभोभागम् । अन्यत्र, —क्वचिन्नीचस्थले । संभृत: संहत: सन् । अत एव सान्द्रश्च रश्मिसमूह: । आश्रितजनश्च ध्वन्यते । खिन्नश्चासौ जिह्मश्च, खिन्नेन दु:खेन जिह्मो वा, दीन इव न विरेजे । अत्र मुक्तमूलत्वादिप्रस्तुतविशेषणसाम्यादप्रस्तुताश्रित-जनप्रतीते: समासोक्ति: । तत्र वाच्यस्य रश्मिसमूहस्याचेतनस्यापि प्रतीयमानेन चेतने-नाभेदाभिधानाद्दु:खितत्वाद्युत्प्रेक्षेति तयोरङ्गाङ्गिभावेन संकर: ॥ ५ ॥

हिन्दी—सूर्य के आधे बिम्ब के डूब जाने पर सूर्य की किरणों का समूह, सूर्य का आश्रय छोड़ने के कारण मानों तुच्छ होकर एवं पूर्व दिशा का परित्याग कर पश्चिम दिशा में एकत्र होकर इस प्रकार निष्प्रभ अथवा तेजोविहीन हो रहा है, जिस प्रकार अपने पूर्व स्वामी को छोड़कर किसी नीच व्यक्ति का आश्रय लेने वाला कोई व्यक्ति निस्तेज अथवा श्रीहीन हो जाता है ॥ ५ ॥

विमर्श—समासोक्ति और उत्प्रेक्षा अलङ्कार का अङ्गागी भाव से संकर ।

कान्तदूत्य इव कुङ्कुमताम्रा: सायमण्डलमभित्वरयन्त्य: ।
सादरं ददृशिरे वनिताभि: सौधजालपतिता रविभास: ॥ ६ ॥

अन्वय:—कुंकुमताम्रा: सायमण्डनमभि त्वरयन्त्य: सौधजालपतिता: रविभास: कान्तदूत्य इव वनिताभि: सादरं ददृशिरे ॥ ६ ॥

कान्तेति ।। कुङ्कुमवत् कुङ्कुमेन वा ताम्राः । सायस्य सायङ्कालस्य । 'सायं साये प्रगे प्रातः' इत्यमरः । यन्मण्डलं तत् अभि तदुद्दिश्य त्वरयन्त्यस्त्वरां कारयन्त्यः सौधानां जालैर्गवाक्षैः पतिताः प्रविष्टाः । 'जालं गवाक्ष आनाये' इति वैजयन्ती । रविभासः सूर्यरश्मयः कान्तानां प्रेयसां दूत्य इव वनिताभिः सादरं यथा तथा ददृशिरे दृष्टाः । सायंतनार्कभासां प्रियसमागमसूचकत्वादेव तासु स्त्रीणामादरोऽभवदित्यर्थः ।

हिन्दी—कुंकुम के समान लाल, रमणियों को (अभिसार अथवा रमण के उपयुक्त) वस्त्राभूषणादि प्रसाधनों को शीघ्रता से सम्पन्न करने के लिए उकसाती हुई, खिड़कियों की जालियों से आने वाली सूर्य की किरणों को, देवाङ्गनाओं ने (प्रिय की दूती के समान) बड़े सम्मान से देखा ।। ६ ।।

विमर्श—सायङ्काल की उन किरणों द्वारा शीघ्र ही प्रिय समागम की सूचना प्राप्त हुई, अतएव देवाङ्गनाओं ने उनका आदर किया । दूतियाँ भी इसी प्रकार आती हैं और ऐसा ही कार्य करती हैं । यहाँ उपमा अलङ्कार है ।

अग्रसानुषु नितान्तपिशङ्गैर्भूरुहान्मृदुकरैरवलम्ब्य ।
अस्तशैलगहनं नु विवस्वानाविवेश जलधिं नु महीं नु ।। ७ ।।

अन्वयः—विवस्वान् अग्रसानुषु भूरुहान् नितान्तपिशङ्गैः मृदुकरैः अवलम्ब्य अस्तशैलगहनं नु जलधिं नु महीं नु आविवेश ।। ७ ।।

अग्रेति ।। विवस्वान् सूर्योऽग्रेऽस्तशैलशिखरे ये सानवस्तेषु ये भूरुहास्तान्नितान्तपिशङ्गैरत्यन्तारुणैर्मृदुभिः करैरिव करैरंशुहस्तैरिति श्लिष्टरूपकम् । 'बलिहस्तांशवः कराः' इत्यमरः । यद्वा, —करैर्मृदु श्लथमवलम्ब्य । अस्त इति शैलोऽस्तशैलः । 'अस्तस्तु चरमक्ष्माभृत्' इत्यमरः । तस्य गहनं काननं नु जलधिं नु महीं न्वाविवेश । तपनस्य पतनसंदेह एव दृष्टः । पतनं तु क्व चास्य तन्न ज्ञायते । शीघ्रभावादिति भावः । अत्र तपने पतनस्यारोप्यमाणस्य गहनाद्यनेकविषयत्वेन संदेहात्संदेहालङ्कारः ।। ७ ।।

हिन्दी—सूर्य अस्ताचल के शिखरों पर अवस्थित वृक्षों की चोटियों का अपनी अत्यन्त अरुण वर्ण की हाथ-रूपी किरणों से सहारा लेकर अस्ताचल के घने जङ्गलों में (पश्चिम के) समुद्र में अथवा पृथ्वी में जाने कहाँ डूब गया ।। ७ ।।

विमर्श—अर्थात् जल्दी-जल्दी में कहाँ डूब गया वह, इसका कुछ पता नहीं चलता । यहाँ सन्देह अलङ्कार है ।

आकुलश्चलपतत्रिकुलानामारवैरनुदितौषसरागः ।
आययावहरिदश्वविपाण्डुस्तुल्यतां दिनमुखेन दिनान्तः ।। ८ ।।

अन्वयः—चलपतत्रिकुलानाम् आरवैः आकुलः अनुदितौषसरागः अहरिदश्व विपाण्डुः दिनान्तः दिनमुखेन तुल्यताम् आययौ ।। ८ ।।

आकुल इति ।। चलानां कुलायेभ्यः कुलान्प्रति चलतां पतत्रिकुलानां पक्षिसमूहानामारवैः शब्दैराकुलो व्याप्तः । 'अनुदित' शब्देनाभावमात्रम्, 'उषः' शब्देन

संध्यामात्रं च विवक्ष्यते । उषसि भव औषसः । 'संधिवेला—' इत्यादिना योगविभागादण्प्रत्ययः । अन्यथा कालाट्ठञ्स्यात् । तथा च अनुदितौषसरागोऽविद्यमानसंध्याराग इत्यर्थः । एकत्रानुदयात्, अन्यत्रास्तमयाच्चेति भावः । अहरिदश्वोऽविद्यमानसूर्यः । एकत्रानुदयात्, अन्यत्रास्तमयाच्चेति भावः । अत एव विपाण्डुः । तिमिरानुदयादिति शेषः । दिनान्तः सायङ्कालो दिनमुखेन प्रातःकालेन तुल्यतामाययौ । तद्वद्बभूवेत्यर्थः । अत एवोपमालङ्कारः ॥ ८ ॥

हिन्दी—नीड़ को लौटने वाले पक्षियों के कलरव से व्याप्त, सन्ध्या की लालिमा से विहीन, सूर्य के अभाव में पाण्डु वर्ण का (अन्धकार न होने से) वह दिवसावसान अर्थात् सायङ्काल प्रातःकाल की समानता प्राप्त कर रहा था ॥ ८ ॥

विमर्श—प्रातःकाल का दृश्य भी ठीक उसी प्रकार का होता है जिस प्रकार का सन्ध्या का होता है । उसमें भी पक्षी जीविका के लिए नीड़ से बाहर जाते हुए कलरव करते हैं, लालिमा (अरुणोदय के पूर्व) नहीं रहती, सूर्य भी नहीं रहते और अन्धकार भी नहीं रहता । यहाँ उपमा अलङ्कार है ।

आस्थितः स्थगितवारिदपङ्क्त्या संध्यया गगनपश्चिमभागः ।
सोर्मिविद्रुमवितानविभासा रञ्जितस्य जलधेः श्रियमूहे ॥ ९ ॥

अन्वयः—स्थगितवारिदपङ्क्त्या सन्ध्यया आस्थितः गगनपश्चिमभागः सोर्मिविद्रुमवितानविभासा रञ्जितस्य जलधेः श्रियम् ऊहे ॥ ९ ॥

आस्थित इति ॥ स्थगितवारिदपङ्क्त्या पिहितमेघवृन्दया संध्ययास्थित आक्रान्तो व्याप्तो गगनपश्चिमभागः । सोर्मिः । ऊर्मिसंक्रान्त इत्यर्थः । तया विद्रमवितानविभासा प्रवालप्रकरकान्त्या रञ्जितस्य स्वसावर्ण्यमापादितस्य जलधेः श्रियमूहे । संध्याया रक्तवर्णत्वादिति भावः । वहतेः कर्तरि लिट् । तत्सदृशीं श्रियमुवाहेत्यर्थः । अत एव निदर्शनालङ्कारः ॥ ९ ॥

हिन्दी—(ऊपर) बादलों की पंक्तियों तथा नीचे (लालिमा से युक्त) सन्ध्या से सुशोभित आकाश का वह पश्चिमी भाग (उस समय) तरङ्गों से मंडित प्रवाल की किरणों की कान्ति से सुशोभित समुद्र की शोभा धारण कर रहा था ॥ ९ ॥

विमर्श—यहाँ निदर्शना अलङ्कार है ।

प्राञ्जलावपि जने नतमूर्ध्नि प्रेम तत्प्रवणचेतसि हित्वा ।
संध्ययानुविदधे विरमन्त्या चापलेन सुजनेतरमैत्री ॥१० ॥

अन्वयः—प्राञ्जलौ नतमूर्ध्नि तत्प्रवणचेतसि अपि जने प्रेम हित्वा विरमन्त्या सन्ध्यया चापलेन सुजनेतरमैत्री अनुविदधे ॥ १० ॥

प्राञ्जलाविति ॥ प्रबद्धोऽञ्जलिर्येन तस्मिन् प्राञ्जलौ बद्धाञ्जलौ । 'तौ युतावञ्जलिः पुमान्' इत्यमरः । प्रादिभ्यो धातुजस्य बहुव्रीहिर्वाच्यो वोत्तरपदलोपश्च ।

नतमूर्ध्नि नमस्कुर्वाणे तत्प्रवणं तत्र संध्यायामेवाहितं चेतो यस्य तस्मिन्नेवंविधेऽपि जने विषये प्रेम हित्वा विहाय विरमन्त्या निवर्तमानया । 'व्याङ्परिभ्यो रमः' इति परस्मैपदम् । संध्यया चापलेनास्थैर्येण । युवादित्वादण्प्रत्ययः । सुजनादितरो दुर्जनस्तस्य मैत्री सख्यमनुविदधेऽनुचक्रे । कर्मणि लिट् । यथा दुर्जनमैत्री स्निह्यन्तमपि जहाति तद्वत् संध्यापि सेवमान जनमहासीदित्यर्थः । मित्रस्य कर्म मैत्री । अणन्तान्ङीप् । अत्र संध्यादुर्जनमैत्र्योश्चापलं समानधर्मोऽनुविधानम् । अत एवार्थरूपेणेयमुपमा ।। १० ।।

हिन्दी—अञ्जलि बाँधे हुए, शिर झुकाए हुए एवं उसके (सन्ध्या के) प्रति चित्त लगाये हुए भी भक्त जनों के प्रेम को तोड़कर विरक्त रूप से भागी जाती हुई संध्या ने अपनी चञ्चलता से दुर्जनों की मित्रता का अनुकरण किया ।। १० ।।

विमर्श—तात्पर्य यह है कि लोग सन्ध्या वन्दनादि करने ही लगे थे कि सन्ध्या समाप्त हो गई । दुष्ट लोगों की मित्रता में भी ऐसा ही होता है, जैसा सन्ध्या ने किया । यहाँ उपमा अलङ्कार है ।

औषसातपभयादपलीनं वासरच्छविविरामपटीयः ।
संनिपत्य शनकैरिव निम्नादन्धकारमुदवाप समानि ।। ११ ।।

अन्वयः—औषसातपभयात् इव अपलीनम् वासरच्छविविरामपटीयः अन्धकारम् शनकैः निम्नात् सन्निपत्य समानि उदवाप ।। ११ ।।

औषसेति ।। औषसात् प्राभातिकादातपाद्भयं तस्मादिवेत्युत्प्रेक्षा । अपलीनं क्वचिद्गूढं वासरच्छवेरातपस्य विरामाद्धेतोः पटीयः प्रभविष्णुतरम् । अन्धं करोतीत्यन्धकारं ध्वान्तम् । 'अन्धकारोऽस्त्रियां ध्वान्तम्' इत्यमरः । अथ संध्यापगमनानन्तरं शनकैर्मन्दमन्दं निम्नात् संनिपत्यागत्य समानि समस्थलानि । उदवाप व्यानशे । अत्र प्रस्तुतान्धकारविशेषणसाम्यादप्रस्तुतार्थप्रतीतेः समासोक्तिरलङ्कारः । उत्प्रेक्षा त्वङ्गतः स्यात् ।। ११ ।।

हिन्दी—प्रातःकाल के आतप के भय से ही मानों कहीं छिपे हुए और अब आतप का अभाव हो जाने से समर्थ हुए अन्धकार ने धीरे धीरे नीचे से ऊपर उठकर समान स्थलों पर अपना अधिकार जमा लिया ।। ११ ।।

विमर्श—समासोक्ति और उत्प्रेक्षा का अङ्गाङ्गी भाव से संकर ।

एकतामिव गतस्य विवेकः कस्यचिन्न महतोऽप्युपलेभे ।
भास्वता निदधिरे भुवनानामात्मनीव पतितेन विशेषाः ।। १२ ।।

अन्वयः—एकतां गतस्य इव महतः अपि कस्यचित् विवेकः न उपलेभे । पतितेन भास्वता भुवनानां विशेषाः आत्मनि निदधिरे इव ।। १२ ।।

एकतामिति ।। एकतामभेदं गतस्येव । तमोव्याप्त्या तथा प्रतीतेरियमुत्प्रेक्षा । महतः शैलादेरपि कस्यचित् कस्यापि पदार्थस्य विवेको भेदो नोपलेभे न गृहीतः ।

अत एवोत्प्रेक्षते — पतितेनास्तमितेन भास्वता सूर्येण । 'भास्वद्विवस्वत्सप्ताश्व—' इत्यमरः । भुवनानाम् । भुवनस्थपदार्थानामित्यर्थः । विशेषा भूधरादिभेदा आत्मनि स्वस्मिन्नेव निदधिर इव निहिता इव । कथमन्यथा नोपलभ्येरन्नित्यर्थः । अत्रोत्प्रेक्षयोः सजातीययोः सापेक्षत्वादङ्गाङ्गिभावेन संकरः ॥१२ ॥

हिन्दी—अन्धकार के सघन होने पर सब पदार्थ एक में मिल गए, मानों इसीलिए बड़ी से बड़ी वस्तुओं में भी छोटी वस्तुओं से कोई भेद नहीं रह गया । इसी से मानों अस्ताचल को जाते हुए सूर्य ने पृथ्वी के छोटे-बड़े सभी पदार्थों की विशेषताओं को अपने में निहित कर लिया ॥ १२ ॥

विमर्श—यदि सूर्य ने सब की विशेषताओं को अपने में निहित न कर लिया होता तो वे क्यों न दिखाई देते । यहाँ दो सजातीय उत्प्रेक्षाओं का अङ्गाङ्गी भाव से संकर है ।

इच्छतां सह वधूभिरभेदं यामिनीविरहिणां विहगानाम् ।
आपुरेव मिथुनानि वियोगं लङ्घ्यते न खलु कालनियोगः ॥१३ ॥

अन्वयः—वधूभिः सह अभेदं इच्छताम् यामिनीविरहिणाम् विहगानाम् मिथुनानि वियोगं आपुः एव । कालनियोगः न लङ्घ्यते खलु ॥ १३ ॥

इच्छतामिति ॥ वधूभिः स्वकामिनीभिः सह । अभेदमवियोगमिच्छताम् । तथा संकल्पवतामपीत्यर्थः । यामिनीषु विरहिणाम् । नियतवियोगानामित्यर्थः । रहतेराव-श्यकेऽर्थे णिनिः । यद्वा, —निन्दायामिनिः । तेषां विहगानां चक्रवाकानां मिथुनानि वियोगमापुरेव । न तु नापुरित्ययोगव्यवच्छेदः । तथा हि—कालनियोगो दैवाज्ञा न लङ्घ्यते खलु । दुर्वार इत्यर्थः ॥१३ ॥

हिन्दी—अपनी प्रेमिकाओं के वियोग के अनिच्छुक अर्थात् उनके सङ्ग ही रहने के इच्छुक, रात्रि में वियुक्त रहने वाले चक्रवाक पक्षियों के जोड़े (बेचारे) वियुक्त होकर ही रहे । सच है, दैव की आज्ञा का उल्लंघन कौन कर सकता है ? ॥ १३ ॥

विमर्श—यहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ।

यच्छति प्रतिमुखं दयितायै वाचमन्तिकगतेऽपि शकुन्तौ ।
नीयते स्म नतिमुज्झितहर्षं पङ्कजं मुखमिवाम्बुरुहिण्या ॥१४ ॥

अन्वयः—शकुन्तौ अन्तिकगते अपि दयितायै प्रतिमुखं वाचं यच्छति । अम्बु-रुहिण्या उज्झितहर्षं पङ्कजं मुखम् इव नतिं नीयते स्म ॥ १४ ॥

यच्छतीति ॥ शकुन्तौ चक्रवाकपक्षिणी । सामान्यस्य प्राकरणिकविशेषपर्व-वसानात् । 'शकुन्तिपक्षिशकुनिशकुन्तशकुनद्विजाः' इत्यमरः । अन्तिकगते समीप-स्थेऽपि दयितायै चक्रवाक्यै प्रतिमुखमभिमुखं यथा तथा वाचं यच्छति वाचमेव ददाने । न तु सङ्गच्छमाने सतीत्यर्थः । 'पाघ्राध्मा—' इत्यादिना दाणो यच्छादेशः । अम्बुरुहिण्या

नलिन्या । उज्झितहर्षं चक्रवाकदुर्दशादर्शनादिव त्यक्तविकासं पङ्कजं मुखमिव नतिं नम्रत्वं नीयते स्म नीतम् । 'प्रधानकर्मण्याख्येये लादीनाहुर्द्विकर्मणाम्' इति नयतेर्द्वि-कर्मकत्वात्प्रधाने कर्मणि लिट् । प्रायेण दुःखदर्शनात्स्त्रियः खिद्यन्ते । विशेषेण विरह-दर्शनादिति भावः । अत्र पङ्कजावनतेश्चक्रवाकविक्रोशानन्तर्यात्तद्धेतुकत्वमुत्प्रेक्ष्यते । तच्च मुखोपमेयमम्बुरुहिण्या कामिनीसाम्यं गमयन्त्या निरुह्यत इत्युपमोत्प्रेक्षयो-रङ्गाङ्गिभावेन संकरः । व्यञ्जकाप्रयोगात्प्रतीयमानोत्प्रेक्षा ।। १४ ।।

हिन्दी—रात हो जाने पर चक्रवाक अपनी प्रियतमा के बहुत समीप रहने पर भी उसके सम्मुख केवल वार्तालाप ही कर सकता था (किन्तु दूसरे तट पर होने के कारण उसका स्पर्श नहीं कर सकता था) मानों उसकी इस दयनीय दशा को देखकर सरोजिनी ने अपने अविकसित पंकज को (मुरझाये हुए) मुख की भाँति नीचे की ओर झुका लिया था ।। १४ ।।

विमर्श—रात्रि के समय कमल मुरझा जाते हैं, कवि उसी की उत्प्रेक्षा करता है, मानों चक्रवाक दम्पती की विकल-वेदना को देखकर स्त्रीसुलभ सहानुभूति से ही सरोजिनी ऐसा कर रही है । स्त्रियाँ प्रायः दूसरे की वेदना देखकर उदास हो ही जाती हैं, विशेषकर विरह वेदना में । उपमा और उत्प्रेक्षा अलङ्कार का अङ्गाङ्गी भाव से संकर ।

रञ्जिता नु विविधास्तरुशैला नामितं नु गगनं स्थगितं नु ।
पूरिता नु विषमेषु धरित्री संहृता नु ककुभस्तिमिरेण ।। १५ ।।

अन्वयः—तिमिरेण विविधाः तरुशैलाः रञ्जिताः नु । गगनं नामितं नु । गगनं स्थगितं नु । धरित्री विषमेषु पूरिता नु ककुभः संहृताः नु ।। १५ ।।

रञ्जिता इति ।। तिमिरेणान्धकारेण विविधास्तरवः शैलाश्च रञ्जिताः स्वसावर्ण्य-मापादिता नु । अन्यथा कथमेषां नीलाढ्यत्वमिति भावः । गगनं नामितं नु । आभूतला-दिति शेषः । 'मितां ह्रस्वः' इत्यत्र वाशब्दानुवृत्त्या व्यवस्थितविभाषाश्रयणान्न ह्रस्वः । यद्वा, —गगनं स्थगितमाच्छादितं नु । उभयत्रापि तमसावृतत्वान्न दृश्यत इति भावः । तथा धरित्री विषमेषु निम्नोन्नतेषु पूरिता समीकृता नु । अन्यथा तद्विवेकः कथं न स्यादिति भावः । ककुभो दिशश्च संहृता नु लुप्ताः किम् । 'दिशस्तु ककुभः काष्ठा आशाश्च हरितश्च ताः' इत्यमरः । कथमन्यथा न दृश्यन्त इति भावः । अत्र तिमिरे तरुशैलाद्यनेकविषयरञ्जकत्वादिकमारोप्य संदिग्ध इति संदेहालङ्कारः । अनेन 'नु' शब्दस्य संभावनाद्योतकत्वमत्रोत्प्रेक्षाप्रकारमित्यलङ्कारसर्वस्वकारः ।। १५ ।।

हिन्दी—अन्धकार ने सभी वृक्षों और पर्वतों को अपने समान काले रंग में रंग दिया है, अथवा आकाश को भूतल की तरफ झुका दिया है, अथवा आकाश पर काला परदा या गिलाफ तो नहीं ओढ़ा दिया है, अथवा धरती की ऊँचाई-नीचाई बराबर तो नहीं कर दी गई है अथवा दिशाएँ ही तो कहीं लुप्त नहीं हो गई हैं ? (कुछ पता नहीं चलता कि यह सब क्या हो गया है ?) ।। १५ ।।

विमर्श—यहाँ सन्देह अलङ्कार है ।

रात्रिरागमलिनानि विकासं पङ्कजानि रहयन्ति विहाय ।
स्पष्टतारकमियाय नभः श्रीर्वस्तुमिच्छति निरापदि सर्वः ॥१६ ॥

अन्वयः—श्रीः रात्रिरागमलिनानि विकासं रहयन्ति पङ्कजानि विहाय स्पष्टतारकं नभः इयाय । सर्वः निरापदि वस्तुम् इच्छति ॥ १६ ॥

रात्रीति ॥ श्रीः शोभा कर्त्री रात्रेः संध्याया रागेण स्वच्छायोपरञ्जनेन मलिनानि, अत एव विकासं रहयन्ति त्यजन्ति । रहतेस्त्यागार्थाच्छतृप्रत्ययः । पङ्कजानि विहाय त्यक्त्वा स्पष्टतारकं नभः खम् । इयाय प्राप । तथा हि—सर्वो जनो निरापदि निर्बाधस्थले वस्तुं स्थातुम् । 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' इतीट्प्रतिषेधः । 'घसिश्च सान्तेषु वसिः प्रसारिणि' इति वचनात् । इच्छति ॥१६ ॥

हिन्दी—शोभा रात्रि की कालिमा से मलिन होने के कारण प्रफुल्लता को त्यागने वाले कमलों को छोड़कर जगमगाते हुए तारों से व्याप्त आकाश मण्डल में चली गयी । सच है, सभी विघ्न-बाधा रहित स्थानों पर रहना पसन्द करते हैं ॥१६॥

विमर्श—यहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ।

व्यानशे शशधरेण विमुक्तः केतकीकुसुमकेसरपाण्डुः ।
चूर्णमुष्टिरिव लम्भितकान्तिर्वासवस्य दिशमंशुसमूहः ॥१७ ॥

अन्वयः—शशधरेण विमुक्तः केतकीकुसुमकेसरपाण्डुः लम्भितकान्तिः अंशुसमूहः चूर्णमुष्टिः इव वासवस्य दिशं व्यानशे ॥ १७ ॥

व्यानश इति ॥ शशधरेण चन्द्रेण विमुक्तः क्षिप्तः केतकीकुसुमकेसर इव पाण्डुर्लम्भिता प्रापिता कान्तिर्यस्य सोंऽशुसमूहो रश्मिसमूहः । चूर्णस्य कर्पूरक्षोदस्य मुष्टिरिव । 'मुष्टि' शब्दस्य द्विलिङ्गत्वेऽप्यत्र पुल्लिङ्गतैव ग्राह्या । उपमेयानुसारात् । वासवस्येन्द्रस्य दिशं प्राचीं व्यानशे व्याप । अनेन दिशानिशाकरयोर्नायिका-नायकौपम्यं गम्यते ॥१७ ॥

हिन्दी—शशलांछन चन्द्रमा द्वारा छोड़ा गया केतकी के पुष्प-पराग के समान पीले वर्ण का कान्तियुक्त किरण-समूह कपूर के चूर्ण की तरह इन्द्र की पूर्व दिशा में फैल गया ॥ १७ ॥

विमर्श—अर्थात् चन्द्रमा रूपी नायक ने प्राची नायिका के मुख पर कपूर का पाउडर पोत दिया ।

उज्झती शुचमिवाशु तमिस्रामन्तिकं व्रजति तारकराजे ।
दिक्प्रसादगुणमण्डनमूहे रश्मिहासविशदं मुखमैन्द्री ॥१८ ॥

अन्वयः—ऐन्द्री दिक् तारकराजे अन्तिकं व्रजति आशु तमिस्रां शुचिम् इव उज्झती प्रसादगुणमण्डनम् रश्मिहासविशदं मुखम् इव ऊहे ॥ १८ ॥

उज्झातीति ।। इन्द्रस्येयमैन्द्री दिक् प्राची तारकराजे नक्षत्रनाथे । 'कनीनिकायां नक्षत्रे तारकं तारकापि च' इति विश्वः। अन्तिकं समीपं व्रजति सति। आशु तमिस्राम-न्धतमसम्। 'तमिस्रा स्त्री ध्वान्तनिशि निश्यन्धतमसे न ना' इति वैजयन्ती। शुचमिव। विरहदुःखमिवेत्यर्थः । उज्झती विजहती । प्रसादो नैर्मल्यमेव गुणः स एव मण्डनं यस्य तत् । रश्मयो हास इव तेन विशदं मुखमिव मुखमग्रभागम् । शिलष्टोपमेयम् । ऊहे वहति स्म । अत्र दिक्चन्द्रयोर्नायिकानायकौपम्यं गम्यते ।।१८ ।।

हिन्दी—इन्द्र की दिशा प्राची ने तारकनाथ चन्द्रमा के समीप आ जाने पर अन्धकार को दुःख की भाँति तुरन्त ही छोड़ कर प्रसन्नता अथवा निर्मलता से विभूषित एवं हास के समान किरणों से उज्ज्वल एवं सुशोभित मुख को धारण कर लिया ।। १८ ।।

विमर्श—जिस प्रकार किसी पतिवियुक्ता रमणी का मुख पति के समीप आ जाने पर शोक दूर कर प्रसन्नता एवं हास से युक्त होकर खिल उठता है उसी प्रकार विरहिणी प्राची भी चन्द्रोदय से खिल उठी और सर्वत्र व्याप्त अन्धकार दूर हो गया । यहाँ पर भी चन्द्रमा नायक और प्राची दिशा नायिका है ।

नीलनीरजनिभे हिमगौरं शैलरुद्धवपुषः सितरश्मेः।
खे रराज निपतत्करजालं वारिधेः पयसि गाङ्गमिवाम्भः ।।१९ ।।

अन्वयः—शैलरुद्धवपुषः सितरश्मेः नीलनीरजनिभे खे निपतत् हिमगौरं कर-जालं वारिधेः पयसि गाङ्गम् अम्भः इव रराज ।। १९ ।।

नीलेति ।। शैलरुद्धवपुष उदयगिरितिरोहितमण्डलस्य सितरश्मेरिन्दोः सम्बन्धि नीलनीरजनिभे श्यामकमलतुल्ये ख आकाशे निपतत् प्रसरत् । हिमवद्गौरं शुभ्रं करजालमंशुसमूहो वारिधेः पयसि निपतद्गाङ्गमम्भ इव रराज । उपमानेऽपि विशेषणानि योज्यानि ।।१९ ।।

हिन्दी—उदयाचल की आड़ से निकलते हुए चन्द्रमा का बरफ के समान शुभ्र किरण जाल नीले कमल के समान सुशोभित नील गगन में फैलते हुए इस प्रकार दिखाई पड़ा जैसे (नीले) समुद्र में गिरती हुई गङ्गा की (शुभ्र) जलधारा ।१९।।

विमर्श—यहाँ उपमा अलङ्कार है ।

द्यां निरुन्धदतिनीलघनाभं ध्वान्तमुद्यतकरेण पुरस्तात् ।
क्षिप्यमाणमसितेतरभासा शंभुनेव करिचर्म चकासे ।। २० ।।

अन्वयः—द्यां निरुन्धत् अतिनीलघनाभं उद्यतकरेण असितेतरभासा पुरस्तात् क्षिप्यमाणं ध्वान्तम् शम्भुना करिचर्म इव चकासे ।। २० ।।

द्यामिति ।। द्यां निरुन्धत् आकाशमावृण्वत् । अतिनीलघनाभं मेचकम् । उद्यन्तः करा अंशवो हस्ताश्च यस्य तेन । असिताभ्य इतराः शुभ्रा भासो यस्य तेन

चन्द्रेण पुरस्तात् प्राच्यामग्रे च क्षिप्यमाणं नुद्यमानं ध्वान्तं शंभुना क्षिप्यमाणं करिचर्मेव चकासे । उपमानेऽपि विशेषणानि योज्यानि ।। २० ।।

हिन्दी—आकाश को आच्छादित करने वाले अत्यन्त काले बादलों के समान अन्धकार को अपने उदीयमान श्वेत करों अर्थात् किरणों से आगे की ओर फेंकते हुए चन्द्रमा इस प्रकार सुशोभित हुआ जिस प्रकार शङ्कर जी ने अपने ओढ़ने के काले-काले गजचर्म को सामने से दूर फेंक दिया हो ।। २० ।।

विमर्श—यहाँ उपमा अलङ्कार है ।

अन्तिकान्तिकगतेन्दुविसृष्टे जिह्मतां जहति दीधितिजाले ।
निःसृतस्तिमिरभारनिरोधादुच्छ्वसन्निव रराज दिगन्तः ।। २१ ।।

अन्वयः—अन्तिकान्तिकगतेन्दुविसृष्टे दीधितिजाले जिह्मतां जहति तिमिरभार-निरोधात् निःसृतः दिगन्तः उछ्वसन् इव रराज ।। २१ ।।

अन्तिकेति ।। अन्तिकान्तिकेऽतिसमीपे । 'प्रकारे गुणवचनस्य' इति द्विर्भावः । कर्मधारयवद्भावात्सुपो लुक् । अन्तिकान्तिकगतेनेन्दुना विसृष्टे मुक्ते दीधितिजाले किरण-समूहे जिह्मतां सङ्कोचं जहति त्यजति सति तिमिरभारैस्तमःस्तोमैर्निरोधादुपरोधात् । निःसृतो निर्गतो दिगन्त उच्छ्वसन् प्राणन् इव रराजेत्युत्प्रेक्षालङ्कारः ।। २१ ।।

हिन्दी—धीरे-धीरे अत्यन्त समीप आए हुए चन्द्रमा से छूटे हुये किरण समूह ने जब अपना तिरछापन छोड़कर अन्धकार के भार (समूह) को दूर कर दिया तब प्रकाश से निखरा हुआ क्षितिज मानों (आराम की) साँसें लेता हुआ-सा सुशोभित होने लगा ।। २१ ।।

विमर्श—किसी भार से दबा हुआ व्यक्ति जब भार मुक्त हो जाता है तब वह लम्बी साँसें खींचता ही है । यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ।

लेखया विमलविद्रुमभासा संततं तिमिरमिन्दुरुदासे ।
दंष्ट्रया कनकटङ्कपिशङ्ग्या मण्डलं भुव इवादिवराहः ।। २२ ।।

अन्वयः—इन्दुः विमलविद्रुमभासा लेखया सन्ततं तिमिरम् आदिवराहः कनक-टङ्कपिशङ्ग्या दंष्ट्रया भुवः मण्डलम् इव उदासे ।। २२ ।।

लेखयेति ।। इन्दुर्विमलविद्रुमभासा स्वच्छप्रवालसवर्णया लेखया कलया संततं सान्द्रं तिमिरमादिवराहः कनकस्य टङ्कः शिलाभेदकं शस्त्रम् । 'टङ्कः पाषाण-दारणः' इत्यमरः । तद्वत् पिशङ्ग्या लोहितवर्णया । 'पिसङ्गादुपसंख्यानम्' इति ङीप् । दंष्ट्रया भुवो मण्डलमिव । उदास उच्चिक्षिपे । अस्यतेः कर्तरि लिट् । सोपसर्गादस्य-तेरात्मनेपदं विकल्पात् ।। २२ ।।

हिन्दी—चन्द्रमा ने अपनी स्वच्छ प्रवाल के समान मनोहर उज्जवल कला से चारों ओर फैले हुए अन्धकार को इस प्रकार से दूर फेंक दिया जिस प्रकार से आदि

वराह (शूकरावतारधारी भगवान् विष्णु) ने सोने की टाँकी के सदृश अपनी अरुणिमा मिश्रित उज्ज्वल दाढ़ों से भूमण्डल को (प्राचीन काल में) ऊपर फेंक दिया था ।।२२।

विमर्श—यहाँ उपमा अलङ्कार है ।

दीपयन्नथ नभः किरणौघैः कुङ्कुमारुणपयोधरगौरः ।
हेमकुम्भ इव पूर्वपयोधेरुन्ममज्ज शनकैस्तुहिनांशुः ।। २३ ।।

अन्वयः—अथ किरणौघैः नभः दीपयन् कुङ्कुमारुणपयोधरगौरः तुहिनांशुः शनकैः पूर्वपयोधेः हेमकुम्भः इव उन्ममज्ज ।। २३ ।।

दीपयन्निति ।। अय उदयानन्तरं । किरणौघैर्नभो दीपयन् प्रकाशयन् कुङ्कुमेनारुणोयः पयोधराः कुचस्तद्वत् गौरोऽरुणः । उदयरागादिति भावः । तुहिनांशुरिन्दुः शनकैः पूर्वपयोधेः पूर्वसागरात् । हेम्नः कुम्भ इव । उन्ममज्ज उज्जगामेत्युत्प्रेक्षा ।

हिन्दी—(उदय के) अनन्तर अपने किरण-समूह से आकाश को उद्भासित करते हुए, कुंकुम से अनुरंजित स्तनमण्डल के समान सुशोभित चन्द्रमा धीरे-धीरे पूर्व समुद्र से मानों सुवर्ण के कलश के समान ऊपर निकल आया ।। २३ ।।

विमर्श—यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ।

उद्गतेन्दुमविभिन्नतमिस्रां पश्यति स्म रजनीमवितृप्तः ।
व्यंशुकस्फुटमुखीमतिजिह्मां व्रीडया नववधूमिव लोकः ।। २४ ।।

अन्वयः—उद्गतेन्दुम् अविभिन्नतमिस्रां रजनीं व्यंशुकस्फुटमुखीं व्रीडया अतिजिह्मां नववधूम् इव लोकः अवितृप्तः पश्यति स्म ।। २४ ।।

उद्गतेन्दुमिति ।। लोको जनः । 'लोकस्तु भुवने जने' इत्यमरः । उद्गतेन्दुमुदितचन्द्राम् । अविभिन्नतमिस्रामनिःशेषितध्वान्तां रजनीं व्यंशुकमपनीतावगुण्ठनमत एव स्फुटं दृश्यमानं मुखं यस्याः सा तां तथापि व्रीडयातिजिह्मां वक्रां नववधूं नवोढाम् । 'वधूर्नवोढयोषायां स्नुषाभार्याङ्गनासु च' इति धरणिः । स्त्रियमिवावितृप्तः सन् पश्यति स्म ।। २४ ।।

हिन्दी—चन्द्रोदय के हो जाने पर भी जब तक अन्धकार सम्पूर्ण रूप से नष्ट नहीं हुआ तब तक रात्रि को लोगों ने उस नव वधू के समान कुतूहल के साथ देखा जिसने घूँघट उठाकर अपना मुँह तो खोल दिया है किन्तु लज्जा के कारण अत्यन्त सिकुड़ी हुई-सी है ।। २४ ।।

विमर्श—यहाँ उपमा अलङ्कार है ।

न प्रसादमुचितं गमिता द्यौर्नोद्धृतं तिमिरमद्रिवनेभ्यः ।
दिङ्मुखेषु न च धाम विकीर्णं भूषितैव रजनी हिमभासा ।। २५ ।।

अन्वयः—हिमभासा द्यौः उचितम् प्रसादम् न गमिता । अद्रिवनेभ्यः तिमिरम् न उद्धृतम् । दिङ्मुखेषु धाम च न विकीर्णम् । रजनी भूषिता एव ।। २५ ।।

नेति ।। हिमभासा चन्द्रेण द्यौराकाशम् । उचितं योग्यं प्रसादं न गमिता । अद्रयो वनानि च तेभ्यः । तिमिरं नोद्धृतं नोत्सारितम् । दिशां मुखेषु धाम तेजश्च न विकीर्णं न पर्यस्तम् । तथापि रजनी भूषितैव । उक्तगुणासम्पत्ताविति भावः । अत्र प्रसाधनकारणाभावेऽपि तत्कार्यभूषणोक्त्या विभावनालङ्कारः ।। २५ ।।

हिन्दी—चन्द्रमा द्वारा आकाश अभी अच्छी तरह से प्रकाशयुक्त नहीं हुआ, पर्वतों तथा वनों से अन्धकार अभी दूर नहीं हुआ, क्षितिजों पर चन्द्रिका नहीं छाई किन्तु तब भी रात्रि तो अलङ्कृत ही हो गई ।

विमर्श—यहाँ विभावना अलङ्कार है ।

मानिनीजनविलोचनपातानुष्णबाष्पकलुषान् प्रतिगृह्णन् ।
मन्दमन्दमुदितः प्रययौ खं भीतभीत इव शीतमयूखः ।। २६ ।।

अन्वयः—उदितः शीतमयूखः उष्णबाष्पकलुषान् मानिनीजनविलोचनपातान् प्रतिगृह्णन् भीतभीत इव मन्दमन्दम् खं प्रययौ ।। २६ ।।

मानिनीति ।। उदितः शीतमयूख उष्णेन विरहतप्तेन बाष्पेण कलुषानाविलान् । मानिनीजनस्य कलहान्तरितनायिकाजनस्य विलोचनपातान् । मानभङ्गजनितरोषेण भीषणानिति भावः । 'कोपात्कान्तं पराणुद्य पश्चात्तापसमन्विता । कलहान्तरिता' इति दशरूपके । प्रतिगृह्णन् स्वीकुर्वन् । अपरिहार्यत्वादिति भावः । अत एव भीतभीतो भीतप्रकार इवेत्युत्प्रेक्षा । मन्दमन्दं मन्दप्रकारम् । उभयत्रापि 'प्रकारे गुणवचनस्य' इति द्विर्भावे कर्मधारयवद्भावात्सुलोपः । खमाकाशं प्रययौ ।। २६ ।।

हिन्दी—(पूर्व क्षितिज में) उदित चन्द्रमा गरम-गरम आँसुओं से कलुषित मानिनियों के कटाक्ष पातों को सहन करते हुए मानों अत्यन्त भयभीत-सा होकर धीरे-धीरे आकाश में पहुँच गया ।। २६ ।।

विमर्श—चन्द्रोदय हो जाने से कामोद्रेक के कारण उन मानिनियों का मान - भङ्ग हो गया, अतः चन्द्रमा के ऊपर वे क्रोध से भर गयीं । यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार है।

श्लिष्यतः प्रियवधूरुपकण्ठं तारकास्ततकरस्य हिमांशोः ।
उद्वमन्नभिरराज समन्तादङ्गराग इव लोहितरागः ।। २७ ।।

अन्वयः—ततकरस्य तारकाः प्रियवधूः उपकण्ठं श्लिष्यतः हिमांशोः समन्तात् उद्वमन् लोहितरागः अङ्गरागः इव अभिरराज ।। २७ ।।

श्लिष्यत इति ।। तताः प्रसारिताः करा एव करा अंशुहस्ता येन तस्य ततकरस्य तारका एव प्रियवधूरुपकण्ठमन्तिके कण्ठे वा । अत्यन्तसंयोगे द्वितीया । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । श्लिष्यतः प्रत्यासीदत आलिङ्गतश्च हिमांशोः सम्बन्धी

समन्तादुद्वमन् उत्सर्पन्। अर्थान्तरत्वादकर्मकत्वम् । 'धातोरर्थान्तरे वृत्तेः' इति वचनात्। लोहितरागोऽरुणप्रभः । अङ्गराग इवाभिरराज । आलिङ्गनादाग्रो गलतीति प्रसिद्धिः । अत्र रूपकोपमयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः ।। २७ ।।

हिन्दी—अपने किरण-रूपी हाथों को फैलाकर तारा-रूपी प्रियतमा का आलिङ्गन करते हुए चन्द्रमा के चारों ओर फैलती हुई उसकी लालिमा अङ्गराग के समान सुशोभित होने लगी ।। २७ ।।

विमर्श—तात्पर्य यह है कि चन्द्रमा की किरणें ताराओं पर फैल गयीं । आलिङ्गन से अङ्गराग फैल ही जाता है । रूपक और उपमा का अङ्गाङ्गी भाव से संकर ।

प्रेरितः शशधरेण करौघः संहतान्यपि नुनोद तमांसि ।
क्षीरसिन्धुरिव मन्दरभिन्नः काननान्यविरलोच्चतरूणि ।। २८ ।।

अन्वयः—शशधरेण प्रेरितः करौघः संहतानि अपि तमांसि मन्दरभिन्नः क्षीर-सिन्धुः अविरलोच्चतरूणि काननानि इव नुनोद ।। २८ ।।

प्रेरित इति ।। शशधरेण चन्द्रेण प्रेरितो विसृष्टः करौघः संहतानि सान्द्राणि अपि तमांसि मन्दरेण मन्दराचलेन भिन्नो नुन्नः क्षीरसिन्धुरविरलाः सान्द्रा उच्चा उन्नताश्च तरवो येषु तानि काननानीव नुनोददू रीचकार ।। २८ ।।

हिन्दी—चन्द्रमा द्वारा प्रेरित किरणों के समूह ने अत्यन्त सघन अन्धकार को इस प्रकार से ढँक दिया जिस प्रकार (समुद्र-मन्थन के समय) मन्दराचल से क्षुब्ध क्षीर समुद्र ने अत्यन्त सघन एवं ऊँचे-ऊँचे वृक्षों से युक्त जङ्गलों को ढँक लिया था ।

विमर्श—यहाँ उपमा अलङ्कार है ।। २८ ।।

शारतां गमितया शशिपादैश्छायया विटपिनां प्रतिपेदे ।
न्यस्तशुक्लवलिचित्रतलाभिस्तुल्यता वसतिवेश्ममहीभिः।। २९ ।।

अन्वयः—शशिपादः शारतां गमितया विटपिनां छायया न्यस्तशुक्लवलिचित्र-तलाभिः वसतिवेश्ममहीभिः तुल्यता प्रतिपेदे ।। २९ ।।

शारतामिति ।। शशिपादैश्चन्द्ररश्मिभिः । 'पादा रश्म्यङ्घ्रितुर्यांशाः' इत्यमरः । शारतां शबलतां गमितया । 'शारः शबलपीतयोः' इति विश्वः । विटपिनां तरूणां छायया न्यस्तैर्निक्षिप्तैः शुक्लबलिभिः श्वेतपुष्पाद्युपहारैश्चित्राणि तलानि उपरिभागा यासां ताभिः । 'करोपहारयोः पुंसि बलिः प्राण्यङ्गजे स्त्रियाम्' इत्यमरः । वसति-वेश्ममहीभिर्निवासगृहभूमिभिः । तुल्यता साम्यं प्रतिपेदे प्राप्ता । कर्मणि लिट् । आर्थीयमुपमा ।। २९ ।।

हिन्दी—चन्द्रमा की किरणों से चितकबरी वृक्षों की छाया श्वेत पुष्पों आदि के उपहारों से विभूषित तल वाली निवास स्थान के घरों की भूमि के समान सुशोभित हुई ।। २९ ।।

विमर्श—यहाँ उपमा अलङ्कार है ।

आतपे धृतिमता सह वध्वा यामिनीविरहिणा विहगेन ।
सेहिरे न किरणा हिमरश्मेर्दु:खिते मनसि सर्वमसह्यम् ।। ३० ।।

अन्वय:—आतपे वध्वा सह धृतिमता यामिनिविरहिणा विहगेन हिमरश्मे: किरणा: न सेहिरे । दु:खिते मनसि सर्वम् असह्यम् ।। ३० ।।

आतप इति ।। आतपे । दु:खकरेऽपीति भाव: । वध्वा चक्रवाक्या सह । अत एव धृतिमता संतोषवता यामिनीषु विरहिणा नियतविरहेणात एव विहगेन चक्रवाकेण हिमरश्मेश्चन्द्रस्य किरणा न सेहिरे । तथा हि—दु:खिते सञ्जातदु:खे मनसि सर्वम् । मनोहरमपीति भाव: । असह्यं सोढुमशक्यम् । 'शकिसहोश्च' इति यत्प्रत्यय: । पूर्वे तु 'आतपा:' इति पेठु: । तत्र वध्वा सहातपा अपि सेहिरे । तद्विरहिणा तु शशिकिरणा अपि न सेहिरे इति योज्यम् । फलं तु समानम् ।। ३० ।।

हिन्दी—रात्रि में अपनी प्रियतमा से वियुक्त रहने वाले जिस पक्षी अर्थात् चक्रवाक ने दिन की तीखी धूप में अपनी प्रिया के साथ खुशी-खुशी समय बिताया था, वही रात्रि में चन्द्रमा की शीतल किरणों को नहीं सहन कर सका । सच है, मन दु:खी होने पर सब चीजें असह्य हो जाती हैं ।। ३० ।।

विमर्श—यहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ।

गन्धमुद्धतरज: कणवाही विक्षिपन्विकसतां कुमुदानाम् ।
आदुधाव परिलीनविहङ्गा यामिनीमरुदपां वनराजी: ।। ३१ ।।

अन्वय:—अपां कणवाही विकसतां कुमुदानाम् गन्धम् उद्धतरज: विक्षिपन् यामिनीमरुत् परिलीनविहङ्गा: वनराजी: आदुधाव ।। ३१ ।।

गन्धमिति ।। अपां कणवाही । योग्यान्वये व्यवधानमपि सोढव्यम् । विकसतां कुमुदानां गन्धं सौरभम् , उद्धतं रज: परागो यस्मिन्कर्मणि तद्यथा तथा । 'शेषाद्विभाषा' इति विकल्पान्न कप् । विक्षिपन् विकिरन् । इत्थं शिशिर: सुरभि: । यामिनी मरुत् रात्रिवायु: । परितो लीना: शयिता विहङ्गा यासु ता वनराजी: । आदुधाव ईषत्कम्पयामास। विहङ्गशयनाविरोधेन वनराजि: किंचित्कम्पितेत्यर्थति । 'आङीषदर्थेऽभिव्याप्तौ' इत्यमर: । तथा कश्चित्कामिनीं गन्धोदकादिना सिञ्चन्नाकर्षति तद्वदिति भाव: ।। ३१ ।।

हिन्दी—जल के कणों को वहन करता हुआ विकसित कुमुदों के सुगन्ध और पराग को बिखेरने वाला वायु सुख की नींद सोये हुए पक्षियों से सुशोभित वन पङ्क्तियों को थोड़ा-थोड़ा झकझोरने लगा ।। ३१ ।।

विमर्श—जिस प्रकार कोई कामी अपनी प्रेमिका को इत्रादि सुगन्धित पदार्थों से सिञ्चित कर उसे अपनी ओर आकर्षित करने की चेष्टा करता है उसी प्रकार वायु ने भी वन-पंक्तियों को झकझोर कर अपनी ओर आकर्षित किया ।

संविधातुमभिषेकमुदासे मन्मथस्य लसदंशुजलौघः ।
यामिनीवनितया ततचिह्नः सोत्पलो रजतकुम्भ इवेन्दुः ।। ३२ ।।

अन्वयः—यामिनीवनितया लसदंशुजलौघः ततचिह्नः इन्दुः सोत्पलः रजत-कुम्भः मन्मथस्य अभिषेकं संविधातुं इव उदासे ।। ३२ ।।

संविधातुमिति ।। यामिनी वनितेव तया रात्रिरूपया कान्तया मन्मथस्याभिषेकं त्रिभुवनजैत्रयात्राभिषेकं संविधातु सम्यक्कर्तुम् । अंशवो जलानीव तेषामोघः पूरोल-सन् यस्मिन्सः । ततचिह्नः स्फुटलाञ्छन इन्दुः सोत्पलो रजतकुम्भ इव । उदास उत्क्षिप्तः । अस्यतेः कर्मणि लिट् । अत्र संविधातुमिति तुमुना प्रतीयमानोत्प्रेक्षयानु-प्राणितोऽयमुपमोत्प्रेक्षयोः संकरः ।। ३२ ।।

हिन्दी—रात्रि-रूपी रमणी ने किरण-रूपी जलराशि से पूर्ण एवं कलङ्क लांछित होने से नीलकमलयुक्त रजत-कलश के समान चन्द्रमा को कामदेव की त्रिभुवनविजयिनी यात्रा के अभिषेचन के लिए मानों ऊपर उठा लिया ।। ३२ ।।

विमर्श—किसी के मङ्गल अभिषेक के लिए कलश चाहिये, उसमें जल भरा होना चाहिए, और जल में पुष्पादि चाहिए । रात्रि-रूपी रमणी को चन्द्रमा में यह सभी सामग्री मिल गई । चन्द्रमा को उसने रजत-कलश बनाया, उसके हिमवर्षी किरणजल को जलराशि बनाया और उसके काले कलङ्क को नील कमल बनाया । इस प्रकार मानों कामदेव की विजयिनी यात्रा का अभिषेक सम्पन्न हो गया । उपमा और उत्प्रेक्षा का संकर ।

ओजसापि खलु नूनमनूनं नासहायमुपयाति जयश्रीः ।
यद्विभुः शशिमयूखसखः सन्नाददे विजयि चापमनङ्गः ।। ३३ ।।

अन्वयः—ओजसा अनूनम् अपि असहायं जयश्रीः न उपयाति खलु नूनम् । यत् विभुः अनङ्गः शशिमयूखसखः सन् विजयि चापम् आददे ।। ३३ ।।

ओजसेति ।। ओजसा । अनूनं संपूर्णमपि । असहायं सहायरहितम् । पुरुषमिति शेषः । जयश्रीर्नोपयाति खलु नूनम् । । कुतः । यत् यस्मात् । विभुः समर्थोऽप्यनङ्गः शशिमयूखानां सखा सहचरस्तथोक्तः । ससहायः सन्नित्यर्थः । विजयि विजयशीलम् । 'जिद्दृक्षि—' इत्यादिनेनिप्रत्ययः । चापमाददे । विशेषेण सामान्यसमर्थनरूपोऽर्थान्तर-न्यासः ।। ३३ ।।

हिन्दी—ओज से सम्पन्न होने पर भी असहाय व्यक्ति के पास विजयश्री नहीं जाती यह बात निर्विवाद सत्य है । अतएव सर्वशक्तिमान होकर भी कामदेव ने जब चन्द्रकिरणों की सहायता प्राप्त की तब अपने विजयी धनुष को धारण किया ।

विमर्श—यहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ।। ३३ ।।

{उद्दीपन सामग्रियों के वर्णन के अनन्तर अब कवि रति-क्रीड़ा का वर्णन आरम्भ करता है—}

सद्मनां विरचनाहितशोभैरागतप्रियकथैरपि दूत्यम् ।
सन्निकृष्टरतिभिः सुरदारैर्भूषितैरपि विभूषणमीषे ॥ ३४ ॥

अन्वयः—सन्निकृष्टरतिभिः सुरदारैः आहितशोभैः अपि सद्मनां विरचना, आगतप्रियकथैः अपि दूत्यम्, भूषितैः अपि विभूषणम् ईषे ॥ ३४ ॥

सद्मनामित्यादि ॥ संनिकृष्टरतिभिरासन्नसुरतोत्सवैरत एव सुरदारैः सुरवधूभिः । आहितशोभैः प्रागेव विहितकेलिगृहमण्डनैरपि पुनः सद्मनां केलिगृहाणां विरचना मण्डनम् । ईषेऽभिलेषे । इषेः कर्मणि लिट् । आगतप्रियकथैः प्राप्तप्रियजनवृत्तान्तैरपि दूतस्य कर्म दूत्यं दूतीव्यापार ईषे । दूतस्य भावकर्मणोर्यत्त्रत्ययः । तथा भूषितैरपि विभूषणं प्रसाधनम् । ईषे । औत्सुक्यातिरेकादिति भावः ॥ ३४ ॥

हिन्दी—रति-क्रीड़ा का समय समीप आ जाने पर देवाङ्गनाएँ पहले ही से केलि विलास के लिए सुसज्जित भवनों को पुनः सजाने, अपने प्रियतम के आगमन का सन्देश मिले रहने पर भी दूती भेजने एवं वस्त्राभूषणों से भली भाँति अलङ्कृत होने पर भी पुनः अलङ्कृत होने की अभिलाषा करने लगीं ॥ ३४ ॥

विमर्श—अत्यन्त उत्सुकता से उनका ऐसा करना स्वाभाविक ही था ।

न स्रजो रुरुचिरे रमणीभ्यश्चन्दनानि विरहे मदिरा वा ।
साधनेषु हि रतेरुपधत्ते रम्यतां प्रियसमागम एव ॥ ३५ ॥

अन्वयः—विरहे स्रजः चन्दनानि मदिरा वा रमणीभ्यः न रुरुचिरे । हि प्रियसमागमः एव रतेः साधनेषु रम्यतां उपधत्ते ॥ ३५ ॥

नेति ॥ विरहे वियोगावस्थायां स्रजो माल्यानि चन्दनानि गन्धा मदिरा मद्यानि वा रमणीभ्यः । 'रुच्यर्थानां प्रीयमाणः' इति संप्रदानत्वाच्चतुर्थी । न रुरुचिरे न रोचन्ते स्म । हि यस्मात् प्रियसमागम एव रतेः साधनेषु स्रगादिषु रम्यतां मनोहरत्वम् । रुचिकरत्वमिति यावत् । उपधत्त आदत्ते । तदभावादरुचिर्युक्तैवेत्यर्थः । अत एव वैधर्म्यात्कारणेन कार्यसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः । रम्यन्त एष्विति रम्याणि । 'पोरदुपधात्' इति यत्प्रत्ययः, 'कृत्यल्युटो बहुलम्' इत्यधिकरणार्थः ॥ ३५ ॥

हिन्दी—उन देवाङ्गनाओं को अपने प्रियतमों की विरहावस्था में मालाएँ, चन्दन अथवा मदिरा रुचिकर नहीं लग रही थीं । क्यों न ऐसा होता क्योंकि प्रियतम का समागम ही इन सामग्रियों में रमणीयता की सृष्टि करता है ॥ ३५ ॥

विमर्श—अर्थात् प्रियतम ही यदि नहीं हो तो इन प्रसाधन सामग्रियों की रमणीयता दुःखदायिनी हो जाती है । यहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ।

प्रस्थिताभिरधिनाथनिवासं ध्वंसितप्रियसखीवचनाभिः ।
मानिनीभिरपहस्तितधैर्यः सादयन्नपि मदोऽवललम्बे ॥ ३६ ॥

अन्वय:—अधिनाथनिवासं प्रस्थिताभि: ध्वंसितप्रियसखीवचनाभि: मानिनीभि: अपहस्तितधैर्य: सादयन् अपि मद: अवललम्बे ।। ३६ ।।

प्रस्थिताभिरिति।।अधिनाथनिवासं प्रियगृहं प्रति प्रस्थिताभि: प्रचलिताभिर्ध्वंसितानि खण्डितानि प्रियसखीवचनानि स्वयं प्रस्थानं लाघवायेत्येवंरूपाणि याभिस्ताभि: ।मानिनीभि: कोपनाभि: । 'स्त्रीणामीर्ष्याकृत: कोपो मानोऽन्यासङ्गिनि प्रिये' इति लक्षणात् । अपहस्तितं निरस्तं धैर्यं येन स: । तथा सादयन् मानं शरीरं च कर्षयन्नपि सदोषोऽपीत्यर्थ: । मदोऽवललम्बे स्वीकृत: । अज्ञानव्याजेन लाघवापह्नवसौकर्यादिति भाव: ।। ३६ ।।

हिन्दी—अपने प्रियतमों के निवास स्थान को प्रस्थित एवं अपनी प्रिय सखियों के आग्रहपूर्ण वचनों को तिरस्कृत करने वाली मानिनी रमणियों ने धैर्य को छुड़ाने वाली एवं शरीर तथा मान को दुर्बल करने वाली मदिरा का सहारा लिया ।

विमर्श—वे मदिरा से बेहोश थीं, अत: उन्हें अपने मान एवं सखियों के आग्रहपूर्ण वचनों का ध्यान नहीं था ।। ३६ ।।

कान्तवेश्म बहु सन्दिशतीभिर्यातमेव रतये रमणीभि: ।
मन्मथेन परिलुप्तमतीनां प्रायश: स्खलितमप्युपकारि ।। ३७ ।।

अन्वय:—रतये बहु सन्दिशतीभि: रमणीभि: कान्तवेश्म यातम् एव । मन्मथेन परिलुप्तमतीनां स्खलितम् अपि प्रायश: उपकारि ।। ३७ ।।

कान्तेति ।। रतये सुरताय बहु संदिशतीभिरनेकं कथयन्तीभि: । संदेशव्यसनाद्गन्तव्यमप्यजानतीभिरित्यर्थ: । रमणीभि: । कान्तवेश्म यातं प्राप्तमेव । न तु मध्ये मार्गान्निवृत्तमित्यर्थ: । तथा हि—मन्मथेन परिलुप्तमतीनां स्खलितं विरुद्धाचरणमपि प्रायश उपकारि भवति ।। ३७ ।।

हिन्दी—रति के लिए सन्देश पर सन्देश भेजती हुई रमणियाँ अपने प्रियतमों के निवास स्थल पर पहुँच ही गयीं । (बीच में मार्ग नहीं भूलीं) प्राय: कामदेव के द्वारा नष्टबुद्धि वाले व्यक्तियों की भूल भी उपकार ही हो जाती है ।। ३७ ।।

विमर्श—यहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ।

आशु कान्तमभिसारितवत्या योषित: पुलकरुद्धकपोलम् ।
निर्जिगाय मुखमिन्दुमखण्डं खण्डपत्रतिलकाकृति कान्त्या ।। ३८ ।।

अन्वय:—आशु कान्तम् अभिसारितवत्या योषित: पुलकरुद्धकपोलम् खण्डपत्रतिलकाकृति मुखम् कान्तया अखण्डम् इन्दुम् निर्जिगाय ।। ३८ ।।

आश्विति ।। आशु कान्तमभिसारितवत्या अभिगतवत्या: । स्वार्थे णिच् । योषित: सम्बन्धि पुलकै रुद्धावावृतौ कपोलौ यस्य तत् । खण्डा प्रमृष्टा पत्राणां पत्रलेखानां तिलकस्य च आकृति: संनिवेशो यस्य तत्तथोक्तं मुखं कान्त्याऽखण्डं पूर्णम् ।

इन्दुं निर्जिगाय जयति स्मेत्यार्थीयमुपमा । 'जयति द्वेष्टि' इति दण्डिना सादृश्यार्थेषु गणनात् ।। ३८ ।।

हिन्दी—शीघ्रता में प्रियतम के समीप जाती हुई (किसी) रमणी के पुलकित कपोलों से सुशोभित एवं पत्रों की चित्रकारी और तिलकों के मिट जाने से मनोहर मुख ने अपनी कान्ति से सम्पूर्ण चन्द्रमा को जीत लिया था ।। ३८ ।।

विमर्श—यहाँ उपमा अलङ्कार है । { नीचे के दो श्लोकों में एक सखी और नायिका का संवाद है—}

उच्यतां स वचनीयमशेषं नेश्वरे परुषता सखि ! साध्वी ।
आनयैनमनुनीय कथं वा विप्रियाणि जनयन्ननुनेयः ।। ३९ ।।

किं गतेन न हि युक्तमुपैतुं कः प्रिये सुभगमानिनि ! मानः ।
योषितामिति कथासु समेतैः कामिभिर्बहुरसा धृतिरूहे ।। ४० ।।

अन्वयः—सः अशेषं वचनीयम् उच्यताम् । हे सखि ! ईश्वरे परुषता न साध्वी । एनम् अनुनीय आनय । विप्रियाणि जनयन् कथं वा अनुनेयः । गतेन किं उपैतुं न युक्तं हि । सुभगमानिनि ! प्रिये मानः कः-इति योषितां कथासु समेतः कामिभिः बहुरसा धृतिः ऊहे ।। ३९-४० ।।

उच्यतामिति ।। तत्र नायिकाह – स धूर्तोऽशेषमखिलं वचनीयं वक्तव्यमुच्यताम् । निःशङ्कमुपालभ्यतामित्यर्थः । ब्रूञो दुहादित्वादप्रधाने कर्मणि लोट् । अथ सख्याह – हे सखि, ईश्वरे भर्तरि नायके विषये परुषता पारुष्यं न साध्वी न हिता । अथ नायिकाह – तर्हि एनमनुनीय सान्त्वयित्वा, आनय । पुनः सख्याह – विप्रियाणि जनयन् अप्रियाणि कुर्वन् स कथं वाऽनुनेयोऽनुनयार्हः ।। ३९ ।।

किमिति ।। पुनर्नायिकाह—तर्हि गतेन तं प्रति गमनेन किम् । कोऽर्थ इत्यर्थः । अत उपैतुं गन्तुं न युक्तं हि । पुनः सख्याह—हे सुभगमानिनि सौन्दर्यमानिनि । सुभगमात्मानं मन्यत इति । 'आत्ममाने खश्च' इति चकाराण्णिनिप्रत्ययः । तस्मिन्, प्रिये विषये को मानः । मानो न कर्तव्य इत्यर्थः । यद्वा, – नहीत्यादि सखीवाक्यम् । तत्र नहीत्येकं वाक्यम् । यदुक्तं सखीत्यर्थः । हे सखि, किं तूपैतुं युक्तम् । कुतः । सुभगमानिनि प्रिये को मानः । तादृग्जनस्य दुर्लभत्वादिति भावः । इति एवंरूपासु योषितां कथासु विषये समेतैः । समीपमागत्याकर्णयद्भिरित्यर्थः । कामिभिर्बहुरसाऽनेकास्वादा धृतिः संतोष ऊहे ऊढा । अत्र परोक्षौत्सुक्यनिर्वेदाद्यनेकभावशाबल्य—परिपूर्णकान्ताकथाकर्णनादुत्तरोत्तरमपूर्वहृदयानन्दनिष्यन्दमानन्दसंदोहमविन्दन्नित्यर्थः । प्रायेणात्र प्रौढाः कलहान्तरिताश्च नायिकाः ।। ४० ।।

हिन्दी—नायिका - हे सखि ! उस धूर्त से मेरी सारी बातें जाकर बताओं । सखी - हे सखी ! प्रियतम के प्रति ऐसी कठोरता अच्छी नहीं । नायिका - तब उसे अनुनय - विनय द्वारा मनाकर ले आओ । सखी - इस प्रकार के अपकारी के साथ

भला अनुनय विनय क्यों किया जाय ?

नायिका - तब फिर वहाँ जाने से क्या लाभ है?

सखी - हे मानिनी ! तुम तो अपने को सुन्दरी मानने वाली हो । फिर वैसे परम सुन्दर प्रियतम के विषय में मान तो करना ही नहीं चाहिये—इस प्रकार का वार्तालाप वे (दोनों) सखियाँ कर रही थीं कि उनके प्रेमीजन स्वयं उपस्थित हो गए और उन्हें उनके इस वार्तालाप से बड़ा सुख मिला ।। ३९-४० ।।

विमर्श—ये प्रौढ़ा तथा कलहान्तरिता नायिका थीं ।

योषितः पुलकरोधि दधत्या धर्मवारि नवसङ्गमजन्म ।
कान्तवक्षसि बभूव पतन्त्या मण्डनं लुलितमण्डनतैव ।। ४१ ।।

अन्वयः—पुलकरोधि नवसङ्गमजन्म धर्मवारि दधत्याः कान्तवक्षसि पतन्त्याः योषितः लुलितमण्डनता एव मण्डनं बभूव ।। ४१ ।।

योषित इति ।। पुलकरोधि रोमाञ्चव्यापि नवसङ्गम एव जन्म यस्य तत् । धर्मवारि स्वेदोदकं दधत्या इति सात्त्विकोक्तिः। कान्तवक्षसि पतन्त्या इत्यौत्सुक्योक्तिः। योषितो या लुलितमण्डनता उत्सृष्टप्रसाधनत्वम् । भावे तल् । सैव मण्डनं बभूव । तादृशफलत्वात्तस्येति भावः ।। ४१ ।।

हिन्दी—प्रियतम के नूतन समागम के कारण पुलकावली (तक) में व्याप्त स्वेद-बिन्दुओं को धारण करने वाली, प्रियतमों के वक्षस्थल पर लेटी हुई उन रमणियों के तिलकादि अलङ्कार यद्यपि छूट गये थे तथापि उनका वह छूटना ही अलङ्कार बन गया ।। ४१ ।।

शीधुपानविधुरासु निगृह्णन्मानमाशु शिथिलीकृतलज्जः ।
सङ्गतासु दयितैरुपलेभे कामिनीषु मदनो नु मदो नु ।।४२ ।।

अन्वयः—शीधुपानविधुरासु दयितैः सङ्गतासु कामिनीषु आशु मान निगृह्णन् शिथिलीकृतलज्जः मदनः नु मदः नुः उपलेभे ।। ४२ ।।

शीध्विति ।। शेरतेऽनेनेति शीधु पक्वेक्षुरसविकारो मद्यविशेषस्तस्य पानेन विधुरासु विमूढासु । तथा दयितैः सङ्गतासु स्वयंप्राप्तासु च कामिनीषु अतिमानवतीषु। आशु मानं कोपं निगृह्णन् निवर्तयन् । शिथिलीकृता लज्जा येन स मदनो नु मदो नु । उपलेभे । लक्ष्यते स्मेत्यर्थः । प्रियसमागमशीधुपानरूपोभयकारणाभङ्गादुभयथा मान-निग्रहाद्यनुभावसाधारण्याच्च संदेहः । स एवालङ्कारः ।। ४२ ।।

हिन्दी—ईख के रस की मदिरा के पान से उन्मत्त एवं स्वयं प्रियतमों के समीप उपस्थित होने वाली उन रमणियों के मान को शीघ्र ही दूर करने वाला एवं उनकी लज्जा को शिथिलित करने वाला कामदेव था या वह मदिरा थी - (इस विषय में) कुछ नहीं कहा जा सकता ।। ४२ ।।

विमर्श—यहाँ सन्देह अलङ्कार है ।

द्वारि चक्षुरधिपाणि कपोलौ जीवितं त्वयि कुतः कलहोऽस्याः ।
कामिनामिति वचः पुनरुक्तं प्रीतये नवनवत्वमियाय ॥ ४३ ॥

अन्वयः—द्वारि चक्षुः अधिपाणि कपोलौ जीवितं त्वयि अस्याः कलहः कुतः इति कामिनां प्रीतये पुनरुक्तं वचः नवनवत्वम् इयाय ॥ ४३ ॥

द्वारीति ॥ द्वारि त्वदागमनमार्ग एव चक्षुः, इत्यौत्सुक्योक्तिः । अधिपाणि पाणौ करे कपोलौ इति चिन्तोक्तिः । किं बहुना, जीवितं त्वयि त्वदधीनम् । त्वां विना न जीवतीत्यर्थः । इति गाढानुरागोक्तिः । अतोऽस्याः कलहो विग्रहः कुतः । इति एवं कामिनां प्रीतये पुनरुक्तं पुनः पुनरुच्यमानं वचो दूतीवाक्यं नवनवत्वं नवप्रकारत्वम-पूर्ववद्भावम् । इयाय । प्रकारार्थे द्विर्भावः । कर्मधारयवद्भावात्सुपो लुक् । कान्ता-नुरागप्रकटनात् कामिनः प्रहृष्यन्तीति भावः । कलहान्तरितेयम् ॥ ४३ ॥

हिन्दी—तुम्हारे आने के मार्ग पर आँखें गड़ाकर वह हथेलियों पर कपोलों को रखे हुए है । अधिक क्या उनका जीवन ही तुम्हारे अधीन है । उसका कोई कलह तुम से नहीं है—इस प्रकार बारम्बार नायक को प्रसन्न करने के लिए (सखियों द्वारा) कही गयी वह वाणी नायक को प्रति बार नूतन लगती रही ॥ ४३ ॥

विमर्श—अपनी प्रियतमा के अनुराग की प्रगाढ़ता कामियों को प्रसन्न करती ही है । यह कलहान्तरिता नायिका थी ।

साचि लोचनयुगं नमयन्ती रुन्धती दयितवक्षसि पातम् ।
सुभ्रुवो जनयति स्म विभूषां सङ्गतावुपरराम च लज्जा ॥ ४४ ॥

अन्वयः—लोचनयुगं साचि नमयन्ती दयितवक्षसि पातं रुन्धती लज्जा सुभ्रुवः विभूषां जनयति स्म सङ्गतौ उपरराम च ॥ ४४ ॥

साचीति ॥ लोचनयुगं साचि तिर्यक् नमयन्ती प्रिये तिर्यक् पातयन्ती । न तु समरेखयेत्यर्थः । दयितवक्षसि पातं रुन्धती इष्टमपि प्रतिबध्नती लज्जा सुभ्रुवो नायि-काया विभूषां शोभां जनयति स्म । सङ्गतौ सुरतप्रसङ्गे सति, उपरराम च । एवं यतस्तदा चाभूषणमेवेति भावः । 'विभाषाकर्मकात्' इति परस्मैपदम् ॥ ४४ ॥

हिन्दी—जो लज्जा पहले उन देवाङ्गनाओं को प्रियतम की ओर सीधे न देख कर तिरछा देखने के लिए विवश करती थी प्रियतम के वक्षस्थल पर लेटने से रोकती थी, और इस प्रकार उस समय वह नायिका की शोभा बढ़ाती थी वही (अब) उनकी रतिक्रीडा के अवसर पर दूर हो गयी ॥ ४४ ॥

सव्यलीकमवधीरितखिन्नं प्रस्थितं सपदि कोपपदेन ।
योषितः सुहृदिव स्म रुणाद्धि प्राणनाथमभिवाष्पनिपातः ॥ ४५ ॥

अन्वयः—सव्यलीकम् अवधीरिखतन्निम् सपदि कोपपदेन प्रस्थितं प्राणनाथं योषितः अभिबाष्पनिपातः सुहृद् इव रुणद्धि स्म ।। ४५ ।।

सव्यलीकमिति ।। सव्यलीकं सापराधम्, अत एव अवधीरितोऽवज्ञातः सन् खिन्नस्तम् । पूर्वकाल—' इत्यादिना तत्पुरुषः । सपदि कोपस्य पदेन व्याजेन प्रस्थितं निर्गच्छन्तं प्राणनाथं प्रियं योषितः सम्बन्धी अभिवाष्पनिपात आभिमुख्येनाश्रुमोक्षः सुहृदिव रुणद्धि स्म रुरोध । वाष्पपातस्य मन्युमोक्षलिङ्गतया प्रस्थानप्रतिबन्धकत्वात् सुहृदौपम्यम् । इयमधीरा खण्डिता —'ज्ञातेऽन्यासङ्गिनि पतौ खण्डितेर्ष्याकषायिता । अधीराश्रु विमुञ्चन्ती विज्ञेया चात्र नायिका ।।' इति दशरूपके ।। ४५ ।।

हिन्दी—अपराध करने के कारण अपमानित होने से खिन्न होकर कोप का बहाना बनाकर शीघ्र जाते हुए किसी प्रियतम को उसके सम्मुख ही सुन्दरी के अश्रुपात ने मित्र की भाँति रोक लिया ।। ४५ ।।

विमर्श—मित्र भी क्रोध से जाते हुए अपने मित्र को रोक लेता है । यह अधीरा खण्डिता नायिका थी । यहाँ उपमा अलङ्कार है ।

शङ्किताय कृतबाष्पनिपातामीर्ष्यया विमुखितां दयिताय ।
मानिनीमभिमुखाहितचित्तां शंसति स्म घनरोमविभेदः ।। ४६ ।।

अन्वयः—शङ्किताय दयिताय ईर्ष्यया विमुखितां कृतबाष्पनिपाताम् मानिनीम् घनरोमविभेदः अभिमुखाहितचित्तां शंसति स्म ।। ४६ ।।

शङ्कितायेति ।। शङ्किताय दयितायाविश्वस्ताय नायकाय । ईर्ष्यया विमुखितां विमुखीकृताम् । अत एव कृतबाष्पनिपातां मानिनीं घनरोमविभेदः सान्द्रपुलकोदयोऽभिमुखमाहितं चित्तं यया ताम् । निष्कोपामित्यर्थः । शंसति स्म । व्यनक्ति स्मेत्यर्थः । अन्यथा सात्त्विकानुदयादिति भावः । अत्रापि पूर्वोक्तैव नायिका ।। ४६ ।।

हिन्दी—अविश्वस्त नायक को, उसके द्वारा विमुख होने के कारण आँसू बहाती हुई मानिनी की सघन पुलकावली ने उसके अनुरक्त चित्त वाली होने की सूचना दे दी ।। ४६ ।।

विमर्श—यदि वह अनुरक्त न होती तो रोमांच आदि सात्विक भावों का उदय क्यों होता ? यह नायिका भी अधीरा और खण्डिता थी ।

अथ संभोगशृङ्गारमाह, तत्रापि बाह्यरतमाह—

लोलदृष्टि वदनं दयितायाश्चुम्बति प्रियतमे रभसेन ।
व्रीडया सह विनीवि नितम्बादंशुकं शिथिलतामुपपेदे ।। ४७ ।।

अन्वयः—प्रियतम लोलदृष्टि दयितायाः वदनं रभसेन चुम्बति विनीवि अंशुकं नितम्बात् व्रीडया सह शिथिलताम् उपपेदे ।। ४७ ।।

लोलेति।। प्रियतमे लोलदृष्टि चञ्चलेक्षणं दयिताया वदनं रभसेन बलात्कारेण चुम्बति सति विनीवि निर्गतबन्धनम् । अंशुकं नितम्बाद्व्रीडया सह शिथिलतामुपपेदे । उभयमपि शिथिलमासीदित्यर्थः । अत्र व्रीडांशुकरूपसम्बन्धिभेदभिन्नवृत्तिस्रंसनरूप-शैथिल्यस्याभेदाध्यवसायनिबन्धनातिशयोक्तिमूलः सहोक्तिविशेषोऽङ्कारः । अत एव व्रीडांशुकौपम्यं च कल्प्यम् । अत्र वात्स्यायनः —'बाह्यमाभ्यन्तरं चेति द्विविधं रत-मुच्यते । तत्राद्यं चुम्बनाश्लेषनखदन्तक्षतादिकम् ।। द्वितीयं सुरतं साक्षान्नाना-करणकल्पितम् ।।' इति ।। ४७ ।।

हिन्दी—प्रियतम द्वारा चञ्चल नेत्रों वाली प्रियतमा का मुख बलपूर्वक चुम्बन कर लेने पर नीवी का बंधन छूट जाने से उसका वस्त्र नितम्ब प्रदेश से लज्जा के साथ ही शिथिलित हो गया । ४७ ।।

विमर्श—अर्थात् वस्त्र तो ढीला हो ही गया उसकी लज्जा भी शिथिलित हो गयी । यहाँ अतिशयोक्ति मूलक सहोक्ति अलङ्कार है ।

ह्रीतया गलितनीवि निरस्यन्नन्तरीयमवलम्बितकाञ्चि ।
मण्डलीकृतपृथुस्तनभारं सस्वजे दयितया हृदयेशः ।। ४८ ।।

अन्वयः—गलितनीवि अवलम्बितकाञ्चि अन्तरीयम् निरस्यन् हृदयेशः ह्रीतया दयितया मण्डलीकृतपृथुस्तनभारं सस्वजे ।। ४८ ।।

ह्रीतयेति ।। गलितनीवि गलितबन्धं तथापि अवलम्बिता काञ्ची येन तत् । काञ्चीलग्नमित्यर्थः । तत्, अन्तरीयमधोंशुकम् । 'अन्तरीयोपसंव्यानपरिधानान्यधों-शुके' इत्यमरः । निरस्यन् आक्षिपन् । हृदयेशः प्रियो ह्रीतया वस्त्रापगमाल्लज्जितया। ह्रीधातोः कर्तरि क्तः । दयितया मण्डलीकृतो वर्तुलीकृतः पृथुस्तनभारो यस्मिन्कर्मणि तद्यथा तथा । गाढमित्यर्थः । सस्वज आश्लिष्टः । प्रियदृष्टेः प्रतिबन्धार्थमित्यर्थः ।

हिन्दी—नीविबन्धन के छूट जाने से करधनी के सहारे रुके हुए अन्तरीय (अधोवस्त्र) को खींचते हुए अपने प्रियतम का, लज्जित प्रियतमा ने ऐसा गाढ़ा आलिङ्गन किया कि उसके उन्नत एवं विस्तृत स्तन-मण्डल (खूब दबाने से) गोलाकार बन गए थे ।। ४८ ।।

विमर्श—प्रियतम की दृष्टि को रोक रखने के लिए उसने यह चतुराई की थी।

आदृता नखपदैः परिरम्भाश्चुम्बितानि घनदन्तनिपातैः ।
सौकुमार्यगुणसंभृतकीर्तिर्वाम एव सुरतेष्वपि कामः ।। ४९ ।।

अन्वयः—परिरम्भाः नखपदैः चुम्बितानि घनदन्तनिपातैः आदृताः सौकुमार्य-गुणसम्भृतकीर्तिः कामः सुरतेषु अपि वाम एव ।। ४९ ।।

आदृता इति ।। परिरम्भा आलिङ्गनानि नखपदैर्हेतुभिः । आदृता अभिमताः । 'हेतौ' इति तृतीया। तथा चुम्बितानि चुम्बनानि घनदन्तनिपातैर्गाढदन्तक्षतैर्हेतुभिरादृता-

नीति लिङ्गविपरिणामः । सुरतसुखोद्दीपकत्वान्नखदन्तक्षतपूर्वकेष्वालिङ्गचुम्बनेष्वादरः संवृत्त इत्यर्थः । ननु सुकुमारे कामतन्त्रे कथं पीडाकरेष्वादर इति न वाच्यमित्याह— सौकुमार्येति । सौकुमार्यमेव गुणस्तेन संभृतकीर्तिर्लब्धयशाः कामः सुरतेषु संभोगेष्वपि । न केवलं विप्रलम्भेष्विति भावः । वामः क्रूर एव । सुकुमारः काम इति प्रवादमात्रम् । वस्तुतस्तु पीडयन्नेव सुखमावहतीति भावः । सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ।। ४९ ।।

हिन्दी—(रमणियों का) गाढ़ आलिङ्गन नखक्षतों से तथा चुम्बन गाढ़ दन्तक्षतों से पुरस्कृत हुआ । अपनी सुकुमारता के लिए प्रसिद्ध कामदेव सम्भोगावस्था में भी क्रूर ही रहता है ।। ४९ ।।

विमर्श—अर्थात् जब सम्भोगावस्था में उसका यह हाल है तो वियोगावस्था में क्या होगा ? कामदेव सुकुमार है, यह कोरी गप्प है, वस्तुतः वह दूसरों को पीड़ा पहुँचा कर ही सुखी होता है । यहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ।

अथाभ्यनतरं रतमाह—

पाणिपल्लवविधूननमन्तः सीत्कृतानि नयनार्धनिमेषाः ।
योषितां रहसि गद्गदवाचामस्त्रतामुपययुर्मदनस्य ।। ५० ।।

पाणीति ।। रहसि एकान्त इति विश्रम्भातिशयोक्तिः । गद्गदवाचां स्खलद्गिरां योषितां सम्बन्धीनि पाणिपल्लवयोर्विधूननं कम्पनम् । अन्तः सीत्कृतानि सीत्काराः । एतेन कुट्टमिताख्यो भाव उक्तः । अधरपीडनादौ सुखेऽपि 'दुःखवदुपचारः कुट्टमितम्' इति लक्षणात् । नयनानामर्धनिमेषा अर्धनिमीलितानि । रहस्येकान्ते गद्गदवाचां योषितामिति विशेषणसामर्थ्याद्गद्गदकण्ठत्वं चेत्येतानि मदनस्यास्त्रतामुपययुः । अस्त्रवत् पुंसामुद्दीपनान्यासन्नित्यर्थः । अत्र सीत्कारार्धनिमेषादिना सुखपारवश्यं व्यज्यते । तदुक्तं रतिरहस्ये —'स्रस्तता वपुषि मीलनं दृशोर्मूर्च्छना च रतिलाभलक्षणम् । श्लेषयेत्स्वजघनं मुहुर्मुहुः सीत्करोति गतलज्जिताकुला ।।' इति ।। ५० ।।

अन्वयः—रहसि गद्गदवाचां योषितां पाणिपल्लवविधूननम् अन्तःसीत्कृतानि नयनार्धनिमेषाः मदनस्य अस्त्रताम् उपययुः ।। ५० ।।

हिन्दी—अत्यन्त एकान्त में (केलि-भवन में) गद्गद् वाणी में बोलने वाली रमणियों का पाणि-पल्लवों का हिलाना, सी-सी करना एवं आधे मुंदे हुए नेत्रों से देखना - ये सब (उनके प्रियतमों के लिए) कामदेव के अस्त्रों के समान (उद्दीपन) हो गए ।। ५० ।।

अथ मधुपानवर्णमारभते—

पातुमाहितरतीन्यभिलेषुस्तर्षयन्त्यपुनरुक्तरसानि ।
सस्मितानि वदनानि वधूनां सोत्पलानि च मधूनि युवानः ।। ५१ ।।

अन्वयः—युवानः आहितरतीनि अपुनरुक्तरसानि तर्षयन्ति । सस्मितानि वधूनां वदनानि सोत्पलानि मधूनि च पातुम् अभिलेषुः ।। ५१ ।।

पातुमिति ।। युवान आहितरतीनि वर्धितरागाण्यत एव अपुनरुक्तरसानि पुनः पुनः पानेनाप्यपूर्वस्वादान्यत एव तर्षयन्ति तृष्णोत्पादकानि । अतृप्तिकराणीत्यर्थः । सस्मितानि वधूनां वदनानि सोत्पलानि मधूनि च पातुमभिलेषुरिच्छन्ति स्म । अत्र प्रस्तुतानामेव वदनानां मधूनां च पानक्रियौपम्यस्य गम्यत्वात्केवलं प्राकरणिकविषयतया तुल्ययोगितालङ्कारः । 'प्रस्तुतानां तथान्येषां केवलं तुल्यधर्मतः । औपम्यं गम्यते यत्र सा मता तुल्ययोगिता ।।' इति लक्षणात् ।। ५१ ।।

हिन्दी—युवक गन्धर्व राग को बढ़ाने वाले, प्रतिक्षण अपूर्व स्वाद देने वाले एवं तृष्णा को उत्पन्न करने वाले ईषद् हास्य युक्त रमणियों के मुखों तथा कमलयुक्त मदिरा को पान करने के लिए अति इच्छुक हो गए ।। ५१ ।।

विमर्श—मदिरा और रमणियों के मुख के विशेषण एक ही हैं । यहाँ तुल्ययोगिता अलङ्कार है ।

कान्तसङ्गमपराजितमन्यौ वारुणीरसनशान्तविवादे ।
मानिनीजन उपाहितसंधौ संदधे धनुषि नेषुमनङ्गः ।। ५२ ।।

अन्वयः—कान्तसङ्गमपराजितमन्यौ वारुणीरसनशान्तविवादे उपाहितसन्धौ मानिनीजने अनङ्गः धनुषि इषुं न सन्दधे ।। ५२ ।।

कान्तेति ।। कान्तसङ्गमेन पराजितमन्यौ त्यक्तरोषे । तदवधिकत्वात्तस्येति भावः । किंच, वारुणीरसनेन मध्वास्वादेन शान्तो विवादो वाक्कलहादिर्यस्य तस्मिन् । अत उपाहितसंधौ प्रियैः सह कृतसंधाने मानिनीजने विषयेऽनङ्गो धनुषीषुं न संदधे संधानं नाकरोत् । सिद्धसाध्ये साधनवैयर्थ्यादिति भावः ।। ५२ ।।

हिन्दी—प्रियतम के समागम से मानिनी रमणियों का क्रोध दूर हो गया, मदिरा के पान से विवाद शान्त हो गया, इस प्रकार प्रिय के सङ्ग उनकी सुलह हो गयी, अतः उन पर (आक्रमण करने के लिए) कामदेव ने अपने धनुष पर बाण नहीं चढ़ाया ।। ५२ ।।

विमर्श—जब साध्य सिद्ध हो गया तब व्यर्थ में बाण चलाने से क्या लाभ?

कुप्यताशु भवतानतचित्ताः कोपितांश्च वरिवस्यत यूनः ।
इत्यनेक उपदेश इव स्म स्वाद्यते युवतिभिर्मधुवारः ।। ५३ ।।

अन्वयः—यूनः कुप्यत, आशु आनतचित्ताः भवत, कोपितान् च वरिवस्यत—इति अनेकः उपदेशः इव युवतिभिः मधुवारः स्वाद्यते स्म ।। ५३ ।।

कुप्यतेति ।। यूनः प्रियान् कुप्यत यूनां कोपं जनयत । नात्र 'क्रुधद्रुह—' इत्यादिना यूनां संप्रदानत्वे चतुर्थी । तस्य यं प्रति कोपः' इति नियमात् । अत्र

कोपस्तावत्कृत्रिम इति आशु आनतचित्ता अनुकूलचित्ता भवत । किंच, कोपितांस्तान् वरिवस्यत परिचरत । 'नमोवरिवश्चित्रङः क्यच्' इति क्यच् । वरिवसः परिचर्यायामित्यर्थे तस्य नियमश्च । इति एवम् । अनेकोऽनेकप्रकारो य उपदेशः प्रवर्तवाक्यं स इव मधुवारो मधुपानावृत्तिः । 'मधुवारा मधुक्रमाः' इत्यमरः । युवतिभिः स्वाद्यते स्म। मधुवारस्य कोपादिकार्यप्रवर्तकत्वसाम्यादुपदेश इवेत्युत्प्रेक्षा । अनियताः खलु मत्तचेष्टा इति भावः ॥ ५३ ॥

हिन्दी—अपने युवक प्रेमियों को क्रुद्ध कर दो, और तुरन्त ही उनके अनुकूल हो जाओ, क्रुद्ध हो गए हैं तो उनकी सेवा करके उन्हें मना लो । मानों इस प्रकार के अनेक उपदेशों की भाँति स्वाद ले-लेकर रमणियाँ मदिरा का बारम्बार आस्वादन करने लगीं ॥ ५३ ॥

भर्तृभिः प्रणयसंभ्रमदत्तां वारुणीमतिरसां रसयित्वा ।
ह्रीविमोहविरहादुपलेभे पाटवं नु हृदयं नु वधूभिः ॥ ५४ ॥

अन्वयः—भर्तृभिः प्रणयसम्भ्रमदत्ताम् अतिरसां वारुणीम् रसयित्वा वधूभिः ह्रीविमोहविरहात् पाटवं नु हृदयं नु उपलेभे ॥ ५४ ॥

भर्तृभिरिति ॥ भर्तृभिः प्रणयसंभ्रमाभ्यां प्रेमादराभ्यां दत्ताम् । 'संभ्रमः साध्वसेऽपि स्यात्संवेगादरयोरपि' इति विश्वः । अत एव, अतिरसामधिकस्वादां वारुणीं वरुणात्मजाम् । 'सुरा हलिप्रिया हाला परिस्रुद्वरुणात्मजा' इत्यमरः । रसयित्वाऽऽस्वाद्य वधूभिर्ह्रीविमोहविरहात् मदेन लज्जाजाड्यापगमाद्धेतोः पाटवं पटुत्वं नु हृदयं ज्ञान विशेषं नु । उपलेभे । अत एव हृदयस्य तत्कार्यज्ञानसामर्थ्याद्धृदयमेव प्रागसत्पश्चाल्लब्धमिति संदेहः । अन्यथा कथं प्रियं प्रति वक्रोक्त्याद्यर्थेषु प्रवृत्तिरिति भावः । संदेहालङ्कारः ॥ ५४ ॥

हिन्दी—अपने प्रियतमों द्वारा प्रेम और आदर के साथ दी गयी अत्यन्त स्वादुयुक्त मदिरा का रसास्वादन कर रमणियों ने लज्जा और मूढ़ता के दूर हो जाने से (पता नहीं) चतुरता प्राप्त की या सहृदयता प्राप्त की ? ॥ ५४ ॥

विमर्श—अन्यथा वे इस प्रकार का आचरण कैसे कर सकती थीं । यहाँ सन्देह अलङ्कार है ।

स्वादितः स्वयमथैधितमानं लम्भितः प्रियतमैः सह पीतः ।
आसवः प्रतिपदं प्रमदानां नैकरूपरसतामिव भेजे ॥ ५५ ॥

अन्वयः—स्वयं स्वादितः अथ प्रियतमैः एधितमानं लम्भितः प्रियतमैः सहपीतः आसवः प्रमदानां प्रतिपदं नैकरूपरसताम् भेजे इव ॥ ५५ ॥

स्वादित इति ॥ स्वयं स्वादितः । आदौ स्वयमेवादाय पीतः, अथ अनन्तरं प्रियतमैरेधितमानं वर्धितबहुसंमानं यथा तथा लम्भितो ग्राहितः । स्वहस्तेन पायित इत्यर्थः । ततः प्रियतमैः सह पीतः । युगपदेकपात्रेण पीत इत्यर्थः । आसवः प्रमदानां

प्रतिपदं प्रतिवारं नैकरूपरसतामनेकविधस्वादुत्वम् । नञर्थस्य 'न' शब्दस्य सुप्सुपेति समासः । नञ्समासे नलोपः स्यात् । भेज इव प्रापेव । उपचारविशेषाद्भोज्येषु रस-विशेषः स्यादिति भावः । आस्वादनादिपदार्थानामनेकरसताप्राप्तिहेतुत्वात् काव्यलिङ्गं तावदेकं स्वादनादीनामनेक धर्माणामेकस्मिन्नेव सर्वक्रमेण सम्बन्ध्यात्पर्यायभेदश्च, तयोश्च संसृष्टयोरनेकरसत्वोत्प्रेक्षाबीजत्वात्तया सहाङ्गाङ्गिभावेन संकरः ।। ५५ ।।

हिन्दी—पहले स्वयं पीने पर तदनन्तर प्रियतमों द्वारा अतिसम्मानपूर्वक दिये जाने पर पीने पर फिर प्रियतमों के साथ (उन्हीं के प्याले में) पीने पर (वही) मदिरा उन रमणियों को प्रतिबार मानों भिन्न-भिन्न स्वाद से युक्त मालूम पड़ी ।। ५५ ।।

विमर्श—काव्यलिङ्ग, पर्याय तथा उत्प्रेक्षा का संकर ।

भ्रूविलाससुभगाननुकर्तुं विभ्रमानिव वधूनयनानाम् ।
आददे मृदुविलोलपलाशैरुत्पलैश्चषकवीचिषु कम्पः ।। ५६ ।।

अन्वयः—भ्रूविलाससुभगान् वधूनयनानां विभ्रमान् अनुकर्तुम् इव मृदुविलोल-पलाशैः उत्पलैः चषकवीचिषु कम्पः आददे ।। ५६ ।।

भ्रूविलासेति ।। भ्रूविलासैः सुभगान् सुन्दरान् । वधूनयनानां विभ्रमाननुकर्तुं तैरात्मानं समीकर्तुमिवेति फलोऽत्प्रेक्षार्थत्वात् । मृदुविलोलपलाशैरीषच्चञ्चलदलैः । उत्पलैः । चषकेषु या वीचयो मधूर्मयस्तासु यः कम्पः स आददे स्वीकृतः । न तु स्व-कम्पस्तस्य विलोलविशेषणेनैवोक्तत्वात्तत्स्वीकारश्च तद्योग एव । पूर्वं नेत्रमात्रसाम्य-भाजामुत्पलानां कम्पमानवीचियोगात्सुभ्रूविलासनेत्रसाम्यं जातमित्यर्थः ।। ५६ ।।

विमर्श—रमणियों के भ्रूविलास से मनोहर नेत्रों की लीला का मानों अनु-करण करने के लिए ईषत् चञ्चल दलों से युक्त नीलकमल प्यालों की लहरियों में कम्पन उत्पन्न कर रहे थे ।। ५६ ।।

विमर्श—कमल पहले तो केवल रमणियों के नेत्र की समानता करते थे किन्तु मदिरा के प्यालों की लहरियों के कम्पन से युक्त होकर वे भ्रूविलास युक्त नेत्रों की समानता करने लगे । यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ।

ओष्ठपल्लवविदंशरुचीनां हृद्यतामुपययौ रमणानाम् ।
फुल्ललोचनविनीलसरोजैरङ्गनास्यचषकैर्मधुवारः ।। ५७ ।।

अन्वयः—ओष्ठपल्लवविदंशरुचीनां रमणानां फुल्ललोचनविनीलसरोजैः अङ्गनास्यचषकैः मधुवारः हृद्यताम् उपययौ ।। ५७ ।।

ओष्ठेति ।। ओष्ठ एव पल्लवस्तस्य विदंशे दंशने रुचिरभिलाषो येषां तेषाम् । मुखसुरापानमिषेणाधरं पिपासतामित्यर्थः। रमणानां फुल्लानि लोचनान्येव विनीलसरो-जानि येषु तैः । अङ्गनास्यानि एव चषकाणि पानपात्राणि । 'चषकोऽस्त्री पानपात्रम्' इत्यमरः । तैः, मधुवारो मधुपानवृत्तिर्हृद्यतां हृदयप्रियतामुपययौ । 'हृदयस्य प्रियः'

इति यत्प्रत्यय: । 'हृदयस्य हृल्लेखयदण्लासेषु—' इति हृद्भाव: । रमणविशेषणार्थ-हेतुककाव्यलिङ्गसङ्कीर्णरूपकालङ्कार: ।। ५७ ।।

हिन्दी—रमणियों के अधरपल्लवों के रसपान के इच्छुक प्रेमियों ने प्रफुल्ल लोचन रूपी नीलकमलों से सुशोभित रमणियों के मुखरूपी प्यालों से बार बार मधुपान करके अत्यधिक प्रसन्नता प्राप्त की ।। ५७ ।।

विमर्श—प्रेमियों की मदिरा के प्यालों पर कमल पुष्प तैर रहे थे, इधर रमणियों के मुख रूपी प्यालों पर भी उनके प्रफुल्ल लोचनरूपी नील सरोज शोभायमान थे । अतएव उन्होंने इन दूसरे प्रकार के प्यालों से बार बार मधुपान करके और अधिक प्रसन्नता प्राप्त की । काव्यलिङ्ग और रूपक अलङ्कार का सङ्कर ।

प्राप्यते गुणवतापि गुणानां व्यक्तमाश्रयवशेन विशेष: ।
तत्तथा हि दयिताननदत्तं व्यानशे मधु रसातिशयेन ।। ५८ ।।

अन्वय:—गुणवता अपि आश्रयवशेन गुणानां विशेष: प्राप्यते व्यक्तम् । तत्तथा हि दयिताननदत्तम् मधु रसातिशयेन व्यानशे ।। ५८ ।।

प्राप्यत इति ।। गुणवताप्याश्रयवशेन गुणानां विशेष: प्रकर्ष: प्राप्यते व्यक्तम् । तत्तथा। यदुक्तं तत्तथैवेत्यर्थ:। हि यस्मात् । दयितानां आननेन करणेन दत्तं मधुरसाति-शयेन स्वादुप्रकर्षेण कर्त्रा व्यानशे व्याप्तम् । विशेषेण सामान्यसमर्थनरूपोऽर्थान्तर-न्यास: ।। ५८ ।।

हिन्दी—गुणवान् (व्यक्ति) भी हो तो उत्तम आश्रय पाकर उसमें विशेष गुण हो ही जाता है, यह बात यहाँ सत्य हुई, क्योंकि प्रियतमा द्वारा दी गई मदिरा (प्रेमी के लिए) अत्यधिक स्वाद से पूर्ण हो गई ।। ५८ ।।

विमर्श—यहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ।

वीक्ष्य रत्नचषकेष्वतिरिक्तां कान्तदन्तपदमण्डनलक्ष्मीम् ।
जज्ञिरे बहुमता प्रमदानामोष्ठयावकनुदो मधुवारा: ।। ५९ ।।

अन्वय:—रत्नचषकेषु अतिरिक्तां कान्तदन्तपदमण्डनलक्ष्मीम् वीक्ष्य ओष्ठयाव-कनुद: मधुवारा: प्रमदानां बहुमता जज्ञिरे ।। ५९ ।।

वीक्ष्येति।। रत्नचषकेषु स्फटिकादिमणिपात्रेषु । अतिरिक्तां यावकापगमात्पूर्वा-भ्यधिकां कान्तस्य यत् दन्तपदमण्डनं तस्य लक्ष्मीं शोभाम् । प्रतिबिम्बतामिति शेष: । वीक्ष्य। ओष्ठयावकनुदोऽधरलाक्षारागहारिणो मधुवारा मधुपानाभ्यासा: प्रमदानां बहु-मता अभिमता: । वर्तमाने क्त: । तद्योगात्षष्ठी । जज्ञिरे जाता: । तेषां प्रियानुरागचिह्न-प्रकाशकत्वादिति भाव: ।। ५९ ।।

हिन्दी—स्फटिक आदि रत्नों से बने हुए मदिरा के प्यालों में (रंग के छूट जाने से पहले की अपेक्षा) अधिक स्पष्ट दिखाई पड़ने वाली प्रियतम द्वारा किये गए

दन्त क्षत रूपी मण्डन की शोभा को देखकर, ओष्ठ की लालिमा को दूर करने वाली मदिरा पान की बारम्बार की आवृत्ति को रमणियों ने अपना अभीष्ट ही माना ।

विमर्श—वह इसलिए कि बारम्बार मदिरा पान करने से उनके अधरों का रंग छूट गया और प्रियतम द्वारा किये गये दन्तक्षत स्पष्ट दिखाई पड़ने लगे । उन्होंने सोचा कि यदि हमने इस प्रकार बारम्बार मदिरा-सेवन न किया होता तो इन सौभाग्यसूचक चिन्हों से विमण्डित अधरों का ऐसा सुन्दर दृश्य कैसे देखने को मिलता ।। ५९ ।।

मधुपानाद्विलोचनेषु रागोत्पत्तिः, अधरेभ्यश्च लाक्षारागनिवृत्तिः, मध्वाननयोश्चान्योन्यगन्धसंक्रान्तिरिति स्थिते सत्युत्प्रेक्षते—

लोचनाधरकृताहृतरागा वासिताननविशेषितगन्धा ।
वारुणी परगुणात्मगुणानां व्यत्ययं विनिमयं नु वितेने ।। ६० ।।

अन्वयः—लोचनाधरकृताहृतरागा वासिताननविशेषितगन्धा वारुणी परगुणात्मगुणानां व्यत्ययं विनिमयम् नु वितेने ।। ६० ।।

लोचनेति ।। लोचने चाधरश्च लोचनाधरम् । 'समुद्राभ्राद्धः—' इति व्यभिचारज्ञापकान्नात्राधरशब्दस्य पूर्वनिपातः । कृतश्चासावाहृतश्चेति विशेषणसमासः । लोचनाधरस्य कृताहृतो रागो यया सा तथोक्ता । लोचनयोः कृतरागाधरादासमन्ताद्धृतरागा चेत्यर्थः । षष्ठ्यश्चार्थसम्बन्धात्सामान्यस्य योगविषये पर्यवसाननियमेनाधिकरणापादानार्थयोरांक्षेपात् । तथा चाधरलोचनगुणयो रागतद्विरहयोः स्थानपरिवृत्तिं कृतवतीत्यर्थः । तथा वासितेन स्वगन्धसंक्रान्तिसुरभितेन आननेन विशेषितोऽतिशयितो गन्धो यस्याः सा । यद्वा, —वासितानना चासावर्थादानेनैव विशेषितगन्धा चेति कृतबहुव्रीहिर्विशेषणसमासः । उभयथाप्याननसंक्रन्तास्वगन्धा स्वसंक्रान्ताननगन्धा चेत्यर्थः । एवंभूता वारुणी मदिरा परगुणात्मगुणानां परयोर्लोचनाधरयोर्गुणौ च परस्याननस्य गुण आत्मनो वारुण्या गुणश्च परगुणात्मगुणास्तेषां परगुणात्मगुणानां व्यत्ययं विनिमय नु वितेने विस्तारयामास । चित्तेन प्रामादिकी वस्तुपरिवृत्तिर्व्यत्ययः । बुद्धिपूर्वा तु विनिमयः । अत्र तन्त्रोच्चरितस्य 'परगुण' शब्दस्यावृत्त्या परगुणौ च परगुणात्मगुणौ चेति विग्रहः कथंचिदगत्या सोढव्यः । उपमानपूर्वपदबहुव्रीहिवत् । तथा चायमर्थः —परगुणयोरधरलोचनगुणयो रागतद्विरहयोर्व्यत्ययं नु विनिमयं नु वितेने, तथा परगुणात्मगुणयोराननगन्धात्मगन्धयोश्च व्यत्ययं नु वितेने । अन्यथा कथमन्यस्मिन्नन्यधर्मोपलम्भः संभवतीति भावः । अत्र लोचनाधररागयोस्तदभावयोर्वा भेदेऽप्यभेदाध्यवसायादेकत्ववाचो युक्तिः । तस्मात्तन्मूलातिशयोक्त्यनुप्राणिता चेयं व्यत्ययविनिमयोरन्यतरकरणादुत्प्रेक्षेति संक्षेपः । सा च प्रतीयमाना व्यञ्जकाप्रयोगात् । 'नु' शब्दस्तु संशये ।। ६० ।।

हिन्दी—सुन्दरियों के नेत्रों में लालिमा देकर तथा उनके अधरों से लालिमा का हरण कर, उनके मुखों को अपनी सुगन्ध से सुवासित कर तथा उनकी मुखगन्ध

से स्वयं सुरभित होकर पता नहीं वारुणी ने अपने गुणों से उनके (सुन्दरियों के) गुणों को (जान बूझकर) बदल लिया था अथवा (भ्रम में) पड़कर (परस्पर) उलट पुलट कर लिया था (कुछ कहा नहीं जा सकता) ।। ६० ।।

विमर्श—यहाँ अतिशयोक्ति से अनुप्राणित उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ।

तुल्यरूपमसितोत्पलमक्ष्णोः कर्णगं निरुपकारि विदित्वा ।
योषितः सुहृदिव प्रविभेजे लम्भितेक्षणरुचिर्मदरागः ।। ६१ ।।

अन्वयः—अक्ष्णोः तुल्यरूपं योषितः कर्णगम् असितोत्पलं निरुपकारि विदित्वा मदरागः सुहृद् इव लम्भितेक्षणरुचिः प्रविभेजे ।। ६१ ।।

तुल्येति ।। अक्ष्णोस्तुल्यरूपमक्षितुल्याकृति योषितः कर्णगं कर्णावतंसीकृतम् । असितोत्पलं निरुपकारि अनुपकारकं विदित्वा ज्ञात्वा । तत्कार्यशोभायाः कर्णान्तविश्रान्तेनाक्ष्णैव कृतत्वादिति भावः । मदरागः सुहृदिव उत्पलस्य बन्धुरिव । अनिष्टवारकत्वादिति भावः । लम्भितेक्षणरुचिराहितनयनकान्तिः सन् । प्रविभेजे वर्णान्तरापादनेन प्रविभवान् । अवैलक्षण्यकरादक्ष्णो व्यावर्तयमास । ततो विच्छित्तिकरत्वादिति भावः ।। ६१ ।।

हिन्दी—आँखों के समान आकृति वाले सुन्दरी के कानों में अलङ्कृत नीलकमल को व्यर्थ अथवा अनुपकारी समझकर मदराग ने चित्र की भाँति नेत्रों के रंग को लालिमा में बदल दिया ।। ६१ ।।

विमर्श—यदि आँखों का रंग लालिमा में न बदल उठता तो संभव था सुन्दरियाँ समान रंग होने के कारण नीले कमलों को निकाल कर फेंक देतीं । मदराग ने इस विपदा से मित्र की भाँति उनकी रक्षा की ।

क्षीणयावकरसोऽप्यतिपानैः कान्तदन्तपदसंभृतशोभः ।
आययावतितरामिव वध्वाः सान्द्रतामधरपल्लवरागः ।। ६२ ।।

अन्वयः—अतिपानैः क्षीणयावकरसः कान्तदन्तपदसम्भृतशोभः वध्वाः अधरपल्लवरागः अतितरां सान्द्रताम् आययौ इव ।। ६२ ।।

क्षीणेति ।। अतिपानैः क्षीणयावकरसः क्षीणलाक्षारागोऽपि कान्तस्य दयितस्य दन्तपदेन दन्तक्षतेन संभृता शोभा यस्य सः । वध्वा अधरपल्लवरागोऽतितरामतिमात्रम् । 'अति' शब्दात्तरप्प्रत्यये 'किमेत्तिङव्यय—' इत्यादिनाम्प्रत्ययः । 'तद्धितश्चासर्वविभक्तिः' इत्यव्ययसंज्ञा । सान्द्रतां घनत्वम् । आययाविव । प्रियोपभोगचिह्नमण्डितानां कामिन्यवयवानां किमन्यैर्मण्डनैरिति भावः । तत्र क्षीणस्यापि सान्द्रतेति विरोधात् कान्तदन्तेत्यादिविशेषणगत्या सान्द्रत्वे हेतूक्त्या काव्यलिङ्गं तत्सङ्कीर्णा चोत्प्रेक्षा ।। ६२ ।।

हिन्दी—मदिरा के अतिपान के कारण (किसी नायिका के) ओठ के रंग के

छूट जाने से प्रियतम के दन्त क्षत अधिक स्पष्ट हो गए । इससे शोभान्वित उस सुन्दरी के अधरों की लालिमा मानों और भी घनीभूत हो गई ।। ६२ ।।

विमर्श—प्रियतम के उपभोग से चिह्नित सुन्दरियों के अङ्गों की शोभा के लिए अन्य आभूषणों की आवश्यकता नहीं होती। काव्यलिङ्ग तथा उत्प्रेक्षा का संकर।

रागकान्तनयनेषु नितान्तं विद्रुमारुणकपोलतलेषु ।
सर्वगापि ददृशे वनितानां दर्पणेष्विव मुखेषु मदश्रीः ।। ६३ ।।

अन्वयः—वनितानां सर्वगा अपि मदश्रीः रागकान्तनयनेषु विद्रुमारुणकपोलतलेषु दर्पणेषु इव नितान्तं ददृशे ।। ६३ ।।

रागेति ।। वनितानां सर्वगाऽपि सर्वाङ्गतापि । 'अन्तात्यन्त—' इत्यादिना डः' । मदश्री रागेण कान्तानि नयनानि येषु तेषु । विद्रुमवदरुणानि कपोलतलानि येषु तेषु । मुखेषु दर्पणेष्विव नितान्तं ददृशे । तेषां नयनादिनैर्मल्येन रागाभिव्यक्तिसंभवादिति भावः। अत्र मदश्रीः सर्वगतापि मुखेष्वेव ददृश इति विरोधः। तस्य मुखविशेषणैः समाधानात् काव्यलिङ्गानुप्राणितो विरोधवदाभासोऽलङ्कारः । स चोपमया संसृज्यते ।

हिन्दी—रमणियों के सम्पूर्ण अङ्गों में व्याप्त होने पर भी मदश्री लालिमा से सुशोभित नेत्रों एवं विद्रुम की तरह लाल कपोलों से युक्त उनके मुखों पर दर्पणों की भाँति निरन्तर दिखाई पड़ रही थी ।। ६३ ।।

विमर्श—काव्यलिङ्ग से अनुप्राणित विरोधाभास अलङ्कार तथा उपमा की संसृष्टि ।

बद्धकोपविकृतीरपि रामाश्चारुताभिमतताम्पुनिन्ये ।
वश्यतां मधुमदो दयितानामात्मवर्गहितमिच्छति सर्वः ।। ६४ ।।

अन्वयः—बद्धकोपविकृतिः अपि रामाः चारुताभिमतताम् मधुमदः दयितानां वश्यतां । उपनिन्ये सर्वः आत्मवर्गहितम् इच्छति ।। ६४ ।।

बद्धेति ।। बद्धा कोपेन विकृतिर्याभिस्तास्तथाभूता अपि रामाः कर्म चारुता तासां सौन्दर्यं कर्त्री अभिमततां प्रियवाल्लभ्यम् । उपनिन्ये । सौन्दर्ये हि विकृतिमपि रोचयत इति भावः । मधुमदो दयितानां वश्यतां विधेयत्वमुपनिन्ये । तथाहि—सर्व आत्मवर्गहितमिच्छति । अतश्चारुता स्त्रीत्वात् स्त्रीणामुपचकार । मधुमदस्तु पुंस्त्वात् पुंसामिति युक्तमित्यर्थः। अत्र विकृता अप्यभिमताः कुपिता अपि वश्या इति विरोधस्य चारुतामदाभ्यां समाधानादुभयथापि विरोधाभासो भवन्नर्थान्तरन्यासेन संसृज्यते ।

हिन्दी—प्रणय कोप के कारण विकृत होने पर भी उन रमणियों को उनकी 'सुन्दरता' उनके प्रियतमों के लिए अत्यन्त प्रीतिकर बना रही थी और उनका 'मदराग' उन्हें नायकों की वशवर्तिनी बना रहा था । ठीक ही था, सभी अपने वर्ग का कल्याण चाहते हैं ।। ६४ ।।

विमर्श—सुन्दरता स्त्री होने से रमणियों का कल्याण कर रही थी और मदराग पुरुष होने से पुरुषों का । विरोधाभास तथा अर्थान्तरन्यास की संसृष्टि ।

वाससां शिथिलतामुपनाभि ह्रीनिरासमपदे कुपितानि ।
योषितां विदधती गुणपक्षे निर्ममार्ज मदिरा वचनीयम् ।। ६५ ।।

अन्वयः—उपनाभि वाससां शिथिलतां ह्रीनिरासम् अपदे कुपितानि गुणपक्षे विदधती मदिरा योषितां वचनीयं निर्ममार्ज ।। ६५ ।।

वाससामिति ।। उपनाभि नाभिसमीपे वाससां शिथिलतां ह्रीनिरासं लज्जात्यागम् । अपदे कुपितानि अस्थानकोपांश्च गुणपक्षे गुणकोटौ विदधती निवेशयन्ती । दोषानप्येतान्गुणान्कुर्वतीत्यर्थः । मदिराऽपि योषितां वचनीयम् 'न नाभिं दर्शयेत् इति शास्त्रनिषिद्धाचरणनिन्दां निर्ममार्ज । तथा दोषाणामपि वस्त्रशैथिल्यादीनां तदानीं गुणत्वान्न कश्चिद्वचनीयावकाश इत्यर्थः ।। ६५ ।।

हिन्दी—नाभि के समीप वस्त्रों का शिथिल होना, लज्जा का परित्याग करना, अकारण कुपित हो जाना — इन सब दोषों को गुण कोटि में लाकर मदिरा ने रमणियों के अपवादों को धो दिया ।। ६५ ।।

विमर्श—'न नाभिं दर्शयेत्' अर्थात् स्त्रियों को अपनी नाभि नहीं दिखलानी चाहिये यह शास्त्रीय शिष्टाचार है । अतः नाभि दिखाना आदि दोष था किन्तु मदिरा के ये सब सहज विकार थे अतः उनकी गणना गुण कोटि में हुई, दोष कोटि में नहीं, अतः रमणियों की कोई निन्दा नहीं कर सकता था ।

भर्तृषूपसखि निक्षिपतीनामात्मनो मधुमदोद्यमितानाम् ।
व्रीडया विफलया वनितानां न स्थितं न विगतं हृदयेषु ।। ६६ ।।

अन्वयः—उपसखि आत्मनः भर्तृषु निक्षिपतीनां मधुमदोद्यमितानाम् वनितानां हृदयेषु विफलया व्रीडया न स्थितं न विगतम् ।। ६६ ।।

भर्तृष्विति ।। उपसखि सखीसमीपे । समीपार्थेऽव्ययीभावः । आत्मनः । स्वदेहान् । 'आत्मा जीवे धृतौ देहे स्वभावे परमात्मनि' इति वैजयन्ती । भर्तृषु निक्षिपतीनां निपातयन्तीनाम् । भर्तृणामुपरि पतन्तीनामित्यर्थः । 'आच्छीनद्योर्नुम्' इति विकल्पान्नुमभावः । कुतः । मधुमदेनोद्यमितानां प्रेरितानाम् । न तु स्वेच्छयेति भावः । वनितानामनुरक्तस्त्रीणाम् । 'वनिता जनितात्यर्थानुरागायां च योषिति' इति विश्वः । हृदयेषु विफलया । अनुचिताचरणादिति भावः । व्रीडया न स्थितं न विगतम् । वैफल्यात्तस्या मदोपाधिकत्वाच्चेति भावः । अत एव नोभयनिषेधविरोधः ।। ६६ ।।

हिन्दी—सखियों के समीप ही अपने को पतियों के ऊपर गिराने वाली मदिरा के नशे से प्रेरित अनुरक्त रमणियों के हृदयों में निष्फल हुई लज्जा न तो स्थित ही रह सकी और न जा ही सकी ।। ६६ ।।

विमर्श—अर्थात् मदिरा के नशे में वे इतनी चूर थीं कि सखियों के सामने ही अपने प्रियतमों के ऊपर गिर पड़ीं । उनकी लज्जा निष्फल हो गयी ।

रुन्धती नयनवाक्यविकासं सादितोभयकरा परिरम्भे ।
व्रीडितस्य ललितं युवतीनां क्षीबता बहुगुणैरनुजह्रे ॥ ६७ ॥

अन्वयः—नयनवाक्यविकासं रुन्धती परिरम्भे सादितोभयकरा युवतीनां क्षीबता बहुगुणैः व्रीडितस्य ललितम् अनुजह्रे ॥ ६७ ॥

रुन्धतीति ॥ नयनानां वाक्यानां च विकास प्रागल्भ्यं रुन्धती प्रतिबध्नती । तथा परिरम्भ आलिङ्गने सादितौ स्तम्भितौ उभौ करौ यया सा युवतीनां सम्बन्धिनी क्षीबता मत्तता। कर्तरि क्तः। 'अनुपसर्गात्फुल्लक्षीबकृशोल्लाघाः' इति निपातनात्साधुः। क्षीबो मत्तः तस्य भावः क्षीबता । त्वतलोर्गुणवचनस्य पुंवद्भावो वक्तव्यः । बहुगुणै- र्दृष्टिसङ्कोचादिभिर्व्रीडितस्य व्रीडायाः। भावे क्तः । ललित विलासम् । अनुजह्रेऽनुचक्रे। कर्तरि लिट् । व्रीडाकार्यकरत्वाद् व्रीडानुकरणमित्युपमालङ्कारः ॥ ६७ ॥

हिन्दी—रमणियों के नेत्रों और वाक्यों के विस्तार को रोकती हुई एवं आलिङ्गन के अवसर पर उनके दोनों हाथों को स्तम्भित करती हुई उन युवतियों की मत्तता ने अपने इन अनेक गुणों से लज्जा का मनोहर अनुकरण किया ॥ ६७ ॥

विमर्श—मदिरा के नशे में नेत्रों के विस्तार और वाक्यों के विस्तार रुक जाते हैं, नेत्र झँपने लगते हैं और वाणी अवरुद्ध हो जाती है, और आलिङ्गन में हाथ भी रुक जाते हैं, यही सब कार्य लज्जा भी करती है । यहाँ उपमा अलङ्कार है ।

योषिदुद्धतमनोभवरागा मानवत्यपि ययौ दयिताङ्कम् ।
कारयत्यनिभृता गुणदोषे वारुणी खलु रहस्यविभेदम् ॥ ६८ ॥

अन्वयः—उद्धतमनोभवरागा योषित् मानवती अपि दयिताङ्कं ययौ । अनि- भृता वारुणी गुणदोषे रहस्यविभेदम् कारयति खलु ॥ ६८ ॥

योषिदिति ॥ उद्धत उत्कटो मनोभवेन यो रागः प्रीतिः स यस्याः सा योषित मानवत्यपि दयितस्याङ्कं ययौ । यतो मानाद्रागो बलीयानिति भावः । लाघवदोषं परिहरति —कारयतीति । अनिभृता चपला ॥ न कार्यकारिणीत्यर्थः । वारुणी मदिरा गुणेषु दोषेषु च विषये । सर्वोऽपि द्वन्द्वो विभाषयैकवद्भवति । रहस्यविभेदं रहस्यभङ्गं कारयति खलु । बलान्निगूहितावपि गुणदोषौ प्रकाशयतीत्यर्थः। यतोऽतिगूढरागप्रकटनं प्रकटमानत्यागश्च प्रमत्ताया न लाघवमावहति । अबुद्धिपूर्वकत्वादिति भावः ॥ ६८ ॥

हिन्दी—उत्कट रतिरंग के लिए समुत्सुक एक रमणी मानिनी होकर भी अपने प्रियतम की गोद में आ बैठी । सच है, चञ्चला मदिरा गुणों और दोषों के विषय में निश्चय ही रहस्यभेदन कर देती है ॥ ६८ ॥

विमर्श—मदिरा गुणों और दोषों को प्रकट करने में पक्षपात नहीं करती । यहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ।

आहिते नु मधुना मधुरत्वे चेष्टितस्य गमिते नु विकासम् ।
आबभौ नव इवोद्धतरागः कामिनीष्ववसरः कुसुमेषोः ।। ६९ ।।

अन्वयः—मधुना चेष्टितस्य मधुरत्वे आहिते नु विकासं गमिते नु कुसुमेषोः कामिनीषु उद्धतरागः अवसरः नवः इव आबभौ ।। ६९ ।।

आहित इति ।। मधुना मद्येन चेष्टितस्य रतिव्यापारस्य मधुरत्वे माधुर्य आहिते नु संपादिते नु प्रागसत्येव मनोहरत्वे संप्रत्युत्पादिते वा । विकासं गमिते नु प्राक्सत्येव माधुर्ये प्रकर्षं प्रापिते वा । उद्धतराग उद्रिक्तरागः । अत एव कुसुमेषोः कामिनीषु अवसरः प्रवेशो नव इवाबभौ । नित्यसंनिहितोऽपि मदनः कामिनीषु मदकृततात्कालिकचेष्टामाधुर्याद्रागोदये सत्यपूर्ववदुद्दीप्तोऽभूदित्यर्थः । संशयानुप्राणितेयमुत्प्रेक्षा ।

हिन्दी—(पता नहीं) मदिरा के द्वारा रति-क्रीड़ा में अत्यन्त मधुरता आ जाने पर अथवा उसके आनन्द के और अधिक बढ़ जाने पर उन रमणियों में कामदेव का उदय अत्यन्त उद्रेक के साथ मानों नूतन रूप में हो गया ।। ६९ ।।

विमर्श—यहाँ संशयानुप्राणित उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ।

मा गमन्मदविमूढधियो नः प्रोज्झ्य रन्तुमिति शङ्कितनाथाः ।
योषितो न मदिरा भृशमीषुः प्रेम पश्यति भयान्यपदेऽपि ।। ७० ।।

अन्वयः—शङ्कितनाथाः योषितः मदविमूढधियः नः प्रोज्झ्य रन्तुं मा गमन् इति मदिरा भृशं न ईषुः । प्रेम अपदे अपि भयानि पश्यति ।। ७० ।।

मा गमन्निति ।। शङ्कितनाथा अविश्वस्तपुरुषा योषितो मदेन विमूढधियः स्तब्धबुद्धयो नोऽस्मान् प्रोज्झ्य विसृज्य । प्रपूर्वादज्झतेः समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप् । रन्तुं मा गमन् न गच्छन्तु इति । मनीषयेति शेषः । गमेर्माङि लुङ् । 'न माङ्योगे' इत्यडागमप्रतिषेधः । मदिरां भृशमतिमात्रं नेषुर्नेच्छन्ति स्म । किन्तु भर्तृवियोगभयादीषदेव पपुरित्यर्थः । तथा हि—प्रेम स्नेहः । अपदेऽस्थानेऽपि भयानि अनिष्टानि पश्यत्युत्प्रेक्षते । शङ्कत इति यावत् । शङ्काहेतौ प्रेम्णि कर्तृत्वोपचारः ।। ७० ।।

हिन्दी—अपने प्रियतमों से सशङ्क रमणियों ने यह सोच कर कि कहीं हमें मदिरा से उन्मत्त समझ कर छोड़ कर हमारे प्रियतम रमण के लिए अन्यत्र न चले जायँ, अधिक मात्रा में मदिरा पीने की इच्छा नहीं की । सच है, प्रेम अकारण भी शङ्कालु होता है ।। ७० ।।

विमर्श—यहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ।

चित्तनिर्वृतिविधायि विविक्तं मन्मथो मधुमदः शशिभासः ।
सङ्गमश्च दयितैः स्म नयन्ति प्रेम कामपि भुवं प्रमदानाम् ।। ७१ ।।

अन्वयः—चित्तनिर्वृतिविधायि विविक्तं मन्मथः मधुमदः शशिभासः दयितैः सङ्गमः च प्रमदानां प्रेम काम् अपि भुवं नयन्ति स्म ।। ७१ ।।

आहिते नु मधुना मधुरत्वे चेष्टितस्य गमिते नु विकासम् ।
आबभौ नव इवोद्धतरागः कामिनीष्ववसरः कुसुमेषोः ।। ६९ ।।

अन्वयः—मधुना चेष्टितस्य मधुरत्वे आहिते नु विकासं गमिते नु कुसुमेषोः कामिनीषु उद्धतरागः अवसरः नवः इव आबभौ ।। ६९ ।।

आहित इति ।। मधुना मद्येन चेष्टितस्य रतिव्यापारस्य मधुरत्वे माधुर्य आहिते नु संपादिते नु प्रागसत्येव मनोहरत्वे संप्रत्युत्पादिते वा । विकासं गमिते नु प्राक्सत्येव माधुर्ये प्रकर्षं प्रापिते वा । उद्धतराग उद्रिक्तरागः । अत एव कुसुमेषोः कामिनीषु अवसरः प्रवेशो नव इवाबभौ । नित्यसंनिहितोऽपि मदनः कामिनीषु मदकृततात्कालिकचेष्टामाधुर्यात्प्रागोदये सत्यपूर्ववदुद्दीप्तोऽभूदित्यर्थः । संशयानुप्राणितेयमुत्प्रेक्षा ।

हिन्दी—(पता नहीं) मदिरा के द्वारा रति-क्रीड़ा में अत्यन्त मधुरता आ जाने पर अथवा उसके आनन्द के और अधिक बढ़ जाने पर उन रमणियों में कामदेव का उदय अत्यन्त उद्रेक के साथ मानों नूतन रूप में हो गया ।। ६९ ।।

विमर्श—यहाँ संशयानुप्राणित उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ।

मा गमन्मदविमूढधियो नः प्रोज्झ्य रन्तुमिति शङ्कितनाथाः ।
योषितो न मदिरा भृशमीषुः प्रेम पश्यति भयान्यपदेऽपि ।। ७० ।।

अन्वयः—शङ्कितनाथाः योषितः मदविमूढधियः नः प्रोज्झ्य रन्तुं मा गमन् इति मदिरा भृशं न ईषुः । प्रेम अपदे अपि भयानि पश्यति ।। ७० ।।

मा गमन्निति ।। शङ्कितनाथा अविश्वस्तपुरुषा योषितो मदेन विमूढधियः स्तब्धबुद्धयो नोऽस्मान् प्रोज्झ्य विसृज्य । प्रपूर्वादज्झतेः समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप् । रन्तुं मा गमन् न गच्छन्तु इति । मनीषयेति शेषः । गमेर्माङि लुङ् । 'न माङ्योगे' इत्यडागमप्रतिषेधः । मदिरां भृशमतिमात्रं नेषुर्नेच्छन्ति स्म । किन्तु भर्तृवियोगभयादीषदेव पपुरित्यर्थः । तथा हि—प्रेम स्नेहः । अपदेऽस्थानेऽपि भयानि अनिष्टानि पश्यत्युत्प्रेक्षते । शङ्कत इति यावत् । शङ्काहेतौ प्रेम्णि कर्तृत्वोपचारः ।। ७० ।।

हिन्दी—अपने प्रियतमों से सशङ्क रमणियों ने यह सोच कर कि कहीं हमें मदिरा से उन्मत्त समझ कर छोड़ कर हमारे प्रियतम रमण के लिए अन्यत्र न चले जायँ, अधिक मात्रा में मदिरा पीने की इच्छा नहीं की । सच है, प्रेम अकारण भी शङ्कालु होता है ।। ७० ।।

विमर्श—यहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ।

चित्तनिर्वृतिविधायि विविक्तं मन्मथो मधुमदः शशिभासः ।
सङ्गमश्च दयितैः स्म नयन्ति प्रेम कामपि भुवं प्रमदानाम् ।। ७१ ।।

अन्वयः—चित्तनिर्वृतिविधायि विविक्तं मन्मथः मधुमदः शशिभासः दयितैः सङ्गमः च प्रमदानां प्रेम काम् अपि भुवं नयन्ति स्म ।। ७१ ।।

चित्तेति ।। चित्तस्य निर्वृतिविधायि सुखकरं विविक्तं रहः । 'विविक्तं रहसि स्मृतम्' इति विश्वः। मन्मथो मधुमदो मद्यमदः शशिभासश्चन्द्रिका दयितैः सह सङ्गमश्च। 'वृद्धो यूना—' इति निर्देशात् 'सह' शब्दाप्रयोगेऽपि सहार्थे तृतीया । एतानि प्रमदानां स्त्रीणां प्रेम वियोगासहत्वावस्थासंभोगं कामपि भुवं कांचिद्दशां नयन्ति स्म । रत्यवस्थामप्यतिक्रम्य शृङ्गारावस्थां क्रीडामयीं निन्युरित्यर्थः । 'प्रेमाभिलाषो रागश्च स्नेहः प्रेमरतिस्तथा । शृङ्गारश्चेति संभोगः सप्तावस्थः प्रकीर्तितः ।।' इत्युक्तं रसरत्नाकरे । 'प्रेमा दिदृक्षा रम्येषु तच्चिन्ताप्यभिलाषकः । रागस्तत्सङ्गबुद्धिः स्यात्स्नेहस्तत्प्रवणक्रिया । तद्वियोगासहं प्रेम रतिस्तत्सहवर्तनम् । शृङ्गारस्तत्समं क्रीडा संभोगः सप्तधा क्रमः ।।' इति ।। ७१ ।।

हिन्दी—चित्त को परम आनन्द देने वाला एकान्त स्थान, कामदेव, मदिरा का नशा, चन्द्रमा की किरणें और अपने प्रियतमों का समागम - इन सम्पूर्ण सामग्रियों ने रमणियों के प्रेम को पता नहीं किस दशा को पहुँचा दिया ।। ७१ ।।

धाष्टर्यलङ्घितयथोचितभूमौ निर्दयं विलुलितालकमाल्ये ।
मानिनीरतिविधौ कुसुमेषुर्मत्तमत्त इव विभ्रममाप ।। ७२ ।।

अन्वयः—धाष्टर्यलङ्घितयथोचितभूमौ निर्दयं विलुलितालकमाल्ये मानिनीरतिविधौ कुसुमेषुः मत्तमत्तः इव विभ्रमम् आप ।। ७२ ।।

धाष्टर्येति ।। धाष्टर्येन प्रागल्भ्येन लङ्घिताऽतिक्रान्ता यथोचिता योग्या भूमिर्मर्यादा यस्मिंस्तथोक्ते। चुम्बनताडनमणितसीत्कारपुरुषायितादौ स्वयमुच्छृङ्खलवृत्तिरिति भावः । निर्दयं यथा तथा विलुलितानि आकर्षणाकुलितानि अलका माल्यानि च यस्मिंस्तस्मिन् । मानिनीरतिविधौ सुरते कुसुमेषुः कामो मत्तमत्तो मत्तप्रकार इव विभ्रमं विजृम्भणम् । आप प्राप । मत्तः किं न करोतीति भावः । कारयितरि कर्तृत्वोपचारादुत्प्रेक्षा ।। ७२ ।।

हिन्दी—अत्यन्त धृष्टता से रमणियों ने रति के प्रसङ्ग में मर्यादा का अतिक्रमण कर दिया, निर्दयता से उनके केशपाश अस्तव्यस्त हो गए और मालाएँ मसल उठीं । इस प्रकार उन मानिनियों की रतिक्रीडा में मानों कामदेव ने मतवाले की भाँति विलास किया ।। ७२ ।।

विमर्श—अर्थात् मतवाले क्या नहीं कर सकते । यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ।

शीधुपानविधुरेषु वधूनां निघ्नतामुपगतेषु वपुःषु ।
ईहितं रतिरसाहितभावं वीतलक्ष्यमपि कामिषु रेजे ।। ७३ ।।

अन्वयः—शीधुपानविधुरेषु वपुःषु निघ्नताम् उपगतेषु वधूनां रतिरसाहितभावम् कामिषु ईहितं वीतलक्ष्यम् अपि रेजे ।। ७३ ।।

शीध्विति ।। शीधुपानेन मद्यपानेन विधुरेषु विह्वलेषु । 'मैरेयमासवः शीधुः'

इत्यमरः । अत एव वपुःषु अङ्गेषु निघ्नतां प्रियपराधीनताम् । उपगतेषु सत्सु । 'अधीनो निघ्न आयत्तः' इत्यमरः । वधूनां सम्बन्धिनि रतिरसे सुरतरसास्वाद आहित-भावं दत्तचित्तं कामिषु विषय ईहितं चुम्बनताडनादिचेष्टितं वीतलक्ष्यं निर्विषयम् । अस्थानकृतमपीत्यर्थः । रेजे । रागिणां स्खलितमपि शोभत इति भावः ।। ७३ ।।

हिन्दी—मदिरापान से शिथिलित नववधुओं के शरीर जब उनके प्रियतमों के अधीन हो गये, तब सुरत प्रसङ्ग के रसास्वादन में दत्तचित्त कामियों के अस्थान चुम्बन मर्दन आदि भी सुशोभित हुए ।। ७३ ।।

विमर्श—क्योंकि लुब्ध कामियों का स्खलन भी शोभा ही है ।

अन्योन्यरक्तमनसामथ बिभ्रतीनां
चेतोभुवो हरिसखाप्सरसां निदेशम् ।
वैबोधिकध्वनिविभावितपश्चिमार्धा
सा संहृतेव परिवृत्तिमियाय रात्रिः ।। ७४ ।।

अन्वयः—अथ हरिसखाप्सरसाम् च अन्योन्यरक्तमनसां चेतोभुवः निदेशं बिभ्र-तीनां वैबोधिकध्वनिविभावितपश्चिमार्धा सां रात्रिः संहृता इव परिवृत्तिम् इयाय ।। ७४ ।।

अन्योन्येति ।। अथ हरिसखा इन्द्रसचिवा गन्धर्वास्तेषाम् । अप्सरसां चान्योन्य-रक्तमनसां परस्परानुरक्तचित्तानां चेतोभुवः कामस्य निदेशमाज्ञां बिभ्रतीनां स्मरविधेया-नाम् । तासु रममाणस्येवेत्यर्थः । 'षष्ठी चानादरे' इति षष्ठी । विबोधः प्रबोधनं शीलमेषां ते वैबोधिका वैतालिकाः । 'शीलम्' इति ठक् । तेषां ध्वनिभिर्मङ्गलरवै-र्विभावितोऽभ्यूहितो ज्ञातः पश्चिमार्धश्चरमभागो यस्याः सा तथोक्ता सा रात्रिः संहृता संक्षिप्तेवेत्युत्प्रेक्षा । सुखिनां भूयानपि कालो लघीयानिव भवतीति भावः । परिवृत्तिं विवृत्तिम् । इयाय । प्रभातकल्पाऽभूदित्यर्थः ।। ७४ ।।

हिन्दी—तदनन्तर परस्पर अनुरक्त चित्त गन्धर्वों और देवाङ्गनाओं के कामदेव की आज्ञा का पालन करते हुए वैतालिकों की मङ्गल स्वरलहरी से सूचित अवसान वाली वह रजनी मानों अत्यन्त छोटी सी होकर समाप्ति को प्राप्त हो गयी ।। ७४ ।।

विमर्श—आनन्द-रंग में रत लोगों का अधिक से अधिक समय भी थोड़ी ही देर में बीता हुआ मालूम पड़ता है ।

यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार है एवं वसन्ततिलका छन्द है ।

निद्राविनोदितनितान्तरतिक्लमाना
मायासिमङ्गलनिनादविबोधितानाम् ।
रामासु भाविविरहाकुलितासु यूनां
तत्पूर्वतामिव समादधिरे रतानि ।। ७५ ।।

इत्यमरः । अत एव वपुःषु अङ्गेषु निघ्नतां प्रियपराधीनताम् । उपगतेषु सत्सु । 'अधीनो निघ्न आयत्तः' इत्यमरः । वधूनां सम्बन्धिनि रतिरसे सुरतरसास्वाद आहित-भावं दत्तचित्तं कामिषु विषय ईहितं चुम्बनताडनादिचेष्टितं वीतलक्ष्यं निर्विषयम् । अस्थानकृतमपीत्यर्थः । रेजे । रागिणां स्खलितमपि शोभत इति भावः ।। ७३ ।।

हिन्दी—मदिरापान से शिथिलित नववधुओं के शरीर जब उनके प्रियतमों के अधीन हो गये, तब सुरत प्रसङ्ग के रसास्वादन में दत्तचित्त कामियों के अस्थान चुम्बन मर्दन आदि भी सुशोभित हुए ।। ७३ ।।

विमर्श—क्योंकि लुब्ध कामियों का स्खलन भी शोभा ही है ।

अन्योन्यरक्तमनसामथ बिभ्रतीनां
चेतोभुवो हरिसखाप्सरसां निदेशम् ।
वैबोधिकध्वनिविभावितपश्चिमार्धा
सा संहृतेव परिवृत्तिमियाय रात्रिः ।। ७४ ।।

अन्वयः—अथ हरिसखाप्सरसाम् च अन्योन्यरक्तमनसां चेतोभुवः निदेशं बिभ्र-तीनां वैबोधिकध्वनिविभावितपश्चिमार्धा सा रात्रिः संहृता इव परिवृत्तिम् इयाय ।। ७४।।

अन्योन्येति ।। अथ हरिसखा इन्द्रसचिवा गन्धर्वास्तेषाम् । अप्सरसां चान्योन्य-रक्तमनसां परस्परानुरक्तचित्तानां चेतोभुवः कामस्य निदेशमाज्ञां बिभ्रतीनां स्मरविधेया-नाम् । तासु रममाणस्येवेत्यर्थः । 'षष्ठी चानादरे' इति षष्ठी । विबोधः प्रबोधनं शीलमेषां ते वैबोधिका वैतालिकाः । 'शीलम्' इति ठक् । तेषां ध्वनिभिर्मङ्गलरवै-र्विभावितोऽभ्यूहितो ज्ञातः पश्चिमार्धश्चरमभागो यस्याः सा तथोक्ता सा रात्रिः संहृता संक्षिप्तेवेत्युत्प्रेक्षा । सुखिनां भूयानपि कालो लघीयानिव भवतीति भावः । परिवृत्तिं विवृत्तिम् । इयाय । प्रभातकल्पाऽभूदित्यर्थः ।। ७४ ।।

हिन्दी—तदनन्तर परस्पर अनुरक्त चित्त गन्धर्वों और देवाङ्गनाओं के कामदेव की आज्ञा का पालन करते हुए वैतालिकों की मङ्गल स्वरलहरी से सूचित अवसान वाली वह रजनी मानों अत्यन्त छोटी सी होकर समाप्ति को प्राप्त हो गयी ।। ७४ ।।

विमर्श—आनन्द-रंग में रत लोगों का अधिक से अधिक समय भी थोड़ी ही देर में बीता हुआ मालूम पड़ता है ।

यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार है एवं वसन्ततिलका छन्द है ।

निद्राविनोदितनितान्तरतिक्लमाना
मायासिमङ्गलनिनादविबोधितानाम् ।
रामासु भाविविरहाकुलितासु यूनां
तत्पूर्वतामिव समादधिरे रतानि ।। ७५ ।।

अन्वयः—निद्राविनोदितनितान्तरतिक्लमानाम् आयासिमङ्गलनिनादविबोधितानाम् यूनां रामासु भाविविरहाकुलितासु रतानि तत्पूर्वताम् समादधिरे इव ।। ७५ ।।

निद्रेति ।। निद्रया विनोदितोऽपनीतो नितान्तमत्यर्थं यो रत्याः क्लमः स येषां तेषाम् । आयासिभिरायामवद्भिर्दीर्घैर्मङ्गलनिनादैर्वैबोधिकध्वनिभिर्विबोधितानां यूनां रामासु । 'सुन्दरी रमणी रामा' इत्यमरः । भाविविरहेणाकुलितासु सतीषु रतानि तान्येव पूर्वाणि प्रथमानि तत्पूर्वाणि तेषां भावः तत्पूर्वता ताम् । भावे तल्प्रत्ययः । समादधिरे प्रापुरिवेत्युत्प्रेक्षा । आद्यसुरतवदादरात्प्रवर्तन्त इत्यर्थः । यदुत्तरकालं दुर्लभं तदतितृष्णयानुभूयत इत्यर्थः ।। ७५ ।।

हिन्दी—निद्रा से रति की अत्यन्त थकावट दूर करने वाले एवं दीर्घ काल तक चलने वाली वैतालिकों की मङ्गल वाणी से जगाये गए युवक गन्धर्वों का भावी विरह से खिन्न रमणियों के साथ पुनः होने वाला रति प्रसङ्ग पूर्व रति प्रसङ्गों से भी मानों अधिक आनन्ददायी प्रतीत हुआ ।। ७४ ।।

विमर्श—अर्थात् प्रातःकाल हो जाने पर भी उन्होंने प्रथम रति प्रसङ्ग की भाँति ही पुनः सम्भोग किया । यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ।

कान्ताजनं सुरतखेदनिमीलिताक्षं
संवाहितुं समुपयानिव मन्दमन्दम् ।
हर्म्येषु माल्यमदिरापरिभोगगन्धा-
नाविश्चकार रजनीपरिवृत्तिवायुः ।। ७६ ।।

अन्वयः—सुरतखेदनिमीलताक्षं कान्ताजनं संवाहितुम् इव मन्दमन्दं समुपयान् रजनीपरिवृत्तिवायुः हर्म्येषु माल्यमदिरापरिभोगगन्धान् आविश्चकार ।। ७६ ।।

कान्तेति ।। सुरतखेदेन निमीलितान्यक्षीणि येन तं कान्ताजनं स्त्रीसमूहं संवाहितुं सेवितुमिव । खेदापनोदार्थमङ्गमर्दनं कर्तुमिवेत्यर्थः । 'संवाहनं वाहनेऽपि नरादेरङ्गमर्दने' इति विश्वः । 'वाहृ प्रयत्ने' इति धातोरण्यन्तात्तुमुन् । अन्यथा णिज्ग्रहणे संवाहयितुमिति स्यात् । मन्दमन्दं मन्दप्रकारम् । 'प्रकारे गुणवचनस्य' इति द्विर्भावे कर्मधारयवद्भावात्सुपो लुक् । समुपयात् संवान् । रजनीपरिवृत्तिवायुः निशा-वसानमरुत् । हर्म्येषु माल्यानि च मदिरा च परिभोगो विमर्दश्च तेषां गन्धानाविश्चकार । बहिः प्रसारयामासेत्यर्थः । अत्र संवाहितुमिवेत्युत्प्रेक्षा । मान्द्यगुणमूलत्वाद् गुणनिमित्त-क्रियाफलोत्प्रेक्षा ।। ७६ ।।

हिन्दी—संभोग के परिश्रम से अधमुँदी आँखों वाली रमणियों की मानों सेवा करने के लिए (पैर आदि दबाने के लिए) धीरे-धीरे बहते हुए प्रभात समीरण ने केलि-भवनों में मालाओं, मदिरा एवं अङ्गराग आदि की सुगंधो को खूब फैलाया ।

विमर्श—यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ।। ७६ ।।

आमोदवासितचलाधरपल्लवेषु
निद्राकषायितविपाटललोचनेषु ।
व्यामृष्टपत्रतिलकेषु विलासिनीनां
शोभां बबन्ध वदनेषु मदावशेषः ।। ७७ ।।

अन्वयः—आमोदवासितचलाधरपल्लवेषु निद्राकषायितविपाटललोचनेषु व्यामृष्टपत्रतिलकेषु विलासिनीनाम् वदनेषु मदावशेषः शोभां बबन्ध ।। ७७ ।।

आमोदेति ।। आमोदेन मद्यगन्धेन वासिताः सुरभिताश्चला दष्टमुक्तत्वात्स्फुरन्तश्चाधरपल्लवा येषु तेषु निद्रया कषायितानि अपटूकृतानि विपाटलानि लोचनानि येषु तेषु । 'कषायस्तुवरे न स्त्री निर्यासे रञ्जकादिके । सुरभावपटौ रक्ते सुन्दरे लवणेऽपि च' इति केशवः । व्यामृष्टानि प्रमृष्टानि पत्राणि तिलकाश्च येषां तेषु विलासिनीनां वदनेषु मदावशेषः शोभां बबन्ध । मण्डनान्तरापाये मदशेष एव मण्डनं बभूवेत्यर्थः । स्त्रीणां मद एव विभूषणमिति भावः ।। ७७ ।।

हिन्दी—मदिरा की सुगन्ध से सुवासित चञ्चल अधररूप पल्लवों में रात भर के जागरण से लाल नेत्रों में (रति क्रीड़ा के कारण) पत्र रचना एवं तिलकादि से रहित रमणियों के मुखों में मदिरा का अवशेष अर्थात् खुमारी सुशोभित हो रही थी ।

विमर्श—भाव यह है कि अन्य आभूषणों के न रहने पर खुमारी ही उनका आभूषण बन गयी थी ।

गतवति नखलेखालक्ष्यतामङ्गरागे
समददयितपीताताम्रबिम्बाधराणाम् ।
विरहविधुरमिष्टासत्सखीवाङ्गनानां
हृदयमवललम्बे रात्रिसंभोगलक्ष्मीः ।। ७८ ।।

।। इति भारविकृतौ महाकाव्ये किरातार्जुनीये नवमः सर्गः ।। ९ ।।



अन्वयः—अङ्गरागे नखलेखालक्ष्यताम् गतवति समददयितपीताताम्रबिम्बाधराणाम् अङ्गनानाम् विरहविधुरम् हृदयम् रात्रिसम्भोगलक्ष्मीः इष्टा सत्सखी इव अवललम्बे ।। ७८ ।।

गतवतीति ।। अङ्गरागेऽङ्गविलेपने नखलेखासु नखपदेषु लक्ष्यतां दृश्यतां गतवति सति । विमर्दात्तन्मात्रावशेषे सतीत्यर्थः । किंच, बिम्बतुल्या अधरा बिम्बाधराः । 'शाकपार्थिवादित्वान्मध्यमपदलोपी समानाधिकरणसमासः' इति वामनः । समदैर्दयितैः

पीता: पीडिता अत एवातिपीडनात् आताम्रा आसमन्ताद्रक्ता बिम्बाधरा यासां तासा-मङ्गनानां सम्बन्धि विरहेणाह्निकेन वियोगेन विधुरं विह्वलं हृदयम् । रात्रिसंभोगलक्ष्मी:। नखपदादिशोभेत्यर्थ:।इष्टाप्ता सत्सखीव निपुणसहचरीवावललम्बे धारयामास। प्रिय-संभोगचिह्नशोभा स्पष्टा बभूवेत्यर्थ: । प्रियोपभोगचिह्नशोभावलोकनलालसा: कथं विरहमसहन्तेत्यर्थ: । श्रुतिपूर्णोपमालङ्कार: । मालिनीवृत्तम् । लक्षणं तूक्तम् ।। ७८ ।।

।। इति श्रीमहामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितायां किरातार्जुनीयकाव्य व्याख्यायां घण्टापथसमाख्यायां नवम: सर्ग: समाप्त: ।। ९ ।।



हिन्दी—अङ्गरागों के नखपदों (चिह्नों) में ही दिखाई पड़ने पर मदिरा से उन्मत्त प्रियतमों द्वारा जिनके लाल बिम्बाधर पिये गए थे ऐसी रमणियों के भावी विरह से व्याकुल हृदय को, मानों प्रिय सखी की भाँति रात्रि के संभोग की शोभा ही अवलम्ब हुई ।। ७८ ।।

विमर्श—अर्थात् रात्रि के सम्भोग से चिह्न स्पष्ट हो गए । मानों उन्हीं ने भावी विरह से व्याकुल उनके हृदयों को सहारा दिया । जैसे अपनी दु:खितहृदया सखी को उसकी प्रिय सहचरी नहीं छोड़ती, विपत्ति में भी उसके सङ्ग रहती है, वैसे ही रात्रि संभोग की वह शोभा भी अप्सराओं के सङ्ग बनी रही । वह सुख समय की स्मृति दिलाकर उन्हें सान्त्वना देती रही । यहाँ उपमा अलङ्कार है एवं मालिनी छन्द है ।

।। इस प्रकार श्रीभारविकृत किरातार्जुनीयम् महाकाव्य के नवें सर्ग की डॉ सुधाकर मालवीय कृत हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ।। ९ ।।



दशमः सर्गः

अथागन्तुकसहजशोभासंपन्नतया समग्रसाधनाः स्त्रियो मुनिमनःप्रलोभनार्थं प्रास्थन्नित्याह—

अथ परिमलजामवाप्य लक्ष्मीमवयवदीपितमण्डनश्रियस्ताः ।
वसतिमभिविहाय रम्यहावाः सुरपतिसूनुविलोभनाय जग्मुः ॥१ ॥

अन्वयः—अथ परिमलजां लक्ष्मीं अवाप्य अवयवदीपितमण्डनश्रियः रम्यहावाः ताः वसतिम् अभिविहाय सुरपतिसूनुविलोभनाय जग्मुः ॥ १ ॥

अथेति ॥ अथ प्रभाते परिमलजा संभोगसंभूतां लक्ष्मीं शोभाम् । अवाप्य । 'संभोगः स्यात्परिमले' इति वैजयन्ती । संभोगात्स्त्रियः शोभन्त इति भावः । एतेनागन्तुकशोभासंपत्तिरुक्ता । अत एव सुरतादिवर्णनस्य प्रस्तुतोपयोगित्वं चोक्तम् । अथ सहजशोभासंपत्तिमाह—अवयवेति । अवयवैः स्तनादिभिर्दीपिता मण्डिता च मण्डनश्रीः प्रसाधनशोभा याभिस्ताः । रम्यहावा मनोहरविलासास्ताः स्त्रियः । 'हावो विलासश्लेष्टायाम्' इति विश्वः । वसतिं शिविरम् । अभिविहाय सर्वतस्त्यक्त्वा सुरपतिसूनोरर्जुनस्य विलोभनाय जग्मुः । अत्रावयवदीपकतया प्रसिद्धस्य मण्डनस्य तद्दीप्यत्वासम्बन्धेऽपि सम्बन्धाभिधानादवयवसौन्दर्यातिशयद्योतनार्थत्वादतिशयोक्तिरलङ्कारः । अस्मिन्सर्गे पुष्पिताग्रावृत्तम् —'अयुजि नयुगरेफतो यकारो युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा' इति लक्षणात् ॥१ ॥

हिन्दी—तदनन्तर प्रभात हो जाने पर संभोग की शोभा प्राप्त कर अपने मनोहर अङ्गों से आभूषणों की छटा बढ़ाती हुई मनोहर हाव-भावों के साथ वे अप्सराएँ अपने शिविर को छोड़कर देवराज इन्द्र के पुत्र अर्जुन को मोहित करने के लिए चल पड़ीं ॥ १ ॥

विमर्श—यहाँ अतिशयोक्ति अलङ्कार है । इस सर्ग में पुष्पिताग्रा छन्द का प्रयोग कवि ने किया है ।

द्रुतपदमभियातुमिच्छतीनां गगनपरिक्रमलाघवेन तासाम् ।
अवनिषु चरणैः पृथुस्तनीनामलघुनितम्बतया चिरं निषेदे ॥ २ ॥

अन्वयः—गगनपरिक्रमलाघवेन द्रुतपदम् अभियातुम् इच्छतीनाम् पृथुस्तनीनां तासाम् अलघुनितम्बतया चरणैः अवनिषु चिरं निषेदे ॥ २ ॥

द्रुतेति ।। गगनपरिक्रमलाघवेन गगनगमनवेगेन द्रुतपदं यथा तथा, अभियातुं गन्तुमिच्छतीनाम् । किंच, पृथुस्तनीनां तासामप्सरसाम् । किंच, अलघुनितम्बया न लघवो नितम्बा यासां तासां भावस्तत्ता तया स्थूलनितम्बतया चरणैरवनिषु चिरं निषेदे स्थितम् । अभ्यासपाटवेन मनसा त्वरमाणानामपि तासां स्तनजघनभाराच्चरणा नोत्तस्थुरित्यर्थः ।। २ ।।

हिन्दी—आकाश के संचरण के समान वेगपूर्वक जल्दी-जल्दी चलने की इच्छुक उन विशाल स्तनों वाली अप्सराओं के चरण, वृहत् नितम्ब होने के कारण धरती पर धीरे धीरे पड़ने लगे ।। २ ।।

विमर्श—अप्सराओं को आकाश में उड़ने का अभ्यास तो था ही अतः वे धरती पर भी जल्दी-जल्दी चलने की इच्छा करती थीं, किन्तु स्तनों और जघनस्थलों से भारी होने से उनके पैर जल्दी-जल्दी नहीं उठ पाते थे ।

निहितसरसयावकैर्बभासे चरणतलैः कृतपद्धतिर्वधूनाम् ।
अविरलविततेव शक्रगोपैररुणितनीलतृणोलपा धरित्री ।। ३ ।।

अन्वयः—निहितसरसयावकैः वधूनां चरणतलैः कृतपद्धतिः अरुणितनीलतृणोलपा धरित्री शक्रगोपैः अविरलविततेव बभासे ।। ३ ।।

निहितेति ।। निहिता आरोपिताः सरसयावकाः सान्द्रलाक्षारागा येषु तैर्वधूनां चरणतलैश्चरणन्यासैः कृतपद्धतिः कृतमार्गरेखा। अत एव अरुणिता अरुणीकृता नीलास्तृणोलपास्तृणानि दूर्वादीन्युलपा बल्वजाख्यास्तृणविशेषाश्च यस्याः सा । 'उलपा बल्वजाः प्रोक्ताः' इति हलायुधः। 'उलपा उशीरतृणानि' इति क्षीरस्वामी । ब्राह्मणपरिव्राजकवदुलपानां पृथङ्निर्देशः । धरित्री शक्रगोपैरिन्द्रगोपाख्यैः कीटकैः । 'इन्द्रगोपस्त्वग्निरजः' इति हैमः । अविरलं निरन्तरं यथा तथा वितता व्याप्तेवेत्युत्प्रेक्षा । बभासे ।। ३ ।।

हिन्दी—गीली महावर से रंगे हुए उन सुन्दरियों के चरणों के तलुवों से चिह्नित होने के कारण लाल रंग की दूब और खस से युक्त वह भूमि मानों इन्द्रवधूटियों से अविरल व्याप्त की भाँति सुशोभित हुई ।। ३ ।।

विमर्श—यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ।

ध्वनिरगविवरेषु नूपुराणां पृथुरशनागुणशिञ्जितानुयातः ।
प्रतिरवविततो वनानि चक्रे मुखरसमुत्सुकहंससारसानि ।। ४ ।।

अन्वयः—अगविवरेषु प्रतिरवविततः पृथुरशनागुणशिञ्जितानुयातः नूपुराणां ध्वनिः वनानि मुखरसमुत्सुकहंससारसानि चक्रे ।। ४ ।।

ध्वनिरिति ।। अगविवरेषु नगरन्ध्रेषु । गुहास्वित्यर्थः । प्रतिरवैः प्रतिध्वनिभिर्विततः संमूर्छितः पृथुभी रशनागुणानां शिञ्जितैः स्वनितैरनुयातोऽनुगतः । मिलित इति

यावत् । 'स्वनिते वस्त्रपर्णानां भूषणानां तु शिञ्जितम्' इत्यमरः। नूपुराणां ध्वनिभिर्ध्वानैर्वनानि मुखराः शब्दायमानाः समुत्सुका उत्कण्ठिता हंसाः सारसाश्च येषां तानि चक्रे । अत्र हंसादिषु मुखरसमुत्सुकीकरणरूपेण वस्तुना तेषां नूपुरादिध्वनौ सादृश्याद्धंससारसान्तरकूजितभ्रान्तिमदलङ्कारो व्यज्यते ॥४॥

हिन्दी—पर्वतों की गुफाओं की प्रतिध्वनियों से संमूर्च्छित एवं मोटी करधनियों की लरों के परस्पर सङ्घर्ष से उत्पन्न मनोहर शब्दों से मिश्रित सुन्दरियों के नूपुरों की ध्वनि उत्कण्ठित होकर बोलने वाले हंसों एवं सारसों से युक्त वनस्थली को व्याप्त करने लगी ॥ ४ ॥

विमर्श—यहाँ भ्रान्तिमान् अलङ्कार की व्यञ्जना है ।

अवचयपरिभोगवन्ति हिंस्रैः सहचरितान्यमृगाणि काननानि ।
अभिदधुरभितो मुनिं वधूभ्यः समुदितसाध्वसविक्लवं च चेतः ॥५॥

अन्वयः—अवचयपरिभोगवन्ति हिंस्रैः सहचरितान्यमृगाणि काननानि समुदितसाध्वसविक्लवं चेतश्च वधूभ्यः अभितः मुनिम् अभिदधुः ॥ ५ ॥

अवचयेति ॥ अवचयः पुष्पफलादिच्छेदनं परिभोग उपभोगस्तद्वन्ति । हिंस्राधातुका व्याघ्रादयः। 'शरारुर्घातुको हिंस्रः' इत्यमरः । तैः सहचरिताः सहचरन्तः। कर्तरि क्तः । 'मतिबुद्धि—' इत्यादिसूत्रेण चकारात् सुप्तशयितादिवद्वर्तमानार्थता । अन्ये हिंस्रेतरे मृगा हरिणादयो येषु तानि सहचरितान्यमृगाणि काननानि । तथा समुदितेन साध्वसेन विक्लवं विवशं चेतश्च वधूभ्यः । 'क्रियाग्रहणमपि कर्तव्यम्' इति संप्रदानत्वाच्चतुर्थी । अभितो मुनि भिदधुः । आसन्नं सूचयामासुरित्यर्थः। अवचयादिलिङ्गचतुष्टयेनासन्नो मुनिमरित्यन्वमीयतेत्यर्थः ॥५॥

हिन्दी—चुनने योग्य पुष्प-फलादि से युक्त तथा अपने हिंसक सिंह व्याघ्रादि के साथ ही चलने वाले अहिंसक मृगों आदि से सेवित जङ्गलों ने एवं समुदित भय से विह्वल उनके चित्तों ने उन अप्सराओं के बहुत समीप ही कहीं मुनि के (अर्जुन के) होने की सूचना दी ॥ ५ ॥

विमर्श—अर्थात् अप्सराओं ने देखा कि इस वन में अद्भुत विशेषता है, पुष्प फलादि सामग्री सब कुछ हाथ से प्राप्त करने योग्य है तथा हिरण एवं सिंहादि साथ-साथ चर रहे हैं, यही नहीं, उनका हृदय भी धड़क रहा है, अतः उन्होंने यह अनुमान लगा लिया कि अर्जुन यहीं कही समीप में ही तपस्या कर रहे हैं ।

नृपतिमुनिपरिग्रहेण सा भूः सुरसचिवाप्सरसां जहार तेजः ।
उपहितपरमप्रभावधाम्नां न हि जयिनां तपसामलङ्घ्यमस्ति ॥६॥

अन्वयः—सा भूः नृपतिमुनिपरिग्रहेण सुरसचिवाप्सरसां तेजः जहार । हि उपहितपरमप्रभावधाम्नां जयिनां तपसाम् अलङ्घ्यं नास्ति ॥ ६ ॥

नृपतिमुनिपरिग्रहेणेति ।। सा भूर्नृपतिरेव मुनिस्तस्य परिग्रहेणाधिष्ठानेन हेतुना सुरसचिवानां गन्धर्वाणामप्सरसां च तेजो जहार । तदाश्रमप्रवेशादेव निस्तेजस्का अभूवन्नित्यर्थः । ननु कथं मानुषेण तेजसाऽमानुषं तेजो निरस्तमित्याशङ्क्याह—हि यस्मात् । उपहित आहिते परमे प्रभावधाम्नी सामर्थ्यतेजसी येषां तेषां जयिनां जयनशीलानाम् । 'महताम्' इति पाठे महतामुत्कटानाम् । तपसामलंघ्यं नास्ति । किमप्यसाध्यं नास्तीति भावः ।। ६ ।।

हिन्दी—उस तपोभूमि ने राजर्षि अर्जुन के वहाँ निवास करने के कारण उन गन्धर्वों एवं अप्सराओं के तेज को हर लिया । ठीक ही है, परम प्रभाव एवं सामर्थ्यशाली विजयी लोगों की तपस्या से कुछ भी असाध्य नहीं है ।। ६ ।।

विमर्श—अर्थात् तपस्या से कुछ भी असाध्य नहीं है । यहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ।

सचकितमिव विस्मयाकुलाभिः शुचिसिकतास्वतिमानुषाणि ताभिः ।
क्षितिषु ददृशिरे पदानि जिष्णोरुपहितकेतुरथाङ्गलाञ्छनानि ।। ७ ।।

अन्वयः—विस्मयाकुलाभिः ताभिः शुचिसिकतासु क्षितिषु उपहितकेतुरथाङ्गलाञ्छनानि अतिमानुषाणि जिष्णोः पदानि सचकितमिव ददृशिरे ।। ७ ।।

सचकितमिति ।। विस्मयाकुलाभिस्ताभिः स्त्रीभिः कर्त्रीभिः शुचयः सिकता यासु तासु । पादरेखाभिव्यक्तियोग्यास्वित्यर्थः । क्षितिषूपहितानि विन्यस्तानि केतुरथाङ्गलाञ्छनानि रेखास्वरूपध्वजचक्राण्येव चिह्नानि येषु तान्यत एव, अतिमानुषाणि जिष्णोरर्जुनस्य पदानि सचकितमिव सभयमिव यथा तथा ददृशिरे दृष्टानि । अद्भुतवस्तुदर्शनाद्भयविस्मयौ भवत इति भावः ।। ७ ।।

हिन्दी—विस्मयविमुग्ध उन अप्सराओं ने पवित्र एवं स्वच्छ बालुकामय भूमि पर अर्जुन के ध्वज एवं चक्र के चिह्नों से अङ्कित अतिमानवीय पदचिह्नों को मानों भयभीत के समान चकित नेत्रों से देखा ।। ७ ।।

विमर्श—अद्भुत वस्तुओं के देखने से भय और विस्मय तो होता ही है ।

अतिशयितवनान्तरद्युतीनां फलकुसुमावचयेऽपि तद्विधानाम् ।
ऋतुरिव तरुवीरुधां समृद्ध्या युवतिजनैर्जगृहे मुनिप्रभावः ।। ८ ।।

अन्वयः—अतिशयितवनान्तरद्युतीनां फलकुसुमावचये अपि तद्विधानाम् तरुवीरुधां समृद्ध्या युवतिजनैः मुनिप्रभावः ऋतुरिव जगृहे ।। ८ ।।

अतिशयितेति ।। अतिशयिता अतिक्रान्ता वनान्तराणां द्युतिर्याभिस्तासाम् । कुतः । फलानां कुसुमानां चावचयेऽपि लवनेऽपि सैव विधा प्रकारो यासां तद्विधानाम् । तथैव समग्राणामित्यर्थः । तरूणां वीरुधां च समृद्ध्या लिङ्गेन युवतिजनैर्मुनिप्रभावो ऋतुरिव जगृहे निश्चितः । कारणतयेति शेषः । उपमालङ्कारः ।। ८ ।।

हिन्दी—अन्य वनों की शोभा को तिरस्कृत करने वाली, फलों और पुष्पों के चुनलेने पर भी उसी तरह अर्थात् पूर्ववत् शोभायमान वृक्षों एवं लताओं की समृद्धियों से उन युवतियों ने अर्जुन के प्रभाव को ऋतु के समान ग्रहण किया ।। ८ ।।

विमर्श—चिन्हों से जैसे ऋतु वसन्तादि का निश्चय होता है वैसे ही सुर-सुन्दरियों ने अर्जुन के प्रभाव का निश्चय किया । यहाँ उपमा अलङ्कार है ।

मृदितकिसलयः सुराङ्गनानां ससलिलवल्कलभारभुग्नशाखः ।
बहुमतिमधिकां ययावशोकः परिजनतापि गुणाय सद्गुणानाम् ।। ९ ।।

अन्वयः—ससलिलवल्कलभारभुग्नशाखः मृदितकिसलयः अशोकः सुराङ्गनानाम् अधिकां बहुमतिं ययौ । सद्गुणानाम् परिजनतापि गुणाय भवति ।। ९ ।।

मृदितेति ।। ससलिलमार्द्रं यद्वल्कलं तदेव भारस्तेन भुग्नशाखो नम्रशाखः 'वल्कं वल्कलमस्त्रियाम्' इत्यमरः । अत एव मृदितकिसलयो विलुलितपल्लवः । 'क्वचित्र' इति प्रतिषेधान्न मृदेर्गुणः । अशोको वृक्षविशेषः । सुरङ्गनानामप्सरसां सम्बन्धिनीम् । अधिकां बहुमतिं तत्कर्तृकसम्मानं सज्जनसेवी धन्योऽयमिति ययौ प्राप । ननु सेवकेषु का श्लाघेत्यत्राह — परीति । सद्गुणानां महतां परिजनतापि अनुचरत्वमपि । भावे तल् । गुणायोत्कर्षाय । भवतीति शेषः । एतेन तासां मुनेः प्रभावदर्शनादेव तत्पारवश्यं गम्यते ।। ९ ।।

हिन्दी—भींगे वल्कल के बोझ से झुकी हुई शाखा वाले, मसले हुए कोमल पल्लवों से युक्त अशोक का वृक्ष अप्सराओं के लिए अधिक सम्मान का पात्र हुआ । सत्य है, उत्तम गुणों से युक्त बड़े लोगों की सेवा भी उत्कर्ष का कारण होती है ।। ९ ।।

विमर्श—इससे यह ध्वनित होता है कि अर्जुन के प्रभाव को देखने मात्र से अप्सराएँ प्रभावित हो गयीं । यहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ।

यमनियमकृशीकृतस्थिराङ्गः परिददृशे विधृतायुधः स ताभिः ।
अनुपमशमदीप्ततागरीयान् कृतपदपङ्क्तिरथर्वणेव वेदः ।।१० ।।

अन्वयः—यमनियमकृशीकृतस्थिराङ्गः विधृतायुधः सः अनुपमशमदीप्ततागरीयान् अथर्वणा कृतपदपङ्क्तिः इव ताभिः परिददृशे ।। १० ।।

यमेति ।। यमो देशकालाद्यनपेक्षया शुद्धिहेतुरहिंसादिः नियमस्तदपेक्षया शुद्धिहेतुस्तपःस्वाध्यायादिः । ताभ्यां कृशीकृतान्यपि स्थिराणि दृढान्यङ्गानि यस्य सः । विधृतायुधो धृतशस्त्रोऽत एव तपःक्षात्रयुक्तः सोऽर्जुनः शमः शान्तिरभ्युदयकाण्डे दीप्तता उग्रताऽभिचारकाण्डे ताभ्यामनुपमाभ्यां गरीयानुदग्रः । अथर्वणा वसिष्ठेन कृता रचिता पदानां पङ्क्तिरानुपूर्वी यस्य स वेदः । चतुर्थवेद इत्यर्थः । अथर्वणस्तु मन्त्रोद्धारो वसिष्ठकृत इत्यागमः । स इव ताभिः स्त्रीभिः परिददृशे दृष्टः ।।१० ।।

हिन्दी—यमों एवं नियमों के पालन से दुर्बल किन्तु दृढ़ अङ्गों वाले आयुध धारण किये हुए अर्जुन को उन अप्सराओं ने अभ्युदय काण्ड में अनुपम शान्ति से तथा अभिचारिक क्रियाओं में अनुपम उग्रता से युक्त मुनिवर वसिष्ठ द्वारा रचित पदपङ्क्ति विशिष्ट चतुर्थवेद के समान देखा ।। १० ।।

विमर्श—अथर्व वेद के मन्त्र मुनिवर वसिष्ठ के बनाये हुए हैं । कवि के कथन का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार अथर्ववेद के मन्त्रों से अभ्युदय और अभिचार दोनों की क्रियाएँ सम्पन्न होती हैं उसी प्रकार अर्जुन के शरीर से शान्ति एवं उग्रता दोनों ही झलकती थीं । यहाँ उपमा अलङ्कार है ।

अथ चतुर्भिस्तमेव विशिनष्टि शशधर इत्यादिभिः—

शशधर इव लोचनाभिरामैर्गगनविसारिभिरंशुभिः परीतः ।
शिखरनिचयमेकसानुसद्मा सकलमिवापि दधन्महीधरस्य ।।११ ।।

सुरसरिति परं तपोऽधिगच्छन् विधृतपिशङ्गबृहज्जटाकलापः ।
हविरिव विततः शिखासमूहैः समभिलषन्नुपवेदि जातवेदाः ।।१२ ।।

सदृशमतनुमाकृतेः प्रयत्नं तदनुगुणामपरैः क्रियामलङ्घ्याम् ।
दधदलघु तपः क्रियानुरूपं विजयवतीं च तपः समां समृद्धिम् ।।१३ ।।

चिरनियमकृशोऽपि शैलसारः शमनिरतोऽपि दुरासदः प्रकृत्या ।
ससचिव इव निर्जनेऽपि तिष्ठन्मुनिरपि तुल्यरुचिस्त्रिलोकभर्तुः ।।१४ ।।

अन्वयः—शशधर इव लोचनाभिरामैः गगनविसारिभिः अंशुभिः परीतः एकसानुसद्मा महीधरस्य शिखरनिचयमपि दधत् । सुरसरिति इति परं तपः अधिगच्छन् विधृतपिशङ्गबृहज्जटाकलापः उपवेदि शिखासमूहैः विततः हविः समभिलषन् जातवेदाः इव । आकृतेः सदृशम् अतनुं प्रयत्नं दधत् तदनुगुणाम् अपरैः अलङ्घ्यां क्रियाम् दधत् क्रियानुरूपम् अलघु तपः दधत् विजयवतीं तपः समां समृद्धिं दधत् । चिरनियमकृशः अपि शैलसारः शमनिरतः अपि प्रकृत्या दुरासदः निर्जने तिष्ठन् अपि ससचिवः इव मुनिरपि त्रिलोकभर्तुः तुल्यरुचिः ।। ११-१४ ।।

शशधर इति ।। शशधरश्चन्द्र इव लोचनाभिरामैः नेत्राह्लादकरैः गगनविसारिभिरंशुभिस्तेजोभिः परीतो व्याप्तोऽम्बरवदेकं सानुसद्म यस्य सः । एकदेशस्थोऽपीत्यर्थः। महीधरस्येन्द्रकीलस्य सकलं शिखरनिचयमपि दधत् आवृण्वन्निवेत्युत्प्रेक्षा।

सुरेति ।। पुनः, सुरसरिति गङ्गाकूले परं तपोऽधिगच्छन्नर्जयन् । फलाभिलाषेणेति शेषः । हविः समभिलषन्नित्युपमानविशेषणसामर्थ्यात् । तथा विधृतः पिशङ्गवृहज्जटाकलापो येन सः । अत एव, उपवेदि वेद्याम् । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । शिखासमूहैर्ज्वालाजालैर्विततो विस्तृतो हविराज्यादिकं समभिलषन् । जातं वेदो हिरण्यम् । भोज्यं कर्मफलमिति यावत् यस्मादिति जातवेदा वह्निरिव स्थितः ।।१२ ।।

सदृशमिति ।। पुनः, आकृतेर्वपुषः । 'आकृतिः कथिता रूपे सामान्यवपुषोरपि' इति विश्वः । सदृशं तुल्यमतनुं महान्तं प्रयत्नमुद्योगं दधत् । तथा तदनुगुणां प्रयत्नानुकूलामपरैरन्यैरलङ्घ्याम् । कर्तुमशक्यामित्यर्थः । क्रियां व्यापारं दधत् । तथा क्रियानुरूपं क्रियानुगुणमलघु गुरु तपो दधत् । तथा विजयवतीं सर्वोत्कर्षवर्तीं विजयफलां वा तपःक्रियानुरूपां तपःसमां समृद्धिमैश्वर्यं दधत् । अत्र पूर्वं प्रत्युत्तरस्य विशेषणतया स्थापनात् प्रथमैकावल्यलङ्कारः —'यथापूर्वं परस्य विशेषणतया स्थापन एकावली' इति सर्वस्वसूत्रात् ।।१३ ।।

चिरनियमेति ।। पुनश्च, चिरनियमेन दीर्घकालतपसा कृशः क्षीणाङ्गोऽपि शैलसारः । उपमानपूर्वपदो बहुव्रीहिः । शमे निरतोऽपि प्रकृत्या स्वभावेन दुरासदो दुर्धर्षो निर्जने विजने देशे तिष्ठन्नपि ससचिवः सपरिवार इव । किंच, मुनिरपि । ऐश्वर्यरहितोऽपीत्यर्थः। त्रयाणां लोकानां भर्तुरिन्द्रस्य। 'तद्धितार्थ—' इत्यादिनोत्तरपदसमासः। तुल्यरुचिः समानतेजाः । 'अपि'शब्दः सर्वत्र विरोधद्योतनार्थः । स च मुनेरतर्क्यमहिमत्वेन निरस्त इति विरोधालङ्कारः, — 'विरोधाभासत्वं विरोधः' इति सूत्रात् ।।१४ ।।

हिन्दी—शशलाञ्छन चन्द्रमा के समान, नयनानन्ददायिनी आकाशव्यापिनी अपने तेज की किरणों से व्याप्त (अर्जुन) इन्द्रकील के एक शिखर पर निवास करते हुए भी मानों उस (पर्वत) के समस्त शिखर समूहों को प्रभासित कर रहे थे । गङ्गा-तट पर परम तपस्या में निरत होकर पिङ्गल वर्ण का विशाल जटाजूट धारण करने के कारण वह वेदी के समीप ज्वालाओं से प्रभासमान एवं हवि के इच्छुक अग्नि के समान सुशोभित हो रहे थे । अपनी (विशाल) आकृति के अनुरूप वह महान् प्रयत्न में निरत थे, तथा प्रयत्न के अनुकूल दूसरे लोगों द्वारा करने में अशक्य अनुष्ठान में परायण थे और अनुष्ठान के अनुकूल कठोर तपस्या में संलग्न थे एवं विजय देने वाली तपस्या के अनुरूप ऐश्वर्य धारण कर रहे थे । दीर्घकाल की तपस्या से दुर्बल होने पर भी वह पर्वत के समान दृढ़ थे । शान्ति परायण होकर भी वह स्वभाव से ही दुर्धर्ष थे । उस निर्जन वन में निवास करते हुए भी वह सपरिवार थे । इस प्रकार वह ऐश्वर्यरहित मुनिवेश धारण करने पर भी त्रिलोकीपति इन्द्र के समान तेजस्वी थे ।। ११-१४ ।।

विमर्श—यहाँ प्रथम श्लोक में उत्प्रेक्षा अलङ्कार है । द्वितीय में उपमा है । तृतीय में एकावली है तथा चतुर्थ में विरोधाभास अलङ्कार है ।

तनुमवजितलोकसारधाम्नीं त्रिभुवनगुप्तिसहां विलोकयन्त्यः ।
अवययुरमरस्त्रियोऽस्य यत्नं विजयफले विफलं तपोधिकारे ।। १५ ।।

अन्वयः—अवजितलोकसारधाम्नीं त्रिभुवनगुप्तिसहां तनुं विलोकयन्त्यः अमरस्त्रियः विजयफले तपोधिकारे अस्य यत्नं विफलम् अवययुः ।। १५ ।।

तनुमिति ।। अवजिते तिरस्कृते लोकानां सारधाम्नी सत्त्वतेजसी यया ताम् । 'अन उपधा—' इत्यादिना ङीप् । त्रयाणां भुवनानां समाहारः त्रिभुवनम्। 'तद्धितार्थ—'

इत्यादिना समाहारार्थे तत्पुरुष: । पात्रादित्वात्स्त्रीत्वप्रतिषेध: । तस्य गुप्तौ रक्षणे सहां समर्थाम् । पचाद्यच् । तनुं मूर्तिं विलोकयन्त्योऽमरस्त्रियोऽप्सरसो विजयफले विजयार्थे तपोधिकारे तपोनुष्ठानेऽस्यार्जुनस्य यत्नं विफलमवययुर्मेनिरे । त्रैलोक्याधिपत्यादि-महाफलसाधनसमर्थस्य तुच्छफलाभिलाषा मत्तमातङ्गमांसभोगोचितस्य कण्ठीरवस्य जीर्णतृणचर्वणोत्कण्ठेव न शोभामावहतीति भाव:। अत्र विशिष्टतनुविलोकनस्य स्त्री-विशेषणवैफल्यजननहेतुत्वोक्त्या पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कार: ।। १५ ।।

हिन्दी—सम्पूर्ण लोकों के पराक्रम एवं तेज को विरस्कृत करने वाले, त्रिभुवन की रक्षा करने में समर्थ अर्जुन के मनोहर देह को देखने वाली देवाङ्गनाओं ने विजय की प्राप्ति के लिए इस प्रकार की तपस्या में निरत अर्जुन के प्रयत्न को विफल समझा ।। १५ ।।

विमर्श—तात्पर्य यह है कि अर्जुन तो यों ही त्रिभुवन विजय करने में समर्थ है फिर ऐसी कठोर तपस्या में व्यर्थ ही कष्ट उठा रहा है । यहाँ काव्यलिङ्ग अलङ्कार है ।

मुनिदनुतनयान् विलोभ्य सद्य: प्रतनुबलान्यधितिष्ठतस्तपांसि ।
अलघुनि बहु मेनिरे च ता: स्वं कुलिशभृता विहितं पदे नियोगम् ।। १६ ।

अन्वय:—प्रतनुबलानि तपांसि अधितिष्ठत: मुनिदनुतयान् सद्य: विलोभ्य कुलिशभृता अलघुनि पदे विहितं स्वं नियोगं ता: बहु मेनिरे ।। १६ ।।

मुनीति ।। प्रतनुबलानि अनुत्कृष्टसाराणि तपांस्यधितिष्ठतोऽनुतिष्ठतो मुनीन् दनुतनयान् दानवांश्च सद्यस्तत्क्षणमेव विलोभ्याकृष्य चिरात् कुलिशभृता शक्रेण । अलघुनि महति पदे स्थाने विहितं दत्तं स्वं स्वकीयं नियोगमधिकारं ता: स्त्रियो बहु यथा तथा मेनिरे । निकृष्टपदवृत्तीनामुत्कृष्टपदलाभो महान् । बाहुमानमूलमिति भाव:। विलोभ्य मेनिरे इत्यन्वय:। यद्वा,—विलोभ्य लोभं कारयित्वा विहितं शक्रेणेत्यन्वयात् समानकर्तृत्वनिर्वाह: ।। १६ ।।

हिन्दी—अत्यन्त उत्कृष्ट फलविहीन तपस्या में निरत मुनियों एवं दानवों को तुरन्त मोहित कर आज इन्द्र द्वारा इस महान् कार्य में हुई अपनी नियुक्ति को अप्सराओं ने बहुत समझा ।। १६ ।।

विमर्श—अर्थात् उन्होंने सोचा कि अब तक तो हमने साधारण हल्की-फुल्की एवं सर्वसाधारण द्वारा करणीय तपस्या में लगे हुए मुनियों एवं दैत्यों को अपने चंगुल में फँसाया था, किन्तु आज तो हम एक ऐसे त्रिभुवनविजयी असाधारण तपस्वी को वश में करने के लिए स्वयं इन्द्र द्वारा नियुक्त की गयी है, अत: हमारी शक्ति के परिचय का यह एक सुन्दर अवसर है ।

अथ कृतकविलोभनं विधित्सौ युवतिजने हरिसूनुदर्शनेन ।
प्रसभमवततार चित्तजन्मा हरति मनो मधुरा हि यौवनश्री: ।। १७ ।।

अन्वयः—अथ कृतकविलोभनं विधित्सौ युवतिजने हरिसूनुदर्शनेन चित्तजन्मा प्रसभम् अवततार । हि मधुरा यौवनश्रीः मनः हरति ।। १७ ।।

अथेति ।। अथ अनन्तरं कृतकविलोभनं कृत्रिमं विलोभनं विधित्सौ विधातुमिच्छौ । विपूर्वाद्दधातेः सन्नन्तादुप्रत्ययः । युवतिजने हरिसूनोरर्जुनस्य दर्शनेन चित्तजन्मा कामः प्रसभं बलात् अवततार । दैवतत्परं वञ्चयितुमागतस्य मोहो भवति, यतः स्वयं मुनिवञ्चनप्रवृत्ताः स्त्रियस्तेन वञ्चिता इत्यर्थः । युक्तं चैतत् । हि यस्मात् । मधुरा मनोहरा यौवनश्रीर्मनो हरति । बलादिति शेषः ।।१७ ।।

हिन्दी—तदनन्तर अपने कृत्रिम प्रलोभनों से मोहित करने की इच्छा करने पर उन अप्सराओं में इन्द्रपुत्र अर्जुन के देखते ही कामदेव बरबस ही अवतीर्ण हो गया । सच है, यौवन की मधुर रूपश्री मन को हर ही लेती हैं ।। १७ ।।

विमर्श—अप्सराएँ अर्जुन को मोहने के लिए आयी थीं, किन्तु उनकी यहाँ विपरीत दशा हुई, वे स्वयमेव अर्जुन को देखकर मोहित हो गयीं । यहाँ अर्थान्तर-न्यास अलङ्कार है ।

सपदि हरिसखैर्वधूनिदेशाद् ध्वनितमनोरमवल्लकीमृदङ्गैः ।
युगपदृतुगणस्य संनिधानं वियति वने च यथायथं वितेने ।।१८ ।।

अन्वयः—सपदि वधूनिदेशाद् ध्वनितमनोरमवल्लकीमृदङ्गैः हरिसखैः वियति वने युगपत् ऋतुगणस्य सन्निधानं यथायथम् वितेने ।। १८ ।।

सपदीति ।। सपदि वधूनां निदेशान्नियोगात् ध्वनिता नादिना मनोरमा वल्लक्यो वीणा मृदङ्गाश्च यैस्तैर्हरिसखैर्गन्धर्वैर्वियति आकाशे वने च युगपदृतुगणस्य ऋतुषट्कस्य संनिधानमाविर्भावो यथायथं यथास्वम् । असङ्करेणेत्यर्थः । 'यथास्वं तु यथायथम्' इति निपातः । वितेने वितस्तरे । उद्दीपनसामग्री संपादितेत्यर्थः ।।१८ ।।

हिन्दी—शीघ्र ही अप्सराओं की आज्ञा से गन्धर्वों ने ज्यों ही वीणा और मृदङ्ग को बजाना शुरू किया त्यों ही आकाश में और वन में एक सङ्ग ही छहों ऋतुओं का क्रमिक विकास हो गया ।। १८ ।।

विमर्श—अर्थात् उद्दीपन सामग्री का उदय हो गया । { सर्वप्रथम वर्षा ऋतु का वर्णन आरम्भ होता है —}

अथ वर्षाक्रमेण ऋतून्वर्णयति — सजलेत्यादि—

सजलजलधरं नभो विरेजे विवृतिमियाय रुचिस्तडिल्लतानाम् ।
व्यवहितरतिविग्रहैर्वितेने जलगुरुभिः स्तनितैर्दिगन्तरेषु ।।१९ ।।

अन्वयः—सजलजलधरं नभः विरेजे । तडिल्लतानां रुचिः विवृतिम् इयाय व्यवहित रतिविग्रहैः जलगुरुभिः स्तनितैः दिगन्तरेषु वितेने ।। १९ ।।

सजलेति ।। सजला जलधरां यस्मिंस्तत् । नभो विरेजे । तडितो लता इव तासां रुचिः प्रभा विवृतिं विजृम्भणम् । इयाय । तथा व्यवहितरतिविग्रहैर्दूरीकृतरति-प्रकल्पितप्रणयकलहैर्जलगुरुभिः। जलभाराद्गम्भीरैरित्यर्थः। स्तनितैर्गर्जितैः। दिगन्तरेषु वितेने विततैरभावि भावे लिट् । अकर्मकत्वं वैवक्षिकम् । अत एव दिगन्तरे-ष्वित्यधिकरणत्वेन प्रयोगः ।। अन्यथा कर्मत्वमेव स्यात् ।।१९ ।।

हिन्दी—जल से भरे मेघों से आकाश सुशोभित हो उठा । बिजलियों की कौंध स्पष्ट दिखाई पड़ने लगी । दम्पतियों के प्रेम कलह को दूर करने वाले जलभार से गंभीर गर्जनों से दिशाएँ गूँज उठीं ।। १९ ।।

परिसुरपतिसूनुधाम सद्यः समुपदधन्मुकुलानि मालतीनाम् ।
विरलमपजहार बद्धबिन्दुः सरजसतामवनेरपां निपातः।। २० ।।

अन्वयः—परिसुरपतिसूनुधाम सद्यः मालतीनां मुकुलानि समुपदधत् विरलं बद्धबिन्दुः अपां निपातः अवनेः सरजसताम् अपजहार ।। २० ।।

परीति ।। परिसुरपतिसूनुधाम अर्जुनाश्रमं प्रति । परीति लक्षणार्थे कर्मप्रवचनी-यस्य योगाद्द्वितीया । यद्वा, — वर्जनार्थस्य तस्यात्र विरोधाद्विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । तथा च सुरपतिसूनुधाम्नीत्यर्थः । सद्यो मालतीनां जातीलतानाम् । 'सुमना मालती जातिः' इत्यमरः । मुकुलानि समुपदधत् जनयन् । विरलं यथा तथा बद्धबिन्दुरपां निपातो वृष्टिरवनेः सबन्धिनीं सरजसतां सरजस्कत्वम् । 'अव्ययं विभक्ति' इत्यादि-सूत्रेण साकल्यर्थेऽव्ययीभावः 'समासान्तनिपातश्च बहुव्रीह्यर्थस्तु लक्ष्यते । अव्ययी-भावदर्शनं तु प्रायिकम्' इति केचित् ।अपजहार । धूलिं शमयामासेत्यर्थः ।। २० ।।

हिन्दी—देवराज के पुत्र अर्जुन के आश्रम के चारों ओर शीघ्र ही मालती की कलियाँ मुकुलित हो गयीं और धीरे-धीरे बरसने वाली जल की बूँदों से धरती की धूल शान्त हो गयी ।। २० ।।

प्रतिदिशमभिगच्छताभिमृष्टः ककुभविकाससुगन्धिनानिलेन ।
नव इव विबभौ सचित्तजन्मा गतधृतिराकुलितश्च जीवलोकः।। २१ ।।

अन्वयः—प्रतिदिशम् अभिगच्छता ककुभविकाससुगन्धिना अनिलेन अभि-मृष्टः सचित्तजन्मा गतधृतिः आकुलितश्च रतिं जीवलोकः नव इव विबभौ ।। २१ ।।

प्रतिदिशमिति।। दिशि दिशि प्रतिदिशम्। यथार्थेऽव्ययीभावः। शरत्प्रभृतित्वात् समासान्तनिपातः। अभिगच्छता संवाता ककुभानि अर्जुनकुसुमानि। 'इन्द्रद्रुः ककुभोऽ-र्जुनः' इत्यमरः । तेषां विकासेन सुगन्धिना मनोज्ञगन्धेन । गन्धस्येत्वे तदेकान्तग्रहणं प्रायिकम् ।अनिलेनाभिमृष्टः संस्पृष्टोऽत एव सचित्तजन्मा ।कामाक्रान्त इत्यर्थः ।अत एव गतधृतिर्गतधैर्य आकुलितः क्षोभितश्च । रतिं प्रतीति भावः । एवंभूतो जीवलोको नव इव अवस्थान्तरप्राप्त्या अपूर्व इव विबभौ भाति स्मेत्युत्प्रेक्षा ।। २१ ।।

हिन्दी—प्रत्येक दिशा में अर्जुन नामक वृक्ष के विकसित कुसुमों की सुगन्ध से सुगन्धित वायु के सम्पर्क से काम-विकारग्रस्त, धैर्यरहित एवं रति क्रीडा के प्रति व्याकुल हो कर सभी प्राणी मानों अपने को किसी नूतन अवस्था में अनुभव करने लगे ।। २१ ।। विमर्श—यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ।

व्यथितमपि भृशं मनो हरन्ती परिणतजम्बुफलोपभोगहृष्टा ।
परभृतयुवतिः स्वनं वितेने नवनवयोजितकण्ठरागरम्यम् ।। २२ ।।

अन्वयः—व्यथितमपि मनः भृशं हरन्ती । परिणतजम्बुफलोपभोगहृष्टा परभृतयुवतिः नवनवयोजितकण्ठरागरम्यं स्वनं वितेने ।। २२ ।।

व्यथितमिति ।। व्यथितं दुःखितमपि मनो भृशं हरन्ती । किमुत सुखितमिति भावः । जम्ब्वाः फलं जम्बु । 'बार्हतं च फले जम्ब्वा जम्बुः स्त्री जम्बु जाम्बवम्' इत्यमरः । 'जम्ब्वा वा' इत्यणभावपक्षेऽञि 'फले लुक्' इति लुक् । 'लुक्तद्धितलुकि' इति स्त्रीप्रत्ययनिवृत्तिः । जम्बु च तत्फलं चेति सामान्यविशेषयोः सहनिर्देशः । यद्वा, — जम्ब्वाः फलमिति विग्रहः । 'इको ह्रस्वोऽङ्यो गालवस्य' इति ह्रस्वः । तस्य परिणतस्योपभोगेन हृष्टा । अत एव परभृतयुवतिः कोकिलाङ्गना नवनवं नवप्रकारं यथा तथा योजितेन संपादितेन कण्ठरागेण कण्ठमाधुर्येण रम्यम् । सौम्यमित्यर्थः । स्वनं स्वरं वितेने । वर्षास्वपि मधुराः स्वराः कोकिलाया इति प्रसिद्धिः ।। २२ ।।

हिन्दी—दुःखी लोगों के मन को भी बरबस हरने वाली, पकी जामुन के फल को खाने से हृष्ट कोकिल युवतियों के कण्ठ स्वर नूतन नूतन रागों के संयोग से रमणी बन कर चारों ओर फैलने लगे ।। २२ ।।

अभिभवति मनः कदम्बवायौ मदमधुरे च शिखण्डिनां निनादे ।
जन इव न धृतेश्चचाल जिष्णुर्न हि महतां सुकरः समाधिभङ्गः ।। २३ ।।

अन्वयः—कदम्बवायौ मदमधुरे शिखण्डिनां निनादे च मनः अभिभवति सति जिष्णुः जन इव धृतेः न चचाल । हि महतां समाधिभङ्गः न सुकरः ।। २३ ।।

अभिभवतीति ।। कदम्बवायौ कदम्बसम्बन्धिनि मारुते मदमधुरे शिखण्डिनां निनादे च मनोऽभिभवति अभिहरति सति जिष्णुर्जयनशीलोऽर्जुनो जनः पृथग्जन इव धृतेर्धैर्यान्न चचाल । वर्षा अपि तदुद्दीपनाय न शेकुरित्यर्थः । हि यस्मात्, महतां समाधिभङ्गो न सुकरः । न केनापि कर्तुं शक्यत इत्यर्थः ।। २३ ।।

हिन्दी—जब कदम्बानिल से तथा मदोन्मत्त मयूरों के मधुर निनाद से सब का मन अभिभूत हो गया तबभी विजयी अर्जुन साधारण मनुष्यों की भाँति धैर्यच्युत नहीं हुए । सच है महान् पुरुषों की समाधि भङ्ग करना सरल काम नहीं होता ।। २३ ।।

विमर्श—अर्थात् महान् पुरुषों की समाधि कोई नहीं भङ्ग कर सकता । यहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ।

धृतबिसवलयावलिर्वहन्ती कुमुदवनैकदुकूलमात्तबाणा ।
शरदमलतले सरोजपाणौ घनसमयेन वधूरिवाललम्बे ।। २४ ।।

अन्वयः—धृतबिसवलयावलिः कुमुदवनैकदुकूलम् आतबाणा शरद् वधूः इव घनसमयेन अमलतले सरोजपाणौ इव आललम्बे ।। २४ ।।

धृतेति ।। बिसानि वलयानीव तेषामावलिर्धृता यया सा । कुमुदवनमेकं मुख्यं दुकूलमिव तद्वहन्ती । अत्ता गृहीता बाणा नीलझिण्टी यया सा आत्तबाणा, धृतशरा च 'गृहणीयात्क्षत्रिया शरम्' इति स्मरणात् । 'बाणोक्ता नीलझिण्टी च' इति वैजयन्ती । शरद्वधूर्जायेव घनसमयेन वर्षर्तुना । वरेणेति शेषः । अमलतले निर्मलतले सरोजं पाणिरिव तस्मिन् । आललम्बे जगृहे । कर्मणि लिट् । वधूवरसमागमवदृतुसधिर-शोभतेत्यर्थः । अत्र 'आत्तबाणा' इति झिण्टीशरयोर्बाणयोरभेदाध्यवसायच्छ्लेष-मूलातिशयोक्तिरुपमाङ्गमित्यनयोः संकरः ।। २४ ।।

हिन्दी—मृणाल तन्तुओं के कंकण धारण किये कुमुद वनों की शुभ्र साड़ी पहिने हुए तथा वाण नामक (नीलझिण्टी) वृक्ष के पुष्पों को बाण के समान अपने हाथों में धारण किये हुए नववधू के समान आई हुई शरद् ऋतु को (वर के समान) वर्षा ऋतु ने अपने कमलरूपी निर्मल करों से ग्रहण किया ।। २४ ।।

विमर्श—तात्पर्य यह है कि वधू और वर के समागम के समान वर्षा और शरद्ऋतु की सन्धि सुशोभित हुई । वाण को हाथ में धारण करने का सङ्केत क्षत्रिय कुलोत्पन्ना नववधू से है । श्लेषमूलातिशयोक्ति और उपमा का अङ्गाङ्गीभाव से संकर।

अथ ऋतुसन्धिं वर्णयति—

समदशिखिरुतानि हंसनादैः कुमुदवनानि कदम्बपुष्पवृष्ट्या ।
श्रियमतिशयिनीं समेत्य जग्मुर्गुणमहतां महते गुणाय योगः ।। २५ ।।

अन्वयः—समदशिखिरुतानि हंसनादैः समेत्य कुमुदवनानि कदम्बपुष्पवृष्ट्या समेत्य अतिशयिनीं श्रियं जग्मुः । हि गुणमहतां योगः महतेः गुणाय भवति ।। २५ ।।

समदेति ।। समदशिखिरुतानि मत्तमयूरकूजितानि हंसनादैः समेत्य तथा कुमुद-वनानि कदम्बपुष्पवृष्ट्या कदम्बपुष्पसपदा समेत्य । अतिशयिनीमतिशयवतींश्रियं । जग्मुः। तथा हि—गुणमहतां गुणाधिकानां योगः परस्परसमागमो महते गुणायोत्कर्षाय। भवतीति शेषः । अत्र त्रिपाद्यां समालङ्कारः —'सा समालङ्कृतिर्योग्यवस्तुनोरुभयोरपि' इति लक्षणात् । सोऽपि चतुर्थेनार्थान्तरन्यासेन स्वसमर्थकेनाङ्गाङ्गिभावेन सङ्कीर्यते ।

हिन्दी—मदोन्मत्त मयूरों का कलकूजन हंसों के मनोहर स्वरों के साथ मिलकर तथा कुमुदों की पङ्क्तियाँ कदम्ब पुष्पों की वृष्टि के साथ मिलकर अतिशय शोभा धारण करने लगीं । सत्य है, अधिक गुण वाले पदार्थों के परस्पर मिलन से उसके गुण और अधिक उत्कर्ष को प्राप्त हो जाते हैं ।। २५ ।।

विमर्श—अर्थान्तरन्यास अलङ्कार और समालङ्कार का अङ्गाङ्गी भाव सङ्कर ।

सरजसमपहाय केतकीनां प्रसवमुपान्तिकनीपरेणुकीर्णम् ।
प्रियमधुरसनानि षट्पदावली मलिनयति स्म विनीलबन्धनानि ।। २६ ।।

अन्वयः—प्रियमधुर षट्पदावली: उपान्तिकनीपरेणुकीर्णं सरजसं केतकीनां प्रसवम् अपहाय विनीलबन्धनानि असनानि मलिनयति स्म ।। २६ ।।

सरजसमिति ।। प्रियमधुरिष्टमकरन्दा । नात्र कप्समासान्तः । 'पुलिङ्गोत्तरपदो बहुव्रीहिः' इति केचित् । नपुंसकलिङ्गस्यैव 'मधु' शब्दस्योरः प्रभृतिषु पाठात् 'मकरन्दस्य मद्यस्य माक्षिकस्यापि वाचकः । अर्धर्चादिगणे पाठात्पुंनपुंसकयोर्मधुः ।।' इत्यभिधानात् । षट्पदाली षट्पदावलिः । उपान्तिके यानि नीपानि कदम्बकुसुमानि तेषां रेणुभिः परागैः कीर्णं व्याप्तम् । किंच, स्वतोऽपि सह रजसा सरजसम् । न त्वरजस्कमिति भावः । साकल्येऽव्ययीभावः । 'अचतुर—' इत्यादिना निपातः । केतकीनां प्रसव पुष्पम् । अपहाय । विनीलबन्धनानि मलिनवृन्तानि । असनानि प्रियकपुष्पाणि । मकरन्दभरितानीति भावः । 'सर्जकासनकन्धूकपुष्पप्रियकजीवकाः' इत्यमरः । मलिनयति स्म । यथा वृन्तादन्यत्रापि मालिन्यं स्यात्तथा मधुलोभाच्छादयामासेत्यर्थः । नहि मध्वासक्तो मधुलाभेऽसति विभूतिष्वासज्जतीति भावः ।। २६ ।।

हिन्दी—मकरन्द के प्रेमी भ्रमरों की पङ्क्तियाँ समीप के कदम्ब पराग से व्याप्त धूल भरे केतकी के कुसुमों को छोड़ कर नील वृन्तों वाले प्रियक के (मकरन्दपूर्ण) कुसुमों को मलिन करने लगे ।। २६ ।।

विमर्श—प्रियक के वृन्त (डण्ठल) ही नील होते हैं अन्य भाग नहीं । भ्रमरों की पङ्क्तियाँ कुसुमों को भी नीला बना रही थीं ।

मुकुलितमतिशय्य बन्धुजीवं धृतजलबिन्दुषु शाद्वलस्थलीषु ।
अविरलवपुषः सुरेन्द्रगोपा विकचपलाशचयश्रियं समीयुः ।। २७ ।।

अन्वयः—धृतजलबिन्दुषु शाद्वलस्थलीषु अविरलवपुषः सुरेन्द्रगोपाः मुकुलितं बन्धुजीवम् अतिशय्य विकचपलाशचयश्रियं समीयुः ।। २७ ।।

मुकुलितमिति ।। धृता जलबिन्दवो यासु तासु शाद्वलस्थलीषु शादहरितप्रदेशेषु । अविरलवपुषः स्थूलमूर्तयः सुरेन्द्रगोपाः कीटविशेषा मुकुलित मुकुलीकृतं बन्धुजीवम् । बन्धुजीवकमुकुलमित्यर्थः । 'बन्धूको बन्धुजीवकः' इत्यमरः । अतिशय्यातिक्रम्य विकचपलाशचयो विकसितकिंशुकराशिः । 'पलाशे किंशुकः पर्णः' इत्यमरः । तस्य श्रियम् । तत्सदृशीं श्रियमित्यर्थः । अत एव निदर्शनालङ्कारः । समीयुः प्रापुः ।। २७ ।।

हिन्दी—ओस कणों से व्याप्त हरे हरे तृणों से आच्छादित भूमि पर बड़ी बड़ी बीरबहूटियाँ, मुकुलित बन्धुजीवों अर्थात् गुलदोपहरिया की कलियों को तिरस्कृत करती हुई विकसित पलाश के पुष्पों की शोभा को प्राप्त कर रही थीं ।। २७ ।।

विमर्श—यहाँ निदर्शना अलङ्कार है । {अब हेमन्त का वर्णन है—}

अथ हेमन्तवर्णनमाह—

अविरलफलिनीवनप्रसूनः कुसुमितकुन्दसुगन्धिगन्धवाहः ।
गुणमसमयजं चिराय लेभे विरलतुषारकणस्तुषारकालः ॥ २८ ॥

अन्वयः—अविरलफलिनीवनप्रसूनः कुसुमितकुन्दसुगन्धिगन्धवाहः विरलतुषार-कणः तुषारकालः चिराय असमयजं गुणम् लेभे ॥ २८ ॥

अविरलेति ॥ अविरलानि घनानि फलिनीवनानां प्रियङ्गुवनानां प्रसूनानि यस्मिन् सः । 'प्रियङ्गुः फलिनी फली' इत्यमरः । कुसुमितैः कुन्दैर्माघ्यकुसुमैः सुगन्धिर्गन्धवाहो यस्मिन् सः । 'माघ्यं कुन्दम्' इत्यमरः । शैशिराणामपि कुन्दानां हेमन्ते प्रादुर्भावादविरोधः । विरलतुषारकण इति प्रारम्भोक्तिः । तुषारकाला हेमन्तः । चिरायासमयजमकालसंभवं गुणमुत्कर्षं लेभे ॥ २८ ॥

हिन्दी—राशि-राशि प्रियंगु के पुष्पों से युक्त विकसित कुन्द कुसुमों की सुगन्धि से सुवासित वायु वाली, विरल ओस कणों से विमण्डित हेमन्त ऋतु चिरकाल तक अकाल में उत्पन्न गुणों की उत्कृष्टता को प्राप्त करता रहा ॥ २८ ॥

निचयिनि लवलीलताविकासे जनयति लोध्रसमीरणे च हर्षम् ।
विकृतिमुपययौ न पाण्डुसूनुश्चलति नयान्न जिगीषतां हि चेतः ॥ २९ ॥

अन्वयः—निचयिनि लवलीलताविकासे लोध्रसमीरणे हर्षं च जनयति (सति) पाण्डुसूनुः विकृतिं न उपययौ । हि जिगीषतां चेतः नयात् न चलति ॥ २९ ॥

निचयिनीति ॥ निचयिनि उपचयवति लवलीलतानां विकासे पुष्पविजृम्भणे तथा लोध्रसमीरणे हर्ष चोत्कण्ठां जनयति सति पाण्डुसूनुर्विकृतिं नोपययौ । कुतः । हि यस्मात्, जिगीषतां जेतुमिच्छतां चेतो नयान्नीतेर्न चलति । न हि क्रोधाक्रान्ते चेतसि शृङ्गाररसस्य विकासः । तद्विरुद्धत्वाद्रोषस्येति भावः ॥ २९ ॥

हिन्दी—लवली लताओं के अत्यन्त पुष्पित होने एवं लोध्र के कुसुम की सुगन्ध से सुवासित वायु के संचरण से सर्वत्र उत्कण्ठा अथवा हर्ष का वातावरण उपस्थित कर देने पर भी पाण्डुपुत्र अर्जुन के मन में विकार नहीं उत्पन्न हुआ । सत्य है, विजयाभिलाषी व्यक्तियों का चित्त नीतिमार्ग से विचलित नहीं होता ॥ २९ ॥

विमर्श—अर्जुन का चित्त तो शत्रु के अपकारों के स्मरण से क्रोध से भरा था, तब फिर क्रोधाक्रान्त चित्त में कामवासना का प्रसार होता ही कैसे, क्योंकि क्रोध और कामवासना का परस्पर सहज विरोध है । अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ।

कतिपयसहकारपुष्परम्यस्तनुतुहिनोऽल्पविनिद्रसिन्दुवारः ।
सुरभिमुखहिमागमान्तशंसी समुपययौ शिशिरः स्मरैकबन्धुः ॥ ३० ॥

अन्वयः—कतिपयसहकारपुष्परम्यः तनुतुहिनः अल्पविनिद्रसिन्दुवारः सुरभिमुखहिमागमान्तशंसी स्मरैकबन्धुः शिशिरः समुपययौ ।। ३० ।।

कतिपयेति ।। कतिपयैरेव सहकारपुष्पैश्चूतकुसुमै रम्यः । न तु वसन्तवत्समग्रैः, नापि हेमन्तवत्तद्रहितैरिति भावः । तनुतुहिनोऽल्पहिमः । न तु हेमन्तवद्बहुतुहिनः, नापि वसन्तवद्विरलतुहिन इति भावः । अल्पानि कतिपयानि विनिद्राणि सिन्दुवाराणि विकसितनिर्गुण्डीकुसुमानि यस्मिन् सः । अत्रापि सहकारवदभिप्रायो द्रष्टव्यः । 'सिन्दुवारेन्द्रसुरसौ निर्गुण्डीन्द्राणिकेत्यपि' इत्यमरः । इत्थं सुरभिमुखं वसन्तप्रारम्भहिमागमान्तं हेमन्तावसानं शंसति सूचयतीति स तथोक्तः । स्मरस्यैकबन्धुः सहकारी । उभयर्तुधर्मसंपत्तेरिति भावः । शिशिरः समुपययौ ।। ३० ।।

हिन्दी—कतिपय आम्र की मञ्जरियों से मनोहर, स्वल्प हिम युक्त, थोड़े फूले हुए सिन्दुवार (निर्गुण्डी) के कुसुमों से सुशोभित, वसन्त के आरम्भ एवं हेमन्त के अवसान की सूचना देता हुआ कामदेव का एकमात्र सहायक शिशिर काल समुपस्थित हो गया ।। ३० ।।

विमर्श—शिशिर ऋतु में कतिपय आमों में मञ्जरी आ जाती है, वसन्त की तरह सब में नहीं और हेमन्त की तरह किसी में न हो, यह भी नहीं । इसी प्रकार हेमन्त की तरह न तो उसमें हिम अधिक पड़ता है और न वसन्त की तरह उसका सर्वथा अभाव ही रहता है । इसी प्रकार निर्गुण्डी का पुष्प भी न तो अधिक फूलता है न उसका नितान्त अभाव ही रहता है ।। ३० ।।

अथ वसन्तप्रारम्भमाह—

कुसुमनगवनान्युपैतुकामा किसलयिनीमवलम्ब्य चूतयष्टिम् ।
क्वणदलिकुलनूपुरा निरासे नलिनवनेषु पदं वसन्तलक्ष्मीः ।। ३१ ।।

अन्वयः—कुसुमनगवनानि उपैतुकामा वसन्तलक्ष्मीः किसलयिनीं चूतयष्टिम् अवलम्ब्य क्वणदलिकुलनूपुरा नलिनवनेषु पदं निरासे ।। ३१ ।।

कुसुमेति ।। कुसुमप्रधानानां नगानां वृक्षाणां, नगा वृक्षा वा तेषां वनानि । उपैतुमारोढुं कामो यस्याः सा । 'शैलवृक्षौ नगावगौ' इत्यमरः । 'लुम्पेदवश्यमः कृत्ये तु काममनसोरपि' इति मकारलोपः । वसन्तलक्ष्मीः किसलयिनीं पल्लविनीं चूतयष्टिम् । चूतशाखामिवेति भावः । अवलम्ब्यावष्टभ्य । अन्यथारोढुमशक्यत्वादिति भावः । क्वणत् शिञ्जमानं शब्दायमानमलिकुलं नूपुरमिव यस्याः सा तथोक्ता सती । 'क्वणदलिकुलनूपुरम्' इत्यपि पाठः । अन्यत्र, — अलिकुलवन्नूपुरम् । नलिनवनेषु पदं निरासे निदधे । तेषु प्रथमं प्रादुरासीदित्यर्थः । उपसर्गादस्यत्यूह्योर्वा इति वचनादात्मनेपदम् । अत्र प्रक्रान्तवसन्तलक्ष्मीविशेषणसामर्थ्यादप्रस्तुतनायिकाव्यवहारसमारोपात् समासोक्तिरलकारः ।। ३१ ।।

हिन्दी—पुष्प प्रधान पर्वतीय वनों में पहुँचने की अभिलाषिणी वसन्तश्री ने नूतन पल्लवों से युक्त आम्र की छड़ी (शाखा) का सहारा लेकर नूपुर के समान

गुञ्जायमान भ्रमरों की पङ्क्तियों से अलङ्कृत होकर कमलों के वन में प्रवेश किया ।

विमर्श—यहाँ समासोक्ति अलङ्कार है ।। ३१ ।।

विकसितकुसुमाधरं हसन्तीं कुरबकराजिवधूं विलोकयन्तम् ।
ददृशुरिव सुराङ्गना निषण्णं सशरमनङ्गमशाकपल्लवेषु ।। ३२ ।।

अन्वयः—विकसितकुसुमाधरं हसन्तीम् कुरबकराजिवधूं विलोकयन्तम् अशोक-पल्लवेषु निषण्णं सशरम् अनङ्गं सुराङ्गनाः ददृशुरिव ।। ३२ ।।

विकसितेति।। विकसितो विश्लिष्टः कुसुममेवाधरो यस्मिन्कर्मणि तद्यथा तथा हसन्तीं स्मयमानां कुरबकराजिरेव वधूस्तां विलोकयन्तम् । कामुकतयेति भावः । अत एव, अशोक पल्लवेषु पल्लवसंस्तरेषु निषण्णम् । स्थितमित्यर्थः । रिरंसयेति शेषः । सशरम् । नित्यविजयित्वादिति भावः । इत्थं शृङ्गारवीरयोरेकाधिकरणभूतम् । अनङ्गं सुराङ्गना ददृशुरिवेत्युत्प्रेक्षा । अशोकाद्यवलोकनान्मदनसाक्षात्कारादिव महान्मनः – क्षोभस्तासामासीदित्यर्थः । अत्र रूपकोत्प्रेक्षयोः संसृष्टिः ।। ३२ ।।

हिन्दी—खिले हुए पुष्पों रूपी अधरों को फड़काती हुई, कुरबक वृक्षों की पङ्क्ति रूपिणी वधू को देखते हुए अशोक के नूतन पल्लवों पर बैठे हुए शर समेत कामदेव को मानों उन देवाङ्गनाओं ने देख लिया ।। ३२ ।।

विमर्श—तात्पर्य यह है कि विकसित कुरबकों की पङ्क्तियों तथा अशोक पल्लवों को देखकर मानो अप्सराओं को कामदेव का जैसे साक्षात्कार हो गया हो - इस प्रकार से मनःक्षोभ हुआ । रूपक और उत्प्रेक्षा अलङ्कार की संसृष्टि ।

मुहुरनुपतता विधूयमानं विरचितसंहति दक्षिणानिलेन ।
अलिकुलमलकाकृतिं प्रपेदे नलिनमुखान्तविसर्पि पङ्कजिन्याः ।। ३३ ।।

अन्वयः—अनुपतता दक्षिणानिलेन मुहुः विधूयमानं विरचितसंहतिः पङ्कजिन्याः नलिनमुखान्तविसर्पि अलिकुलम् अलकाकृतं प्रपेदे ।। ३३ ।।

मुहुरिति ।। अनुपतताऽनुधावता दक्षिणानिलेन मलयमारुतेन मुहुर्विधूयमानं कम्पितम्, अत एव विरचिता संहतिर्येन। तत्सभूतमित्यर्थः । पङ्कजिन्या यन्नलिनं मुख-मिव तस्य अन्तर्विसर्पि प्रान्तचारि । अलिकुलं कर्तृं अलकाकृतिमलकसादृश्यं प्रपेदे ।

हिन्दी—धीरे धीरे बहते हुए दक्षिण पवन से बारम्बार कम्पित होने के कारण पङ्क्तिबद्ध रूप में कमलिनियों के कुसुम रूपी मुखों पर बैठे हुए भ्रमरों के समूह अलकों के समान सुशोभित हो रहे थे ।। ३३ ।।

विमर्श—यहाँ उपमा अलङ्कार है ।

श्वसनचलितपल्लवाधरोष्ठे नवनिहितेर्ष्यमिवावधूनयन्ती ।
मधुसुरभिणि षट्पदेन पुष्पे मुख इव शाललतावधूश्चुचुम्बे ।। ३४ ।।

अन्वयः—षट्पदेन शाललतावधूः श्वसनचलितपल्लवाधरोष्ठे मधुसुरभिणि पुष्पे मुख इव नवनिहितेर्ष्यम् अवधूनयन्ती चुचुम्बे ।। ३४ ।।

श्वसनेति ।। षट्पदेन अलिना । शाललता सर्जतरुशाखा वधूरिव शाललतावधूः । 'प्रकारग्रहयोः शालः शालः सर्जतरुः स्मृतः' इति शाश्वतः । श्वसनेन वायुना निःश्वासेन च चलितः पल्लवोधरोष्ठ इव पल्लवाधरोष्ठो यत्र तस्मिन् । 'ओत्वोष्ठयोः समासे वा पररूपं वक्तव्यम्' । मधुना मकरन्देन मद्येन च सुरभिणि सुगन्धिनि पुष्पे मुख इव नवं यथा तथा निहितेर्ष्यं कृतकोपमिवेति क्रियाविशेषणम् । तथा, अवधूनयन्ती कम्पयन्ती । 'धूञ् प्रीञोर्नुग्वक्तव्यः' इति णिचि नुगागमः । चुचुम्बे चुम्बिता । अत्र 'श्वसन' शब्दार्थ 'मधु' शब्दार्थयोश्च स्वस्वभेदाध्यवसायाच्छ्लेषमूलातिशयोक्तिः । सा चोपमाङ्गमित्यनयोः संकरः ।। ३४ ।।

हिन्दी—भ्रमर ने शालवृक्ष की शाखा रूपिणी वधू के श्वसन (श्वास तथा समीर) के कारण कम्पित पल्लवाधर से युक्त, मधु (मदिरा तथा मकरन्द) से सुरभित मुख सदृश पुष्प का, प्रथम बार प्राप्त हुई ईर्ष्या की प्रेरणा से इधर उधर फेरते हुए भी चुम्बन किया ।। ३४ ।।

विमर्श—उस शाल वृक्ष की शाखा वधू थी, पुष्प उसका मुख था । पल्लव उसके चञ्चल ओष्ठ थे । पुष्प का मकरन्द मदिरा थी । वायु वेग के कारण फूलों का हिलना ही उसके मुख की खींचातानी थी । मदिरा से मुख सुरभित होता है और उसे पान करने वाले भ्रमर ही नायक थे । श्लेषमूलातिशयोक्ति और उपमा अलङ्कार का अङ्गाङ्गी भाव से संकर ।

प्रभवति न तदा परो विजेतुं भवति जितेन्द्रियता यदात्मरक्षा ।
अवजितभुवनस्तथा हि लेभे सिततुरगे विजयं न पुष्पमासः ।। ३५ ।।

अन्वयः—परः तदा विजेतुं न प्रभवति यदा जितेन्द्रियता आत्मरक्षा भवति तथाहि अवजितभुवनः पुष्पमासः सिततुरगे विजयं न लेभे ।। ३५ ।।

प्रभवतीति ।। परः शत्रुः । तदा तस्मिन्काले विजेतुं न प्रभवति न शक्नोति । यदा जितेन्द्रियता इन्द्रियजयित्वम् । आत्मरक्षा भवति जायते । तथा हि—अवजितभुवनस्त्रैलोक्यविजयी पुष्पमासो वसन्तः । सिततुरगेऽर्जुने विषये विजयं न लेभे । अतो जितेन्द्रिया दुर्जया इत्यर्थः । विशेषेण सामान्यार्थसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः ।। ३५ ।।

हिन्दी—शत्रु उस समय तक विजय प्राप्त नहीं कर सकता जब तक जितेन्द्रियता अपनी रक्षा करती है । इसी से त्रिभुवनविजयी वसन्त वीरवर अर्जुन को पराजित नहीं कर सका ।। ३५ ।।

विमर्श—जितेन्द्रियता के कारण मनुष्य अपराजेय होता ही है । यहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ।

कथमिव तव संमतिर्भवित्री सममृतुभिर्मुनिनावधीरितस्य ।
इति विरचितमल्लिकाविकासः स्मयत इव स्म मधुं निदाघकालः ।। ३६ ।।

अन्वयः—विरचितमल्लिकाविकासः निदाघकालः ऋतुभिः समं मुनिना अवधीरितस्य तव सम्मतिः कथमिव भवित्री — इति मधुं स्मयते स्म इव ।। ३६ ।।

कथमिति ।। विरचितमल्लिकाविकासो निदाघकालो ग्रीष्मो ऋतुभिर्वर्षादिभिः समं मुनिनाऽवधीरितस्य तिरस्कृतस्य तव संमतिर्लोके योग्यत्वेनानुमतिर्मान्यत्वं कथमिव भवित्री । न संमानः कथंचिद्भविष्यतीत्यर्थः । इति इत्थं मधुं वसन्तं । 'चैत्रे दैत्ये वसन्ते च जीवे । कोके मधुः स्मृत' इति विश्वः । स्मयते स्मेव जहास किमित्युत्प्रेक्षा। 'लट् स्मे' इति भूतार्थे लट् । प्रहासस्य शुभ्रत्वेन कविप्रसिद्धेर्मल्लिकाविलासेहासत्वाध्यवसायः । अत्रर्तुभिः सममवधीरितस्येत्यत्राभेदाध्यवसायमूला सहोक्तिरलङ्कारः। सम्बन्धभेदभिन्नस्यावधीरणस्याभिन्नतयाध्यवसायात् तदेवावधीरणमसंमतिद्वारा स्मयोत्प्रेक्षेत्यनयोरङ्गाङ्गिभावेन संकरः ।। ३६ ।।

हिन्दी—(तदनन्तर) मल्लिका को विकसित करने वाला निदाघ काल अर्थात् ग्रीष्म ऋतु सभी ऋतुओं के साथ तुम अर्जुन से पराजित हो गये तब फिर तुम्हारी क्या इज्जत रह गयी—इस प्रकार से मानो वसन्त ऋतु का परिहास सा करते हुए आकर उपस्थित हो गया ।। ३६ ।।

विमर्श—मल्लिका के उज्ज्वल पुष्प मानों ग्रीष्म परिहास के चिह्न थे । सहोक्ति और उत्प्रेक्षा अलङ्कार का अङ्गाङ्गी भाव से संकर ।

बलवदपि बलं मिथोविरोधि प्रभवति नैव विपक्षनिर्जयाय ।
भुवनपरिभवो न यत्तदानीं तमृतुगणः क्षणमुन्मनीचकार।। ३७ ।।

अन्वयः—बलवत् अपि मिथोविरोधि बलं विपक्षनिर्जयाय नैव प्रभवति । यत् भुवनपरिभवी ऋतुगणः तदानीं तं क्षणं न उन्मनीचकार ।। ३७ ।।

बलवदिति ।। बलवत् प्रबलमपि । प्रकृष्टाङ्गमिति यावत् । मिथोविरोधि परस्परस्पर्धि बलं सैन्यम् । 'वरूथिनी बलं सैन्यम्' इत्यमरः । विपक्षनिर्जयाय शत्रुविजयाय । 'तुमर्थाच्च—' इत्यादिना चतुर्थी । शत्रूञ्जेतुमित्यर्थः । न प्रभवति न शक्नोत्येव । कुतः । यत् यस्मात् कारणात्, भुवनानां परिभवी जेतापि । 'जिदृक्षि —' इत्यादिनेनिप्रत्ययः । ऋतुगणस्तदानीम् । तम् अर्जुनं क्षणमपि नोन्मनीचकारानुन्मनसमुन्मनसं न चकार । 'अरुर्मनश्चक्षुः—' इत्यादिनाऽभूततद्भावे च्विप्रत्ययः सलोपश्च । विशेषेण सामान्यसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ।। ३७ ।।

हिन्दी—बलवती होने पर भी यदि आपस में ही विरोध है, तो वह सेना शत्रु को पराजित करने में समर्थ नहीं हो सकती। इसीसे त्रिभुवन विजयी होकर भी समस्त ऋतुएँ इस अवसर पर अर्जुन को क्षणभर के लिए भी व्यग्र नहीं कर सकीं ।। ३७ ।।

विमर्श—परस्पर विरोध से यहाँ सभी ऋतुओं के एक साथ आविर्भूत होने का सङ्केत है । यहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ।

एवं तटस्थस्योद्दीपनसामग्री विफलेत्युक्तम्, संप्रति विपरीता जातेत्याह —

श्रुतिसुखमुपवीणितं सहायैरविरललाञ्छनहारिणश्च कालाः ।
अविहितहरिसूनुविक्रियाणि त्रिदशवधूषु मनोभवं वितेनुः ।। ३८ ।।

अन्वयः—सहायैः श्रुतिसुखम् उपवीणितम् अविरललाञ्छनहारिणः कालाः अविहितहरिसूनुविक्रियाणि त्रिदशवधूषु मनोभवं वितेनुः ।। ३८ ।।

श्रुतीति ।। सहायैस्तासां सहचरैर्गन्धर्वैः । कृतमिति शेषः । 'न लोक—' इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधः । कर्तरि तृतीया । श्रुतिसुखं श्रोत्रमधुरम् । उपवीणितं वीणयोपगानम् । 'सत्यापपाश—' इत्यादिना 'वीणा' शब्दाण्णिजन्ताद्भावे क्तः । अविरलैर्भूयोभिर्लाञ्छनैः पूर्वोक्तैः फलकुसुमादिभिश्चिह्नैर्हारिणो मनोहराः काला वसन्तादिऋतवः । अविहिताऽकृता हरिसूनोर्जुनस्य विक्रिया मनोविकृतिर्यैस्तानि तथाभूतानि सन्ति । 'नपुंसकमनपुंसक—' इत्यादिना नपुंसकैकशेषः । त्रिदशवधूषु मनोभवं वितेनुर्विस्तारयामासुः । सोऽयं परप्रहारार्थमुद्यतमायुधं स्वात्मानमेव प्रहरतीति न्यायवज्जात इति भावः। अत्र मुनिविक्रियार्थं स्त्रीणां विक्रियारूपानर्थोत्पत्तिकथनाद्द्वितीयो विषमालङ्कारः। तथा च सूत्रम् —'विरूपकार्यानर्थयोरुत्पत्तिसङ्घटनाद्विषमालङ्कारः' इति ।। ३८ ।।

हिन्दी—अपने सहायक गन्धर्वों द्वारा कर्णमधुर वीणा के साथ प्रस्तुत संगीत एवं प्रचुर मात्रा में पूर्वोक्त पुष्पों एवं फलों आदि सामग्रियों की समृद्धि से युक्त ऋतुएँ इन्द्रपुत्र अर्जुन के मन में विकार उत्पन्न करने में असमर्थ होकर उन अप्सराओं के चित्त में ही काम का विस्तार करने लगीं ।। ३८ ।।

विमर्श—दूसरे को आहत करने के लिए उठाये गए अस्त्र से अपने ही को आहत होना पड़ा । यहाँ विषम अलङ्कार है ।

तटस्थवदालम्बनगणोऽपि विपरीतेऽभूदिति श्लोकद्वयेनाह—

न दलति निचये तथोत्पलानां न विषमच्छदगुच्छयूथिकासु ।
अभिरतिमुपलेभिरे यथासां हरितनयावयवेषु लोचनानि ।। ३९ ।।

अन्वयः—आसां लोचनानि हरितनयावयवेषु यथा तथा दलति उत्पलानां निचये विषमच्छदगुच्छयूथिकासु अभिरतिं न उपलेभिरे ।। ३९ ।।

नेत्यादि ।। आसां लोचनानि हरितनयावयवेषु यथा तथा दलति विकसति उत्पलानां निचयेऽभिरतिं नोपलेभिरे न प्रापुः । तथा च विषमच्छदगुच्छाः सप्तपर्णस्तबका यूथिका मल्लिकाश्च तास्वभिरतिं नोपलेभिरे । 'सप्तपर्णो विशालत्वक्शारदो विषमच्छदः' इत्यमरः। तथा रमणीयत्वात्तदवयवानामित्यर्थः।। इति चक्षुःप्रीतिरुक्ता ।। ३९ ।।

हिन्दी—उन अप्सराओं के नेत्र, इन्द्रपुत्र अर्जुन के अङ्ग-प्रत्यङ्ग पर इस प्रकार हर्षित होकर लुब्ध हो गये जिस प्रकार से विकसित कमलों के समूहों, छितवन के पुष्पस्तवकों तथा मल्लिका की मञ्जरियों पर नहीं हुए थे ।। ३९ ।।

विमर्श—इसके द्वारा उनकी नेत्र-प्रीति का सङ्केत किया गया है ।

अथ मनःसङ्गं सूचयति—

मुनिमभिमुखतां निनीषवो याः समुपययुः कमनीयतागुणेन ।
मदनमुपदधे स एव तासां दुरधिगमा हि गतिः प्रयोजनानाम् ।। ४० ।।

अन्वयः—याः कमनीयतागुणेन मुनिम् अभिमुखतां निनीषवः समुपययुः । तासां स एव मदनम् उपदधे हि प्रयोजनानाम् गतिः दुरधिगमा ।। ४० ।।

मुनिमिति ।। याः स्त्रियः कमनीयता सौन्दर्यं सैव गुणस्तेन । मुनिमर्जुनम् । अभिमुखतां वश्यतां निनीषवो नेतुमिच्छवः समुपययुः । तासां स्त्रीणां स मुनिरेव मदनमुपदधे जनयामास । तथा हि—प्रयोजनानामुद्देश्यानां गतिः परिणतिर्दुरधिगमा हि दुर्ज्ञेया खलु । अतः क्वचिद्भवति, क्वचिन्न भवतीति भावः ।। ४० ।।

हिन्दी—जो अप्सराएँ अपने सुन्दरता रूपी गुण से अर्जुन को अपने वश में करने की इच्छा से गयी थीं उनमें अर्जुन ने ही काम का सञ्चार कर दिया । सत्य है, उद्देश्यों का परिणाम बड़ा ही दुर्ज्ञेय होता है ।। ४० ।।

विमर्श—यहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ।

अथासामनुरागमेव कार्यतः प्रपञ्चयति—

प्रकृतमनुससार नाभिनेयं प्रविकसदङ्गुलि पाणिपल्लवं वा ।
प्रथममुपहितं विलासि चक्षुः सिततुरगे न चचाल नर्तकीनाम् ।। ४१ ।।

अन्वयः—विलासि नर्तकीनां चक्षुःप्रकृतं अभिनेयं विकसदंगुलि पाणिपल्लवं न अनुससार । प्रथमं सिततुरगे उपहितं वा न चचाल ।। ४१ ।।

प्रकृतमिति ।। विलासि सविलासं नर्तकीनां सम्बन्धि । 'शिल्पिनि ष्वुन्' इति ष्वुन्प्रत्यय—'नृतिखनिरञ्जिभ्य एव' इति नियमः। चक्षुः कर्तृ प्रकृतं प्रक्रान्तं अभिनेयमभिनेतव्यं रसभावादिव्यञ्जकं नानुससार । तद्दूषणं तदानुगुण्येनैव दृष्टिप्रयोगनियमादिति भावः । तथा प्रविकसदङ्गुलि चञ्चलाङ्गुलि पाणिपल्लवं वा नानुससार । स च दोषः, 'यतो हस्तस्ततो दृष्टिः' इति नियमादिति भावः । 'पल्लवोऽस्त्री किसलयम्' इत्यमरः । 'वा स्याद्विकल्पोपमयोरेवार्थे च समुच्चये' इति विश्वः । किन्तु, प्रथमं प्रवेश एव सिततुरगेऽर्जुन उपहितं सन्न चचाल तत्रैव लग्नं तस्थौ । रागार्तैर्न किञ्चित्करणीयमनुसंधेयमिति भावः ।। ४१ ।।

हिन्दी—उन नर्तकी अप्सराओं के विलासभरे नेत्र उस समय के अभिनय के

योग्य रस भावादि व्यञ्जक व्यापारों का अनुसरण नहीं कर सके । चञ्चल अंगुलियों वाले पाणिपल्लव भी अनुसरण नहीं कर सके । प्रत्युत हुआ यह कि प्रथम बार ही अर्जुन पर पड़ते ही वे नेत्र वहाँ से हिल तक नहीं सके ।। ४१ ।।

अभिनयमनसः सुराङ्गनाया निहितमलक्तकवर्तनाभिताम्रम् ।
चरणमभिपपात षट्पदाली धृतनवलोहितपङ्कजाभिशङ्का ।। ४२ ।।

अन्वयः—अभिनयमनसः सुराङ्गनायाः अलक्तकवर्तनाभिताम्रं निहितं चरणं षट्पदाली धृतनवलोहितपङ्कजाभिशङ्का अभिपपात स्म ।। ४२ ।।

अभिनयेति ।। अभिनयो रसभावादिव्यञ्जकचेष्टाविशेषः । 'व्यञ्जकाभिनयौ समौ' इत्यमरः । तत्र मनो यस्यास्तस्याः । व्यासङ्गाद्भृङ्गापातमजानत्या इत्यर्थः ।। सुराङ्गनायाः सम्बन्धि अलक्तकवर्तनया लाक्षारसरञ्जनेन अभिताम्रं निहितं न्यस्तं चरणं षट्पदाली कर्त्री धृता नवलोहितपङ्कजानामभिशङ्का प्रत्यग्रकोकनदभ्रमो यया सा । अभिपपाताभिधावति स्म । अत्र षट्पदाल्याः स्त्रीचरणे पङ्कजभ्रमाभिधानाद् भ्रान्तिमदलङ्कारः । तेन चोपमा व्यज्यत इत्यलङ्कारेणालङ्कारध्वनिः ।। ४२ ।।

हिन्दी—रस भावादि के अभिनय की इच्छा करने वाली देवाङ्गनाओं के महावर लगाने से लाल धरती पर पड़े हुए चरण-चिह्नों पर भ्रमरों की पङ्क्तियाँ नूतन कमल के पुष्प की शङ्का से आकर बैठ गयीं ।। ४२ ।।

विमर्श—भ्रान्तिमान् अलङ्कार से उपमा की ध्वनि ।

अविरलमलसेषु नर्तकीनां द्रुतपरिषिक्तमलक्तकं पदेषु ।
सवपुषमिव चित्तरागमूहुर्नमितशिखानि कदम्बकेसराणि ।। ४३ ।।

अन्वयः—नमितशिखानि कदम्बकेसराणि अविरलं द्रुतपरिषिक्तं नर्तकीनाम् अलसेषु पदेषु अलक्तकं सवपुषं चित्तरागम् ऊहुः ।। ४३ ।।

अविरलमिति।। नमितशिखानि नर्तकीपादपीडनान्नमिताग्राणि कदम्बकेसराणि । रङ्गपूजादत्तानीति शेषः । अविरलं सान्द्रं यथा तथा द्रुतो रागोष्मणा विगलितोऽत एव परिषिक्तः प्रसृतस्तं द्रुतपरिषिक्तं नर्तकीनामलसेषु पदेषु पादन्यासेषु । अलक्तकं लाक्षारागं सवपुषं मूर्तिमन्तं चित्तरागमुत्कटतया कायाद् बहिर्निःसृतं मुनिविषयकं रागमिवेत्युत्प्रेक्षा । ऊहुर्वहन्ति स्म ।। ४३ ।।

हिन्दी—(नर्तकियों के) पैरों से कुचले हुए अग्रभाग वाले रंग पूजा में समर्पित कदम्बों के केसर अत्यन्त गाढ़े किन्तु अनुराग की ऊष्मा से पिघलते हुए नर्तकियों के आलस्य भरे चरणों की महावर को मानों उनके चित्त के अनुराग की मूर्ति की भाँति धारण कर रहे थे ।। ४३ ।।

विमर्श—अर्जुन ने रंग पूजा के लिए कदम्बों के केसर वहाँ रखे थे, नर्तकियाँ उन्हीं पर नाच रंग कर रही थीं । उनका चित्त तो लगा था अर्जुन में, अतः वे धीरे

धीरे पाद विन्यास कर रही थीं । अर्जुन के प्रति भीतरी अनुराग से उन्हें पसीना छूट रहा था जिससे महावर का रंग छूट छूट कर उन केसरों पर लग रहा था। कवि उसी की उत्प्रेक्षा कर रहा है कि मानों वे महावर के रंग नहीं प्रत्युत उनके अनुराग का ही पिघला हुआ रूप थे । यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ।

अथासां शृङ्गारचेष्टं कथयति —

नृपसुतमभितः समन्मथायाः परिजनगात्रतिरोहिताङ्गयष्टेः ।
स्फुटमभिलषितं बभूव वध्वा वदति हि संवृतिरेव कामितानि ।। ४४ ।।

अन्वयः—नृपसुतम् अभितः परिजनगात्रतिरोहिताङ्गयष्टेः समन्मथायाः वध्वाः अभिलषितं स्फुटं बभूव । संवृतिः एव कामितानि वदति हि ।। ४४ ।।

नृपेति ।। नृपसुतमर्जुनम् । अभितः संमुखं परिजनस्य सखीजनस्य गात्रेण तिरोहिता लज्जया स्वाकारगोपनायान्तर्हिताऽङ्गयष्टिर्यस्याः सा तस्याः समन्मथाया वध्वाः । अभिलषितं मुनिं प्रत्यनुरागः स्फुटो बभूव । न च संव्रियमाणस्याभिव्यक्तिर्विरुद्धेति वाच्यमित्याह — यतः संवृतिः सम्यग्गोपनमेव कामितानि अनुरागान् । कामयतेर्भावे क्तः । वदति हि । प्रकटयतीत्यर्थः । अयमनुरागस्य स्वभाव उक्तः । यया चेष्टया रागः संव्रियते सैवास्य प्रकाशिका जातेति भावः ।। ४४ ।।

हिन्दी—अर्जुन के सम्मुख आने पर सखी के शरीर की आड़ में छिपी हुई एक अप्सरा अत्यन्त कामपीड़ित हो गई थी; अर्जुन के प्रति उसकी कामाभिलाषा स्पष्ट हो गयी थी । सत्य है, अच्छी तरह से छिपाने की चेष्टा ही अनुराग की सूचना भी देती है ।। ४६ ।।

विमर्श—अनुराग का यह स्वभाव ही है कि जिस चेष्टा के द्वारा उसे छिपाया जाता है वही चेष्टा उसकी सूचना भी देती है । यहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ।

अभिमुनि सहसा हृते परस्याः घनमरुता जघनांशुकैकदेशे ।
चकितमवसनोरु सत्रपायाः प्रतियुवतीरपि विस्मयं निनाय ।। ४५ ।।

अन्वयः—अभिमुनि घनमरुता जघनांशुकैकदेशे सहसा हृते सत्रपायाः परस्याः अवसनोरु चकितं प्रतियुवतीः अपि विस्मयं निनाय ।। ४५ ।।

अभिमुनीति ।। अभिमुनि मुनिसमक्षं घनेन मरुता जघनांशुकस्यैकदेशे सहसा हृते सति सत्रपायाः सलज्जायाः परस्याः सम्बन्धि अवसनौ निरावरणौ ऊरू यस्मिंस्तत् । चकितं भयसंभ्रमः प्रतियुवतीरपि सपत्नीरपि विस्मयं निनाय । किमुतान्यजनमित्यपिशब्दार्थः । न तु मुनिमित्याशयः ।। ४५ ।।

हिन्दी—तपस्वी अर्जुन के समक्ष तीव्र वायु द्वारा जघनस्थल पर से वस्त्र के एक भाग के सहसा उड़ जाने पर लज्जित एक अप्सरा के निर्वस्त्र उरुभाग के दिखाई पड़ने से उसकी सपत्नी भी विस्मय विमुग्ध हो गई ।। ४५ ।।

विमर्श—जब सपत्नी भी विस्मित हो गई तो साधारण व्यक्ति की बात ही क्या । किन्तु इसका भी अर्जुन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा ।

धृतबिसवलये निधाय पाणौ मुखमधिरूषितपाण्डुगण्डलेखम् ।
नृपसुतमपरा स्मराभितापादमधुमदालसलोचनं निदध्यौ ॥ ४६ ॥

अन्वयः—अपरा स्मराभितापात्, धृतबिसवलये पाणौ अधिरूषितपाण्डुगण्ड-लेखं मुखं निधाय अमधुमदालसलोचनं नृपसुतं निदध्यौ ॥ ४६ ॥

धृतेति ॥ अपरा स्त्री स्मराभितापात् हेतोः । धृतानि बिसान्येव वलयानि येन तस्मिन् पाणावधिरूषिते चन्दनादिचर्चिते पाण्डू गण्डलेखे गण्डस्थले यस्य तत् । मुखं निधायारोप्य । अमधुमदे मधुमदरहिते तथापि अलसे लोचने यस्मिन्कर्मणि तद्यथा तथा तं नृपसुतं निदध्यौ पश्यति स्म । 'निर्वर्णनं तु निध्यानं दर्शनालोकनेक्षणम्' इत्यमरः ॥ ४६ ॥

हिन्दी—एक दूसरी अप्सरा काम के संताप से मृणाल तन्तु के वलय से विभूषित हथेलियों पर अपने चंदनादि चर्चित पीले कपोलों वाले मुख को रखकर मदिरा के मद से रहित होने पर भी आलस्य युक्त नेत्रों से अर्जुन को देख रही थी ॥ ४६ ॥

{नीचे के पाँच श्लोकों में अर्जुन के लिए एक दूती ने सन्देश दिया है—}

अथ पञ्चभिर्मुनिं प्रति दूतीवाक्यमाह—

सखि ! दयितमिहानयेति सा मां प्रहितवती कुसुमेषुणाभितप्ता ।
हृदयमहृदया न नाम पूर्वं भवदुपकण्ठमुपागतं विवेद ॥ ४७ ॥

अन्वयः—कुसुमेषुणा अभितप्ता सा हे सखि ! दयितम् इहानयेति मां प्रहित-वती अहृदया पूर्वं भवत् उपकण्ठम् उपागतं हृदयं न विवेद नाम ॥ ४७ ॥

सखीति ॥ कुसुमेषुणा कामेनाभितप्ता पीडिता सा नायिका । हे सखि ! दयितं मुनिम् । इहानयेति मां प्रहितवती भवदन्तिकं प्रेषितवती । किं त्वविमृश्यकारिणीय-मित्याह — हृदयमिति । अहृदयाऽमनस्का । तस्यास्त्वद्गतत्वादिति भावः । अत एव सा पूर्वं प्रागेव भवदुपकण्ठं त्वत्समीपम् । उपागतं हृदयं मनो न विवेद । नाम संभाव-नायाम् । अतो मत्प्रेषणं व्यर्थं तस्यान्तरङ्गत्वाद्बहिरङ्गस्य दुर्बलत्वादिति भावः । एतेन मनःसङ्ग उक्तः । चक्षुःप्रीतिस्तु प्रागेव सर्वासामुक्तेति न पृथगुच्यते ॥ ४७ ॥

हिन्दी—कामदेव से पीड़ित उस सुन्दरी ने कहा—'हे सखी ! मेरे प्रियतम को यहाँ मेरे पास ले आओ'—ऐसा कह कर मुझे आपकी सेवा में भेजा है । उसने अपना हृदय तो पहले ही आप के समीप भेज दिया है, अतः वह हृदयविहीना है, अमनस्का है, वह यह भी नहीं जानती कि उसका हृदय भी उसके पास नहीं रह गया है ॥ ४७ ॥

'दृङ्मनःसङ्गसंकल्पा जागरः कृशता रतिः । ह्रीत्यागोन्मादमूर्च्छान्ता इत्यनङ्गदशा दश ॥' इति । तत्राद्यमवस्थाद्वयमभ्यधायि । संप्रति काश्चित् क्रमनैरपेक्ष्येण सूचयति—

चिरमपि कलितान्यपारयन्त्या परिगदितुं परिशुष्यता मुखेन ।
गतघृण! गमितानि सत्सखीनां नयनयुगैः सममार्द्रतां मनांसि ॥ ४८ ॥

अन्वयः—चिरं कलितान्यपि परिशुष्यता मुखेन परिगदितुम् अपारयन्त्या हे गतघृण ! सत्सखीनां मनांसि नयनयुगैः समम् आर्द्रतां गमितानि ॥ ४८ ॥

चिरमिति ॥ चिरं कलितान्यपि संदेशार्थं बुद्ध्या योजितान्यपि । वचनानीति शेषः । परिशुष्यता मुखेनेति जागरोक्तिः । परिगदितुमपारयन्त्याऽशक्नुवत्या तया । हे गतघृण! अद्यापि तां नानुकम्पस इति भावः । सत्सखीनां मनांसि नयनयुगैः सममार्द्रतां गमितानि । उपचयं गमितानीत्यर्थः । शोकबाष्पैरिति भावः । अत्र सखीशोकोक्त्या मूर्च्छावस्था सूच्यते । अत्र शोकबाष्परूपकारणभेदात् प्रतियोगिभेदाच्चार्द्रत्वभेदेऽप्य-भेदाध्यवसायः । तन्मूला चेयं नयनयुगैः सममिति सहोक्तिरलङ्कारः ॥ ४८ ॥

हिन्दी—मेरी सखी ने बहुत देर से आप से कहने के लिए बहुत-सी बातें सोच रखी थीं, किन्तु (मनःसन्ताप से) मुख के सूख जाने के कारण कहने में वह असमर्थ हो गई । हे निर्दय! मेरी उस सुन्दरी सखी का मन भी दोनों नेत्रों के साथ ही गीला हो गया है ॥ ४८ ॥

विमर्श—अर्थात् शोक के भार से चित्त भी भारी हो गया है । यहाँ सहोक्ति अलङ्कार है ।

अचकमत सपल्लवां धरित्रीं मृदुसुरभिं विरहय्य पुष्पशय्याम् ।
भृशमरतिमवाप्य तत्र चास्यास्तव सुखशीतमुपैतुमङ्कमिच्छा ॥ ४९ ॥

अन्वयः—मृदुसुरभिं पुष्पशय्यां विरहय्य सपल्लवां धरित्रीम् अचकमत अस्याः तत्र भृशम् अरतिम् अवाप्य सुखशीतं तव अङ्कम् उपैतुमिच्छा ॥ ४९ ॥

अचकमतेति ॥ किं वाच्यं चेत्याह — सा स्त्री मृद्वी सुरभिश्च या तां मृदुसुरभिं पुष्पशय्यां विरहय्य विहाय सपल्लवां धरित्रीम् । अचकमत ऐच्छत् । तस्यास्ततोऽपि शीतलत्वादिति भावः । कमेर्णिङन्ताल्लुङः। 'णिश्रिद्रुस्रुभ्यः कर्तरि चङ्' इति द्विर्भाव इति केचित् । तन्न । अचीकमतेति प्रसङ्गात् । अतो णिङभावपक्षे 'कमेश्च्लेश्चङ्वक्तव्यः' इति वक्तव्याच्चङि रूपमेतत् । अस्या नायिकायाः । तत्र धरित्र्यामपि भृशमरतिं दुःखम् । अवाप्य । सुखयतीति सुखः शीतः शीतलश्च तं सुखशीतं तवाङ्कमुत्सङ्गम् । उपैतुमिच्छा । वर्तत इति शेषः । अस्याश्चौत्सुक्यं कथितम् । अत्रारतिजागरौ सुव्यक्तावित्यस्या नायिकायाः क्रमेण पुष्पशय्याद्यनेकाधारसम्बन्धकथनात् प्रथमः पर्यायालङ्कारः । तदुक्तम् —'क्रमेणैकमनेकस्मिन्नाधारे वर्तते यदि । एकस्मिन्नथवानेकं पर्यायालङ्कृति-र्द्विधा ॥' इति लक्षणात् ॥ ४९ ॥

हिन्दी—उस सुन्दरी ने कोमल एवं सुगन्धि से भरी पुष्पों की शैय्या छोड़कर नूतन पल्लवों से बिछाई गई धरती पर सोने की इच्छा की थी । किन्तु धरती पर भी अत्यन्त दाहकता का अनुभव करके वह अब तुम्हारे सहज सुखदायी एवं शीतल अङ्कों में सोना चाहती है ।। ४९ ।।

विमर्श—पुष्पों की शैय्या और धरती पर पल्लव बिछाकर सोने का कारण यह था कि पल्लव और धरती दोनों ही शीतल होते हैं । यहाँ पर्याय अलङ्कार है ।

तदनघ! तनुरस्तु सा सकामा व्रजति पुरा हि परासुतां त्वदर्थे ।
पुनरपि सुलभं तपोऽनुरागी युवतिजनः खलु नाप्यतेऽनुरूपः ।। ५० ।।

अन्वयः—तत् हे अनघ ! तनुः सा सकामा अस्तु । हि त्वदर्थे परासुतां पुरा व्रजति । पुनरपि तपः सुलभम् अनुरागी अनुरूपः युवतिजनः नाप्यते खलु ।। ५० ।।

तदिति ।। तत् तस्मात्कारणात् तस्या दुरवस्थत्वाद्धेतोः । हे अनघ निष्पाप! तनुः कृशेति कार्श्यावस्थाकथनम् । सा नायिका सकामा सफलमनोरथा अस्तु । हि यस्मात्, त्वमेवार्थः प्रयोजनं वस्तु वा तस्मिन् त्वदर्थे निमित्ते, सतीति शेषः । त्वामुद्दिश्येत्यर्थः । परासुतां निष्प्राणत्वं पुरा व्रजति व्रजिष्यति । मरिष्यतीत्यर्थः । तथा च तेऽनिमित्तहत्ययानघत्वव्याघातः स्यादिति भावः । 'यावत्पुरानिपातयोर्लट्' इति भविष्यदर्थे लट् । इदं च दशमावस्थाप्रदर्शनम् । न च तपोनिष्ठत्वाद्भेतव्यमित्याह — पुनरिति । पुनरपि पश्चादपि । 'पुनरप्रथमे भेदे' इति विश्वः । तपः सुलभम् । अनुरागी अनुरूपो योग्यश्च युवतिजनस्तु नाप्यते न लभ्यते खलु ।। ५० ।।

हिन्दी—इसलिए हे निष्पाप ! उस दुर्बल अङ्गों वाली मेरी सखी की कामनाएँ पूरी करो क्योंकि वह तुम्हारे ही लिए अपने प्राणों को छोड़ने जा रही है । तपस्या तो फिर भी तुम्हें सुलभ हो सकती है किन्तु तुम्हारे अनुरूप वैसी युवती सुन्दरी निश्चय ही नहीं मिलेगी ।। ५० ।।

{इस प्रकार से लुभाये जाने पर भी जब तपस्वी अर्जुन का मौन भङ्ग नहीं हुआ, तब वह बोली—}

एवं प्रलोभितस्यापि मुनेर्मौनं न भग्नमित्याह—

जहिहि कठिनतां प्रयच्छ वाचं ननु करुणामृदु मानसं मुनीनाम् ।
उपगतमवधीरयन्त्यभव्याः स निपुणमेत्य कयाचिदेवमूचे ।। ५१ ।।

अन्वयः—कठिनतां जहिहि । वाचं प्रयच्छ । मुनीनां मानसं करुणामृदु ननु । अभव्याः उपगतम् अवधीरयन्ति । एवं सः कयाचिद् एत्य निपुणं ऊचे ।। ५१ ।।

जहिहीति ।। कठिनतां निःस्पृहतां जहिहि । त्यजेत्यर्थः । जहातेः 'आ च हौ' इतीकारः । वाचं प्रयच्छ । संधत्स्वेत्यर्थः । मुनीनां मानसं मनः करुणामृदु ननु दयार्द्रं खलु । 'स्वान्तं हृन्मानसं मनः' इत्यमरः । किंच, अभव्या निर्भाग्या उपगतं प्राप्तम् ।

विषयमिति शेषः । अवधीरयन्ति अवमन्यन्ते । एवमुक्तप्रकारेण सोऽर्जुनः कयाचिदेत्य समीपमागत्य निपुणं चतुरं यथा स्यात्तथा ऊच उक्तः । नायिकया दूतीं प्रति वचनमुक्तम्, तया दूत्या च मुनिं प्रति कथितमित्यर्थः । अत्र पञ्चश्लोक्यां विप्रलम्भशृङ्गारस्यौत्सुक्यनाम्नो व्यभिचारिभावस्य चापुनरुक्तिः। अनौचित्येन नायिकायाः प्रवृत्तेराभासत्वमनुसंधेयम् । तदुक्तम् —'एकत्र चेन्नानुरागस्तिर्यङ्म्लेच्छगतोऽपि वा । योषितां बहुसक्तिश्चेद्रसाभासस्त्रिधा मतः ।।' इति । तन्निबन्धनादूर्जस्वलमलङ्कारः । तथा च सूत्रम्—'रसभेदतदाभासतत्प्रकाशानां निबन्धने रसवत्प्रायमूर्जस्वलम्' इति । {समाहितातिरसबन्धे रसवदलङ्कारः । भावनिबन्धेन प्रेयोऽलङ्कारः । रसभावनिबन्धे तूर्जस्वलालङ्कारः । तत्प्रशमनिबन्धे समाहितालङ्कार इति सूत्रार्थः} ।। ५१ ।।

हिन्दी—कठोरता छोड़ दीजिए । कुछ उत्तर तो दीजिए । तपस्वी मुनियों का चित्त तो करुणा से भरा रहता है । जो लोग भाग्यहीन होते हैं वह प्राप्त वस्तु की अवहेलना करते हैं—इस प्रकार की बातें उस चतुर दूती ने समीप आकर बड़ी निपुणता से अर्जुन से कहीं ।। ५१ ।।

सललितचलितत्रिकाभिरामा शिरसिजसंयमनाकुलैकपाणिः ।
सुरपतितनये परा निरासे मनसिजजैत्रशरं विलोचनार्धम् ।। ५२ ।।

अन्वयः—सललितचलितत्रिकाभिरामा शिरसिजसंयमनाकुलैकपाणिः अपरा, सुरपतितनये मनसिजजैत्रशरं विलोचनार्धं निरासे ।। ५२ ।।

सललितेति ।। सललितं सविलासं यथा तथा चलितेन विवर्तितेन त्रिकेण कटिभागेन । 'पृष्ठवंशाधरे त्रिकम्' इत्यमरः । अभिरामा । शिरसि जाताः शिरसिजाः। 'सप्तम्यां जनेर्डः' । 'अमूर्धमस्तकात्स्वाङ्गादकामे' इत्यलुक् । 'उपपदमतिङ्' इति समासः । एतेन मनसिजो व्याख्यातः । तेषां संयमने बन्धन आकुलो व्यग्र एकः पाणिर्यस्याः सा । परा स्त्री सुरपतितनयेऽर्जुने । जेतैव जैत्रः । 'जेतृ'शब्दात्तृजन्तात् प्रज्ञादिभ्यश्च' इत्यण्प्रत्ययः । मनसिजस्य जैत्रः शरस्तं तथाभूतम् । विलोचनस्यार्धमेकदेशम् । कटाक्षमित्यर्थः । निरासे विससर्ज ।। ५२ ।।

हिन्दी—विलासपूर्वक अपने कटि-भाग को हिलाती हुई एवं एक हाथ से बालों को बाँधने की लीला करती हुई एक दूसरी अप्सरा ने देवराज इन्द्र के पुत्र अर्जुन पर कामदेव के विजयी बाण अपने कटाक्षों को चलाया ।। ५२ ।।

कुसुमितमवलम्ब्य चूतमुच्चैस्तनुरिभकुम्भपृथुस्तनानताङ्गी ।
तदभिमुखमनङ्गचापयष्टिर्विसृतगुणेव समुन्ननाम काचित् ।। ५३ ।।

अन्वयः—इभकुम्भपृथुस्तनानताङ्गी काचिद् तनुः कुसुमितम् उच्चैः चूतम् अवलम्ब्य विसृतगुणः अनङ्गचापयष्टिः इव तदभिमुखं समुन्ननाम ।। ५६ ।।

कुसुमितमिति ।। इभकुम्भवत् पृथुभ्यां स्तनाभ्यामानतमङ्गं यस्याः सा । 'अङ्गगात्रकण्ठेभ्यश्च' इति ङीष् । काचित् तनुस्तन्वी । 'वीतो गुणवचनात्' इति

विकल्पान्न ङीष् । कुसुमितमुच्चैरुन्नतं चूतमवलम्ब्य । अत एव चूतलतायोगाद्विसृतो विस्तृतो गुणो ज्या यस्याः सा । 'विसृतं विस्तृतं ततम्' इति, 'मौर्वी ज्या शिञ्जिनी गुणः' इति चामरः । अनङ्गचापयष्टिरिव । आकृष्टमुक्तेति भावः । तदभिमुखं समुन्ननाम समुज्जजृम्भे । अङ्गभङ्गं चकारेत्यर्थः ।। ५३ ।।

हिन्दी—हाथी के गण्डस्थल के समान विशाल स्तनों के भार से झुकी हुई एक कृशांगिनी अप्सरा कुसुमित रसाल की शाखा का सहारा लेकर प्रत्यञ्चा चढ़ाए हुए कामदेव के धनुष की भाँति अर्जुन के सम्मुख जँभाई लेने लगी ।। ५३ ।।

विमर्श—अर्थात् उसने स्पष्ट रूप से अर्जुन के प्रति अपनी काम-व्यथा प्रकट की ।

सरभसमवलम्ब्य नीलमन्या विगलितनीवि विलोलमन्तरीयम्।
अभिपतितुमनाः ससाध्वसेव च्युतरशनागुणसंदितावतस्थे ।। ५४ ।।

अन्वयः—अन्या विगलितनीवि विलोलं नीलम् अन्तरीयम् अवलम्ब्य सरभसम् अभिपतितुमनाः ससाध्वसेव च्युतरशनागुणसन्दिता अवतस्थे ।। ५४ ।।

सरभसमिति ।। अन्याऽपरा विगलितनीवि श्लथबन्धनमत एव विलोलं स्थानचलितम्। नील्या रक्तं नीलम्। 'नील्या अन्वक्तव्यः' इत्यन्प्रत्ययः। अन्तरीयं परिधानम्। अवलम्ब्य हस्तेन गृहीत्वा । सरभसं सत्वरम् । अभिपतितुं मनो यस्याः सा तथोक्ता । अपगन्तुमुद्युक्तेत्यर्थः । तथापि ससाध्वसेव । नतु वस्तुतः ससाध्वसा, किन्तु च्युतेन गलितेन रशनागुणेन संदिता सतो । अवतस्थे स्थिता । 'बद्धे संदानितं मूतमुदितं संदितं सितम्' इत्यमरः । कर्मणि क्तः । 'द्यतिस्यतिमास्थाम्—' इतीकारः ।। ५४ ।।

हिन्दी—एक दूसरी अप्सरा नीवी बन्धन के शिथिलित हो जाने के कारण अपने स्थान से गिरते हुये नीले अन्तरीय वस्त्र (साया) को पकड़ कर शीघ्र ही भागना चाहती थी कि लज्जित सी होकर गिरती हुई करधनी में अटक गई और जहाँ की तहाँ रुकी रह गई ।। ५४ ।।

{एक नायिका अर्जुन को फटकार रही है, निम्न दो श्लोकों में उसी का वर्णन है—}

काञ्चिद्युग्मेनाह—

यदि मनसि शमः किमङ्ग! चापं शठ! विषयास्तव वल्लभा न मुक्तिः।
भवतु दिशति नान्यकामिनीभ्यस्तव हृदये हृदयेश्वरावकाशम् ।। ५५।।

अन्वयः—तव मनसि शमः यदि अङ्गचापं किम्। हे शठ! तव विषयाः वल्लभाः न मुक्तिः । भवतु हृदये हृदयेश्वरा तव अन्यकामिनीभ्यः अवकाशं न दिशति ।

यदीत्यादि ।। तव मनसि शमः शान्तिर्यदि । अस्तीति शेषः । अङ्ग भोः! चापं

किम् । किमर्थमित्यर्थः । किं तु हे शठ हे वञ्चक ! तव विषयाः शब्दादयो वल्लभाः प्रियाः । न तु मुक्तिः । तदेव द्रढयितुमाह—भवतु । को दोष इति शेषः । यद्यहं रागी तर्हि किमिति भवतीर्न गणयामीति शङ्कां निवारयति — दिशतीति । तव हृदये मनसि हृदयेश्वरा काचित्तव प्रेयसी । अन्यकामिनीभ्यः स्त्र्यन्तरेभ्योऽवकाशं न दिशति न प्रयच्छति । स्त्र्यन्तरासक्त्या नास्मान्गणयसि न तु वैराग्यात् । तदर्थमेवायं ते सकलः प्रयासोऽपीत्यर्थः ।। ५५ ।।

हिन्दी—हे तपस्वी ! तुम्हारे चित्त में यदि (सचमुच) शान्ति है तो यह धनुष किस लिए धारण किये हुए हो । किन्तु हे शठ ! (मैं तो ऐसा समझती हूँ कि) तुम विषयाभिलाषी हो, मुक्ति के अभिलाषी नहीं हो । तुम्हारे हृदय में तो तुम्हारी कोई प्राणेश्वरी छिपी हुई है जो दूसरी कामिनी को वहाँ स्थान नहीं देना चाहती ।। ५५ ।।

विमर्श—अर्थात् तुम किसी दूसरी सुन्दरी पर आसक्त हो, इसी से हम लोगों की अवहेलना कर रहे हो । यह तुम्हारा वैराग्य नहीं है, दम्भ है ।

इति विषमितचक्षुषाभिधाय स्फुरदधरोष्ठमसूयया कयाचित् ।
अगणितगुरुमानलज्जयासौ स्वयमुरसि श्रवणोत्पलेन जघ्ने ।। ५६ ।।

अन्वयः—इति असूयया स्फुरत् अधरोष्ठम् अभिधाय विषमितचक्षुषा अगणित-गुरुमानलज्जया कयाचित् असौ उरसि स्वयं श्रवणोत्पलेन जघ्ने ।। ५६ ।।

इतीति ।। इतीत्थम् । असूयया मत्सरेण स्फुरन्नधरोष्ठो यस्मिन्कर्मणि तद्यथा तथाभिधायोक्त्वा विषमितचक्षुषा कुटिलीकृतदृष्ट्याऽगणिता गुरव आचार्यादयो मानोऽभिमानो लज्जा च यया तया । कयाचित् । असौ मुनिः । उरसि स्वयं स्वहस्तेनैव श्रवणोत्पलेन जघ्ने हतः ।। ५६ ।।

हिन्दी—इस प्रकार ईर्ष्या के साथ फड़कते हुए ओठों से उक्त बातें कहकर तिरछी नजरों से अर्जुन को देखते हुए गुरुजनों की लज्जा एवं अपनी मान-मर्यादा की कोई चिन्ता न कर उस सुन्दरी ने अर्जुन के वक्षस्थल पर स्वयं अपने हाथों से कानों पर रखे हुए कमल द्वारा प्रहार किया ।। ५६ ।।

सविनयमपराभिसृत्य साचि स्मितसुभगैकलसत्कपोललक्ष्मीः ।
श्रवणनियमितेन तं निदध्यौ सकलमिवासकलेन लोचनेन ।। ५७ ।।

अन्वयः—अपरा सविनयं साचि अभिसृत्य स्मितसुभगैकलसत्कपोललक्ष्मीः श्रवणनियमितेन असकलेन लोचनेन तं सकलमिव निदध्यौ ।। ५७ ।।

सविनयमिति ।। अपरा सविनयमनौद्धत्येन । साचि तिर्यक् । अभिसृत्य समीपं गत्वा स्मितेन मन्दहासेन सुभगा एकस्य लसतः कपोलस्य लक्ष्म्यो यस्याः सेति बहुवचनपदोत्तरो बहुव्रीहिः । अन्यथा कप्प्रत्ययः स्यादित्युक्तं प्राक् । श्रवण-नियमितेन कर्णान्तप्रापितेन श्रोत्ररुद्धप्रसरेण । तावदायतेनेत्यर्थः । असकलेनासंपूर्णेन,

कटाक्षेणेति यावत् । लोचनेन तं मुनिं धनञ्जयं सकलमिव समग्रप्रायं यथा तथा निदध्यौ पश्यति स्म । कटाक्षेणैव गाढमद्राक्षीदित्यर्थः । एषु श्लोकेषु भावाभासनिबन्धादूर्जस्वलालङ्कारः । औत्सुक्यमत्र भावः । आभासत्वं चास्य विरक्तमुनावनौचित्यादित्युक्तं प्रागेवेति ॥ ५७ ॥

हिन्दी—एक दूसरी अप्सरा विनम्रतापूर्वक तिरछी गति अर्थात् हावभाव पूर्ण चाल से अर्जुन के समीप पहुँची । अपनी मनोहर मुस्कान से कपोल शोभा को बढ़ाती हुई वह कानों तक लम्बे अपने कटाक्षों से मानों अर्जुन को सम्पूर्ण रूप से पी सा गयी ॥ ५७ ॥

विमर्श—यहाँ ऊर्जस्वल अलङ्कार है ।

अथ तासां मुनिविलोभनमुपसंहरति—

करुणमभिहितं त्रपा निरस्ता तदभिमुखं च विमुक्तमश्रु ताभिः।
प्रकुपितमभिसारणेऽनुनेतुं प्रियमियती ह्यबलाजनस्य भूमिः ॥ ५८ ॥

अन्वयः—ताभिः तत् अभिमुखम् करुणम् अभिहितम् । त्रपा निरस्ता । अश्रु विमुक्तम् । हि अबलाजनस्य अभिसारणे प्रकुपितं प्रियम् अनुनेतुम् इयती ॥ ५८ ॥

करुणमिति ॥ ताभिः स्त्रीभिः । तदभिमुखं मुनिसमक्षं करुणं दीनमभिहितमुक्तम् । त्रपा निरस्ता लज्जा त्यक्ता । किंबहुना, अश्रु च विमुक्तम् । ततः परं न किंचिद्विधेयमासीदिति भावः । कुतः । हि यस्मात्, अबलाजनस्याभिसारणे समागमविषये प्रकुपितमनुकूलं प्रियमनुनेतुमनुकूलयितुम् । इयती भूमिरित्येतावती सीमा । साधनानां परमावधिरिति भावः । अर्थान्तरन्यासोऽलङ्कार ॥ ५८ ॥

हिन्दी—इस प्रकार उन अप्सराओं ने अर्जुन के सम्मुख अनेक दीनताभरी बातें कहीं । लज्जा का परित्याग किया और आँसू तक बहाया । स्त्रियाँ समागम के लिए रूठे हुए अपने प्रियतम को मनाने में यही सब उपाय ही तो करती हैं ॥ ५८ ॥

विमर्श—यहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ।

अथासामनुरागदार्ढ्यं निगमयति—

असकलनयनेक्षितानि लज्जा गतमलसं परिपाण्डुता विषादः ।
इति विविधमियाय तासु भूषां प्रभवति मण्डयितुं वधूरनङ्गः ॥ ५९ ॥

अन्वयः—असकलनयनेक्षितानि लज्जा अलसं गतं परिपाण्डुता विषादः इति विविधं तासु भूषाम् इयाय । हि अनङ्गः वधूः मण्डयितुं प्रभवति ॥ ५९ ॥

असकलेति ॥ असकलनयनेक्षितानि नयनार्धविलोकितानि लज्जाऽलसं गतं मन्दगमनं परिपाण्डुता पाण्डुरवर्णत्वं विषाद इष्टानवाप्तिनिमित्तश्चेतोभङ्गः । इति एवं प्रकारं विविधं नानाविचेष्टितम् । 'नपुंसकमनपुंसक—' इत्यादिना नपुंसकैकशेषत्वम् ।

तासु भूषामियायेति भाव प्राधान्येन योज्यम् । तथा हि—अनङ्गो मदनो वधूर्मण्डयितुं प्रभवति । सर्वविस्थास्विति शेषः । अतस्तासामनङ्गभूषितानामखिलं भूषणमेवेति भावः ।। ५९ ।।

हिन्दी—आधे नेत्रों से देखना अर्थात् कटाक्षपात, लज्जा, अलसाई हुई चाल, विरह से पीली पड़ जाना, और विषाद—ये सभी प्रकार के विकार उन अप्सराओं की शोभा बढ़ाने लगे । सच है, कामदेव सभी अवस्थाओं में रमणियों को सुन्दर ही बना देता है ।। ५९ ।।

विमर्श—यहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है । इस प्रकार अप्सराएँ अर्जुन को मोहित करने में निष्फल हो गयीं । निम्न तीन श्लोकों में इसी का वर्णन कवि ने किया है ।

इदानीं तासां त्रिभिर्मुनिविलोभने प्रयासवैफल्यमाह—

अलसपदमनोरमं प्रकृत्या जितकलहंसवधूगति प्रयातम् ।
स्थितमुरुजघनस्थलातिभारादुदितपरिश्रमजिह्मितेक्षणं वा ।। ६० ।।

भृशकुसुमशरेषुपातमोहादनवसितार्थपदाकुलोऽभिलापः ।
अधिकविततलोचनं वधूनामयुगपदुन्नमितभ्रु वीक्षितं च ।। ६१ ।।

रुचिकरमपि नार्थवद् बभूव स्तिमितसमाधिशुचौ पृथातनूजे।
ज्वलयति महतां मनांस्यमर्षे न हि लभतेऽवसरं सुखाभिलाषः।। ६२।।

अन्वयः—प्रकृत्या अलसपदमनोरमं जितकलहंसवधूगति प्रयातम् उरुजघन-स्थलातिभारात् उदितपरिश्रमजिह्मितेक्षणं स्थितं वा । भृशकुसुमशरेषुपातमोहात् अनव-सितार्थपदाकुलः अभिलापः वधूनां अधिकविततलोचनम् अयुगपत् उन्नमितभ्रु वीक्षितं च। रुचिकरम् अपि स्तिमितसमाधिशुचौ पृथातनूजे अर्थवत् न बभूव । हि महतां मनांसि अमर्षे ज्वलयति सति सुखाभिलाषः अवसरं न लभते ।। ६०-६२ ।।

अलसेति ।। बधूनां सम्बन्धि प्रकृत्यालसैः पदैर्मनोरमं मनोज्ञमत एव जिता कलहंसवधूनां गतिर्येन तत् । प्रयातं गमनम् । भावे क्तः । तथा उरुणोऽतिविपुलस्य जघनस्थलस्यातिभारादतिगौरवात् । उदितपरिश्रमेणोद्गतश्रमेण जिह्मिते घूर्णिते ईक्षणे यस्मिन्, स्थितं वा स्थितिश्च । सर्वत्र 'वा' शब्दः समुच्चये ।। ६० ।।

भृशेति।। तथा भृशेन गाढेन कुसुमशरस्य कामस्य इषोर्निपातेन यो मोहो मूर्च्छा तस्माद्धेतोः, अनवसितार्थैरस्फुटोच्चारणादनवधारिताभिधेयैः पदैः सुप्तिङन्तादिभिः क्षुभितशब्दैराकुलः सङ्कीर्णोऽभिलापो वाक्यप्रयोगश्च । अधिकं वितते विस्तृते लोचने यस्मिंस्तदयुगपत् पर्यायेण । उन्नमिते भ्रुवौ यस्मिस्तत्तथोक्तम् । 'ह्रस्वो नपुंसके प्राति-पदिकस्य' इति ह्रस्वः । वीक्षितं वीक्षणं च ।। ६१ ।।

रुचिकरमिति ।। पूर्वोक्तं रुचिकरं स्पृहाजनकमपि । 'रुचिः कान्त्यर्चिषोर्भासि स्त्रियां शोभास्पृहार्थयोः' इति वैजयन्ती । स्तिमितेन स्थिरेण समाधिना तपोयोगेन शुचौ शुद्धे । निर्विकारचेतसीत्यर्थः । पृथातनूजेऽर्जुनेविषये । अर्थवत् सप्रयोजनं न बभूव । तथा हि—महतां धीराणां मनांस्यमर्षे क्रोधे ज्वलयति सति सुखाभिलाषोऽवसरमवकाशं न लभते । रौद्रस्य शृङ्गारविरोधित्वादिति भावः । अत्र विशेषकेऽर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः ।। ६२ ।।

हिन्दी—सहज अलसाए हुए चरणों से हंसिनियों की गति को तिरस्कृत करने वाली उनकी मनोहर चाल, अत्यन्त विस्तृत जघनस्थलों के भार से थके हुए नेत्रों से उनका तिरछा देखना, किसी प्रकार उनका खड़ा होना, कामदेव के तीक्ष्ण बाणों के प्रहार से उत्पन्न मूर्च्छावस्था में प्रयुक्त होने के कारण (सुबन्त, तिङन्त आदि वाक्यों के अव्यक्त होने के कारण) अस्पष्ट उनका वार्तालाप, आश्चर्य अथवा भय से बहु विस्तृत नेत्र, बारी बारी से भौंहें ऊपर उठा उठाकर उनका देखना, आदि उन देवाङ्गनाओं की चेष्टाएँ यद्यपि बहुत मनोरम थीं, तथापि स्थिर समाधि में निरत एवं निर्विकार चित्त होने के कारण पवित्र अर्जुन (के हृदय) में उनका कोई परिणाम नहीं हुआ अर्थात् वे सब निरर्थक ही सिद्ध हुए । सच है, महान् पुरुषों के मन में जब तक अमर्ष की अग्नि धधकती रहती है तब तक सुख की अभिलाषा को अवसर नहीं मिलता ।। ६०-६२ ।।

विमर्श—रौद्र रस शृङ्गार का विरोधी होता है । जब तक मनस्वी के मन में प्रतिशोध की भावना जागती रहेगी तब तक वह विषयसुखों की ओर आकृष्ट नहीं होगा । यहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ।

स्वयं संराध्यैवं शतमखमखण्डेन तपसा
परोच्छित्या लभ्यामभिलषति लक्ष्मीं हरिसुते ।
मनोभिः सोद्वेगैः प्रणयविहतिध्वस्तरुचयः
सगन्धर्वा धाम त्रिदशवनिताः स्वं प्रतिययुः ।। ६३ ।।

।। इति भारविकृतौ महाकाव्ये किरातार्जुनीये दशमः सर्गः ।।१० ।।



अन्वयः—एवं हरिसुते स्वयम् अखण्डेन तपसा शतमखं संराध्य परोच्छित्या लभ्यां लक्ष्मीम् अभिलषति सोद्वेगैः मनोभिः प्रणयविहतिध्वस्तरुचयः सगंधर्वाः त्रिदशवनिताः स्वं धाम प्रतिययुः ।। ६३ ।।

स्वयमिति ।। एवं हरिसुतेऽर्जुने स्वयमखण्डेनाविलुप्तेन तपसा शतमखमिन्द्रं संराध्य प्रीणयित्वा परोच्छित्त्या शत्रुवधेन लभ्यां साध्यां लक्ष्मीं राज्यलक्ष्मीम् । अभि-

लषति सति सोद्वेगैः कार्यसिद्ध्यभावात्सनिर्वेदैर्मनोभिरुपलक्षिताः । किंच, प्रणयविहत्या प्रार्थनाभङ्गेन ध्वस्तरुचयो नष्टकान्तयः सगन्धर्वा गन्धर्वसहितास्त्रिदशवनिताः स्वं धाम स्वस्थानं प्रतिययुः । शिखरिणीवृत्तमेतत् — 'रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसभला गः शिखरिणी' इति लक्षणात् ॥ ६३ ॥

॥ इति श्रीमहामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितायां किरातार्जुनीयकाव्य व्याख्यायां घण्टापथसमाख्यायां दशमः सर्गः समाप्तः ॥१० ॥



हिन्दी—इस प्रकार अर्जुन को अपनी अखण्ड तपस्या द्वारा शतक्रतु इन्द्र की आराधना कर शत्रु का विनाश करने के बाद प्राप्त होने वाली विजयश्री की अभिलाषा में निरत देख, प्रेम-प्रार्थना के भङ्ग होने से उदास वे देवाङ्गनाएँ उद्वेगपूर्ण चित्त होकर गन्धर्वों के साथ अपने निवासस्थल को वापस लौट गयीं ॥ ६३ ॥

विमर्श—यहाँ शिखरिणी छन्द है ।

॥ इस प्रकार श्रीभारविकृत किरातार्जुनीयम् महाकाव्य के दसवें सर्ग की डॉ सुधाकर मालवीय कृत हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ १० ॥



एकादशः सर्गः

अथामर्षान्निसर्गाच्च जितेन्द्रियतया तया ।
आजगामाश्रमं जिष्णोः प्रतीतः पाकशासनः ।।१ ।।

अन्वयः—अथ पाकशासनः तया अमर्षात् निसर्गात् च जितेन्द्रियतया प्रतीतः जिष्णोः आश्रमम् आजगाम ।। १ ।।

अथेति ।। अथ अप्सरसां प्रतिप्रयाणानन्तरम् । पाको नाम कश्चिद्राक्षसस्तस्य शासन इन्द्रः । नन्द्यादित्वाल्ल्युप्रत्ययः । तयाऽप्सरोमुखाच्छ्रुतया अमर्षाद्द्विषद्द्वेषान्निसर्गाच्च या जितेन्द्रियता तयाऽऽगन्तुकानागन्तुकोभयविधहेतुकया प्रतीतो हृष्टः सन् । 'ख्याते हृष्टे प्रतीतः' इत्यमरः । जिष्णोरर्जुनस्य । 'जिष्णुः शक्रे धनञ्जये' इत्यमरः । आश्रममाजगाम । अत्रामर्षनिसर्गयोर्जितेन्द्रियताहेतुकं काव्यलिङ्गं स्फुटमवगम्यते ।।१ ।।

हिन्दी—तदनन्तर पाकशासन इन्द्र उन अप्सराओं द्वारा कही गयी अर्जुन की शत्रु के द्वेष से पूर्ण एवं स्वभावसिद्ध जितेन्द्रियता की बातें सुनकर परम प्रसन्न हुए और अर्जुन के आश्रम में पहुँचे ।। १ ।।

विमर्श—यहाँ काव्यलिङ्ग अलङ्कार है ।

मुनिरूपोऽनुरूपेण सूनुना ददृशे पुरः ।
द्राघीयसा वयोतीतः परिक्लान्तः किलाध्वना ।। २ ।।

अन्वयः—मुनिरूपः अनुरूपेण सूनुना पुरः ददृशे । वयोतीतः द्राघीयसा अध्वना परिक्लान्तः किल ।। २ ।।

मुनिरूप इति ।। मुने रूपमिव रूपं यस्य स मुनिरूपः । मुनिवेषधारीत्यर्थः । इन्द्रोऽनुरूपेण दर्शनप्रदानयोग्येनेत्यर्थः । सूनुना पुत्रेणार्जुनेन पुरोऽग्रे ददृशे दृष्टः । कथंभूतः । वयो यौवनादिकमतीतो वृद्धः । 'द्वितीया श्रित—' इत्यादिना द्वितीया समासः । द्राघीयसाऽतिदीर्घेण । 'प्रियस्थिर—' इत्यादिना 'दीर्घ'शब्दस्य द्राघादेशः । अध्वना । अध्वगमनेत्यर्थः । परिक्लान्तः परिश्रान्तः । किलेत्यलीके । 'किल संभाव्य वार्तयोः । हेत्वरुच्योरलीके च' इति हेमचन्द्रः । वृद्ध एव दूराध्वश्रान्त इव स्थित इत्यर्थः । 'इव' इति पाठे स्पष्टार्थः ।। २ ।।

हिन्दी—मुनिरूपधारी इन्द्र को उनके अनुरूप अर्थात् दर्शन पाने योग्य पुत्र अर्जुन ने अपने सामने देखा । वह वृद्धवेश में लम्बे पथ के पथिक की भाँति मानों बहुत थके हुए से थे ।। २ ।।

अथ चतुर्भिरिन्द्रं विशिनष्टि—

जटानां कीर्णया केशैः संहत्या परितः सितैः ।
पृक्तयेन्दुकरैरह्नः पर्यन्त इव संध्यया ।। ३ ।।

अन्वयः—परितः सितैः केशैः कीर्णया जटानां संहत्या इन्दुकरैः पृक्तया सन्ध्यया अह्नः पर्यन्तः इव ।। ३ ।।

जटानामिति ।। परितः सितैः केशैः कीर्णया व्याप्तया जटानां संहत्या समूहेनोपलक्षितः । अत एव, इन्दुकरैः पृक्तया युक्तया संध्ययोपलक्षितोऽह्नः पर्यन्तो दिनान्त इव स्थितः । तस्याप्युपपरिणतरूपत्वाद् वृद्धोपमानत्वम् । जटानां संहत्येत्युक्तत्वात् संध्यासाम्यम् ।। ३ ।।

हिन्दी—चारों ओर से सफेद वालों से व्याप्त जटाजूट से सुशोभित इन्द्र चन्द्रमा की किरणों से युक्त सन्ध्या से व्याप्त दिन के अवसान की भाँति दिखाई पड़ रहे थे ।। ३ ।।

विमर्श—यहाँ उपमा अलङ्कार है ।

विशदभ्रूयुगच्छन्नवलितापाङ्गलोचनः ।
प्रालेयावततिम्लानपलाशाब्ज इव ह्रदः ।। ४ ।।

अन्वयः—विशदभ्रूयुगछन्नवलितापाङ्गलोचनः प्रालेयावततिम्लानपलाशाब्जः ह्रदः इव (स्थितः) ।। ४ ।।

विशदेति ।। पुनश्च, विशदेन पलितपाण्डुरेण भ्रूयुगेन छन्ने वलितापाङ्गे वलिमत्प्रान्ते लोचने यस्य स तथोक्तः 'अपाङ्गौ नेत्रयोरन्तौ' इत्यमरः । पामादित्वाल्लोमादिसूत्रेण वलच्प्रत्ययः । प्रालेयावतत्या हिमसंहत्या म्लानपलाशानि क्लान्तदलानि अब्जानि यस्मिन्स ह्रद इव स्थितः ।। ४ ।।

हिन्दी—वृद्धता के कारण सफेद भौहों से युक्त झुर्रीदार नेत्रों से वह तुषार की ढेर से मुर्झाए हुए मानों कमल दल से व्याप्त सरोवर की भाँति दिखाई पड़ रहे थे ।। ४ ।।

विमर्श—यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ।

आसक्तभरनीकाशैरङ्गैः परिकृशैरपि ।
आद्यूनः सद्गृहिण्येव प्रायो यष्ट्यावलम्बितः ।। ५ ।।

अन्वयः—परिकृशैः अपि आसक्तभरनीकाशैः अङ्गैः आद्यूनः सद्गृहिण्या इव प्रायः यष्ट्या अवलम्बितः ।। ५ ।।

आसक्तेति ।। पुनश्च, परिकृशैः परिक्षीणैरपि, आसक्तभरनीकाशैर्भाराक्रान्तसदृशैः । सभारवद्गुरूभवद्भिरित्यर्थः । 'इकः काशे' इति दीर्घः । अङ्गैरुपलक्षितः । कार्श्याल्लघून्यपि स्वाङ्गानि स्वयं वोढुमसमर्थ इत्यर्थः । अत एव आद्यून औदरिकः । 'आद्यूनः स्यादौदरिको विजिगीषाविवर्जिते' इत्यमरः । आङ्पूर्वाद्दीव्यतेः क्तः । 'च्छ्वोः शूडनुनासिके च' इत्यूठादेशः । 'दिवोऽविजिगीषायाम्' इति निष्ठानत्वम् । सद्गृहिण्याऽनुकूलकलत्रेण इव प्रायः प्राचुर्येण यष्ट्याऽवलम्बनदण्डेन । अवलम्बितो धारितः । न तु स्वशक्त्येति भावः ।। ५ ।।

हिन्दी—अत्यन्त दुबले-पतले होने पर भी मानों भारी बोझ से दबे हुए के समान अङ्गों से वह पत्नी के सहारे उठने-बैठने वाले पेट निकले हुए व्यक्ति की तरह एक लाठी का सहारा लिए हुये थे ।। ५ ।।

विमर्श—उपमा और उत्प्रेक्षा का सङ्कर ।

गूढोऽपि वपुषा राजन् धाम्ना लोकाभिभाविना ।
अंशुमानिव तन्वभ्रपटलच्छन्नविग्रहः ।। ६ ।।

अन्वयः—वपुषा गूढः अपि तन्वभ्रपटलच्छन्नविग्रहः अंशुमान् इव लोकाभिभाविना धाम्ना राजन् ।। ६ ।।

गूढ इति ।। वपुषा गूढोऽपि । प्रच्छन्नरूपोऽपीत्यर्थः । प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानात्तृतीया । तन्वभ्रपटलच्छन्नविग्रहः स्तोकाभ्रवृन्दान्तरितमूर्तिः । अंशुमानिव लोकाभिभाविना लोकव्यापिना धाम्ना तेजसा । 'धाम रश्मौ गृहे देहे स्थाने जन्मप्रभावयोः' इति हेमचन्द्रः । राजन् दीप्यमानो ददृश इति पूर्वेण सम्बन्धः ।। ६ ।।

हिन्दी—प्रच्छन्न रूप धारण करने पर भी हल्के बादलों की रेखा से छिपे हुए सूर्यमण्डल की भाँति, सम्पूर्ण लोक को व्याप्त करने वाले तेज से वह दीप्त हो रहे थे ।। ६ ।।

विमर्श—यहाँ उपमा अलङ्कार है ।

जरतीमपि बिभ्राणस्तनुमप्राकृताकृतिः ।
चकाराक्रान्तलक्ष्मीकःससाध्वसमिवाश्रमम् ।। ७ ।।

अन्वयः—जरतीम् तनुम् बिभ्राणः अपि अप्राकृताकृतिः आक्रान्तलक्ष्मीकः आश्रमम् ससाध्वसम् इव चकार ।। ७ ।।

जरतीमिति ।। जरतीं जीर्णाम् । 'जीनो जीर्णो जरन्नपि' इत्यमरः । जीर्यतेरतीतार्थे शतृप्रत्ययः । 'उगितश्च' इति ङीप् । तनुं शरीरं बिभ्राणोऽपि दधदपि । अप्राकृताऽलोकसामान्या आकृतिर्मूर्तिर्यस्य स इन्द्र आक्रान्ताऽभिभूता लक्ष्मीराश्रम-

शोभा येन स आक्रान्तलक्ष्मीकः । अत्र 'उरःप्रभृतिभ्यः कप्' इति नित्यकबाश्रयणम् । एकवचनोत्तरपदस्यैव 'लक्ष्मी' शब्दस्योरः प्रभृतिषु पाठात् । 'शेषाद्विभाषा' इति विकल्पाश्रयणे तु बहुवचनोत्तरपद इति विवेकः । आश्रमं ससाध्वसमिव चकार । तेजस्विदर्शनाद्भयं भवति । तत्तु न दुःखजनकं तस्यामानुषत्वादिति सूचयितुम् 'इव' शब्दः ॥ ७ ॥

हिन्दी—वृद्ध शरीर को धारण करने पर भी अपनी अलौकिक मूर्ति से आश्रम की शोभा को फीकी बनाते हुए इन्द्र ने अर्जुन के उस आश्रम को भयभीत-सा बना दिया ॥ ७ ॥

विमर्श—वस्तुतः तेजस्वी व्यक्ति के दर्शन से ऐसा भय होता ही है ।

अभितस्तं पृथासूनुः स्नेहेन परितस्तरे ।
अविज्ञातेऽपि बन्धौ हि बलात्प्रह्लादते मनः ॥ ८ ॥

अन्वयः—पृथासूनुः तम् अभितः स्नेहेन परितस्तरे । अविज्ञाते अपि बन्धौ बलात् मनः प्रह्लादते हि ॥ ८ ॥

अभित इति ॥ पृथासूनुरर्जुनः । तम् इन्द्रम् । अभितस्तं प्रति स्नेहेन परितस्तरे। तद्गोचरेण प्रेम्णा पर्यावृतः । स्तृणातेः कर्मणि लिट् । 'ऋतश्च संयोगादेर्गुणः' इति गुणः। नन्वज्ञातसम्बन्धविशेषस्य तस्येन्द्रे कथं स्नेहोदय इत्यत आह—अविज्ञात इति । बन्धौ सुहृदि । अविज्ञातेऽपि बन्धुरयमित्यज्ञातेऽपि बलाद्बान्धवसत्तावशादेव मनः प्रह्लादते हि स्निह्यतीत्यर्थः ॥ ८ ॥

हिन्दी—अर्जुन इन्द्र को देखते ही अत्यन्त आदर और स्नेह से भर गये । बन्धु-बान्धवों में सम्बन्ध ज्ञान न होने पर भी दर्शन मात्र से ही (अपने आप) बलात् चित्त प्रसन्न हो जाता है ॥ ८ ॥

विमर्श—यहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ।

आतिथेयीमथासाद्य सुतादपचितिं हरिः ।
विश्रम्य विष्टरे नाम व्याजहारेति भारतीम् ॥ ९ ॥

अन्वयः—अथ सुतात् अतिथेयीं अपचितिम् आसाद्य विष्टरे विश्रम्य नाम हरिः इति भारतीम् व्यावहार ॥ ९ ॥

आतिथेयीमिति ॥ अथ हरिरिन्द्रः सुतादर्जुनात् । आतिथेयीम् आतिथिषु साध्वीम् । 'पथ्यतिथिवसतिस्वपतेर्ढञ्' । अपचितिं पूजाम् । आसाद्य प्राप्य । 'पूजा नमस्यापचितिः' इत्यमरः । विष्टर आसने । 'ऋदोरप्' इति स्तृणातेरप्प्रत्ययः । 'वृक्षासनयोर्विष्टरः' इति षत्वम् । विश्रम्य नाम विश्रम्य किल । श्रममपनीयेत्यर्थः । इति वक्ष्यमाणप्रकारां भारतीं व्याजहार उक्तवान् । 'व्याहार उक्तिर्लपितम्' इत्यमरः ॥ ९ ॥

हिन्दी—तदनन्तर अपने पुत्र अर्जुन के अतिथि सत्कार को प्राप्त कर (दिये गये) आसन पर थोड़ी देर तक विश्राम कर इन्द्र इस प्रकार बोले ।। ९ ।।

अथ प्रथमं तावन्मुनिवदेनं मुमुक्षुं कृत्वाह—

त्वया साधु समारम्भि नवे वयसि यत्तपः ।
ह्रियते विषयैः प्रायो वर्षीयानपि मादृशः ।।१० ।।

अन्वयः—त्वया साधु समारम्भि यत् नवे वयसि तपः मादृशः वर्षीयान् अपि प्रायः विषयैः ह्रियते ।। १० ।।

त्वयेति ।। त्वया साधु समारम्भि सम्यगुपक्रान्तम् । रभेः कर्मणि लुङ् । कुतः । यत् यस्मात् । नवे वयसि यौवने । तपः चर्यत इति शेषः । तथा हि— अहमिव दृश्यतेऽयसौ मादृशो वर्षीयानतिवृद्धोऽपि । 'प्रियस्थिर—' इत्यादिना 'वृद्ध' शब्दस्य वर्षादेशः । प्रायो विषयैर्ह्रियत आकृष्यते । किमु भवादृशो यवीयानिति भावः ।।१० ।।

हिन्दी—यह तुमने अच्छा कार्य आरम्भ किया है जो यौवन में ही तपस्या कर रहे हो, क्योंकि हमारी तरह बड़े-बूढ़े लोग भी प्रायः विषयों से आकृष्ट हो जाते हैं ।। १० ।।

विमर्श—अर्थात् जब हम लोगों के समान असमर्थ बूढ़े लोग भी विषयसुखेच्छा का त्याग नहीं कर सकते तो तुम्हारे समान युवक की तो बात ही क्या है ?

अथैवमनारम्भे तव स्वाकारलाभोऽपि विफलः स्यादित्याशयेनाह—

श्रेयसीं तव संप्राप्ता गुणसंपदमाकृतिः।
सुलभा रम्यता लोके दुर्लभं हि गुणार्जनम् ।।११ ।।

अन्वयः—तव आकृतिः श्रेयसीं गुणसम्पदम् सम्प्राप्ता लोके । रम्यता सुलभा हि गुणार्जनम् दुर्लभम् ।। ११ ।।

श्रेयसीमिति ।। तवाकृतिर्मूर्तिः । रम्येति शेषः । श्रेयसीं श्रेष्ठां गुणसंपदं तपःसमारम्भरूपां संप्राप्ता । अतो न निष्फलेति भावः । न च स्वाकारा गुणाढ्याश्च कियन्तो कियन्तो न सन्तीति वाच्यमित्याह —लोक इति । लोके रम्यता रम्याकारता सुलभा हि, गुणार्जनं गुणसंपादनं दुर्लभम्; त्वयि तूभयं संपद्यत इति हेम्नः परमामोद इति भावः ।।११ ।।

हिन्दी—तुम्हारा यह सुन्दर शरीर बड़ी उत्तम तपस्या-रूपी गुण-समृद्धियों से युक्त है, (अतः वह सफल है) क्योंकि संसार में सुन्दर आकृतियाँ तो बहुत देखी जाती हैं किन्तु उनमें गुण भी हों, यह दुर्लभ ही होता है ।। ११ ।।

विमर्श—तुम में दोनों वस्तुएँ हैं, यह तो सोने में सुगन्ध है । यहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ।

यदुक्तम्—त्वया साधु समारम्भि (श्लोक १०) इति, तदेव साधुत्वं संसारनिःसारताख्यापनाय युग्मेनोपपादयति—

शरदम्बुधरच्छायागत्वर्यो यौवनश्रियः ।
आपातरम्या विषयाः पर्यन्तपरितापिनः ॥१२ ॥

अन्वयः—यौवनश्रियः शरदम्बुधरच्छायागत्वर्यः विषयाः आपातरम्याः पर्यन्तपरितापिनः ॥ १२ ॥

शरदिति ॥ यौवनश्रियस्तावत् शरदम्बुधरच्छाया इव गत्वर्यश्चञ्चलाः । 'गत्वरश्च' इति क्वरबन्तो निपातः । 'टिड्ढाणञ—' इत्यादिना ङीप् । विषयाः शब्दादयस्तु आपातरम्यास्तत्कालरमणीयाः । 'तदात्वे पात आपातः' इति वैजयन्ती । पर्यन्तेऽवसाने परितापयन्ति दुःखं कुर्वन्तीति तथोक्ताः ॥१२ ॥

हिन्दी—यौवन-लक्ष्मी शरदऋतु के बादलों की छाया के समान चञ्चल होती है, विषय केवल तात्कालिक सुख देने वाले हैं, किन्तु अन्त में वे बड़ा दुःख देते हैं ॥ १२ ॥

अन्तकः पर्यवस्थाता जन्मिनः सन्ततापदः ।
इति त्याज्ये भवे भव्यो मुक्तावुत्तिष्ठते जनः ॥१३ ॥

अन्वयः—सन्ततापदः जन्मिनः अन्तकः पर्यवस्थाता इति त्याज्ये भवे भव्यः जनः मुक्तौ उत्तिष्ठते ॥ १३ ॥

अन्तक इति ॥ किंच, संतता अनवच्छिन्ना आपदः क्लेशा यस्य तस्य जन्मिनः प्राणिनः । 'प्राणी तु चेतनो जन्मी' इत्यमरः । व्रीह्यादित्वादिनिः । अन्तको मृत्युः पर्यवस्थाता प्रतिरोद्धा । प्रथमं तावज्जन्मिनो जन्मदुःखमेव दुस्तरम्, ततो जातस्य जीवनमपि सततं दुःखसंभिन्नतया विषयुक्तान्नप्रायम्, तदपि मृत्युग्रस्तमिति सोऽयम् 'काकमांसं शुनोच्छिष्टं {दुर्गन्धं क्रिमिसंकुलम् । म्लेच्छपक्वं सुरासिक्तम्} स्वल्पं तदपि दुर्लभम् ॥' इति न्यायादिति भावः । इति उक्तहेतोः । त्याज्ये भवे संसारे । भवतीति भव्यो योग्यो जनः । भवादृश इति शेषः । 'भव्यं सुखे शुभे चापि भेद्यवद्योग्यभाविनोः' इति विश्वः । 'भव्यगेय—' इत्यादिना कर्तरि निपातः । मुक्तौ मोक्ष उत्तिष्ठत उद्युक्तो भवति । 'उदोऽनूर्ध्वकर्मणि' इत्यात्मनेपदम् ॥१३ ॥

हिन्दी—इस संसार में जन्म लेने वालों को सर्वदा दुःख ही दुःख है और अन्त में मृत्यु तो अवश्यम्भाविनी है ऐसा सोचकर इस त्यागने योग्य संसार में (तुम्हारे समान) योग्य पुरुष जन्म लेकर मुक्ति के लिए प्रयत्न करते हैं ॥ १३ ॥

विमर्श—अर्थात् पहले तो अपार जन्मदुःख ही प्राणी को भोगना पड़ता है,

और किसी प्रकार जन्म हुआ तो सारा जीवन दु:खमय है, और फिर अन्त में मृत्यु का महान् दु:ख फिर उसे भोगना पड़ेगा ही ॥

संप्रति प्रशंसापूर्वकं स्वाभिसन्धिं दर्शयति–

चित्तवानसि कल्याणी यत्त्वां मतिरुपस्थिता ।
विरुद्ध: केवलं वेष: संदेहयति मे मन: ॥१४॥

अन्वय:—चित्तवान् असि, यत् त्वां कल्याणी मति: उपस्थिता केवलं विरुद्ध: वेष: मन: सन्देहयति ॥ १४ ॥

चित्तवानिति ॥ चित्तवान् प्रशस्तचित्तोऽसि । प्रशंसायां मतुप् । कुत: । यत् यत:, त्वां कल्याणी साध्वी । 'बह्वादिभ्यश्च' इति ङीष् । मतिरुपस्थिता सङ्गता । किन्तु केवलमेकं यथा तथा विरुद्धो वेषो मे मन: संदेहयति संशययुक्तं करोति । यद्वा, —वेष: केवलम् । वेष एवेत्यर्थ: । 'केवल: कृत्स्न एके च केवलं चावधारिते' इत्युभयत्रापि शाश्वत: ॥१४॥

हिन्दी—तुम प्रशस्त चित्त वाले हो, जो तुम्हें यह कल्याणकारिणी बुद्धि प्राप्त हुई है; किन्तु यह जो तपस्वी के विरुद्ध वेश तुम धारण किए हो, केवल वही मेरे मन में सन्देह पैदा कर रहा है ॥ १४ ॥

वेषविरोधमेवाह–

युयुत्सुनेव कवचं किमामुक्तमिदं त्वया ।
तपस्विनो हि वसते केवलाजिनवल्कले ॥१५॥

अन्वय:—युयुत्सुना इव त्वया किम् इदम् कवचम् आमुक्तम् हि तपस्विन: केवलाजिनवल्कले वसते ॥ १५ ॥

युयुत्सुनेति ॥ युयुत्सुनेव योद्धुमिच्छुनेव त्वया । युधे: सन्नन्तादुप्रत्यय: । किमिदं कवचं वर्म । आमुक्तमर्पितम् । तत्र को विरोध इत्यत्राह — हि यस्मात्, तपस्विन: केवले एके । कवचाद्यसहचरिते इति यावत् । ते च ते अजिनवल्कले च । 'निर्णीते केवलमिति त्रिलिङ्गं त्वेककृत्स्नयो: इत्यमर: । वसत आच्छादयन्ति । अतस्तपस्विनस्ते कवचधारणं विरुद्धमित्यर्थ: ॥१५॥

हिन्दी—विरुद्ध वेष अर्थात् लड़ाई के लिए तैयार योद्धा की तरह तुमने यह कवच किस लिए धारण कर रखा है, क्योंकि तपस्वी तो केवल मृगचर्म और वल्कल धारण करते हैं ॥ १५ ॥

प्रपित्सो: किं च ते मुक्तिं नि:स्पृहस्य कलेवरे ।
महेषुधी धनुर्भीमं भूतानामनभिद्रुह: ॥१६॥

अन्वय:—किञ्च मुक्तिं प्रपित्सो: कलेवरे नि:स्पृहस्य भूतानां अनभिद्रुह: ते महेषुधी भीमं धनु: च ॥ १६ ॥

प्रपित्सोरिति ।। किं च, मुक्तिं प्रपित्सोः प्राप्तुमिच्छोः । 'सनि मीमा—' इत्यादिनेसादेशः। 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य' इत्यभ्यासलोपः । अतो मुमुक्षुत्वादेव कलेवरे शरीरे गतस्पृहस्य निःस्पृहस्य । अतो नात्मरक्षार्थं धनुर्धारणं युक्तमित्यर्थः । नापि परहिंसार्थमित्याह —भूतानां जन्तूनाम् । 'क्ष्मादौ जन्तौ च भूतानि' इति वैजयन्ती । 'क्रुधद्रुहोरूपसृष्टयोः कर्म' इति कर्मसंज्ञायां 'कर्तृकर्मणोः कृति—' इति कर्तरि षष्ठी । अनभिद्रहोऽहिंसकस्य । 'सत्सूद्विष —' इत्यादिना क्विप् । ते तव महेषुधी महानिषङ्गौ भीमं त्रासजनकं धनुश्च । न समर्थयते शममित्युत्तरेणान्वयः । समर्थयत इति वचनविपरिणामः कार्यः ।।१६ ।।

हिन्दी—तुम तो मुक्ति के अभिलाषी हो, अपने शरीर के सम्बन्ध में भी निःस्पृह एवं जीवमात्र के लिए अहिंसक भावना धारण करने वाले हो । तब फिर यह दोनों महान् तरकस और यह भयङ्कर धनुष किस लिए धारण किए हो? ।। १६ ।।

विमर्श—अर्थात् इन तरकस एवं धनुष दोनों से तुम्हारी शान्ति-परायणता का प्रमाण नहीं मिलता ।

भयङ्करः प्राणभृतां मृत्योर्भुज इवापरः।
असिस्तव तपस्थस्य न समर्थयते शमम् ।।१७ ।।

अन्वयः—मृत्योः अपरः भुजः इव प्राणभृताम् भयङ्करः असिः तपस्थस्य तव शमं न समर्थयते ।। १७ ।।

भयङ्कर इति ।। तथा, मृत्योरपरो भुज इव प्राणभृतां प्राणिनां भयं करोतीति भयङ्करः । 'मेघर्तिभयेषु कृञः' इति खच्प्रत्ययः । 'अरुर्द्विष—' इत्यादिना मुमागमः । असिः खड्गः । तपसि तिष्ठतीति तपःस्थः । तपश्चरन्नित्यर्थः । 'सुपि स्थः' इति कप्रत्ययः । तस्य, तव शमं शान्तिं न समर्थयते न संभावयति । किं शान्तस्य शस्त्रेणेति भावः ।।१७ ।।

हिन्दी—मृत्यु की दूसरी भुजा के समान जीवधारियों के लिए भयङ्कर तुम्हारी यह तलवार तपस्या में तुम्हारे निरत होने का व शान्तिपरायण होने का समर्थन नहीं करती ।। १७ ।।

विमर्श—अर्थात् शान्तचित्त को भला तलवार से क्या प्रयोजन ?

नन्वशान्तस्य कि तपसेत्याशङ्क्य जयार्थमित्याह—

जयमत्रभवान्नूनमरातिष्वभिलाषुकः ।
क्रोधलक्ष्म क्षमावन्तः क्वायुधं क्व तपोधनाः ।।१८ ।।

अन्वयः—अत्र भवान् अरातिषु जयम् अभिलाषुकः नूनम् क्रोधलक्ष्म आयुधं क्व क्षमावन्तः तपोधनाः ।। १८ ।।

जयमिति ।। अत्रभवान् । पूज्य इत्यर्थ: । 'इतरेभ्योऽपि दृश्यन्ते' इति प्रथमार्थे प्राग्दिशीयस्त्रल्प्रत्यय: । सुप्सुपेति समास: । 'त्रिषु तत्रभवान् पूज्यस्तथैवात्रभवानपि' इति यादव: । अरातिषु शत्रुषु विषये जयमभिलाषुको जयमिच्छु: । 'लषपत–' इत्यादिनो कञ्प्रत्यय: । 'न लोक–' इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेध: । नूनमिति निश्चये । 'नूनं तर्केऽपि निश्चये' इत्यमर: । क्रोधस्य लक्ष्म कोपस्य लिङ्गम् । आयुधं क्व । क्षमावन्त: शान्ता: तपोधना: क्व । क्रोधशान्त्योर्विरोधात् तत्कार्ययो: शस्त्रतपसो-रप्येकत्रासङ्गतेश्च शस्त्रिणस्ते तपो जयार्थं न तु मोक्षार्थमिति निश्चय इत्यर्थ: ।। १८ ।।

हिन्दी—निश्चय ही ऐसा मुझे लग रहा है कि प्रशस्त गुणों से युक्त तुम अपने शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने के अभिलाषी हो । अन्यथा कहाँ क्रोध के सूचक शस्त्रास्त्र और कहाँ क्षमाशील तपस्वी लोग? ।। १८ ।।

विमर्श—क्रोध और शान्ति के परस्पर विरोधी होने से शस्त्रास्त्र और तपस्या एकत्र नहीं रह सकते । इसलिए मेरा अनुमान है कि तुम शस्त्र धारण करके जो तपस्या में लीन हो, वह केवल शत्रु पर विजय की अभिलाषा से हो, मुक्ति की इच्छा से नहीं ।

तपसो जयार्थत्वे दोषमाह—

> य: करोति वधोदर्का नि:श्रेयसकरी: क्रिया: ।
> ग्लानिदोषच्छिद: स्वच्छा: स मूढ: पङ्कयत्यप: ।। १९ ।।

अन्वय:—य: नि:श्रेयसकरी: क्रिया: वधोदर्का: करोति मूढ: स: ग्लानिदोष-च्छिद: स्वच्छा: अप: पङ्कयति ।। १९ ।।

य इति ।। य: पुमान् । निश्चितं श्रेयो नि:श्रेयसं मुक्ति: । 'अचतुर–' इत्यादिना समासान्तो निपात: । 'मुक्ति: कैवल्यनिर्वाणश्रेयोनि:श्रेयसामृतम्' इत्यमर: । नि:श्रेयसं कुर्वन्तीति नि:श्रेयसकरी: । नि:श्रेयसहेतूनित्यर्थ: । 'कृञो हेतुताच्छील्यानुलोम्येषु' इति हेत्वर्थे टप्रत्यय: । टित्वान्ङीप् । क्रियास्तपोदानादिकर्माणि वधोदर्का हिंसा-फलका: करोति । 'उदर्क: फलमुत्तरम्' इत्यमर: । अत एव मूढ: स पुमान् । ग्लानिरेव दोषस्तं छिन्दन्तीति ग्लानिदोषच्छिद: पिपासाहारिणी: । क्विप् । स्वच्छा निर्मला अप: पङ्कयति पङ्कवती: करोति । 'णाविष्ठवद्भावे विन्मतोर्लुक्' इति मतुपो लुक् । महा-फलसाधनस्य तपसस्तुच्छफलैर्विनियोग: स्वच्छाम्बुन: पङ्कसङ्करवत् प्रेक्षावद्भिर्गर्हित इत्यर्थ: । अत्र 'यत्तपसो वधोदर्कीकरणं तन्निर्मलस्य पयस: पङ्कसङ्करीकरणम्' इति वाक्यार्थे वाक्यार्थान्तरमारोप्य प्रतिबिम्बकरणाक्षेपादसंभवद्वस्तुसम्बन्धाद्वाक्यार्थवृत्ति-निदर्शनालङ्कार: ।। १९ ।।

हिन्दी—जो मनुष्य मुक्ति-फल को देने वाली तपस्या एवं दानादि क्रियाओं का अनुष्ठान परकीय हिंसा के लिए करता है, वह मूर्ख मार्ग की थकावट एवं पिपासा को दूर करने वाले निर्मल जल को कीचड़ से गन्दा करता है ।। १९ ।।

विमर्श—यहाँ निदर्शना अलङ्कार है ।

नन्वर्थकामयोरपि मोक्षवत्पुरुषार्थत्वात्तपसस्तदर्थत्वे को दोषस्तत्राह –

मूलं दोषस्य हिंसादेरर्थकामौ स्म मा पुषः।
तौ हि तत्त्वावबोधस्य दुरुच्छेदावुपप्लवौ ।। २० ।।

अन्वयः—हिंसादेः दोषस्य मूलम् अर्थकामौ मा स्म पुषः हि तौ तत्वावबोधस्य दुरुच्छेदौ उपप्लवौ ।।

मूलमिति ।। हिंसादेरेति तद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः । 'आदि'शब्दात् अनृतस्तेयादीनां संग्रहः । दोषस्य अवगुणस्य मूलं कारणभूतौ । 'स्त्रीकामा धनकामाश्च किं न कुर्वन्ति पातकम्' इति भावः । अर्थकामौ मा स्म पुषो नोपचिनुष्व । 'स्मोत्तरे लङ् च' इति लङ् । 'पुषादि–' इत्यादिना च्लेरङादेशः । हि यस्मात्, तौ अर्थकामौ तत्त्वावबोधस्य तत्त्वज्ञानस्य । मोक्षसाधनस्येति शेषः । दुरुच्छेदौ दुर्वारौ उपप्लवौ हिंसादिप्रवर्तकत्वादन्तकौ । अतः पुरुषार्थपरिपन्थिनावेतौ न पुरुषार्थावित्यर्थः ।। २० ।।

हिन्दी—हिंसा, चोरी, झूठ आदि अवगुणों के मूल कारण अर्थ और काम हैं अतएव इन दोनों को पुष्ट मत करो, क्योंकि ये दोनों तत्वज्ञान की प्राप्ति में बड़े ही दुर्निवार विघ्न हैं ।। २० ।।

विमर्श—अतएव पुरुषार्थ में बाधा पहुँचाने वाले इन दोनों पदार्थों को पुरुषार्थ (मोक्ष प्रयत्न) नहीं कह सकते ।

मुक्तिप्रतिबन्धकत्वादपुरुषार्थावर्थकामावित्युक्तम्, तत्रार्थस्य दुःखैकनिदानत्वादप्यपुरुषार्थत्वमिति पञ्चभिः प्रपञ्चयति–

अभिद्रोहेण भूतानामर्जयन् गत्वरीः श्रियः ।
उदन्वानिव सिन्धूनामापदामेति पात्रताम् ।। २१ ।।

अन्वयः—भूतानाम् अभिद्रोहेण गत्वरीः श्रियः अर्जयन् उदन्वान् सिन्धूनाम् इव आपदाम् पात्रताम् ।। २१ ।।

अभिद्रोहेणेत्यादि ।। भूतानामभिद्रोहेण हिंसया गत्वरीरस्थिराः श्रियः संपदोऽर्जयन् जनः । उदकमस्तीति उदन्वानुदधिः । 'उदन्वानुदधौ च' इति निपातनात्साधुः । सिन्धूनां नदीनामिव आपदां विपदां पात्रतां मूलत्वम् । एति ।। २१ ।।

हिन्दी—प्राणियों की हिंसा करके चञ्चला लक्ष्मी को एकत्र करने वाला मनुष्य ठीक उसी तरह से विपत्तियों का आश्रय बनता है जिस तरह समुद्र नदियों का आश्रय होते हैं ।। २१ ।।

विमर्श—यहाँ उपमा अलङ्कार है ।

आपत्पात्रतामेव व्यनक्ति—

या गम्या: सत्सहायानां यासु खेदो भयं यत: ।
तासां किं यन्न दु:खाय विपदामिव संपदाम् ।। २२ ।।

अन्वय:—या: सत्सहायानाम् गम्या: यासु खेद: यत: भवम्, विपदाम् इव तासाम् सम्पदाम् न किम् यत् दु:खाय ।। २२ ।।

या इति ।। या: संपद: सत्सहायानां विद्यमानसाधनानामेव पुंसां गम्या: प्राप्या: । विपदोऽपि सत्सहायानामेव गम्या: । निस्तीर्या इत्यर्थ: । 'कृत्यानां कर्तरि वा' इति षष्ठी । यासु सतीषु खेदो रक्षणादिक्लेश: । विपत्सु स्वत: एवेति विशेष: । यतो याभ्य: संपद्भ्यो भयम् । अनेकानर्थमूलत्वादिति भाव: । विपद्भ्यस्तु स्वरूपत एवेति भाव: । किं बहुना, विपदामिव तासां संपदां सम्बन्धि न किम् । अस्तीति शेष: । यद्दु:खाय न भवति । सर्वं दु:खावहमेवेति भाव: । यदाहु:—'अर्थानामर्जने दु:खमर्जितानां च रक्षणे । नाशे दु:खं व्यये दु:खं धिगर्थं दु:खभाजनम् ।।' इति । अतो हेया इति भाव: । अत्र 'यन्न दु:खाय' इत्युत्तरवाक्यस्य यच्छब्दसामर्थ्यात्तासां किमिति पूर्ववाक्ये तच्छब्दोपादानं नापेक्षते । तदेतत्काव्यप्रकाशे स्पष्टम् ।। २२ ।।

हिन्दी—जो सम्पत्ति साधन सम्पन्न व्यक्तियों के लिए ही सुलभ है, जिसके रहने पर उसकी रक्षा आदि का महान् कष्ट उठाना पड़ता है, जिसके कारण अनेक भय रहते हैं, विपत्तियों के समान उस सम्पत्ति की ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो दु:ख न देती हो ।। २२ ।।

विमर्श—विपत्तियाँ भी साधन-सम्पन्न व्यक्तियों के द्वारा ही दूर होती हैं, खेद और भय तो विपत्ति के फल ही हैं । यहाँ उपमा अलङ्कार है ।

दुरासदानरीनुग्रान् धृतेर्विश्वासजन्मन: ।
भोगान्भोगानिवाहेयानध्यास्यापन्न दुर्लभा ।। २३ ।।

अन्वय:—दुरासदान् विश्वासजन्मन: धृते: उग्रान् अरीन् भोगान् आहेयान् भोगान् इव अध्यास्य आपत् न दुर्लभा ।। २३ ।।

दुरासदानिति ।। किंच, दुरासदान् दुष्प्रापान् । विश्वासाज्जन्म यस्यास्तस्या: । जन्मोत्तरपदत्वाद्व्यधिकरणो बहुव्रीहि: । धृते: संतोषस्य । उग्रानरीन् । धनिकस्य सर्वत्रानाश्वाससंभवाद्विस्रम्भसुखभञ्जकानित्यर्थ: । भुज्यन्त इति भोगास्तान् भोगान् धनानि । आहेयान् अहिषु भवान् । 'दृतिकुक्षिकलशिवस्त्यस्त्यहेर्ढञ्' । भोगान् फणानिव । 'भोग: सुखे धने चाहे: शरीरफणयोरपि' इत्युभयत्रापि विश्व: । अध्यास्य अधिष्ठाय । आपत् विपत् । न दुर्लभा । आशीविषमुखमिव नेच्छन्तमेव भोगिनं पुमांसं बलादापदोऽनुसंदधतीत्यर्थ: ।। २३ ।।

हिन्दी—दुष्प्राप्य, विश्वास से उत्पन्न सन्तोष रूपी सुख के क्रूर शत्रु धन को,

सर्प के फणों के समान प्राप्त करके धनी के लिए कोई भी विपत्तियाँ दुर्लभ नहीं रह जातीं ।। २३ ।।

विमर्श—अर्थात् भोग-विलास परायण अथवा धनी पुरुष विपत्तियों से छुटकारा कभी नहीं पा सकते ।

इतोऽपि श्रियो हेया इत्याह —

> **नान्तरज्ञाः श्रियो जातु प्रियैरासां न भूयते ।**
> **आसक्तास्तास्वमी मूढा वामशीला हि जन्तवः ।। २४ ।।**

अन्वयः—श्रियः जातु अन्तरज्ञाः न आसां प्रियैः न भूयते । मूढाः अमी तासु आसक्ताः हि जन्तवः वामशीलाः ।। २४ ।।

नेति ।। श्रियः संपदो जातु कदाचित् । अन्तरज्ञा नीचानीचविशेषाभिज्ञा न भवन्ति । अत एव, आसां श्रियां प्रियैर्न भूयते । न ताः कुत्राप्यनुरज्यन्तीत्यर्थः । नन्वयं श्रीदोषो न पुरुषदोष इति चेत्तत्राह—मूढा अमी जनाः तासु अननुरक्तास्वपि श्रीषु आसक्ताः । स्त्रीष्विव श्रीष्वननुरक्तास्वनुरागः पुंसामेवायं दोष इत्यर्थः । किमर्थं तर्हि तास्वेव सर्वेषामासक्तिरित्यर्थान्तरं न्यस्यति — वामेति । जन्तवो वामशीला वक्रस्वभावा हि । स्वभावस्य दुर्वारत्वादिति भावः ।। २४ ।।

हिन्दी—लक्ष्मी कभी किसी प्रकार का भेदभाव नहीं करती । इसका कोई प्रिय नहीं है । वे मूर्ख मनुष्य हैं जो अनुरक्त न होने पर भी इसमें आसक्त होते हैं । सच है, लोग कुटिल स्वभाव के होते ही हैं ।

विमर्श—यहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ।

यदुक्तम्—'नान्तरज्ञाः श्रियः' (श्लो० २४) इति, तदेव भङ्ग्यन्तरेणाह —

> **कोऽपवादः स्तुतिपदे यदशीलेषु चञ्चलाः ।**
> **साधुवृत्तानपि क्षुद्रा विक्षिपन्त्येव संपदः ।। २५ ।।**

अन्वयः—सम्पदः अशीलेषु यत् चञ्चलाः स्तुतिपदे कः अपवादः । क्षुद्राः साधुवृत्तान् अपि विक्षिपन्ति एव ।। २५ ।।

क इति ।। यत् संपदोऽशीलेषु दुःशीलेषु विषये चञ्चला अस्थिराः । न तद्विरुद्धमुच्यते, यतः चञ्चला इति अतः स्तुतिपदे स्तुतिविषये तत्र कोऽपवादः का निन्दा । किन्तु क्षुद्राः संपदः साधुवृत्तानपि विक्षिपन्त्येव जहत्येव । तदेव तासां निन्दापदमित्यर्थः । तस्मादर्थो न पुरुषार्थ इति संदर्भार्थः ।। २५ ।।

हिन्दी—लक्ष्मी (सम्पत्तियाँ) दुःशील पुरुषों के सम्बन्ध में चञ्चल होती है, अतः यदि इसे चञ्चला कहा जाता है तो इसमें निन्दा की कोई बात नहीं है, यह तो उसकी स्तुति योग्यता ही है । किन्तु यह नीच स्वभाव वाली लक्ष्मी सदाचारी लोगों को भी छोड़ देती है — यही उसकी निन्दा का विषय है ।। २५ ।।

विमर्श—इसीलिए अर्थ अर्थात् धन-सम्पत्ति को पुरुषार्थ नहीं कह सकते ।

ननु नार्थमहमर्थये, किन्तु वीरधर्ममनुपालयन् वैरनिर्यातनमिच्छामीत्याशङ्क्य तदपि परपीडात्मकत्वादयुक्तमिति श्लोकचतुष्टयेनाचष्टे—

कृतवानन्यदेहेषु कर्ता च विधुरं मनः ।
अप्रियैरिव संयोगो विप्रयोगः प्रियैः सह ।। २६ ।।

अन्वयः—अप्रियैः संयोगः इव प्रियैः सह विप्रयोगः अन्यदेहेषु मनः विधुरम् कृतवान् कर्ता च ।। २६ ।।

कृतवानिति ।। तत्रात्मदृष्टान्तेनैव परपीडातो निवर्तितव्यमित्याशयेनाह — अप्रियैरनिष्टवस्तुभिः संयोग इव प्रियैरिष्टवस्तुभिः सह विप्रयोगो विरहोऽन्यदेहेषु स्वस्यैव देहान्तरेषु । अतीतानागतेष्विति शेषः । मनो विधुरं दुःखितं कृतवान् कर्ता करिष्यति च । भविष्ये लुट् । तद्वर्तमाने चानुभूयत इति शेषः । इष्टनाशो दुःखहेतुरिति सर्वत्रापि त्रैकालिकसिद्धमिति श्लोकार्थः ।। २६ ।।

हिन्दी—{यदि तुम यह कहो कि मैं अर्थ की कामना से नहीं वरन् वीरधर्म के पालन के लिए एवं अपने शत्रु के संहार के लिए यह तपस्या कर रहा हूँ तब भी परपीडन के कारण यह अनुचित ही है, क्योंकि}

अनिष्ट वस्तुओं के संयोग के समान इष्ट वस्तुओं का वियोग अतीत जन्म के शरीर में मन को दुःखित कर चुका है और भावी शरीर में भी करेगा, (और वर्तमान में तो करता ही है, जैसा कि तुम्हें भी अनुभव होगा।)

विमर्श—तात्पर्य यह है कि प्रिय का विनाश दुःख का कारण होता है ।

संप्रतीष्टसमागमस्य सुखहेतुत्वमाह—

शून्यमाकीर्णतामेति तुल्यं व्यसनमुत्सवैः ।
विप्रलम्भोऽपि लाभाय सति प्रियसमागमे ।। २७ ।।

अन्वयः—प्रियसमागमे सति शून्यम् अपि आकीर्णताम् एति व्यसनम् उत्सवैः तुल्यम् विप्रलम्भः लाभाय ।। २७ ।।

शून्यमिति ।। प्रियसमागम इष्टजनसंयोगे सति शून्यं रिक्तमपि आकीर्णतां संपूर्णताम्, एति । समृद्धमिव प्रतीयत इत्यर्थः । व्यसनं विपदपि उत्सवैस्तुल्यम् । 'व्यसनं विपदि भ्रंशे' इत्यमरः । विप्रलम्भो वञ्चना । प्रतारणमिति यावत् । सोऽपि लाभाय । किं बहुना, प्रियसङ्गस्य सर्वावस्थास्वपि सुखमेवेत्यर्थः ।। २७ ।।

हिन्दी—इष्ट जनों का समागम होने पर रिक्त घर-द्वार भी भरा-पूरा-सा मालूम पड़ता है, विपत्तियाँ भी उत्सव के समान मालूम पड़ने लगती हैं, और वंचना भी लाभदायक होती है ।। २७ ।।

विमर्श—बहुत अधिक क्या कहा जाय इष्ट जनों का समागम सभी अवस्थाओं में सुखदायक होता है ।

पुनः प्रकारान्तरेण विप्रयोगस्य दुःखहेतुत्वमाह—

तदा रम्याण्यरम्याणि प्रियाः शल्यं तदासवः ।
तदैकाकी सबन्धुः सन्निष्टेन रहितो यदा ॥ २८ ॥

अन्वयः—यदा इष्टेन रहितः तदा रम्याणि अरम्याणि प्रिया असवः शल्यम् तदा सबन्धुः सन् एकाकी ॥ २८ ॥

तदेति ॥ तदा रम्याण्यपि अरम्याणि अमनोहराणि भवन्ति । किं बहुना, प्रिय असवः प्राणा अपि शल्यम् । शल्यवदसह्या भवन्तीत्यर्थः । किंच, तदा सबन्धुः सन्नपि, एकाकी असहाय एव । 'एकादाकिनीच्चासहाये' इत्याकिनिच्प्रत्ययः । यदा इष्टेन रहितो भवति तदा सर्वमसह्यमिति ॥ २८ ॥

हिन्दी—किन्तु जब इष्ट जनों का वियोग हो जाता है, तब तो रमणीय वस्तुएँ भी कुरूप मालूम पड़ने लगती हैं, प्रिय प्राण भी कण्टक की तरह दुखाने वाले हो जाते हैं और तो क्या, बन्धु-बान्धवों से घिरे रहने पर भी मनुष्य अपने को अकेला अनुभव करने लगता है ॥ २८ ॥

युक्तः प्रमाद्यसि हितादपेतः परितप्यसे ।
यदि नेष्टात्मनः पीडा मा सञ्जि भवता जने ॥ २९ ॥

अन्वयः—युक्तः प्रमाद्यसि हितात् अपेतः परितप्यसे पीड़ा आत्मनः नेष्टा यदि भवता जने मा सञ्जि ॥ २९ ॥

युक्त इति ॥ किंच, युक्तः, हितेनेति शेषः । हितेनेष्टेन युक्तः सन् । प्रमाद्यसि प्रकर्षेण माद्यसि हृष्यसि । हितादपेतः परितप्यसे परितप्तो भवसि । तपेर्दैवादिकात्कर्तरिलट् । सत्यमेवं ततः किमत आह—यदीति । पीडा आत्मनः स्वस्य च नेष्टा यदि तर्हि भवता जने परस्मिन्नपि मा सञ्जि न सञ्ज्यताम् । सञ्जतेर्ण्यन्तात्कर्मणि लुङ् । आत्मदृष्टान्तेन परपीडातो निवर्तितव्यमित्यर्थः । पीडायाः परात्मनोः समत्वात् ॥ २९ ॥

हिन्दी—इस प्रकार अपने इष्ट पदार्थों से युक्त होकर यदि तुम प्रसन्नता से खिल उठते हो और उनसे वियुक्त होने पर शोक करने लगते हो और इस प्रकार अपने को पीड़ा पहुँचाना तुम्हें इष्ट नहीं है तब फिर उस पीड़ा द्वारा तुम्हें दूसरों को पीड़ित नहीं करना चाहिए ॥ २९ ॥

विमर्श—अर्थात् अपनी ही तरह दूसरों को भी पीड़ा नहीं पहुँचानी चाहिए, क्योंकि पीड़ा तो सब को समान दुःख देने वाली है ।

अथ देहास्थैर्यश्रद्धया च परपीडा न कार्येत्याह —

जन्मिनोऽस्य स्थितिं विद्वांल्लक्ष्मीमिव चलाचलाम्।
भवान्मा स्म वधीन्न्याय्यं न्यायाधारा हि साधव:॥ ३० ॥

अन्वय:—अस्य जन्मिन: स्थितिम् लक्ष्मीम् इव चलाचलाम् विद्वान् भवान् न्याय्यम् मास्म वधीत् । हि साधव: न्यायाधारा: ॥ ३० ॥

जन्मिन इति ॥ अस्य जन्मिन उत्पत्तिधर्मिकस्य शरीरिण: । व्रीह्यादित्वादिनि: । स्थितिं लक्ष्मीमिव चलाचलां चञ्चलां जन्मिधर्मत्वादेव चञ्चलाम् । अनित्यामित्यर्थ: । चलते: पचाद्यच् । 'चरिचलिपतिवदीनां वा द्वित्वमच्याक्चाभ्यासस्येति वक्तव्यम्' इति द्विर्भाव: । अभ्यासस्यागागमश्च । विद्वान् । जानन्नित्यर्थ: । 'विदे: शतुर्वसु:' इति वैकल्पिको वसुरादेश: । भवान् । न्यायादनपेतं न्याय्यम् । 'धर्मपथ्यर्थन्यायादनपेते' इति यत्प्रत्यय: । मा स्म वधीत् । मा नाशयेत्यर्थ: । 'स्मोत्तरे लुङ् च' इति लुङ् । 'लुङि च' इति हनो वधादेश: । 'शेषे प्रथम:' इति प्रथमपुरुष: । हि यस्मात्, साधवो न्यायाधारा न्यायावलम्बा: । बहुव्रीहिस्तत्पुरुषो वा । न्यायत्यागे साधुत्वमेव न स्यादिति भाव: । 'न्यायाचारा:' इति पाठे न्यायमाचरन्तीति तथोक्ता: । कर्मण्यण् ॥ ३० ॥

हिन्दी—{यह शरीर अनित्य है, इसलिए भी पर-पीड़ा नहीं देनी चाहिए क्योंकि—}

शरीरधारी इन प्राणियों की स्थिति भी लक्ष्मी के समान चञ्चला है, यह जानते हुए तुम न्याय की हत्या मत करो, क्योंकि सज्जन लोग तो न्याय का ही आश्रय लेते हैं ॥ ३० ॥

विमर्श—अर्थात् यदि सज्जन लोग ही न्याय की हत्या करने लगें तो उनमें सज्जनता रह ही नहीं जायगी ।

तर्हि किं मे कर्तव्यं तत्राह —

विजहीहि रणोत्साहं मा तप: साधु नीनश: ।
उच्छेदं जन्मन: कर्तुमेधि शान्तस्तपोधन! ॥ ३१ ॥

अन्वय:—हे तपोधन! रणोत्साहम् विजहीहि साधु तप: मा नीनश: जन्मन: उच्छेदम् कर्तुम् शान्त: एधि ॥ ३१ ॥

विजहीहीति ॥ हे तपोधन ! रणोत्साहं रणोद्योगम् । लोकोत्तरेषु कार्येषु स्थेयान्प्रयत्न उत्साहस्तं विजहीहि त्यज । 'आ च हौ' इतीकार: । साधु समीचीनम् । नि:श्रेयसकरत्वादिति भाव: । तपो मा नीनशो न नाशय । नश्यतेर्ण्यन्तान्माङ्योगादाशिषि लुङ् । अडागमनिषेधश्च । किन्तु जन्मन उच्छेदं कर्तुम् । मोक्षं साधयितुमित्यर्थ: । शान्त एधि । विजिगीषानिवृत्ता भवेत्यर्थ: । 'हुझल्भ्यो हेर्धि:' इति धि: । 'ध्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च' इत्येकार इति ॥ ३१ ॥

हिन्दी—{यदि यह कहो कि तब फिर मुझे क्या करना चाहिए तो मेरी बात सुनो—} हे तपोधन ! (मेरी सम्मति में) इस युद्धोद्योग को छोड़ दो, मुक्तिदायिनी अपनी तपस्या को खण्डित मत करो और जन्म-मरण के बन्धन से छुटकारा पाने के लिए शान्ति का आश्रय लो अर्थात् विजय की कामना त्याग दो ।। ३१ ।।

अथ सर्वथा मे विजयकण्डूतिर्न निवर्तत इत्याशङ्क्य तर्ह्यन्तःशत्रुविजयेन विधीयतां तदपनोद इत्याह —

जीयन्तां दुर्जया देहे रिपवश्चक्षुरादयः ।
जितेषु ननु लोकोऽयं तेषु कृत्स्नस्त्वया जितः ।। ३२ ।।

अन्वयः—दुर्जयाः चक्षुरादयः देहे रिपवः जीयन्ताम् । तेषु जितेषु त्वया अयं कृत्स्नः लोकः जितः ननु ।। ३२ ।।

जीयन्तामिति ।। दुर्जया अजय्याः । चक्षुरादयो देहे वर्तमाना रिपवो जीयन्ताम् । यस्मात् तेषु अन्तःशत्रुषु जितेषु सत्सु त्वयाऽयं कृत्स्नो लोको जितो ननु । किमुतान्ये शत्रवस्तदन्तर्गता इत्यर्थः । जितेन्द्रियस्येन्द्रियार्थनिःस्पृहस्य निर्भरवैरानुदयाद्विजयव्यपदेशः ।। ३२ ।।

हिन्दी—{यदि यह कहो कि विजय प्राप्त करने का व्यसन पड़ गया है, उसकी खुजली शान्त नहीं हो सकती तो अपने शरीर के भीतर बैठे हुए काम, क्रोध ादि शत्रुओं का नाश करके उन पर विजय प्राप्त करो —}

अत्यन्त कठिनता से वश में करने योग्य आँख आदि इन्द्रिय रूप अपने शरीर में ही विद्यमान शत्रुओं पर विजय प्राप्त करो । क्योंकि उन सब पर विजय प्राप्त कर लेने पर तुम निश्चय ही इस समस्त संसार के विजयी हो जाओगे ।। ३२ ।।

अजितेन्द्रियस्यानिष्टमाचष्टे—

परवानर्थसंसिद्धौ नीचवृत्तिरपत्रपः ।
अविधेयेन्द्रियः पुंसां गौरिवैति विधेयताम् ।। ३३ ।।

अन्वयः—अविधेयेन्द्रियः अर्थसंसिद्धौ परवान् नीचवृत्तिः अपत्रपः गौ इव पुंसाम् विधेयताम् एति ।। ३३ ।।

परवानिति ।। अर्थसंसिद्धौ अभ्यवहारादिस्वार्थसाधने परवान् पराधीनः । 'परतन्त्रः पराधीनः परवान्' इत्यमरः । नीचवृत्तिः कर्षणवहनादिनिकृष्टकर्मा । अपत्रपो निर्लज्जोऽविधेयेन्द्रियोऽजितेन्द्रियः पुमान् गौर्बलीवर्द इव पुंसां विधेयतां यथोक्तकारिताम् । प्रेष्यतामिति यावत् । 'विधेयो विनयग्राही वचने स्थित आश्रवः' इत्यमरः । एति प्राप्नोति । उपमालङ्कारोऽयम् — 'प्रकृताप्रकृतयोरर्थसाधर्म्यात् श्लेषे तु शब्दमात्रसाधर्म्यम्' इति ।। ३३ ।।

हिन्दी—जो मनुष्य इन्द्रियों का दास है वह स्वार्थ-साधन में पराधीन, नीच से भी नीच कर्म करने वाला, निर्लज्ज, बैल की तरह अन्य लोगों की आज्ञा का पालन करने वाला (चाकर के समान) होता है ॥ ३३ ॥

न कवेलं हिंसादिदोषमूलत्वाद्विषयाणां हेयत्वम्, किन्तु अपारमार्थिकत्वादपीत्याह—

श्वस्त्वया सुखसंवित्तिः स्मरणीयाधुनातनी ।
इति स्वप्नोपमान् मत्वा कामान् मा गास्तदङ्गताम् ॥ ३४ ॥

अन्वयः—अधुनातनी सुखसंवित्तिः श्वः त्वया स्मरणीया इति कामान् स्वप्नोपमान् मत्वा तदङ्गताम् मा गाः ॥ ३४ ॥

श्व इति ॥ अधुना भवा अधुनातनी इदानींतनी । 'सायंचिरं—' इत्यादिना ठ्युप्रत्ययः । सुखसंवित्तिः सुखानुभवः श्वः परेऽहनि त्वया स्मरणीया । न त्वनुभवनीया । इति हेतोः । काम्यन्त इति कामा विषयास्तान् । स्वप्नोपमान् स्वप्नतुल्यान् । मत्वाऽतात्त्विकान्निश्चित्य तदङ्गतां तच्छेषत्वं कामपरतन्त्रतां मा गा न गच्छ । 'इणो गा लुङि' इति गादेशः ॥ ३४ ॥

हिन्दी—तुम इस समय जिस सुख का अनुभव करते हो वही कल याद करने की वस्तु हो जायेगा । उसका अनुभव नहीं कर सकोगे - इसलिए इन विषय-सुखों को स्वप्न के समान मानकर उनके वश में मत हो ॥ ३४ ॥

अतो हेयाः कामा इत्याह —

श्रद्धेया विप्रलब्धारः प्रिया विप्रियकारिणः ।
सुदुस्त्याजास्त्यजन्तोऽपि कामाः कष्टा हि शत्रवः ॥ ३५ ॥

अन्वयः—श्रद्धेयाः विप्रलब्धारः प्रियाः विप्रियकारिणः त्यजन्तः अपि सुदुस्त्यजाः कामाः कष्टाः शत्रवः हि ॥ ३५ ॥

श्रद्धेया इति ॥ श्रद्धातुमर्हाः श्रद्धेया विश्वसनीयास्तथा विप्रलब्धारः प्रतारकाः । विश्वासघातका इत्यर्थः । तथा, प्रीणयन्तीति प्रियाः प्रीतिजनकाः । 'इगुपध—' इत्यादिना कप्रत्ययः । तथापि विप्रियकारिणो दुःखजननशीलाः । किंच, त्यजन्तोऽपि पुरुषं विहाय गच्छन्तोऽपि सुदुस्त्यजाः स्वयत्नेन त्यक्तुमशक्याः कामा विषयाः कष्टाः कुत्सिताः शत्रवो हि प्रसिद्धशत्रवः । वैधर्म्यादिति भावः । अत्र श्रद्धेयत्वादीनां विप्रलम्भकत्वादीनां चैकत्र विरोधो विषयस्वाभाव्येन समाधीयत इति विरोधाभासोऽलङ्कारः । तेन च कामानां प्रसिद्धशत्रुवैधर्म्यं व्यतिरेकेण व्यज्यत इत्यलङ्कारेणालङ्कारध्वनिः ॥ ३५ ॥

हिन्दी—{ये कामादि सुख इसलिए भी हेय हैं क्योंकि—} श्रद्धा अथवा विश्वास की दृष्टि से देखने पर भी ये विश्वासघातक अथवा वंचक होते हैं । प्रीतिपात्र होने पर भी दुःख देने वाले होते हैं । इन्द्रियों के शिथिलित होने पर ये

स्वयं तो छोड़ कर चले जाते ही हैं । किन्तु यदि मनुष्य इन्हें छोड़ना चाहे तो ये कभी नहीं छोड़ते । ये कामादि विषय बड़े कष्टदायी शत्रु हैं ॥ ३५ ॥

विमर्श—यहाँ विरोधाभास अलङ्कार है ।

तर्हि किं कर्तव्यमित्याशङ्क्योपसंहरन्नाह —

विविक्तेऽस्मिन्नगे भूयः प्लाविते जह्नुकन्यया ।
प्रत्यासीदति मुक्तिस्त्वां पुरा मा भूरुदायुधः ॥ ३६ ॥

अन्वयः—विविक्ते जह्नुकन्यया भूयः प्लाविते अस्मिन् नगे त्वां मुक्तिः पुरा प्रत्यासीदति उदायुधः मा भूः ॥ ३६ ॥

विविक्त इति ॥ विविक्ते विजने । 'विविक्तविजनच्छन्ननिःशलाकास्तथा रहः' इत्यमरः । जह्नुकन्यया गङ्गया भूयो भूयिष्ठं पुनःपुनर्वा । 'भूयः पुनःपुनः ख्यातं भूतार्थे पुनरव्ययम्' इति विश्वः । प्लाविते सिक्ते । 'पाविते' इति पाठे पवित्रीकृत इत्यर्थः । अस्मिन्नग इन्द्रकीले त्वां मुक्तिः पुरा निकटे प्रत्यासीदति । संनिकृष्टा भविष्यतीत्यर्थः । 'पुरा पुराणे निकटप्रबन्धातीतभाविषु' इति विश्वः । उदायुधो गृहीतशस्त्रो मा भूः । शस्त्रं विमुञ्चेत्यर्थः ॥ ३६ ॥

हिन्दी—{तब फिर क्या करना चाहिए - इस सम्बन्ध में हमारी राय यह है—} इस निर्जन एवं पुण्यसलिला जाह्नवी द्वारा बारम्बार सिञ्चित अथवा पवित्र किए गए इन्द्रकील पर्वत पर मुक्ति स्वयमेव तुम्हारे समीप में अत्यन्त शीघ्र ही आएगी, तुम शस्त्रधारी मत बनो अर्थात् इन शस्त्रास्त्रों का त्याग कर दो ॥ ३६ ॥

व्याहृत्य मरुतां पत्याविति वाचमवस्थिते ।
वचः प्रश्रयगम्भीरमथोवाच कपिध्वजः ॥ ३७ ॥

अन्वयः—मरुताम् पत्यौ इति वाचम् व्याहृत्य अवस्थिते अथ कपिध्वजः प्रश्रयगम्भीरम् वचः उवाच ॥ ३७ ॥

व्याहृत्येति ॥ मरुतां पत्यौ देवेन्द्रे, इति वाचं व्याहृत्य उक्त्वा, अवस्थिते सति तूष्णीं स्थिते सति । अथ कपिध्वजोऽर्जुनः प्रश्रयगम्भीरं विनयमधुरम् । 'विनयप्रश्रयौ समौ' इति यादवः । वच उवाच उक्तवान् ॥ ३७ ॥

हिन्दी—जब देवराज इन्द्र इस प्रकार की बातें कहकर चुप हो गए तब कपिध्वज अर्जुन विनय के साथ मधुर वाणी में बोले ॥ ३७ ॥

किमुवाचेत्यपेक्षायां चतुर्भिरिन्द्रवाक्यमुपश्लोकयन्नाह —

प्रसादरम्यमोजस्वि गरीयो लाघवान्वितम् ।
साकाङ्क्षमनुपस्कारं विष्वग्गति निराकुलम् ॥ ३८ ॥

न्यायनिर्णीतसारत्वान्निरपेक्षमिवागमे ।
अप्रकम्प्यतयान्येषामाम्नायवचनोपमम् ।। ३९ ।।

अलङ्घ्यत्वाज्जनैरन्यै: क्षुभितोदन्वदूर्जितम् ।
औदार्यादर्थसंपत्ते: शान्तं चित्तमृषेरिव ।। ४० ।।

इदमीदृग्गुणोपेतं लब्धावसरसाधनम् ।
व्याकुर्यात्क: प्रियं वाक्यं यो वक्ता नेदृगाशय: ।। ४१ ।।

अन्वय:—प्रसादरम्यम् ओजस्वि गरीय: लाघवान्वितम् साकांक्षम् अनुपस्कारम् विष्वग्गति निराकुलम् । न्यायनिर्णीतसारत्वात् आगमे निरपेक्षम् इव अन्येषां अप्रकम्प्यतया आम्नायवचनोपमम् । अन्यै: जनै: अलङ्घ्यत्वात् क्षुभितोदन्वदूर्जितम् औदार्य्यात् अर्थसम्पत्ते: ऋषे: चित्तम् इव शान्तम् । इदमीदृग्गुणोपेतम् लब्धावसरसाधनम् प्रियम् वाक्यम् क: वक्ता व्याकुर्य्यात् य: ईदृगाशय: न ।। ३८-४१ ।।

प्रसादेति ।। प्रसादोऽत्र प्रसिद्धार्थपदत्वं तेन रम्यम् । 'प्रसिद्धार्थपदत्वं यत्स प्रसादो निगद्यते' इति लक्षणात् । ओजस्वि समासभूयिष्ठम् । 'ओज: समासभूयस्त्वम्' इति शासनात् । गरीयोऽर्थभूयस्त्वपरिगतम् । न तु शब्दाडम्बरमात्रमित्यर्थ: । लाघवान्वितं विस्तरदोषरहितम् । साकाङ्क्षं आकाङ्क्षावत्पदकदम्बात्मकम् । न तु दशदाडिमादिवाक्यवदनाकाङ्क्षितमित्यर्थ:। अनुपस्कारं अध्याहारदोषरहितम्। विष्वग्गति कृत्स्नार्थप्रतिपादकम् । न तु सावशेषार्थमत एव निराकुलमसङ्कीर्णार्थम् ।।३८।।

न्यायेति ।। पुन:, न्यायेन युक्त्या निर्णीतसारत्वान्निश्चितार्थत्वाद्धेतो:, आगमे शास्त्रे विषये निरपेक्षं स्वतन्त्रमिव। युक्तिदार्ढ्यादेवं प्रतीयते। वस्तुतस्तु शास्त्रसिद्धार्थमिवेति 'इव' शब्दार्थ: । किंच, अन्येषां प्रतिवादिनाम् । अप्रकम्प्यतयाऽनुमानादिभिरबाध्यत्वादप्रत्याख्याततया आम्नायवचनोपमम् । वेदवाक्यतुल्यमित्यर्थ: ।। ३९ ।।

अलङ्घ्यत्वादिति ।। अन्यैर्जनैरलङ्घ्यत्वात् । अनुल्लङ्घनीयत्वात् । क्षुभितोदन्वदूर्जितउद्वेलाम्भोधिगम्भीरम् । औदार्यादुक्तिविशेषत्वात् । श्लाघ्यविशेषणत्वाद्वा । तदुक्तं दण्डिना —'उत्कर्षवान्गुण: कश्चिदुक्ते यस्मिन्प्रतीयते । तदुदाराह्वयं तेन सनाथा काव्यपद्धति: । श्लाघ्यैर्विशेषणैर्युक्तमुदारं कैश्चिदिष्यते ।।' इति 'अग्राम्यार्थत्वात्' इति केचित् । अन्यत्र, 'त्यागित्वादित्यर्थ: । अर्थसंपत्ते: प्रयोजनसंपत्ते: । अन्यत्र,— अणिमादिसमृद्धे: । ऋषेर्मुनेश्चित्तमिव शान्तं सौम्यम् ।।४० ।।

इदमिति ।। इदमीदृग्गुणोपेतं यथोक्तगुणयुक्तम् । इदमुपपदाद्दृशे: क्विप् । 'इदकिमोरीश्की' इतीशादेश: । लब्धे प्राप्तेऽवसरसाधने कालोपायौ येन तत् प्रियं प्रीतिकरं वाक्यं को वक्ता व्याकुर्यात् व्याहरेत् । यो वक्ता सोऽनीदृगाशय ईदृग्विवक्षावान् न भवति । अबुद्धिरित्यर्थ: । तस्यार्थस्य वक्तुमशक्यत्वादिति भाव: ।। ४१ ।।

हिन्दी—अत्यन्त सरल-सुगम भाषा में मनोहर ढङ्ग से कही गई,

समास-बहुलता से ओजस्वी, अर्थ गाम्भीर्य से युक्त, थोड़े वाक्यों में अधिक भाव भरी हुई, परस्पर साकांक्ष पदों से युक्त, अध्याहार से रहित, तात्पर्य से सम्बद्ध सम्पूर्ण अर्थों का बोध कराने वाली, संकुचित अर्थ से विहीन यह तुम्हारी बातें अनेक युक्तियों से युक्त होने के कारण निर्णीत अर्थों वाली हैं । इन्हें अन्यान्य शास्त्रों से प्रतिपादित करने की आवश्यकता नहीं है । प्रतिवादियों द्वारा भी ये तर्कों द्वारा अखण्डनीय होने के कारण वेद-वाक्यों के समान हैं । दूसरे लोग इनका उल्लङ्घन नहीं कर सकते । क्षुब्ध जलराशि वाले समुद्र के समान गम्भीर तुम्हारी ये बातें उत्कृष्ट गुणों से तथा मुक्ति रूप परमपुरुषार्थ से युक्त होने के कारण मुनियों के चित्त के समान शान्त हैं । इस प्रकार के उत्तम गुणों से युक्त, उपयुक्त अवसर और उपाय के अनुकूल, प्रिय लगने वाली बातों को कौन वक्ता प्रयोग में ला सकता है, जो तुम्हारे समान बुद्धिमान न हो ।। ३८-४१ ।।

एवमिन्द्रवाक्यमुपश्लोक्य नाहमस्योपदेशस्याधिकारीति परिहरति —

न ज्ञातं तात यत्नस्य पौर्वापर्यममुष्य ते ।
शासितुं येन मां धर्मं मुनिभिस्तुल्यमिच्छसि ।। ४२ ।।

अन्वयः—तात! अमुष्य यत्नस्य पौर्वापर्यम् ते न ज्ञातम् येन माम् मुनिभिः तुल्यम् धर्मम् शासितुम् इच्छसि ।। ४२ ।।

नेति ।। हे तात !अमुष्य यत्नस्य तपोरूपस्यास्य मदीययोगस्य पूर्वं चापरं च पूर्वापरे । त एव पौर्वापर्यं कारणं फलं च । चातुर्वर्ण्यादित्वात् स्वार्थे ष्यञ्प्रत्ययः । ते तव न ज्ञातम् । त्वया न ज्ञायत इत्यर्थः । 'मतिबुद्धि—' इत्यादिना वर्तमाने क्तः । तद्योगादेव षष्ठी । कुतः । येन कारणेन मां मुनिभिस्तुल्यं सदृशं धर्मं मोक्षधर्मं शासितुमुपदेष्टुम् । इच्छसि । शासिरयं दुहादित्वाद्विकर्मको ज्ञेयः ।। ४२ ।।

हिन्दी—{अर्जुन अपनी उपयुक्त बातों से इन्द्र के प्रति अपने पूज्य भावों को व्यक्त करते हुए यह भी सूचित करना चाहते हैं कि आपने जो कुछ भी कहा है, मैं उसे सम्पूर्णतया जानता हूँ किन्तु मैं उस उपदेश का अधिकारी नहीं हूँ । क्योंकि -}

हे तात! आप को मेरी इस प्रकार की तपस्या के विषय में आरम्भ से लेकर अन्त तक कुछ ज्ञात नहीं है, इसीलिए आप मुझे मुनियों के लिए उचित मोक्ष धर्म का उपदेश करना चाहते हैं ।। ४२ ।।

अथ पौर्वापर्यमज्ञात्वाप्युपदेशे दोषमाह—

अविज्ञातप्रबन्धस्य वचो वाचस्पतेरपि ।
व्रजत्यफलतामेव नयद्रुह इवेहितम् ।। ४३ ।।

अन्वयः—अविज्ञातप्रबन्धस्य वाचस्पते अपि वचः नयद्रुहः ईहितम् इव अफलताम् व्रजति एव ।। ४३ ।।

अविज्ञातेति ।। अविज्ञात: प्रबन्ध: पूर्वापरसङ्गतिर्येन तस्य वाचस्पतेर्बृहस्पतेरपि । कस्कादित्वात्स:। अथवा,—'षष्ठ्य: पतिपुत्रपृष्ठपारपदपयस्पोषेषु' इति सकार:। एतस्मादेव ज्ञापकादलुगिति केचित् । वच उपदेशो नयद्रुहो नीतिविरुद्धकारिण: पुरुषस्य । ईहितमुद्योग इव । अफलतां निष्फलत्वं व्रजत्येन गच्छत्येव ।। ४३ ।।

हिन्दी—पूर्वापर प्रसङ्ग को बिना जाने हुए बृहस्पति की भी बातें नीतिविरुद्ध किए गए उद्योग के समान निष्फल ही होती हैं ।। ४३ ।।

ननु सदुपदेशस्य कुतो वैफल्यमित्याशङ्क्य सोऽप्यस्थाने प्रयुक्तश्चेदूषरक्षेत्रे शालिबीजवद्विफल एवेत्याशयेनाह —

श्रेयसोऽप्यस्य ते तात वचसो नास्मि भाजनम् ।
नभस: स्फुटतारस्य रात्रेरिव विपर्यय: ।। ४४ ।।

अन्वय:—तात! श्रेयस: अपि अस्य ते वचस: रात्रे: विपर्यय: स्फुटतारस्य नभस: इव भाजनम् न अस्मि ।। ४४ ।।

श्रेयस ।। इति ।। हे तात ! 'पुत्रे पितरि पूज्ये च तातशब्दं प्रचक्षते' इति । श्रेयसोऽपि हितार्थयोगात्प्रशस्ततरस्यापि । अस्य ते तव वचसो हितोपदेशरूपस्य रात्रेर्विपर्ययो दिवस: स्फुटतारस्य व्यक्ततारकस्य नभस इव भाजनं पात्रं नास्मि । अनधिकारित्वादिति भाव: । अत्राह्नो नभोमात्रसम्बन्धसंभवेऽपि तारासम्बन्धासंभवात्तद्विशिष्टनभ:सम्बन्धविरोधाद्युक्तं तारकितस्य नभसो न पात्रमहरिति ।। ४४ ।।

हिन्दी—{यदि कहें कि सदुपदेश कभी विफल नहीं होता तो मेरा निवेदन है कि उपयुक्त अवसर के बिना दिया गया उपदेश भी ऊसर भूमि में की गई खेती की तरह निष्फल होता है, क्योंकि}

हे तात! आप की बातें कल्याणदायिनी हैं किन्तु फिर भी मैं उनका पात्र उस प्रकार से नहीं हूँ जिस प्रकार से नक्षत्रों और तारकाओं से चमकते हुए आकाश का पात्र दिन नहीं है ।। ४४ ।।

कुतस्ते मोक्षोपदेशानधिकारित्वम्, किंच, ते तपस: पौर्वापर्य कथं न जाने इत्याशङ्क्य तत्सर्वं स्वजात्यादिकथनपूर्वकं निरूपयति —

क्षत्रियस्तनय: पाण्डोरहं पार्थो धनञ्जय: ।
स्थित: प्रास्तस्य दायादैर्भ्रातुर्ज्येष्ठस्य शासने ।। ४५ ।।

अन्वय:—अहम् क्षत्रिय: पाण्डो: तनय: पार्थ: धनञ्जय: । दायादै: प्रास्तस्य ज्येष्ठस्य भ्रातु: शासने स्थित: ।। ४५ ।।

क्षत्रिय इति ।। अहं क्षत्रिय: क्षत्रियकुले जात: । तत्रापि महाकुले प्रसूत:, वीरसंतानश्चेत्याह—पाण्डोस्तनय इति । तत्रापि कौन्तेयोऽस्मि, न माद्रेय इत्याह — पार्थ इति । पृथा कुन्ती, तत्सुत: पार्थ: । 'तस्यापत्यम्' इत्यण् । अर्जुनोऽहं महावीरश्चेत्याह

— धनञ्जय इति उत्तरकुरून्विजित्य धनाहरणाद्धनञ्जयोऽस्मीत्यर्थः । 'खचि मुमागमः' इत्युक्तं प्राक् । धनञ्जय इत्युक्ते शरीरस्थो वायुः सर्पविशेषो वा स्यात्तदर्थं पार्थः, गन्धर्वोऽपि कश्चित्पृथासुतोऽस्ति तदर्थं पाण्डोः सुतः, नैमिषारण्ये पाण्डुर्विप्रस्त पत्नी पृथा नाम काचिद्ब्राह्मणी तत्पुत्रोऽपि स्यात्तदर्थं छत्रिय इति । अथैवं चेत्किमर्थं तर्हि तपस्यसि, मोक्षार्थं वा किं न तपस्यसि, तत्राह — स्थित इति । दायं पैतृकं धनमाददत इति दायादा ज्ञातयः । 'दायादा ज्ञातिपुत्रयोः' इति, 'विभक्तव्यं पितृद्रव्यं दायमाहुर्मनीषिणः' इति च विश्वः । 'स्वामीश्वरादि' सूत्रेण सोपसर्गादपि दायादेति कप्रत्ययान्तो निपातनात्साधुः । तैः, प्रास्तस्य राज्यान्निरस्तस्य । वैरिनिर्यातनार्थिन इत्यर्थः । ज्येष्ठस्य भ्रातुर्युधिष्ठिरस्य । 'वृद्ध' शब्दादिष्ठन्प्रत्ययः । वृद्धस्य च ज्यादेशः । शासने निदेशे स्थितः । तदाज्ञया तपस्यामीत्यर्थः । अन्यथा मानहानिः सौभ्रात्रभङ्गः पूज्यपूजाव्यतिक्रमदोषश्च स्फुरतीति भावः । अत एव हिंसैकरसस्य रागद्वेषकषायितचेतसः कुतो मे मोक्षाधिकार इति तात्पर्यार्थः । सार्थविशेषणत्वात्परिकरालङ्कारः ।। ४५ ।।

हिन्दी—मैं क्षत्रिय हूँ । पाण्डु का कुन्ती से उत्पन्न पुत्र हूँ, मेरा नाम धनञ्जय है, परिवार के लोगों द्वारा राज्य से बहिष्कृत किए गए ज्येष्ठ भ्राता युधिष्ठिर की आज्ञा से मैं यह तपस्या कर रहा हूँ ।। ४५ ।।

विमर्श—अर्जुन इन्द्र की शङ्काओं को निर्मूल करने के लिए तथा अपनी तपस्या के पूर्वप्रसङ्गों से अवगत कराने के लिए अपना परिचय देते हैं । इन्द्र को आश्चर्य था कि अर्जुन ने तपस्या में भी शस्त्र क्यों धारण किया है, उसी का समाधान वह सर्वप्रथम करते हैं कि मैं क्षत्रिय हूँ और क्षत्रिय को सभी अवस्थाओं में शस्त्रास्त्र धारण करना ही चाहिये । क्षत्रिय भी वह उच्च कुल के हैं, पाण्डु के पुत्र हैं। पाण्डु को दो पत्नियाँ थीं, कुन्ती और माद्री । पार्थ कह कर वह स्पष्ट कर देते हैं कि मैं ज्येष्ठ रानी पृथा अर्थात् कुन्ती का पुत्र हूँ । कुन्ती के तीन पुत्र हैं, अतः अपना नाम धनञ्जय बता कर वह सङ्केत कर रहे हैं कि मैंने ही उत्तर कुरुप्रदेश को जीत कर विपुल धन अर्जित किया था । मैं मोक्ष का अभिलाषी नहीं, अपितु विजय का अभिलाषी हूँ, क्योंकि परिवार के व्यक्तियों ने हम सब को राज्य-बहिष्कृत कर दिया है और आप यदि यह सोचें कि मैं अपने मन से तपस्या करने आया हूँ तो यह बात भी नहीं है क्योंकि मेरे बड़े भाई ने मुझे इस कार्य के लिए आज्ञा दी है । अतः मैं यहाँ आया हूँ, क्योंकि ''आज्ञा गुरूणां न विचारणीया ।'' यहाँ परिकर अलङ्कार है ।

यदुक्तम् – 'विरुद्धः केवलं वेषः' (श्लो० १४) इति तत्रोत्तरमाह—

कृष्णद्वैपायनादेशाद् बिभर्मि व्रतमीदृशम् ।
भृशमाराधने यत्तः स्वाराध्यस्य मरुत्वतः ।। ४६ ।।

अन्वयः—कृष्णद्वैपायनादेशात् ईदृशम् व्रतम् बिभर्मि । स्वाराध्यस्य मरुत्वतः भृशम् आराधने यत्तः ।। ४६ ।।

कृष्णेति ।। द्वीपोऽयनं जन्मभूमिर्यस्य स द्वीपायन:, स एव द्वैपायनो व्यास: । प्रज्ञादित्वात्स्वार्थेऽण्प्रत्यय: । स एव कृष्णवर्णत्वात् कृष्णद्वैपायनश्च । तस्यादेशादुपदेशात् । ईदृशम् । विरुद्धवेषमित्यर्थ: । व्रतं तपोनियमं बिभर्मि धारयामि । न तु स्वेच्छयेति भाव: । अथोपास्यां देवतामाह—भृशमिति । स्वाराध्यस्य सुखमाराध्यस्य । प्रादिसमास: । 'स्वाराधस्य' इति पाठ उपसृष्टात्खल्प्रत्यय: । मरुत्वत इन्द्रस्य । भृशं सम्यक् । आराधने यत्त: । प्रयत्नवानित्यर्थ: । तस्य क्षत्रियदैवतत्वादिति भाव: ।

हिन्दी—भगवान् कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास की आज्ञा से मैं इस प्रकार के व्रत का अनुष्ठान कर रहा हूँ । सुखपूर्वक आराधना करने योग्य देवराज इन्द्र की प्रसन्नता के लिए मैं प्रयत्नशील हूँ ।। ४६ ।।

विमर्श—इस प्रकार अपने व्रत-विरुद्ध वेश की ओर अर्जुन का सङ्केत है । इन्द्र क्षत्रियों के देवता हैं, अत: उनकी आराधना क्षत्रियों के लिए सुखसाध्य ही है ।

ननु भवादृशभ्रातृसहायस्य महावीरस्य युधिष्ठिरस्य कथमरिपरिभवप्राप्तिरित्यत आह —

दुरक्षान्दीव्यता राज्ञा राज्यमात्मा वयं वधू: ।
नीतानि पणतां नूनमीदृशी भवितव्यता ।। ४७ ।।

अन्वय:—दुरक्षान् दीव्यता राज्ञा राज्यम् आत्मा वयम् वधू: पणताम् नीतानि नूनम् भवितव्यता ईदृशी ।। ४७ ।।

दुरक्षानिति ।। दुरक्षान् । कपटपाशकैरित्यर्थ: । 'दिव: कर्म च' इति करणे कर्मसंज्ञा । दीव्यता क्रीडता । 'आहूतो न निवर्तेत द्युतादपि रणादपि' इति शास्त्रात् । न तु व्यसनितयेति भाव: । राज्ञा युधिष्ठिरेण राज्यं राष्ट्रम्, आत्मा स्वयं, वयं चत्वारोऽनुजा:, वधूर्जाया द्रौपदी च, पणतां ग्लहत्वम् । 'पणोऽक्षेषु ग्लहोऽक्षास्तु देवना: पाशकाश्च ते' इत्यमर: । नीतानि । सर्वं द्यूते राज्ञा हारितमित्यर्थ: । नीतानीति नपुंसकैकशेष: । नयतेर्द्विकर्मकत्वात्प्रधाने कर्मणि क्त: । ननु सर्वज्ञस्य राज्ञ: कथमियमविमृश्यकारिता तत्राह — भवितव्यताऽनर्थानामवश्यं भाविता । ईदृशी नूनं निश्चितम् । नात्र संशय इत्यर्थ: । बुद्धिरपि भवितव्यतानुसारिण्येव, न स्वतन्त्रेत्यर्थ: ।। ४७ ।।

हिन्दी—छलयुक्त पाँसों के साथ जुआ खेलते हुए राजा युधिष्ठिर ने अपने सारे राज-पाट, स्वयं अपने को, हम सब को तथा पत्नी को भी दाँव पर रख दिया । निश्चय ही ऐसी भवितव्यता थी (उसमें उनका क्या दोष?) ।। ४७ ।।

विमर्श—बुद्धि भवितव्यता के अनुसार ही पलट जाती है, अन्यथा युधिष्ठिर जैसे धर्मात्मा की बुद्धि ऐसी क्यों होती ।

ननु तथापि तदैव तेष्वासङ्गो न तेषां त्वयि तत्राह —

तेनानुजसहायेन द्रौपद्या च मया विना ।
भृशमायामियामासु यामिनीष्वभितप्यते ।। ४८ ।।

अन्वयः—अनुजसहायेन तेन द्रौपद्या च मया विना आयामियामासु यामिनीषु भृशम् अभितप्यते ।। ४८ ।।

तेनेति ।। अनुजाः सहजाताः सहाया यस्य तेन । अनुजयुक्तेनेत्यर्थः । तुल्ययोगः सहायार्थः। तेन युधिष्ठिरेण द्रौपद्या च मया विना । मद्विरहादित्यर्थः । आयामिनो दीर्घा यामाः प्रहरा यासां तास्तासु । दुःखितस्य तथाभावादिति भावः । यामिनीष्वभितप्यते । भावे लट् । तेषु मद्वत्तेषां मय्यप्यासङ्गान्न वैराग्यावकाश इत्यर्थः ।। ४८ ।।

हिन्दी—अपने अनुजों के साथ राजा युधिष्ठिर तथा मेरी प्रियतमा द्रौपदी मेरे बिना लम्बे-लम्बे प्रहरों से युक्त रात्रियों को अत्यन्त सन्ताप से बिताती है ।। ४८ ।।

विमर्श—तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार मैं उन लोगों के लिए यहाँ चिन्तित हूँ उसी प्रकार से वे लोग भी मेरे लिए सन्तप्त होते हैं, अतः मुझमें वैराग्यभावना कहाँ से उदय हो सकती है ।

अथ वैरिनिर्यातनस्यावश्यंभावद्योतनाय चतुर्भिः परापकृतिं दर्शयन् परनिकारान् वर्णयति —

हृतोत्तरीयां प्रसभं सभायामागतह्रियः ।
मर्मच्छिदा नो वचसा निरतक्षन्नरातयः ।। ४९ ।।

अन्वयः—अरातयः सभायाम् प्रसभम् हृतोत्तरीयाम् आगतह्रियः नः मर्मच्छिदा वचसा निरतक्षन् ।। ४९ ।।

हृतेत्यादि । अरातयः शत्रवः सभायां प्रसभं बलात्कारेण हृतोत्तरीयाम्, अत एव, आगतह्रियः संप्राप्तलज्जान् नोऽस्मान् । मर्मच्छिदा मर्मच्छेदिना वचसा निरतक्षन् अशातयन् । वस्त्राद्यपहारवाक्पारुष्याभ्यां तथा व्यथयामासुरित्यर्थः । 'तक्षण'शब्द सामर्थ्याद्वचसो वाऽस्यौपम्यं गम्यत इति वस्तुनालङ्कारध्वनिः । ४९ ।।

हिन्दी—शत्रुओं ने भरी सभा में जबर्दस्ती प्रियतमा द्रौपदी का वस्त्र-हरण देखने वाले अत्यन्त लज्जित हम लोगों को अपने मर्मभेदी वचनों से अत्यन्त व्यथित किया है ।। ४९ ।।

अथातिदुःसहनिकारान्तरमाह—

उपाधत्त सपत्नेषु कृष्णाया गुरुसन्निधौ ।
भावमानयने सत्याः सत्यङ्कारमिवान्तकः ।। ५० ।।

अन्वयः—अन्तकः गुरुसन्निधौ सत्याः कृष्णायाः आनयने भावम् सत्यङ्कारम् इव सपत्नेषु उपाधत्त ।। ५० ।।

उपाधत्तेति ।। अन्तको मृत्युः गुरुसंनिधौ भीष्मद्रोणादिसमक्षमेव सत्याः पतिव्रतायाः कृष्णाया द्रौपद्या आनयने केशाम्बरादिकर्षणे भावं चित्ताभिप्रायमितः परमनेन

पाण्डवाभिभवेनैतान् स्वनगरं नेष्यामीत्यवंभूतं सत्यङ्कारमिव । क्रियतेऽनेनेतिकारः । करणे घञ् । सत्यस्य कारः सत्यङ्कारः सत्यापनम् । चिकीर्षितस्य कार्यस्यावश्यं क्रियास्थापनार्थं परहस्ते यद्दीयते स सत्यङ्कारः । क्रियादौ सत्यदार्ढ्यय प्राग्दीयमानो मूल्यैकदेशश्च । 'क्लीबे सत्यापनं सत्यङ्कारः सत्याकृतिः स्त्रियाम्' इत्यमरः । 'कारे सत्यागदस्य' इति मुमागमः । तमिव, सपत्नेषूपाधत्त निहितवान् । तेषां विनाशकाले विपरीतबुद्धिमुत्पादितवानित्यर्थः ।। ५० ।।

हिन्दी—काल (मृत्यु) ने भीष्म-द्रोण आदि गुरुजनों के समक्ष में ही (चीर-केशादि के आकर्षण के लिए) पतिव्रता द्रौपदी को ले आने के (शत्रुओं के) अभिप्राय को मानों बयाना की तरह मानकर ही शत्रुओं को दिया था ।। ५० ।।

विमर्श—तात्पर्य यह है कि मानों काल ने यह सोचकर कि जिस तरह तुम लोग इस अबला को यहाँ भरी सभा में खींच लाए हो उसी तरह मैं भी तुम सब को अपने लोक में खींच ले जाऊँगा । विनाश काल में लोगों की बुद्धि नष्ट हो ही जाती है, इसी से इन्होंने ऐसा किया ।

केनेयमाकृष्टा, सभ्यैर्वा किं कृत तत्राह —

तामैक्षन्त क्षणं सभ्या दुःशासनपुरःसराम् ।
अभिसायार्कमावृत्तां छायामिव महातरोः ।। ५१ ।।

अन्वयः—दुःशासनपुरःसरां तां सभ्याः अभिसायार्कं महातरोः आवृत्तां छायाम् इव क्षणम् ऐक्षन्त ।। ५१ ।।

तामिति ।। दुःशासनः पुरःसरो यस्यास्तां तथोक्ताम् । दुःशासनेन सभां प्रत्याकृष्यमाणामित्यर्थः । 'अनुपसर्जनात्' इति न ङीप् । तां कृष्णाम् । सभायां साधवः सभ्याः । 'सभाया यः' इति यप्रत्ययः । अभिसायार्कं दिनान्तसूर्याभिमुखम् । स्थितस्येति शेषः । 'सायो नाशदिनान्तयोः' इति विश्वः । 'लक्षणेनाभिप्रती आभिमुख्ये' इत्यव्ययीभावः । महातरोः सम्बन्धिनीम्, आवृत्तां छायामिव तां कृष्णां क्षणमैक्षन्त । न चिरं जुगुप्सितत्वात् । नापि किंचिद्व्याप्रियन्त माध्यस्थभङ्गभयात् । ते त्वर्कवदेव साक्षित्वमात्रमास्थिता इत्यर्थः । अत्राकृष्यमाणायाः कृष्णाया आक्रष्टारं प्रति पराङ्मुखत्वादावृत्तच्छायौपम्यम् । तथापि तां न मुञ्चतीति दुःशासनस्य तरुसाम्यम् ।। ५१ ।।

हिन्दी—दुःशासन द्वारा भरी सभा में खींच कर लाई हुई द्रौपदी को, (भीष्म द्रोणादि) सभासदों ने दिनान्त के सूर्य के सम्मुख स्थित महान् वृक्ष की छाया की भाँति क्षणमात्र के लिए देखा था ।। ५१ ।।

विमर्श—अर्थात् द्रौपदी की उस समय ऐसी दुर्दशा थी कि सभासद भी उसे देर तक नहीं देख सकते थे और देखते हुए भी मध्यस्थता के भङ्ग होने के भय से अन्याय का कुछ प्रतिरोध नहीं कर सकते थे । द्रौपदी को न छोड़ने के कारण दुःशासन की उपमा महान् वृक्ष से है, साक्षी होने से सभासदों की तुलना सूर्य के

साथ है और खींचने वालों की तरफ से पराङ्मुख होने से छाया की समानता द्रौपदी के साथ की गई है । यहाँ उपमा अलङ्कार है ।

अथास्यास्तादात्मिकमायथार्थ्यं वर्णयति —

अयथार्थक्रियारम्भैः पतिभिः किं तवेक्षितैः ।
अरुद्ध्येतामितीवास्या नयने बाष्पवारिणा ॥ ५२ ॥

अन्वयः—अयथार्थक्रियारम्भैः तव पतिभिः ईक्षितैः किम् इतीव बाष्पवारिणा अस्याः नयने अरुद्ध्येताम् ॥ ५२ ॥

अयथार्थेति ॥ अयथार्था मिथ्याभूताः क्रियारम्भाः 'पति'शब्दप्रवृत्तिनिमित्त-भूतकर्मोद्योगा येषां तैः । तामरक्षद्भिरित्यर्थः । तव सम्बन्धिभिः । पान्ति रक्षन्तीति । पतयो भर्तारः । 'पातेर्डतिः' इत्यौणादिको डतिप्रत्ययः । तैः, ईक्षितैरवेक्षितैः किम् । न किंचित्फलमस्तीत्यर्थः । इतीव इत्थं विचार्येवेत्युत्प्रेक्षा । बाष्पवारिणाऽस्याः कृष्णाया नयने अरुध्येतामावृते । रुधेः कर्मणि लङ् । अशरणा रुरोदेत्यर्थः ॥ ५२ ॥

हिन्दी—पति शब्द का अर्थ है पत्नी की रक्षा करना, विपत्ति से रक्षा न करने वाले इन पतियों की ओर देखने से कुछ भी फल नहीं मानों यही सोचकर आँसुओं ने द्रौपदी के नेत्रों को रोक लिया था ॥ ५२ ॥

विमर्श—अर्थात् अपने पतियों की कायरता से ही मानों द्रौपदी की आँखों में आँसू भर गये थे और उन्हें अपनी पतियों की ओर देखने से इसलिए वञ्चित कर दिया था कि उनकी ओर देखना व्यर्थ है । यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ।

ननु भवद्भिः किमर्थसमर्थैरिवोपेक्षितं तत्राह —

सोढवान्नो दशामन्त्यां ज्यायानेव गुणप्रियः ।
सुलभो हि द्विषां भङ्गो दुर्लभा सत्स्ववाच्यता ॥ ५३ ॥

अन्वयः—गुणप्रियः ज्यायान् एव नः अन्त्यां दशां सोढवान् । द्विषां भङ्गः सुलभः सत्सु अवाच्यता दुर्लभा हि ॥ ५३ ॥

सोढवानिति ॥ गुणाः प्रिया यस्य स गुणप्रियः प्रियगुणः । 'वा प्रियस्य' इति परनिपातः । ज्यायान् अग्रजो युधिष्ठिर एव । 'वृद्ध'शब्दादीयसुनि 'ज्यादादीयसः' इत्याकारादेशः । नोऽस्माकम् । अन्ते भवाम्, अन्त्यां निकृष्टां दशामवस्थां सोढवान्, न तु वयम् । किन्तु तदवरुद्धा इति भावः । ननु शत्रूपेक्षा महानर्थकारिणीत्या-शङ्क्याह सुलभ इति । द्विषां विद्विषां भङ्गः सुलभः । कालान्तरेऽपीति शेषः । सत्सु सज्जनेषु । अवाच्यता निन्द्यता दुर्लभा, न तु शत्रूपेक्षा । हि प्रसिद्धौ । शत्रूपेक्षातो लोकापवाद एव बलवान् । तस्योत्पन्नस्य पुनरप्रतिविधेयत्वात्, स च समयोल्लङ्घने स्यादेवेति भावः ॥ ५३ ॥

हिन्दी—गुणों के प्रेमी हमारे ज्येष्ठ भ्राता युधिष्ठिर ने ही हम लोगों की इस निकृष्ट दुर्दशा को सहन कर लिया क्योंकि शत्रुओं का विनाश तो कभी भी हो सकता था, किन्तु सत्पुरुषों के बीच में जो अनिन्द्यता थी, वही दुर्लभ थी ।। ५३ ।।

विमर्श—अर्थात् हमारे बड़े भाई युधिष्ठिर ने ही शत्रुओं के अपकारों की उपेक्षा की, जिससे हमारी यह दुर्दशा हुई है । हम लोग तो उन्हीं के कारण रुके रहे । शत्रु का विनाश तो हम लोग जब चाहेंगे कर लेंगे । किन्तु सज्जनों के बीच में जो हमारी अनिन्दा है, वह नष्ट हो जाने पर फिर कभी नहीं मिलने वाली है । यहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ।

ननु शत्रुवधे राज्ञां को नामापवाद: प्रत्युत कीर्तिरिवेत्याशङ्क्य, सत्यं स एव समयोल्लङ्घनकलङ्कितकीर्त्या महानिन्दानिदानमित्याशयेनाह—

स्थित्यतिक्रान्तिभीरूणि स्वच्छान्याकुलितान्यपि ।
तोयानि तोयराशीनां मनांसि च मनस्विनाम् ।। ५४ ।।

अन्वय:—तोयराशीनां तोयानि मनस्विनां मनांसि च स्थित्यतिक्रान्तिभीरूणि आकुलितानि अपि स्वच्छानि ।। ५४ ।।

स्थितीति ।। तोयराशीनां समुद्राणां तोयानि मनस्विनां मनांसि च स्थित्यतिक्रान्तेर्मर्यादोल्लङ्घनाद्धेतो: भीरूणि, अत एव, आकुलितानि संक्षोभितान्यपि स्वच्छानि अकलुषाणि । न त्वरन्त इत्यर्थ: । मनस्व्ययं युधिष्ठिर इति भाव: । अत्र तोयानां सामान्यतो मनस्विनां चापकृतानामेव गुणतौल्यादौपम्यस्य गम्यतया तुल्ययोगितालङ्कार: । गुणश्चात्र भीरुत्वं स्वच्छता च ।। ५४ ।।

हिन्दी—जलनिधि समुद्र की जलराशि तथा मनस्वी पुरुषों के चित्त मर्यादा का उल्लङ्घन करने में भीरु होते हैं, ये क्षुब्ध होने पर भी स्वच्छ ही रहते हैं ।। ५५ ।।

विमर्श—यहाँ तुल्ययोगिता अलङ्कार है ।

नन्वजातशत्रो: स्वजनवैरे किं कारणमित्याशङ्क्यास्मत्सौहार्दमेवेत्याह —

धार्तराष्ट्रै: सह प्रीतिर्वैरमस्मास्वसूयत ।
असन्मैत्री हि दोषाय कूलच्छायेव सेविता ।। ५५ ।।

अन्वय:—धार्तराष्ट्रै: सह प्रीति: अस्मासु वैरम् असूयत हि असन्मैत्री कूलच्छाया इव सेविता दोषाय ।। ५५ ।।

धार्तराष्ट्रैरिति ।। धार्तराष्ट्रैर्धृतराष्टपुत्रै: सह प्रीति: सौहार्दमेव, अस्मासु विषये वैरमसूयत सूतवती । सूयतेर्दैवादिकात्कर्तरि लङ् । ननु सौहार्द वैरजनकं चेद्विप्रतिषिद्धं तत्राह — असदिति । हि यस्मात्, असन्मैत्री दुर्जनेन सङ्गति: कूलस्यासन्नपातस्य नदीतटस्य छायेव सेविता श्रिता सती दोषायानर्थाय भवति । न खलु

दुर्जनः सुजनवन्मित्रद्रोहपातकं पश्यतीति भावः । उपमाप्राणितोऽयमर्थान्तरन्यासालङ्कारः ॥ ५५ ॥

हिन्दी—{यदि यह कहिए कि युधिष्ठिर जो अजातशत्रु हैं उनसे अपने ही चचेरे भाइयों में कैसे द्रोह हो गया तो कहते हैं कि इसका कारण हमारी उन दुर्जनों के संग हुई मित्रता ही है —}

धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधनादि के सङ्ग की हमारी मित्रता ही हम लोगों के बीच में शत्रुता की जननी है । क्योंकि दुर्जनों की मित्रता गिरने वाले नदी-तट की छाया की भाँति अनर्थकारिणी होती है ॥ ५५ ॥

विमर्श—अर्थात् जिस प्रकार गिरने वाले कगार की छाया प्राणहारिणी होती है, उसी प्रकार दुर्जनों की मैत्री भी विनाशकारिणी होती है । दुर्जन लोग सज्जनों की भाँति मित्र-द्रोह रूपी पातक को नहीं देखते । उपमा से अनुप्राणित यहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ।

नन्वादावेव तेषां वृत्तमविज्ञाय कथं मैत्री कृतेत्याशङ्क्य—किं कुर्मः, दुर्जनवृत्तं दुर्विज्ञेयमित्याह—

अपवादादभीतस्य समस्य गुणदोषयोः ।
असद्वृत्तेरहोवृत्तं दुर्विभावं विधेरिव ॥ ५६ ॥

अन्वयः—अपवादात् अभीतस्य गुणदोषयोः समस्य असद्वृत्तः अहोवृत्तं विधेः इव दुर्विभावम् ॥ ५६ ॥

अपवादादिति ॥ अपवादात् जनाक्रोशात् । अभीतस्य । अजुगुप्समानस्येत्यर्थः । गुणदोषयोः समस्य तुल्यबुद्धेः । निग्रहानुग्रहौ गुणदोषयोरननुरुन्धत इत्यर्थः । विधवप्येतद्विशेषणं योज्यम् । असद्वृत्तेर्दुराचारस्य धूर्तस्य । अहोबृत्तमीहितं विधेर्दैवस्य वृत्तमिव दुर्विभावं विभावयितुमशक्यम् । किन्तु कार्यैकसमधिगम्यमित्यर्थः । भवतेर्ण्यन्तात्कृच्छ्रार्थे खल्प्रत्ययः ॥ ५६ ॥

हिन्दी—{यदि यह कहिये कि पहिले ही से उन सबों के गुणदोषों पर विचार करके तब मित्रता करनी चाहिये थी, जिससे यह दुर्दशा न होती, क्योंकि}

जन-निन्दा से डरने वाले एवं गुण तथा अवगुण दोनों में समान निष्ठा रखने वाले दुराचारी मनुष्यों की चेष्टाएँ दैव की इच्छा अर्थात् भाग्य की भाँति जानी नहीं जा सकतीं ॥ ५६ ॥

विमर्श—अर्थात् कार्य-सम्बन्ध पड़ने पर ही उन्हें जाना जा सकता है ।

नन्वेवं मानी कथं परिभूतो जीवसि तत्राह —

ध्वंसेत हृदयं सद्यः परिभूतस्य मे परैः ।
यद्यमर्षः प्रतीकारं भुजालम्बं न लम्भयेत् ॥ ५७ ॥

अन्वयः—परैः परिभूतस्य मे हृदयं सद्यः ध्वंसेत अमर्षः प्रतीकारं भुजालम्बं यदि न लम्भयेत् ।। ५७ ।।

ध्वंसेतेति ।। परैः शत्रुभिः परिभूतस्य मे हृदयं सद्यो ध्वंसेत । भ्रश्येदित्यर्थः । अमर्षः कर्ता प्रतीकारं प्रतिक्रियारूपं भुजालम्बं हस्तावलम्बनं न लम्भयेन्न ग्राहयेद्यदि। हृदयेनेति शेषः । सत्यं जीवामि प्रतिविधित्सया । न तु निर्लज्जतयेति भावः ।

हिन्दी—{यदि यह कहिए कि मानी पुरुष मान-हानि की अपेक्षा प्राण दे देना अच्छा समझता है तो क्या करूँ —}

शत्रुओं से अपमानित हमारा हृदय शीघ्र ही फट जाता यदि हमारे क्रोध ने प्रतिक्रिया स्वरूप हमारे हृदय को हाथ का-सा सहारा देकर उसे फटने से बचा न लिया होता ।। ५७ ।।

विमर्श—अर्थात् हम बदला चुकाने के लिए ही जीवित बचे हैं ।

ननु तवैव कोऽयमभिमानस्तत्राह —

अवधूयारिभिर्नीता हिरणैस्तुल्यवृत्तिताम् ।
अन्योन्यस्यापि जिह्नीमः किं पुनः सहवासिनाम् ।। ५८ ।।

अन्वयः—अरिभिः अवधूय हरिणैः तुल्यवृत्तितां नीताः अन्योन्यस्य अपि जिह्नीमः सहवासिनां पुनः किम् ।। ५८ ।।

अवधूयेति ।। अरिभिरवधूय परिभूय हरिणैर्मृगैस्तुल्यवृत्तितां तुल्यजीवनत्वम् । वन्याहारतामित्यर्थः । नीताः प्रापिता वयम् । पञ्चापीति शेषः । अन्योन्यस्यापि जिह्नीमो लज्जामहे । सहवासिनां सहचारिणां किं पुनः । प्रागेव जिह्नीम इति किमु वक्तव्यमित्यर्थः । क्रियायोगे सम्बन्धसामान्ये षष्ठी । अत्र वयं पञ्चापि तुल्याभिमाना एव । इदं तु मदेकसाध्यं कर्मेति मुनिशासनान्मयानुष्ठीयत इति भावः ।। ५८ ।।

हिन्दी—शत्रुओं द्वारा पराजित होकर मृगों के समान जीविका निर्वाह करने की स्थिति में पहुँचे हुए हम लोग अपने भाइयों में भी परस्पर लज्जा का अनुभव करते हैं, सहचारियों अर्थात् मित्र-मण्डली के बीच तो कहना ही क्या ?

विमर्श—अर्थात् जिस प्रकार से मृगादि जङ्गली पशु कन्द-मूल फलाहारादि से अपनी जीविका चलाते हैं और मानापमान का ध्यान नहीं रखते उसी प्रकार से हम लोग भी जीविका चलाते हैं ।

{इस दुर्दशा का कारण यदि हम लोगों का स्वाभिमान है तब भी हम इसे छोड़ नहीं सकते, क्योंकि}

ननु तर्हि दुःखैकनिदानमन्तःशत्रु मान एव त्यज्यतामित्याशङ्क्य तत्त्यागे दोषमाह—

शक्तिवैकल्यनम्रस्य निःसारत्वाल्लघीयसः ।
जन्मिनो मानहीनस्य तृणस्य च समा गतिः ।। ५९ ।।

अन्वय:—शक्तिवैकल्यनम्रस्य नि:सारत्वात् लघीयस: मानहीनस्य जन्मिन: तृणस्य च समा गति: ।। ५९ ।।

शक्तीति ।। शक्तिवैकल्येनोत्साहादिशक्तिवैधुर्येणाऽवष्टम्भसामर्थ्यविरहेण च नम्रस्य प्रह्वीभूतस्य विधेयभूतस्य च नि:सारत्वात् दुर्बलत्वात् स्थिरांशरहितत्वाच्च । 'सारो बले स्थिरांशे च' इत्यमर: । लघीयसो गौरवहीनस्य । नीरसस्येत्यर्थ: । मानहीनस्य जन्मिनो जन्तो: । व्रीह्यादित्वादिनि: । तृणस्य च गतिरवस्था समा इति । मानहीनस्य तृणादपि निकृष्टत्वान्न त्याज्यो मान इति भाव: । श्लेषालङ्कारोऽयं तदनुप्राणितेयमुपमेत्यनेकार्थदीपिकेति व्यज्यते ।।५९ ।।

हिन्दी—स्वाभिमान का परित्याग करने के कारण नम्र तथा दुर्बल एवं गौरवहीन होने के कारण मानरहित शरीरधारी का तथा तृण का जीवन एक समान ही होता है ।। ५९ ।।

विमर्श—मामूली तृण के समान गर्हित जीवन बिताने से अच्छा यही है कि पुरुष अपने स्वाभिमान का त्याग न करे । यहाँ श्लेष अलङ्कार से अनुप्राणित उपमा अलङ्कार है ।

मानत्यागे दोषमुक्त्वा तत्सद्भावे षड्भिर्गुणमाह—

अलङ्घ्यं तत्तदुद्वीक्ष्य यद्यदुच्चैर्महीभृताम् ।
प्रियतां ज्यायसीं मागान्महतां केन तुङ्गता ।। ६० ।।

अन्वय:—महीभृताम् यद् यद् उच्चै: तत्तत् अलङ्घ्यम् उद्वीक्ष्य महतां तुङ्गता ज्यायसीं प्रियतां केन मागात् ।। ६० ।।

अलङ्घ्यमिति ।। महीभृतां पर्वतानां सम्बन्धि यद्यत् शृङ्गादिकम् । उच्चैरुन्नतं तत्तदलङ्घ्यमुद्वीक्ष्योत्प्रेक्ष्य । तर्कयित्वेति यावत् । महतां महात्मनां तुङ्गता मानौन्नत्यं ज्यायसीं प्रियतां प्रियत्वं केन हेतुना मागात् । न केनापि प्रियत्वं गच्छत्येवेत्यर्थ: । आशिषि माङि लुङ् । अटोऽपवाद: । दैवमनिच्छन्नपीच्छामुत्पादयत्यौषधवदस्मिन्नर्थे इत्याशंसनार्थमाशी:प्रयोग: । उद्वीक्ष्येत्यसमानकर्तृकत्वनिर्देश: क्वचित्प्रयोगदर्शना-त्सोढव्य: । केचित् 'उद्वीक्ष्यम्' इति पठन्ति । तत्र यद्यदुच्चैस्तत्तदलङ्घ्यमुद्वीक्ष्य-मवलोकनीयं न चोल्लङ्घनीयमिति ।।अतो महतामित्यादि योजयन्ति ।। ६० ।।

हिन्दी—{मान के परित्याग में केवल दोष ही नहीं है प्रत्युत मान-रक्षण में अनेक लाभ भी हैं—}

पर्वतों के जो-जो शिखर ऊँचे होते हैं, उनको-उनको अलङ्घनीय देखकर महान् पुरुषों की मनस्विता किसे अत्यन्त प्रिय न होगी? ।। ६० ।।

विमर्श—जब उन्नत का उल्लङ्घन नहीं कर सकता तो फिर कौर सा कारण है कि जो औनात्य बड़े लोगों के लिए प्रिय न होगा?

तावदाश्रीयते लक्ष्म्या तावदस्य स्थिरं यशः।
पुरुषस्तावदेवासौ यावन्मानान्न हीयते ॥ ६१ ॥

अन्वयः—तावदेव असौ लक्ष्म्या आश्रीयते तावत् अस्य यशः स्थिरं तावत् पुरुषः यावत् मानात् न हीयते ॥ ६१ ॥

तावदिति ॥ किंच, तावदेवासौ लक्ष्म्याऽऽश्रीयते । तावदस्य पुंसो यशः स्थिरम् । तावदेव असौ पुरुषः । पुरुषत्वेन गण्यत इत्यर्थः । यावत् मानादभिमानात् । न हीयते न भ्रश्यति । मानहीनस्य किञ्चिच्छुभमस्तीत्यर्थः ॥ ६१ ॥

हिन्दी—तभी तक मनुष्य लक्ष्मी का आश्रय बना रहता है, तथा तभी तक उसका यश स्थिर रहता है और तभी तक वह पुरुष भी है जब तक मान से विहीन नहीं होता है ॥ ६१ ॥

विमर्श—तात्पर्य यह है कि मानहीन व्यक्ति के लिये संसार सूना है ।

स पुमानर्थवज्जन्मा यस्य नाम्नि पुरःस्थिते ।
नान्यामङ्गुलिमभ्येति संख्यायामुद्यताङ्गुलिः ॥ ६२ ॥

अन्वयः—सः पुमान् अर्थवज्जन्मा यस्य नाम्नि पुरःस्थिते सङ्ख्यायाम् उद्यताङ्गुलिः अन्याम् अङ्गुलि न अभ्येति ॥ ६२ ॥

स इति ॥ स पुमान्, अर्थवज्जन्मा सार्थकजन्मा यस्य पुंसो नाम्नि पुरोऽग्रे स्थिते सति संख्यायां पुरुषगणनाप्रस्ताव उद्यता गुणमधिकृत्योन्नमिताऽङ्गुलिरन्यां द्वितीयाम् । अङ्गुलिम् । उद्यतामिति शेशः । नाभ्येति न प्राप्नोति । अद्वितीयत्वादस्येत्यर्थः । एतन्मानरहितस्य न संभवतीति भावः ॥ ६२ ॥

हिन्दी—उसी पुरुष का जन्म सार्थक है, जिसका नाम योग्य पुरुषों की गणना के अवसर पर प्रथम अंगुली पर आता है, द्वितीय पर नहीं ॥ ६२ ॥

दुरासदवनज्यायान् गम्यस्तुङ्गोऽपि भूधरः।
न जहाति महौजस्कं मानप्रांशुमलङ्घ्यता ॥ ६३ ॥

अन्वयः—दुरासदवनज्यायान् तुङ्गः अपि भूधरः गम्यः महौजस्कं मानप्रांशुम् अलङ्घ्यता न जहाति ॥ ६३ ॥

दुरासदेति ॥ दुरासदैर्वनैर्ज्यायान् प्रवृद्धस्तथापि तुङ्गोऽपि भूधरो गम्यो गन्तुं शक्य एव । प्रसिद्ध चैतदिति भावः । महौजस्कं प्रतापसंपन्नं मानप्रांशुं मानोन्नतम् । पुरुषमिति शेषः । अलङ्घ्यता न जहाति । कदाचिन्मानी लङ्घयितुं न शक्यत इत्यर्थः । गिरेरपि गरीयान् मानाधिक इति भावः । अत्रोपमानाद्भूधरादुपमेयस्य मानिनो धर्मान्तरसाम्येऽप्यलङ्घ्यत्वेनाधिक्यकथनाद्व्यतिरेकालङ्कारः ॥ ६३ ॥

हिन्दी—दुर्गम घोर जङ्गलों से आकीर्ण अत्यन्त ऊँचा पर्वत भी गम्य हो जाता है किन्तु प्रतापी एवं मनस्वी पुरुष की उच्चता अपनी अलङ्घनीयता कभी नहीं छोड़ती ।। ६३ ।।

विमर्श—अर्थात् पर्वत से भी बढ़कर मनस्वी का स्वाभिमान है । यहाँ व्यतिरेक अलङ्कार है ।

गुरून्कुर्वन्ति ते वंश्यानन्वर्था तैर्वसुन्धरा ।
येषां यशांसि शुभ्राणि ह्रेपयन्तीन्दुमण्डलम् ।। ६४ ।।

अन्वयः—ते वंश्यान् गुरून् कुर्वन्ति तैः वसुन्धरा अन्वर्था येषां शुभ्राणि यशांसि इन्दुमण्डलं ह्रेपयन्ति ।। ६४ ।।

गुरूनिति ।। ते नराः । वंश्यान् अन्वये भवान् । गुरून् कुर्वन्ति प्रथयन्ति । स्वनाम्ना व्यपदेशयन्ति रघुदिलीपादिवदित्यर्थः । तैर्नरैः । वसूनि धनानि धरतीति वसुन्धरा । 'संज्ञायां भृतृवृजि—' इत्यादिना खच्प्रत्यये 'खचि ह्रस्वः' इति ह्रस्वानुमागमश्च । अन्वर्थाऽनुगतार्था । तेषां वसुभूतानां धारणादिति भावः । येषां शुभ्राणि यशांसि इन्दुमण्डलं ह्रेपयन्ति लज्जयन्ति । यशसो निष्कलङ्कत्वादिति भावः । इदृशं हि यशो मानमहत एव संभवतीति तात्पर्यार्थः । ह्रीधातोर्ण्यन्ताल्लट् । 'अर्तिह्री—' इत्यादिना पुगागमः । अत्र ह्रेपणस्य सादृश्यपर्यवसानादुपमालङ्कारः ।। ६४ ।।

हिन्दी—वे: मनुष्य अपने वंशजों की प्रतिष्ठा बढ़ाते हैं, उन्हीं से वसुन्धरा सार्थक होती है, जिनके श्वेत यश अपनी निष्कलङ्कता से चन्द्रमण्डल को लज्जित करते हैं ।। ६४ ।।

विमर्श—यश की उपमा श्वेत ही दी जाती है, क्योंकि उसे भी निष्कलङ्क ही होना चाहिए । यहाँ उपमा अलङ्कार है ।

**उदाहरणमाशीःषु प्रथमे ते मनस्विनाम् ।
शुष्केऽशनिरिवामर्षो यैररातिषु पात्यते ।। ६५ ।।**

अन्वयः—यै अमर्षः शुष्के अशनिः इव अरातिषु पात्यते मनस्विनां प्रथमे ते आशीःषु उदाहरणम् ।। ६५ ।।

उदाहरणमिति ।। यैरमर्षः क्रोधः शुष्के नीरसे । अशनिरिव अरातिषु विषये पात्यते प्रक्षिप्यते । मनस्विनां मानिनां प्रथमेऽग्रेसरास्ते आशीःषु पुरुषैरेवं भवितव्यमेवंरूपासु । उदाहरणं निदर्शनम् । भवन्तीति शेषः । रामादिवदुपमानं भवन्तीत्यर्थः । अतो न त्याज्यो मान इति संदर्भार्थः ।। ६५ ।।

हिन्दी—जो लोग अपने अमर्ष को शुष्क काष्ठादि में वज्रपात की भाँति शत्रुओं पर प्रयुक्त करते हैं वे ही मनस्वी पुरुषों में प्रथम हैं और वे ही पुरुष मात्र को किस प्रकार का होना चाहिये, इस बात के उदाहरण हैं ।। ६५ ।।

यदुक्तम् — 'अभिद्रोहेण भूतानाम्' (श्लो० २१) तत्र युग्मेनोत्तरमाह—

न सुखं प्रार्थये नार्थमुदन्वद्वीचिचञ्चलम् ।
नानित्यताशनेस्त्रस्यन् विविक्तं ब्रह्मणः पदम् ।। ६६ ।।

अन्वयः—उदन्वद्वीचिचञ्चलं सुखम् न प्रार्थये अर्थञ्च न अनित्यताशनेः त्रस्यन् विविक्तं ब्रह्मणः पदं न ।। ६६ ।।

नेत्यादि ।। उदन्वद्वीचिरिव चञ्चलं समुद्रतरङ्गवदस्थिरं सुखं कामं न प्रार्थये नेच्छामि । तथा, चञ्चलं अर्थं च न प्रार्थये । किंच अनित्यता विनाशिता सैव अशनिस्तस्मात् त्रस्यन् बिभ्यन् । 'वा भ्राश—' इत्यादिना श्यन्प्रत्ययः । विविक्तं निर्बाधं ब्रह्मणो वेधस आत्मनः पद्यत इति पदं स्थानमैक्यलक्षणं मुक्तिं च न प्रार्थये । एतेन यदुक्तम् 'उच्छेदं जन्मनः कर्तुम्' (श्लो० ३१) इत्यादि, तत् समाहितम् ।। ६६ ।।

हिन्दी—आपने जो यह कहा था कि 'तु सुख की कामना तथा धन की लिप्सा से तपःसाधन कर रहे हो' वह ठीक नहीं है । मैं समुद्र की तरङ्गों के समान चञ्चल सुख की कामना नहीं करता और न धन की ही कामना मुझे हैं । यही नहीं, विनाश रूपी वज्र से भयभीत होकर निर्बाध ब्रह्म पद अर्थात् मोक्ष की भी कामना मुझे नहीं है ।। ६६ ।।

प्रमार्ष्टुमयशः पङ्कमिच्छेयं छद्मना कृतम् ।
वैधव्यतापितारातिवनितालोचनाम्बुभिः ।। ६७ ।।

अन्वयः—छद्मना कृतम् अयशःपङ्कं वैधव्यतापितारातिवनितालोचनाम्बुभिः प्रमार्ष्टुम् इच्छेयम् ।। ६७ ।।

प्रमार्ष्टुमिति ।। किन्तु, छद्मना कपटेन कृतम् । शत्रुभिरिति शेषः । अयश एव पङ्कमिति रूपकालङ्कारः । वैधव्येन तापितानां दुःखीकृतानामरातिवनितानां लोचनाम्बुभिः प्रमार्ष्टुं क्षालयितुम् । इच्छेयमभिलषेयम् । इषिधातोर्लिङि रूपम् । वैरिनिर्यातनातिरिक्तं न किञ्चिदिच्छामीत्यर्थः ।। ६७ ।।

हिन्दी—किन्तु मेरी इच्छा यही है कि शत्रुओं के छल से जो अपयश का कीचड़ हमें लगा है उसे (उन्हीं) शत्रुओं की विधवा स्त्रियों के वैधव्य-सन्ताप से निकले हुए अश्रुजल से धो डालूँ ।। ६७ ।।

एवं तर्हि 'यः करोति वधोदर्काः' (श्लो० १९) इत्याद्युक्तदोषः स्यादित्याशङ्कामङ्गीकृत्य ग्लानिर्न दोषायेति न्यायमाश्रित्य युग्मेनोत्तरमाह—

अपहस्येऽथवा सद्भिः प्रमादो वास्तु मे धियः ।
अस्थानविहितायासः कामं जिह्रेतु मा भवान् ।। ६८ ।।

अन्वयः—सद्भिः अपहस्ये अथवा मे धियः प्रमादः वा अस्तु भवान् अस्थानविहितायासः कामं मा जिह्रेतु ।। ६८ ।।

अपहस्य इत्यादि ।। अथवा, सद्भिः पण्डितैः अपहस्ये । अपहसिष्य इत्यर्थः । 'वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा' इति हसतेरण्यन्तात्कर्मणि लट् । ण्यन्तस्तु भ्रान्तपाठः । मे धियः प्रमादोऽनवधानत्वं वाऽस्तु । भवान् अस्थानेऽयोग्यविषये विहित आयासो हितोपदेशप्रयासो येन स तथोक्तः । विफलप्रयत्नः सन्नित्यर्थः । कामं वा जिह्रेतु लज्जताम् ।। ६८ ।।

हिन्दी—सज्जन लोग चाहे मेरा उपहास करें अथवा मेरी बुद्धि भ्रान्त हो जाय अथवा मुझ जैसे अयोग्य पात्र में मोक्ष के उपदेश का प्रयत्न निष्फल होने से आप लज्जित ही हों (किन्तु) ।। ६८ ।।

वंशलक्ष्मीमनुद्धृत्य समुच्छेदेन विद्विषाम् ।
निर्वाणमपि मन्येऽहमन्तरायं जयश्रियः ।। ६९ ।।

अन्वयः—अहं विद्विषां समुच्छेदेन वंशलक्ष्मीम् अनुद्धृत्य निर्वाणम् अपि जयश्रियः अन्तरायं मन्ये ।। ६९ ।।

वंशेति ।। अहं तु विद्विषां शत्रूणां समुच्छेदेन विनाशेन करणेन वंशलक्ष्मीमनुद्धृत्यापुनरावर्त्यं निर्वाणं मोक्षमपि जयश्रियोऽन्तरायं विघ्नं मन्ये । न तु पुरुषार्थमित्यर्थः । किमुतान्योत्सवादिकमिति भावः ।। ६९ ।।

हिन्दी—मैं तो अपने शत्रुओं का संहार करके अपनी वंश-परम्परा द्वारा प्राप्त राज्यलक्ष्मी का उद्धार किये बिना मुक्ति को भी विजयश्री की प्राप्ति में बाधक ही मानता हूँ ।

नन्वयं ते दुराग्रह इत्यत आह —

अजन्मा पुरुषस्तावद्गतासुस्तृणमेव वा ।
यावन्नेषुभिरादत्ते विलुप्तमरिभिर्यशः ।। ७० ।।

अन्वयः—पुरुषः यावत् अरिभिः विलुप्तं यशः इषुभिः न आदत्ते तावत् अजन्मा गतासुः तृणम् एव वा ।। ७० ।।

अजन्मेति ।। पुरुषो यावत् अरिभिर्विलुप्तं संहृतं यश इषुभिर्नादत्ते । अरिवधेन न प्रत्याहरतीत्यर्थः । तावत् अजन्मा । अजातप्राय इत्यर्थः । नन्वजातो जननान्तरमुपयुज्यत एवेत्यरुच्या पक्षान्तरमाह—गतासुर्मृतः । मृततुल्य इत्यर्थः । मृतोऽपि प्रागुपयुक्तवानित्यरुच्याह—तृणमेवेति । तृणतुल्य इत्यर्थः । अकिञ्चित्करस्तु त्रैकाल्यानुपयोगाज्जीवन्मृत इत्यर्थः । अतो नाहमाग्रहाद् ब्रवीमि, किं तु वीरधर्ममनुपालयामीति भावः ।। ७० ।।

हिन्दी—मनुष्य जब तक शत्रुओं द्वारा विलुप्त अपने यश को अपने बाणों से पुनः नहीं प्राप्त कर लेता तब तक वह ऐसा है जैसे संसार में जन्म ही न लिया हो, मृतक-सा हो अथवा तिनके से भी गया बीता हो ।। ७० ।।

सर्वथा वैरनिर्यातनं कर्तव्यमित्युक्तम्, तदकरणे पुरुषगुणानां हानिदोषमाह—

अनिर्जयेन द्विषतां यस्यामर्षः प्रशाम्यति ।
पुरुषोक्तिः कथं तस्मिन् ब्रूहि त्वं हि तपोधन ।। ७१ ।।

अन्वयः—तपोधन ! त्वं हि ब्रूहि यस्य अमर्षः द्विषताम् अनिर्जयेन प्रशाम्यति तस्मिन् पुरुषोक्तिः कथम् ।। ७१ ।।

अनिर्जयेति ।। यस्यामर्षः क्रोधो द्विषतां शत्रूणाम् । अनिर्जयेन निर्जयं विनैव प्रशाम्यति । उपलक्षणे तृतीया । तस्मिन् पुरुष इत्युक्तिः 'पुरुष' शब्दः कथम् । न कथञ्चिदित्यर्थः । प्रवर्तत इति शेषः । प्रवृत्तिनिमित्तस्य पुरुषकारस्याभावादिति भावः । हे तपोधन ! त्वं हि त्वमेव ब्रूहि कथय । न च ते किञ्चिदविदितमस्तीति भावः । 'हि हेताववधारणे' इत्यमरः ।। ७१ ।।

हिन्दी—'वैरियों से बदला अवश्य लेना चाहिए'—ऐसा न करने से दोष है । अतः हे तपोधन! आप ही बतलाइये कि जिस मनुष्य का क्रोध शत्रु को निर्मूल किये बिना ही शान्त हो जाता है उसे पुरुष कैसे कहा जा सकता है? ।। ७१ ।।

ननु पुरुषत्वजात्यैव पुरुषोक्तिप्रवृत्तेः किंपुरुषकारेण, तत्राह—कृतमित्यादिद्वयेन—

कृतं पुरुषशब्देन जातिमात्रावलम्बिना ।
योऽङ्गीकृतगुणैः श्लाघ्यः सविस्मयमुदाहृतः ।। ७२ ।।

अन्वयः—जातिमात्रावलम्बिना पुरुषशब्देन कृतम् अङ्गीकृतगुणैः यः श्लाघ्यः सविस्मयम् उदाहृतः ।। ७२ ।।

कृतमिति ।। जातिमात्रावलम्बिना जातिमात्राभिधायिना पुरुषशब्देन कृतमलम् । न तेन किञ्चित्साध्यत इत्यर्थः । अत्र गम्यमानसाधनक्रियापेक्षया करणत्वात्तृतीयेत्युक्तं प्राक् । 'कृतम्' इति निषेधार्थकमव्ययं चादिषु पठ्यते । सत्यं जातिमात्रेऽपि 'पुरुष' शब्दः प्रवर्तते । परन्तु नासौ पुंसामाशास्यः पश्वादिसाधारण्यादिति तात्पर्यार्थः । तर्हि कीदृक्श्लाघ्य इत्याशङ्क्याह— य इत्यादिनार्थद्वयेन । अङ्गीकृतगुणैर्गुणपक्षातिभिः । यः पुमान् श्लाघ्यः स्तुत्यः सन्, सविस्मयं ससंभ्रमम् । उदाहृतः कथितः । पुंसा ईदृशेन भवितव्यमिति निदर्शितः ।। ७२ ।।

हिन्दी—पुरुषत्व जाति मात्र में प्रयुक्त होने वाले पुरुष शब्द से कुछ भी नहीं हो सकता (क्योंकि पशु आदि जीवों में भी तो पुरुष जाति रहती ही है ।) अतः सच्चा पुरुष तो वही है जो गुणग्राहियों द्वारा प्रशंसित हो और शीघ्रता में भी जिसका आदर्श रूप में उल्लेख किया जा सके ।। ७२ ।।

ग्रसमानमिवौजांसि सदसा गौरवेरितम् ।
नाम यस्याभिनन्दन्ति द्विषोऽपि स पुमान्पुमान् ॥ ७३ ॥

अन्वयः—सदसा गौरवेरितम् ओजांसि ग्रसमानम् इव यस्य नाम द्विषः अपि अभिनन्दन्ति सः पुमान् पुमान् ॥ ७३ ॥

ग्रसमानमिति ॥ किंच, सदसा सभया गौरवेणेरितं कथाप्रसङ्गेषु गौरवपूर्वकमुच्चारितं सत् । ओजांसि शृण्वतां तेजांसि ग्रसमानं गिलदिव स्थितं यस्य पुंसो नाम द्विषोऽप्यभिनन्दत्यनुमोदन्ते । किमुत सुहृद इति भावः । स पुंमान् पुंमान् । पुरुषत्वेन गण्यत इत्यर्थः । प्रथमः 'पुं' शब्दो जातिवचनः, द्वितीयो गुणवचनः । स एव श्लाघ्यः । अत्र पुमान्पुंमानिति तात्पर्यमात्रभेदभिन्नशब्दार्थपौनरुक्त्यलक्षणो लाटानुप्रासोऽलङ्कारः । तथा च सूत्रम् —'तात्पर्यभेदयुक्तो लाटानुप्रासः' इति ॥ ७३ ॥

हिन्दी—सभा एवं गोष्ठी आदि में गौरवपूर्वक लिया गया एवं सुनने वालों के तेज को ग्रसता हुआ जिसका नाम शत्रुओं द्वारा भी अभिनन्दनीय हो, वही पुरुष पुरुष है ॥ ७३ ॥

विमर्श—अर्थात् वही मनस्वी पुरुषों में गणनीय है । यहाँ लाटानुप्रास अलङ्कार है ।

ननु सत्सु भीमादिषु तवैवायं कोऽभिनिवेश इत्यत्राह —

यथाप्रतिज्ञं द्विषतां युधि प्रतिचिकीर्षया ।
ममैवाध्येति नृपतिस्तृष्यन्निव जलाञ्जलेः ॥ ७४ ॥

अन्वयः—नृपतिः यथाप्रतिज्ञं युधि द्विषतां प्रतिचिकीर्षया तुष्यन् जलाञ्जलेः इव मम एव अध्येति ॥ ७४ ॥

यथेति ॥ नृपतिर्युधिष्ठिरो यथाप्रतिज्ञं युधि द्विषतां प्रतिचिकीर्षया द्विषतः प्रतिकर्तुमिच्छया । प्रतिज्ञानुसारेणैव जिघांसयेत्यर्थः । तृष्यन् पिपासुः जलाञ्जलेरिव ममैवाध्येति इच्छति । कार्यसिद्धेर्मदायत्तत्वान्मामेव स्मरति, अतोऽयं ममाभिनिवेश इत्यर्थः । 'अधीगर्थ—' इत्यादिना कर्मणि षष्ठी ॥ ७४ ॥

हिन्दी—{यदि यह कहें कि भीम आदि के रहते हुए तुमको ही शत्रुओं से बदला चुकाने की इतनी चिन्ता क्यों है तो -} राजा युधिष्ठिर अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार शत्रुओं से बदला चुकाने के लिए उसी प्रकार से मेरा ही स्मरण करते हैं जिस प्रकार से तृषार्त व्यक्ति जल की अञ्जलि का स्मरण करता है ॥ ७४ ॥

ननु युधिष्ठिरः स्वार्थं साधयति, त्वया च स्वार्थमात्रमनुसंधीयतामित्यत आह—

स वंशस्यावदातस्य शशाङ्कस्येव लाञ्छनम् ।
कृच्छ्रेषु व्यर्थया यत्र भूयते भर्तुराज्ञया ॥ ७५ ॥

अन्वयः—सः अवदातस्य वंशस्य शशाङ्कस्य इव लाञ्छनम् यत्र कृच्छ्रेषु भर्तुः आज्ञया व्यर्थया भूयते ॥ ७५ ॥

स इति ॥ स नरोऽवदातस्य स्वच्छस्य वंशस्य शशाङ्कस्येव लाञ्छनं कलङ्कः। यत्र यस्मिन्पुरुषे कृच्छ्रेषु व्यसनेषु भर्तुः स्वामिन आज्ञया व्यर्थता भूयते । भावे लट् । आपदि स्वार्थसाधकः कुलघातकः तत्कथं स्वार्थनिष्ठकार्यता युक्तेत्यर्थः ॥ ७५ ॥

हिन्दी—वह व्यक्ति अपने निर्मल वंश के लिये चन्द्रमा के कलङ्क के समान कलङ्क है जो आपत्ति के समय गृह-स्वामी की आज्ञा का पालन नहीं करता ॥ ७५ ॥

यदुक्तम्—'विजहीहि रणोत्साहम्' (श्लो० ३१) इत्यादि, तत्रोत्तरमाह—

कथं वादीयतामर्वाङ्मुनिता धर्मरोधिनी ।
आश्रमानुक्रमः पूर्वैः स्मर्यते न व्यतिक्रमः ॥ ७६ ॥

अन्वयः—धर्मरोधिनी अर्वाक् मुनिता कथं वा आदीयताम् पूर्वैः आश्रमानुक्रमः स्मर्यते न व्यतिक्रमः ॥ ७६ ॥

कथमिति ॥ धर्मरोधिनी धर्मविरोधिनी । अर्वाक्गार्हस्थ्यात्प्रागेव मुनिता वानप्रस्थत्वं चतुर्थाश्रमता वा । वर्णप्रक्रमेण तस्य विधानात् । 'त्रयाणां वर्णानां वेदमधीत्य चत्वार आश्रमाः' इति सूत्रकारवचनाच्च क्षत्रियस्यापि कैश्चिदिष्टत्वात् । तदेतत्सम्यग्विवेचितमस्माभी रघुवंशसञ्जीविन्याम् (स० ८।१४) — 'स किलाश्रममन्त्यमाश्रितः' इत्यत्र । कथं वा आदीयतां मया कथं वाऽङ्गीक्रियताम् । संप्रश्ने लोट् । तथा हि—पूर्वैर्मन्वादिभिराश्रमानुक्रमः स्मर्यते । न तु व्यतिक्रमः । ब्रह्मचारी भूत्वा गृही भवेत्, गृही भूत्वा वनी भवेत्, वनी भूत्वा प्रव्रजेत्' इति श्रुत्यनुसारादित्यर्थः । एतदपि 'चत्वार आश्रमाः' इत्येतत्पक्षमाश्रित्योक्तम् । 'यदि चेद्वैराग्यं तदा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद् गृहाद्वा वनाद्वा' इति व्युत्क्रमपक्षस्यादि श्रवणात् सामान्येन विशेषणसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ७६ ॥

हिन्दी—गृहस्थाश्रम से पहिले ही इस धर्मविरोधिनी वानप्रस्थाश्रम की वृत्ति का आप मुझे क्यों उपदेश कर रहे हैं, क्योंकि मनुप्रभृति धर्मशास्त्रकारों ने तो चारों आश्रमों का उपदेश क्रमानुसार ही किया है, व्यतिक्रम से नहीं किया है ॥ ७६ ॥

ननु भवान्गृहस्थ एव तत्कथमर्वाङ्मुनित्वविरोध इत्याशङ्क्य, सत्यं गृहस्थोऽस्मि, तथापि कृतनिखिलगृहस्थकर्तव्यस्यैव वानप्रस्थाधिकारो न गृहस्थमात्रस्य । न चाहमद्यापि कृतकृत्य इत्युत्तरमाह—

आसक्ता धूरियं रूढा जननी दूरगा च मे ।
तिरस्करोति स्वातन्त्र्यं ज्यायांश्चाचारवान्नृपः ॥ ७७ ॥

अन्वयः—आसक्ता रूढ़ा इयं धूः दूरगा जननी च नृपः आचारवान् ज्यायान् च मे स्वातन्त्र्यम् तिरस्करोति ।। ७७ ।।

आसक्तेति ।। आसक्ता लग्ना । अवश्यं कर्तव्येत्यर्थः । रूढा प्रसिद्धा । महतीत्यर्थः । इयं पूर्वोक्ता धूः वैरिनिर्यातनभारः । दूरगा दूरवर्तिनी जननी च मातापि तथा, नृपोऽप्याचारवान् । तपोऽधिक इत्यर्थः । तत्रापि ज्यायान् ज्येष्ठो नृपो युधिष्ठिरश्च मे मम स्वातन्त्र्यं स्वाच्छन्द्यं तिरस्करोति दूरीकरोति । आश्रमान्तरं प्रतिबध्नातीत्यर्थः । तिरस्करोतीति प्रत्येकमभिसम्बध्यते । अन्यथा बहुवचनप्रसङ्गात् ।। ७७ ।।

हिन्दी—{यदि आप यह कहें कि मैं गृहस्थ हूँ, इसके बाद वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश करना क्रमानुसार ही है तो मैं कहूँगा कि उसी गृहस्थ को वानप्रस्थ में प्रविष्ट होने का अधिकार है जो गृहस्थ धर्म का पूर्णतया पालन कर चुका हो, मैं तो अभी गृहस्थ धर्म के अनेक आचरणों का पालन नहीं कर सका हूँ, क्योंकि -}

शत्रु से बदला चुकाने का यह गुरु भार मुझपर है, इस समय मेरी माता दूर हैं एवं मेरे आचारनिष्ठ ज्येष्ठ भ्राता युधिष्ठिर हैं - ये तीनों मेरी स्वतन्त्रता को दूर करने वाले हैं ।। ७७ ।।

उक्तमर्थमुपसंहरति —

स्वधर्ममनुरुन्धन्ते नातिक्रममरातिभिः ।
पलायन्ते कृतध्वंसा नाहवान्मानशालिनः ।। ७८ ।।

अन्वयः—मानशालिनः स्वधर्मम् अनुरुन्धन्ते न अतिक्रमम् अरातिभिः कृतध्वंसाः आहवात् न पलायन्ते ।। ७८ ।।

स्वधर्ममिति ।। मानशालिनः स्वधर्मं क्षात्रधर्ममनुरुन्धन्तेऽनुवर्तन्ते । अतिक्रमं स्वधर्मातिक्रमं नानुरुन्धन्ते । ततः किमत आह—अरातिभिरिति । अरातिभिः कृतध्वंसाः कृतापकाराः सन्त आहवान्न पलायन्ते । अयमेव स्वधर्मानुरोध इत्यर्थः । 'उपसर्गस्यायतौ' इति रेफस्य लत्वम् । अत्र मनुः— ' न निवर्तेत सङ्ग्रामात् क्षात्रधर्ममनुस्मरन्' इति । अत्रोत्तरवाक्यार्थं प्रति पूर्ववाक्यार्थस्य हेतुत्वाद्वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः ।। ७८ ।।

हिन्दी—मानी लोग अपने धर्म का अनुसरण करते हैं, उसका उल्लङ्घन नहीं करते । शत्रुओं से अपकृत पुरुष युद्ध से पलायन नहीं करते ।। ७८ ।।

विमर्श—यहाँ वाक्यार्थहेतुक काव्यलिङ्ग अलङ्कार है ।

किं बहुना, ममायं निश्चयः श्रूयतामित्याह —

विच्छिन्नाभ्रविलायं वा विलीये नगमूर्धनि ।
आराध्य वा सहस्राक्षमयशः शल्यमुद्धरे ।। ७९ ।।

अन्वयः—विच्छिन्नाभ्रविलायम् नगमूर्धनि विलीये वा सहस्राक्षम् आराध्य अयशः शल्यम् उद्धरे ॥ ७९ ॥

विच्छिन्नेति॥ विच्छिन्नं वाताहतं यदभ्रं तदिव विलीयेति विच्छिन्नाभ्रविलायं यथा तथा। 'उपमाने कर्मणि च' इति कर्तुर्युपपदे णमुल्। नगमूर्धनि अस्मिन्गिरिशृङ्गे विलीये विशीर्ये वा। कषादिषु यथाविध्यनुप्रयोगः। यद्वा, 'सहस्राक्षमिन्द्रम्, आराध्यायश एव शल्यं तत्। उद्धर उद्धरिष्यामि। न तु गत्यन्तरशङ्केत्यर्थः। 'वा' शब्दो विकल्पे ॥ ७९ ॥

हिन्दी—वायु से छिन्न-भिन्न होकर जिस प्रकार बादल विलीन हो जाता है, उसी प्रकार मैं भी इस पर्वत पर या तो विलीन हो जाऊँगा या इन्द्र की सम्यक् आराधना कर अपने अपयश-रूपी कण्टक का उद्धार करूँगा ॥ ७९ ॥

इत्युक्तवन्तं परिरभ्य दोर्भ्यां तनूजमाविष्कृतदिव्यमूर्तिः।
अघोपघातं मघवा विभूत्यै भवोद्भवाराधनमादिदेश ॥ ८० ॥

अन्वयः—मघवा इति उक्तवन्तम् तनूजम् आविष्कृतदिव्यमूर्तिः दोर्भ्यां परिरभ्य विभूत्यै अघोपघातं भवोद्भवाराधनम् आदिदेश ॥ ८० ॥

इतीति ॥ मघवा इन्द्रः। इत्युक्तवन्तं तनूजं पुत्रमर्जुनम्। आविष्कृता प्रकटिता दिव्यमूर्तिर्निजरूपं येन स तथोक्तः सन्। दोर्भ्यां बाहुभ्यां परिरभ्य विभूत्यै श्रेयसे। उपहन्यतेऽनेनेत्युपघातम्। करणे घञ्प्रत्ययः। अघानां दुःखानामुपघातं अघोपघातम्। भवः संसारस्तस्योद्भवः कारणमिति भवोद्भवः शिवस्तस्य आराधनमुपासनम्। आदिदेश। शिवमुद्दिश्य तपश्चरेत्याज्ञापयामासेत्यर्थः ॥ ८० ॥

हिन्दी—देवराज इन्द्र ने अपने दिव्य रूप को प्रकट करके इस प्रकार की बातें कहते हुए अपने पुत्र को दोनों बाहुओं से आलिङ्गन करके अभीष्ट सिद्धि के लिए सम्पूर्ण दुःखों को नाश करने वाली इस संसार के आदिकारण शिव जी की आराधना करने का उपदेश किया ॥ ८० ॥

प्रीते पिनाकिनि मया सह लोकपालै-
र्लोकत्रयेऽपि विहिताप्रतिवार्यवीर्यः।
लक्ष्मीं समुत्सुकयितासि भृशं परेषा-
मुच्चार्य वाचमिति तेन तिरोबभूवे ॥ ८१ ॥

॥ इति भारविकृतौ महाकाव्ये किरातार्जुनीये एकादशः सर्गः ॥ ११ ॥



अन्वय:—पिनाकिनि प्रीते लोकपालै: सह मया लोकत्रये अपि विहिता-प्रतिवार्यवीर्य: परेषां लक्ष्मीम् भृशम् समुत्सुकयिता असि इति वाचम् उच्चार्य तेन तिरोबभूवे ।। ८१ ।।

प्रीत इति ।। पिनाकिनि शिवे प्रीते सति लोकपाल: सह मया लोकत्रयेऽपि विहितं दत्तं अप्रतिवार्यमनिवार्यं वीर्यं यस्य स तथोक्त: सन् । परेषां शत्रूणां लक्ष्मीं भृश समुत्सुकयिताऽसि समुत्सुकां त्वय्यनुरक्तां कर्ताऽसि । पुनराहरिष्यसीत्यर्थ: । वीरभोग्या: संपद इति भाव: । 'उत्सुक' शब्दात् 'तत्करोति' इति ण्यन्तात्कर्तरि लुट् । इति वाचमुच्चार्य, तेन इन्द्रेण तिरोबभूवेऽन्तर्दधे । भावे लिट् ।। ८१ ।।

।। इति श्रीमहामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितायां किरातार्जुनीयकाव्य व्याख्यायां घण्टापथसमाख्यायां एकादश: सर्ग: समाप्त: ।। ११ ।।



हिन्दी—भगवान् शिव के प्रसन्न होने पर लोकपालों के साथ मैं तुम्हें ऐसी शक्ति प्रदान करूँगा, जिसका निवारण तीनों लोकों में नहीं हो सकता, उसके प्रभाव से तुम शत्रुओं की लक्ष्मी को अपनी ओर समुत्कण्ठित कर लोगे - ऐसी बातें कहते हुए देवराज इन्द्र (वहीं) अन्तर्धान हो गए ।। ८१ ।।

।। इस प्रकार श्रीभारविकृत किरातार्जुनीयम् महाकाव्य के ग्यारहवें सर्ग की डॉ सुधाकर मालवीय कृत हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ।। ११ ।।



द्वादशः सर्गः

अथ वासवस्य वचनेन रुचिरवदनस्त्रिलोचनम् ।
क्लान्तिरहितमभिराधयितुं विधिवत्तपांसि विदधे धनञ्जयः ॥१ ॥

अन्वयः—अथ रुचिरवदनः धनञ्जयः वासवस्य वचनेन त्रिलोचनं क्लान्तिरहितम् अभिराधयितुं तपांसि विधिवत् विदधे ॥ १ ॥

अथेति ॥ अथ इन्द्रतिरोधानानन्तरं रुचिरवदन इन्द्रसाक्षात्कारसंतोषात् प्रसन्नमुखो धनञ्जयोऽर्जुनो वासवस्य वचनेन उपदेशेन त्रिलोचनं शिवं क्लान्तिरहितं यथा तथा, अभिराधयितुं प्रसादयितुं तपांसि विधिवत् विध्यर्हम् । यथाशास्त्रमित्यर्थः । 'तदर्हम्' इति वतिप्रत्ययः । विदधे चक्रे । अस्मिन्सर्गे उद्गतावृत्तम् — 'सजसादिमे सलघुकौ च नसजगुरुकैरथोद्गता । त्र्यङ्घ्रिगतभनजला गयुताः सजसा जगौ चरणमेकतः पठेत् ॥' इति लक्षणात् ॥१ ॥

हिन्दी—तदनन्तर अपने पिता इन्द्र के साक्षात्कार से सन्तुष्ट होने के कारण प्रसन्नमुख अर्जुन इन्द्र के उपदेशानुसार श्रान्तिरहित हो शङ्कर जी को प्रसन्न करने के लिए शास्त्रीय विधि से तपस्या करने में लग गये ॥ १ ॥

विमर्श—इस सर्ग में उद्गता छन्द है ।

अभिरश्मिमालि विमलस्य धृतजयधृतेरनाशुषः ।
तस्य भुवि बहुतिथास्तिथयः प्रतिजग्मुरेकचरणं निषीदतः ॥ २ ॥

अन्वयः—अभिरश्मिमालि भुवि एकचरणम् निषीदतः विमलस्य धृतजयधृतेः अनाशुषः तस्य बहुतिथाः तिथयः प्रतिजग्मुः ॥ २ ॥

अभिरश्मीति ॥ अभिरश्मिमालि अभिसूर्यं सूर्याभिमुखं भुवि एकचरणं निषीदत एकचरणेन तिष्ठतो विमलस्य बाह्यान्तरशुद्धिमतः । धृता जयधृतिर्जयेच्छा येन तस्य । अनाशुषोऽनश्नतः । 'उपेयिवाननाश्वाननूचानश्च' इति निपातः । तस्यार्जुनस्य बहूनां पूरणा बहुतिथाः । बहुसंख्याका इत्यर्थः । 'तस्य पूरणे डट्' । 'बहुपूगगण सङ्घस्य तिथुक्' इति तिथुगागमः । तिथयो दिनानि प्रतिजग्मुः । अत्र 'तिथि' शब्दः पुल्लिङ्गः । 'तदाद्यास्तिथयो द्वयोः' इत्यभिधानात् । अन्यथा बहुतिथा इत्यत्र टित्वान्ङीप्स्यात् ॥ २ ॥

हिन्दी—सूर्य के अभिमुख होकर पृथ्वी पर एक चरण से खड़े हुए, भीतर बाहर विशुद्ध एवं जय की कामना से युक्त, निराहार अर्जुन को तपस्या करते हुए अनेक तिथियाँ बीत गयीं ॥ २ ॥

वपुरिन्द्रियोपतपनेषु सततमसुखेषु पाण्डवः ।
व्याप नगपतिरिव स्थिरतां महतां हि धैर्यमविभाव्यवैभवम् ॥ ३ ॥

अन्वयः—पाण्डवः सततम् वपुरिन्द्रियोपतपनेषु असुखेषु नगपतिः इव स्थिरताम् व्याप । हि महताम् धैर्य्यम् अविभाव्यवैभवम् ॥ ३ ॥

वपुरिति ॥ पाण्डवोऽर्जुनः । सततं वपुष इन्द्रियाणां च उपतपनेषु संतापकरेषु । करणे ल्युट् । असुखेष्वनशनादिदुःखेष्वपि नगपतिर्गिरीन्द्र इव स्थिरतां दाढर्यं व्याप प्राप । तथा हि—महतां धैर्यमविभाव्यं दुर्बोधं वैभवं सामर्थ्यं यस्य तत्तथोक्तम् । धीराणामकिञ्चित्करं दुःखमिति भावः ॥ ३ ॥

हिन्दी—अर्जुन निरन्तर शरीर और इन्द्रियों को सन्तप्त करने वाले अनशन आदि दुःखों को सहन करते हुए हिमालय की भाँति स्थिर बने रहे । क्यों न हो महान् पुरुषों के धर्म को कोई जान नहीं सकता ॥ ३ ॥

न पपात सन्निहितपक्तिसुरभिषु फलेषु मानसम् ।
तस्य शुचिनि शिशिरे च पयस्यमृतायते हि सुतपः सुकर्मणाम् ॥ ४ ॥

अन्वयः—तस्य मानसम् सन्निहितपक्तिसुरभिषु फलेषु शुचिनि शिशिरे पयसि च न पपात । हि सुकर्म्मणाम् सुतपः अमृतायते ॥ ४ ॥

नेति ॥ तस्यार्जुनस्य मानसं मनः संनिहितानि समीपस्थानि यानि पक्तिसुरभीणि पाकसुगन्धीनि तेषु फलेषु । तथा, शुचिनि स्वच्छे शिशिरे शीतले पयसि च न पपात । न किञ्चिदाचकाङ्क्षेति भावः । प्राणधारणं तु तस्य तप एवेत्याह — तथापि —सुकर्मणां सुकृतिनां शोभनं तपः सुतप एव अमृतायतेऽमृतवदाचरति । किं तपस्तृप्तानां तर्पणान्तरैरिति भावः । 'लोहितादिडाज्भ्यः क्यष्' । 'वा क्यषः' इत्यात्मनेपदम् । लोहितादिराकृतिगणः ॥ ४ ॥

हिन्दी—अर्जुन का मन समीप ही स्थित सुगन्धयुक्त फलों में एवं स्वच्छ शीतल जल में भी नहीं आसक्त होता था । क्यों न हो पुण्यकर्मा लोगों का उत्तम तप ही अमृत के समान होता है ॥ ४ ॥

न विसिस्मिये न विषसाद मुहुरलसतां न चाददे ।
सत्त्वमुरुधृति रजस्तमसी न हतः स्म तस्य हतशक्तिपेलवे ॥ ५ ॥

अन्वयः—सः न विसिस्मिये न विषसाद । मुहुः अलसताम् च न आददे हतशक्तिपेलवे रजस्तमसी उरुधृति तस्य सत्त्वम् न हतः स्म ॥ ५ ॥

नेति ।। सोऽर्जुनो न विसिस्मिये । 'अहो महत्तपस्तप्तम्' इति न विस्मयं जगाम । 'तपः क्षरति विस्मयात्' इति स्मृतेरिति भावः । न विषसाद फलविलम्बाद्गतोत्साहो न बभूव । 'विषादश्चेतसो भङ्गः' इति लक्षणात् । 'सदिरप्रतेः; इति षत्वम् । मुहुरलसतां च नाददे । तपसि मन्दोद्यमत्वं च नागमदिति भावः । किंच, हतशक्तिनी हतसारे अत एव पेलवे भङ्गुरे ते हतशक्तिपेलवे रजस्तमसी गुणौ, उरुधृति महासारं तस्यार्जुनस्य सत्त्वं सत्त्वगुणं न हतः स्म न हतवती । हन्तेः 'लट् स्मे' इति भूतार्थे लट् ।। ५ ।।

हिन्दी—अर्जुन कभी यह सोचकर विस्मित नहीं होते थे कि—अहो मैंने प्रचण्ड तपस्या की और इसके लिए कभी विषाद नहीं किया कि मेरी तपस्या का अभी तक कोई फल नहीं मिला । तपस्या करने में उन्होंने कभी आलस्य भी नहीं किया । निस्तेज होने के कारण नश्वर रजस् एवं तमोगुण उस महान् धैर्यशाली के पराक्रम को कभी विचलित नहीं कर सके ।। ५ ।।

तपसा कृशं वपुरुवाह स विजितजगत्त्रयोदयम् ।
त्रासजननमपि तत्त्वविदां किमिवास्ति यन्न सुकरं मनस्विभिः ।। ६ ।।

अन्वयः—सः तपसा कृशं विजितजगत्त्रयोदयं तत्वविदां अपि त्रासजननम् वपुः उवाह यत् मनस्विभिः सुकर किम् इव न अस्ति ।। ६ ।।

तपसेति ।। सोऽर्जुनः तपसा कृशं तथापि विजितो जगत्त्रयस्य भुवनत्रयस्य उदय उत्कर्षो येन तत्तथोक्तम् । किंच, तत्त्वविदामपि लोकहितार्थतत्त्वं जानतामपि त्रासजननं भयङ्करं वपुः । उवाह वहति स्म । न चैतच्चित्रमित्याह — किमिति । यत् मनस्विभिर्न सुकरं तत् किमिवास्ति । न किमपीत्यर्थः । 'इव' शब्दो वाक्यालङ्कारे । 'मनस्विनाम्' इति पाठे शेषे षष्ठी स्यादेव । कृद्योगलक्षणायाः 'न लोक'— इत्यादिना निषेधात् ।। ६ ।।

हिन्दी—अर्जुन का शरीर तपस्या के कारण अत्यन्त कृश हो गया था तब भी उन्होंने तीनों लोकों के उत्कर्ष को जीत लिया था । उस शरीर को देखने से तत्त्वज्ञ लोग भी भयभीत हो जाते थे । सच है, मनस्वी पुरुषों के लिए जो सुकर न हो, ऐसा संसार में कौन-सा कार्य है ।। ६ ।।

ज्वलतोऽनलादनुनिशीथमधिकरुचिरम्भसां निधेः ।
धैर्यगुणमवजयन्विजयी ददृशे समुन्नततरः स शैलतः ।। ७ ।।

अन्वयः—विजयी सः अनुनिशीथं ज्वलतः अनलात् अधिकरुचिः अम्भसां निधेः धैर्य्यगुणम् अवजयन् शैलतः समुन्नततरः ददृशे ।। ७ ।।

ज्वलत इति ।। विजयी सोऽर्जुनः । अनुनिशीथमर्धरात्रे । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । 'अर्धरात्रनिशीथौ द्वौ' इत्यमरः । ज्वलतो दीप्यमानात् । अनलादग्नेः ।

अधिकरुचिर्दीप्यमानः । तथा, अम्भसां निधेर्धैर्यं गाम्भीर्यं तदेव गुणस्तम्, अवजयन् । किंच, शैलतः शैलादपि समुन्नततरो ददृशे दृष्टः । अत्र रुच्यादिभिरनलाद्याधिक्यासम्बन्धे सम्बन्धाभिधानादतिशयोक्तिरलङ्कारः ॥७ ॥

हिन्दी—विजयी अर्जुन आधी रात के समय जलती हुई अग्नि से भी अधिक तेजस्वी एवं जलनिधि समुद्र की गंभीरता को भी तिरस्कृत करते हुये पर्वत से भी अधिक ऊँचे दिखाई पड़ने लगे ॥ ७ ॥

विमर्श—यहाँ अतिशयोक्ति अलङ्कार है ।

जपतः सदा जपमुपांशु वदनमभितो विसारिभिः ।
तस्य दशनकिरणैः शुशुभे परिवेषभीषणमिवार्कमण्डलम् ॥ ८ ॥

अन्वयः—सदा उपांशु जपं जपता तस्य वदनम् अभितः विसारिभि दशनकिरणैः परिवेषभीषणम् अर्कमण्डलम् इव शुशुभे ॥ ८ ॥

जपत इति ॥ सदा उपांशु रहः । गूढमित्यर्थः । 'रहश्चोपांशु चालिङ्गे' इत्यमरः । 'करणवदनशब्दमनुप्रयोग उपांशु' इति कौमारलक्षणम् । जप्यत इति जपस्तं जपम् । मन्त्रमित्यर्थः । जपतः पठतः । तस्यार्जुनस्य वदनं कर्तृ अभितो विसारिभिः प्रसरणशीलैः । दशनकिरणैर्हेतुभिः परिवेषभीषणमर्कमण्डलमिव शुशुभे । 'परिवेषस्तु परिधिरुपसूर्यकमण्डले' इत्यमरः ॥ ८ ॥

हिन्दी—सर्वदा एकान्त में धीरे-धीरे मन्त्र-जप करते हुए अर्जुन का मुखमण्डल चारों ओर से फैली हुई दाँतों की श्वेत किरणों द्वारा परिधि से भयङ्कर सूर्यमण्डल की भाँति शोभायमान हो रहा था ॥ ८ ॥

कवचं स बिभ्रदुपवीतपदनिहितसज्यकार्मुकः ।
शैलपतिरिव महेन्द्रधनुःपरिवीतभीमगहनो विदिद्युते ॥ ९ ॥

अन्वयः—कवचम् बिभ्रत् उपवीतपदनिहितसज्यकार्मुकः सः महेन्द्रधनुःपरिवीतभीमगहनः शैलपतिः इव विदिद्युते ॥ ९ ॥

कवचमिति ॥ कवचं वर्म बिभ्रदुपवीतपदे यज्ञोपवीतस्थाने निहितमारोपितं सज्यं कार्मुकं येन स तथोक्तः । सोऽर्जुनो महेन्द्रधनुषा परिवीतं परिवेष्टितं भीमं गहनं वनं यस्य स शैलपतिरिव हिमवानिव विदिद्युते शुशुभे ॥ ९ ॥

हिन्दी—कवच धारण किये हुए एवं यज्ञोपवीत के स्थान पर प्रत्यंचा समेत धनुष धारण किये हुए अर्जुन इन्द्रधनुष से परिवेष्ठित एवं घने दुर्गम वनों से व्याप्त हिमालय की भाँति सुशोभित हो रहे थे ॥ ९ ॥

प्रविवेश गामिव कृशस्य नियमसवनाय गच्छतः ।
तस्य पदविनमितो हिमवान् गुरुतां नयन्ति हि गुणा न संहतिः ॥१० ॥

अन्वयः—नियमसवनाय कृशस्य गच्छतः तस्य पदविनमिता हिमवान् गाम् प्रविवेश । गुणाः गुरुतां नयन्ति हि संहतिः न ॥ १० ॥

प्रविवेशेति ॥ नियमसवनाय नियमस्नानाय । 'सवनं त्वध्वरे स्नाने सोमनिर्दलनेऽपि च' इति विश्वः । गच्छतः तस्यार्जुनस्य पदैः पादन्यासैर्विनमितो हिमवान् गां भुवं प्रविवेशेत्युत्प्रेक्षा । ननु कृशस्य कथमियद् गौरवम्, तत्राह—गुणाः सारादयो गुरुतां नयन्ति प्रापयन्ति हि । संहतिः सङ्घातः । मूर्तिरिति यावत् न नयन्ति । अन्तःसाराद्धि गौरवं भवति । न तु बाह्यात्स्थौल्यात्; तत्र च हेमपिण्ड- तूलपिण्डावेव निदर्शनमिति भावः ॥१० ॥

हिन्दी—विधिविहित स्नान के लिए जाते हुए दुर्बलाङ्ग अर्जुन के चरणों के भार से नीचे की ओर दबता हुआ हिमालय धरती में धँसता-सा प्रतीत हो रहा था । सच है, आन्तरिक शक्ति से ही गुरुता (वजन) अधिक होती है, बाहरी स्थूलता से नहीं ॥ १० ॥

परिकीर्णमुद्यतभुजस्य भुवनविवरे दुरासदम् ।
ज्योतिरुपरि शिरसो विततं जगृहे निजान्मुनिदिवौकसां पथः ॥ ११ ॥

अन्वयः—उद्यतभुजस्य शिरसः उपरि विततं भुवनविवरे परिकीर्णं दुरासदं ज्योतिः मुनिदिवौकसां निजान् पथः जगृहे ॥ ११ ॥

परिकीर्णमिति ॥ उद्यतभुजस्य ऊर्ध्वबाहोस्तस्य शिरस उपरि । 'षष्ठ्यतसर्थ-प्रत्ययेन' इति षष्ठी । विततं विस्तृतं भुवनयोर्विवरे द्यावापृथिव्योरन्तराले परिकीर्णं-व्याप्तं दुरासदं दुर्धर्षं ज्योतिस्तेजो मुनीनां दिवौकसां च निजान् नियतान् पथो मार्गान् । जगृहे जग्राह । प्रतिबबन्धेत्यर्थः ॥ ११ ॥

हिन्दी—ऊर्ध्व बाहु होकर तपस्या में निरत अर्जुन के शिर के ऊपर विस्तृत, आकाश और पृथ्वी मण्डल के अन्तराल में व्याप्त एक दुर्द्धर्ष तेज ने देवताओं और मुनियों के लिए नियत मार्गों को अवरुद्ध कर दिया था ॥ ११ ॥

रजनीषु राजतनयस्य बहुलसमयेऽपि धामभिः ।
भिन्नतिमिरनिकरं न जहे शशिरश्मिसङ्गमयुजा नभः श्रिया ॥१२ ॥

अन्वयः—बहुलसमये अपि रजनीषु राजतनयस्य धामभिः भिन्नतिमिरनिकरं नभः शशिरश्मिसङ्गमयुजा श्रिया न जहे ॥ १२ ॥

रजनीष्विति ॥ बहुलसमये कृष्णपक्षेऽपि रजनीषु राजतनयस्यार्जुनस्य धाम-भिस्तेजोभिर्भिन्नस्तिमिरनिकरो यस्य तत् । नभः शशिरश्मीनां सङ्गमेन हेतुना युजा सङ्गतया श्रिया । तच्छ्रीतुल्यया श्रियेत्यर्थः । अत एव निदर्शनालङ्कारः । न जहे न त्यक्तम् । जहातेः कर्मणि लिट् । ज्योत्स्नातुल्यं ज्योतिर्जातमित्यर्थः ॥१२ ॥

हिन्दी—कृष्णपक्ष में भी रात्रि के समय राजपुत्र अर्जुन के तेज से आकाश

मण्डल का अन्धकार नष्ट हो गया था अतएव चन्द्रमा की संगिनी श्री ने उस आकाश का त्याग नहीं किया ।। १२ ।।

विमर्श—तात्पर्य यह है कि कृष्णपक्ष में भी इन्द्रकील के उस शिखर पर अर्जुन के तेज से आकाश प्रकाशयुक्त रहता था । यहाँ निदर्शना अलङ्कार है ।

महता मयूखनिचयेन शमितरुचि जिष्णुजन्मना ।
ह्रीतमिव नभसि वीतमले न विराजते स्म वपुरंशुमालिनः ।। १३ ।।

अन्वयः—जिष्णुजन्मना महता मयूखनिचयेन शमितरुचि अंशुमालिनः वपुः ह्रीतम् इव वीतमले नभसि न विराजते स्म ।। १३ ।।

महतेति ।। जिष्णोरर्जुनाज्जन्म यस्य तेन । जन्मोत्तरपदत्वाद्व्यधिकरणो बहुव्रीहिः । महता मयूखनिचयेन बहुकिरणसमूहेन शमितरुचि हतप्रभम् । अंशुमालिनो वपुरर्क बिम्बं ह्रीतं जितत्वाल्लज्जितमिवेत्युत्प्रेक्षा । वीतमले विमले । मेघनीहाराद्यावरणरहितेऽपीत्यर्थः । नभसि न विराजते स्म ।। १३ ।।

हिन्दी—अर्जुन के शरीर से निकलने वाली तेज की किरण-मालाओं से हतप्रभ सूर्य नारायण का मण्डल मानों लज्जित-सा होकर निर्मल आकाश में भी सुशोभित नहीं हो रहा था ।। १३ ।।

विमर्श—यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ।

तमुदीरितारुणजटांशुमधिगुणशरासनं जनाः ।
रुद्रमनुदितललाटदृशं ददृशुर्मिमन्थिषुमिवासुरीः पुरीः ।। १४ ।।

अन्वयः—उदीरितारुणजांशुम् अधिगुणशरासनं तं जनाः आसुरीः पुरीः मिमन्थिषुम् अनुदितललाटदृशं रुद्रम् इव ददृशुः ।। १४ ।।

तमिति ।। उदीरिता उद्गता अरुणाः जटानामंशवो यस्य । तमधिगुणमधिज्यं शरासनं यस्य । तं अर्जुनम् । जनाः सिद्धगणाः । आसुरीरसुरसम्बन्धिनीः पुरीर्मिमन्थिषुं मथितुमिच्छुम् । मथेः सन्नन्तादुप्रत्ययः । तथा, अनुदिताऽनुत्पन्ना ललाटे दृक् यस्य तं साक्षात्त्रिपुरविजयोद्यतमभालाक्षं रुद्रमिव ददृशुः । अत्राभालाक्षस्य रुद्रस्यासंभवात्स्वतः सिद्धोपमानासिद्धेर्नेयमुपमा, किन्तूत्प्रेक्षा । सा चाभालाक्षमित्युपमानादुपमेयस्य नूतनत्वकथनार्थेऽन्वयव्यतिरेकेणोज्जीवितेत्यनयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः । उपमा तु व्यज्यत इत्यलङ्कारेणालङ्कारध्वनिः ।। १४ ।।

हिन्दी—अर्जुन की अरुण वर्ण की जटाओं से तेज की किरणें निकल रही थीं, और उनके धनुष पर प्रत्यञ्चा खिंची हुई थी । उस समय उन्हें लोगों ने दानवों के नगर (त्रिपुर) को विध्वंस करने के इच्छुक उन शङ्कर भगवान् के समान देखा, जिनके ललाट पर तीसरा नेत्र न खुला हो ।। १४ ।।

विमर्श—उत्प्रेक्षा अलङ्कार से उपमा अलङ्कार की ध्वनि ।

मरुतां पतिः स्विदहिमांशुरुत पृथुशिखः शिखी तपः ।
तप्तुमसुकरमुपक्रमते न जनोऽयमित्यवययये स तापसैः ॥१५ ॥

अन्वयः—मरुतां पतिः स्वित् अहिमांशुः उत पृथुशिखः शिखी असुकरम् तपः तप्तुम् उपक्रमते अयं जनः न । सः तापसैः इति अवयये ॥ १५ ॥

मरुतामिति ॥ मरुतां पतिः स्वित् देवेन्द्रो वा । अहिमांशुरुत सूर्यो वा । पृथुशिखो महाज्वालः शिखी पावको वा । असुकरं दुष्करं तपस्तप्तुमुपक्रमते । अयं जनः पुरुषः कश्चित्प्राकृतो न, इति सोऽर्जुनः । तापसैस्तपस्विभिः । 'अण् च' इति मत्वर्थीयोऽण्प्रत्ययः । अवययेऽवगतः । यातेरवपूर्वात्कर्मणि लिट् । अत्रेन्द्रत्वादिकं धर्ममारोप्य जनत्वापवादात्साम्यमारोप्यापह्नवालङ्कारः । सामान्यलक्षणं तु—'निषिद्ध-विषये साम्यारोपो ह्यपह्नवः' इति ॥१५ ॥

हिन्दी—वे इन्द्र हैं अथवा सूर्य हैं अथवा विकराल ज्वाल-मालाओं से विभूषित अग्नि देव हैं, जो कठोर तपस्या के लिए प्रस्तुत हैं? यह कोई साधारण पुरुष नहीं हैं? इस प्रकार वहाँ के तपस्वी जनों ने अर्जुन के सम्बन्ध में जाना ॥ १५ ॥

विमर्श—यहाँ अपह्नव अलङ्कार है ।

न ददाह भूरुहवनानि हरितनयधाम दूरगम् ।
न स्म नयति परिशोषमपः सुसहं बभूव न च सिद्धतापसैः ॥१६ ॥

अन्वयः—दूरगं हरितनयधाम भूरुहवनानि न ददाह । अपः परिशोषं न नयति स्म । सिद्धतापसैः सुसहं न बभूव ॥ १६ ॥

न ददाहेति ॥ दूरगम् । व्यापकमित्यर्थः । हरितनयस्य इन्द्रसुतस्यार्जुनस्य धाम तेजो भूरुहवनानि वृक्षखण्डान् न ददाह । अग्निवदिति भावः । तथा अपो जलानि परिशोषं न नयति स्म । अर्कवदिति भावः । तथापीति शेषः । सिद्धाश्च ताप-साश्च तैः सुसहं न बभूव । अतोऽस्यालौकिकं तेज इति भावः । अत एव दुःसहत्व-दाहाद्यजनकत्वयोर्विरोधाद्विरोधाभासोऽलङ्कारः — 'आभासत्वे विरोधस्य विरोधा-लङ्कृतिर्मता' इति लक्षणात् ॥१६ ॥

हिन्दी—इन्द्रपुत्र अर्जुन के सर्वत्र व्याप्त तेज ने वृक्षों के समूहों को नहीं जलाया, और न वहाँ के जलाशयों की जलराशि का ही शोषण किया, किन्तु (फिर भी) वहाँ पर स्थित सिद्धों और तपस्वी जनों के लिए वह असहनीय हो गया ॥ १६ ॥

विमर्श—यहाँ विरोधाभास अलङ्कार है ।

विनयं गुणा इव विवेकमपनयभिदं नया इव ।
न्यायमवधय इवाशरणाः शरणं ययुः शिवमथो महर्षयः ॥१७ ॥

अन्वयः—अथ विनयं गुणा इव अपनयभिदं विवेकं नया इव न्यायम् अवधय इव अशरणाः महर्षयः शिवं शरणं ययुः ॥ १७ ॥

विनयमिति ॥ अथोऽनन्तरम् । अशरणा महर्षयो मुनयो विनयं शिक्षां गुणा औदार्यादय इव । अशिक्षितस्य तदभावादिति भावः । अपनयभिदं दुर्नीतिवारकं विवेकं सदसज्ज्ञानं नया नीतय इव । अविवेकिनो नीत्यभावादिति भावः । नीतिः षाड्गुण्यप्रयोगः । नीयतेऽनेनेति न्यायो नियामकं प्रमाणं तम् । अवधयः समया इव । अप्रामाणिकस्य समयोल्लङ्घितत्वादिति भावः । शिवं त्रिनयनम् । शरणं रक्षितारम् । 'शरणं गृहरक्षित्रोः' इत्यमरः । ययुर्जग्मुः । शरणत्वेन प्रापुरित्यर्थः । अशरणाः शरणमिति चोपमास्वपि यथायोग्यं योज्यम् । उपमालङ्कारः ॥ १७ ॥

हिन्दी—तदनन्तर औदार्य शान्ति आदि गुण जिस प्रकार से विनय के समीप, नीति जिस प्रकार से दुर्नीति निवारक विवेक के समीप, एवं अवधि (निर्दिष्ट समय) जिस प्रकार से प्रमाण के समीप जाती हैं, उसी प्रकार से (अर्जुन के तपः तेज से आतंकित) अशरण महर्षि गण भगवान् शङ्कर की शरण में पहुँचे ॥ १७ ॥

विमर्श—यहाँ उपमा अलङ्कार है ।

परिवीतमंशुभिरुदस्तदिनकरमयूखमण्डलैः ।
शम्भुमुपहतदृशः सहसा न च ते निहायितुमभिप्रसेहिरे ॥ १८ ॥

अन्वयः—उदस्तदिनकरमयूखमण्डलैः अंशुभिः परिवीतं शम्भुम् ऊपहतदृशः ते (महर्षयः) सहसा निहायितुं नाभिप्रसेहिरे ॥ १८ ॥

परिवीतमिति ॥ उदस्तं निरस्तं छादितं दिनकरमयूखमण्डलं यैस्तैः । सूर्यतेजोविजयिभिरित्यर्थः । अंशुभिस्तेजोभिः परिवीतं व्याप्तं शम्भुं शिवम् । उपहतदृशः प्रतिहतदृष्टयस्ते महर्षयः सहसा झटिति निचायितुं निशामयितुम् । द्रष्टुमित्यर्थः । 'चायृ पूजानिशामनयोः' इति धातोः 'शकधृषे—' इत्यादिना तुमुन् । नाभिप्रसेहिरे न शेकुः ॥ १८ ॥

हिन्दी—सूर्य के तेजस्वी किरण मण्डल को भी तिरस्कृत करने वाले तेजोपुञ्ज से चारों ओर परिव्याप्त भगवान् शङ्कर को देखकर आँखों में चकाचौंध हो जाने से वे महर्षि गण सहसा उन्हें देख नहीं सके ॥ १८ ॥

अथ भूतभव्यभवदीशमभिमुखयितुं कृतस्तवाः ।
तत्र महसि ददृशुः पुरुषं कमनीयविग्रहमयुग्मलोचनम् ॥ १९ ॥

अन्वयः—अथ भूतभव्यभवदीशम् अभिमुखयितुं कृतस्तवातत्रमहसि कमनीय विग्रहम् अयुग्मलोचनं पुरुषं ददृशुः ॥ १९ ॥

अथेति ॥ अथ दृगुपघातानन्तरं भूतभव्यभवतां भूतभविष्यद्वर्तमानानां ईशं देवम्, अभिमुखयितुमभिमुखीकर्तुं कृतस्तवाः कृतस्तोत्राः सन्तः । न त्वन्यथेति भावः ।

'स्तवः स्तोत्रं स्तुतिर्नुतिः' इत्यमरः । तत्र पूर्वोक्ते महसि तेजसि कमनीयविग्रहं रम्यमूर्तिम् । अयुग्मानि त्रीणि लोचनानि यस्य तं पुरुषं ददृशुः ॥१९ ॥

हिन्दी—तदनन्तर भूत, भविष्यत् एवं वर्तमान—तीनों कालों के अधीश्वर देवदेव शङ्कर को अपनी ओर अभिमुख करने के लिए स्तुति करते हुए महर्षियों ने उक्त तेजोमण्डल में विराजमान मनोहरमूर्ति त्रिलोचन भगवान् शङ्कर को देखा ।

अथ पञ्चभिः पुरुषं विशिनष्टि — 'ककुद' इत्यादिना —

ककुदे वृषस्य कृतबाहुमकृशपरिणाहशालिनी ।
स्पर्शसुखमनुभवन्तमुमाकुचयुग्ममण्डल इवार्द्रचन्दने ॥ २० ॥

स्थितमुन्नते तुहिनशैलशिरसि भुवनातिवर्तिना ।
साद्रिजलधिजलवाहपथं सदिगश्नुवानमिव विश्वमोजसा ॥ २१ ॥

अनुजानुमध्यमवसक्तविततवपुषा महाहिना ।
लोकमखिलमिव भूमिभृता रवितेजसामवधिनाधिवेष्टितम् ॥ २२ ॥

परिणाहिना तुहिनराशिविशदमुपवीतसूत्रताम् ।
नीतमुरगमनुरञ्जयता शितिना गलेन विलसन्मरीचिना ॥ २३ ॥

प्लुतमालतीसिततकपालकुमुदमवरुद्धमूर्धजम् ।
शेषमिव सुरसरित्पयसां शिरसा विसारि शशिधानम बिभ्रतम् ॥ २४ ॥

अन्वयः—अकृशपरिणाहशालिनी वृषस्य ककुदे आर्द्रचन्दने उमाकुचयुग्ममण्डल इव कृतबाहुं स्पर्शसुखम्, अनुभवन्तम् उन्नते तुहिनशैलशिरसि स्थितम् भुवनातिवर्तिना ओजसा साद्रिजलधिजलवाहपथं सदिक् विश्वम् अश्नुवानमिव, अनुजानुमध्यम् अवसक्तविततवपुषा महाहिना अधिवेष्टितम् रवितेजसाम् अवधिना भूमिभृता अखिलं लोकमिव स्थितम्, तुहिनराशिविशदम् उपवीतसूत्रतां नीतम् उरगम् अनुरञ्जयता परिणाहिना विलसन्मरीचिना शितिना गलेन प्लुतमालतीसितकपालकुमुदम् अवरुद्धमूर्धजम् सुरसरित् पयसां शेषमिव विसारि शशिधाम शिरसा बिभ्रतम् ॥ २०-२४ ॥

ककुद इति ॥ कीदृशं पुरुषम् ॥ अकृशेन महता परिणाहेन विशालतया शालत इति तथोक्ते । 'परिणाहो विशालता' इत्यमरः । वृषस्य वृषभस्य ककुदेंऽसकूटे । आश्रयीकृत इति शेषः । आर्द्रचन्दन उमायाः कुचयुग्ममण्डल इव कृतबाहुं न्यस्तहस्तमत एव स्पर्शसुखमनुभवन्तम् । ककुदस्य तथाविधस्पर्शसुखकरत्वादिति भावः । उपमालङ्कारः ॥ २० ॥

स्थितमिति ॥ उन्नते तुहिनशैलशिरसि हिमवतः शिखरे स्थितम् । क्वचित्कोणे स्थितमित्यर्थः । तथापि भुवनातिवर्तिना सर्वलोकातिशायिना । ओजसा तेजसा । अद्रिभिः पर्वतैर्जलधिभिः समुद्रैः जलवाहपथेनाकाशेन च सह वर्तत इति तथोक्तम् ।

दिग्भिः सह वर्तत इति सदिक् । उभयत्रापि 'तने सहेति तुल्ययोगे' इति बहुव्रीहिः । विश्वमश्नुवान व्याप्नुवन्तमिव स्थितमित्युत्प्रेक्षा । 'अशूङ् व्याप्तौ' इति धातोः शानच् ।। २१ ।।

अनुजान्विति ।। जानुनोर्मध्येऽनुजानुमध्यम् । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । अवसक्तं लग्नं विततमायतं च वपुर्यस्य तेन महाहिना । अवसक्तिकाबन्धभूतेनेत्यर्थः । अधिवेष्टितम्, अत एव रवितेजसामवधिना पर्यन्तभूतेन भूमिभृता लोकालोकाचलेनाधिवेष्टितम् । अखिलं लोकमिव स्थितमित्युपमा । 'असूर्यंपश्यापरभागो लोकालोकाचलः' इत्यागमः ।। २२ ।।

परिणाहिनेति ।। पुनश्च, तुहिनराशिवत् विशदं शुभ्रम्, उपवीतसूत्रतां यज्ञोपवीतत्वं नीतं प्रापितम् । उरगं शेषाहिम् । अनुरञ्जयता स्वगुणोपरक्तं कुर्वता । श्यामीकुर्वतेत्यर्थः । परिणाहिना विशालेन विलसन्मरीचिना प्रसृतकिरणेन शितिना नीलेन गलेन कण्ठेनोपलक्षितम् । 'कण्ठो गलोऽथ ग्रीवायाम्' इत्यमरः । अत्रोरगस्य स्वधवलिमत्यागेनान्यजन्यनीलिमग्रहणात्तद्गुणालङ्कारः—'तद्गुणः स्वगुणत्यागादन्योत्कृष्टगुणग्रहः' इति लक्षणात् ।। २३ ।।

प्लुतेति ।। पुनश्च, मालती जातीकुसुमम् । 'सुमना मालती जातिः' इति, 'पुष्पेजातीप्रभृतयः स्वलिङ्गा व्रीहयः फले' इति चामरः । तद्वत् सितं यत् कपालमेव कुमुदं तत् प्लुतमाप्लुतं येन तत्तथोक्तम् । अवरुद्धमूर्धजं व्याप्तशिरोरुहम् । अत एव सुरसरित्पयसां शेषमिव निर्यातावशिष्टं गाङ्गमम्भ इव । स्थितमित्यर्थः । उत्प्रेक्षालङ्कारः । विसारि विसृत्वरं शशिधाम चन्द्रतेजः शिरसा बिभ्रतम् । पुरुषं ददृशुरिति पूर्वेण सम्बन्धः ।। २४ ।।

हिन्दी—पार्वती के गीले चन्दन से अनुलिप्त दोनों स्तनमण्डलों के समान विशाल एवं पुष्ट वृषभ (नन्दीश्वर) के ककुद पर अपने हाथों को रख कर (शिवजी) स्पर्श सुख का अनुभव कर रहे थे । हिमालय के किसी शिखर पर स्थित होने पर भी मानों सम्पूर्ण भुवन को अतिक्रमण करने वाली अपने तेजोराशि से पर्वतों, समुद्रों और बादलों के मार्गों (आकाशमण्डल) तथा दसों दिशाओं समेत सम्पूर्ण विश्व को वे व्याप्त कर रहे थे । उस समय वह दोनों जानुओं के मध्यभाग में भीषणकाय सर्पराज से वेष्टित होकर सूर्य के प्रकाश के सीमाभूत लोकालोक पर्वत के द्वारा अधिवेष्टित सम्पूर्ण विश्व की तरह शोभायमान थे । तुषारराशि के समान श्वेत-शुभ्र भुजङ्गराज को, जो उनके (शङ्कर के) यज्ञोपवीत के स्थान पर था, कृष्ण वर्ण की बनाने वाली एवं परिस्फुरित लम्बी किरणों से सुशोभित नीले कण्ठ से वह अतीव शोभा पा रहे थे । मालती के पुष्पों के समान शुद्ध कपालरूपी कुमुद को अभिषिक्त करने वाली चन्द्रमा की किरणों को, जो उनकी पिङ्गल वर्ण की जटाओं को व्याप्त करके चारों ओर फैल रही थी, उन्होंने गङ्गा जल के अवशिष्ट भाग से समान शिर पर धारण कर रखा था ।। २०-२४ ।।

विमर्श—नन्दीश्वर के ककुद का स्पर्श पार्वती के स्तन-स्पर्श के समान

सुखदायी था । प्रथम श्लोक में उपमा अलङ्कार है, द्वितीय में उत्प्रेक्षा, तृतीय में उपमा, चतुर्थ में तद्गुण तथा पाँचवें में उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ।

मुनयस्ततोऽभिमुखमेत्य नयनविनिमेषनोदिताः ।
पाण्डुतनयतपसा जनितं जगतामशर्म भृशमाचचक्षिरे ।। २५ ।।

अन्वयः—ततः मुनयः अभिमुखम् एत्य नयनविनिमेषनोदिताः पाण्डुतनय-तपसा जनितम् जगताम् अशर्म भृशम् आचचक्षिरे ।। २५ ।।

मुनय इति ।। ततो दर्शनानन्तरं मुनयोऽभिमुखमेत्य । शिवस्येति शेषः । नयन विनिमेषेण नेत्रसंज्ञया नोदिताः प्रेरिताः सन्तः पाण्डुतनयस्यार्जुनस्य तपसा जनितं तत्पूर्वोक्तं जगतामशर्म असुखम् । दुःखमित्यर्थः । 'शर्मशातसुखानि च' इत्यमरः । भृशं सम्यक् । आचचक्षिरे कथितवन्तः ।। २५ ।।

हिन्दी—तदनन्तर मुनियों ने शङ्कर जी के सम्मुख पहुँचकर, आँख के इशारों से सब सङ्केत समझकर पाण्डुपुत्र अर्जुन की तपस्या से उत्पन्न संसार के कष्टों को (उनसे) भलीभाँति कह सुनाया ।। २५ ।।

तरसैव कोऽपि भुवनैकपुरुष पुरुषस्तपस्यति ।
ज्योतिरमलवपुषोऽपि रवेरभिभूय वृत्र इव भीमविग्रहः ।। २६ ।।

अन्वयः—हे भुवनैकपुरुष ! वृत्रः इव भीमविग्रहः कोऽपि पुरुषः तरसा एव अमलवपुषः रवेः अपि ज्योतिः अभिभूय तपस्यति ।। २६ ।।

तरसेति ।। हे भुवनैकपुरुष! पुरुषोत्तम ! वृत्रो वृत्रासुर इव भीमविग्रहः कोऽपि । अविज्ञात इत्यर्थः । पुरुषः । तरसा बलात्कारेणैव । 'तरसी बलरंहसी' इति विश्वः । अमलवपुष उज्ज्वलमूर्ते रवेरपि ज्योतिरभिभूय तपस्यति तपश्चरति । 'कर्मणो रोमन्थ-तपोभ्यां वर्तिचरोः' इति क्यङ् ।। २६ ।।

हिन्दी—हे पुरुषश्रेष्ठ ! वृत्रासुर के समान भीषण शरीर वाला न जाने कौन एक पुरुष बड़े पराक्रम एवं हठ से प्रकाशमूर्ति सूर्य के भी तेज को तिरस्कृत करते हुए तपस्या कर रहा है ।। २६ ।।

स धनुर्महेषुधि विभर्ति कवचमसिमुत्तमं जटाः ।
वल्कमजिनमिति चित्रमिदं मुनिताविरोधि न च नास्य राजते ।। २७ ।।

अन्वयः—सः महेषुधि धनुः कवचम् उत्तमम् असिम् जटाः वल्कम् अजिनम् च विभर्ति इदम् मुनिताविरोधि अस्य न राजते इति ।। २७ ।।

स इति ।। किंच, स पुरुषो महान्ताविषुधी यस्य तत् महेषुधि धनुः कवचं वर्म उत्तममसिं खड्गं जटा वल्कं चीरम्, अजिनं चर्म च बिभर्ति इति एवं रूपम्, इदं विरुद्ध-वेषधारणं मुनिताविरोधि मुनित्वप्रतिबन्धकं तथापि, अस्य न राजत इति न । किं तु

राजत एवेत्यर्थः । चित्रमाश्चर्यम् । 'संभाव्यनिषेधनिवर्तने द्वौ प्रतिषेधौ' इति वामनः ।

हिन्दी—वह तपस्वी पुरुष दो विशाल तरकस, धनुष, कवच, उत्तम खड्ग, जटा, वल्कल और मृगचर्म—इन सब वस्तुओं को धारण कर तपस्या कर रहा है । यद्यपि ये सब चीजें मुनिधर्म-विरोधिनी हैं, तथापि उसे ये शोभा नहीं देतीं ऐसी बात नहीं है । (प्रत्युत इनसे उसकी और अधिक शोभा होती है, यही आश्चर्य है ।)।

चलनेऽवनिश्चलति तस्य करणनियमे सदिङ्मुखम् ।
स्तम्भमनुभवति शान्तमरुद्ग्रहतारकागणयुतं नभस्तलम् ।। २८ ।।

अन्वयः—तस्य चलने अवनिः चलति करणनियमे सदिङ्मुखम् शान्तमरुद् ग्रहतारकागणयुतम् नभस्तलम् स्तम्भम् अनुभवति ।। २८ ।।

चलन इति ।। किंच, तस्य पुंसः चलनेऽवनिः पृथिवी चलति । तथा, करणनियमे समाधिनेन्द्रियनिरोधे सति । 'करणं साधकतमं क्षेत्रगात्रेन्द्रियेष्वपि' इत्यमरः । शान्तैः स्तिमितैर्मरुतां वायूनां ग्रहाणां सूर्यादीनां तारकाणां नक्षत्राणां च गणैर्युतं नभस्तलं व्योम सदिङ्मुखं दिक्सहितं स्तम्भं निश्चलताम् । अनुभवतीत्यर्थः । अतो विश्वातिशायिनी तस्य शक्तिरुपलक्ष्यत इति भावः ।। २८ ।।

हिन्दी—उसके चलने से धरती चलने लगती है, और उसके समाधिस्थ होने पर एवं इन्द्रियों का निरोध होने पर दिशाओं समेत प्रशान्त वायु एवं ग्रह नक्षत्रों से युक्त आकाश मण्डल भी निश्चलता का अनुभव करता है ।। २८ ।।

विमर्श—अर्थात् उसकी श्वास रुक जाने से समस्त विश्व की गति रुक जाती है । इससे ज्ञात होता है कि उस तपस्वी की शक्ति समस्त विश्व में श्रेष्ठ है ।

न चैतदुपेक्ष्यमित्याशयेनाह —

स तदोजसा विजितसारममरदितिजोपसंहितम् ।
विश्वमिदमपिदधाति पुरा किमिवास्ति यन्न तपसामदुष्करम् ।। २९ ।।

अन्वयः—सः ओजसा विजितसारम् अमरदितिजोपसंहितम् तत् इदम् विश्वम् पुरा अपि दधाति । यत् तपसाम् अदुष्करम् तत् किमिव अस्ति न ।। २९ ।।

स इति ।। स पुमान् । ओजसा विजितसारं निरस्तसत्त्वम् । अमरदितिजोपसंहितं सुरासुरसहितं तदिदं विश्वं पुराऽपिदधाति । अपिधास्यतीत्यर्थः । शीघ्रमेव हरिष्यतीति भावः । 'निकटागामिके पुरा' इत्यमरः । 'यावत्पुरानिपातयोर्लट्' इति भाविष्यदर्थे लट् । तथा हि—यत् कर्म तपसामदुष्करं तत्किमिवास्ति । न किञ्चित्तेन दुष्करमस्तीत्यर्थः । सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ।। २९ ।।

हिन्दी—वह तपस्वी अपने अदम्य तेज से सुरासुर समेत इस निखिल विश्व को निस्सार बना कर इसका शीघ्र ही आच्छादन अथवा हरण कर लेगा । क्योंकि ऐसी कौन-सी वस्तु है जो तपस्या द्वारा दुष्कर हो ।। २९ ।।

विमर्श—यहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ।

न चैतदन्यफलकं तप इत्याह —

विजिगीषते यदि जगन्ति युगपदथ सञ्जिहीर्षति ।
प्राप्तुमभवमभिवाञ्छति वा वयमस्य नो विषहितुं क्षमा रुचः ।। ३० ।।

अन्वयः—जगन्ति युगपत् विजिगीषते यदि अथ सञ्जिहीर्षति अभवम् प्राप्तुम् अभिवाञ्छति वा वयम् अस्य रुचः विषहितुम् नो क्षमा ।। ३० ।।

विजिगीषत इति ।। स पुरुषो जगन्ति भुवनानि युगपद्विजिगीषते यदि विजेतुमिच्छति वा । 'पूर्ववत्सनः' इत्यात्मनेपदम् । अथ युगपत् संजिहीर्षति संहर्तुमिच्छति वा । अभवमपवर्गं प्राप्तुमभिवाञ्छति वा, न विद्मो वयमिति शेषः । किन्तु वयमप्यस्य रुचस्तेजांसि विषहितुं सोढुम् । 'तीषसहलुभरुषरिषः' इति विकल्पादिडागमः । नो क्षमा न शक्ताः । केचित् 'रुचः कामितानि विषहितुमवधारयितुम्' इति व्याचक्षते, तत्र सहेरवधारणार्थत्वं विचार्यम् ।। ३० ।।

हिन्दी—वह तपस्वी तीनों लोकों को या तो एक साथ जीतना चाहता है या तीनों लोकों का एक साथ ही संहार करना चाहता है अथवा अपवर्ग (मुक्ति) प्राप्त करना चाहता है । (ऐसा हमें कुछ भी नहीं ज्ञात है, किन्तु कुछ भी हो) हम लोग उसके तेज को सहन करने में असमर्थ हो रहे हैं ।। ३० ।।

किमुपेक्षसे कथय नाथ न तव विदितं न किञ्चन ।
त्रातुमलमभयदार्हसि नस्त्वयि मा स्म शासति भवत्पराभवः ।। ३१ ।।

अन्वयः—नाथ ! किम् उपेक्षसे कथय तव न विदितम् न किञ्चन अभयद ! नः अलम् त्रातुम् अर्हसि । त्वयि शासति पराभवः मास्म भवत् ।। ३१ ।।

किमिति ।। हे नाथ ! किं किमर्थमुपेक्षसे कथय । त्वमिति शेषः । तव न विदितम् । त्वयाऽज्ञायमानमित्यर्थः । 'क्तस्य च वर्तमाने' इति षष्ठी । न किंचन किमपि न । हे अभयद ! नोऽस्मान् अलं त्रातुमर्हसि । त्वयि शासति सति पराभवो मा स्म भवत् मा भूत् । 'स्मोत्तरे लङ् च' इति लङ् ।। ३१ ।।

हिन्दी—हे नाथ ! आप उसकी क्यों उपेक्षा कर रहे हैं, कहिये क्या कारण है ? आपसे तो कुछ भी अज्ञात नहीं है । हे अभयदाता ! आप हम लोगों की रक्षा करने में पूर्ण समर्थ हैं । आप के शासक रहते हुये हम लोगों का पराभव नहीं हो सकता ।। ३१ ।।

इति गां विधाय विरतेषु मुनिषु वचनं समाददे ।
भिन्नजलधिजलनादगुरु ध्वनयन्दिशां विवरमन्धकान्तकः ।। ३२ ।।

अन्वयः—इति गाम् विधाय मुनिषु अन्धकान्तकः दिशां विवरम् ध्वनयन् भिन्नजलधिजलनादगुरु वचनम् समाददे ।। ३२ ।।

इतीति ।। इति इत्थं गां वाचं विधाय । अभिधायेत्यर्थः । सामान्यस्य विशेषपर्यवसानात् । मुनिषु विरतेषु तूष्णींभूतेषु सत्सु । अन्धकान्तकः शिवो भिन्नस्योद्वेलस्य जलधेर्जलस्य नादमिव गुरु गम्भीरं यथा तथा दिशां विवरमन्तरालं ध्वनयन् वचनं समाददे स्वीचकार । उवाचेत्यर्थः ।। ३२ ।।

हिन्दी—इस प्रकार की प्रार्थना करके मुनियों के चुप हो जाने पर अन्धकासुर के शत्रु शङ्करजी दिशाओं के अन्तराल अर्थात् आकाशमण्डल को अपनी ध्वनि से पूर्ण करते हुए क्षुब्ध समुद्र के जलनाद के समान गम्भीर वाणी में बोले ।। ३२ ।।

बदरीतपोवननिवासनिरतमवगात मान्यथा ।
धातुरुदयनिधने जगतां नरमंशमादिपुरुषस्य गां गतम् ।। ३३ ।।

अन्वयः—बदरीतपोवननिवासनिरतम् गां गतम् जगताम् उदयनिधने धातुः आदिपुरुषस्य अंशम् नरम् अन्यथा मा अवगात ।। ३३ ।।

बदरीति ।। बदरीतपोवने बदरिकाश्रमे निवासनिरतं नित्यनिवासिनं गां गतं भुवमवतीर्णं जगतामुदयनिधने सृष्टिसंहारौ धातुः । तयोः कर्तुरित्यर्थः । 'तृन्' इति दधातेस्तृन्प्रत्ययः । अत एव 'न लोक—' इत्यादिना कर्मणि षष्ठीप्रतिषेधः । आदि पुरुषस्य विष्णोः । अंशमंशभूतम् । नरम्, नरसंज्ञकमित्यर्थः । यो नारायणसखेति भावः । अन्यथा उक्तवैपरीत्येन, एवं माऽवगात । मनुष्यमात्रं मा जानीतेत्यर्थः । 'इणो गा लुङि' इति गादेशः ।। ३३ ।।

हिन्दी—बदरिकाश्रम के तपोवन में निवास करने वाले, जगत की सृष्टि एवं संहार के कर्त्ता विष्णु के अंशभूत उस तपस्वी को नर (अर्थात् नारायण का अवतार ही) समझो, उसे कोई दूसरा साधारण तपस्वी मत मानो ।। ३३ ।।

न तस्य तपसो निमित्तमाह—

द्विषतः परासिसिषुरेष सकलभुवनाभितापिनः ।
क्रान्तकुलिशकरवीर्यबलान्मदुपासनं विहितवान्महत्तपः ।। ३४ ।।

अन्वयः—एषः सकलभुवनाभितापिनः क्रान्तकुलिशकरवीर्यबलान् द्विषतः परासिसिषुः मदुपासनं महत्तपः विहितवान् ।। ३४ ।।

द्विषत इति ।। एष नरः सकलभुवनान्यभितापयन्त्यभीक्ष्णमिति तथोक्तान् । 'बहुलमाभीक्ष्ण्ये' इति णिनिः । क्रान्ते आक्रान्ते कुलिशकरस्येन्द्रस्य वीर्यबले शक्तिसैन्ये यैस्तान् द्विषतः शत्रून्परासिसिषुःपरासितुमिच्छुः । अस्यतेः सन्नन्तादुप्रत्ययः । मदुपासनं मदाराधनम् । करणे ल्युट् । महत्तपो विहितवान् । अत्र निमित्तं शत्रुक्षय एवेति भावः ।। ३४ ।।

हिन्दी—वह सम्पूर्ण लोक को दुःख देने वाले, इन्द्र की शक्ति और सेना को तृण के समान समझने वाले अपने दुर्दान्त शत्रुओं को पराजित करने की कामना से मेरी उपासना के रूप में यह घोर तपस्या कर रहा है ।। ३४ ।।

अथास्य मानुषावतारे कारणमाह—

अयमच्युतश्च वचनेन सरसिरुहजन्मन: प्रजा: ।
पातुमसुरनिधनेन विभू भुवमभ्युपेत्य मनुजेषु तिष्ठत: ।। ३५ ।।

अन्वय:—विभू: अयम् अच्युत: च सरसिरुहजन्मन: वचनेन असुरनिधनेन प्रजा: पातुम् भुवम् अभ्युपेत्य मनुजेषु तिष्ठत: ।। ३५ ।।

अयमिति ।। विभू प्रभू अयं नरोऽच्युत: कृष्णश्च सरसिरुहजन्मनो ब्रह्मणो वचनेन प्रार्थनया । असुराणां निधनेन मारणेन करणेन प्रजा: पातुं रक्षितुं भुवमभ्युपेत्य मनुजेषु तिष्ठत: । वस्तुतस्तु साक्षान्नरनारायणावेतौ कृष्णार्जुनावित्यर्थ: ।। ३५ ।।

हिन्दी—यह परम शक्तिसम्पन्न तपस्वी तथा भगवान् श्रीकृष्ण दोनों ही भगवान् ब्रह्मा की प्रार्थना से असुरों का विनाश कर प्रजा की रक्षा के लिए इस धरती पर मनुष्य योनि में जन्म लेकर निवास कर रहे हैं ।। ३५ ।।

अथास्य सत्त्वसंपदं प्रकाशयितुमाह—

सुरकृत्यमेतदवगम्य निपुणमिति मूकदानव: ।
हन्तुमभिपतति पाण्डुसुतं त्वरया तदत्र सह गम्यतां मया ।। ३६ ।।

अन्वय:—मूकदानव: एतत् सुरकृत्यम् इति निपुणम् अवगम्य पाण्डुसुतम् हन्तुम् अभिपतति तत् अत्र मया सह त्वरया गम्यताम् ।। ३६ ।।

सुरेति ।। मूकदानवो मूकाख्य: कश्चिदसुर: । एतत् पाण्डवकृत्यं सुरकृत्यमिति निपुणमवगम्य साधु निश्चित्य पाण्डुसुतमर्जुनं हन्तुमभिपतति । तत् तस्मात्कारणात्, अत्रार्जुनाश्रमे विषये । आश्रमं प्रतीत्यर्थ: । मया सह त्वरया गम्यताम् । द्रष्टुमिति शेष: ।। ३६ ।।

हिन्दी—मूक नामक एक कोई दानव (अर्जुन की) इस तपस्या को देवताओं का कार्य है—ऐसा भलीभाँति समझकर पाण्डुपुत्र को मारने के लिए जा रहा है, तो आप लोग शीघ्रता से हमारे साथ ही वहाँ (देखने के लिए) चलें ।। ३६ ।।

विवरेऽपि नैनमनिगूढमभिभवितुमेष पारयन् ।
पापनिरतिरविशङ्कितया विजयं व्यवस्यति वराहमायया ।। ३७ ।।

अन्वय:—पापनिरति: एष: विवरे अपि एनम् अनिगूढम् अभिभवितुम् न पारयन् अविशङ्कितया वराहमायया विजयम् व्यवस्यति ।। ३७ ।।

विवर इति ।। पापे निरतिरतिप्रीतिर्यस्य स एष दानवो विवरे रन्ध्रेऽपि । एकान्तेऽपीत्यर्थ: । एनं पाण्डवम् । अनिगूढं प्रकाशं स्पष्टं यथा तथा, अभिभवितुं न पारयन् न शक्नुवन् । विभाषायाम् 'नञ्' इति नञ्समास: । अविशङ्कितया स्वरूप-

गूहनान्निःशङ्कितया वराहमायया वराहभूमिकया विजयं व्यवस्यति । विजयं प्रत्युद्युक्त इत्यर्थः ।।

हिन्दी—यह पापी (मूक दानव) एकान्त स्थान पाने पर भी प्रकट रूप में इन्हें (अर्जुन को) पराजित करने में अपने को असमर्थ समझकर, माया से शूकर का रूप धारण कर निःशङ्क भाव से अर्जुन को जीतने के लिए प्रयत्नशील हो रहा है ।

ततः किं भविष्यतीत्यत्राह —

निहते विडम्बितकिरातनृपतिवपुषा रिपौ मया ।
मुक्तनिशितविशिखः प्रसभं मृगयाविवादमयमाचरिष्यति ।। ३८ ।।

अन्वयः—विडम्बितकिरातनृपतिवपुषा मया रिपौ निहते मुक्तनिशितविशिखः अयम् प्रसभं मृगयाविवादम् आचरिष्यति ।। ३८ ।।

निहत इति ।। विडम्बितमनुकृतं किरातनृपतिवपुर्येन । तद्रूपधारिणेत्यर्थः । मयानिहते रिपौ वराहे मुक्तनिशितविशिखः सन् । अयं पाण्डवः प्रसभं प्रसह्य मृगया-विवादं मृगप्रहारकलहम् । आचरिष्यति करिष्यति । मत्प्रहतमेव मृगं प्रहृत्य स्वयमह-मेव प्रहर्तेति कलहिष्यत इत्यर्थः ।। ३८ ।।

हिन्दी—किरातराज का रूप धारण कर उस वराहरूप शत्रु के मेरे द्वारा मारे जाने पर यह अर्जुन उस पर तीक्ष्ण बाण-प्रहार करके मेरे साथ हठपूर्वक मृगया-कलह प्रारम्भ कर देगा ।। ३८ ।।

ततोऽपि किं भावीत्यत्राह —

तपसा निपीडितकृशस्य विरहितसहायसम्पदः ।
सत्त्वविहितमतुलं भुजयोर्बलमस्य पश्यत मृधेऽधिकुप्यतः ।। ३९ ।।

अन्वयः—तपसा निपीडितकृशस्य विरहितसहायसम्पदः मृधे अधिकुप्यतः अस्य सत्वविहितम् अतुलम् भुजयोः बलं पश्यत ।। ३९ ।।

तपसेति ।। तपसा नितरां पीडितोऽत एव कृशस्तस्य निपीडितकृशस्य । 'पूर्वकाल—' इत्यादिना समासः । तथा, विरहिता सहायसंपद्यस्य तस्यैकाकिनो मृधे रणे । 'मृधमास्कन्दनं संख्यम्' इत्यमरः । अधिकुप्यतोऽधिकं कुप्यतोऽस्य पाण्डवस्य सत्त्वविहितं स्वभावकृतम् । स्वाभाविकमित्यर्थः । 'सत्त्वोऽस्त्री जन्तुषु' क्लीबे व्यव-साये पराक्रमे । आत्मभावे पिशाचादौ द्रव्ये सत्तास्वभावयोः । 'प्राणे बलेऽन्तःकरणे' इति वैजयन्ती । अतुलं निरूपमं भुजयोर्बाह्वोर्बलं शक्तिं पश्यत । 'बलं शक्तिर्बलं सैन्यम्' इति शाश्वतः ।। ३९ ।।

हिन्दी—तपस्या के कारण अत्यन्त दुर्बल एवं सहायक साधनों से हीन होने पर भी इस अर्जुन के रण में क्रुद्ध होने पर उसकी भुजा के स्वाभाविक एवं अतुल बल को तुम लोग देखो ।। ३९ ।।

अत्र त्रिभिरस्य किरातभावं वर्णयति —

इति तानुदारमनुनीय विषमहरिचन्दनालिना ।
घर्मजनितपुलकेन लसद्गजमौक्तिकावलिगुणेन वक्षसा ।। ४० ।।

वदनेन पुष्पितलतान्तनियमितविलम्बिमौलिना ।
बिभ्रदरुणनयनेन रुचं शिखिपिच्छलाञ्छितकपोलभित्तिना ।। ४१ ।।

वृहदुद्वहज्जलदनादिं धनुरुपहितैकमार्गणम् ।
मेघनिचय इव संववृते रुचिरः किरातपृतनापतिः शिवः ।। ४२ ।।

अन्वयः—इति तान् उदारम् अनुनीय विषमहरिचन्दनालिना घर्मजनितपुलकेन लसद् गजमौक्तिकावलिगुणेन वक्षसा । पुष्पितलतान्तनियमितविलम्बिमौलिना शिखिपिच्छलाञ्छितकपोलभित्तिना अरुणनयनेन वदनेन रुचम् बिभ्रत् । किरात पृतनापतिः शिवः जलदनादि उपहितैकमार्गणम् वृहत् धनुः उद्वहत् रुचिरः मेघ निचयः इव संववृते।

इतीत्यादि ।। शिव इति इत्थं तान् मुनीम् । उदारं युक्तियुक्तं यथा तथाऽनुनीय शिक्षयित्वा । उक्त्वेति यावत् । 'रुचिरः किरातपृतनापतिः संववृते' इत्युत्तरेणान्वयः । किरातसेनापतिवेषधारी बभूवेत्यर्थः । कथंभूतः । विषमा विकृतविन्यासा हरिचन्दनस्यालयो रेखा यस्मिस्तेन । घर्मेण स्वेदेन जनिताः पुलका रोमाञ्चा यस्मिंस्तेन । 'पुलकः पुनः । रोमाञ्चः कण्टको रोमविकारो रोमहर्षणम्' इति हेमचन्द्रः । 'घर्मः स्यादातपे ग्रीष्मे उष्णस्वेदाम्भसोरपि' इति विश्वः । लसन्तः शोभमाना गजमौक्तिकानां करिकुम्भोद्भवमौक्तिकानां आवलय एव गुणाः सूत्राणि यस्मिंस्तेन वक्षसा वक्षःस्थलेनोपलक्षितः । करिणां मुक्तायोनित्वे प्रमाणमाहागस्त्यः—'जीमूतकरिमत्स्याहिवंशशङ्खवराहजाः । शुक्त्युद्भवाश्च विज्ञेया अष्टौ मौक्तिकयोनयः ।।' इति ।। ४० ।।

वदनेनेति ।। पुष्पितैर्लतान्तैर्विकसितलताग्रैर्नियमिताः संयता विलम्बिनश्च ते मौलयः संयतकेशा यस्य तेन । 'चूडा किरीटं केशाश्च संयता मौलयस्त्रयः' इत्यमरः । शिखिपिच्छलाञ्छिते बर्हिबर्हाङ्किते कपोलभित्ती यस्य तेन । अरुणनयनेनारक्तनेत्रेण वदनेन रुचं शोभां बिभ्रत् ।। ४१ ।।

बृहदिति ।। पुनश्च, जलद इव नदतीति जलदनादि । 'कर्तर्युपमाने' इति णिनिः। उपहितैकमार्गणं संहितैकबाणं धनुरुद्वहन् । अत एव मेघनिचय इव स्थित इत्युपमा । अत्र विशेषके स्वभावोक्तिरलंकारः । 'स्वभावोक्तिरसौ चारु यथावद्वस्तुवर्णनम्' इति लक्षणात् ।। ४२ ।।

हिन्दी—शिव जी ने इस प्रकार उन मुनियों को आगे की घटना के सम्बन्ध में सूचना देकर किरात सेनापति का वेश धारण किया । उसी समय उनके वक्षस्थल में अनेक वक्राकृति हरिचन्दन की रेखाएँ खिच गयीं, स्वेद से रोमांच हो आया, और वक्षस्थल में गजमुक्ता की माला शोभायमान हो गयी । (उनके मुख मण्डल की तो विचित्र ही शोभा हुई ।) अपनी लम्बी जटाओं को पुष्पित लताओं से उन्होंने बाँध

लिया था, मयूर पंख के कुण्डल धारण कर लिए थे, वे कुण्डल जब उनके कपोलों पर लटकने लगे तो उस समय उनके अरुण नेत्र से सुशोभित मुख की शोभा अति सुन्दर लगने लगी । इस प्रकार किरात सेनापति का विचित्र वेश धारण कर शिव जी ने मेघों के समान गम्भीर ध्वनि करने वाला एक बृहत् धनुष लिया और उस पर एक शर सन्धान किया । उस समय उनकी शोभा मेघमण्डल के समान दिखाई पड़ने लगी ।। ४०-४२ ।।

विमर्श—तृतीय श्लोक में स्वभावोक्ति अलङ्कार है ।

अनुकूलमस्य च विचिन्त्य गणपतिभिरात्तविग्रहैः ।
शूलपरशुशरचापभृतैर्महती वनेचरचमूर्विनिर्ममे ।। ४३ ।।

अन्वयः—अस्य अनुकूलम् विचिन्त्य आत्तविग्रहैः शूलपरशुशरचापभृतैः गणपतिभिः महतीः वनेचरचमूः विनिर्ममे ।। ४३ ।।

अनुकूलमिति ।। अस्य शिवस्य । अनुकूल विचिन्त्य प्रियमिति निश्चित्य । आत्तविग्रहैर्गृहीतकिरातदेहैः । तथा, शूलान् परशवः कुठाराः शराश्चापानि च तानि भृतानि यैस्तैः । प्रहरणार्थेभ्यः परे निष्ठासप्तम्यौ' इति निष्ठायाः परनिपातः । गणपतिभिः प्रमथमुख्यैर्महती वनेचरचमूः सेना विनिर्ममे निर्मिता । माङः कर्मणि लिट्, 'ह्रस्व' इत्यभ्यासस्य ह्रस्वत्वम् ।। ४३ ।।

हिन्दी—शिव जी की प्रसन्नता की कामना से किरात शरीर धारण कर शिव के प्रमथ गणों ने भी शूल, परशु, धनुष, बाण आदि शस्त्रास्त्र धारण कर किरातों की एक महती सेना तैयार कर ली ।। ४३ ।।

विरचय्य काननविभागमनुगिरमथेश्वराज्ञया ।
भीमनिनदपिहितोरुभुवः परितोऽपदिश्य मृगयां प्रतस्थिरे ।। ४४ ।।

अन्वयः—अथ ईश्वराज्ञया अनुगिरम् काननविभागम् विरचय्य भीमनिनदपिहितोरुभुवा मृगयाम् अपदिश्य परितः प्रतस्थिरे ।। ४४ ।।

विरचय्येति ।। अथ ईश्वराज्ञयाऽनुगिरं गिरौ । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । 'गिरेश्च सेनकस्य' इति समासान्तः । काननविभागं वनविभागं विरचय्य । अस्यायमिति देशविभागं कृत्वेत्यर्थः । भीमैर्निनदैः कलकलैः पिहिता उरवो भुवो यैस्ते तथोक्ताः सन्तः । मृगयामपदिश्य व्याजीकृत्य परितः प्रतस्थिरे प्रस्थिताः ।। ४४ ।।

हिन्दी—तदनन्तर भगवान् शङ्कर की आज्ञा से उन प्रमथ गणों ने पर्वतीय वन प्रदेश का विभाग कर अपनी भयङ्कर आवाजों से वन्य भूमि को व्याप्त करते हुए मृगया के बहाने से चारों ओर प्रस्थान कर दिया ।। ४४ ।।

क्षुभिताभिनिःसृतविभिन्नशकुनिमृगयूथनिःस्वनैः ।
पूर्णपृथुवनगुहाविवरः सहसा भयादिव ररास भूधरः ।। ४५ ।।

अन्वयः—क्षुभिताभिनिः सृतविभिन्नशकुनिमृगयूथनिःस्वनैः पूर्णपृथुवनगुहाविवरः भूधरः सहसा भयात् इव ररास ।। ४५ ।।

क्षुभितेति ।। क्षुभितास्त्रस्ता अभिनिःसृताः स्वस्थानान्निर्गता विभिन्ना मुक्तसङ्गाश्च ये शकुनयः पक्षिणो मृगाश्च तेषां यूथानि तेषां निःस्वनैः पूर्णानि पृथूनि वनानि गुहा विवराणि च यस्य स भूधरः सहसा भयादिवेत्युत्प्रेक्षा । ररास चुक्रोश ।। ४५ ।।

हिन्दी—उस समय भयभीत होकर अपने-अपने स्थान से निकल कर अपने अपने समूहों से बिछुड़े हुए पक्षियों और मृगों के आर्त्त शब्दों से उस सम्पूर्ण वन और पर्वत प्रदेश की गुफाएँ व्याप्त हो गयीं, ऐसा मालूम पड़ने लगा मानों इन्द्रकील पर्वत स्वयमेव भयभीत होकर आर्त्तनाद कर रहा हो ।। ४५ ।।

न विरोधिनी रुषमियाय पथि मृगविहङ्गसंहतिः ।
घ्नन्ति सहजमपि भूरिभियः सममागताः सपदि वैरमापदः ।। ४६ ।।

अन्वयः—पथि विरोधिनी मृगविहङ्गसंहतिः रुषम् न इयाय भूरिभियः समम् आगताः आपदः सहजम् अपि वैरम् सपदि घ्नन्ति ।। ४६ ।।

नेति ।। पथि पलायनमार्गे विरोधिनी जातिवैरिणी मृगाणां सिंहव्याघ्रादीनां विहङ्गानां काकोलूकानां च संहतिः सङ्घो रुषं परस्परक्रोधं नेयाय न प्राप । किन्तु सहैव चचारेत्यर्थः । तथा हि—भूरि प्रभूता भीर्यासु ताः समं साधारण्येन आगता आपदो विपत्तयः सहजं स्वाभाविकमपि वैरं सपदि घनन्ति । नहि सङ्घातव्यसनेषु प्रजायते वैरानुबन्ध इति भावः ।। ४६ ।।

हिन्दी—भागते समय मार्ग में पशुओं और पक्षियों की पारस्परिक सहज वैर भावना क्रोधयुक्त नहीं हुई । क्यों न हो, अत्यन्त भय देने वाली विपत्तियाँ एक साथ आकर सहज वैर को भी शीघ्र दूर कर देती हैं ।। ४६ ।।

विमर्श—यहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ।

चमरीगणैर्गणबलस्य बलवति भयेऽप्युपस्थिते ।
वंशवितितिषु विषक्तपृथुप्रियबालवालधिभिराददे धृतिः ।। ४७ ।।

अन्वयः—वंशवितितिषु विषक्तपृथुप्रियबालवालधिभिः चमरीगणैः गणबलस्य बलवति भये उपस्थिते अपि धृतिः आददे ।। ४७ ।।

चमरीति ।। वंशवितितिषु वेणुगुल्मेषु विषक्ता लग्नाः पृथवो भृशं प्रियबालाः प्रियरोमाणो वालधयः पुच्छानि येषां तैः । 'पुच्छोऽस्त्री लूमलाङ्गूले बालहस्तश्च बालधिः' इत्यमरः। चमरीगणैर्मृगविशेषैर्गणबलस्य शिवबलस्य सम्बन्धिनि । तद्धेतुक इत्यर्थः । सम्बन्धमात्रविवक्षायां षष्ठी । अन्यथा 'भीत्रार्थानां भयहेतुः' इति पञ्चमी स्यात् । बलवति प्रबले भय उपस्थिते प्राप्तेऽपि धृतिर्धैर्यम् । आददे स्वीकृता । बालच्छेदभयात्प्राणहानिमप्यवगणय्य स्थितमित्यर्थः ।। ४७ ।।

हिन्दी—बाँसों की काँटेदार झाड़ियों में अपने प्रिय बालों वाली पूँछों के अँटक जाने पर चमरी गौओं ने शिव के प्रमथों की सेना द्वारा भीषण भय उपस्थित होने पर भी अपना धैर्य बनाए ही रखा ॥ ४७ ॥

विमर्श—बालों के टूट जाने के डर से उन्हें प्राणहानि की भी चिन्ता नहीं हुई।

हरसैनिकाः प्रतिभयेऽपि गजमदसुगन्धिकेसरैः ।
स्वस्थमभिददृशिरे सहसा प्रतिबोधजृम्भितमुखैर्मृगाधिपैः ॥ ४८ ॥

अन्वयः—प्रतिभये अपि गजमदसुगन्धिकेसरैः सहसा प्रतिबोधजृम्भितमुखैः मृगाधिपैः स्वस्थम् हरसैनिकाः अभिददृशिरे ॥ ४८ ॥

हरेति ॥ प्रतिभये भयहेतौ । 'भयङ्करं प्रतिभयम्' इत्यमरः । प्राप्तेऽपीति शेषः। गजमदैः सुगन्धयः सुरभयः केशराः सटा येषां तैः । हतानेकगजैरित्यर्थः । सहसा सेनाकलकलश्रवणानन्तरमेव प्रतिबोधेन निद्रापगमेन जृम्भितानि व्यात्तानि मुखानि येषां तैः, मृगाधिपैः सिंहैः स्वस्थं निःशङ्कमेव यथा तथा हरसैनिका अभिददृशिर ईक्षिताः । न तु किञ्चित्क्षुभितमित्यर्थः । युक्तं चैतद्राजनामधारिणां केसरिणामिति भावः ॥ ४८ ॥

हिन्दी—भय का कारण उपस्थित होने पर भी गजराजों के मदजल से सुगन्धित केसरों वाले मृगराजों अर्थात् सिंहों ने निद्रा त्याग कर जँभाई लेते हुए निःशङ्क भाव से शिव के सैनिकों को देखा ॥ ४८ ॥

विमर्श—मृगराजों के लिए यह उचित भी था ।

बिभराम्बभूवुरपवृत्तजठरशफरीकुलाकुलाः ।
पङ्कविषमिततटाः सरितः करिरुग्णचन्दनरसारुणं पयः ॥ ४९ ॥

अन्वयः—अपवृत्तजठरशफरीकुलाकुलाः पङ्कविषमिततटाः सरितः करिरुग्ण-चन्दनरसारुणम् पयः बिभराम्बभूवुः ॥ ४९ ॥

बिभरामिति ॥ अपवृत्तजठरैस्तत्कालक्षोभाल्लुठितोदरैः शफरीकुलैराकुला व्याप्ताः पङ्कैर्विषमितानि दुर्गमीकृतानि तटानि कूलानि यासां ताः । सरितः करिभिः, पलायमानैरिति शेषः । रुग्णानां मार्गरोधितया भग्नानाम् । 'ओदितश्च' इति निष्ठा-नत्वम् । चन्दनानां रसैररुणं करिरुग्णचन्दनसारुणं पयो बिभरांबभूवुः । भृधातोः 'भीह्रीभृहुवां श्लुवच्च' इत्याम्प्रत्यय' श्लुवद्भावश्च । 'कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि' इति भुवोऽनुप्रयोगः ॥ ४९ ॥

हिन्दी—नदियाँ भयातुर होकर उछलने वाली मछलियों से व्याप्त हो गयीं । उनके तट कीचड़ से दुर्गम बन गये । भागते हुए हाथियों के धक्कों से टूटे हुए हरिचन्दन वृक्ष के रसों से उनके जल अरुण वर्ण के हो गये ॥ ४९ ॥

महिषक्षतागुरुतमालनलदसुरभि: सदागति: ।
व्यस्तशुकनिभशिलाकुसुम: प्रणुदन्ववौ वनसदां परिश्रमम् ।। ५० ।।

अन्वय:—महिषक्षतागुरुतमालनलदसुरभि: व्यस्तशुकनिभशिलाकुसुम: सदागति: वनसदां परिश्रमं प्रणुदन् ववौ ।। ५० ।।

महिषेति ।। महिषैर्लुलायै: क्षतानि विदलितानि तैरगुरुभिस्तमालैर्नलदैरुशीरैश्च सुरभि: सुगन्धि: । व्यस्तानि विक्षिप्तानि शुकनिभानि शुकसवर्णानि शिलाकुसुमानि शैलेयाख्या ओषधिविशेषायेन स: ।अत: शीतल इति भाव: । 'कालानुसार्यवृद्धाश्म पुष्पशीतशिवानि तु । शैलेयम्' इत्यमर: । 'शुकनिभ' इति स्वरूपकथनम् सदागतिर्वायु: वनसदां वनेचराणां परिश्रमं प्रणुदन् । अतो मन्द इति भाव: । 'मातरिश्वा सदागति:' इत्यमर: । ववौ वाति स्म ।। ५० ।।

हिन्दी—महिषों के घर्षण से क्षत-विक्षत त्वचा वाले अगुरु-तमाल, एवं उशीर की सुगन्धि से सुरभित तथा शुक के समान हरे-हरे शिला-कुसुमों को इधर-उधर उड़ाने वाली वायु उन वनवासियों (किरात सेनाओं) के परिश्रम को दूर करती हुई बहने लगी ।। ५० ।।

मथिताम्भसो रयविकीर्णमृदितकदलीगवेधुका: ।
क्लान्तजलरुहलता: सरसीर्विदधे निदाघ इव सत्त्वसम्प्लव: ।। ५१ ।।

अन्वय:—सत्त्वसम्प्लव: निदाघ: इव सरसी: मथिताम्भस: रयविकीर्णमृदितकदलीगवेधुका: क्लान्तजलरुहलता: विदधे ।। ५१ ।।

मथिताम्भस इति ।। सत्त्वसंप्लव: प्राणिसंक्षोभो निदाघो ग्रीष्म इव सरसी: सरांसि । 'कासार: सरसी सर:' इत्यमर: । मथिताम्भस: संक्षोभितोदेका रयेण पलायनवेगेन विकीर्णं व्याकीर्णं यथा तथा मृदिता निष्पीडिता: कदल्यो गवेधुकास्तृणधान्य विशेषाश्च यासां तास्तथोक्ता: । 'तृणधान्यानि नीवारा: स्त्री गवेधुर्गवेधुका' इत्यमर: । मृदित इति, 'क्ङिति च' इति गुणप्रतिषेध: । क्लान्ता जलरुहलता: पद्मिन्यो यासु ता एवंभूता विदधे चकार ।। ५१ ।।

हिन्दी—भयभीत होकर भागते हुए उन वन्य जीव-जन्तुओं के संक्षोभ ने ग्रीष्मऋतु की भाँति सरोवरों की दुर्दशा कर दी । उन्होंने उनकी जलराशि को विलोडित कर दिया । भागने के वेग से किनारे के सम्पूर्ण कदली एवं नीवारों को कुचल डाला, और पद्मिनी लताओं को मलिन कर दिया ।। ५१ ।।

इति चालयन्नचलसानुवनगहनजानुमापति: ।
प्राप मुदितहरिणीदशनक्षतवीरुधं वसतिमैन्द्रसूनवीम् ।। ५२ ।।

अन्वय:—इति उमापति: अचलसानुवनगहनजान् चालयन् मुदितहरिणीदशनक्षतवीरुधम् ऐन्द्रसूनवीम् वसतिम् प्राप ।। ५२ ।।

इतीति ।। इति इत्थम् । उमापतिरचलसानुषु वनेषूपभोग्यवृक्षेषु गहनेषु दावेषु च जातास्तथोक्तान् । सत्त्वानिति शेषः । चालयन् । मुदितानां हरिणीनां दशनैःक्षता वीरुधो लता यस्यां ताम् । इन्द्रसूनोरिमां ऐन्द्रसूनवीम् । वसत्यत्रेति वसतिमाश्रमम् । 'वहिवस्यर्तिभ्यश्च' इत्यौणादिको वसतेरतिप्रत्ययः । प्राप ।। ५२ ।।

हिन्दी—इस प्रकार पार्वतीपति भगवान् शङ्कर इन्द्रकील के शिखर पर वृक्षों तथा जङ्गलों में रहने वाले जीवों को विक्षुब्ध करके, हर्षित हरिणियों के दाँतों से छिन्न लताओं वाले इन्द्रपुत्र अर्जुन के आश्रम में पहुँच गए ।। ५२ ।।

स तमाससाद घननीलमभिमुखमुपस्थितं मुनेः ।
पोत्रनिकषणविभिन्नभुवं दनुजं दधानमथ सौकरं वपुः ।। ५३ ।।

अन्वयः—अथ सः घननीलम् मुनेः अभिमुखम् उपस्थितं पोत्रनिकषणविभिन्न-भुवं सौकरं वपुः दधान दनुजम् तम् आससाद ।। ५३ ।।

स इति ।। अथ अनन्तरं स शिवो घननीलं मेघमेचकं मुनेरर्जुनस्य । अभिमुख-मुपस्थितमागतं पोत्रस्य मुखाग्रस्य निकषणेनोल्लेखनेन विभिन्ना विदारिता भूर्येनतम् । 'मुखाग्रे क्रोडहलयोः पोत्रम्' इत्यमरः । 'हलसूकरयोः पुवः' इति ष्ट्रन्प्रत्ययः । सूकर-स्येदं सौकरं वाराहं वपुर्दधानं दनुजं दानवम् । आससाद प्राप । ददर्शेति यावत् ।।५३।।

हिन्दी—तदनन्तर भगवान् शङ्कर बादलों के समान नीले तपस्वी अर्जुन के सम्मुख उपस्थित उस मूक नामक दानव के समीप पहुँचे, जो शूकर का शरीर धारण कर अपने थूथुन से धरती को खोद रहा था ।। ५३ ।।

कच्छान्ते सुरसरितो निधाय सेनामन्वीतः स कतिपयैः किरातवर्यैः ।
प्रच्छन्नस्तरुगहनैः सगुल्मजालैर्लक्ष्मीवाननुपदमस्य सम्प्रतस्थे ।। ५४ ।।

।। इति भारविकृतौ महाकाव्ये किरातार्जुनीये द्वादशः सर्गः ।।१२ ।।



अन्वयः—लक्ष्मीवान् सः सुरसरितः कच्छान्ते सेनां निधाय कतिपयैः किरात-वर्यः अन्वीतः सगुल्मजालैः तरुगहनैः प्रच्छन्नः अस्य अनुपदं सम्प्रतस्थे ।। ५४ ।।

कच्छान्त इति ।। लक्ष्मीवान् । 'मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः' इति मतुपो मकारस्य वकारादेशः। स शिवः । सुरसरितो मन्दाकिन्याः कच्छान्तेऽनुपप्रान्ते । 'जल-प्रायमनूपं स्यात्पुंसि कच्छस्तथाविधः' इत्यमरः । सेनां निधाय । स्थापयित्वेत्यर्थः । कतिपयैः किरातवर्यैरन्वीतोऽनुगतः सन् । 'ई गतौ' इति धातोरनुपूर्वात्कर्मणि क्तः ।

सगुल्मजालैर्लताप्रतानसहितैः । तरुगहनैः प्रच्छन्नश्छादितः । 'वा दान्तशान्त—' इत्यादिना निपातः । यस्य वराहस्य पदमनु अनुपदम् । पदानुसारेणेत्यर्थः । संप्रतस्थे प्रस्थितः । 'समवप्रविभ्यः स्थः' इत्यात्मनेपदम् । प्रहर्षिणीवृत्तम् ।। ५४ ।।

इति श्रीमहामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितायां किरातार्जुनीयकाव्य व्याख्यायां घण्टापथसमाख्यायां द्वादशः सर्गः समाप्तः ।।१२ ।।



हिन्दी—अत्यन्त शोभासम्पन्न भगवान् शङ्कर सुरनदी मन्दाकिनी के तट-प्रान्त में अपनी सेना को खड़ी करके कतिपय चुने हुए किरात सैनिकों को साथ ले कर लता प्रतान से सुशोभित घने-घने वृक्षों की आड़ में छिप कर उस सूकर वेषधारी (मूक) दानव के पीछे-पीछे चल पड़े ।। ५४ ।।

विमर्श—यहाँ प्रहर्षिणी छन्द है ।

।। इस प्रकार श्रीभारविकृत किरातार्जुनीयम् महाकाव्य के बारहवें सर्ग की डॉ सुधाकर मालवीय कृत हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ।। १२ ।।



त्रयोदशः सर्गः

वपुषा परमेण भूधराणामथ सम्भाव्यपराक्रमं विभेदे ।
मृगमाशु विलोकयाञ्चकार स्थिरदंष्ट्रोग्रमुखं महेन्द्रसूनुः ॥१ ॥

अन्वयः—अथ महेन्द्रसूनुः परमेण वपुषा भूधराणां विभेदे सम्भाव्यपराक्रमं स्थिरदंष्ट्रोग्रमुखं मृगम् आशु विलोकयाञ्चकार ॥ १ ॥

वपुषेति ॥ अथ ईश्वरप्रस्थानानन्तरं महेन्द्रसूनुरर्जुनः परमेण महता वपुषा हेतुना भूधराणां विभेदे विदारणे संभाव्यपराक्रमं क्षमोऽयमिति प्रतर्क्यपौरुषं स्थिराभ्यां दृढाभ्यां दंष्ट्राभ्यामुग्रं मुखं यस्य तं मृगम् । वराहमित्यर्थः । आशु तदागमनानन्तरम् । अविलम्बेनेत्यर्थः । विलोकयांचकार ददर्श । अस्मिन्सर्गे प्राक्पञ्चत्रिंशच्छ्लोकादौपच्छन्दसिकं वृत्तम् ॥१ ॥

हिन्दी—भगवान् शङ्कर के प्रस्थान के अनन्तर इन्द्रपुत्र अर्जुन ने उस शूकर वेशधारी दानव को शीघ्र ही देख लिया, जो अपने विशाल शरीर से पर्वतों को भी खण्ड-खण्ड कर देने में समर्थ मालूम पड़ रहा था और जिसकी सुदृढ़ दाढ़ों से उसका मुख अत्यन्त भयङ्कर दिखाई पड़ रहा था ॥ १ ॥

विमर्श—इस सर्ग में पैंतीसवें श्लोक तक औपच्छन्दसिक वृत्त है ।

स्फुटबद्धसटोन्नतिः स दूरादभिधावन्नवधीरितान्यकृत्यः ।
जयमिच्छति तस्य जातशङ्के मनसीमं मुहुराददे वितर्कम् ॥ २ ॥

अन्वयः—स्फुटबद्धसटोन्नतिः दूरात् अभिधावन् अवधीरितान्यकृत्यः सः जयम् इच्छति जातशङ्के तस्य मनसि मुहुः इमं वितर्कम् आददे ॥ २ ॥

स्फुटेति ॥ स्फुटा स्पष्टा बद्धा विरचिता सटानां केसराणामुन्नतिरुद्धतिर्यस्य सः । क्रोधाद्धर्षितलोमेत्यर्थः । 'सटा जटाकेसरयोः' इति विश्वः । दूरादभिधावन् संमुखमापतन् । तथा, अवधीरितान्यकृत्यस्त्यक्तान्यकर्मा स वराहो जयमिच्छति जयार्थिनि अत एव जातशङ्के । स्वयं जिघांसोर्द्विषामेकलक्ष्यत्वादिति भावः । तस्य मुनेर्मनसि मुहुरिमं वितर्कं वक्ष्यमाणमूहम् । 'अध्याहारस्तर्क ऊहः' इत्यमरः ॥ आददद उत्पादयामास ॥ २ ॥

हिन्दी—क्रोध के कारण अयाल को ऊपर उठाए हुए, दूर से ही दौड़कर आते हुए दूसरे कार्यों से विरत यह वराह विजय के लिए ही इस प्रकार आ रहा है -

इस प्रकार की आशङ्का करते ही अर्जुन के मन में अनेक प्रकार के तर्क-वितर्क होने लगे ॥ २ ॥

अथैकादशभिर्वितर्कमेव निरूपयति —

'घनपोत्रविदीर्णशालमूलो निविडस्कन्धनिकाषरुग्णवप्रः ।
अयमेकचरोऽभिवर्तते मां समरायेव समाजुहूषमाणः ॥ ३ ॥

अन्वयः—घनपोत्रविदीर्णशालमूलः निबिडस्कन्धनिकाषरुग्णवप्रः एकचरः अयं समराय समाजुहूषमाणः इव माम् अभिवर्तते ॥ ३ ॥

घनपोत्रेति ॥ घनेन कठिनेन पोत्रेण मुखाग्रेण विदीर्णानि विदलितानि शाल-मूलानि वृक्षमूलानि येन सः । निबिडस्य स्कन्धस्य निकाषेण निकषणेन रुग्णवप्रो भग्नसानुः । अतो महासत्त्वसंपन्न इति भावः । एकश्चासौ चरश्चेति एकचर एकाकी । यूथादपेत इत्यर्थः । अतः, अयं वराहः समराय समरं कर्तुम् । 'क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः' इति चतुर्थी । समाजुहूषमाण इव समाह्वातुमिच्छन्निव । 'इव' शब्दः संभावनायाम् । समाह्वयतेः सन्नन्ताच्छानच्प्रत्ययः । 'स्पर्धायामाङः' 'पूर्ववत्सनः' इत्यात्मनेपदम् । 'अभ्यस्तस्य च' इति संप्रसारणम् । मामभिवर्तते मामभिधावति । उपसर्गवशात् सकर्मकत्वम् । अतः सर्वथा नायमुपेक्ष्य इति भावः ॥ ३ ॥

हिन्दी—अपने कठोर थूथुन से किसी वृक्ष के मूलभाग को विदीर्ण करने वाला एवं अपने निविड स्कन्ध के घर्षण से पर्वत की शिलाओं को भी तोड़ने वाला यह अकेला वराह (अपने यूथ से अलग हो कर) मुझसे युद्धार्थ मानों चुनौती देने के लिए मेरे सम्मुख आ रहा है ॥ ३ ॥

इह वीतभयास्तपोनुभावाज्जहति व्यालमृगाः परेषु वृत्तिम् ।
मयि तां सुतरामयं विधत्ते विकृतिः किं नु भवेदियं नु माया? ॥ ४ ॥

अन्वयः—इह तपोनुभावात् वीतभयः व्यालमृगाः परेषु वृत्तिम् जहति अयं मयि तां सुतरां विधत्ते । इयं विकृतिः किं नु माया भवेत् नु ॥ ४ ॥

इहेति ॥ इह आश्रमे तपोनुभावाद्वीतभयाः । लक्षणया विगतवैरा इत्यर्थः । अत एव व्यालमृगाः क्रूरव्याघ्रादयः । 'व्यालो भुजङ्गमे क्रूरे श्वापदे दुष्टदन्तिनि' इति विश्वः । परेषु प्राण्यन्तरेषु वृत्ति जीविकां जहति । हिंसया न जीवन्तीत्यर्थः । अयं वराहो मयि मद्विषये तां वृत्ति सुतरां विधत्ते करोति । मां हन्तुमिच्छतीत्यर्थः । तदियं विकृतिस्तपःसामर्थ्यभङ्गरूपा भवेत्किं नु । यद्वा, —माया कस्यचिद्दैत्यस्य वराह-भूमिका भवेत् नु । 'किं—नु' शब्दौ वितर्के ॥ ४ ॥

हिन्दी—इस आश्रम में (मेरी) तपस्या के प्रभाव से क्रूर व्याघ्रादि जन्तुओं ने प्राणि-हिंसा करके अपनी जीविका चलाना छोड़ दिया है । किन्तु यह वराह तो मेरे साथ उसी हिंसा-वृत्ति का व्यवहार करना चाहता है । क्या यह भावना मेरे मन में

इसलिए तो नहीं उठ रही है कि मेरी तपस्या भङ्ग हो गयी है अथवा यह किसी दैत्य की कोई माया है ।। ४ ।।

अथवैष कृतज्ञयेव पूर्वं भृशमासेवितया रुषा न मुक्तः ।
अवधूय विरोधिनीः किमारान्मृगजातीरभियाति मां जवेन ।। ५ ।।

अन्वयः—अथ एषः पूर्वं भृशम् आसेवितया रुषा कृतज्ञयेव न मुक्तः । आरात् विरोधिनीः मृगजातिः अवधूय जवेन मां अभियाति किम् ।। ५ ।।

अथवेति । 'अथवा' इति पक्षान्तरे । एष मृगः पूर्व जन्मान्तरे भृशमत्यर्थम् । आसेवितयाऽतिपरिचितया रुषा क्रुधा । मद्गोचरयेति शेषः । कृतज्ञयेव पूर्वकृतं वैरानुबन्धं संप्रति जानात्येवेत्युत्प्रेक्षा । न मुक्तो न त्यक्तः । आद्यापीति शेषः । नूनमयं प्राग्भवीयवैरानुबन्धी कश्चित् । संप्रति वैरबीजासंभवादिति भावः । कुतः यद्यत आरात् समीपतः । 'आराद्दूरसमीपयोः' इत्यमरः । विरोधिनीर्मृगजातीरवधूय त्यक्त्वा जवेन मामभियाति अभिधावति । अन्यथा नाभियायादिति भावः ।। ५ ।।

हिन्दी—अथवा मेरे प्रति इसका पूर्वजन्म का कोई शत्रुता सम्बन्धी प्रबल क्रोध है, जो कृतज्ञता की तरह इस जन्म में भी इसका सङ्ग नहीं छोड़ रहा है, अन्यथा अपने सहज विरोधी अन्य जीवों को समीप में ही छोड़कर यह बड़े वेग से मेरी ही ओर क्यों दौड़ा चला आ रहा है? ।। ५ ।।

न केवलमभियानमेव, किं च मनोवृत्तिरप्यत्र प्रमाणमित्याह —

न मृगः खलु कोऽप्ययं जिघांसुः स्खलति ह्यत्र तथा भृशं मनो मे ।
विमलं कलुषीभवच्च चेतः कथयत्येव हितैषिणं रिपुं वा ।। ६ ।।

अन्वयः—अयं मृगः न खलु कोऽपि जिघांसुः । हि अत्र में मनः भृशं स्खलति । हि विमलं कलुषीभवत् चेतः एव हितैषिणं रिपुं वा कथयति ।। ६ ।।

न मृग इति ।। अयं मृगो न खलु, किन्तु कोऽपि कश्चिदन्य एव जिघ्नासुर्हन्तुमिच्छुः हन्तेः सन्नन्तादुप्रत्ययः । 'अभ्यासाच्च' इति कुत्वम् । 'अज्झनगमां सनि' इति दीर्घः । कुतः । हि यस्मात्, अत्रास्मिन्मृगविषये मे मनस्तथा भृशं स्खलति क्षुभ्यति । यथायं जिघांसुरिति बुद्धिरुत्पद्यत इत्यर्थः । तथा हि—विमलं प्रसन्नं तथा कलुषीभवत् क्षुभ्यच्च चेत एव हितैषिणं रिपुं वा मित्रममित्रं च कथयति । यत्र यत्र मनः प्रसीद ति तदेव मित्रम् । अन्यथा त्वन्यथेति निश्चितमित्यर्थः । अतोऽयं वध्य इति भाव ।। ६ ।।

हिन्दी—यह वराह नहीं है, निश्चय ही मेरे प्राणों का ग्राहक कोई अन्य है, क्योंकि इसे देखकर मेरा मन बारम्बार ऐसा ही कह रहा है । सच है, चित्त का प्रसन्न और कलुषित होना ही मित्र अथवा शत्रु होने की सूचना दे देता है ।। ६ ।।

विमर्श—अर्थात् जिसे देखते ही चित्त प्रसन्न हो जाता है, वही मित्र है और

जिसे देखकर वह कलुषित हो जाता है वही शत्रु है । यहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार का प्रयोग है ।

ननु मुने: किमनया दु:शङ्कया, तत्राह —

मुनिरस्मि निरागस: कुतो मे भयमित्येष न भूतयेऽभिमान: ।
परवृद्धिषु बद्धमत्सराणां किमिव ह्यस्ति दुरात्मनामलङ्घ्यम् ।। ७ ।।

अन्वय:—मुनि: अस्मि निरागस: मे कुत: भयं इति एष: अभिमान: न भूतये । हि परिवृद्धिषु बद्धमत्सराणां दुरात्मनाम् अलङ्घ्यं किमिव अस्ति ।। ७ ।।

मुनिरिति ।। मुनिरस्मि । अतो निरागसो निरपराधस्य मे कुतो भयमित्येषोऽभिमानोऽहङ्कार: अनपकारिणं मां कोऽपि किं करिष्यतीति बुद्धिर्भूतये श्रेयसे न भवति । तथा हि—परबृद्धिषु विषये बद्धमत्सराणां दुरात्मनामलङ्घ्यं किमिवास्ति न किञ्चिदकार्यमस्तीत्यर्थ: ।। 'इव' शब्दो वाक्यालङ्कारे ।। ७ ।।

हिन्दी—मैं मुनि हूँ अतएव मुझ अनपकारी को किसी से क्या भय है — यह अभिमान करना अब श्रेयस्कर नहीं है क्योंकि दूसरों की उन्नति से जलने वाले दुष्ट-दुरात्माओं के लिए कौन ऐसी मर्यादा अथवा धर्मसीमा है, जिसका वे उल्लङ्घन नहीं करते ।। ७ ।।

विमर्श—यहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ।

अस्तु जिघांसुरपि क्षुद्र: किं करिष्यतीत्यत्राह —

दनुज: स्विदयं क्षपाचरो वा वनजे नेति बलं बतास्ति सत्त्वे ।
अभिभूय तथा हि मेघनील: सकलं कम्पयतीव शैलराजिम् ।। ८ ।।

अन्वय:—अयं दनुज: स्वित् क्षपाचरो वा वनजे सत्त्वे इति बलं नास्ति बत । तथा हि मेघनील: सकलं शैलराजिम् अभिभूय कम्पयतीव ।। ८ ।।

दनुज इति ।। अयं दनुज: स्वित् दानवो वा क्षपाचरो राक्षसो वा । न तु मृग एवत्यर्थ: । कुत: । वनजे सत्त्वे वन्यप्राणिनि । इति ईदृशं बलं नास्ति । वतेत्याश्चर्ये । बलमेव समर्थयते । तथा हि—मेघनीलोऽयं वराह: सकलं शैलराजमभिभूय आक्रम्य कम्पयतीव । पदविष्टम्भभरात्तथा प्रतीयत इत्यर्थ: । अत्र कम्पयतीवेत्युत्प्रेक्षागर्भोऽयं शैलकम्पनरूपकार्येण तत्कारणबलातिरेकसमर्थनात्कार्येण कारणसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यास: ।। ८ ।।

हिन्दी—अथवा यह कोई दानव निशाचर है, वन्य पशु में तो ऐसी शक्ति नहीं हो सकती ? क्योंकि बादलों के समान विशालकाय एवं नीला यह वराह इस पर्वतमाला को भी मानों पराजित करके विकम्पित-सा कर रहा है ।। ८ ।।

विमर्श—उत्प्रेक्षागर्भित यहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ।

किंच, योऽयं शैले मृगयाकलकल इव श्रूयते सोऽप्येतन्मायापरिकल्पित एवेत्याह —

अयमेव मृगव्यसत्रकामः प्रहरिष्यन्मयि मायया शमस्थे ।
पृथुभिर्ध्वजिनीरवैरकार्षीच्चकितोद्भ्रान्तमृगाणि काननानि ।। ९ ।।

अन्वयः—अयमेव शमस्थे मयि मायया प्रहरिष्यन् मृगव्यसत्रकामः पृथुभिः ध्वजिनीरवैः काननानि चकितोद्भ्रान्तमृगाणि अकार्षीत् ।। ९ ।।

अयमिति ।। अयमेव शमस्थे शान्तिनिविष्टे इति रन्ध्रोक्तिः । मयि । अधिकरण विवक्षायां सप्तमी । मायया प्रहरिष्यन् । प्रहर्तुमिच्छन्नित्यर्थः । 'लृट शेषे च' इति चकारात्क्रियार्थायां क्रियायां लृट् । 'लृटः सद्वा' इति शत्रादेशः । मृगव्यं मृगया-भूमिपरिग्रहार्थी सन्नित्यर्थः । 'कर्मण्यण्' 'आच्छोदन मृगव्यं स्यादाखेटो मृगया स्त्रियाम्' इति, 'सत्रमाच्छादने यज्ञे सदादाने वनेऽपि च' इति चामरः । पृथुभि-र्बहद्भिर्ध्वजिनीरवैः सेनाकलकलैः । स्वमायया कल्पितैरेवेत्यर्थः । काननानि चकि-तोद्भ्रान्तास्त्रस्तपलायिता मृगा येषु तानि । अकार्षीच्चकार । अयमेव रन्ध्रान्वेषी मत्प्रहारार्थं स्वयमेव मृगयुर्भूत्वा वनावरोधाय सेनाघोषं कल्पयामास । स मृगरूपेणा-गच्छतीत्यर्थः ।। ९ ।।

हिन्दी—इसी वराह ने शान्तिपूर्वक तपस्या में निरत मुझ पर प्रहार करने की दुर्भावना से मृगया की इस भूमि को मुझसे छीनने के लिए अपनी माया से कल्पित विशाल सेना के कोलाहल से जङ्गल के पशुओं को उद्भ्रान्त एवं चकित सा कर दिया है ।। ९ ।।

वितर्कान्तरमाह—

बहुशः कृतसत्कृतेर्विधातुं प्रियमिच्छन्नथवा सुयोधनस्य ।
क्षुभितं वनगोचराभियोगाद् गणमाशिश्रियदाकुलं तिरश्चाम् ।। १० ।।

अन्वयः—अथवा बहुशः कृतसत्कृतेः सुयोधनस्य प्रियं विधातुम् इच्छन् वन-गोचराभियोगात् क्षुभितम् आकुलं तिरश्चां गणम् अशिश्रियत् ।। १० ।।

बहुश इति ।। अथवा बहुशः कृता सत्कृतिः सत्कारो येन तस्य सुयोधनस्य प्रियं मद्वधरूपं प्रतिप्रियं विधातुं कर्तुमिच्छन् । यः कश्चिदिति शेषः । वनं गोचरं स्थानं येषां तेषां वनगोचराणामभियोगादवरोधात् । 'अभियोगोऽवरोधः स्यात्' इति हला-युधः । क्षुभितमुद्विग्नमाकुलं चलं तिरश्चां मृगादिपशूनां गणमाशिश्रियत् वराहरूपेण प्राविक्षत् । 'णिश्रिद्रुस्रुभ्यः कर्तरि चङ्', 'चङि' इति द्विर्भावः ।। १० ।।

हिन्दी—अथवा दुर्योधन से बहुपुरस्कृत होकर उसका प्रिय कार्य करनेकी इच्छा से किसी ने वनभूमि के अवरोध से क्षुब्ध पशुओं के रूप में आश्रय लिया है ।

विमर्श—अर्थात् उसने मन में यह सोचा होगा कि यदि मैं किसी दूसरे वेश में वहाँ जाऊँगा तो मेरे कार्य सम्पादन में ये जङ्गली पशु ही विघ्न डालेंगे अतएव मैं

भी जङ्गली पशु ही क्यों न बन जाऊँ और इस प्रकार से दुर्योधन का प्रिय कार्य सम्पन्न कर आऊँ ॥ १० ॥

वितर्कान्तरमाह—

अवलीढसनाभिरश्वसेनः प्रसभं खाण्डवजातवेदसा वा।
प्रतिकर्तुमुपागतः समन्युः कृतमन्युर्यदि वा वृकोदरेण ॥ ११ ॥

अन्वयः—खाण्डवजातवेदसा प्रसभम् अवलीढसनाभिः समन्युः, अश्वसेनः प्रतिकर्त्तुम् उपागतः यदि वा वृकोदरेण कृतमन्युः ॥ ११ ॥

अवलीढेति॥ खाण्डवजातवेदसा खाण्डववनाग्निना। प्रसभमवलीढसनाभिर्दग्धबन्धुः। 'सपिण्डास्तु सनाभयः। सगोत्रबान्धवज्ञातिबन्धुस्वस्वजनाः समाः' इत्यमरः। अत एव समन्युर्बद्धवैरः। तस्यार्जुनस्यापकारयितृत्वादिति भावः। अश्वसेनस्तक्षकपुत्रः कश्चिन्महासर्पः प्रतिकर्तुं वैरनिर्यातनार्थम्। उपागतो वा। वराहमाययेति शेषः। पक्षान्तरमाह—यदि वा वृकोदरेण भीमसेनेन कृतमन्युर्जनितक्रोधो वा। कश्चिदिति शेषः। पुरा किल पाण्डवः खाण्डवदाहे पावकभयात् पलायमानांस्तक्षकपुत्रानश्वसेनस्य बन्धून् बाणैरवरुध्य दाहयामासेति भारतकथा ॥ ११ ॥

हिन्दी—अथवा खाण्डव दाह के समय अपने बन्धु-बान्धवों के जल जाने के कारण अत्यन्त क्रुद्ध तक्षक नागराज का पुत्र अश्वसेन ही तो मुझसे बदला लेने के लिए नहीं आया है? अथवा यह भीमसेन के द्वारा अपकृत कोई व्यक्ति हो सकता है, जो क्रुद्ध होकर बदला चुकाने के लिए मेरे पास आया हो ॥ ११ ॥

विमर्श—महाभारत की एक कथा के अनुसार पाण्डवों ने खाण्डव वन को जलाते समय नागराज तक्षक के पुत्र अश्वसेन के बन्धु-बान्धवों को भी उसी में जला डाला था। वे बेचारे आग के भय से बाहर निकल कर भागना चाहते थे किन्तु पाण्डवों ने अपने बाणों से उन्हें रोक कर उसी वन में पुनः वापस लौटने के लिए विवश कर दिया था।

अथ द्वाभ्यामनन्तरकरणीयमध्यवस्यति—बलेत्यादिना—

बलशालितया यथा तथा वा धियमुच्छेदपरामयं दधानः।
नियमेन मया निबर्हणीयः परमं लाभमरातिभङ्गमाहुः ॥ १२ ॥

अन्वयः—यथा तथा वा अयं बलशालितया उच्छेदपरां धियं दधानः मया नियमेन निबर्हणीयः। हि अरातिभङ्गं परमं लाभम् आहुः ॥ १२ ॥

किं बहुना, यथा तथा वाऽस्तु। अयं मायिकः पारमार्थिको वाऽस्त्वित्यर्थः। सर्वथापि बलशालितया। बलदृप्ततयेत्यर्थः। उच्छेदपरां धियं दधानः। मां जिघांसुरित्यर्थः। अतोऽयं मृगो नियमेनावश्यं मया निबर्हणीयो वध्यः। 'प्रमाणं

हिन्दी—खैर जो भी हो । यह मायावी वराह हो अथवा यथार्थ में जङ्गली शूकर ही हो, अत्यन्त बलवान् होने के कारण यह मुझे मारना तो चाहता ही है, अतः मुझे इसको मारना ही चाहिये । क्योंकि पण्डित लोग शत्रु के संहार को ही परम लाभ बतलाते आए हैं ।। १२ ।।

विमर्श—यहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ।

ननु तपोविरोधिनी हिंसेत्याशङ्क्याह —

कुरु तात तपांस्यमार्गदायी विजयायेत्यलमन्वशान्मुनिर्माम् ।
बलिनश्च वधादृतेऽस्य शक्यं व्रतसंरक्षणमन्यथा न कर्तुम् ।।१३ ।।

अन्वयः—तात! अमार्गदायी विजयाय तपांसि कुरु इति मुनिः माम् अलम् अन्वशात्, अस्य बलिनः वधादृते अन्यथा व्रतसंरक्षणं कर्तुम् न शक्यम् ।। १३ ।।

कुर्विति ।। हे तात वत्स, मार्गदायी न भवतीति अमार्गदायी । रन्ध्रान्वेषिणां प्रवेशमयच्छन्नित्यर्थः । कृतः । जयर्थित्वादित्याह—विजयाय तपांसि कुर्विति मुनि-र्व्यासो मामलं भृशम् । अन्वशात् अनुशिष्टवान् । अनुशासेर्लङ् । ननु मुनिर्वा कथमधर्ममन्वशात्, तत्राह—बलिन इति । अस्य मृगस्य बलिनः प्रबलस्य वधादृते वध विना । 'अन्यारादितरर्ते —' इत्यादिना पञ्चमी ।अन्यथा उपायान्तरेण व्रतसंरक्षणं तपोरक्षणं कर्तुं न शक्यम् । हिंसापि दुष्टनिग्रहात्मिका नाधर्म इत्यर्थः ।।१३ ।।

हिन्दी—हे वत्स ! छिद्रान्वेषी शत्रुओं को अपने आश्रम में प्रवेश का अवसर न देते हुए विजय के लिए तपस्या करना—इस प्रकार का उपदेश मुझे मुनिवर व्यास जी ने दिया था, अतएव इस परम बलवान वराह के वध के अतिरिक्त किसी अन्य उपाय द्वारा मेरे व्रत की रक्षा नहीं हो सकती ।। १३ ।।

विमर्श—दुष्टों का दमन करने के लिए यदि हिंसा का भी प्रयोग करना पड़े तो इसमें दोष नहीं है ।

इति तेन विचिन्त्य चापनाम प्रथमं पौरुषचिह्नमाललम्बे ।
उपलब्धगुणः परस्य भेदे सचिवः शुद्ध इवाददे च बाणः ।।१४ ।।

अन्वयः—तेन इति विचिन्त्य चापनाम प्रथमं पौरुषचिह्नम् आललम्बे परस्य भेदे उपलब्धगुणः शुद्धः बाणश्च सचिव इव आददे ।। १४ ।।

इतीति ।। तेनार्जुनेन । इतीत्थं विचिन्त्य वितर्क्य चापनाम चापाख्यं प्रथमं पौरुषचिह्नम् । तस्य मुख्यायुधत्वादिति भावः । आललम्बे गृहीतम् । कर्मणि लिट् । अथ परस्य शत्रोर्भेदे विदारण उपजापे च उपलब्धगुणो ज्ञातशक्तिः । बाणस्तु प्राप्तमौर्वीकश्चेति शेषः । शुद्धो ऋजुर्दिग्धत्वादिदोषरहितो वा । 'न कर्णभेदैर्नो दिग्धैर्नाग्निज्वलिततैजसैः' इति निषेधात् ।अन्यत्र, —शुद्धो निर्मलचित्त इति यावत् ।

बाणश्च सचिव इव । आददे जगृहे । अत्र बाणसचिवयो: शब्दमात्रसाधर्म्याच्छ्लेषालङ्कार: प्रकृताप्रकृतविषय इति सर्वस्वकार: । उपमैवेति केचित् ।। १४ ।।

हिन्दी—अर्जुन ने इस प्रकार का तर्क-वितर्क करने के अनन्तर अपने गाण्डीव नामक धनुष को, जो प्रथम पौरुष-चिह्न के रूप में था, ग्रहण किया एवं तदनन्तर शत्रुओं के वध करने में ज्ञात पराक्रम वाले एक सरल एवं निर्दोष बाण को भी मन्त्री के समान ग्रहण किया ।। १४ ।।

अनुभाववता गुरु स्थिरत्वादविसंवादि धनुर्धनञ्जयेन ।
स्वबलव्यसनेऽपि पीड्यमानं गुणवन्मित्रमिवानतिं प्रपेदे ।। १५ ।।

अन्वय:—गुरु स्थिरत्वात अविसंवादि गुणवत् धनु: मित्रमिव अनुभाववता धनञ्जयेन स्वबलव्यसनेऽपि पीड्यमानं आनतिं प्रपेदे ।। १५ ।।

अनुभावेति ।। गुरु महत्पूज्यं च स्थिरत्वात् सारवत्त्वात् । अविसंवादि अभङ्गुरम् । अन्यत्र,—प्रतिष्ठितत्वादसत्यरहितम् । गुणवत् सज्यम् । अन्यत्र—औदार्यादिगुणवत् । धनुर्मित्रमिवानुभाववता निश्चयबुद्धिमता । 'अनुभाव: प्रभावे च सतां च मतिनिश्चये' इत्यमर: । धनञ्जयेन स्वबलव्यसनेऽपि तपसा क्षीणत्वेऽपि । अन्यत्र—स्वं धनं तदेव बलं तस्य व्यसने ह्रासेऽपि । पीड्यमानमाकृष्यमाणमवरुध्यमानं च सत् मित्रमिव । आनतिं नम्रतामानुकूल्यं च प्रपेदे । अलङ्कारस्तु पूर्ववत् ।

हिन्दी—महान, पूज्य, सत्यपरायण, औदार्य आदि सद्गुणों से सम्पन्न सन्मित्र धन-रूप बल की अभाव दशा में भी प्रार्थित होने पर जिस प्रकार से अनुकूल आचरण करते हैं, उसी प्रकार से महान्, सारवान होने से दृढतर और प्रत्यञ्चा युक्त गाण्डीव धनुष भी कठोर तपस्या के कारण क्षीण बल होने पर भी महानुभाव अर्जुन द्वारा आकृष्ट किए जाने पर नम्र हो गया ।। १५ ।।

विमर्श—यहाँ श्लेषानुप्राणित उपमा अलङ्कार है ।

प्रविकर्षनिनादभिन्नरन्ध्र: पदविष्टम्भनिपीडितस्तदानीम् ।
अधिरोहति गाण्डिवं महेषौ सकल: संशयमारुरोह शैल: ।। १६ ।।

अन्वय:—तदानीं महेषौ गाण्डिवम् अधिरोहति प्रविकर्षनिनादभिन्नरन्ध्र: पदविष्टम्भनिपीडित: सकल: शैल: संशयम् आरुरोह ।। १६ ।।

प्रविकर्षेति ।। तदानीं तस्मिन्काले महेषौ बाणे गाण्डिवमर्जुनधनु: । अधिरोहति सति । 'कपिध्वजस्य गाण्डीवगाण्डिवौ पुंनपुंसकौ' इत्यमर: । 'गाण्ड्यजगात्संज्ञायाम्' इति वप्रत्यय: । प्रविकर्षेण ज्यास्फालनेन यो निनादस्तेन भिन्नरन्ध्रो विदलितगह्वर: तथा, पदविष्टम्भेन पादाक्रमणेन निपीडितो नुन्न: सकल: समूल: शैल: संशयं जीवितसंदेहम् । आरुरोह । प्रापेत्यर्थ: । अत्र शैलस्य संशयासम्बन्धेऽपि सम्बन्धकथनादतिशयोक्तिरलङ्कार: ।। १६ ।।

हिन्दी—उस समय गाण्डीव धनुष पर अर्जुन द्वारा बाण रखते ही प्रत्यञ्चा के खींचने के कठोर शब्द से पर्वत की गुफाएँ व्याप्त हो गयीं, और अर्जुन के पद भार से आक्रान्त होने के कारण वह सम्पूर्ण पर्वत अपने में स्थिर रहने के लिए भी संशयग्रस्त हो गया ।। १६ ।।

विमर्श—यहाँ अतिशयोक्ति अलङ्कार है ।

ददृशेऽथ सविस्मयं शिवेन स्थिरपूर्णायतचापमण्डलस्थः ।
रचितस्तिसृणां पुरां विधातुं वधमात्मेव भयानकः परेषाम् ।।१७ ।।

अन्वयः—अथ शिवेन स्थिरपूर्णायतचापमण्डलस्थः तिसृणां पुरां वधं विधातुं रचितः आत्मा इव परेषां भयानकः सविस्मयं ददृशे ।। १७ ।।

ददृश इति ।। अथ बाणसंधानानन्तरं शिवेन स्थिरं निश्चलं पूर्णं च यथा तथा, आयत आकृष्टे चापमण्डले तिष्ठतीति तथोक्तः । चापमण्डलमन्तर्धाय स्थित इत्यर्थः । तिसृणाम् । 'न तिसृचतसृ' इति दीर्घप्रतिषेधः । पुराम् । त्रिपुरासुरस्येत्यर्थः । वधं संहारं विधातुं कर्तुं रचितः कल्पितः । स्थानविशेषे स्थापिता इति यावत् । आत्मा स्वयमिव परेषां भयानको भयङ्करः सोऽर्जुनः सविस्मयं ददृशे दृष्टः । उपमालङ्कारः ।

हिन्दी—बाण-सन्धान के अनन्तर भगवान् शङ्कर ने सम्पूर्ण रूप से प्रत्यञ्चा के खींचने के कारण विरचित निश्चल चाप-मण्डल में अवस्थित अर्जुन को बड़े विस्मय के साथ त्रिपुर-विध्वंस के समय स्वयं अपने द्वारा रचित निज-स्वरूप के समान शत्रुओं के लिए परम भयङ्कर रूप में देखा ।। १७ ।।

विमर्श—यहाँ उपमा अलङ्कार है ।

अथ पिनाकिवृत्तान्तमाह—

विचकर्ष च संहितेषुरुच्चैश्चरणास्कन्दननामिताचलेन्द्रः ।
धनुरायतभोगवासुकिज्यावदनग्रन्थिविमुक्तवह्नि शम्भुः ।।१८ ।।

अन्वयः—शम्भुश्च संहितेषुः उच्चैः चरणास्कन्दननामिताचलेन्द्रः आयतभोगवासुकिज्यावदनग्रन्थिविमुक्तवह्निः धनुः विचकर्ष ।। १८ ।।

विचकर्षेति ।। अथ शम्भुश्च संहितेषुः सन् । उच्चैर्भृशं चरणास्कन्दनेन पदविष्टम्भेन नामितोऽधो नीतोऽचलेन्द्रो येन स तथोक्तः । आयतभोग आकृष्टकायो वासुकिरेव ज्या तस्य—वदनमेव ग्रन्थिस्तेन विमुक्त उत्सृष्टो वह्निर्यस्य तत्, धनुर्विचकर्षेति स्वभावोक्तिः ।।१८ ।।

हिन्दी—तदन्तर भगवान् शङ्कर ने भी शर-सन्धान पूर्वक अपने धनुष को खींचा । उस समय उसके चरणों की अत्यन्त चपेट से पर्वतराज नीचे की ओर खिसक उठा । उनके धनुष की प्रत्यञ्चा पर नागराज वासुकि ही विराजमान थे, अतः

उसके खींचने पर उनका शरीर खिंच गया और मुख की ग्रन्थि से अग्नि की (भयङ्कर) ज्वालाएँ निकलने लगीं ।। १८ ।।

विमर्श—यहाँ स्वभावोक्ति अलङ्कार है ।

स भवस्य भवक्षयैकहेतोः सितसप्तेश्च विधास्यतोः सहार्थम् ।
रिपुराप पराभवाय मध्यं प्रकृतिप्रत्यययोरिवानुबन्धः ।।१९ ।।

अन्वयः—सहार्थं विधास्यतोः भवक्षयैकहेतोः भवस्य सितसप्तेश्च मध्यं रिपुः प्रकृतिप्रत्यययोः अनुबन्धः इव स पराभवाय आप ।। १९ ।।

स इति ।। सह संभूय अर्थमरिवधरूपप्रयोजनं विधास्यतोः करिष्यतोः । अन्यत्र, सहार्थमभिधेयमभिधास्यतोरित्यर्थः । 'प्रकृतिप्रत्ययौ सहार्थं ब्रूतः' इति वचनात् । भवक्षयैकहेतोः संसारोच्छेदनिदानस्य भवस्य शिवस्य सितसप्तेरर्जुनस्य च मध्यं रिपुर्वराहः । यस्मात्प्रत्ययो विधीयते सा प्रकृतिर्धात्वादिः, प्रत्ययः सनादिः, तयोर्मध्यमनुबन्ध इत्संज्ञको वर्णः । यथा भूतं भूतिरित्यादौ ककारः । स इव पराभवाय नाशाय लोपार्थमेव आप । न तु स्थित्यर्थमित्यर्थः ।।१९ ।।

हिन्दी—एक ही समय शत्रु-संहार रूप प्रयोजन को पूरा करने के लिये उद्यत संसार के विनाश के आदि कारण शङ्कर जी और अर्जुन के मध्य में प्राप्त वह वराह रूप शत्रु, संयुक्त रूप में अर्थ बोध कराने वाले प्रकृति और प्रत्यय के मध्य में स्थित इत्संज्ञक वर्ण की भाँति विनाश को प्राप्त हुआ ।। १९ ।।

विमर्श—जिस प्रकार से अर्थ प्रतिपादक प्रकृति और प्रत्यय के बीच में क् त् उ आदि इत्संज्ञक वर्ण केवल लोप होने के लिए ही आकर उपस्थित होते हैं उसी प्रकार से शिव और अर्जुन के बीच में वह वराह उपस्थित हुआ ।

उदाहरण के लिए कर्त्तव्य शब्द को लीजिए । इसमें 'कृ' धातु अर्थ प्रतिपादक प्रकृति है और तव्यत् प्रत्यय है । दोनों के बीच में अन्तिम त कार का लोप हो जाता है जो इत्संज्ञक है । यहाँ उपमा अलङ्कार है ।

अथ दीपितवारिवाहवर्त्मा रववित्रासितवारणादवार्यः ।
निपपात जवादिषुः पिनाकान्महतोऽभ्रादिव वैद्युतः कृशानुः ।। २० ।।

अन्वयः—अर्थ दीपितवारिवाहवर्त्मा अवार्यः इषुः रववित्रासितवारणात् पिनाकात् महतः अभ्रात् वैद्युतः कृशानुः इव जवात् निपपात ।। २० ।।

अथेति ।। अथ रिपोर्मध्यप्रवेशानन्तरं दीपितं वारिवाहवर्त्म आकाशं येन सः । अवार्यो दुर्वार इषुः शरो रववित्रासितवारणात् स्वघोषभीषितगजात् पिनाकात् शिवधनुषः । 'पिनाकोऽजगवं धनुः' इत्यमरः । महतोऽभ्रान्मेघात्, विद्युतोऽयं वैद्युतः कृशानुरशनिरिव जवाद्वेगात् । निपपातादधाव ।। २० ।।

हिन्दी—तदनन्तर मेघों के पथ को उद्भासित करता हुआ शङ्कर जी का अमोघ वाण, अपने घोष से हाथियों को भी विकम्पित करने वाले धनुष से, विशाल मेघमण्डल से विद्युत् की ज्वाला के समान वेग से छूटा ।। २० ।।

व्रजतोऽस्य बृहत्पतत्रजन्मा कृततार्क्ष्योपनिपातवेगशङ्कः ।
प्रतिनादमहान्महोरगाणां हृदयश्रोत्रभिदुत्पपात नादः ।। २१ ।।

अन्वयः—व्रजतः अस्य बृहत्पतत्रजन्मा कृततार्क्ष्योपनिपातवेगशङ्कः महोरगाणां हृदयश्रोत्रभित् प्रतिनादमहान् नादः उत्पपात ।। २१ ।।

व्रजत इति ।। व्रजतो धावतोऽस्य बाणस्य बृहद्भ्यः पतत्रेभ्यः पक्षेभ्यो जन्म यस्य स तथोक्तः । कृता तार्क्ष्योपनिपातवेगशङ्का गरुडागमनवेगभ्रमो येन सः । अत एव, महोरगाणां सर्पाणां हृदयानि श्रोत्राणि च भिनत्तीति हृदयश्रोत्रभित् । 'समुद्राभ्राद्धः' इति सूत्रे पूर्वनिपातव्यभिचारात् 'श्रोत्र' शब्दस्य पूर्वनिपातव्यभिचारः । प्रतिनादैः प्रतिध्वनिभिः महान् संमूर्च्छितो नाद उत्पपात उत्थितः । अत्र नादस्योरगहृदयभेदकत्वासम्बन्धेऽपि सम्बन्धाभिधानादतिशयोक्तिः। सा च तार्क्ष्यवेगभ्रमोत्थापितेति तयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः ।। २१ ।।

हिन्दी—वेग से चलते हुए उस बाण के बृहत् पक्षों से उत्पन्न भीषण नाद अपनी ही प्रतिध्वनि से भयङ्कर हो कर, गरुड़ के वेगपूर्वक आक्रमण की आशङ्का उत्पन्न करता हुआ महान् सर्पों के हृदयों और कानों को विदीर्ण करते हुए फैल गया ।। २१ ।।

विमर्श—यहाँ भ्रमोत्थापित अतिशयोक्ति अलङ्कार है ।। २१ ।।

नयनादिव शूलिनः प्रवृत्तैर्मनसोऽप्याशुतरं यतः पिशङ्गैः ।
विदधे विलसत्तडिल्लताभैः किरणैर्व्योमनि मार्गणस्य मार्गः ।। २२ ।।

अन्वयः—शूलिनः नयनात् प्रवृत्तैः इव पिशङ्गैः विलसत्तडिल्लताभैः मनसः अपि आशुतरम् यतः मार्गणस्य किरणैः व्योमनि मार्गः विदधे ।। २२ ।।

नयनादिवेति ।। शूलिनो नयनात् प्रवृत्तैर्निर्गतैरिव स्थितैरित्युत्प्रेक्षा । नेत्राग्निशिखाकल्पैरित्यर्थः । पिशङ्गैः पिङ्गलैः विलसत्तडिल्लताभैर्विद्युद्दामतुल्यैरित्युपमा । मनसश्चित्तादपि आशुतरं शीघ्रतरम् । 'आशु' शब्दादनव्ययात्तरप् । अतः 'किमेत्तिङव्यय—' इत्यादिनाम्प्रत्ययो न । 'क्लीबे शीघ्राद्यसत्त्वे स्यात्त्रिष्वेषां सत्त्वगामि यत्' इत्यमरः । यतो गच्छतः । इणः शतृप्रत्ययः । मार्गणस्य शरस्य । 'कदम्बमार्गणशराः' इत्यमरः । किरणैर्व्योमनि आकाशे मार्ग उल्कारेखाकारः पन्था विदधे विरचित इति स्वभावोक्तिरलङ्कारः ।। २२ ।।

हिन्दी—मानों भगवान् शङ्कर के तृतीय नेत्र से उत्पन्न अग्नि-ज्वाला के समान कपिल वर्ण और बिजली की रेखा के समान देदीप्यमान, मन के वेग से भी

शीघ्रगामी वेग से चलते हुए शिव के उस बाण की किरणों ने आकाशमण्डल में उल्कारेखा की तरह एक ज्वलन्त मार्ग बना दिया ।। २२ ।।

विमर्श—यहाँ स्वभावोक्ति अलङ्कार है ।

अपयन्धनुषः शिवान्तिकस्थैर्विवरेसद्भिरभिख्यया जिहानः ।
युगपद्ददृशे विशन्वराहं तदुपोढैश्च नभश्चरैः पृषत्कः ।। २३ ।।

अन्वयः—पृषत्कः धनुषः अपयन् शिवान्तिकस्थैः अभिख्यया जिहानः विवरेसद्भिः वराहं विशन् तदुपोढैः नभश्चरैः युगपत् ददृशे ।। २३ ।।

अपयन्निति ।। पृषत्को बाणः । 'पृषत्कबाणविशिखाः' इत्यमरः । धनुषः पिनाकात् । अपयन् निर्यन् । निर्गच्छन्नित्यर्थः । इणः शतृप्रत्ययः । शिवान्तिकस्थैर्नभश्चरैः । अभिख्यया शोभया जिहानः । शोभां गच्छन्नित्यर्थः । 'ओहाङ् गतौ' इति धातोः शानच् । 'अभिख्या नामशोभयोः' इत्यमरः । विवरे सीदन्तीति विवरेसदस्तैः विवरेसद्भिरन्तरालवर्तिभिर्नभश्चरैः । 'सत्सूद्विष—' इत्यादिना क्विप् । 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' इत्यलुक् । अथ वराहं विशन् प्रविशन्, तदुपोढैस्तं वराहमुपोढैः प्रत्यासन्नैः । वहेः कर्तरिक्तः । नभश्चरैर्युगपद्ददृशे दृष्ट इति बाणवेगोक्तिः । अत्र क्रमेण पिनाकनिष्क्रमणादिक्रियाविशिष्टस्य बाणस्य शिवान्तिकादिभिन्नदेशस्थनभश्चरकर्तृकदर्शनयौगपद्यासम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धोक्तिमूलातिशयोक्त्या लोकोत्तरवेगप्रतीतेरलङ्कारेण वस्तुध्वनिः ।। २३ ।।

हिन्दी—शिव जी का बाण जिस क्षण धनुष से निर्गत हुआ, उस समय शिव के समीपवर्ती आकाशचारियों ने, जिस समय वह पूर्वोक्त शोभा से सम्पन्न हुआ उस समय अन्तरालवर्ती आकाशचारियों ने तथा जिस समय वह वराह में प्रविष्ट हुआ उस समय वराह के समीपवर्ती आकाशचारियों ने एक साथ ही देखा ।। २३ ।।

विमर्श—तात्पर्य यह कि उसे धनुष से निकलकर आकाश से जाते हुए एवं वराह के शरीर में प्रविष्ट होते हुए तनिक भी देर नहीं लगी । अतिशयोक्ति अलङ्कार से लोकोत्तर वेग प्रतीतिरूप वस्तुध्वनि ।

स तमालनिभे रिपौ सुराणां घननीहार इवाविषक्तवेगः ।
भयविप्लुतमीक्षितो नभःस्थैर्जगतीं ग्राह इवापगां जगाहे ।। २४ ।।

अन्वयः—सः तमालनिभे सुराणां रिपौ घननीहार इव अविषक्तवेगः नभःस्थैः भयविप्लुतम् ईक्षितः आपगां ग्राह इव जगतीं जगाहे ।। २४ ।।

स इति ।। स बाणः । तमालनिभे तमालप्रभे । नीलाभ इति यावत् । सुराणां रिपौ वराहे घननीहारे सान्द्रतुहिन इव, अविषक्तवेगोऽप्रतिबद्धवेगः सन् । तथा, नभःस्थैः खेचरैः भयेन विप्लुतं विह्वलं यथा तथा, ईक्षितः सन् । अपां सम्बन्धि वेग आपः, अपां समूहो वा आपम् । आपेन गच्छतीति आपगा नदी तां गृहणातीति ग्राहोजलग्राहः ।

जलचर इति यावत् । 'जलचरे' इति वक्तव्यात् 'विभाषा ग्रहः' इति णप्रत्ययः । स इव । जगतीं भूमिम् । 'जगती विष्टपे भूम्यां वास्तुच्छन्दोविशेषयोः' इति वैजयन्ती । जगाहे विवेश । अन्तर्हित इत्यर्थः ।। २४ ।।

हिन्दी—शिवजी का वह वेगशाली बाण तमाल के समान नील वर्ण के उस देवशत्रु वराह के शरीर में सघन हिम के समान अप्रतिहत वेग से प्रविष्ट हो गया । भयविह्वल नभचरों ने देखा कि वह इसके बाद इस प्रकार से धरती में प्रविष्ट हो गया जिस प्रकार से ग्राह नदी में प्रविष्ट हो जाता है ।। २४ ।।

अथार्जुनबाणप्रयोगमाह—

सपदि प्रियरूपपर्वरेखः सितलोहाग्रनखा खमाससाद ।
कुपितान्तकतर्जनाङ्गुलिश्रीर्व्यथयन् प्राणभृतः कपिध्वजेषुः ।। २५ ।।

अन्वयः—सपदि प्रियरूपपर्वरेखः सितलोहाग्रनखः कुपितान्तकतर्जनांगुलिश्रीः कपिध्वजेषुः प्राणभृतः व्यथयन् खम् आससाद ।। २५ ।।

सपदीति ।। सपदि शिवबाणपातसमय एव प्रिया रूपमाकृतिः पर्वाणि ग्रन्थयो रेखा रचनाश्च यस्य सः । अङ्गुलिपक्षे, पर्वरेखाः प्रसिद्धाः । लोहाग्रमयःफलं तन्नखमिवेत्युपमितसमासः । सितं लोहाग्रनखं यस्य सः । कुपितस्यान्तकस्य मृत्योर्या तर्जना तस्या अङ्गुलिस्तर्जनाङ्गुलिः तर्जनी तस्याः श्रीरिव श्रीर्यस्य सः कपिध्वजेषुरर्जुनबाणः प्राणभृतो व्यथयन् भीषयमाणः खमाकाशम् । आससाद प्राप । उपमालङ्कारः ।। २५ ।।

हिन्दी—ठीक उसी अवसर पर तुरन्त ही अर्जुन का बाण भी प्राणियों को पीड़ित करता हुआ आकाश में उपस्थित हुआ । उस बाण का स्वरूप सुन्दर था, उसमें गाँठें और रेखाएँ ढंग से निर्मित थीं, उसके अग्रभाग में श्वेत लोहे का फाल लगा हुआ था, जो नख की आकृति का था । वह क्रोधित यमराज की तर्जनी अंगुली के समान भयङ्कर दिखाई पड़ रहा था ।। २५ ।।

विमर्श—यहाँ उपमा अलङ्कार है ।

परमास्त्रपरिग्रहोरु तेजः स्फुरदुल्काकृति विक्षिपन्वनेषु ।
स जवेन पतन् परःशतानां पततां व्रात इवारवं वितेने ।। २६ ।।

अन्वयः—परमास्त्रपरिग्रहोरु स्फुरदुल्काकृति तेजः वनेषु विक्षिपन् जवेन पतन् सः परः शतानां व्रात इव आरवं वितेने ।। २६ ।।

परमेति ।। परमास्त्रपरिग्रहेण दिव्यास्त्रधिष्ठानेन उरु महदत एव स्फुरदुल्काकृति । उल्कावद्दीर्घायमाणमित्यर्थः । तेजो वनेषु विक्षिपन् विकिरन्सन् । जवेन पतन् धावन् स बाणः । शतात्परे परःशतास्तेषाम् । शताधिकसंख्याकानामित्यर्थः । 'परःशताद्यास्ते येषां परा संख्या शतादिकात्' इत्यमरः । 'पञ्चमी—' इति योग-

विभागात्समासः । 'राजदन्तादिषु परम्' इत्युपसर्जनस्य 'शत' शब्दस्य परनिपातः । पारस्करादित्वात्सुडागमः । पततां पतत्रिणाम् । 'पतत्पत्ररथाण्डजाः' इत्यमरः । व्रातः समूह इव, आरवं वितेने विस्तारयामास ।। २६ ।।

हिन्दी—अर्जुन का वह महान् बाण मन्त्र द्वारा दिव्य अस्त्र की भाँति संधानित था, अतः प्रदीप्त उल्का के समान वन में अपने तेज को विखेरता हुआ अत्यन्त वेग के साथ दौड़ते हुए सैकड़ों – सहस्रों पक्षियों के समूह की भाँति वह महान् शब्द फैलाने लगा ।। २६ ।।

अविभावितनिष्क्रमप्रयाणः शमितायाम इवातिरंहसा सः ।
सह पूर्वतरं नु चित्तवृत्तेरपतित्वा नु चकार लक्ष्यभेदम् ।। २७ ।।

अन्वयः—अतिरंहसा अविभावितनिष्क्रमप्रयाणः शमितायाम इव सः सह नु चित्तवृत्तेः पूर्वतरं नु लक्ष्यभेदं चकार ।। २७ ।।

अविभावितेति ।। अतिरंहसाऽतिवेगेन । अविभाविते ऽलक्षिते निष्क्रमो गाण्डीवान्निःसरणं प्रयाणमन्तरागमनं च यस्य सः । तथा, शमितायामः संक्षिप्तदैर्घ्य इव स्थित इत्युपमा । अत्र वेगगुणनिमित्ता दैर्घ्यगुणाभावोत्प्रेक्षा । स शरः । सह नु सह वा । चित्तवृत्त्येति शेषः । चित्तवृत्तेः पूर्वतरं नु प्रागेव वा । उभयत्रापि लक्ष्ये पतित्वेति शेषः । अथवा, अपतित्वा नु । लक्ष्यं इति शेषः । लक्ष्यभेदं चकार । अत्रोपात्तवेगगुणनिमित्ताद्बाणस्य चित्तवृत्या । सहपातपूर्वपातपतनाभावोत्प्रेक्षास्तिस्र उत्तरोत्तरोत्कर्षेण वेगातिशयव्यञ्जिका इत्यलङ्कारेण वस्तुध्वनिः ।। २७ ।।

हिन्दी—अत्यन्त वेग के कारण अर्जुन के उस बाण का गाण्डीव से निर्गत होने का तथा उसके गमन का समय किसी को ज्ञात नहीं हो सका और उसने अतिवेग से मानों अत्यन्त सूक्ष्म होकर चित्तवृत्ति (मन की गति) के साथ ही अथवा उससे भी पूर्व ही लक्ष्य में पहुँच कर अथवा लक्ष्य तक बिना पहुँचे ही उसका भेदन कर दिया—इसका कुछ भी निश्चय नहीं हो सका ।। २७ ।।

विमर्श—उत्प्रेक्षा अलङ्कार से बाण वेगोत्कर्ष रूप वस्तुध्वनि ।

स वृषध्वजसायकावभिन्नं जयहेतुः प्रतिकायमेषणीयम् ।
लघु साधयितुं शरः प्रसेहे विधिनेवार्थमुदीरितं प्रयत्नः ।। २८ ।।

अन्वयः—जयहेतुः सः शरः वृषध्वजसायकावभिन्नम् एषणीयम् प्रतिकायं विधिना उदीरितम् अर्थ प्रयत्न इव लघु साधयितुं प्रसेहे ।। २८ ।।

स इति ।। जयहेतुः स शरो वृषध्वजसायकावभिन्नं शिवशरविद्धम् । एषणीयम् । व्यद्धुमिति शेषः । इषेरिच्छार्थादनीयर्प्रत्ययः । प्रतिकायम् प्रतिशरीरम् । प्रतिपक्षमिति यावत् । विधिना दैवेन, उदीरितं फलसाधनतया प्रतिपादितमर्थ योगादिकं प्रयत्नः पुरुषव्यापार इव । लघु अक्लेशेन यथा तथा साधयितुम् । स्वार्थणिजन्तात्तुमुन् प्रसेहे शशाक । उपमालङ्कारः ।। २८ ।।

हिन्दी—विजयसाधक अर्जुन का वह बाण वृषभध्वज शङ्कर के बाण से विद्ध उस प्रतिपक्षी सूकर के शरीर को इस प्रकार से सुगमतापूर्वक विद्ध करने में समर्थ हो गया जिस प्रकार से मनुष्य का प्रयत्न दैव प्रतिपादित कार्य का अनायास ही सम्पादन कर लेता है ।। २८ ।।

विमर्श—यहाँ उपमा अलङ्कार है ।

अविवेकवृथाश्रमाविवार्थं क्षयलोभाविव संश्रितानुरागम् ।
विजिगीषुमिवानयप्रमादाववसादं विशिखौ विनिन्यतुस्तम् ।। २९ ।।

अन्वयः—अविवेकवृथाश्रमौ अर्थम् इव क्षयलोभौ संश्रितानुरागमिव अनय-प्रमादौ विजिगीषुमिव विशिखौ तम् अवसादं विनिन्यतुः ।। २९ ।।

अविवेकेति ।। अविवेकोऽन्तरानभिज्ञत्वं वृथाश्रमो निष्फलप्रयासस्तौ अर्थं धनमिव । अस्थानविनियोगहेतुकत्वादनयोर्धनहानिकरत्वमिति भावः । क्षयोऽनुपचयो लोभोऽदातृत्वं तौ संश्रितानाम् अनुजीविनाम् अनुजीविनाम् अनुरागमिव । अकिञ्चित्करे स्वामिन्यनुरागस्यानवस्थानादिति भावः । अनयो दुर्नीतिः प्रमादोऽनवधानता तौ विजिगीषुमिव । रन्ध्रभूयिष्ठस्य जयासिद्धेरिति भावः । विशिखौ शिवार्जुनबाणौ तं वराहम् । अवसादं करणशैथिल्यं विनिन्यतुर्नीतवन्तौ । नयतिर्द्विकर्मकः । मालोपमेयम् ।

हिन्दी—जिस प्रकार से अविवेक और व्यर्थ का परिश्रम धन-वैभव को, स्वामी का विनाश और लोभ जैसे सेवकों के अनुराग को और अनीति तथा प्रमाद जैसे विजय-प्राप्ति की इच्छा रखने वाले व्यक्ति को शिथिलित कर देते हैं, वैसे ही शङ्कर और अर्जुन के बाणों ने उस शूकर को शिथिलित कर दिया ।। २९ ।।

विमर्श—यहाँ मालोपमा अलङ्कार है ।

अथ दीर्घतमं तमः प्रवेक्ष्यन् सहसा रुग्णरयः स सम्भ्रमेण ।
निपतन्तमिवोष्णरश्मिमुर्व्यां वलयीभूततरुं धरां च मेने ।। ३० ।।

अन्वयः—अथ सः दीर्घतमं तमः प्रवेक्ष्यन् सहसा रुग्णरयः सम्भ्रमेण उष्ण-रश्मिम् उर्व्यां निपतन्तमिव मेने । धराञ्च वलयीभूततरुं मेने ।। ३० ।।

अथेति ।। अथ स वराहो दीर्घतमं तमो दीर्घनिद्रां प्रवेक्ष्यन् । मरिष्यन्नित्यर्थः । सहसा झटिति रुग्णरयो भग्नवेगः संभ्रमेण भ्रान्त्या । 'संभ्रमो भ्रान्तिहावयोः' इति विश्वः । उष्णरश्मिमुर्व्यां भूमौ निपतन्तमिव मेने । धरां च वलयीभूता मण्डलीभूतास्त-रवो यस्यास्तां तथा मेने । तथा बभ्रामेत्यर्थः । स्वभावोक्तिरलङ्कारः ।। ३० ।।

हिन्दी—तदनन्तर वह वराह दीर्घ निद्रा के अन्धकार अर्थात् मृत्यु के गाल में प्रवेश करते हुए तुरन्त ही वेगहीन होकर चारों ओर चक्कर काटने लगा और उस क्षण उसे यह ज्ञात हुआ कि जैसे सूर्य पृथ्वी पर गिर रहे हैं और पृथ्वी के समस्त वृक्ष मण्डलाकार घूम रहे हैं ।। ३० ।।

विमर्श—चक्कर काटते हुए प्राणी को यह भ्रान्ति होती ही है । यहाँ स्वभावोक्ति अलङ्कार है ।

स गत: क्षितिमुष्णशोणितार्द्र: खुरदंष्ट्राग्रनिपातदारिताश्मा ।
असुभि: क्षणमीक्षितेन्द्रसूनुर्विहितामर्षगुरुध्वनिर्निरासे ।। ३१ ।।

अन्वय:—क्षिति गत: उष्णशोणितार्द्र: खुरदंष्ट्राग्रनिपातदारिताश्मा क्षणम् ईक्षितेन्द्रसूनु: विहितामर्षगुरुध्वनि: स: असुभि: निरासे ।। ३१ ।।

स इति ।। क्षितिं गत: क्षितौ पतित उष्णेन प्रत्यग्रत्वाच्छोणितेनार्द्र: क्लिन्न: खुराणां दंष्ट्रयोश्च अग्राणां निपातेनाघातेन दारिताश्मा पाटितपाषाण: । किंच, क्षणमीक्षितेन्द्रसूनु:। स्वार्थीविघातरोषादिति भाव:। अत एव, विहित: कृतोऽमर्षगुरु: क्रोधोद्धतो ध्वनि: क्रन्दितं येन स तथोक्त: स वराहोऽसुभि: प्राणैर्निरासे निरासित: । त्यक्त इत्यर्थ: । अस्यते: कर्मणि लिट् । इयं च स्वभावोक्ति: ।। ३१ ।।

हिन्दी—पृथ्वी पर गिर कर गरम-गरम रक्त से लथपथ उस वराह ने अपने पञ्जों तथा दाढ़ों के अग्रभाग की चोट से पत्थर की शिलाओं को फोड़ते हुए क्षण भर के लिए अर्जुन की ओर देखा और फिर अत्यन्त क्रोध से गम्भीर गर्जन करते हुए उसने अपने प्राणों को त्याग दिया ।। ३१ ।।

विमर्श—यहाँ स्वभावोक्ति अलङ्कार है ।

स्फुटपौरुषमापपात पार्थस्तमथ प्राज्यशर: शरं जिघृक्षु: ।
न तथा कृतवेदिनां करिष्यन् प्रियतामेति यथा कृतावदान: ।। ३२ ।।

अन्वय:—अथ पार्थ: प्राज्यशर: स्फुटपौरुषं शरं जिघृक्षु: आपपात । कृतवेदिनां कृतावदान: यथा प्रियताम् एति तथा करिष्यन् न ।। ३२ ।।

स्फुटेति ।। अथ वराहपातानन्तरं पार्थोऽर्जुन: प्राज्यशर: प्रभूतशर: । सन्नपीत्यर्थ: । 'प्रभूतं प्रचुरं प्राज्यम्' इत्यमर: । स्फुटपौरुषं व्यक्तविक्रमं वराहभेदिनां शरं जिघृक्षुर्ग्रहीतुमिच्छु: । ग्रहे: सन्नन्तादुप्रत्यय: । आपपाताधावति स्म । कृतज्ञतया शरग्रहणं, न तु लोभादित्यर्थ: । नन्वन्येऽप्युपकर्तार एव, किमित्यत्रैवादरस्तस्येत्यत आह—कृतवेदिनां कृतज्ञानां कृतावदान: कृतकर्मा । 'अवदानं कर्मवृत्तम्' इत्यमर: । यथा प्रियतामेति तथा करिष्यन् उपकरिष्यन्न प्रियतामेति ।। 'कृतकरिष्यमाणयो: कृतं बलीय:' इति न्यायादिति भाव: ।। ३२ ।।

हिन्दी—वराह के मर जाने पर अर्जुन के पास यद्यपि बहुतेरे बाण थे तथापि इस प्रकार का उत्कट पराक्रम दिखाने वाले अपने उस वराहवेधी बाण को उठाने की इच्छा से वह उसकी ओर लपके । सच है, जो लोग कृतज्ञ होते हैं, वे उसी का अधिक आदर करते हैं, जो कुछ काम करके दिखा देता है । भविष्य में उपकार करने वाले का वे उतना अधिक आदर नहीं करते ।। ३२ ।।

विमर्श—यहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ।

अथ युग्मेनाह —

उपकार इवासति प्रयुक्तः स्थितिमप्राप्य मृगे गतः प्रणाशम् ।
कृतशक्तिरधोमुखो गुरुत्वाज्जनितव्रीड इवात्मपौरुषेण ।। ३३ ।।

स समुद्धरता विचिन्त्य तेन स्वरुचं कीर्तिमिवोत्तमां दधानः ।
अनुयुक्त इव स्ववार्तमुच्चैः परिरेभे नु भृशं विलोचनाभ्याम् ।। ३४ ।।

अन्वयः—असति प्रयुक्तः उपकार इव मृगे स्थितिम् अप्राप्य प्रणाशं गतः । कृतशक्तिः गुरुत्वात् अधोमुखः आत्मपौरुषेण जनितव्रीड इव स्थितः । उत्तमां स्वरुचं कीर्तिमिव दधानः विचिन्त्य समुद्धरता तेन उच्चैः स्ववार्तं अनुयुक्त इव सः विलोचनाभ्यां भृशं परिरेभे नु ।। ३३-३४ ।।

उपकार इति ।। असति नीचे प्रयुक्त उपकार इव मृगे स्थितिमप्राप्य प्रणाशमदर्शनं गत इत्युपमा । यथा कृतशक्तिः कृतपौरुषो गुरुत्वात् लोहभारान्महत्त्वाच्च अधोमुखो नम्रमुखः । अत एव, आत्मपौरुषेण जनितव्रीड इव स्थित इत्युत्प्रेक्षा ।

स इति ।। उत्तमां स्वरुचं कान्तिं कीर्तिमिव दधान इत्युत्प्रेक्षा । किंच, विचिन्त्य सर्वथा ग्राह्योऽयमिति विमृश्य समुद्धरता तेनार्जुनेन उच्चैः स्ववार्तं स्वपाटवम् । 'वार्तं पाटवमारोग्यं भव्यं स्वास्थ्यमनामयम्' इति यादवः । अनुयुक्तः पृष्ट इव स्थित इत्युत्प्रेक्षा । आदरात्तथा प्रतीयत इत्यर्थः । 'प्रश्नोऽनुयोगः पृच्छा च' इत्यमरः । स बाणी विलोचनाभ्यां नयनाभ्यां कृत्वा भृशं परिरेभे नु आलिङ्गितः किमित्युत्प्रेक्षा । तेनात्यादरेण दृष्ट इत्यर्थः ।। ३३-३४ ।।

हिन्दी—अर्जुन का वह बाण दुःशील दुर्जनों पर किए गए उपकार की भाँति उस वराह के शरीर में न ठहर कर अदृश्य हो गया एवं अपने पौरुष को दिखला कर अग्रभाग में लौह की गुरुता से अधोमुख होकर वह इस प्रकार दिखाई पड़ा मानों अपने पुरुषत्व के प्रकाशन करने से लज्जित होकर उसने अपना मुँह नीचे कर लिया है । वह कीर्ति की भाँति मानों अपनी उज्ज्वल कान्ति से युक्त था । उसे सर्वथा ग्राह्य समझ कर अर्जुन ने अपने नेत्रों से उसका बारम्बार आलिङ्गन किया उस समय वह मानों उच्च स्वर में अपने कार्य-कौशल को जानने की अभिलाषा करते हुए पड़ा था ।। ३३-३४ ।।

विमर्श—गौरवशाली महान् लोग अपने पुरुषत्व का प्रकाशन करके अपना शिर ऊँचा नहीं उठाते, प्रत्युत् बड़े से बड़ा कार्य करके भी वे नम्रता ही दिखाते हैं । यहाँ दोनों श्लोकों में उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ।

तत्र कार्मुकभृतं महाभुजः पश्यति स्म सहसा वनेचरम् ।
निकाशयितुमग्रतः स्थितं शासनं कुसुमचापविद्विषः ।। ३५ ।।

अन्वय:—तत्र महाभुज: कुसुमचापविद्विष: शासनं सन्निकाशयितुम् अग्रत: स्थितं कार्मुकभृतं वनेचरं सहसा पश्यति स्म ।। ३५ ।।

तत्रेति ।। तत्र प्रदेशे महाभुजोऽर्जुन: कुसुमचापविद्विष: स्मरारे: शासनं वक्ष्यमाणमादेशं संनिकाशयितुं संनिवेशयितुम् । निवेदयितुमिति यावत् । अग्रत: स्थितं कार्मुकभृतं वनेचरं सहसा झटिति पश्यति स्म । इत: प्रभृति रथोद्धतावृत्तम् —'रोनराविह रथोद्धता लगौ' इति लक्षणात् ।। ३५ ।।

हिन्दी—उक्त प्रदेश में महाभुज अर्जुन ने कुसुमायुध के संहारकर्त्ता भगवान् शङ्कर की आज्ञा को सूचित करने के लिए अपने सामने स्थित एक धनुषधारी किरात को सहसा देखा ।। ३५ ।।

विमर्श—यह रथोद्धता छन्द है । सर्ग समाप्ति पर्यन्त अब यही छन्द रहेगा ।

स प्रयुज्य तनये महीपतेरात्मजातिसदृशीं किलानतिम् ।
सान्त्वपूर्वमभिनीतिहेतुकं वक्तुमित्थमुपचक्रमे वच: ।। ३६ ।।

अन्वय:—स: महीपते: तनये आत्मजातिसदृशीं किल आनतिं प्रयुज्य, सान्त्वपूर्वम् अभिनीतिहेतुकं वच: इत्थं वक्तुम् उपचक्रमे ।। ३६ ।।

स इति ।। स वनेचरो महीपतेस्तनये राजपुत्रेऽर्जुन आत्मजातिसदृशीं किरातजात्यनुरूपां किल । 'किले'ति जातेरलीकतां दर्शयति । यत: । परमार्थत: प्रमथ एव स: । आनतिं प्रणतिं प्रयुज्य सान्त्वपूर्व सामपूर्वकम् । 'साम सान्त्वमुभे समे' इत्यमर:। अभिनीतिहेतुकं प्रिययुक्तिहेतुकं वच: । इत्थं वक्ष्यमाणप्रकारेण वक्तुमुपचक्रम उद्युक्तवान् ।। ३६ ।।

हिन्दी—(तदनन्तर वह) किरात राजपुत्र अर्जुन को अपनी जाति परम्परा के अनुसार प्रणाम कर सान्त्वनापूर्वक प्रिय और युक्तियुक्त बातें इस प्रकार से कहने के लिए उद्यत हुआ ।। ३६ ।।

तत्र तावच्चतुर्भि: सान्त्वमाह—

शान्तता विनययोगि मानसं भूरि धाम विमलं तप: श्रुतम् ।
प्राह ते नु सदृशी दिवौकसामन्ववायमवदातमाकृति: ।। ३७ ।।

अन्वय:—शान्तता ते विनययोगि मानसं नु तथा भूरि धाम तप: विमलं श्रुतं दिवौकसां सदृशी आकृति: अवदानं अन्ववायं प्राह ।। ३७ ।।

शान्ततेति ।। शान्तता बहिरनौद्धत्यं ते तव विनययोगि अनौद्धत्ययुक्तं मानसं कर्म प्राहु न ब्रूते खलु । तथा, भूरि बहु धाम तेजो यस्मिस्तत्तप: कर्तृ विमलं संप्रदायशुद्धं श्रुतं प्राह । किंच, द्यौर्दिवं वौको येषां तेषां दिवौकसां देवानाम् । पृषोदरादित्वात्साधु: । 'दिवं स्वर्गेऽन्तरिक्षे च' इति विश्व: । सदृशी तुल्या आकृतिर्मूर्ति: अवदातं शुद्धं अन्ववायं वंशं प्राह । 'वंशोऽन्ववाय: संतान:' इत्यमर: ।

शान्त्यादिभिर्लिङ्गैर्विनयादयोऽनुमीयन्ते । अन्यथा तदसंभवादिति भावः ।। ३७ ।।

हिन्दी—आपका यह शान्त भाव आपके हृदय की विनयशीलता को प्रकाशित करता है । महान् तेजस्वी आप का यह तप आपके विशुद्ध शास्त्रीय ज्ञान का परिचय देता है और आपकी देवताओं के समान यह मनोहर आकृति आपके 'विशुद्ध वंश' को प्रकट कर रही है ।। ३७ ।।

दीपितस्त्वमनुभावसम्पदा गौरवेण लघयन्महीभृतः ।
राजसे मुनिरपीह कारयन्नाधिपत्यमिव शातमन्यवम् ।। ३८ ।।

अन्वयः—मुनिरपि अनुभावसम्पदा दीपिता गौरवेण महीभृतः लघयन् त्वम् इह शातमन्यवम् आधिपत्यं कारयन्निव राजसे ।। ३८ ।।

दीपित इति ।। मुनिरपि । ऐश्वर्यरहितोऽपीत्यर्थः । अनुभावसंपदा प्रभावातिशयेन दीपितः प्रकाशितः । 'अनुभावः प्रभावे च' इत्यमरः । गौरवेण महत्तया महीभृतो राज्ञो लघयन् लघूकुर्वन् । त्वम् । इहाद्रौ । शतमन्योरिदं शातमन्यवमैन्द्रम् । 'तस्येदम्' इत्यण्प्रत्ययः । 'शतमन्युर्दिवस्पतिः' इत्यमरः । अधिपतेः कर्म आधिपत्यं त्रैलोक्यरक्षाधिकारम् । ब्राह्मणादित्वात्ष्यञ्प्रत्ययः । कारयन्निव, इन्द्रेणेति शेषः । राजसे तस्याप्युपजीव्य इति प्रतीयसे । स्वमहिम्नेत्यर्थः ।। ३८ ।।

हिन्दी—ऐश्वर्य रहित मुनिवेश में होते हुए भी आप अपने अतिशय प्रभाव से सुप्रकाशित हो रहे हैं । अपनी महत्ता से (बड़े-बड़े) राजाओं को भी तुच्छ बना दे रहे हैं, इस प्रकार आप इस पर्वत पर मानों इन्द्र के द्वारा उनके शासन कार्य की देखभाल करते हुए शोभायमान हो रहे हैं ।। ३८ ।।

तापसोऽपि विभुतामुपेयिवानास्पदं त्वमसि सर्वसम्पदाम् ।
दृश्यते हि भवतो विना जनैरन्वितस्य सचिवैरिव द्युतिः ।। ३९ ।।

अन्वयः—विभुताम् उपेयिवान् तापसोऽपि त्वं सर्वसम्पदाम् आस्पदम् असि । तथाहि भवतः जनैर्विना सचिवैः अन्वितस्येव दृश्यते ।। ३९ ।।

तापस इति ।। विभुतां प्रभावम् । उपेयिवानुपगतः । अत एव तापसोऽपि त्वं सर्वसपदामास्पदं स्थानमसि । 'आस्पदं प्रतिष्ठायाम्' इति निपातः । विभुतामेव समर्थयते—हि यस्मात्, भवतस्तव जनैर्विनापि । एकाकिनोऽपीत्यर्थः । सचिवैरन्वितस्येव अमात्यादियुक्तस्येव द्युतिस्तेजो दृश्यते । अतः सर्वसंपदास्पदत्वं युक्तमित्यर्थः ।

हिन्दी—अत्यन्त प्रभाव से युक्त होने के कारण आप तपस्वी होकर सम्पूर्ण सम्पदाओं के आश्रय हैं । क्योंकि यद्यपि आप अकेले हैं फिर भी सचिवादि से युक्त की भाँति आप का तेज दिखाई पड़ता है ।। ३९ ।।

विस्मयः क इव वा जयश्रिया नैव मुक्तिरपि ते दवीयसी ।
ईप्सितस्य न भवेदुपाश्रयः कस्य निर्जितरजस्तमोगुणः ।। ४० ।।

अन्वयः—जयश्रिया क इव वा विस्मयः अतः मुक्तिरपि ते दवीयसी नैव । तथाहि निर्जितरजस्तमोगुणः कस्य ईप्सितस्य उपाश्रयः न भवेत् ॥ ४० ॥

विस्मय इति ॥ किंच, जयश्रिया हेतुना । प्राप्तयापीति शेषः । क इव वा विस्मयः किमाश्चर्यम् । न कश्चिदित्यर्थः । 'विस्मयोऽद्भुतमाश्चर्यं चित्रम्' इत्यमरः । अतो मुक्तिरपि ते तव दवीयसी दूरतरा दुर्लभा न भवत्येव । 'स्थूलदूर—' इत्यादिना यणादिपरलोपः पूर्वगुणश्च । तथा हि—निर्जितौ रजस्तमसी एव गुणौ येन स भवत्सदृशः पुरुषः कस्येप्सितस्य वाञ्छितस्य । उपाश्रय आस्पदं न भवेदित्यर्थः ॥ ४० ॥

हिन्दी—आपको जयश्री का लाभ होना कोई विस्मय की बात नहीं है, अतएव मुक्ति भी आपको दुर्लभ नहीं है, क्योंकि आपके समान रजोगुण एवं तमोगुण को पराजित करने वाले पुरुष किस अभिलषित वस्तु के आश्रय नहीं होते ॥ ४० ॥

विमर्श—अर्थात् जो व्यक्ति रजोगुण एवं तमोगुण को पराजित कर देता है, उसकी सम्पूर्ण अभिलाषाएँ पूर्ण हो जाती हैं ।

ह्रेपयन्नहिमतेजसं त्विषा स त्वमित्थमुपपन्नपौरुषः ।
हर्तुमर्हसि वराहभेदिनं नैनमस्मदधिपस्य सायकम् ॥ ४१ ॥

अन्वयः—त्विषा अहिमतेजसम् ह्रेपयन् उपपन्नपौरुषः सः त्वं वराहभेदिनम् एनम् अस्मत् अधिपस्य सायकम् इत्थं हर्तुम् न अर्हसि ॥ ४१ ॥

ह्रेपयन्निति ॥ त्विषा तेजसा । अहिमतेजसमुष्णतेजसं ह्रेपयन् लज्जयन्, उपपन्नपौरुषः संभावितपराक्रमः स प्रसिद्धस्त्वं वराहभेदिनाम् । कृतोपकारमित्यर्थः । एनं त्वत्करगतम् । अस्मदधिपस्य सायकं शरम् । साहसेन हर्तुं नार्हसि ॥ ४१ ॥

हिन्दी—अपने तेज से उष्णरश्मि भास्कर को लज्जित करने वाले आप जैसे पराक्रमी को इस वराह को मारने वाले हमारे स्वामी के वाण का इस प्रकार से अपहरण करना उचित नहीं है ॥ ४१ ॥

अनर्हत्वमेवाह —

स्मर्यते तनुभृतां सनातनं न्याय्यमाचरितमुत्तमैर्नृभिः ।
ध्वंसते यदि भवादृशस्ततः कः प्रयातु वद तेन वर्त्मना? ॥ ४२ ॥

अन्वयः—उत्तमैः नृभिः तनुभृतां सनातनं न्याय्यम् आचरितं स्मर्यते । यदि भवादृशः ततः ध्वंसते तेन वर्त्मना कः प्रयातु वद ॥ ४२ ॥

स्मर्यत इति ॥ उत्तमैर्नृभिः सत्पुरुषैर्मन्वादिभिः । तनुभृतां शरीरिणां सनातनं नित्यं न्याय्यं न्यायादनपेतम्, आचरितमाचारः स्मर्यते । कर्तव्यतयेति शेषः । न त्वनाचार इत्यर्थः । अथाप्यनाचारेण दोषमाह—ध्वंसत इति । भवानिव दृश्यन्ते इति भवादृशस्ततः सदाचारात् ध्वंसते भ्रश्यन्ते यदि तथा तेन वर्त्मना न्यायमार्गेण कः

प्रयातु गच्छतु वद कथय । न कोऽपीत्यर्थः । तथा च सन्मार्ग एव शीलं कुर्यादिति भावः ।। ४२ ।।

हिन्दी—मनु आदि आचारवेत्ता महानुभावों ने शरीरधारियों के लिए 'सर्वदा न्याय-पथ का अवलम्बन करना चाहिए' ऐसा उपदेश किया है । यदि आप जैसे व्यक्ति उस न्याय-पथ से विचलित हो जायँगे तो बताइये उस पथ पर दूसरा कौन व्यक्ति चलेगा? ।। ४२ ।।

आकुमारमुपदेष्टुमिच्छवः सन्निवृत्तिमपथान्महापदः ।
योगशक्तिजितजन्ममृत्यवः शीलयन्ति यतयः सुशीलताम् ।। ४३ ।।

अन्वयः—योगशक्तिजितजन्ममृत्यवः यतयः आकुमारं महापदः अपथात् सन्निवृत्तिम् उपदेष्टुम् इच्छवः सुशीलतां शीलयन्ति ।। ४३ ।।

आकुमारमिति ।। किंच, योगशक्त्याऽऽत्मज्ञानमहिम्ना जितौ जन्ममृत्यू यैस्ते-यतयो योगिनः । कुमारेभ्य आ आकुमारम् । कुमारादारभ्येत्यर्थः । 'आङ् मर्यादाभि-विध्योः' इत्यव्ययीभावः । महत्य आपदो यस्मिंस्तस्मात् महापदः । महानर्थहेतोरि-त्यर्थः । अपथात् अमार्गात् । 'पथा विभाषा' इति निषेधविकल्पात्समासान्तः । 'अपथं नपुंसकम्' । संनिवृत्तिमपगमम्, उपदेष्टुमिच्छवः सन्तः सुशीलतां सद्वृत्तताम् । 'शीलं स्वभावे सद्वृत्ते' इत्यमरः । शीलयन्ति अभ्यस्यन्ति । अतो न त्याज्यं शीलमित्यर्थः।

हिन्दी—अपनी योग शक्ति अर्थात् आत्मज्ञान की महिमा से जन्म और मृत्यु को जीतने वाले योगी जन अपनी कौमार्यावस्था से ही महान् विपत्तियों के आश्रय रूप कुमार्ग से निवृत्त होने का उपदेश देने की इच्छा से सदाचरण का ही अभ्यास करते हैं ।। ४३ ।।

विमर्श—इसलिए सज्जन पुरुष को सदाचरण एवं शील का कदापि त्याग नहीं करना चाहिए ।

न केवलं सौशील्यादनर्थनिवृत्तिः किं त्वर्थप्राप्तिरपीत्याह —

तिष्ठतां तपसि पुण्यमासजन् सम्पदोऽनुगुणयन् सुखैषिणाम् ।
योगिनां परिणमन् विमुक्तये केन नास्तु विनयः सतां प्रियः ।। ४४ ।।

अन्वयः—तपसि तिष्ठतां पुण्यम् आसजन् सुखैषिणां सम्पदः अनुगुणयन् तथा योगिनां विमुक्तये परिणमन् विनयः केन सतां प्रियः नास्तु ।। ४४ ।।

तिष्ठतामिति ।। तपसि तिष्ठतां तपोनिष्ठानाम् । धर्मार्थिनामित्यर्थः । पुण्यं धर्मम् । आसजन् संपादयन् । 'स्याद्धर्ममस्त्रियां पुण्यश्रेयसी सुकृतं वृषः' इत्यमरः । सुखैषिणां सुखार्थिनां संपदः सुखसाधनभूतानर्थान् । अनुगुणयन्ननुकूलयन् । अर्थ-कामयोरपि हेतुभूत इत्यर्थः । तथा, योगिना विमुक्तयेऽपवर्गाय परिणमन् संपद्यमानो विनयः सौशील्यं केन हेतुना सतां प्रियो नास्तु । संभावनायां लोट् । सर्वथा विनय

एव चतुर्वर्गसाधनमित्यर्थ: । अतस्त्वया नास्मत्स्वामिशरचौर्यं कार्यमिति तात्पर्यम् ।

हिन्दी—विनयशीलता तपस्या में निरत धर्मार्थी लोगों को पुण्य प्रदान करती है, सुखार्थी जनों के लिए सम्पत्ति प्रदान करती है और योगियों को मुक्ति प्रदान करती है, अत: कौन-सा ऐसा कारण है कि वह (सदाचार) सज्जनों को प्रिय न हो ।

विमर्श—तात्पर्य यह है कि विनयशीलता धर्मार्थ, काम, मोक्ष चतुर्वर्ग को देने वाली है ।

अथवा किं भवादृशेष्वन्यसंभावनया, यतो भ्रान्तिरपि संभाव्यत इति मृदूक्तिमवलम्ब्याह—

नूनमत्रभवत: शराकृतिं सर्वथायमनुयाति सायक: ।
सोऽयमित्यनुपपन्नसंशय: कारितस्त्वमपथे पदं यया ।। ४५ ।।

अन्वय:—अयं सायक: अत्र भवत: शराकृतिं सर्वथा अनुयाति नूनम् यया त्वम् अनुपपन्नसंशय: स: अयम् इति अपथे पदं कारित: ।। ४५ ।।

नूनमिति ।। अयमस्मदीय: सायकोऽत्रभवत: । पूज्यस्येत्यर्थ: । 'पूज्यस्तत्रभवानत्रभवान्' इति सज्जन: । 'इतरेभ्योऽपि दृश्यन्ते' इति सार्वविभक्तिकस्तसिल्प्रत्यय: । सुप्सुपेति समास: । शराकृतिं सर्वथा रूपेण रेखादिना सर्वप्रकारेण । अनुयात्यनुसरति । अत्यन्तमनुकरोतीत्यर्थ: । 'नूनम्' इति वितर्के । ययाऽऽकृत्या कर्त्र्या त्वमनुपपन्नसंशयोऽत्यन्तसादृश्यादनुत्पन्नस्वान्यदीयत्वसंदेह: सन् । सोऽयमिति य: स्वकीय: स एवायमिति ।। भ्रान्त्युत्पत्त्यैवेति शेष: । अपथेऽमार्गे शरापहरणरूपे पदं कारित: । निधापित इत्यर्थ: । 'ह्रक्रोरन्यतरस्याम्' इत्यणि कर्तु: कर्मता । 'ण्यन्ते कर्तुश्च कर्मण:' इति तत्रैवाभिहिते कर्मणि क्त: ।। ४५ ।।

हिन्दी—निश्चय ही मेरे स्वामी का यह बाण आपके बाण के समान ही आकृति वाला है, जिसके कारण यही आप को सन्देहरहित बनाकर दूसरे का बाण अपहरण करने के इस कुमार्ग पर ला रहा है ।। ४५ ।।

पुनरपि स्तेयमेव द्रढयन् दोषान्तरमापादयति —

अन्यदीयविशिखे न केवलं नि:स्पृहस्य भवितव्यमाहृते ।
निघ्नत: परनिबर्हितं मृगं व्रीडितव्यमपि ते सचेतस: ।। ४६ ।।

अन्वय:—सचेतस: ते अन्यदीयविशिखे आहृते नि:स्पृहस्य केवलं न भवितव्यम् परनिबर्हितं मृगं निघ्नत: व्रीडितव्यमपि ।। ४६ ।।

अन्यदीयेति ।। सह चेतसा वर्तत इति सचेतसो मनस्विन: । तेऽन्यदीयविशिखे विषये यत् आहृतमाहरणम् । भावे क्त: । तस्मिन् । अन्यदीयविशिखस्याहरण इत्यर्थ: । नि:स्पृहस्य केवलं नि:स्पृहेणैव न भवितव्यम् । किन्तु परनिबर्हितं परेण

प्रहृतं मृगं निघ्नतः प्रहरतस्ते । निघ्नता त्वयेत्यर्थः । 'कृत्यानां कर्तरि वा' इति षष्ठी । व्रीडितव्यं लज्जितव्यमपि । भावे तव्यप्रत्ययः । संप्रति तु त्वया परविद्धं मृगं विद्धापि न व्रीड्यते प्रत्युत स्तेयं च क्रियत इत्यहो महत्साहसमित्यर्थः । मृगमित्यत्र शेषत्वा विवक्षणात् 'जासिनिप्रहणनाटक्राथपिषां हिंसायाम्' इति षष्ठी न भवति शेषाधिकारात् । निप्रहणेत्यत्र निप्रयोः सङ्घातव्यस्तविपर्यस्तानां ग्रहणात् ॥ ४६ ॥

हिन्दी—आप जैसे मनस्वी सज्जन के लिए दूसरे के बाण का अपहरण करने में केवल निस्पृह होना ही उचित नहीं है, प्रत्युत दूसरे द्वारा मारे गए पशु में (फिर से) प्रहार करते हुए लज्जित होना भी उचित है ॥ ४६ ॥

विमर्श—अर्थात् मुझे आश्चर्य है कि दूसरे द्वारा मारे गये मृग को मारकर लज्जित होना तो दूर आप तो दूसरे का बाण भी अपहृत करना चाहते हैं - यह तो बड़ी निर्लज्जता की बात है ।

अथास्मिन्कृतघ्नताभियोगं स्वीयोपकारकत्वं वर्णयितुं विकत्थनदोषं तावद्युग्मेन परिहरन्नाह—

सन्ततं निशमयन्त उत्सुका यैः प्रयान्ति मुदमस्य सूरयः ।
कीर्तितानि हसितेऽपि तानि यं व्रीडयन्ति चरितानि मानिनम् ॥ ४७ ॥

अन्वयः—सूरयः अस्य यैः सन्ततम् उत्सुकाः निशमयन्तः मुदं प्रयान्ति तानि चारितानि हसितेऽपि कीर्तितानि यं मानिनं व्रीडयन्ति ॥ ४७ ॥

संततमित्यादि ॥ सूरयो विद्वांसः । अस्य अस्मत्स्वामिनः सम्बन्धिभिः, यैश्चरितैः करणभूतैः संततं सततमुत्सुकाः सोत्कण्ठाः सन्तो निशमयन्तश्चरितानि शृण्वन्तो मुदं प्रयान्ति । अत्र चरितानां मुत्प्राप्तौ शाब्दं करणत्वम् । अर्थान्निशमनकर्मत्वमिति विवेकः । तानिचरितानि हसितेऽपि परिहासेऽपि कीर्तितानि परैरुच्चारितानि सन्ति यं मानिनं व्रीडयन्ति । मानित्वाद्व्रीडा, न तु चरितदोषात् । तेषामलङ्काररूपत्वादिति भावः ॥

हिन्दी—विद्वान् लोग हमारे स्वामी किरातपति के जिस उज्ज्वल चरित को उत्कण्ठापूर्वक सुनकर प्रसन्न होते हैं, वे ही चरित यदि परिहास में भी कहे जाते हैं तो उससे हमारे मनस्वी स्वामी को लज्जा होती है ॥ ४७ ॥

विमर्श—तात्पर्य यह है कि हमारे स्वामी के उज्ज्वल चरित को बड़े-बड़े विद्वान् लोग भी उत्कण्ठापूर्वक सुनते हैं, और परमानन्दित होते हैं, किन्तु स्वयं हमारे स्वामी को अपने मान का इतना ध्यान रहता है कि यदि हास-परिहास में भी कोई उनके चरित का उल्लेख करता है तो वे सङ्कोच में पड़ जाते हैं । सच्चे महापुरुष अपनी कीर्ति सुनना भी नहीं चाहते ।

अन्यदोषमिव स स्वकं गुणं ख्यापयेत् कथमधृष्टताजडः ।
उच्यते स खलु कार्यवत्तया धिग्विभिन्नबुधसेतुमर्थिताम् ॥ ४८ ॥

अन्वय:—अधृष्टताजड: स: अन्यदोषमिव स्वकं गुणं कथं ख्यापयेत् तथापि कार्यवत्तया स उच्यते खलु विभिन्नबुधसेतुम् अर्थितां धिक् ।। ४८ ।।

अन्येति ।। अधृष्टतया विकत्थनेन शालीनतया जड: स्तब्ध: । अविकत्थन इत्यर्थ: । सोऽस्मत्स्वामी । अन्यदोषं परावरगुणमिव स्वकं स्वकीयं गुणं कथं ख्याप-येत् प्रकटयेत् । 'आत्मप्रशंसां परगर्हामिव वर्जयेत्' इति स्मरणादिति भाव: । तथापि कार्यवत्तया । कर्मार्थितयेत्यर्थ: । स: स्वगुण उच्यते खलु । कार्यार्थिन: कुतो गर्व इति भाव: । निर्विण्ण इवाह—धिगिति । विभिन्नबुधसेतुमतिक्रान्तसुजनमर्यादाम् । अर्थितां याचनां धिक् । निन्दामीत्यर्थ: । यदयमपीत्थं विकत्थयितुं प्रवृत्त इति भाव: । 'धिङ्-निर्भर्त्सननिन्दयो:' इत्यमर: । 'अभिसर्वतसो: कार्या धिगुपर्यादिषु त्रिषु । द्वितीया-म्रेडितान्तेषु ततोऽन्यत्रापि दृश्यते' इति द्वितीया ।। ४८ ।।

हिन्दी—इस प्रकार आत्मप्रशंसा से सर्वदा विमुख रहने वाले हमारे स्वामी दूसरों के दोष की भाँति अपने गुणों का प्रकाशन कैसे कर सकते हैं, तथापि कार्य पड़ने पर अपनी भी प्रशंसा की जाती है इसमें दोष नहीं है । किन्तु सज्जन पुरुषों की मर्यादा को भङ्ग करने वाली उस याचना को धिक्कार है, (जिसके प्रसङ्ग में व्यर्थ ही प्रशंसा करनी पड़ती है) ।। ४८ ।।

विमर्श—किरात के कथन का तात्पर्य यह है कि आप यह न समझें कि मैं किसी याचना के प्रसङ्ग में अपने स्वामी की व्यर्थ ही प्रशंसा कर रहा हूँ, मैं तो उसे धिक्कार की वस्तु मानता हूँ ।

संप्रति स्वकृतोपकारं दर्शयति —

> **दुर्वचं तदथ मा स्म भून्मृगस्त्वय्यसौ यदकरिष्यदोजसा ।**
> **नैनमाशु यदि वाहिनीपति: प्रत्यपत्स्यत शितेन पत्रिणा ।। ४९ ।।**

अन्वय:—वाहिनीपति: शितेन पत्रिणा एनम् आशु न प्रत्यपत्स्यत । यदि असौ मृग: ओजसा त्वयि यद् अकरिष्यत् तत् दुर्वचं अथ तत् मास्मभूत् ।। ४९ ।।

दुर्वचमिति ।। वाहिनीपति: सेनापतिरस्मत्स्वामी शितेन पत्रिणा शरेण । एनं मृगम् । आशु न प्रत्यपत्स्यत यदि नाभियुञ्जीत चेत्, असौ मृग ओजसा बलेन त्वयि विषये यदकरिष्यत् यदनिष्टं कुर्यात् तद्दुर्वचं दुर्वाच्यममङ्गलतया वक्तुं न शक्यते । तदनिष्टम्, अथानन्तरमपि मा स्म भूदिति सौहार्दकथनम् । तदुपेक्षणे स मृगस्त्वां हन्या-दिति भाव: । 'लिङ्निमित्ते लृङ् क्रियातिपत्तौ' इति करोते: पद्यतेश्च लङ् ।। ४९ ।।

हिन्दी—हमारे स्वामी किरातपति यदि अपने तीक्ष्ण बाण से इस वराह को शीघ्र ही न मार डालते तो यह वन्य जीव अपने भयङ्कर बल से आपके प्रति जो कुछ करता वह अमाङ्गलिक होने के कारण कहना उचित नहीं है । भगवान् करे वैसा अमङ्गल आप का न हो ।। ४९ ।।

विमर्श—अर्थात् वह वराह शीघ्र ही आपको समाप्त कर देता ।

ननु मयैव हतो न तु सेनापतिना, तत्राह —

को न्विमं हरितुरङ्गमायुधस्थेयसीं दधतमङ्गसंहतिम् ।
वेगवत्तरमृते चमूपतेर्हन्तुमर्हति शरेण दंष्ट्रिणम् ।। ५० ।।

अन्वयः—हरितुरङ्गम् आयुधस्थेयसीं अङ्गसंहतिं दधतं वेगत्तरं इमं दंष्ट्रिणं चमूपतेः ऋते कः नु शरेण हन्तुमर्हति ।। ५० ।।

क इति ।। हरितुरङ्गमायुधमिन्द्रायुधं तद्वत् स्थेयसीं स्थिरतराम् । अकुण्ठितामित्यर्थः । 'स्थिर' शब्दादीयसुन् । 'प्रियस्थिर—' इत्यादिना स्थादेशः । अङ्गसंहतिमवयवसङ्घातं दधतं धारयन्तं वेगवत्तरं दुर्वारवेगम् । इमं दंष्ट्रिणं वराहं चमूपतेः किरातवाहिनीपतेर्ऋते चमूपतिं विना । 'अन्यारात्—' इत्यादिना पञ्चमी । को नु को वा शरेण । एकेनेति भावः । हन्तुमर्हति । न कोऽपीत्यर्थः ।। ५० ।।

हिन्दी—इन्द्र के वज्र के समान कठिन अङ्गों वाले, परमवेगशाली, इस तीक्ष्ण दाढ़ों वाले वराह को हमारे स्वामी किरातपति के अतिरिक्त कौन ऐसा है, जो बाण द्वारा मार सकता है ।। ५० ।।

अस्तु स एव मृगस्य हन्ता, ततः किमित्यत आह—

मित्रमिष्टमुपकारि संशये मेदिनीपतिरयं तथा च ते ।
तं विरोध्य भवता निरासि मा सज्जनैकवसतिः कृतज्ञता ।। ५१ ।।

अन्वयः—तथा च अयं मेदिनीपतिः ते संशये उपकारि इष्टं मित्रम्, तं विरोध्य सज्जनैकवसतिः कृतज्ञता मा भवता निरासी ।। ५१ ।।

मित्रमिति ।। तथा च, तस्यैव मृगहन्तृत्वे सतीत्यर्थः । अयं मेदिनीपतिः किरातभूपतिः । ते तव संशये प्राणसङ्कटे । उपकारि उपकारकारकम्, इष्टं मित्रम् । ततोऽपि किं तत्राह — तमिति । तं मित्रभूतं विरोध्य सज्जनैकवसतिः भवादृशसुजनमात्राधाराकृतज्ञता उपकारवेदित्वं मा निरासि न निराक्रियतां भवता । अन्यथा जगति कृतज्ञताऽस्तं यायात्, कृतघ्नता च ते भवेदित्यर्थः । अस्यतेः कर्मण्याशिषि माङि लुङ् ।। ५१ ।।

हिन्दी—इस प्रकार से वे हमारे स्वामी किरातपति प्राणसङ्कट के अवसर पर ऐसा उपकार करके आप के प्रिय मित्र बन गए हैं । उनके साथ विरोध करके एकमात्र सज्जनों में निवास करने वाली कृतज्ञता को आप निराश्रित न करें ।। ५१ ।।

विमर्श—अर्थात् प्राण रक्षा करने वाले ऐसे परम मित्र के साथ यदि आप जैसे सज़्जन व्यक्ति ही विरोधी आचरण करेंगें तो यह बड़ी अकृतज्ञता होगी । बेचारी कृतज्ञता फिर कहाँ रहेगी?

ननु सर्वस्यार्थमूलत्वात्स एवास्तु किं मित्रेणेत्याशङ्क्य मित्रस्य सर्वाधिक्यं युग्मेनाह —

लभ्यमेकसुकृतेन दुर्लभा रक्षितारमसुरक्ष्यभूतयः ।
स्वन्तमन्तविरसा जिगीषतां मित्रलाभमनु लाभसम्पदः ।। ५२ ।।

अन्वयः—जिगीषतां दुर्लभाः असुरक्ष्यभूतयः अन्तविरसाः लाभसम्पदः एकसुकृतेन लभ्यं रक्षितारं मित्रलाभम् अनु ।। ५२ ।।

लभ्यमिति ।। जिगीषतां जेतुमिच्छताम् । जयतेः सन्नन्ताच्छतृप्रत्ययः । दुर्लभाः कृच्छ्रेणापि लब्धुमशक्याः, तथापि असुरक्ष्यभूतयो रक्षितुमशक्यमहिमानः । तथापि नित्यं रक्षणादिक्लेशावहाश्चेति भावः । अन्तविरसाः । गत्वर्य इत्यर्थः । लभ्यन्त इति लाभा अर्थास्तेषां संपदः । एकसुकृतेनैकोपकारेण लभ्यं सुलभं न तु दुर्लभं । रक्षितारं न तु रक्ष्यं स्वन्तं शुभावसानं न त्वन्तविरसं मित्रलाभमनु मित्रलाभाद्धीनाः । निकृष्टा इत्यर्थः । 'हीने' इत्यनोः कर्मप्रवचनीयसंज्ञा । तद्योगे द्वितीया । अत्रोपमेयस्य मित्रलाभस्य लाभान्तरं प्रत्याधिक्याभिधानाद्व्यतिरेकालङ्कारः ।। ५२ ।।

हिन्दी—विजयाभिलाषी जनों के लिए मित्रलाभ की अपेक्षा धन-सम्पत्ति का लाभ निकृष्ट वस्तु है । क्योंकि ये धन-सम्पत्तियाँ बहुधा बहुत क्लेश उठाने पर ही प्राप्त की जाती हैं, प्राप्त होने पर भी उनकी रक्षा में न मालूम कितना प्रयत्न करना पड़ता है, किन्तु तब भी वे नष्ट हो ही जाती हैं । जब कि मित्र-लाभ केवल एक उपकार कर देने से सुलभ हो जाता है, उसकी रक्षा में कोई कष्ट नहीं प्रत्युत वह तो स्वयं अपनी भी रक्षा करता है, और अन्त में सुखद परिणामदायी होता है ।। ५२ ।।

विमर्श—यहाँ व्यतिरेक अलङ्कार है ।

चञ्चलं वसु नितान्तमुन्नता मेदिनीमपि हरन्त्यरातयः ।
भूधरस्थिरमुपेयमागतं मावमंस्त सुहृदं महीपतिम् ।। ५३ ।।

अन्वयः—वसु नितान्तं चञ्चलं मेदिनीमपि उन्नताः अरातयः हरन्ति भूधरस्थिरम् उपेयं आगतं महीपतिं सुहृदं मावमंस्त ।। ५३ ।।

चञ्चलमिति ।। किंच, वसु धनं नितान्तं चञ्चलं मेदिनीमप्युन्नताः प्रबला अरातयो हरन्ति । मित्रं तु न तथेत्याह —भूधर इति । भूधरवत् स्थिरमुपेयमन्विष्य गन्तव्यं आगतं स्वतः प्राप्तमपि महीपतिम्, । सर्वधुरीणमित्यर्थः । सुहृदं मित्रं माऽवमंस्त मावज्ञासीत् । भवानिति शेशः । अन्यश्लोकगतो 'भवत्' शब्दो विभक्तिविपरिणामेनात्र द्रष्टव्यः । अन्यथा मध्यमपुरुषः स्यात् । मन्यतेः कर्तरि माङि लुङ् । अलङ्कारस्तु व्यतिरेक एव । भूधरस्थिरमित्युपमासङ्गतिसङ्करः ।। ५३ ।।

हिन्दी—धन-सम्पत्ति नितान्त चञ्चल अर्थात् नश्वर हैं, धरती को भी प्रबल शत्रु हर लेते हैं, अतएव पर्वत के समान अचल, स्वयमेव समागत हमारे स्वामी किरातपति जैसे सुहृद् को आप अपमानित न करें ।। ५३ ।।

विमर्श—उपमा और व्यतिरेकालङ्कार का सङ्कर ।

ननु मुमुक्षोः कि मित्रसंग्रहेणेत्यत्राह —

जेतुमेव भवता तपस्यते नायुधानि दधते मुमुक्षवः ।
प्राप्स्यते च सकलं महीभृता सङ्गतेन तपसः फलं त्वया ॥५४॥

अन्वयः—भवता जेतुमेव तपस्यते मुमुक्षवः आयुधानि न दधते । महीभृता सङ्गतेन त्वया सकलं तपसः फलं प्राप्स्यते ॥५४॥

जेतुमिति ॥ भवता जेतुं जयार्थमेव तपस्यते तपश्चर्यते । 'कर्मणो रोमन्थ–' इत्यादिना चरणे क्यङ् । ततो भावे लट् । कुतः । मुमुक्षवो मोक्षार्थिन आयुधानि न दधते न धारयन्ति । अतो मित्रसंग्रहः कार्य इति भावः । तथापि किं भवत्स्वामि-सख्येन, तत्राह–प्राप्स्यत इति । महीभृता सह सङ्गतेन त्वया सकलं च तपसः फलं प्राप्स्यते । अतस्ते सखाऽस्मत्स्वामी युक्त इत्यर्थः ॥५४॥

हिन्दी—आप अपने शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने के लिए ही तपस्या कर रहे हैं, क्योंकि मुक्ति के इच्छुक तपस्वी शस्त्रास्त्र नहीं धारण करते । तब फिर ऐसी स्थिति में हमारे स्वामी किरातपति से मैत्री हो जाने पर तो आपकी सारी तपस्या सफल हो जायगी ॥५४॥

नन्वकिञ्चनः कुत्रोपयुज्यते, तत्राह —

वाजिभूमिरिभराजकाननं सन्ति रत्ननिचयाश्च भूरिशः ।
काञ्चनेन किमिवास्य पत्रिणा केवलं न सहते विलङ्घनम् ॥५५॥

अन्वयः—वाजिभूमिः इभराजकाननं भूरिशः रत्ननिचयाश्च सन्ति । अस्य काञ्चनेन पत्रिणा किमिव परन्तु केवल विलङ्घनं न सहते ॥५५॥

वाजीति ॥ तस्य भूपतेर्वाजिभूमिरश्वाकर इभराजानां काननं गजोत्पत्तिस्थानं भूरिशो रत्ननिचयाश्च । सन्तीति शेषः । नन्वीदृगाढ्यः किमेकस्मै काञ्चनपत्रकाण्डाय कलहायते, तत्राह — अस्य काञ्चनेन सौवर्णेन पत्रिणा शरेण किमिव । न किञ्चित् प्रयोजनमस्तीत्यर्थः । परन्तु केवलं विलङ्घनं व्यतिक्रमं न सहते । नायं शरलुब्धः, किन्त्वधिक्षेपासहिष्णुरित्यर्थः ।

अत्र प्रथमार्धे समृद्धिमद्वस्तुवर्णनादुदात्तालङ्कारः ॥५५॥

हिन्दी—हमारे स्वामी के पास अश्वों के उत्पत्ति स्थान, गजराजों के जङ्गल और रत्नों की खानें विद्यमान हैं । इस एक (मामूली) सुवर्णमय बाण से उनका कोई विशेष प्रयोजन नहीं सिद्ध होगा किन्तु इसके ग्रहण करने में उनका यही तात्पर्य है कि वे दूसरों के द्वारा होने वाले अपमान को सहन नहीं कर सकते ॥५५॥

विमर्श—यहाँ उदात्त अलङ्कार है ।

नन्वीदृग्लुब्ध: किमुपकर्ता, तत्राह —

सावलेपमुपलिप्सिते परैरभ्युपैति विकृतिं रजस्यपि ।
अर्थितस्तु न महान्समीहते जीवितं किमु धनं धनायितुम् ।। ५६ ।।

अन्वयः—महान् रजस्यपि परैः सावलेपम् उपलिप्सिते सति विकृतिम् अभ्युपैति । अर्थितस्तु जीवितं धनायितुं न समीहते, धनं किमु ।। ५६ ।।

सावलेपमिति ।। महानयं रजस्यापि धूलावपि परै: सावलेपं सगर्वम् । उपलिप्सित उपलब्धुमिष्टे । जिघृक्षिते सति विकृतिमभ्युपैति । प्रकुप्यतीत्यर्थ: । अर्थितो याचितस्तु जीवितं धनायितुं धनीकर्तुम् । क्यजन्तात्तुमुन् । न समीहते नोत्सहते । जीवितमप्यात्मनो नेच्छति । किंत्वर्थित: प्रयच्छतीत्यर्थ: । तर्हिं धनं किम् । धनमात्मन एषितुं धनायितुमिति विग्रह: । अत्र इच्छामात्रमर्थ:, अन्यथा धनमित्यनेन पौनरुक्त्यं स्यात् । 'सुप आत्मन: क्यच्' । 'अशनायोदन्यधनायाबुभुक्षापिपासागर्धेषु' इति निपातनादाकार: ।। ५६ ।।

हिन्दी—हमारे महान् स्वामी दूसरे द्वारा गर्वपूर्वक धूल लेने की चेष्टा करने पर भी क्रुद्ध हो उठते हैं जब कि प्रार्थनापूर्वक माँगने पर वह अपना जीवन भी अपने पास रखने की इच्छा नहीं करते अर्थात् अपने प्राण भी दे सकते हैं तो धन की तो बात ही क्या? ।। ५६ ।।

उक्तमर्थं निगमयति —

तत्तदीयविशिखातिसर्जनादस्तु वां गुरु यदृच्छयागतम् ।
राघवप्लवगराजयोरिव प्रेम युक्तमितरेतराश्रयम् ।। ५७ ।।

अन्वयः—तत्तदीयविशिखातिसर्जनात् वां राघवप्लवगराजयो: इव यदृच्छया आगतं गुरु युक्तम् इतरेतराश्रयं प्रेम अस्तु ।। ५७ ।।

तदिति ।। तत् तस्मात् तदीयविशिखस्यातिसर्जनात् प्रत्यर्पणात् । वां युवयो: । 'षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोर्वांनावौ' इति वामादेश: । राघवप्लवगजराजयो: रामसुग्रीवयोरिव यदृच्छया दैवादागतं गुरु महत् युक्तमनुरूपम् । इतरेतराश्रयमन्योन्यविषयं प्रेम सख्यम् । अस्तु ।। ५७ ।।

हिन्दी—इसलिए उनके इस बाण को प्रदान करने से आप का और उनका, रामचन्द्र और सुग्रीव की भाँति दैवयोग से उपस्थित पारस्परिक महान् प्रेम-सम्बन्ध स्थापित हो जायगा ।। ५७ ।।

ननु शरलोभान्मिथ्याभियुज्यस इत्याह —

नाभियोक्तुमनृतं त्वमिष्यसे यस्तपस्विविशिखेषु चादर: ।
सन्ति भूभृति शरा हि न: परे ये पराक्रमवसूनि वज्रिण: ।। ५८ ।।

अन्वयः—त्वम् अनृतम् अभियोक्तुं नेष्यसे । यः तपस्विविशिखेषु आदरः । हि नः भूभृति परे शराः सन्ति ये वज्रिणः पराक्रमवसूनि ॥ ५८ ॥

नेति ॥ त्वमनृतं मिथ्याऽभियोक्तुमभ्याख्यातुम् । ब्रूञोऽर्थग्रहणाद्द्विकर्मकता । 'मिथ्याभियोगोऽभ्याख्यानम्' इत्यमरः । अस्माभिरिति शेषः । नेष्यसे नेष्टोऽसि । कुतः । तपस्वी मुनिः शोच्यश्च । 'मुनिशोच्यौ तपस्विनौ' इति शाश्वतः । तस्य, विशिखेषु क आदरः कास्था । न काचिदित्यर्थः । हि यस्मात्, नोऽस्माकं भूभृति शैले परेऽन्येऽपि शराः सन्ति, ये शरा वज्रिणः शक्रस्य पराक्रमवसूनि पराक्रमधनानि । शौर्यसर्वस्वभूता इत्यर्थः । 'वज्रि' ग्रहणाद्वज्रादप्यतिरिक्ता इति सूच्यते । अत्र शरेषु पराक्रमसाधनेषु पराक्रमरूपेण वस्तु व्यज्यते ॥ ५८ ॥

हिन्दी—आप से हम मिथ्या कथन करने की इच्छा नहीं कर सकते क्योंकि तपस्वियों का बाण लेने में हमारा आग्रह क्यों होगा । हमारे पर्वत में सैकड़ों सहस्रों ऐसे बाण हैं, जो देवराज इन्द्र के शौर्य हैं ॥ ५८ ॥

विमर्श—अर्थात् जो इन्द्र के वज्र से भी अधिक पराक्रम वाले हैं ।

अथ ते शरापेक्षा चेत्तर्हि तथोच्यतामित्याह —

मार्गणैरथ तव प्रयोजनं नाथसे किमु पतिं न भूभृतः ।
त्वद्विधं सुहृदमेत्य सोऽर्थिनं किं न यच्छति विजित्य मेदिनीम् ॥ ५९ ॥

अन्वयः—अथ तव मार्गणैः प्रयोजनं भूभृतः पतिं किमु न नाथसे । सः त्वद्विधं सुहृदम् अर्थिनम् एत्य मेदिनीं विजित्य किम् न यच्छति ॥ ५९ ॥

मार्गणैरिति ॥ अथ उत तव मार्गणैः शरैः प्रयोजनं कृत्यं तर्हि भूभृतो गिरेः पतिं प्रभुं किमु न नाथसे किमिति न याचसे । 'नाथृ नाधृ याच्ञोपतापैश्वर्याशीःषु' इति धातोर्लट् । न च याच्ञाभङ्गशङ्का कार्येत्याह—त्वदिति । सोऽस्मत्स्वामी तवेव विधा प्रकारो यस्य तं त्वद्विधं त्वादृशम् । महानुभावमित्यर्थः । तथापि सुहृदं मित्रभूतम्, अर्थिनमेत्य लब्ध्वा मेदिनीं विजित्य न यच्छति न ददाति किम् । किं तु दास्यत्येव । किं पुनः शरानिति भावः ॥ ५९ ॥

हिन्दी—और यदि आपको ऐसे बाण चाहिए तो हमारे स्वामी किरातपति से क्यों नहीं माँग लेते, वह आप जैसे महानुभाव मित्र के याचना करने पर क्या इस सम्पूर्ण पृथ्वी को भी जीत कर न दे देंगे—ऐसा नहीं किन्तु अवश्य दे देंगे ॥ ५९ ॥

विमर्श—तात्पर्य यह है कि आप जैसे मित्र के माँगने पर हमारे स्वामी सम्पूर्ण पृथ्वी जीत कर दे सकते हैं तो इस मामूली बाण की क्या बात है?

यदुक्तम् —'त्वद्विधम्' (श्लो० ५९) इत्यादि, तत्रोपपत्तिमाह—

तेन सूरिरुपकारिताधनः कर्तुमिच्छति न याचितं वृथा ।
सीदतामनुभवन्निवार्थिनां वेद यत्प्रणयभङ्गवेदनाम् ॥ ६० ॥

अन्वय:—तेन सूरि: उपकारिताधन: याचितं वृथा कर्तुं न इच्छति यत् सीदताम् अर्थिनां प्रणयभङ्गवेदनाम् अनुभवन्निव वेद ।। ६० ।।

तेनेति ।। तेन कारणेन सूरिर्विद्वान् अत एव, उपकारिताधन उपकारकत्वमात्रधन: स किरातभूपति: । याचितं याच्ञां वृथा व्यर्थं कर्तुं नेच्छति । कुत: । यत् येन कारणेन सीदतां क्लिश्यतामर्थिनां प्रणयभङ्गवेदनां याच्ञाभङ्गदु:खं स्वयमनुभवन्निव वेद वेत्ति । अतो न वैफल्यशङ्का कार्येत्यर्थ: ।। ६० ।।

हिन्दी—हमारे स्वामी परम विद्वान् किरातपति का एकमात्र धन उपकार करना है, वह आपकी प्रार्थना को व्यर्थ नहीं करेंगे । क्योंकि वह क्लेश उठाने वाले याचकों की याचना-भङ्ग-रूपी वेदना का मानों स्वयं अनुभव करते हैं ।। ६० ।।

विमर्श—अर्थात् वे याचकों की याचना के भङ्ग होने की वेदना को अपनी ही याचना के भङ्ग होने के समान मानते हैं, अत: उनसे आपकी याचना विफल नहीं हो सकती ।

ननु स्वयंग्राहिण: कि याच्ञादैन्यं तत्राह —

शक्तिरर्थपतिषु स्वयंग्रहं प्रेम कारयति वा निरत्ययम् ।
कारणद्वयमिदं निरस्यत: प्रार्थनाधिकबले विपत्फला ।। ६१ ।।

अन्वय:—अर्थपतिषु शक्ति: वा निरत्ययं प्रेम स्वयंग्रहं कारयति । इदं कारणद्वयं निरस्यत: अधिकबले प्रार्थना विपत्फला ।। ६१ ।।

शक्तिरिति ।। अर्थपतिषु विषये शक्ति: सामर्थ्यं स्वयंग्रहं स्वाम्यनुज्ञां विना ग्रहणं कारयति । यद्वा, —निरत्ययमपराधेऽप्यविकारि निर्बाधं प्रेम कर्तृ स्वयंग्रहं कारयति । प्रबल: प्रियो वा परस्य धनं स्वयं गृह्णातीत्यर्थ: । अन्यथा दोषमाह—इदं पूर्वोक्तं कारणद्वयं निरस्यतस्त्यजत: । पुंस इति शेष: । अधिकबले प्रबले विषये प्रार्थना तद्धनजिघृक्षा विपत्फलानर्थफलका । अशक्तस्याप्रियस्य सत: प्रबलधनग्रहणाशा फणिशिरोमणिग्रहणसाहसवदनर्थाय कल्पत इत्यर्थ: ।। ६१ ।।

हिन्दी—अधिक पराक्रम एवं शक्ति अथवा बिना किसी विघ्न-बाधा का प्रेम-ये दो ही ऐसे साधन हैं, जिनके द्वारा दूसरे की वस्तु को स्वयं (स्वामी की आज्ञा के बिना ही) ले लिया जाता है । किन्तु उक्त दोनों साधनों को छोड़ कर किसी प्रबल स्वामी की वस्तु को ग्रहण करने की इच्छा विपत्ति का कारण बनती है ।। ६१ ।।

ननु शस्त्रार्थसंपत्त्या शक्तत्वाभिमान:, तत्राह —

अस्त्रवेदमधिगम्य तत्त्वत: कस्य चेह भुजवीर्यशालिन: ।
जामदग्न्यमपहाय गीयते तापसेषु चरितार्थमायुधम् ।। ६२ ।।

अन्वय:—इह तापसेषु जामदग्न्यम् अपहाय अस्त्रवेदम् तत्वत: अधिगम्य भुजवीर्यशालिन: कस्य च आयुधं चरितार्थं गीयते ।। ६२ ।।

अस्त्रवेदमिति ।। इह जगति तापसेषु तपस्विनां मध्ये । 'यतश्च निर्धारणम्' इति सप्तमी । जमदग्नरपत्यं पुमान् जामदग्न्यः । 'गर्गादिभ्यो यञ्' । तम्, अपहाय । परशुरामं विनेत्यर्थः । अस्त्रवेदं तत्त्वतोऽधिगम्य । भुजवीर्येण शालन्त इति भुजवीर्यशालिनः । उभयसंपन्नस्येत्यर्थः । शालनक्रियापेक्षया समानकर्तृकत्वात् क्त्वानिर्देशः । कस्य चायुधं चरितः प्राप्तोऽर्थो येन तत् चरितार्थ सार्थकं गीयते । न कस्यापीत्यर्थः । अतस्तवापि तापसत्वादकिञ्चित्करस्य तेन सह सख्यमेव मुख्यमिति भावः ।। ६२ ।।

हिन्दी—इस संसार में तपस्वियों में एकमात्र परशुराम को छोड़कर भली भाँति अस्त्र विद्या को जानते हुए किस बाहुपराक्रमशाली के अस्त्र की महिमा सार्थक रूप से जनता द्वारा गायी जाती है ।। ६२ ।।

विमर्श—अर्थात् तपस्या करने वाले मुनियों में अकेले परशुराम ही हैं जिन्हें अस्त्र विद्या कुछ-कुछ ज्ञात है, तुम्हें तो कोई जानता भी नहीं अतः हमारे स्वामी जैसे महान् पराक्रमी से वैर ठानना तुम्हारे लिए अच्छा नहीं है ।

ननु युष्मन्मृगवधशरहरणाभ्यां द्रोहिणो मम तेन कथं सख्यं स्यादित्याशङ्क्य सत्यं तथापि तावन्मृगवधापराधः क्षमिष्यत इत्याह —

अभ्यघानि मुनिचापलात्त्वया यन्मृगः क्षितिपतेः परिग्रहः ।
अक्षमिष्ट तदयं प्रमाद्यतां संवृणोति खलु दोषमज्ञता ।। ६३ ।।

अन्वयः—त्वया मुनिचापलात् क्षितिपतेः परिग्रहः यत् मृगः अभ्यघानि तत् अयम् अक्षमिष्ट हि प्रमाद्यताम् दोषम् अज्ञता संवृणोति खलु ।। ६३ ।।

अभ्यघानीति ।। त्वया मुनिचापलात् । ब्राह्मणचापल्यादित्यर्थः । क्षितिपतेरस्मत्स्वामिनः । परिगृह्यत इति परिग्रहः । तेन स्वीकृत इत्यर्थः । 'परिग्रहः परिजनो पत्न्यां स्वीकारमूलयोः' इति विश्वः । यन्मृगोऽभ्यघानि अभिहत इति । हन्तेः कर्मणि लुङ् । तत् हननम् । अयमस्मत्स्वामी । अक्षमिष्ट सोढवानेव । तथा हि—प्रमाद्यताम्, अविमृश्यकारिणामित्यर्थः । दोषमपराधम् । अज्ञताऽज्ञानिता संवृणोति आच्छादयति । नाज्ञस्यापराधो गण्यत इत्यर्थः ।। ६३ ।।

हिन्दी—आपने ब्राह्मण-सुलभ चञ्चलता से हमारे स्वामी किरातपति द्वारा स्वीकृत उस वराह को जो मार दिया है, उसे हमारे स्वामी ने क्षमा कर दिया है, क्योंकि अविवेक के साथ कार्य करने वालों के अपराध को उनकी अज्ञता ही ढँक देती हैं ।। ६३ ।।

विमर्श—अर्थात् अज्ञ लोगों के अपराध अपराध नहीं गिने जाते । अतः क्षम्य हो जाते हैं ।

अथ सुहृद्भावेन हितमुपदिशति—

जन्मवेषतपसां विरोधिनीं मा कृथाः पुनरमूमपक्रियाम् ।
आपदेत्युभयलोकदूषणी वर्तमानमपथे हि दुर्मतिम् ।। ६४ ।।

अन्वयः—जन्मवेषतपसां विरोधिनीम् अमूम् अपक्रियां पुनः मा कृथाः । हि अपथे वर्तमानं दुर्मतिम् उभयलोकदूषणी आपदेति ॥ ६४ ॥

जन्मति ॥ जन्म सत्कुलप्रसूतिः, वेषो कुमार्गविल्कलादिः:, तपो नियमः, तेषां विरोधिनीं विरुद्धाम् । अमूमेवविधाम् । अपक्रियामपकारम् । पुनः । इतःपरमित्यर्थः । मा कृथाः मा कुरु । करोतेः कर्तरि माङि लुङ् । 'वयोवृद्ध्यर्थवाग्वेषश्रुताभिनय-कर्मणाम् । आचरेत्सदृशीं वृत्तिमजिह्मामशठां तथा ॥' इति स्मरणात् । उक्तवैपरीत्ये दोषमाह—आपदिति । हि यस्मात्, अपथे वर्तमानं दुर्मतिम् । पुरुषमिति शेषः । उभौ लोकौ दूषयति हन्तीति उभयलोकदूषणी । 'तद्धितार्थ—' इत्यादिनोत्तरपदसमासः । आपत् । एति प्राप्नोति । समासविषय 'उभ' शब्दस्थाने 'उभय' शब्दप्रयोग एव साधुः । यदाह कैयटः—'उभादुदात्तो नित्यमिति नित्यग्रहणस्येदं प्रयोजनं वृत्तिविषय 'उभ' शब्दस्य प्रयोगो मा भूत्, 'उभय' शब्दस्यैव रूपं यथा स्यादित्युभयत्रेत्यादि भवति' इति ॥ ६४ ॥

हिन्दी—उच्च सत्कुल में जन्म, तपस्वी वेश और तपस्या—इन सब का विरोधी दूसरे का अपकार आप पुनः न करें, क्योंकि कुमार्ग पर चलने वाले कुबुद्धि व्यक्ति को दोनों लोकों का विनाश करने वाली विपत्तियाँ घेर लेती हैं ॥ ६४ ॥

यदुक्तम् 'अभ्यघानि' (श्लो० ६३) इति, तदेव स्फुटयति —

यष्टुमिच्छसि पितृन्न सम्प्रातं संवृतोऽर्चिचयिषुर्दिवौकसः ।
दातुमेव पदवीमपि क्षमः किं मृगेऽङ्ग विशिखं न्यवीविशः ॥ ६५ ॥

अन्वयः—साम्प्रतं पितृन् यष्टुं नेच्छसि संवृतः दिवौकसः अर्चिचयिषुः अपि न । हे अङ्ग! पदवीं दातुमेव क्षमोऽपि किं मृगे विशिखं न्यवीविशिः ॥ ६५ ॥

यष्टुमिति ॥ सांप्रतं संप्रति । 'संप्रतीदानीमधुना सांप्रतं तथा' इत्यमरः । पितृन् कव्यवाडादीन् यष्टुमर्चयितुं नेच्छसि । यतः, संवृत एकान्ते स्थितः । तथा, दिवौकसो देवान् । अर्चिचयिषुरप्यर्चयितुमिच्छुरपि नासि । अतो न पित्रर्थेयं हिंसा, नापि देवतार्था । तदाराधने तद्विहितत्वादिति भावः । अथ 'सर्वत आत्मानं गोपायीत' इति श्रुतेरात्मरक्षार्थमिति चेन्नेत्याह — दातुमिति । हे अङ्गः; पदवीं मार्गं दातुमेव । न तु हन्तुम् । मुनित्वादिति भावः । क्षमोऽपि योग्यः सन्नपि । किं किमर्थ मृगे विशिखं न्यवीविशो निवेशितवान् । विशतेर्ण्यन्ताल्लुङ् । अभिधावतो मृगादपसरणेनैवात्म रक्षणे कर्तव्ये यदवधीस्तच्चापलमेव । 'न हिंस्यात्सर्वा भूतानि' इति श्रुतिनिषेधादिति भावः ॥ ६५ ॥

हिन्दी—इस समय आप अपने पितरों का श्राद्ध करने के इच्छुक न होंगे, और न देवार्चन के ही इच्छुक होंगे, क्योंकि एकान्त स्थान में ही ऐसे स्थल पर यह दोनों कार्य सिद्ध नहीं हो सकते । हे अङ्ग ! आप को तो उसे वराह को जाने के लिए मार्ग दे देना ही उचित था, फिर उस पर आपने बाण क्यों चलाया? ॥ ६५ ॥

विमर्श—अर्थात् आप तपस्वी थे, आपको चाहिये था कि भाग कर उसका मार्ग छोड़ देते । पितृकार्य और देवकार्य के अतिरिक्त प्राणिहिंसा करना किसी तपस्वी का धर्म नहीं है ॥ ६५ ॥

किं बहुना, परमार्थः श्रूयतामित्याह —

सज्जनोऽसि विजहीहि चापलं सर्वदा क इव वा सहिष्यते ।
वारिधीनिव युगान्तवायवः क्षोभयन्त्यनिभृता गुरूनपि ॥ ६६ ॥

अन्वयः—सज्जनोऽसि चापलं विजहीहि सर्वदा क इव वा सहिष्यते । अनिभृताः गुरूनपि युगान्तवायवः वारिधीनिव क्षोभयन्ति ॥ ६६ ॥

सज्जन इति ॥ सज्जनोऽसि । अत एव चापलं चपलस्य कर्म विजहीहि त्यज। जहातेर्लोट् । 'आ च हौ' इतीकारः । सर्वदा क इव वा को वा सहिष्यते । 'इव' शब्दो वाक्यालङ्कारे । 'वा' शब्दोऽवधारणे । असहने कारणमाह—वारिधीनिति । अनिभृताश्चपलाः पुनः पुनरकार्यकारिणो गुरून् धैर्ययुक्तानपि । अन्यत्र,—विशालानपि । युगान्तवायवः प्रलयपवना वारिधीनिव समुद्रानिव क्षोभयन्ति । उपमानुप्राणितोऽयमर्थान्तरन्यासः ॥ ६६ ॥

हिन्दी—आप सज्जन (दिखाई पड़ते) हैं, अतः चञ्चलता छोड़ दें । सर्वदा आप का इस प्रकार का अपकार कौन सहन करेगा? बारम्बार अनुचित कार्य करने वाले लोग महान् धैर्यशालियों को भी उसी प्रकार से क्षुब्ध बना देते हैं जैसे प्रलयकाल की वायु समुद्रों को क्षुब्ध कर देती हैं ॥ ६६ ॥

विमर्श—यहाँ उपमा से अनुप्राणित अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ।

नन्वयं किरातः क्षुभितः किं करिष्यति, तत्राह —

अस्त्रवेदविदयं महीपतिः पर्वतीय इति मावजीगणः ।
गोपितुं भुवमिमां मरुत्वता शैलवासमनुनीय लम्भितः ॥ ६७ ॥

अन्वयः—अयं महीपतिः अस्त्रवेदवित् पर्वतीयः इति मावजीगणः मरुत्वता इमां भुवम् गोपितुम् अनुनीय शैलवासं लम्भितः ॥ ६७ ॥

अस्त्रेति ॥ अयं महीपतिः । अस्त्रवेदवित् । निग्रहानुग्रहसमर्थ इति भावः । अतः पर्वते भवः पर्वतीयः । 'पर्वताच्च' इति छप्रत्ययः । इति हेतोः माऽवजीगणः । वनेचर बुद्ध्या माऽवज्ञासीरित्यर्थः । गणयतेर्माङि लुङ् । 'ई च गणः' इतीकारः । नन्वीदृशश्चेत्किमर्थमिह वने वसति, तत्राह—गोपितुमिति । मरुत्वता इन्द्रेण । इमां भुव गोपितुं रक्षितुम् । 'आयादय आर्धधातुके वा' इति विकल्पात् 'गुपूधूप—' इत्यादिना न आयप्रत्ययः । अनुनीय प्रार्थ्य, शैलवासं लम्भितः प्रापितः । 'ण्यन्ते कर्तुश्च कर्मणः' इति वचनादणि कर्तुः कर्मणि क्तः । 'गतिबुद्धि—' इत्यादिनाऽणि कर्तुः कर्मत्वम् ।

हिन्दी—यह हमारे स्वामी किरातपति अस्त्र-विद्या के ज्ञाता हैं, इन्हें साधारण पहाड़ी व्यक्ति समझकर तिरस्कृत मत कीजिए । देवराज इन्द्र ने इस वनस्थली की रक्षा के लिए प्रार्थनापूर्वक इन्हें इस पर्वत पर रखा है ।। ६७ ।।

उपसंहरति —

तत्तितिक्षितमिदं मया मुनेरित्यवोचत वचश्चमूपतिः ।
बाणमत्रभवते निजं दिशन्नाप्नुहि त्वमपि सर्वसम्पदः ।। ६८ ।।

अन्वयः—तत् मुनेः इदं मया तितिक्षितं वचः चमूपतिः अवोचत । अत्र भवते निजं बाणं दिशन् त्वमपि सर्वसम्पदः आप्नुहि ।। ६८ ।।

तदिति ।। तत् तस्मान्मुनिचापलात् । मुनेः सम्बन्धि इदं मृगवधरूपमागो मयातितिक्षितं सोढम्, इति वचश्चमूपतिरवोचत । शरद्रोहस्य प्रत्यर्पणमेव प्रतीकार इत्याह—अत्रभवते पूज्याय स्वामिने । अत्रभवान् व्याख्यातः । निजं बाणं तदीयमेव शरं दिशन् प्रत्यर्पयन्, त्वमपि सर्वसंपद आप्नुहि । सख्येनेति भावः ।। ६८ ।।

हिन्दी—मैंने उस तपस्वी के इस अपराध को क्षमा कर दिया है—ऐसी बात हमारे स्वामी किरातपति ने मुझसे कही है । अब आप भी उनके बाण को वापस करके (उनसे मैत्री जोड़कर) सम्पूर्ण सम्पत्तियों की प्राप्ति कीजिए ।। ६८ ।।

ननु मह्यमेतत्सख्यमेव न रोचते, किं पुनस्तन्मूलाः संपदस्तत्राह —

आत्मनीनमुपतिष्ठते गुणाः सम्भवन्ति विरमन्ति चापदः ।
इत्यनेकफलभाजि मा स्म भूदर्थिता कथमिवार्यसङ्गमे ।। ६९ ।।

अन्वयः—आत्मनीनम् उपतिष्ठते । गुणाः सम्भवन्ति । आपदश्च विरमन्ति । इति अनेकफलभाजि आर्यसङ्गमें अर्थिता कथमिव मा स्म भूत् ।। ६९ ।।

आत्मनीनमिति ।। आत्मने हितं आत्मनीनम् । 'आत्मन्विश्वजनभोगोत्तरपदात्खः' । उपतिष्ठते सङ्गच्छते । 'उपाद्देवपूजासङ्गतिकरणमित्रकरणपथिषु' इति वक्तव्यादात्मनेपदम् । गुणा विनयादयः संभवन्ति, आपदश्च विरमन्ति । 'व्याङ्परिभ्यो रमः' इति परस्मैपदम् । इत्यनेकफलभाजि नानाफलोत्पादक आर्यसङ्गमे साधुसङ्गतौ । अर्थिताऽपेक्षा कथमिवं मा स्म भूत् । सर्वदा भवत्येव ।। ६९ ।।

हिन्दी—जिसके द्वारा अपना कल्याण होता है, सदाचरणादि अनेक सद्गुण प्राप्त होते हैं, विपत्तियाँ दूर होती हैं, इस प्रकार के अनेक सुन्दर फलों को देने वाली सज्जनों की मित्रता का लोभ क्यों न किसी को हो ।। ६९ ।।

विमर्श—अर्थात् इस सब गुणों से युक्त सज्जनों की सङ्गति कोई क्यों न करना चाहेगा ।

न चायं दूरे वर्तत इत्याह —

दृश्यतामयमनोकहान्तरे तिग्महेतिपृतनाभिरन्वितः ।
साहिवीचिरिव सिन्धुरुद्धतो भूपतिः समयसेतुवारितः ॥ ७० ॥

अन्वयः—तिग्महेतिपृतनाभिः अन्वितः साहिवीचिः सिन्धुरिव समयसेतुवारितः अयम् अनोकहान्तरे दृश्यताम् ॥ ७० ॥

दृश्यतामिति ॥ तिग्महेतिभिस्तीक्ष्णायुधाभिः । 'हेतिर्ज्वालास्त्रसूर्यांशुषु' इति हेमचन्द्रः । पृतनाभिर्वाहिनीभिः । 'वाहिनी पृतना चमूः' इत्यमरः । अन्वितो भूपतिः । साहयः ससर्पा वीचयो यस्य स सिन्धुः समुद्र इवोद्धतः । किन्तु समयो मर्यादा सेतुरिव स समयसेतुस्तेन वारितः सन् । हस्तेन निदिशन्नाह — अयमनोकहान्तरे द्रुमान्तर्धाने । वर्तत इति शेषः । दृश्यताम् । 'अनोकहः कुटः शालः पलाशी द्रद्रमागमाः' इत्यमरः ।

हिन्दी—तीक्ष्ण अस्त्रों से युक्त सर्पयुक्त तरङ्गमालाओं से समन्वित समुद्र के समान उद्धत किन्तु समय-रूप सेतु से निवारित यह हमारे स्वामी किरातपति उन वृक्षों के मध्य में विराजमान हैं, देखें ॥ ७० ॥

विमर्श—किरात ने यहाँ पर अर्जुन को अपने हाथों से सङ्केत करके दिखलाया है ।

अथास्य विज्ञापनमेवाह —

सज्यं धनुर्वहति योऽहिपतिस्थवीयः
स्थेयाञ्जयन्हरितुरङ्गमकेतुलक्ष्मीम् ।
अस्यानुकूलय मतिं मतिमन्ननेन
सख्या सुखं समभियास्यसि चिन्तितानि ॥ ७१ ॥

॥ इति भारविकृतौ महाकाव्ये किरातार्जुनीये त्रयोदशः सर्गः ॥ १३ ॥



अन्वयः—स्थेयान् यः हरितुरङ्गमकेतुलक्ष्मीं जयन् अहिपतिस्थवीयः सज्यं धनुः वहति । हे मतिमन्! अस्य मतिम् अनुकूलय, सख्या अनेन सुखं चिन्तितानि समभियास्यसि ॥ ७१ ॥

सज्यमिति ॥ स्थेयान् स्थिरतरः । 'प्रियस्थिर' इत्यादिना स्थादेशः । यक्षमूपतिः । हरितुरङ्गमकेतोरिन्द्रध्वजस्य लक्ष्मीं शोभां जयन् । अहिपतिः शेष इव स्थवीयः

स्थूलतरम्। 'स्थूलदूर—' इत्यादिना पूर्वगुणयणादिपरलोपौ। सह ज्यया सज्यं धनुर्वहति। हे मतिमन्! अस्य चमूपतेः मतिमनुकूलयानुकुलां कुरु। सख्यं कुर्वित्यर्थः। मतिमत्तायाः फलमेतदिति भावः। कुतः। सख्याऽनेन चमूपतिना हेतुना सुखमक्लेशेन चिन्तितानि मनोरथान् समभियास्यसि प्राप्स्यसि। वसन्ततिलकावृत्तम् ॥ ७१ ॥

॥ इति श्रीमहामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितायां किरातार्जुनीयकाव्य व्याख्यायां घण्टापथसमाख्यायां त्रयोदशः सर्गः समाप्तः ॥ १३ ॥



हिन्दी—हे बुद्धिमान्! जो यह अत्यन्त स्थिर, इन्द्रध्वज की लक्ष्मी को पराजित करते हुए, शेषनाग के समान स्थूल चढ़ी हुई प्रत्यञ्चा से युक्त धनुष धारण किये हुए हैं, (वही हमारे स्वामी हैं, आप) उनकी मति को अपने अनुकूल करें। उनके साथ मैत्री करने से बिना क्लेश के ही आप के सब मनोरथ पूरे हो जायँगे ॥ ७१ ॥

विमर्श—यहाँ वसन्ततिलका छन्द है।

॥ इस प्रकार श्रीभारविकृत किरातार्जुनीयम् महाकाव्य के तेरहवें सर्ग की डॉ सुधाकर मालवीय कृत हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ १३ ॥



चतुर्दश सर्गः

ततः किरातस्य वचोभिरुद्धतैः पराहता शैल इवार्णवाम्बुभिः।
जहौ न धैर्यं कुपितोऽपि पाण्डवः सुदुर्ग्रहान्तःकरणा हि साधवः॥१ ॥

अन्वयः—ततः उद्धतैः किरातस्य वचोभिः अर्णवाम्बुभिः शैलः इव पराहतः कुपितः अपि पाण्डवः धैर्य्यं न जहौ । हि साधवः सुदुर्ग्रहान्तःकरणाः ॥ १ ॥

तत इति ॥ ततः किरातवाक्यानन्तरम् । उद्धतैः प्रगल्भैः किरातस्य वचोभिः । अर्णवाम्बुभिः शैल इव पराहतोऽभिहतोऽत एव कुपितोऽपि पाण्डवो धैर्यं निर्विकारचित्तत्वं न जहौ न तत्याज । उत्पन्नमपि कोपं स्तम्भयामासेत्यर्थः । तथा हि—साधवः सज्जनाः सुदुर्ग्रहं सुष्ठु दुरासदमप्रतिकुप्यमन्तःकरणं येषां ते सुदुर्ग्रहान्तःकरणा हि । अर्थान्तरन्यासः ॥१ ॥

हिन्दी—तदनन्तर समुद्र की जलराशि से अभिहत पर्वत की भाँति किरात की उद्धत बातों से आहत अर्जुन क्रुद्ध होकर भी धैर्यच्युत नहीं हुए । क्योंकि सत्पुरुषों का हृदय अक्षोभणीय अर्थात् निश्चल होता है ॥ १ ॥

विमर्श—यहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ।

सलेशमुल्लिङ्गितशात्रवेङ्गितःकृती गिरां विस्तरतत्त्वसंग्रहे ।
अयं प्रमाणीकृतकालसाधनः प्रशान्तसंरम्भ इवाददे वचः ॥ २ ॥

अन्वयः—सलेशम् उल्लिङ्गितशात्रवेङ्गितः गिरां विस्तरतत्त्वसंग्रहे कृती प्रमाणीकृतकालसाधनः अयं प्रशान्तसंरम्भः इव वचः आददे ॥ २ ॥

सलेशमिति ॥ सह लेशैः सलेशं सकलं यथा तथा, उल्लिङ्गितमुद्भूतलिङ्गं कृतम् । लिङ्गैस्तद्वाक्यभङ्गिभिरेव सम्यगवगतमित्यर्थः । शत्रुरेव शात्रवः । स्वार्थेऽण्प्रत्ययः । तस्य इङ्गितमभिप्रायस्तदुल्लिङ्गितं येन सः । गिरां वाचां सम्बन्धिनि विस्तरे तत्त्वसंग्रहेऽर्थसंक्षेपे । वैभाषिको द्वन्द्वैकवद्भावः । कृती कुशलः प्रमाणीकृतं प्रधानीकृतं काल एव साधनं येन सः । अवसरोचितं विवक्षुरित्यर्थः । अयं पाण्डवः प्रशान्तसंरम्भः क्षोभरहित इव वच आददे । उवाचेत्यर्थः ॥ २ ॥

हिन्दी—किरात की युक्तियों से भरी बातों से शत्रु के सम्पूर्ण अभिप्राय को समझकर वाक्यरचना के विस्तार एवं संक्षेप में निपुण अवसर के उपयुक्त वचन बोलने के लिए अर्जुन ने मानों क्षोभरहित होकर यह बात कही ॥ २ ॥

सान्त्वपूर्वकमेवाह —

विविक्तवर्णाभरणा सुखश्रुतिः प्रसादयन्ती हृदयान्यपि द्विषाम् ।
प्रवर्तते नाकृतपुण्यकर्मणां प्रसन्नगम्भीरपदा सरस्वती ॥ ३ ॥

अन्वयः—विविक्तवर्णाभरणा सुखश्रुतिः द्विषाम् अपि हृदयानि प्रसादयन्ती प्रसन्नगम्भीरपदा सरस्वती अकृतपुण्यकर्मणां न प्रवर्तते ॥ ३ ॥

विविक्तेति ॥ विविक्ताः संयोगादिना अश्लिष्टाः स्फुटोच्चारिता वर्णा अक्षराण्येव आभरणानि यस्याः सा । अन्यत्र तु—विविक्तानि शुद्धानि वर्णो रूपमाभरणानि च यस्याः सा । 'वर्णो द्विजादौ शुक्लादौ स्तुतौ वर्णं तु चाक्षरे, इत्युभयत्राप्यमरः । सुखा श्रुतिः श्रवणं यस्याः सा सुखश्रुतिः । श्राव्येत्यर्थः । अन्यत्र—श्रूयत इति श्रुतिर्वाक् । सा सुखा यस्याः सा । मञ्जुभाषिणीत्यर्थः । द्विषामपि हृदयानि प्रसादयन्ती । किं पुनः सुहृदामिति भावः । प्रसन्नानि वाचकानि गम्भीराणि अर्थगुरूणि च पदानि सुप्तिङन्तरूपाणि यस्याः सा । अन्यत्र तु, —प्रसन्ना विमला गम्भीरपदाऽलसचरणा सरस्वती वाक्, स्त्रीरत्नं च । तथा चोक्तम्—'सरस्वती सरिद्भेदे गोवाग्देवतयोरपि । स्त्रीरत्ने च' इति । न कृतं पुण्यकर्म यैस्तेषां न प्रवर्तते न प्रसरति । किं तु सुकृतिनामेवेत्यर्थः । भवद्वाणी चैवंविधेति धन्यो भवानिति भावः । अत्र काचिन्नायिका वाग्देवता च प्रतीयते । तत्रादौ समासोक्तिरलङ्कारः । विशेषणमात्रसाम्येनाप्रस्तुतप्रतीतेः । अत एव न श्लेषः ॥ ३ ॥

हिन्दी—स्पष्ट वर्ण रूपी आभरण से युक्त, सुनने में कानों को सुख देने वाली, शत्रुओं के हृदय को भी प्रसन्नता से विभोर कर देने वाली, सहज प्रसाद गुणयुक्त और गम्भीर (अर्थगौरवयुक्त) पदों से परिपूर्ण, वाणी (सुन्दरी स्त्री की भाँति) यथेष्ट पुण्य न करने वालों को नहीं प्राप्त होती ॥ ३ ॥

विमर्श—अर्थात् प्रचुर पुण्य-कर्म करने वाले भाग्यशाली जनों को ही ऐसी वाणी मिलती है । सरस्वती का वाणी के अतिरिक्त एक दूसरा अर्थ स्त्री-रत्न भी है । उस स्थिति में यहाँ समसोक्ति अलङ्कार है ।

भवन्ति ते सभ्यतमा विपश्चितां मनोगतं वाचि निवेशयन्ति ये ।
नयन्ति तेष्वप्युपपन्ननैपुणा गभीरमर्थं कतिचित्प्रकाशताम् ॥ ४ ॥

अन्वयः—ते विपश्चितां सभ्यतमां भवन्ति ये मनोगतं वाचि निवेशयन्ति । तेषु अपि उपपन्ननैपुणाः कतिचित् गभीरम् अर्थ प्रकाशतां नयन्ति ॥ ४ ॥

भवन्तीति ।। ते पुरुषा विपश्चितां विदुषाम् । 'विद्वान्विपश्चिद्दोषज्ञः' इत्यमरः । मध्ये सभ्यतमाः सभायां साधुतमा निपुणतमाः । 'साधुः समर्थो निपुणश्च' इति काशिकायाम् । भवन्ति । ये मनोगतं मनसा गृहीतं अर्थं वाचि निवेशयन्ति । वाचोद्गिरन्तीत्यर्थः । तेषु वक्तृष्वप्युपपन्ननैपुणाः संभावितकौशलाः कतिचिदेव गभीरं निगूढमर्थं प्रकाशतां स्फुटतां नयन्ति । लोके तावज्ज्ञातार एव दुर्लभाः, तत्रापि वक्तारः, तत्रापि निगूढार्थप्रकाशकाः । त्वयि सर्वमस्तीति स्तुतिः । वनेचरवाक्यरहस्यं ज्ञातम् इति स्वयमपि तादृश एवेति हृदयम् ।। ४ ।।

हिन्दी—वे पुरुष विद्वन्मण्डली के बीच अत्यन्त सभ्य अथवा निपुण कहे जाते हैं, जो अपने सम्पूर्ण मनोगत भावों को वाणी द्वारा प्रकाशित करते हैं । उनमें भी निपुणता प्राप्त कुछ ही होते हैं, जो गूढ़ अर्थ को स्पष्ट रूप से वाणी द्वारा प्रकट कर देते हैं ।। ४ ।।

विमर्श—अर्थात् संसार में पहले तो अभिप्राय ज्ञाता ही दुर्लभ होते हैं, उनमें भी वक्ता दुर्लभतर होते हैं और उनमें भी गूढ़ अर्थों के प्रकाशक तो और भी अधिक दुर्लभ होते हैं और आप में ये सब गुण वर्तमान हैं, इसलिये आप धन्य हैं और मैं भी आपकी सब बातों का रहस्य समझता हूँ । इसलिए मैं स्वयं भी उसी प्रकार का हूँ, यह भी अर्जुन के कथन का सङ्केत है ।

स्तुवन्ति गुर्वीमभिधेयसम्पदं विशुद्धिमुक्तेरपरे विपश्चितः ।
इति स्थितायां प्रतिपूरुषं रुचौ सुदुर्लभाः सर्वमनोरमा गिरः ।। ५ ।।

अन्वयः—गुर्वीम् अभिधेयसम्पदं स्तुवन्ति अपरे विपश्चितः उक्तेः विशुद्धिम् । इति प्रतिपूरुषं रुचौ स्थितायाम् सर्वमनोरमा गिरः सुदुर्लभा ।। ५ ।।

स्तुवन्तीति ।। किं च, केचिद्गुर्वीं महतीमभिधेयसंपदमर्थसंपत्तिं स्तुवन्ति । अपरे विपश्चित उक्तेः शब्दस्य विशुद्धिं सामर्थ्यं स्तुवन्ति । इति प्रतिपूरुषं रुचौ प्रीतौ स्थितायां व्यवस्थितायां सर्वमनोरमाः सर्वेषां शब्दार्थरुचीनां पुंसां मनोरमा गिरः सुदुर्लभाः । त्वद्गिरस्तु सर्वमनोरमा उक्तसर्वगुणसंपत्त्येति भावः ।। ५ ।।

हिन्दी—कुछ विद्वान् लोग वाणी में अर्थ-सम्पत्ति की प्रशंसा करते है, किन्तु कुछ विद्वानों का कथन है कि वक्ता का सबसे अधिक प्रशंसनीय गुण शब्दशुद्धि है । इस प्रकार प्रत्येक पुरुष में भिन्न-भिन्न रुचि रहने के कारण ऐसी वाणी बहुत ही दुर्लभ हैं जो सब को एक-सी मनोहारिणी मालूम पड़ती है अथवा जो शब्द और अर्थ दोनों प्रकार से मनोहर होती है ।। ५ ।।

विमर्श—अर्थात् तुम्हारी वाणी सर्वमनोहर है ।

समस्य संपादयता गुणैरिमां त्वया समारोपितभार भारतीम् ।
प्रगल्भमात्मा धुरि धुर्य वाग्मिनां वनेचरेणापि सताधिरोपितः ।। ६ ।।

अन्वय:—धुर्य्य! समारोपितभार! इमां भारतीम् गुणै: समस्य प्रगल्भं सम्पादयता त्वया वनेचरेण सता अपि आत्मा वाग्मिनाम् धुरि अधिरोपित: ।। ६ ।।

समस्येति ।। धुरं वहतीति धुर्यस्तत्सम्बोधने हे धुर्य ! हे कार्यनिर्वाहक ! 'धुरो यड्ढकौ' इति यत्प्रत्यय: । अत एव समारोपितभार हे स्वामिना निहित-संध्यादिकार्यभार । तदाह मनु:—'दूते संधिविपर्ययौ' इति । इमां 'शान्ततावितय-योगी' त्यादिकां भारतीं वाचं गुणैर्विविक्तवर्णत्वादिभि: समस्य संयोज्य प्रगल्भं निर्भीकं यथा तथा संपादयता रचयता । व्याहरतेत्यर्थ: । त्वया वनेचरेणापीत्यर्थ: । सता 'अपि' शब्दो विरोधद्योतनार्थम् । आत्मा स्वयं वाग्मिनां वाचो युक्तिपटूनाम् । 'वाचो युक्तिपटुर्वाग्मी' इत्यमर: । 'वाचो ग्मिनि:' इति मत्वर्थीयो ग्मिनिप्रत्यय: । धुरि अग्रेऽधिरोपित: । स्थापित इत्यर्थ: । 'रुह: पोऽन्यतरस्याम्' इति पकार: । अत्र मनु: —'वपुष्मान्वीतभीर्वाग्मी दूतो राज्ञ: प्रशस्यते' इति ।। ६ ।।

हिन्दी—हे वनेचर ! तुममें कार्य निर्वाह करने का बहुत बड़ा गुण है इसी लिए तुम्हारे स्वामी ने तुम पर यह कार्यभार अर्पित किया है । तुमने उक्त वाक्यगुणों से योजित कर अपनी वाणी को निर्भीक होकर प्रयुक्त किया है । वनवासी होकर भी तुमने योग्य वक्ताओं से भी अपने को आगे बढ़ा लिया है ।। ६ ।।

वाग्मितामेवाह —

> प्रयुज्य सामाचरितं विलोभनं भयं विभेदाय धिय: प्रदर्शितम् ।
> तथाभियुक्तञ्च शिलीमुखार्थिना यथेतरन्न्याय्यमिवावभासते ।। ७ ।।

अन्वय:—साम प्रयुज्य विलोभनम् आचरितं धिय: विभेदाय भयं प्रदर्शितम् । शिलीमुखार्थिना तथा अभियुक्तं यथा इतरत् न्याय्यम् इव अवभासते ।। ७ ।।

प्रयुज्येति ।। 'शान्ततावितययोगी'त्यादिना साम सान्त्वम् । 'सामसान्त्वमुभे समे' इत्यमर: । प्रयुज्य नियुज्य विलोभनं प्रलोभनं 'मित्रमिष्टम्; इत्यादिनाऽऽचरितं सपादितम् । तथा धियो बुद्धेर्विभेदाय व्यामोहनार्थम् 'शक्तिरर्थपतिषु' इत्यादिना भयं प्रदर्शितम् । किंच, शिलीमुखार्थिना । न तु न्यायार्थिनेति भाव: । त्वयेति शेष: । 'नाभियोक्तुम्' (१३।५८) इत्यादिना तथाऽभियुक्तं कथितं यथेतरत् न्यायादन्यत् । अन्याय्यमित्यर्थ: । न्याय्यं न्यायादनपेतमिवावभासत इत्युपमा । अनेन वाग्मिनामग्रे-सरोऽसीति भाव: ।। ७ ।।

हिन्दी—तुमने प्रिय भाषण करके प्रलोभन पैदा किया, बुद्धि को विचलित करने के लिए भय दिखलाया, बाण प्राप्त करने के प्रयत्न और इच्छा से तुमने इस प्रकार की वाणी का प्रयोग किया है, जो अन्याय से भरी होने पर भी न्याययुक्त के समान प्रतिभासित हो रही थी ।। ७ ।।

विमर्श—इसी से मालूम पड़ता है कि तुम बड़े निपुण वक्ता हो । यहाँ उपमा अलङ्कार है ।

तत: किमत आह —

विरोधि सिद्धेरिति कर्तुमुद्यत: स वारित: किं भवता न भूपति: ।
हिते नियोज्य: खलु भूतिमिच्छता सहार्थनाशेन नृपोऽनुजीविना ।। ८ ।।

अन्वय:—सिद्धे: विरोधि इति कर्तुम् उद्यत: स: भूपति: भवता किं न वारित: । भूतिम् इच्छता सहार्थनाशेन अनुजीविना नृप: हिते नियोज्य: खलु ।। ८ ।।

विरोधीति ।। किन्तु सिद्धे: फलस्य विरोधि विघातकमिति इदमस्मदास्कन्दन-रूपं कर्म कर्तुमुद्यत: स भूपतिर्महीपतिर्भवता । धुर्येणेति भाव: । कि न वारितो न निवर्तित: । निवारणे हेतुमाह—भूतिमिच्छता इहामुत्र च श्रेयोर्थिना सहचरितावर्थनाशौ स्वार्थानर्थौ यस्य तेन सहार्थनाशेन । समानसुखदु:खेनेत्यर्थ: । अनुजीविना भृत्येन नृप: स्वामी हिते नियोज्यो नियम्य: खलु । अन्यथा स्वामिद्रोहपातकी श्रेयसो भ्रष्ट: स्यादिति भाव: ।। ८ ।।

हिन्दी—किन्तु फल-सिद्धि का विरोधी कार्य करने के लिए उद्यत अपने स्वामी को तुमने मना क्यों नहीं किया । क्योंकि अपने कल्याण के इच्छुक एवं समान सुख-दु:ख भागी सेवक को चाहिये कि वह अपने स्वामी को कल्याण के पथ पर ही अग्रसर करे ।। ८ ।।

विमर्श—क्योंकि यदि वह सेवक स्वामी को अनिष्टकर कार्यों से मना नहीं करता तो स्वामी के साथ द्रोह करने का पातक तो उसे लगेगा ही, उसका अनिष्ट भी होगा ।

तर्हि नो बाण: क्व गत:, किमत्र वा न्याय्यम्, तत्राह —

ध्रुवं प्रणाश: प्रहितस्य पत्रिण: शिलोच्चये तस्य विमार्गणं नय: ।
न युक्तमत्रार्यजनातिलङ्घनं दिशत्यपायं हि सतामतिक्रम: ।। ९ ।।

अन्वय:—प्रहितस्य पत्रिण: प्रणाश: ध्रुवं तस्य शिलोच्चये विमार्गणं नय: अत्र आर्यजनातिलङ्घनम् न युक्तम् । हि सतां अतिक्रम: अपायम् दिशति ।। ९ ।।

ध्रुवमिति ।। प्रहितस्य प्रयुक्तस्य पत्रिण: शरस्य प्रणाशोऽदर्शनं ध्रुवं निश्चितम् । प्रहितश्चेदिति भाव: । तस्य नष्टस्य पत्रिण: शिलोच्चये शैले । 'अद्रिगोत्रगिरिग्रा-वाचलशैलशिलोच्चया:' इत्यमर: । विमार्गणमन्वेषणं नयो न्याय: । 'अन्वेषणं विचयनं मार्गणं मृगणा मृग:' इत्यमर: । अत्र विषये आर्यजनातिलङ्घनं सज्जनव्यतिक्रमो न युक्तम् । हि यस्मात्कारणात्, सतामतिक्रमोऽपायमनर्थं दिशति ददाति ।। ९ ।।

हिन्दी—धनुष से फेंके गये बाण का विलोप होना निश्चित है, किन्तु उसका पर्वतीय प्रदेश में ढूँढ़ना तो (सज्जनों के लिए) उचित ही है और इस विषय में सज्जनों के मार्ग का अतिक्रमण करना (जैसा कि तुम कर रहे हो) अनुचित है, क्योंकि सज्जनों का अतिक्रमण अनर्थ का कारण होता है ।। ९ ।।

विमर्श—यहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ।

यदुक्तम् 'हर्तुमर्हसि' (१३।४१) इति, तत्रोत्तरमाह—

अतीतसंख्या विहिता ममाग्निना शिलीमुखाः खाण्डवमत्तुमिच्छता ।
अनादृतस्यामरसायकेष्वपि स्थिता कथं शैलजनाशुगे धृतिः ॥१० ॥

अन्वयः—खाण्डवम् अत्तुम् इच्छता अग्निना मम अतीतसङ्ख्या शिलीमुखाः विहिताः । अमरसायकेषु अपि अनादृतस्य कथं शैलजनाशुगे धृतिः स्थिता ॥ १० ॥

अतीतेति ॥ खाण्डवमिन्द्रवनम् अत्तुं भक्षयितुम्, इच्छताऽग्निना ममातीत-संख्याः शिलीमुखाः शरा विहिता दत्ताः । खाण्डवदाहेऽक्षयतूणीरदानमुक्तं भारते । अतोऽमरसायकेष्वपि अनादृतस्यादररहितस्य । भावे क्तः । ततो नञा बहुव्रीहिः । मम कथं शैलजनाशुगे किरातबाणे धृतिरास्था स्थिता । न कथञ्चिदित्यर्थः । अतो नापहारशङ्का कार्येत्यर्थः ॥१० ॥

हिन्दी—खाण्डव नामक इन्द्र के वन को उदरस्थ करने के इच्छुक अग्निदेव ने मुझे असंख्य बाण प्रदान किए थे । अतएव देवता द्वारा प्रदत्त बाण में भी आदर की भावना न रखने वाले मेरे लिए एक पहाड़ी व्यक्ति के बाण में इस प्रकार की आस्था (लालच) किस प्रकार से हो सकती है ॥ १० ॥

यदुक्तम् 'स्मर्यते तनुभृताम्' (१३।४२) इत्यादिना सदाचारः प्रमाणमिति, तत्रोत्तरमाह—

यदि प्रमाणीकृतमार्यचेष्टितं किमित्यदोषेण तिरस्कृता वयम् ।
अयातपूर्वा परिवादगोचरं सतां हि वाणी गुणमेव भाषते ॥११ ॥

अन्वयः—आर्यचेष्टितं प्रमाणीकृतं यदि अदोषेण वयं किमिति तिरस्कृताः हि परिवादगोचरम् अयातपूर्वा सतां वाणी गुणम् एव भाषते ॥ ११ ॥

यदीति ॥ आर्यचेष्टितं सच्चरितं प्रमाणीकृतं यदि । साधुत्वेनाङ्गीकृतं यदीत्यर्थः । तर्हि, अदोषेण दोषाभावेऽपि । 'क्वचित्प्रसज्यप्रतिषेधेऽपि नञ्समासः' इति भाष्यकारः । उपलक्षणे तृतीया । वयं किमिति तिरस्कृताः । न युक्तमित्यर्थः । हि यस्मात्, परिवादगोचरं परनिन्दास्पदम् । अयातपूर्वा सतां वाणी गुणमेव भाषते न दोषम् । अतस्ते मृषादोषभाषिणो न सदाचारप्रामाण्यबुद्धिरिति भावः । पूर्वं न यातेत्ययातपूर्वा । सुप्सुपेति समासः । परत्वात्सर्वनाम्नो निष्ठायाः पूर्वनिपातः । 'स्त्रियाः पुंवत्—' इत्यादिना पुंवद्भावः पूर्वलिङ्गता च । अर्थान्तरन्यासः ॥११ ॥

हिन्दी—यदि सज्जनों के चरित्र को ही तुम प्रमाण मानते हो तो फिर दोष के न होने पर भी हमारा तिरस्कार तुमने क्यों किया । (अर्थात् तुमने यह अनुचित कार्य किया है—) सच है, जो सज्जनों की वाणी पहले कभी किसी व्यक्ति की निन्दा करने के लिए प्रयुक्त नहीं हुई रहती वह गुण की ही चर्चा करती है, (दोष की नहीं) ।

विमर्श—(क) तात्पर्य यह है कि तुम्हारी वाणी सज्जन के विषय में भी जो मिथ्या दोष का आरोप लगा रही है, उससे यह स्पष्ट है कि सदाचार को तुम प्रमाण नहीं मानते । (ख) यहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ।

नन्वप्रत्यक्षा परबुद्धिः कथं दुष्टेति निश्चीयते, तत्राह —

गुणापवादेन तदन्यरोपणाद् भृशाधिरूढस्य समञ्जसं जनम् ।
द्विधेव कृत्वा हृदयं निगूहतः स्फुरन्नसाधोर्विवृणोति वागसिः ॥१२ ॥

अन्वयः—गुणापवादेन तदन्यरोपणात् समञ्जसां जनम् भृशाधिरूढस्य निगूहतः हृदयं असाधोः स्फुरन् वागसिः द्विधा इव विवृणोति ॥ १२ ॥

गुणेति ॥ गुणापवादेन विद्यमानगुणापह्नवेन तदन्यरोपणात् तस्माद्गुणादन्यस्य दोषस्याविद्यमानस्यैवारोपणाच्च समञ्जसं जनं सुजनं भृशाधिरूढस्यातिमात्रमाक्रम्य स्थितस्य ।अभिक्षिप्तस्येत्यर्थः ।कर्तरि क्तः ।निगूहतो हृदयं संवृण्वतोऽपि असाधोर-नार्यस्य हृदयं कर्म स्फुरन् विलसन् वागेवासिर्द्विधा कृत्वा भित्त्वेव विवृणोति ।अति-दुष्टया वाचैवैतत्पूर्विकाया बुद्धेरपि दौष्ट्यमनुमीयत इति भावः ।वागसिरित्यत्र रूपकं द्विधाकरणरूपकसाधकम् ॥१२ ॥

हिन्दी—विद्यमान गुणों को छिपाकर उसके स्थान पर अविद्यमान दोष का आरोप कर सज्जन व्यक्ति पर बुरी तरह से आक्रमण करने वाले एवं अपने हृदय के भावों को छिपाकर रखने वाले व्यक्ति के हृदय को उस दुर्जन का वचनरूपी तीक्ष्ण खड्ग ही मानों दो टुकड़ों में काटकर प्रकाशित कर देता है ॥ १२ ॥

विमर्श—(क) अर्थात् दुर्जन जब किसी साधु पुरुष के गुणों को छिपाकर उन पर अवगुण का आरोप करना चाहते हैं और यह भी चाहते हैं कि उनकी माया कोई जान न सके तब ऐसे अवसरों पर उनकी वाणी की कटार ही उनके हृदय को काटकर प्रकट कर देती है । वे जो कुछ छिपाकर रखना चाहते है, वह उनकी वाणी से ही प्रकट हो जाता है । (ख) यहाँ रूपक अलङ्कार है ।

यदुक्तम्—'अभ्यघानि' (१३।६३) इति, तत्रोत्तरमाह—

वनाश्रयाः कस्य मृगाः परिग्रहाः शृणाति यस्तान्प्रसभेन तस्य ते ।
प्रहीयतामत्र नृपेण मानिता न मानिता चास्ति भवन्ति च श्रियः ॥१३ ॥

अन्वयः—वनाश्रयाः मृगाः कस्य परिग्रहाः यः तान् प्रसभेन शृणोति ते तस्य अत्र नृपेण मानिता प्रहीयतां मानिता च अस्ति श्रियः च न भवन्ति ॥ १३ ॥

वनेति ॥ वनाश्रया अत एव मृगाः कस्य परिग्रहाः ।न कस्यापीत्यर्थः ।किन्तु यस्तान् मृगान् प्रसभेन बलात्कारेण शृणाति हिनस्ति । 'शृ हिंसायाम्' इति धातोर्लट् । ते मृगास्तस्य हन्तुः परिग्रहाः परिग्राह्याः, हन्ता चाहमेवेति भावः ।ननु ममायमित्यभि-मानान्नृपस्य स्वत्वमित्याशङ्क्याह—अत्रेति ।अत्र मृगे नृपेण मानिता ममेत्यभिमानिता

प्रहीयतां त्यज्यताम् । कुत इत्याशङ्क्याभिमानमात्रेण स्वत्वाभावादित्याह—नेति । मानिता चास्ति । श्रियः स्वानि च भवन्तीति न । किन्तु न भवन्त्येव । सत्यामभिमानितायामित्यर्थः । अभिमानमात्रेण स्वत्वेऽतिप्रसङ्गादिति भावः ॥१३ ॥

हिन्दी—वन में निवास करने वाले पशु भला किसके अधीन हैं? जो उन्हें पराक्रमपूर्वक मारता है, वे उसी के हैं। अतएव इस शूकर के सम्बन्ध में तुम्हारे राजा को चाहिये कि वह 'है' इस पर अपना अधिकार है—यह अभिमान करना छोड़ दें। क्योंकि केवल अभिमान मात्र से सम्पत्ति अपने अधीन नहीं हो जाती ॥ १३ ॥

'यष्टुमिच्छसि पितॄन्' (१३। ६५) इत्यादिना यन्निष्कारणमवधीरित्युपालब्धं, तत्रोत्तरमाह—

न वर्त्म कस्मैचिदपि प्रदीयतामिति व्रतं मे विहितं महर्षिणा ।
जिघांसुरस्मान्निहतो मया मृगो व्रताभिरक्षा हि सतामलंक्रिया ॥ १४ ॥

अन्वयः—कस्मैचित् अपि वर्त्म न प्रदीयताम् इति व्रतं महर्षिणा में विहितम् अस्मात् जिघांसुः मृगः मया निहतः । हि व्रताभिरक्षा सताम् अलंक्रिया ॥ १४ ॥

नेति ॥ कस्मैचिदपि वर्त्म न प्रदीयतामिति एवं व्रतं महर्षिणा व्यासेन मे मह्यं विहितम् । उपदिष्टमित्यर्थः । अस्मात् कारणात्, जिघांसुर्हन्तुमिच्छुरापतन्नयं मृगो मया निहतः । हि यस्मात्, व्रताभिरक्षा सतामलंक्रिया, न तु दोषः । अत आत्मरक्षणार्थमस्य वधो न निष्कारणमित्यर्थः ॥१४ ॥

हिन्दी—किसी को भी अपने आश्रम में प्रवेश मत करने देना—इस प्रकार के व्रत-पालन की आज्ञा महर्षि व्यास ने मुझे दी थी । इसीलिए मुझे मारने की इच्छा से दौड़कर आने वाले इस वराह को मैंने मारा है । व्रत की रक्षा करना सत्पुरुषों के लिए शोभा की वस्तु है ॥ १४ ॥

विमर्श—अर्थात् मैंने अपनी रक्षा के लिए इसका वध किया है, अकारण नहीं ।

'दुर्वचं तत्' (१३ । ४९) इत्यादिना यत्सज्ञातं बन्धुत्वमुक्तं, तत्राचष्टे —

मृगान्विनिघ्नन्मृगयुः स्वहेतुना कृतोपकारः कथमिच्छतां तपः ।
कृपेति चेदस्तु मृगः क्षतः क्षणादनेन पूर्वं न मयेति का गतिः ॥१५ ॥

अन्वयः—स्वहेतुना मृगान् विनिघ्नन् मृगयुः तपः इच्छतां कथं कृतोपकारः चेत् कृपा इति अस्तु मृगः क्षणात् क्षतः अनेन पूर्वं मया न इति का गतिः ॥ १५ ॥

मृगानिति ॥ स्वमात्मैव हेतुस्तेन स्वहेतुना । स्वार्थमित्यर्थः । 'सर्वनाम्नस्तृतीया च' इति तृतीया । मृगान् विनिघ्नन् प्रहरन् । मृगान्यातीति मृगयुर्व्याधः । 'मृगयुर्व्याधश्च' इत्यौणादिको युप्रत्ययान्तो निपातः । 'व्याधो मृगवधाजीवो मृगयु-

लुब्धकोऽपि सः' इत्यमरः । तप इच्छतां तपस्विनां कथं कृतोपकारः । न कथञ्चिदित्यर्थः । अथ कृपा इति चेत् । व्याधस्यापीति शेषः । अस्तु । किं शुष्ककलहेनेति भावः। परन्तु यदुक्तं 'निघ्नतः परनिबर्हितम्' (१३।४६) इत्यादिना तस्य प्रथमप्रहर्तृत्वं तदयुक्तमित्याह—मृगः क्षणात्क्षतः । आवाभ्यां युगपदेव विद्ध इत्यर्थः । एवं सति, अनेन नृपेणैव पूर्वं हतो मया तु नेत्यत्र का गतिः कि प्रमाणम् । पौर्वापर्यस्य दुर्लक्ष्यत्वादिति भावः । तथा च यदुक्तम् 'व्रीडितव्यम्' (१३।४६) इति, उपालम्भस्तस्यैव किं न स्यादिति भावः ।।१५ ।।

हिन्दी—अपने स्वार्थ के लिए पशुओं को मारने वाले शिकारी तपस्वियों का भला क्या उपकार कर सकते हैं? और यदि यह कहते हो कि मेरे स्वामी की कृपा है तो फिर रहने दो, व्यर्थ में झगड़ने से क्या लाभ? पशु को हम दोनों ने एक ही क्षण में मारा है । और यदि तुम यह कहो कि तुम्हारे स्वामी ने पहले मारा है और मैंनें बाद में तो मैं कहूँगा कि इसमें प्रमाण ही क्या है? ।। १५ ।।

पूर्वं 'कृपेति चेदस्तु' (श्लो० १५) इत्युक्तम्, संप्रति तदप्यसहमान आह —

अनायुधे सत्त्वजिघांसिते मुनो कृपेति वृत्तिर्महतामकृत्रिमा ।
शरासनं बिभ्रति सज्यसायकं कृतानुकम्पः स कथं प्रतीयते ।।१६ ।।

अन्वयः—अनायुधे सत्वजिघांसिते मुनौ कृपा इति वृत्तिः महताम् अकृत्रिमा सज्यसायकम् शरासनम् बिभ्रति सः कथं कृतानुकम्पः प्रतीयते ।। १६ ।।

अनायुध इति ।। अनायुधे निरायुधे सत्त्वेन केनचित्प्राणिना जिघांसिते हन्तुमिष्टे । हन्तेः सन्नन्तात्कर्मणि क्तः । मुनौ विषये कृपेति वृत्तिर्व्यवहारो महतां महात्मनाम्, अकृत्रिमाऽकपटा । सह ज्यया सज्यः सायको यस्मिंस्तत्, शरासनं धनुर्बिभ्रति दधति मयि स नृपः कथं कृतानुकम्पो मया प्रतीयते ज्ञायते । इणः कर्मणि लट् । अक्षमे कृपा विहिता न तु क्षम इत्यर्थः ।।१६ ।।

हिन्दी—किसी अस्त्र-शस्त्र के विहीन तपस्वी को यदि कोई हिंस्र-जन्तु मारना चाहता है तो उस पर अनुकम्पा करना तो महान् पुरुषों का सहज धर्म है, किन्तु धनुष पर डोरी चढ़ाकर बाण सन्धान करने वाले मुझ जैसे तपस्वी पर उन्होंने किस प्रकार से अनुकम्पा की है, यह मैं कैसे मान सकता हूँ ।। १६ ।।

विमर्श—अर्थात् असमर्थ और निस्सहाय पर दया करना तो उचित है, किन्तु जो स्वयं अपनी रक्षा में समर्थ हो उसकी रक्षा के लिए दया का प्रश्न ही कहाँ उठता है ।

अथ कृपामभ्युपगम्याह —

अथो शरस्तेन मदर्थमुज्झितः फलं च तस्य प्रतिकायसाधनम्।
अविक्षते तत्र मयात्मसात्कृते कृतार्थता नन्वधिका चमूपतेः ।।१७ ।।

अन्वयः—अथो तेन मदर्थम् शरः उज्झितः तस्य फलम् च प्रतिकायसाधनम् अविक्षते तत्र मयात्मसात्कृते चमूपतेः अधिका कृतार्थता ननु ॥ १७ ॥

अथो इति ॥ अथो प्रश्ने । 'मङ्गलानन्तरारम्भप्रश्नकात्स्न्र्येष्वथो अथ' इत्यमरः । तेन नृपेण मदर्थं यथा तथा । अर्थेन सह नित्यसमासः । शर उज्झितस्त्यक्तः । तस्य उज्झितस्य फलं च प्रतिकायस्य प्रतिपक्षस्य साधनं वधः । 'साधनं निर्वृतौ मेढ्रे सैन्ये सिद्धौ वधे गतौ' इति विश्वः । अविक्षतेऽखण्डिते तत्र तस्मिन्फले मयात्मसात्कृते स्वाधीनीकृते सति । 'तदधीनवचने' इति सातिप्रत्ययः । चमूपतेरधिका कृतार्थता साफल्यं ननु खलु । स्वायुधस्य परत्राणशत्रुवधपात्रप्रतिपादनायैकहेलया सिद्धेरित्यर्थः । तथाप्ययं शरलोभ इति कृपालुताया मूलान्यपि निकृन्ततीति भावः ॥१७ ॥

हिन्दी—अच्छा मैं पूछता हूँ कि तुम्हारे स्वामी ने मुझे बचाने के लिए ही वह बाण चलाया था तो उनके बाण चलाने का परिणाम यही था न कि इस मेरे शत्रु वराह का नाश हो । तो वह हो ही गया और मैंने उसे अपने अधीन कर लिया है, ऐसी स्थिति में आपके सेनापति की तो और अधिक सफलता हुई न ॥ १७ ॥

विमर्श—अर्थात् उनके उस एक बाण से पर-रक्षा, शत्रुवध तथा उचित पात्र में प्रतिपादन—ये तीन फल प्राप्त हुए ।

'मार्गणैरथ तव प्रयोजनम्' (१६।५९) इत्यादिना यदुक्तं, तन्निराचष्टे —

यदात्थ कामं भवता स याच्यतामिति क्षमं नैतदनल्पचेतसाम् ।
कथं प्रसह्याहरणैषिणां प्रियाः परावनत्या मलिनीकृताः श्रियः ॥१८ ॥

अन्वयः—सः कामं भवता याच्यताम् इति यत् आत्थ एतत् अनल्पचेतसां न क्षमं प्रसह्य आहरणैषिणाम् परावनत्या मलिनीकृताः श्रियः कथं प्रियाः ॥ १८ ॥

यदिति ॥ स नृपः कामं भवता याच्यतामिति यदात्थ । मामिति शेषः । एतदनल्पचेतसां मनस्विनां न क्षमं न युक्तम् । कुतः । प्रसह्य बलात्, आहरणैषिणामाहर्तुमिच्छूनाम् । 'क्षत्रियस्य विजितम्' इति स्मरणादिति भावः । परावनत्या याच्ञादैन्येन मलिनीकृताः श्रियः कथं प्रियाः । न कथञ्चिदित्यर्थः ॥१८ ॥

हिन्दी—तुम जो यह कह रहे हो कि मैं तुम्हारे स्वामी से बाण माँग लूँ तो यह मनस्वी लोगों के लिए उचित नहीं हैं क्योंकि जो बलपूर्वक हरण करने के इच्छुक होते हैं, उन्हें याचना-रूपी दीनता से मलिन सम्पत्ति क्यों अच्छी लगने लगी?

अथ परेङ्गितमुद्घाट्य भयं दर्शयति —

अभूतमासज्य विरुद्धमीहितं बलादलभ्यं तव लिप्सते नृपः ।
विजानतोऽपि ह्यनयस्य रौद्रतां भवत्यपाये परिमोहिनी मतिः ॥१९ ॥

अन्वयः—तव नृपः अभूतम् आसज्य अलभ्यं विरुद्धं ईहितम् बलात् लिप्सते । हि अनयस्य रौद्रतां विजानतः अपि मतिः अपाये परिमोहिनी भवति ।

अभूतमिति ।। तव नृपोऽभूतमनृतम् । आसज्य । मिथ्याभियुज्येत्यर्थः । 'युक्ते क्ष्मादावृते भूतम्' इत्यमरः । अलभ्यं लब्धुमशक्यं विरुद्धं विपरीतफलकम्, ईहितं मनोरथं बलाल्लिप्सते लब्धुमिच्छति । न चैतच्चित्रमित्याह—हि यस्मात्, अनयस्य दुर्नयस्य रौद्रतां भयङ्करत्वं विजानतोऽपि पुरुषस्य मतिर्बुद्धिः । अपाये विनाशकाले परिमोहिनी भवति । परिमुह्यतीति परिमोहिनी । संपृचादिसूत्रेण ताच्छील्ये घिनुण्-प्रत्ययः । तथा चोक्तम् —'विनिर्मितः केन न दृष्टपूर्वो हेम्नः कुरङ्गो न च कुत्र वार्ता ।

तथापि तृष्णा रघुनन्दनस्य विनाशकाले विपरीतबुद्धिः ।।' इति ।
तस्माद्विनाशकाले विपरीतबुद्धिर्भवतीति भावः ।।१९ ।।

हिन्दी—तुम्हारे स्वामी मिथ्या अभियोग लगाकर, एक अलभ्य एवं विपरीत फल देने वाली वस्तु को बलपूर्वक प्राप्त करना चाहते हैं । सच है, अनीति की भयङ्करता से परिचित होकर भी मनुष्य की बुद्धि विनाश के समय विपरीत हो जाती है ।। १९ ।।

विमर्श—यहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ।

अथ सर्वथा लभ्यते शरस्तर्हि किमनेन, सुष्ठु विश्रब्धं याच्यतां शरोऽन्यद्वेत्याह —

असिः शरा वर्म धनुश्च नोच्चकैर्विविच्य किं प्रार्थितमीश्वरेण ते ।
अथास्ति शक्तिः कृतमेव याच्ञया न दूषितः शक्तिमतां स्वयंग्रहः ।। २० ।।

अन्वयः—असिः शरा वर्म उच्चकैः धनुः च ईश्वरेण विविच्य किं न प्रार्थितम् । अथ शक्तिः अस्ति याञ्चया कृतम् एव शक्तिमतां स्वयंग्रहः न दूषितः ।। २० ।।

असिरिति ।। असिः खड्गः शरा वर्म कवचम्, उच्चकैरुत्कृष्टं धनुश्च धनुर्वा ते तव ईश्वरेण स्वामिना विविच्य एकैकशो विभज्य किं न प्रार्थितं न याचितम् । येन प्रयोजनं तद्दास्यामीति भावः । नपुंसकैकशेषः। अथास्य वीराभिमानिनो नृपस्य शक्ति-रस्ति । चेदिति शेषः । याच्ञया कृतमेवालमेव । साध्याभावान्न याचितव्यमेवेत्यर्थः । गम्यमानक्रियापेक्षया करणत्वात्तृतीयेत्युक्तं प्राक् । 'कृतम्' इति निषेधार्थमव्ययम् । यतः शक्तिमतां स्वयंग्रहो बलाद्ग्रहणं न दूषितः । किन्तु भूषणमेव वीराणामिति भावः ।

हिन्दी—तलवार, बाण, कवच या उत्कृष्ट धनुष—इन सब वस्तुओं में से चुनकर तुम्हारे स्वामी ने कोई वस्तु नहीं माँगी ? (मैं इनमें से कोई भी वस्तु उन्हें दे सकता हूँ ।) और यदि उनके पास शक्ति है तो फिर याचना की जरूरत ही क्या हैं क्योंकि शक्तिशाली लोग यदि किसी की कोई वस्तु स्वयं लेते हैं तो उसमें उन्हें दोष नहीं होता यह तो वीरों का भूषण है ।। २० ।।

'राघवप्लवगराजयोरिव' (१३।५७) इत्यादिनोपदिष्टं सख्यं प्रत्याचष्टे —

सखा स युक्तः कथितः कथं त्वया यदृच्छयाऽसूयति यस्तपस्यते ।
गुणार्जनोच्छ्रायविरुद्धबुद्धयः प्रकृत्यमित्रा हि सतामसाधवः ।। २१ ।।

अन्वयः—सः कथं त्वया युक्तः सखा कथितः यः तपस्यते यदृच्छया असूयति । हि गुणार्जनोच्छ्रायविरुद्धबुद्धयः सतां प्रकृत्यमित्राः ।। २१ ।।

सखेति ।। स नृपः कथं त्वया युक्तो योग्यः सखा कथितः । न कथञ्चित् कथनीय इत्यर्थः । कुतः । यो नृपः तपस्यते तपश्चरते । अनपराधिन इत्यर्थः । 'क्रुधद्रुह—' इत्यादिना संप्रदानत्वाच्चतुर्थी । यदृच्छया स्वैरवृत्त्या । 'यदृच्छा स्वैरिता' इत्यमरः । असूयति असूयां करोति । 'असूया तु दोषारोपो गुणेष्वपि' इत्यमरः । प्रत्युत शत्रुरेवायमित्याह—हि यस्मात्, गुणानामर्जने य उच्छ्राय उत्कर्षस्तस्य विरुद्धा विमुखा बुद्धिर्येषां ते तथा, असाधवो दुष्टाः सतां सज्जनानां प्रकृत्यमित्राः प्रकृत्या शत्रवः । 'द्विड्विपक्षाहितामित्रदस्युशात्रवशत्रवः' इत्यमरः ।। २१ ।।

हिन्दी—तुम अपने स्वामी को मेरे लिए योग्य मित्र कैसे बतला रहे हो, क्योंकि जो तपस्वी जनों से भी अपने आप ही ईर्ष्या करता है, (वह अच्छा मित्र नहीं हो सकता ।) क्योंकि गुणों के अर्जन से उत्कृष्ट जन एकत्र करने के विरोधी असज्जन लोग सज्जनों के सहज बैरी होते हैं ।। २१ ।।

हीनजातिवृत्तित्वात् सख्यानर्हः स इत्याह —

वयं क्व वर्णाश्रमरक्षणोचिताः क्व जातिहीना मृगजीवितच्छिदः ।
सहापकृष्टैर्महतां न सङ्गतं भवन्ति गोमायुसखा न दन्तिनः ।। २२ ।।

अन्वयः—वर्णाश्रमरक्षणोचिताः वयं क्व जातिहीनाः मृगजीवितच्छिदः क्व अपकृष्टैः सह महतां सङ्गतं न । दन्तिनः गोमायुसखाः न भवन्ति ।। २२ ।।

वयमिति ।। वर्णाश्रमरक्षणोचिता विशुद्धवृत्तयो वयं राजानः क्व । जातिहीना मृगजीवितच्छिदो हिंसाजीविनो व्याधाः क्व। फलितमाह—अपकृष्टैरुक्तरीत्या जात्या वृत्त्या चोत्कृष्टानां सङ्गतं सख्यं न । घटत इति शेषः । तथा हि—दन्तिनो गजा गोमायूनां शृगालानां सखायो गोमायुसखा न भवन्ति । 'स्त्रियां शिवा भूरिमायगोमायुमृगधूर्तकाः । शृगालवञ्चकक्रोष्टुफेरुफेरवजम्बुकाः ।।' इत्यमरः । अत्र विशेषेण सामान्य समर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ।। २२ ।।

हिन्दी—कहाँ वर्ण एवं आश्रम धर्म की मर्यादा की रक्षा में तत्पर हम, और कहाँ जाति-विहीन, पशुओं को मारकर जीविका चलाने वालें हिंसक तुम्हारे स्वामी ? उक्त रीति से जाति एवं वृत्ति से नीच व्यक्ति के साथ हमारी मैत्री उचित नहीं है । हाथी सियारों के तो मित्र नहीं होते ।। २२ ।।

विमर्श—तुम्हारे स्वामी हमारे युक्त सखा कदापि नहीं हो सकते । यहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ।

नीचसख्यं कथमधिक्षिप्यत इति चेत्तत्राह —

परोऽवजानाति यदज्ञताजडस्तदुन्नतानां न विहन्ति धीरताम् ।
समानवीर्यान्वयपौरुषेषु यः करोत्यतिक्रान्तिमसौ तिरस्क्रिया ।। २३ ।।

अन्वयः—अज्ञताजडः परः अवजानाति यत् तत् उन्नतानां धीरतां न विहन्ति समानवीर्यान्वयपौरुषेषु यः अतिक्रान्तिं करोति असौ तिरस्क्रिया ।। २३ ।।

पर इति ।। अज्ञताजडो मोहान्धः परोऽवजानाति यत्तत् अवज्ञानम्, उन्नतानां महतां धीरतां निर्विकारचित्तत्वं न विहन्ति । न विकारं जनयतीत्यर्थः । क्रोष्ट्रेव सिंहस्येति भावः । किन्तु समानानि तुल्यानि वीर्यान्वयपौरुषाणि शक्तिकुलविक्रमा येषां तेषु मध्ये । निर्धारणे सप्तमी । यः कश्चिदित्यर्थः । अतिक्रान्तिमतिक्रमं करोति चेत्, असौ सदृशजनातिक्रमस्तिरस्क्रिया तिरस्कारः । यथा सिंहे सिंहस्येति भावः ।। २३ ।।

हिन्दी—अज्ञानी मूर्ख जो सज्जनों का अपमान करता है, उससे महान् लोग अधीर नहीं होते । किन्तु समान पराक्रम, वंश और पौरुष वालों में से यदि कोई अतिक्रमण करता है तो वही उनका तिरस्कार होता है ।। २३ ।।

तर्हि नीचे कीदृशी वृत्तिरित्याशङ्क्य सोपपत्तिकमाह—

यदा विगृहणाति हतं तदा यशः करोति मैत्रीमथ दूषिता गुणाः ।
स्थितिं समीक्ष्योभयथा परीक्षकः करोत्यवज्ञोपहतं पृथग्जनम् ।। २४ ।।

अन्वयः—यदा विगृहणाति तदा यशः हतं अथ मैत्री करोति गुणाः दूषिताः इति उभयथा स्थितिं समीक्ष्य परीक्षकः पृथग्जनम् अवज्ञोपहतं करोति ।। २४ ।।

यदेति ।। यदा विगृहणाति विरुणद्धि । पृथग्जनेनेति शेषः । तदा यशो हतं नाशितं भवेत् । अथ मैत्रीं करोति तदा गुणा दूषिताः । भवेयुरिति शेषः । इति उभयथा स्थितिं समीक्ष्य प्रतर्क्य विमृश्य, परीक्षको विवेचकः पृथग्जनं नीचजनम्, अवज्ञयाऽनादरेण उपहतं तिरस्कृतं करोति । उपेक्षत इत्यर्थः ।। २४ ।।

हिन्दी—सज्जन लोग जब नीच लोगों के साथ वैर-विरोध करते हैं तो उससे उनकी कीर्ति नष्ट होती है, और यदि मित्रता करते हैं तो उससे उनके गुण दूषित होते हैं । इस प्रकार दोनों ही तरह से अपनी मर्यादा की हानि समझ कर विचारवान् लोग नीच व्यक्ति की अवज्ञा के साथ उपेक्षा ही करते हैं ।। २४ ।।

उपसंहरन्नाह —

मया मृगान् हन्तुरनेन हेतुना विरुद्धमाक्षेपवचस्तितिक्षितम् ।
शरार्थमेष्यत्यथ लप्स्यते गतिं शिरोमणिं दृष्टिविषाज्जिघृक्षतः ।। २५ ।।

अन्वयः—अनेन हेतुना मया मृगान् हन्तुः विरुद्धं आक्षेपवचस्तितिक्षितम् । अथ शरार्थम् एष्यति दृष्टिविषात् शिरोमणि जिघृक्षतः गतिं लप्स्यते ।। २५ ।।

मयेति ।। अनेन हेतुना संधिविग्रहानर्हत्वेन कारणेन मया मृगान् हन्तुर्व्याधस्य सम्बन्धि । हन्तेस्तृन् प्रत्ययः । अत एव 'न लोक—' इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधः । विरुद्धमतिपरुषम्, आक्षेपवचस्तिरस्कारवचनं तितिक्षितं सोढम् । ननु सख्यानङ्गीकारे

बलाच्छरं ग्रहीष्यतीत्याशङ्क्याह—शरेति । अथ शरार्थमेष्यति दृष्टौ विषं यस्य तस्मात् दृष्टिविषात् सर्पविशेषात् शिरोमणिं जिघृक्षतो ग्रहीतुमिच्छतो गतिं दशां लप्स्यते प्राप्स्यति ।। २५ ।।

हिन्दी—यही कारण है कि मैंने पशुओं के हत्यारे तुम्हारे स्वामी किरात की कठोर एवं आक्षेपभरी बातें सहन की हैं और यदि इसके बाद भी वह बाण के लिए आना चाहेंगे तो दृष्टिविष नामक भयङ्कर सर्प से मणि ग्रहण करने वाले की जो दुर्गति होती है, उसी को वह भी प्राप्त करेंगे ।। २५ ।।

इतीरिताकूतमनीलवाजिनं जयाय दूतः प्रतितर्ज्य तेजसा ।
ययौ समीपं ध्वजिनीमुपेयुषः प्रसन्नरूपस्य विरूपचक्षुषः ।। २६ ।।

अन्वयः—इति ईरिताकूतम् अनीलवाजिनम् दूतः जयाय तेजसा प्रतितर्ज्य ध्वजिनीम् उपेयुषः प्रसन्नरूपस्य विरूपचक्षुषः समीपं ययौ ।। २६ ।।

इतीति ।। इतीत्थम्, ईरिताकूतमुक्ताभिप्रायम्, अनीलवाजिनं श्वेताश्वमर्जुनं दूतो जयाय तेजसा प्रतापेन अतितर्ज्य । अस्मानजित्वा क्व गमिष्यसीति भीषयित्वेत्यर्थः । ध्वजिनीमुपेयुषः सेनासङ्गतस्य प्रसन्नरूपस्य । अर्जुनं प्रतीति शेषः । विरूपचक्षुषस्त्र्यम्बकस्य समीपं ययौ ।। २६ ।।

हिन्दी—इस प्रकार वह दूत अपना अभिप्राय प्रकट करने वाले अर्जुन को अपने तेज से धमकाकर विजय प्राप्ति के लिए सेना लेकर उपस्थित प्रसन्नस्वरूप त्रिलोचन के पास पहुँच गया ।। २६ ।।

ततोऽपवादेन पताकिनीपतेश्चचाल निर्ह्रादवती महाचमूः ।
युगान्तवाताभिहतेव कुर्वती निनादमम्भोनिधिवीचिसंहतिः ।। २७ ।।

अन्वयः—ततः पताकिनीपतेः अपवादेन निर्ह्रादवती महाचमूः युगान्तवाताभिहता अम्भोनिधिवीचिसंहतिः निनादं कुर्वती इव चचाल ।। २७ ।।

तत इति ।। ततः पताकिनीपतेः सेनापतेः अपवादेनादेशेन । 'अपवादोऽप्यथादेशः' इति सज्जनः । निर्ह्रादवती शब्दवती महाचमूः सेना युगान्तवातैरभिहता आन्दोलिता अत एव निनादं कुर्वती, अम्भोनिधिवीचिसंहतिरर्णवोर्मिसमूह इव चचाल ।

हिन्दी—तदनन्तर सेनापति के आदेश से भयङ्कर शब्द करने वाली वह किरात-सेना प्रलयकालिक झंझावत से उठी हुई समुद्र की लहरों के समान गर्जन करती हुई आगे बढ़ी ।। २७ ।।

रणाय जैत्रः प्रदिशन्निव त्वरां तरङ्गितालम्बितकेतुसंततिः ।
पुरो बलानां सघनाम्बुशीकरः शनैः प्रतस्थे सुरभिः समीरणः ।। २८ ।।

अन्वयः—जैत्रः तरङ्गितालम्बितकेतुसन्ततिः सघनाम्बुशीकरः सुरभिः समीरणः रणाय त्वरां प्रदिशन् इव बलानां पुरः शनैः प्रतस्थे ।। २८ ।।

रणायेति ।। जेतैव जैत्रो जयनशीलः । अनुकूल इत्यर्थः। जयतेस्तृन्नन्तात्प्रज्ञादित्वात् स्वार्थेऽण्प्रत्ययः । तरङ्गितं सञ्जाततरङ्गं यथा तथा, आलम्बिता अवस्थिताः केतुसंततयो येन सः सह घनैः सान्द्रैरम्बुशीकरैः सघनाम्बुशीकरैः सुरभिः सुगन्धः समीरणो वायू रणाय त्वरां प्रदिशन्निव बलानां सैन्यानां पुरोऽग्रे शनैः प्रतस्थे प्रस्थितः । ववावित्यर्थः ।। २८ ।।

हिन्दी—उस अवसर पर अनुकूल एवं सुगन्धिपूर्ण वायु जल की घनी बूँदों को साथ लेकर सेना की पताकाओं के समूह को फड़फड़ाती हुई मानों अर्जुन और किरातपति को युद्ध करने में जल्दी की प्रेरणा देती हुई उस सेना के आगे-आगे धीरे-धीरे चल पड़ी ।। २८ ।।

विमर्श—अनुकूल वायु का बहना विजय का सूचक था ।

जयारवक्ष्वेडितनादमूर्च्छितः शरासनज्यातलवारणध्वनिः ।
असंभवन्भधरराजकुक्षिषु प्रकम्पयन्गामवतस्तरे दिशः ।। २९ ।।

अन्वयः—जयारभक्ष्वेडितनादमूर्छितः शरासनज्यातलवारणध्वनिः भूधरराजकुक्षिषु असम्भवन् गां प्रकम्पयन् दिशः अवतस्तरै ।। २९ ।।

जयेति ।। जयारवैर्बन्दिनां जयजयेतिशब्दैः क्ष्वेडितनादैः सिंहनादैश्च मूर्च्छितो वर्धितः शरासनज्यानं धनुर्गुणानां तलवारणानां ज्याघातवारणानां च ध्वनिर्भूधरराजकुक्षिषु गिरिगुहासु असंभवन् अमान् । अवकाशमलभमान इत्यर्थः । अत एव गां भुवं प्रकम्पयन् । एतेन बलानां बाहुल्यमुक्तम् । दिशोऽवतस्तरे व्यानशे । 'ॠतश्च संयोगादेर्गुणः' । अत्र 'मूर्च्छा' पदार्थस्य विशेषणगत्याऽसंभवनहेतुत्वात्काव्यलिङ्गम्, रूपकं तु गिरिकुक्षिरूपापेक्षया ध्वनेराधेयस्याधिक्योक्तेरधिकालङ्कारश्च । तेभ्यश्चेयम संभवन्निति व्यञ्जकं विनोत्थाप्यमानोपात्तमूर्च्छागुणनिमित्ता प्रतीयमाना क्रियोत्प्रेक्षा । तैरङ्गाङ्गिभावेन सङ्कीर्यत इति सङ्करः ।। २९ ।।

हिन्दी—बन्दी तथा मागधों के जय-जयकार एवं वीरों के सिंहनाद से वद्धत होकर धनुष की डोरी की टङ्कार और ढाल की प्रचण्ड ध्वनियाँ पर्वतराज हिमालय की कन्दराओं में न समाकर धरती को कँपाती हुई सभी दिशाओं में फैल गयीं ।। २९ ।।

निशातरौद्रेषु विकासतां गतैः प्रदीपयद्भिः ककुभामिवान्तराम् ।
वनेसदां हेतिषु भिन्नविग्रहैर्विपुस्फुरे रश्मिमतो मरीचिभिः ।। ३० ।।

अन्वयः—निशातरौद्रेषु वनेसदां हेतिषु भिन्नविग्रहैः विकासतां गतैः रश्मिमतः मरीचिभिः ककुभां अन्तरं प्रदीपयद्भिः इव विपुस्फुरे ।। ३० ।।

निशातेति ।। निशातास्तीक्ष्णा अत एव रौद्रा भीषणाश्च ये तेषु निशातरौद्रेषु । विशेष्यविशेषणयोरन्यतरविशेष्यत्वविवक्षाया इष्टत्वाद्विशेषणसमासः। वने सीदन्तीति वनेसदां वनेचराणाम् । 'सत्सूद्विष—' इत्यादिना क्विप् । 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्'

इत्यलुक् । हेतिषु आयुधेषु । 'हेतिः शस्त्रेऽपि पंस्त्रियोः' इति केशवः । भिन्नविग्रहैः संक्रान्तमूर्तिभिरत एव विकासतां विसृत्वरतां गतैरत एव ककुभां दिशाम्, अन्तरमवकाशं प्रदीपयद्भिः प्रज्वालयद्भिरिव स्थितैरित्युत्प्रेक्षा । रश्मिमतः सूर्यस्य । 'मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः' इति मतुपो मकारस्य न वकारः । मरीचिभिः सूर्यस्य । 'मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः' इति मतुपो मकारस्य न वाकरः । मरीचिभिः करैः । 'भानुः करो मरीचिः स्त्रीपुंसयोः' इत्यमरः । विपुस्फुरे बभासे । स्फुरतेर्भावे लिट् ।। ३० ।।

हिन्दी—तीक्ष्ण होने के कारण अत्यन्त भयङ्कर उन किरातों के शस्त्रों पर संक्रान्त होकर अत्यधिक विकास को प्राप्त अंशुमाली सूर्य की किरणें दिशाओं के अन्तराल को मानों प्रज्वलित-सी करती हुई सुशोभित होने लगीं ।। ३० ।।

उदूढवक्षःस्थगितैकदिङ्मुखो विकृष्टविस्फारितचापमण्डलः ।
वितत्य पक्षद्वयमायतं बभौ विभुर्गुणानामुपरीव मध्यगः ।। ३१ ।।

अन्वयः—उदूढवक्षःस्थगितैकदिङ्मुखः विकृष्टविस्फारितचापमण्डलः विभुः आयतं पक्षद्वयं वितत्य गणानां मध्यगः उपरि इव बभौ ।। ३१ ।।

उदूढेति ।। उदूढेनोन्नतेन वक्षसा स्थगितमाच्छादितमेकमेकतरं दिङ्मुखं येन सः । विकृष्टमाकृष्टमत एव विस्फारितं निर्घोषितं चापमण्डलं येन स विभुः शिवः । आयतं विस्तृतं पक्षद्वयं पार्श्वद्वयं वितत्य स्वमहिम्ना व्याप्य । 'पक्षः साध्यगरुत्पार्श्वसहायबलभित्तिषु' इति वैजयन्ती । गुणानां मध्यगो मध्यस्थोऽपि उपरि स्थित इव बभौ । सर्वोन्नतत्वात्तथा लक्षित इत्यर्थः ।। ३१ ।।

हिन्दी—अपने विशाल वक्षस्थल से एक ओर की दिशा के मुख को आच्छादित करते हुए तथा प्रत्यञ्चा के आकर्षण से धनुर्मण्डल को भयङ्कर शब्दों से युक्त करते हुए भगवान् शङ्कर ने अपने प्रभाव से अपने दोनों ओर की पार्श्व भूमियों को व्याप्त कर लिया । प्रमथ गणों के बीच में स्थित होते हुए भी वह उस समय सर्वोपरि स्थित के समान सुशोभित हो रहे थे ।। ३१ ।।

सुगेषु दुर्गेषु च तुल्यविक्रमैर्जवादहंपूर्विकया यियासुभिः ।
गणैरविच्छेदनिरुद्धमाबभौ वनं निरुच्छ्वासमिवाकुलाकुलम् ।। ३२ ।।

अन्वयः—सुगेषु दुर्गेषु च तुल्यविक्रमैः जवात् अहंपूर्विकया यियासुभिः गणैः अविच्छेदनिरुद्धम् आकुलाकुलं वनं निरुच्छ्वासम् इव आबभौ ।। ३२ ।।

सुगेष्विति ।। सुखेन दुःखेन च गच्छन्त्येष्विति सुगेषु सुगमेषु दुर्गेषु दुर्गमेषु च । समविषमदेशेष्वित्यर्थः । सुदुरोरधिकरणार्थे डो वक्तव्यः । अत एव टिलोपः । तुल्यविक्रमैर्लाघवात्समसंचारैः जवाद्वेगात् । अहंपूर्विकयाऽहमहमिकया । 'अहंपूर्वमहंपूर्व मित्यहंपूर्विका स्त्रियाम्' इत्यमरः । यियासुभिर्यातुमिच्छुभिः । यातेः सन्नन्तादुप्रत्ययः ।

गणैः प्रमथैः । मनोज्ञादित्वाद्वुञ्प्रत्ययः । पृषोदरादित्वाद्वृद्ध्यभावः । 'गणाः प्रमथसङ्घाघाः' इति वैजयन्ती । अविच्छेदेन निरुद्धमत एव, आकुलाकुलमाकुलप्रकारम् । 'प्रकारे गुणवचनस्य' इति द्विर्भावः । वनं निरुच्छ्वासं निरुद्धप्राणमिव । आबभौ इत्युत्प्रेक्षा ।। ३२ ।।

हिन्दी—सुगम अथवा दुर्गम—दोनों ही प्रकार की भूमि पर एक समान चलने वाले, वेग के साथ, मैं पहले चलूँ, मैं पहले चलूँ, इस प्रकार की प्रतिस्पर्द्धा से भरे हुए आक्रमणकारी प्रमथ गणों से वह वन निरन्तर अवरुद्ध होकर इस प्रकार से अत्यन्त आकुल हो गया मानों उसका दम घुट-सा रहा हो ।। ३२ ।।

विमर्श—यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ।

तिरोहितश्वभ्रनिकुञ्जरोधसः समश्नुवानाः सहसातिरिक्तताम् ।
किरातसैन्यैरपिधाय रेचिता भुवः क्षणं निम्नतयेव भेजिरे ।। ३३ ।।

अन्वयः—किरातसैन्यैः तिरोहितश्वभ्रनिकुञ्जरोधसः भुवः सहसातिरिक्तताम् समश्नुवानाः अपिधाय रेचितां क्षणं निम्नतया भेजिरे इव ।। ३३ ।।

तिरोहितेति ।। किरातसैन्यैस्तिरोहितानि छन्नानि श्वभ्रनिकुञ्जरोधांसि गर्तकुञ्जतटानि यासां ताः । अत एव भुवः । प्रदेशाः सहसाऽतिरिक्ततामुत्तानतां समश्नुवाना-आप्नुवत्यः । तथा, अपिधायाच्छाद्य रेचिता रिक्तीकृता मुक्ताः क्षणं निम्नतया गाम्भीर्येण भेजिर इव प्राप्ता इवेत्युत्प्रेक्षा । सैन्यैर्या भुवो व्याप्तास्ता उत्तामाः प्रतीयन्ते । तैर्मुक्तास्ता एव निम्नाः प्रतीयन्त इत्यर्थः ।। ३३ ।।

हिन्दी—किरातवाहिनी से उस पर्वतीय भूमि के गड्ढे, लताकुञ्ज और तटप्रदेश सब व्याप्त हो गये थे । वह शीघ्र ही अतिरिक्तता को प्राप्त हो जाती थी अर्थात् उभरी-सी दिखाई पड़ने लगती थी, किन्तु फिर तुरन्त ही सेना के आगे बढ़ जाने पर जब वह रिक्त हो जाती थी तब मानों गंभीर होकर नीची दिखलाई पड़ने लगती थी ।। ३३ ।।

विमर्श—यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ।

पृथूरुपर्यस्तबृहल्लताततिर्जवानिलाघूर्णितशालचन्दना ।
गणाधिपानां परितः प्रसारिणी वनान्यवाञ्चीव चकार संहतिः ।। ३४ ।।

अन्वयः—पृथूरुपर्यस्तवृहल्लताततिर्जवानिलाघूर्णितशालचंदना परितः प्रसारिणा गणाधिपानां संहतिः वनानि अवाञ्चि इव चकार ।। ३४ ।।

पृथ्विति ।। पृथुभिर्विशालैरूरुभिः सक्थिभिः पर्यस्ताः क्षिप्ता बृहत्यो लतातत-तयो यया सा जवानिलेन वेगमारुतेनाऽऽघूर्णिता भ्रामिताः शालाः सर्जतरवश्चन्दनानि च यया सा । 'प्राकारवृक्षयोः सालैः शालः सर्जतरुः स्मृतः' इति शाश्वतः । परितः सर्वत्र प्रसारिणी प्रसरणशीला गणाधिपानां संहतिः समूहो वनान्यवाञ्चि न्युब्जानीव

चकारेत्युत्प्रेक्षा । अवाञ्चत्यधोमुखीभवति । अवपूर्वादञ्चतेः क्विप् । 'स्यादवाङप्यधो-मुखः' इत्यमरः ।। ३४ ।।

हिन्दी—अपनी विशाल जङ्घाओं से लताओं के गहन जालों को नष्ट-भ्रष्ट करती हुई तथा अपने वेग की वायु से शाल एवं चन्दन के वृक्षों को झकझोरती हुई, चारों ओर फैली हुई प्रमथों की वह सेना मानों सम्पूर्ण वन प्रदेश को अधोमुख-सा करने लगी थी ।। ३४ ।।

विमर्श—उत्प्रेक्षा अलङ्कार

अथाष्टभिः श्लोकैरर्जुनं विशेषयन् गणानां तदभियोगमाह—

ततः सदर्पं प्रतनुं तपस्यया मदस्रुतिक्षाममिवैकवारणम् ।
परिज्वलन्तं निधनाय भूभृतां दहन्तमाशा इव जातवेदसम् ।। ३५ ।।

तत इत्यादि । ततः सदर्पं सगर्वं सान्तःसारं तपस्यया तपश्चर्यया । तपस्यतेः क्यजन्तात्स्त्रियामप्रत्यये टाप् । प्रतनु कृशमत एव मदस्रुत्या मदक्षरणेन क्षामं कृशम् । 'क्षायो मः' इति निष्ठातकारस्य मकारः । एकवारणमेकाकिनं गजमिव स्थितमित्युपमा । पुनः । भूभृतां राज्ञां निधनाय नाशाय परिज्वलन्तं तेजस्विनमत एव, आशा दिशो दहन्तं जातवेदसमग्निमिव स्थितमित्युपमालङ्कारः । 'कृपीटयोनिर्ज्वलनो जातवेदास्त-नूनपात्' इत्यमरः ।। ३५ ।।

अनादरोपान्तधृतैकसायकं जयेऽनुकूले सुहृदीव सस्पृहम् ।
शनैरपूर्णप्रतिकारपेलवे निवेशयन्तं नयने बलोदधौ ।। ३६ ।।

अनादरेति ।। पुनश्च, अनादरेणावगणनया उपात्तो निषङ्गादुद्धृतो धृतश्चैकः सायको येन तं, तथाऽनुकूले सुहृदीव जये सस्पृहम् । जयमिच्छन्तमित्यर्थः । पुनश्च, अपूर्णो न्यूनः प्रतिकारो बाणाहरणप्रत्यर्पणरूपो यस्य सः । अत एव पेलवो लघु-स्तस्मिन् अपूर्णप्रतिकारपेलवे बलोदधौ सेनासमुद्रे शनैरसंभ्रमेण नयने दृष्टी निवेश-यन्तमिति वीरस्वभावोक्तिः बलमुदधिरिवेत्युपमितसमासः । 'पेषंवासवाहनधिषु च' इत्युदकस्योदादेशः ।। ३६ ।।

निषण्णमापत्प्रतिकारकारणे शरासने धैर्य इवानपायिनी ।
अलङ्घनीयं प्रकृतावपि स्थितं निवातनिष्कम्पमिवापगापतिम् ।। ३७ ।।

निषण्णमिति ।। पुनश्च, आपदां प्रतिकारस्य कारणे साधनेऽनपायिनि स्थिरे एवं भूते शरासने धैर्य इव निषण्णं स्थितं प्रकृतौ स्वभावे स्थितमपि । निर्विकारमपीत्यर्थः । अत एव, अलङ्घनीयमनतिक्रमणीयमत एव निवातनिष्कम्पं वाताभावान्निश्चलम् । 'निवातावाश्रयावातौ' इत्यमरः । आपगापतिं समुद्रमिव स्थितम् ।। ३७ ।।

उपेयुषीं बिभ्रतमन्तकद्युतिं वधाददूरे पतितस्यदंष्ट्रिणः ।
पुरः समावेशितसत्पशुं द्विजैः पतिं पशूनामिव हूतमध्वरे ।। ३८ ।।

उपेयुषीमिति ।। पुनश्च, अदूरे समीपे पतितस्य दंष्ट्रिणो वराहस्य । व्रीह्यादित्वादिनिप्रत्ययः । वधाद्धेतोः उपेयुषीं प्राप्ताम्, अन्तकस्येव यमस्येव द्युतिस्तां बिभ्रतं धारयन्तम् । तथा च द्विजैर्ब्राह्मणैः । अध्वरे यज्ञे । 'यज्ञः सवोऽध्वरो यागः' इत्यमरः । हूतमाहूतं पुरोऽग्रे समावेशितः स्थापितः सत्पशुर्यज्ञीयपशुर्यस्य तम् । पशूनां पतिं रुद्रमिव स्थितम् ।। ३८ ।।

निजेन नीतं विजितान्यगौरवं गभीरतां धैर्यगुणेन भूयसा ।
वनोदयेनेव घनोरुवीरुधा समन्धकारीकृतमुत्तमाचलम् ।। ३९ ।।

निजेनेति । पुनश्च, निजेन नैसर्गिकेण भूयसा बहुलेन धैर्यमेवं गुणस्तेन विजितमन्येषां गौरवं गाम्भीर्यं यस्मिन्कर्मणि तथा गभीरतां दुरवगाहत्वं नीतम् । अत एव घनाः सान्द्रा उरवश्च महत्यो वीरुधो लताश्च यस्मिंस्तेन घनोरुवीरुधा वनोदयेन अरण्यप्रादुर्भावेन समन्धकारीकृतं दुरवगाहीकृतम्, उत्तमाचलमिव स्थितम् । समन्ततोऽन्धकारो यस्य स इति विग्रहः ।। ३९ ।।

महर्षभस्कन्धमनूनकन्धरं बृहच्छिलावप्रघनेन वक्षसा ।
समुज्जिहीर्षुं जगतीं महाभरां महावराहं महतोऽर्णवादिव ।। ४० ।।

महर्षभेति ।। महर्षभस्य महावृषभस्य स्कन्ध इव स्कन्धावंसौ यस्य तम् । उपमानपूर्वपदत्वादुत्तरस्कन्धलोपः । 'ऋषभो वृषभो वृषः' इत्यमरः । 'स्कन्धो भुजशिरोंसोऽस्त्री' इत्यमरः । अनूनकन्धरं स्थूलग्रीवम् । 'अथ ग्रीवायां शिरोधिः कन्धरेत्यपि' इत्यमरः । बृहच्छिलावप्रं महाशिलातटं तद्वत् घनेन कठिनेन वक्षसा उपलक्षितम् । महाभरां दुष्टैरतिभारवतीं जगतीं महीं समुज्जिहीर्षुं दुष्टराजकार्णवात् समुद्धर्तुमिच्छुम्, अत एव महतोऽर्णवाज्जगतीं समुज्जिहीर्षुमुक्तविशेषणविशिष्टं च महावराहमिव स्थितम् । अर्थसाधर्म्यादियमुपमा न श्लेषः, शब्दमात्रसाधर्म्येण तस्य विधानादिति रहस्यम् ।। ४० ।।

हरिन्मणिश्याममुदग्रविग्रहं प्रकाशमानं परिभूय देहिनः ।
मनुष्यभावे पुरुषं पुरातनं स्थितं जलादर्श इवांशुमालिनम् ।। ४१ ।।

हरिदिति ।। पुनश्च, हरिन्मणिश्यामं मरकतमणिश्यामलम् । उदग्रविग्रहमुदारमूर्तिं देहिनः सत्त्वान् परिभूय तिरस्कृत्य प्रकाशमानम् । जलमेवाऽऽदर्शो मुकुरस्तस्मिन्, अंशुमालिनं सूर्यमिव । मनुष्यभावे मनुष्यरूपे स्थितं पुरातनं पुरुषम् । यो बदरीतपो वननिवासी नारायणसहचरो नरो नाम स एवायमित्यर्थः ।। ४१ ।।

गुरुक्रियारम्भफलैरलङ्कृतं गतिं प्रतापस्य जगत्प्रमाथिनः ।
गणाः समासेदुरनीलवाजिनं तपात्यये तोयघना घना इव ।। ४२ ।।

गुर्विति । गुरुभिः क्रियारम्भाणां फलैरलङ्कृतम् । सफलकर्मारम्भमित्यर्थः । जगत्प्रमाथिनो जगद्विजयिनः प्रतापस्य तेजसो गतिं स्थानम् । अतोऽस्य बहूनामेक-

लक्ष्यत्वं च युज्यत इति संदर्भाभिप्राय: । पूर्वोक्तविशेषणविशिष्टम्, अनीलवाजिनं श्वेताश्यवमर्जुनं गणा: प्रमथादय: तपात्यये तोयघनास्तोयभरिता: । वार्षिका इत्यर्थ:। घना मेघा इव । महाचलमिति शेष: । समासेदु: । अवापुरित्यर्थ: । कुलकम् ।। ४२ ।।

अन्वय:—तत: सदर्प तपस्यया प्रतनुं मदस्रुतिक्षामम् एकवारणम् इव भूभृतां निधनाय परिज्वलंतम् आशा: दहन्तम् जातवेदसम् इव । अनादरोपात्तधृतैकसायकम् अनुकूले सुहृदि इव जये सस्पृहम्. अपूर्णप्रतिकारपेलवे बलोदधौ शनै: नयने निवेशयं-तम् । आपत्प्रतिकारकारणे अनपायिनि शरासने धैर्य इव निषण्णं प्रकृतौ स्थितम् अपि अलङ्घनीयं निवातनिष्कम्पम् अपगापतिम् इव । अदूरे पतितस्य दंष्ट्रिण: वधात् उपेयुषीं अन्तकद्युति बिभ्रन्तम् द्विजै: अध्वरे हूतम् पुर: समावेशितसत्पशुं पशूनाम् पतिम् इव । निजेन भूयसा धैर्यगुणेन विजितान्यगौरवं तथा गभीरतां नीतम् घनोरुवीरुधा वनोदयेन समन्धकारीकृतम् उत्तमाचलम् इव । महर्षभस्कंधम् अनूनकंधरम् वृहच्छिलाव-प्रघनेन वक्षसा महाभरां जगता समुज्जिहीर्षुं महत: अर्णवात् महावराहम् इव । हरि-न्मणिश्यामम् उदग्रविग्रहम् देहिन: परिभूय प्रकाशमानं जलादर्शे अंशुमालिनम् इव मनुष्यभावे स्थितं पुरातनं पुरुषम्। गुरुक्रियारम्भफलै: अलङ्कृतं जात्प्रमाथिन: प्रतापस्य गति अनीलवाजिनं गणा: तपात्यये तोयघना: घना इव समासेदु: ।। ३५-४२ ।।

हिन्दी—तदनन्तर स्वाभिमान से भरे हुए, कठोर तपस्या से दुर्बल होने के कारण मदजल के क्षरण से दुर्बल, एकाकी गजराज की भाँति एवं अपने शत्रु राजाओं के विनाश के लिए परम तेज से युक्त होने के कारण दिशाओं को जलाते हुये अग्नि के समान (अर्जुन के समीप वे प्रमथ गण पहुँचे ।

आगे के सभी विशेषण अर्जुन के लिए ही आए हैं—) अर्जुन ने बड़ी उपेक्षा से अपने तरकस से केवल एक बाण निकाल कर हाथ में लिया था, अनुकूल मित्र की भाँति अपनी विजय में उन्हें अडिग विश्वास था, बाण के न वापस करने से प्रतिकार के लिए क्षुब्ध उस सैन्य समुद्र की ओर उन्होंने धीरे से (उपेक्षा के साथ) अपनी आँखें फेरीं । उन्होंने आपत्तियों को दूर करने में एक मात्र साधनभूत अपने सुदृढ़ गाण्डीव धनुष का अपने सुदृढ़ धैर्य के समान सहज भाव से अवलम्बन लिया । यद्यपि वह अपनी सहज स्थिति में थे तथापि अलङ्घनीय एवं वायु के अभाव से निष्कम्प समुद्र के समान दिखाई पड़ रहे थे । अपने से थोड़ी ही दूर पर गिरे हुए वराह के वध के कारण वह अन्तक अर्थात् मृत्यु के समान भीषण कान्ति धारण कर रहे थे, उस समय उनकी शोभा यज्ञादि में ब्राह्मणों द्वारा आमंत्रित साक्षात् महाकाल रुद्र के समान थी, जिनके समक्ष यज्ञीय पशु पड़ा हो । अपने महान् धैर्य रूपी गुण से अन्य लोगों के गौरव को जीतकर वे अत्यन्त गम्भीर हो गए थे । इसीलिए उस समय वह अत्यन्त सघन एवं चारों ओर विस्तृत लतावितानों से व्याप्त एक नूतन वन के प्रादुर्भाव के कारण चारों ओर से अंधकाराच्छन्न होकर दुर्गम महान् पर्वत के समान सुशोभित हो रहे थे । उनके विशाल स्कंध महान् वृषभ के समान थे । उनकी ग्रीवा अत्यन्त स्थूल थी । उनका वक्षस्थल विशाल पत्थर की चट्टान के समान कठोर

था । इस प्रकार से अत्यन्त भार से युक्त इस पृथ्वी का उद्धार करने की इच्छा से वह क्षण महान् समुद्र में विराजमान महावराह के समान दिखाई पड़ रहे थे । उनके शरीर की आभा मरकतमणि के समान श्यामल थी, उनकी उदार मूर्ति समस्त प्राणियों को तिरस्कृत करके अत्यन्त प्रकाशमान थी । जल-रूप दर्पण में चमकते हुए अंशुमाली के समान मनुष्य योनि में स्थित वह बदरीवन निवासी पुराण पुरुष नारायण के सहचर नर नामक देव अत्यन्त सुशोभित हो रहे थे । वे अपनी सुकृति के महान् फलों से विभूषित थे और विश्वविजयी तेज के आश्रय थे । ऐसे पूर्वोक्त विशेषणों से युक्त महाबली अर्जुन के समीप वे (किरात वेशधारी) शिव के प्रमथ गण इस प्रकार से पहुँचे जिस प्रकार से ग्रीष्म के अन्त में वर्षाकालिक मेघ गण पर्वत के समीप पहुँचते हैं ।। ३५-४२ ।।

विमर्श—प्रथम श्लोक में उपमा अलङ्कार है, द्वितीय में स्वभावोक्ति है, छठे श्लोक में उपमा अलङ्कार है । आठवें में भी उपमा अलङ्कार है ।

यथास्वमांशसितविक्रमाः पुरा मुनिप्रभावक्षततेजसः परे ।
ययुः क्षणादप्रतिपत्तिमूढतां महानुभावः प्रतिहन्ति पौरुषम् ।। ४३ ।।

अन्वयः—पुरा यथास्वम् आशंसितविक्रमाः परे मुनिप्रभावक्षततेजसः क्षणात् अप्रतिपत्तिमूढतां ययुः । महानुभावः पौरुषम् प्रतिहन्ति ।। ४३ ।।

यथास्वमिति ।। पुरा पूर्वम् । स्वं स्वमनतिक्रम्य यथास्वम्, अहमेवैनं जेष्यामीति आशंसिताः काङ्क्षिताः कथिता वा विक्रमा यैस्ते परे शत्रवो मुनिप्रभवात्क्षततेजसो हतप्रभावाः सन्तः क्षणादप्रतिपत्तिमूढतां मोहान्धतां ययुः । तथा हि—महानुभावोऽतिप्रतापः पौरुषं पुरुषस्य चेष्टितं प्रतिहन्ति नाशयति ।। ४३ ।।

हिन्दी—पहले तो प्रत्येक प्रमर्थ सैनिक को यह विश्वास था कि मैं पहुँचते ही अर्जुन को जीत लूँगा किन्तु बाद में उस तपस्वी के प्रभाव से उनका तेज नष्ट हो गया । वे क्षण भर में ही किकर्तव्यविमूढ़ हो गए । सच है, अत्यन्त प्रतापी मनुष्य दूसरों की चेष्टाओं को व्यर्थ बना देता है ।। ४३ ।।

ततः प्रजह्रे सममेव तत्र तैरपेक्षितान्योन्यबलोपपत्तिभिः ।
महोदयानामपि सङ्घवृत्तितां सहायसाध्याः प्रदिशन्ति सिद्धयः ।। ४४ ।।

अन्वयः—ततः अपेक्षितान्योन्यबलोपपत्तिभिः तैः तत्र समम् एव प्रजह्रे—सहायसाध्याः सिद्धयः महोदयानाम् अपि सङ्घवृत्तितां प्रदिशन्ति ।। ४४ ।।

तत इति ।। तत एकैकस्याशक्तौ । अपेक्षिता वाञ्छिताऽन्योन्यबलोपपत्तिरन्योन्यशक्त्यवष्टम्भो यैः । तैः प्रमथैः । तत्रार्जुने । क्रियाधारत्वात्सप्तमी । समं युगपदे प्रजहे प्रहृतम् । भावे लिट् । तथा हि—सहायसाध्याः सिद्धयः कार्यसिद्धयो महोदयानामपि महानुभावानामपि । सङ्घेन वृत्तिर्व्यापारो येषां तेषां भावस्तत्ता तां

सङ्घवृत्तितां संभूयकारितां प्रदिशन्ति । अतो गणनामपि संभूयकारित्वं न दोष इति भाव: ॥ ४४ ॥

हिन्दी—तदनन्तर वे प्रमथगण परस्पर एक दूसरे की सहायता पाकर दृढ़बल हो एक साथ ही अर्जुन पर प्रहार करने लगे । कार्य की सिद्धियाँ सर्वदा सहायक सामग्री की अपेक्षा रखती हैं अत: वे महान् लोगों को भी सङ्घ-वृत्ति का आश्रय लेने की प्रेरणा देती हैं ॥ ४४ ॥

किरातसैन्यादुरुचापनोदिता: समं समुत्पेतुरुपात्तरंहस: ।
महावनादुन्मनस: खगा इव प्रवृत्तपत्रध्वनय: शिलीमुखा: ॥ ४५ ॥

अन्वय:—उरुचापनोदिता: उपात्तरंहस: प्रवृत्तपत्रध्वनय: शिलीमुखा: महावनात् उन्मनस: खगा: इव किरातसैन्यात् समं समुत्पेतु: ॥ ४५ ॥

किरातेति ॥ उरुभिर्बृहद्भिश्चापैर्नोदिता: प्रक्षिप्ता उपात्तरंहस: प्राप्तवेगा: प्रवृत्त-पत्रध्वनय: सञ्जातपक्षस्वना: शिलीमुखा बाणा: । महावनादुन्मनस: क्वापि गन्तु-मुत्सुका: । तथा, उक्तविशेषणविशिष्टाश्च खगा: पक्षिण इव । किरातसैन्यात् समं समन्तत: समुत्पेतु: ॥ ४५ ॥

हिन्दी—प्रमथों के विशाल धनुषों से चलाये गये वेगशाली बाणवृन्द दोनों पंखों से सरसर ध्वनि करते हुए किरातों की सेना से इस प्रकार से एक साथ ही चल पड़े जैसे किसी महावन से कहीं अत्यत्र जाने के इच्छुक पक्षियों के समूह चल पड़ते हैं ॥ ४५ ॥

गभीररन्ध्रेषु भृशं महीभृत: प्रतिस्वनैरुन्नमितेन सानुषु ।
धनुर्निनादेन जवादुपेयुषा विभिद्यमाना इव दध्वनुर्दिश: ॥ ४६ ॥

अन्वय:—गभीररंध्रेषु महीभृत: सानुषु प्रतिस्वनै: भृशं उन्नमितेन जवात् उपेयुषा धनुर्निनादेन दिश: विभिद्यमान: इव दध्वनु: ॥ ४६ ॥

गभीरेति ॥ गभीररन्ध्रेषु गम्भीरगह्वरेषु महीमृत: सानुषु ये प्रतिस्वनास्तैर्भृश-मुन्नमितेनोत्थापितेन दीर्घोकृतेन जवादुपेयुषा प्राप्तवता धनुषो निनादेन दिशो विभिद्य-माना विदीर्यमाणा इव दध्वनुर्ध्वनिं चक्रु: ॥ ४६ ॥

हिन्दी—अत्यन्त गम्भीर गुफाओं वाले पर्वत के शिखरों की प्रतिध्वनि से अत्यन्त वृद्धि को प्राप्त, वेग से छूटते हुए धनुष के टङ्कारों से दिशाएँ मानों विदीर्ण होती हुई गंभीर ध्वनि करने लगीं ॥ ४६ ॥

विधूनयन्ती गहनानि भूरुहां तिरोहितोपान्तनभोदिगन्तरा ।
महीयसी वृष्टिरिवानिलेरिता रवं वितेने गणमार्गणावलि: ॥ ४७ ॥

अन्वय:—भूरुहां गहनानि विधूनयंती तिरोहितोपान्तनभोदिगंतरा गणमार्गणा-वलि: अनिलेरिता महीयसी वृष्टि: इव रवं वितेने ॥ ४७ ॥

विधूनयन्तीति ।। भूरुहां गहनानि वनानि । 'अट्व्यरण्यं विपिनं गहनं काननं वनम्' इत्यमरः । विधूनयन्ती कम्पयन्ती तिरोहितानी छादितानि उपान्तानि प्रान्तानि नभोऽन्तरिक्षं दिगन्तराणि च यया सा । गणमार्गणावलिः प्रमथशरसंहतिः । अनिलेन वायुना । ईरिता प्रेरिता । महीयसी वृष्टिरिव रवं वितेने विस्तारयामास ।। ४७ ।।

हिन्दी—वृक्षों के वनों को कँपाती हुई एवं चारों ओर से आकाश और दिशाओं को आच्छादित करती हुई प्रमथगणों की वे बाणपङ्क्तियाँ वायु से प्रेरित मूसलाधार वृष्टि से समान घनघोर शब्द करने लगीं ।। ४७ ।।

त्रयीमृतूनामनिलाशिनः सतः प्रयाति पोषं वपुषि प्रहृष्यतः ।
रणाय जिष्णोर्विदूषेव सत्वरं घनत्वमीये शिथिलेन वर्मणा ।। ४८ ।।

अन्वयः—ऋतूनाम् त्रयीं अनिलाशिनः सतः रणाय प्रहृष्यतः जिष्णोः वपुषि पोषं प्रयाति शिथिलेन वर्मणा विदुषेव सत्वरं घनत्वम् ईये ।। ४८ ।।

त्रयीमिति ।। ऋतूनां त्रयीं षण्मासान् । कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे द्वितीया । अनिलाशिनो वायुभक्षकस्य । कृशस्येत्यर्थः । सतः, तथापि रणाय रणं कर्तुं प्रहृष्यत उत्सहमानस्य । 'क्रियार्थोप—' इत्यादिना चतुर्थी । जिष्णोरर्जुनस्य वपुषि पोषमुपचयं प्रयाति गच्छति सति शिथिलेन । प्रथममिति शेषः । वर्मणा कवचेन विदुषेवानन्तर-करणीयं जानतेवेत्युत्प्रेक्षा । सत्वरं शीघ्रं घनत्वं दृढत्वम् । ईये प्राप्तम्, अन्यथा-नुपयोगादिति भावः । इणः कर्मणि लिट् ।। ४८ ।।

हिन्दी—छः महीने से केवल वायु का आहार करने के कारण दुर्बलाङ्ग अर्जुन का शरीर जब रणोत्साह उत्पन्न होने पर पुष्ट हो गया तब पहले ढीला पड़ने वाला उनका कवच भी मानों उनकी इच्छा को जानते हुए शीघ्र ही सघन (कस) हो उठा ।। ४८ ।।

पतत्सु शस्त्रेषु वितत्य रोदसी समन्ततस्तस्य धनुर्दुधूषतः ।
सरोषमुल्केव पपात भीषणा बलेषु दृष्टिर्विनिपातशंसिनी ।। ४९ ।।

अन्वयः—रोदसी समन्ततः वितत्य पतत्सु शस्त्रेषु धनुः दुधूषतः तस्य भीषणा विनिपातशंसिनी दृष्टिः उल्का एव बलेषु सरोषं पपात ।। ४९ ।।

पतत्स्विति । शस्त्रेषु रोदसी द्यावापृथिव्यौ । 'द्यावापृथिव्यौ रोदस्यौ' इत्यमरः। समन्ततो वितत्य व्याप्य पतत्सु सत्सु धनुर्दुधूषतः कम्पितुमिच्छतः । आस्फालयत इत्यर्थः । धूञः सन्नन्ताच्छतृप्रत्ययः । 'स्वरतिसूतिसूयतिधूञदितो वा' इति विकल्पा-दिडभावः । तस्यार्जुनस्य सम्बन्धिनी । भीषयत इति भीषणा । नन्द्यादित्वाल्ल्युः । विनिपातशंसिनी विनाशसूचिका दृष्टिरुक्तविशेषणा उल्केव बलेषु सरोषं यथा तथा पपात ।। ४९ ।।

हिन्दी—पृथ्वी और आकाशमण्डल को चारों ओर से व्याप्त कर जब प्रमथों के बाण समूह चलने लगे तब अपने गाण्डीव नामक धनुष को प्रकम्पित करने के

इच्छुक अर्जुन ने अपनी अत्यन्त भयङ्कर, विनाश की सूचना देने वाली उल्का के समान दृष्टि प्रमथ सैनिकों पर डाली ।। ४९ ।।

दिशः समूहन्निव विक्षिपन्निव प्रभां रवेराकुलयन्निवानिलम् ।
मुनिश्चचाल क्षयकालदारुणः क्षितिं सशैलां चलयन्निवेषुभिः ।। ५० ।।

अन्वयः—क्षयकालदारुणः मुनिः इषुभिः दिशः समूहन इव रवेः प्रभां विक्षिपन् इव अनिलम् आकुलयन् इव सशैलां क्षितिं चलयन् इव चचाल ।। ५० ।।

दिश इति ।। क्षयकालः कल्यान्तकाल इव । 'संवर्तः प्रलयः कल्पः क्षयः कल्यान्त इत्यापि' इत्यमरः । दारुणो रौद्रो मुनिरर्जुनः । इषुभिर्बाणैः । दिशः समूहन्निव एकत्र समाहरन्निव । अन्यथा तासां पारदर्शनं न स्यादिति भावः । रवेः प्रभां विक्षिपन्निव अधः प्रक्षिपन्निव । अन्यथा सा कथं न दृश्यत इति भावः । तथा, अनिलं वायुमाकुलयन्निषुभिरन्तराल आघूर्णयन्निव । तस्य तथा गतिविघातादिति भावः । सशैलां क्षितिं चलयन्निव कम्पयन्विव । तथा संक्षाभादिति भावः । चचाल गतिमकरोत् । सर्वत्र 'इव' शब्द उत्प्रेक्षायाम् ।। ५० ।।

हिन्दी—प्रलय काल के समान भयङ्कर तपस्वी अर्जुन (उस समय) अपने बाणों से मानों दिशाओं को एकत्र करते हुए, सूर्य की किरणों को नीचे फेंकते हुए, वायु को व्याकुल करते हुए एवं पर्वतों समेत सम्पूर्ण धरती को विचलित करते हुए से चलाने लगे ।। ५० ।।

विमर्श—यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ।

विमुक्तमाशंसितशत्रुनिर्जयैरनेकमेकावसरं वनेचरैः ।
स निर्जघानायुधमन्तरा शरैः क्रियाफलं काल इवातिपातितः ।। ५१ ।।

अन्वयः—आशंसितशत्रुनिर्जयैः वनेचरै एकावसरः विमुक्तम् अनेकम् आयुधम् सः क्रियाफलम् अतिपातिः कालः इव अंतरा शरैः निर्जघान ।। ५१ ।।

विमुक्तमिति ।। अशंसितः काङ्क्षितः शत्रुनिर्जयो यैस्तैः । अहमहमिकया शत्रुं विजिगीषद्भिरित्यर्थः । वनेचरैरेकावसरं समकालम् । अत्यन्तसंयोगे द्वितीया । विमुक्तं प्रयुक्तमनेकं बहु आयुधम् । जातावेकवचनम् । सोऽर्जुनः क्रियाफलमतिपातितोऽतिक्रान्तः काल इव । अतिक्रान्तकालस्य कर्मणो निष्फलत्वादिति भावः । अन्तरा मध्ये शरैर्निर्जघान ।। ५१ ।।

हिन्दी—शत्रु को जीतने के आकांक्षी किरातों ने एक साथ ही जिन हथियारों को अर्जुन के ऊपर छोड़ा था उन्हें अर्जुन ने बीच ही में इस प्रकार से अपने बाणों से काट डाला जिस प्रकार से बिताया हुआ काल क्रिया के फल को नष्ट कर देता है ।

विमर्श—तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार से उपयुक्त अवसर बिता देने से क्रिया-फल नष्ट हो जाता है उसीं प्रकार से किरातों के हथियारों को अर्जुन ने अपने बाणों से बीच ही में काट डाला । यहाँ उपमा अलङ्कार है ।। ५१ ।।

गतैः परेषामविभावनीयतां निवारयद्भिर्विपदं विदूरगैः ।
भृशं बभूवोपचितो बृहत्फलैः शरैरुपायैरिव पाण्डुनन्दनः ॥ ५२ ॥

अन्वयः—पाण्डुनन्दनः परेषां अविभावनीयतां गतैः विपदं निवारयद्भिः विदूरगैः बृहत्फलैः शरैः उपायैः इव भृशं उपचितः बभूव ॥ ५२ ॥

गतैरिति ॥ पाण्डुनन्दनोऽर्जुनः परेषामविभावनीयतां लघुप्रयोगात्, अन्यत्र,—गूढप्रयोगाच्च अदृश्यतामप्रकाश्यतां च गतैर्विपदमनर्थं निवारयद्भिर्विदूरगैर्दूरलक्ष्यगैः परमण्डलप्रविष्टैश्च बृहत्फलैरायताग्रैर्महालाभश्च । 'फलं बाणाग्रलाभयोः' इति शाश्वतः । शरैरुपायैः समादिभिरिव भृशमुपचितः प्रवृद्धो बभूव । अत्र शब्दमात्रसाधर्म्यात् प्रकृताप्रकृत श्लेषः । उपमेति केचित् ॥ ५२ ॥

हिन्दी—पाण्डुपुत्र अर्जुन दूसरों द्वारा न देखे जा सकने वाले विपत्तियों को दूर करने वाले, दूरतक जाने वाले, विशाल फलों से युक्त अपने बाणों द्वारा (दूसरों को न दिखाई पड़ने वाले, विपत्तियों का प्रतीकार करने में समर्थ, दूरगामी, तथा सुंदर एवं विपुल परिणामदायी) साम-दामादि उपायों के समान अत्यन्त समृद्ध हो गये ।

विमर्श—यहाँ श्लेष अलङ्कार है । किन्हीं-किन्हीं के मत से उपमा अलङ्कार है ॥ ५२ ॥

दिवः पृथिव्याः ककुभां नु मण्डलात्पतन्ति बिम्बादुत तिग्मतेजसः ।
सकृद्विकृष्टादथ कार्मुकान्मुनेः शराः शरीरा दिति तेऽभिमेनिरे ॥ ५३ ॥

अन्वयः—अथ शराः दिवः पृथिव्या ककुभां मण्डलात् नु उत तिग्मतेजसः बिम्बात् सकृद्विकृष्टात् कार्मुकात् मुनेः शरीरात् पतन्ति इति ते अभिमेनिरे ॥ ५३ ॥

दिव इति ॥ शरा दिवोऽन्तरिक्षात् पृथिव्या भूगोलाद्वा ककुभां मण्डलान्नु दिशां मण्डलाद्वा, उत तिग्मतेजसोऽर्कस्य बिम्बात् मण्डलाद्वा, अथवा सकृद्विकृष्टात् कार्मुकाद्वा, मुनेः शरीराद्वा पतन्तीति ते गणा अभिमेनिरे ज्ञातवन्तः । अन्यथा कथममी विश्वमन्तर्धाय शराः संभावयन्त इति भावः । अत्र सर्वतः शरसंपातदर्शनात् संभावनया पृथिव्यादीनामन्यतमीस्यापादानत्वोत्प्रेक्षा । सा च प्रतीयमाना व्यञ्जकाप्रयोगात् 'नु' शब्दादयस्तु संशये ॥ ५३ ॥

हिन्दी—तदनंतर अर्जुन के उन बाणों को देखकर उस समय प्रमथगणों ने यह समझा कि ये शरसमूह मानों आकाशमण्डल से, या पृथ्वीमण्डल से, या दिङ्मण्डल से, अथवा सूर्यमण्डल से, अथवा एक बार खींचे गए इस तपस्वी के धनुष से, अथवा इसके शरीर से जाने कहाँ से इस प्रकार निकल रहे हैं ॥ ५३ ॥

विमर्श—यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ।

गणाधिपानामविधाय निर्गतैः परासुतां मर्मविदारणैरपि ।
जवादतीये हिमवानधोमुखैः कृतापराधैरिव तस्य तस्य पत्रिभिः ॥ ५४ ॥

अन्वयः—मर्मविदारणैः अपि गणाधिपानां परासुताम् अविधाय निर्गतैः तस्य पत्रिभिः कृतापराधैः इव अधोमुखैः जवात् हिमवान् अतीये ।। ५४ ।।

गणेति ।। मर्मविदारणैरपि । मर्मस्थानान्येव विदारयद्भिरपीत्यर्थः । गणाधिपानां परासुतां मरणं अविधायाकृत्वा । निर्गतैः । तेषाममर्त्यत्वादिति भावः । तस्य मुनेः पत्रिभिः शरैः कृतापराधैरिव स्वामिकार्याकरणात् सापराधैरिवेत्युत्प्रेक्षा । अधोमुखैः सद्भिः जवाद्धिमवानतीयेऽतिचक्रमे । तत्र प्रविष्टमित्यर्थः। लज्जितस्य क्वचिन्निलयनमुचितमिति भावः ।। ५४ ।।

हिन्दी—मर्मस्थलों को विदीर्ण करके भी प्रमथगणों का प्राण-नाश न करके उनके शरीर से बाहर निकले हुए अर्जुन के शरसमूह मानों अपराधी की भाँति नीचे मुख किए हुए बड़े वेग के साथ हिमालय में प्रविष्ट हो गये ।। ५४ ।।

विमर्श—प्रमथगण तो अमर थे अतः उनका प्राण-हरण करना अर्जुन के अमोघ बाणों से भी संभव नहीं था । अतः अपने उद्देश्य में असफल उन बाणों को लज्जित होकर शिर नीचा करके कहीं छिप जाना ही उचित था । यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ।

द्विषां क्षतीर्याः प्रथमे शिलीमुखा विभिद्य देहावरणानि चक्रिरे ।
न तासु पेते विशिखैः पुनर्मुनेररुंतुदत्वं महतां ह्यगोचरः ।। ५५ ।।

अन्वयः—प्रथमे शिलीमुखाः द्विषां देहावरणानि विभिद्य याः क्षतीः चक्रिरे तासु पुनः मुनेः विशिखैः न पेते । हि अरुन्तुदत्वं महतां अगोचरः ।। ५५ ।।

द्विषामिति ।। प्रथमे । प्रथममुक्ता इत्यर्थः । शिलीमुखा मुनिशरा द्विषां देहावरणानि वर्माणि विभिद्य याः क्षतीः प्रहारान् चक्रिरे तासु क्षतिषु पुनः पश्चात्प्रयुक्तैर्मुनेर्विशिखैर्न पेते न पतितम् । पिष्टमेषणदोषापातादिति भावः । तथा हि— अरुंतुदत्वं पीडितपीडनं महतां सतामगोचरोऽविषयं हि । सन्तः पीडितपीडां न कुर्वन्तीत्यर्थः । ' न हन्याद्व्यसनप्राप्तं नार्तं नातिपरिक्षतम्' इति निषेधस्मरणादिति भावः । अरुर्व्रणं तुदतीति अरुंतुदः । 'व्रणोऽस्त्रियामीर्मम अरुः' इत्यमरः । 'विध्वरुषोस्तुदः' इति खश्प्रत्ययः । 'अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्' इति मुमागमः ।। ५५ ।।

हिन्दी—अर्जुन के प्रथम बार छोड़े गये बाणों ने शत्रुओं के कवचों का भेदन कर उनके शरीरों पर जो घाव किए थे, उन पर दूसरी बार छोड़े गये उनके बाणों ने पुनः प्रहार नहीं किया । सच है, महान् लोग सताए हुए लोगों को नहीं सताते ।

विमर्श—यहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ।। ५५ ।।

समुज्झिता यावदराति निर्यती सहैव चापान्मुनिबाणसंहतिः।
प्रभा हिमांशोरिव पङ्कजावलिं निनाय सङ्कोचमुमापतेश्चमूम् ।। ५६ ।।

अन्वयः—यावदराति समुज्झिता चापात् सहैव निर्यती मुनिबाणसंहतिः उमापतेः चमूं हिमांशोः प्रभा पङ्कजावलिम् इव सङ्कोचं निनाय ।। ५६ ।।

समुज्झितेति।। यावन्तोऽरातयो यावदराति । 'यावदवधारणे' इत्यव्ययीभावः। यावदराति यथा तथा समुज्झिताऽरातिसमसंख्यया मुक्ता मुनिचापात्सह संभूय एव निर्यती निष्क्रामन्ती । तादृक् तस्य कौशलमिति भावः । यातेः शतरि ङीप् । मुनिबाणसंहतिरुमापतेश्चमूं हिमांशोः प्रभा पङ्कजावलिमिव सङ्कोचं निनाय प्रापयामास । दुहादिपाठान्नयतिर्द्विकर्मकः ।। ५६ ।।

हिन्दी—संख्या में जितने शत्रु थे, उतने ही छोड़े गए अर्जुन के बाणों ने गाण्डीव से एक साथ निकलते हुए भगवान् शङ्कर की उस किरात-सेना को इस प्रकार से संकुचित कर दिया जिस प्रकार से चन्द्रमा की किरणें पङ्कजों की पङ्क्तियों को संकुचित कर देती हैं ।। ५६ ।।

अजिह्ममोजिष्ठममोघमक्लमं क्रियासु बह्वीषु पृथङ्नियोजितम् ।
प्रसेहिरे सादयितुं न सादिताः शरौघमुत्साहमिवास्य विद्विषः ।। ५७ ।।

अन्वयः—अजिह्मम् ओजिष्ठम् अमोघम् अक्लमम् बह्वीषु क्रियासु पृथङ् नियोजितम् अस्य शरौघम् उत्साहम् इव सादिताः विद्विषः सादयितुं न प्रसेहिरे ।

अजिह्ममिति ।। अजिह्मं स्वरूपतो गत्या वाऽवक्रम् । अन्यत्र तु—जिह्मस्थान-प्रवृत्तो न भवतीत्यजिह्मस्तम् । ओजिष्ठमोजस्विन सारवत्तमं तेजिष्ठं च । उभयत्रापि 'ओजस्वि' शब्दाद्विन्नन्तादिष्ठान् । 'विन्मतोर्लुक्' इति लुक् । टिलोपश्च । अमोघ-मवन्ध्यं अक्लमं निरन्तरव्यापारेऽप्यश्रान्तं वह्वीषु क्रियासु छेदनभेदनपातनादिकर्मसु पृथक् भेदेन नियोजितम् । कर्मानुगुण्येन विनियुक्तमित्यर्थः। अस्य मुनेः शरौघमुत्साह-मौत्सुक्यमिव । वीररसस्य स्थायिभूतं प्रयत्नविशेषमिवेत्यर्थः । सादिताः कर्षिता विद्विषः शत्रवः सादयितुं प्रतिकर्तुं न प्रसेहिरे न शेकुः । तस्योत्साहवदेव शरवर्षं दुर्धर्षमभूदिति भावः ।। ५७ ।।

हिन्दी—स्वरूप तथा गति में सीधे, तेजस्वी, व्यर्थ न होने वाले, निरंतर कार्यरत रहने पर भी न थकने वाले, मारने, काटने, गिराने आदि भिन्न-भिन्न व्यापारों में पृथक्-पृथक् प्रयुक्त अर्जुन के बाणों का, उनके (सरल, सीधे कार्यों में प्रयुक्त होने वाले, ओजस्वी, अव्यर्थ तथा निरंतर एक रूप में स्थिर रहने वाले भिन्न-भिन्न कार्यों में भिन्न-भिन्न रूप से) उत्साह के समान ही वे घायल शत्रु प्रतीकार करने में असमर्थ रहे ।। ५७ ।।

विमर्श—तात्पर्य यह है कि अर्जुन के उत्साह के समान ही उनके बाणों की वृष्टि भी दुर्धर्ष थी ।

शिवध्वजिन्यः प्रतियोधमग्रतः स्फुरन्तमुग्रेषुमयूखमालिनम् ।
तमेकदेशस्थमनेकदेशगा निदध्युरर्कं युगपत्प्रजा इव ।। ५८ ।।

अन्वयः—अनेकदेशगाः शिवध्वजिन्यः उग्रेषुमयूखमालिनम् एकदेशस्थं तम् अर्कं प्रजा इव युगपत् प्रतियोधम् अग्रतः स्फुरन्तम् निदध्युः ।। ५८ ।।

शिवेति ।। अनेकदेशगा नानादेशस्थाः शिवध्वजिन्यो हरसेनाः । उग्रेषवो मयूखा इवेत्युपमितसमासः ।अन्यत्र तु,—उग्रेषव इव मयूखा इति मयूरव्यंसकादित्वात्समासः । तेषां मालाऽस्यास्तीति तं उग्रेषव इव मयूखा इति मयूरव्यंसकादित्वात्समासः । तेषां मालाऽस्यास्तीति तं उग्रेषुमयूखमालिनम् । व्रीह्यादित्वादिनिः । एकदेशस्थमेकत्रैव स्थितं तं मुनिमर्कं प्रजा इव युगपत् प्रतियोधं योधं योधं प्रति । 'अव्ययं विभक्ति—' इत्यादिना प्रत्यर्थे वीप्सायामव्ययीभावः । अग्रतः स्फुरन्तं निदध्युर्ददृशुः । यथैकोऽर्क एकत्रैव स्थितोऽपि नानादेशस्थानामपि प्रतिपुरुषं ममैवाग्रे वर्तत इति युगपत् प्रतीयते तद्वद्बाणवर्षी मुनिरपि प्रतियोधं तथैव प्रत्यभादित्यर्थः ।

हिन्दी—अनेक स्थलों पर स्थित शिव की सेनाओं ने सूर्य की किरणों के समान प्रचण्ड बाण समूह की वृष्टि करने वाले एक ही स्थान पर स्थित अर्जुन को उसी प्रकार से पत्येक योद्धा के सामने फड़कते हुए देखा जिस प्रकार से अनेक स्थलों पर स्थित लोग अपने-अपने आगे ही किरण जाल से प्रदीप्त सूर्य को देखते हैं ।। ५८ ।।

विमर्श—यहाँ उपमा अलङ्कार है ।

मुनेः शरौघेण तदुग्ररंहसा बलं प्रकोपादिव विष्वगायता ।
विधूनितं भ्रान्तिमियाय सङ्गिनीं महानिलेनेव निदाघजं रजः ।। ५९ ।।

अन्वयः—प्रकोपात् इव विष्वक् आयता उग्ररंहसा मुनेः शरौघेण महानिलेन निदाघजं रजः इव विधूनितं तत् सङ्गिनीं भ्रान्तिम् इयाय ।। ५९ ।।

मुनेरिति ।। प्रकोपात् अमर्षादिव विष्वक् समन्तात् । आयताऽऽगच्छता, उग्ररंहसा तीव्रवेगेन मुनेः शरौघेणोक्तविशेषणेन । महानिलेन वात्यया निदाघजं ग्रीष्मोत्थंरज इव । विधूनितं व्याहतं तत् बलं प्रमथानां सैन्यं सङ्गिनीमनुबन्धिनीम् । अविच्छिन्नामिति यावत् । भ्रान्तिमनवस्थानम् । इयाय प्राप ।। ५९ ।।

हिन्दी—अत्यन्त क्रोध से मानों चारों ओर से आते हुए, तीव्र वेगयुक्त अर्जुन के बाणसमूह से आहत शिव की वह सेना इस प्रकार से चक्कर काटने लगी जिस प्रकार से अत्यन्त वेगशाली प्रचण्ड झंझावात से ग्रीष्म ऋतु की धूल विकम्पित होकर चक्कर काटने लगती है ।। ५९ ।।

{अर्जुन के इस प्रकार के रणकौशल को देखकर किरात-सेना अनेक प्रकार का तर्क-वितर्क करने लगीं—}

अथ त्रिभिर्विशेषकमाह—

तपोबलेनैव विधाय भूयसीस्तनूरदृश्याः स्विदिषून्निरस्यति ।
अमुष्य मायाविहतं निहन्ति नः प्रतीपमागत्य किमु स्वमायुधम् ।। ६० ।।

अन्वयः—एषः तपोबलेन भूयसीः अदृश्याः तनूः विधाय इषून् निरस्यति स्वित् अमुष्य मायाविहितं स्वम् आयुधम् प्रतीपम् आगत्य नः निहन्ति किम् ।। ६० ।।

तप इत्यादि ।। एष मुनिः । तपोबलने तपः सामर्थ्येन भूयसीर्बह्वीः । अदृश्यास्तनूरात्मनः शरीराणि विधाय सृष्ट्वा, इषूनिरस्यति स्वित् क्षिपति किम् । अथवा, अमुष्यास्य मुनेः । मायया विहतं प्रतिहतं स्वं स्वकीयमिव आयुधं प्रतीपं प्रतिकूलम् । आगत्य । प्रत्यावृत्येत्यर्थः । नोऽस्माकं निहन्ति किमु । 'जासिनिप्रहण–' इत्यादिसूत्रेण कर्माणि षष्ठी । शेषाविवक्षायां तु द्वितीया ।। ६० ।।

हिन्दी—यह तपस्वी अपने तबोबल से अनेक अदृश्य शरीर धारण करके इस प्रकार से बाणसमूह छोड़ रहा है अथवा इसकी माया के प्रभाव से हम लोगों के ही बाण प्रतिकूल होकर हमारे ऊपर आकर गिर रहे हैं ? क्या बात है (कुछ समझ में नहीं आ रही है ।) ? ।। ६० ।।

हृता गुणैरस्य भयेन वा मुनेस्तिरोहिताः स्वित्प्रहरन्ति देवताः ।
कथं न्वमी संततमस्य सायका भवन्त्यने के जलधेरिवोर्मयः ।। ६१ ।।

अन्वयः—अस्य मुनेः गुणैः हृताः भयेन वा देवताः तिरोहिताः प्रहरन्ति स्वित् अस्य अमी सायकाः जलधेः ऊर्मयः इव कथम् नु सन्ततम् अनेके भवन्ति ।। ६१ ।।

हृता इति ।। यद्वा,—अस्य मुनेर्गुणैः शान्त्यादिभिः हृता आकृष्टाः । वशीकृता इति यावत् । भयेन दरेण वा । भयाद्बिभ्यत्य एवेत्यर्थः । देवतास्तिरोहिताः सत्य प्रहरन्ति स्वित् । तत्कुतः । अन्यथा, अस्य मुनेः । अमी सायका जलधेरूर्मय इव कथं नु संततमनेकेऽसंख्या भवन्ति । एतच्चोद्यमन्यसपक्षसंभवेन न संभवतीत्यर्थः । {'एक' शब्दस्यैकशेषे कृते एक इति रूपमिति केचित् । 'नु' शब्दस्त्वन्यार्थे} ।। ६१ ।।

हिन्दी—कहीं इस तपस्वी के शान्ति आदि गुणों के वशीभूत होकर या इससे भयभीत होकर देवता लोग ही तो प्रच्छन्न रूप में हम लोगों पर प्रहार नहीं कर रहे हैं ? क्योंकि यदि ऐसा न होता तो इस तपस्वी के ये बाणसमूह समुद्र की तरङ्गमाला के समान निरंतर असंख्य होते क्यों जा रहे हैं ? ।। ६१ ।।

जयेन कच्चिद्विरमेदयं रणाद्भवेदपि स्वस्ति चराचराय वा ।
तताप कीर्णा नृपसूनुमार्गणैरिति प्रतर्काकुलिता पताकिनी ।। ६२ ।।

अन्वयः—क्वचित् अयं रणात् जयेन विरमेत् अपि चराचराय स्वस्ति भवेत् इति प्रतर्काकुलिता नृपसूनुमार्गणैः कीर्णा पताकिनी ततापं ।। ६२ ।।

जयेनेति ।। कच्चिदयं रणाज्जयेन विरमेत् । अस्माञ्जित्वा कच्चिदयं युद्धमुपसंहरेदित्यर्थः । अपि चराचराय स्वस्ति भवेत् कच्चित् । अपि स्थावरजङ्गमं जगन्न विनश्येदित्यर्थः । 'अपि' शब्दः संभावनायाम् । प्रार्थनायां लिङ् । इति प्रतर्काकुलिताः पूर्वोक्ता ये पतर्कास्तैः आकुलिता विह्वला । अत्र सहेतुकं विशेषमाह—नृपसूनुमार्गणैरर्जुनबाणैः कीर्णा क्षिप्ता पताकिनी सेना । किरातपतेरिति शेषः । ततापं तापं प्राप ।। ६२ ।।

हिन्दी—यह तपस्वी हम लोगों को जीतकर भी रण से विरत होगा या नहीं ? चराचर जगत का कल्याण होगा या नहीं ?—इस प्रकार के वितर्कों में उलझी हुई राजपुत्र अर्जुन के बाणों से विदीर्ण किरात सेना संताप का अनुभव करती रही ॥ ६२ ॥

अमर्षिणा कृत्यमिव क्षमाश्रयं मदोद्धतेनेव हितं प्रियं वचः ।
बलीयसा तद्विधिनेव पौरुषं बलं निरस्तं न रराज जिष्णुना ॥ ६३ ॥

अन्वयः—अमर्षिणा क्षमाश्रयं कृत्यम् इव मदोद्धतेन हितं प्रियं वचः निरस्तम् इव बलीयसा विधिना पौरुषम् इव जिष्णुना बलं न रराज ॥ ६३ ॥

अमर्षिणेति ॥ अमर्षिणा क्रोधवता क्षमाश्रयं शान्तिसाध्यं कृत्यमिव । क्षमा-साध्यं हि कृत्यं सामर्षैर्निरस्यते, तच्च निरस्तं न शोभते । मदोद्धतेन पुंसा हितं प्रियं वचो निरस्तं तिरस्कृतमिव । यथा बलीयसा बलवत्तरेण विधिना दैवेन निरस्तं पौरुष-मिव । बलीयसा दैवेन प्रतिहतपुरुषव्यापारास्य निष्फलत्वादिति भावः । तथा जिष्णु-नाऽर्जुनेन निरस्तं क्षिप्तं बलं किरातसैन्यं न रराज । मालोपमा ॥ ६३ ॥

हिन्दी—क्रोधी पुरुष के द्वारा जिस प्रकार से क्षमासाध्य कार्य निष्फल हो जाता है, मदोद्धत गर्वीले पुरुष द्वारा जिस प्रकार हितकर और प्रिय वचन व्यर्थ हो जाता है और किया गया पुरुषार्थ जिस प्रकार से प्रबल दैव की प्रेरणा से व्यर्थ हो जाता है उसी प्रकार से अर्जुन द्वारा पराजित वह किरात-सेना निस्तेज और निरुद्यम हो गयी ॥ ६३ ॥

प्रतिदिशं प्लवगाधिपलक्ष्मणा विशिखसंहतितापितमूर्तिभिः ।
रविकरग्लपितैरिव वारिभिः शिवबलैः परिमण्डलता दधे ॥ ६४ ॥

अन्वयः—प्लवगाधिपलक्ष्मणा विशिखसंहतितापितमूर्तिभिः शिवबलैः रवि-करग्लपितैः वारिभिः इव प्रतिदिशं परिमण्डलता दधे ॥ ६४ ॥

प्रतिदिशमिति ॥ प्लवगानामधिपोऽधीशो लक्ष्मी यस्य तेन वानरचिह्नेन । 'कपिप्लवङ्गप्लवग—' इति, 'चिह्नं लक्ष्म च लक्षणम्' इति चामरः। अर्जुनेन विशिख-संहतितापितमूर्तिभिरिति । विशिखा बाणास्तेषां संहतयः समूहाः । 'स्त्रियां तु संहति-र्वृन्दम्' इत्यमरः । ताभिस्तापिताः पीडिता मूर्तयो देहा येषां तैस्तथाभूतैः । शर-निकरकर्तितकलेवरैरित्यर्थः। शिवबलैः प्रमथसैन्यैः कर्तृभिः, रविकरेण ग्लपितैः सूर्य-किरणशोषितैर्वारिभिरुदकैरिव प्रतिदिशं दिक्षु परिमण्डलता । परितश्चक्राकारमण्डल-तेति यावत् । दधेऽधारि प्रतिदिशं मण्डलाकारेण स्थितमित्यर्थः । धाञः कर्मणि लिट् । आतपतप्तं हि नीरं परिभ्रमति तद्वन्मुनिपीडितं सैन्यं बभ्रामेत्यर्थः । द्रुतविलम्बितं छन्दः—'द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ' इति लक्षणात् ॥ ६४ ॥

हिन्दी—कपिध्वज अर्जुन के बाण-समूहों से क्षत-विक्षत शरीर वाले शिव के सैनिकगण इस प्रकार से चारों ओर मण्डलाकार स्थित हो गए जिस प्रकार सूर्य की

किरणों से शोषित जल समूह मण्डलाकार होकर (बादल के रूप में) चारों ओर घूमने लगता है ।। ६४ ।।

विमर्श—यहाँ द्रुतविलम्बित छन्द है ।

प्रविततशरजालच्छन्नविश्वान्तराले
विधुवति धनुराविर्मण्डलं पाण्डुसूनौ ।
कथमपि जयलक्ष्मीर्भीतभीता
विहातुं विषमनयनसेनापक्षपातं विषेहे ।। ६५ ।।

इति भारविकृतौ महाकाव्ये किरातार्जुनीये चतुर्दशः सर्गः ।।१४ ।।

अन्वयः—प्रविततशरजालच्छन्नविश्वान्तराले पाण्डुसूनौ आविर्मडलं धनुः विधुवति भीतभीता जयलक्ष्मीः कथमपि विषमनयनसेनापक्षपातं विहातुम् विषेहे ।। ६५ ।।

प्रवितत्तेति ।। प्रविततानि विस्तृतानि यानि शरजालानि तैः छन्नमाच्छादितं विश्वान्तरालं येन तस्मिञ्छरसमूहपूरितब्रह्माण्डोदरे पाण्डुसूनौ अत एव आविर्मण्डलमाविर्भतमण्डलं धनुः । आविर्भूतं मण्डलं यस्य धनुष इति वृत्तौ भूतार्थस्यानुप्रवेशात् 'भूत' शब्दस्याप्रयोगः । विधुवति कम्पयत्यास्फालयति सति भीतभीतेव भीतप्रकारेव जयलक्ष्मीर्विजयश्रीः कथमपि केनचित्प्रकारेण । महता कष्टेन वा । विषमनयनसेनापक्षपातं शिवसैन्यानुरागं विहातुं त्यक्तुं विषेहे । शशाकेत्यर्थः । मालिनीवृत्तम् । लक्षणं तूक्तम् ।। ६५ ।।

इति श्रीमहामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितायां किरातार्जुनीयकाव्यव्याख्यायां घण्टापथसमाख्यायां चतुर्दशः सर्गः समाप्तः ।।१४ ।।

हिन्दी—पाण्डुपुत्र अर्जुन द्वारा अपने बाणों से विश्व-ब्रह्माण्ड को आच्छादित कर लेने पर एवं मण्डलाकार धनुष का बारम्बार आस्फालन करने पर मानों अत्यन्त डरी हुई विजय-श्री किसी प्रकार बड़ी कठिनाई से त्रिलोचन की सेना के पक्ष का परित्याग करने के लिए तैयार हो सकी ।। ६५ ।।

विमर्श—अर्थात् अर्जुन के इस प्रकार के प्रचण्ड पराक्रम को देखकर किरात-सेना ने अपनी पराजय मान ली । यहाँ मालिनी छन्द है ।। ६५ ।।

।। इस प्रकार श्रीभारविकृत किरातार्जुनीयम् महाकाव्य के चौदहवें सर्ग की डॉ सुधाकर मालवीय कृत हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ।। १४ ।।

पञ्चदश: सर्ग:

अथ भूतानि वार्त्रघ्नशरेभ्यस्तत्र तत्रसुः ।
भेजे दिशः परित्यक्तमहेष्वासा च सा चमूः ॥१ ॥

अन्वयः—अथ तत्र भूतानि वार्त्रघ्नशरेभ्यः तत्रसुः । सा चमूः परित्यक्तमहेष्वासा दिशः भेजे ॥ १ ॥

अथेति ॥ अथानन्तरम् । तत्र रणे भूतानि सर्वप्राणिनः । वृत्रं हतवानिति वृत्रहेन्द्रः । 'ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु क्विप् । तस्यापत्यं पुमान् वार्त्रघ्नोऽर्जुनः । 'तस्यापत्यम्' इत्यणप्रत्ययः । तस्य शरेभ्यस्तत्रसुर्बिभ्युः । 'वाजृभ्रमुत्रसाम्' इति विकल्पादेत्वाभ्यासलोपाभावः । सा चमूश्च । इषवोऽस्यन्त एभिरितीष्वासा धनूंषि । 'धनुश्चापोऽस्त्रमिष्वासः' इति हेमचन्द्रः । 'अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्' इति करणे घञ् । परित्यक्ता महान्त इष्वासा यया सा । परित्यक्तायुधेत्यर्थः । दिशो भेजे । पलायांचक्र इत्यर्थः । अत्र भूतत्राससेनापलायनयोः समुच्चयकथनाद्भिन्नविषयः क्रियासमुच्चयोऽलङ्कारः । 'गुणक्रियायौगपद्यं समुच्चयः' इति सामान्यलक्षणम् । तस्य यमकेन संसृष्टिः ॥१ ॥

हिन्दी—तदनन्तर इन्द्रपुत्र अर्जुन के बाणों से उस रणभूमि के जीव-जन्तु अत्यन्त व्याकुल हो गये और किरातों की वह सेना अपने विशाल धनुषों और बाणादि हथियारों को छोड़-छोड़ कर सभी दिशाओं में भाग निकली ॥ १ ॥

विमर्श—समुच्चय अलङ्कार और यमक अलङ्कार की संसृष्टि ।

अपश्यद्भिरिवेशानं रणान्निववृते गणैः ।
मुह्यत्येव हि कृच्छ्रेषु संभ्रमज्वलितं मनः ॥ २ ॥

अन्वयः—गणैः ईशानम् अपश्यद्भिरिव रणात् निववृते । हि कृच्छ्रेषु संभ्रमज्वलितं मनः मुह्यत्येव ॥ २ ॥

अपश्यद्भिरिति ॥ गणैः प्रमथैः । ईशानं स्वामिनं शिवम् । पुरोवर्तिनमिति भावः । अपश्यद्भिरिव रणान्निववृते निवृत्तम् । भावे लिट् । तथा हि—कृच्छ्रेषु आपत्सु संभ्रमेण साध्वसेन ज्वलितं तप्तम् । 'संभ्रमः साध्वसेऽपि स्यात्' इति विश्वः । मनो मुह्यत्येव । अतः पुरोवर्तिनोऽप्यदर्शनमुपपद्यत इति भावः ॥ २ ॥

हिन्दी—प्रमथ गण मानों भगवान् शङ्कर को बिना देखे ही भाग निकले । सच है, सङ्कट के क्षणों में उद्विग्नता से विचलित मन मुग्ध हो ही जाता है अर्थात् कुछ भी नहीं सोच-विचार पाता ॥ २ ॥

खण्डिताशंसया तेषां पराङ्मुखतया तया ।
आविवेश कृपा केतौ कृतोच्चैर्वानरं नरम् ।। ३ ।।

अन्वय:—खण्डिताशंसया तेषां तया पराङ्मुखतया केतौ कृत: उच्चै: वानरं नरं कृपा आविवेश ।। ३ ।।

खण्डितेति ।। खण्डिता ध्वस्ता आशंसा जयाशा यस्यास्तया तेषां गणानां सम्बन्धिन्या तया । अतिसंनिकृष्टयेत्यर्थ: । पराङ्मुखतया रणवैमुख्येन । पलायने-नेत्यर्थ: । केतौ ध्वजे कृत आरोपित उच्चैरुन्नतो वानरो हनूमान् येन तं नरं पुरुषम् । कपिध्वजमित्यर्थ: । कृपा करुणा । आविवेश । तदीयदुर्दशां दृष्ट्वा स कृपाविष्टोऽभूदित्यर्थ: । यमकालङ्कार: ।। ३ ।।

हिन्दी—विजय की आशा छोड़कर भागती हुई उस किरात सेना को देखकर कपिध्वज अर्जुन के मन में बड़ी दया आई ।। ३ ।।

ननु शत्रुषु कथं करुणा तत्राह —

आस्थामालम्ब्य नीतेषु वशं क्षुद्रेष्वरातिषु ।
व्यक्तिमायाति महतां माहात्म्यमनुकम्पया ।। ४ ।।

अन्वय:—आस्थाम् आलम्ब्य वशं नीतेषु क्षुद्रेषु अरातिषु अनुकम्पया महतां माहात्म्यं व्यक्तिम् आयाति ।। ४ ।।

आस्थामिति ।। आस्थां यत्नमालम्ब्य । 'आस्था त्वालम्बनास्थानयत्नापेक्षासु कथ्यते' इति विश्व: । वशं नीतेषु क्षुद्रेषु दुष्टेषु अरातिषु शत्रुषु विषयेऽनुकम्पया कृपया महतां वीराणां माहात्म्यं महानुभावत्वं व्यक्तिं स्फुटताम् । आयाति प्राप्नोति । स्वपौरुषनिर्जितेष्वरातिष्वपि करुणा भूषणमेव महतामिति भाव: ।। ४ ।।

हिन्दी—{अर्जुन को अपने शत्रु पर दया क्यों आई, इसका कारण बताते हैं—} अनेक प्रकार से यत्नों द्वारा क्षुद्र शत्रुओं को वशवर्ती बना लेने पर बड़े लोग जो अनुकम्पा दिखाते हैं, उससे उनकी महत्ता प्रकट होती है ।। ४ ।।

विमर्श—अर्थात् अपने पौरुष से पराजित किए गए शत्रु पर करुणा प्रकट करना महान् पुरुषों को शोभा देता है ।

स सासि: सासुसू: सासो येयायेयाययायय: ।
ललौ लीलां ललोऽलोल: शशीशशिशुशी: शशन् ।। ५ ।।

(एकाक्षरपद:)

अन्वय:—सासि: सासुसू: सास: येयायेयाययायय: लल: अलोल: शशीश-शिशुशी: शशन् स: लीलां ललौ ।। ५ ।।

स सासिरिति ।। सहासिना वर्तमान: सासि: सखड्ग: असून् सुवन्ति

प्रेरयन्तीत्यसुसुवो बाणा: । 'षू प्रेरणे' इति धातो: 'सत्सूद्विष–' इत्यादिना क्विप्, असुसूभि: सह वर्तत इति सासुसू: सबाण: । अस्यन्ते क्षिप्यन्ते शरा अनेनेत्यासो धनु: । 'अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्' इति घञ् । आसेन सह वर्तत इति सास: सचाप: । सर्वत्र 'तेन सहेति तुल्ययोगे' इति बहुव्रीहि: । येया यातव्या यानसाध्या: अयेया अयातव्या यानं विनैव साध्या: । 'अचो यत्' इति यत्प्रत्यय: । येयाश्च अयेयाश्च येयायेया:, तेषां द्वयानामाये स्वर्णगजादिलाभे याति प्राप्नोतीति येयायेयायय:। अयं शुभावहदैवं यातीत्ययय:। येयायेयाययश्चासौ अययश्चेति येयायेयाययायय: । याधातोरुभयत्रापि 'आतोऽनुपसर्गे क:' इति कप्रत्यय: । अतो ललति विलसतीति लल: । 'लल विलासे' पचाद्यच् । अलोलोऽचपल: । शशिन ईश: शिवस्तस्य शिशु: स्कन्दस्तं शृणाति हिनस्तीति शशीशशिशुशी: । क्विप् । शशन् प्लुतगतिं कुर्वन् । 'शश प्लुतगतौ' इति धातो: शतृप्रत्यय: । सोऽर्जुनो लीलां शोभां ललौ प्राप । 'ला आदाने' कर्तरि लिट् ।। ५ ।।

हिन्दी—तलवार, बाण और धनुष को धारण किए हुए, यान-साध्य एवं अयान-साध्य-दोनों प्रकार के वीरों के पास पहुँचकर उनके स्वर्ण-गजादि को प्राप्त करने वाले, सुन्दर भाग्यशाली, शोभायुक्त, शान्त एवं शङ्कर जी के पुत्र स्वामिकार्त्तिकेय को मार भगाने वाले, पैंतरे बदलते हुए अर्जुन की उस रणभूमि में विचित्र शोभा हुई ।। ५ ।।

विमर्श—इस श्लोक के एक-एक चरणों में एक ही अक्षर प्रयोग हुआ है ।

अन्वय में आये प्रत्येक पदों के अर्थ एवं विग्रह इस प्रकार हैं—**सासि:**—असि अर्थात् तलवार से युक्त । **सासुसू:**—बाण के साथ । जो असु अर्थात् प्राणों को प्रेरणा करे, उसे असुसू कहते हैं और जो असुसू को साथ लिए हो वह सासुसू: है । **सास:**—धनुष के साथ, आस अर्थात् धनुष के साथ । **येयायेयाययायय:**—येय + अयेय + आयय + अयय:—इन चार पदों से उक्त वाक्य बना है । य़ेय अर्थात् यान के द्वारा साध्य । अयेय जो बिना यान के ही साध्य हो । **आयय**—जो सुवर्ण हाथी इत्यादि का लाभ करता हो । **अयय:**—जो शुभ भाग्य को प्राप्त करता है ।

लल:—शोभासम्पन्न । **अलोल:**—अचञ्चल, शान्त । **शशीशशिशुशी:**—शशि + ईश + शिशु + शी:—अर्थात् चन्द्रमा के स्वामी के पुत्र को मारने वाला । **शशन्**—पैंतरे बदलने वाला । **स:**—वह अर्जुन । **लीलां**—शोभा को । **ललौ**—प्राप्त हुआ ।

त्रासजिह्मं यतश्चैतान् मन्दमेवान्वियाय स: ।
नातिपीडयितुं भग्नानिच्छन्ति हि महौजस: ।। ६ ।।

अन्वय:—स: त्रासजिह्मं यत: एतान् मन्दमेव अन्वियाय हि महौजस: भग्नान् अतिपीडयितुं नेच्छन्ति ।

त्रासेति ।। सोऽर्जुन: । त्रासजिह्मं भयक्लिष्टं यथा तथा यतो गच्छत: ।

पलायमानानित्यर्थः । एतान् गणान् मन्दमेव । अन्वियायानुजगाम । तथा हि—महौजसो महानुभावा भग्नानतिपीडयितुं नेच्छन्ति ॥ ६ ॥

हिन्दी—अर्जुन ने भय से विह्वल होकर भागते हुए उन प्रमथगणों का पीछा मन्दगति से ही किया । क्योंकि महान् तेजस्वी लोग पीड़ितों को अत्यन्त, पीड़ित नहीं करना चाहते ॥ ६ ॥

अथाग्रे हसता साचिस्थितेन स्थिरकीर्तिना।
सेनान्या ते जगदिरे किञ्चिदायस्तचेतसा ॥ ७ ॥ (निरोष्ठ्यम्)

अन्वयः—अथ अग्रे हसता साचिस्थितेन स्थिरकीर्तिना किञ्चिदायस्तचेतसा सेनान्या ते जगदिरे ॥ ७ ॥

अथेति ॥ अथाग्रे । बलानामित्यर्थः । हसता तद्भङ्गदर्शनात्स्मयमानेन साचिस्थितेन तन्निवारणाय तिर्यग्व्यवस्थितेन । 'तिर्यगर्थे साचि तिरः' इत्यमरः । स्थिरकीर्तिना । स्वयमभङ्गत्वादिति भावः । किञ्चिदीषत् आयस्तं खिन्नं चेतो यस्य तेन स्वकीयगणभङ्गादीषत्खिन्नचित्तेन सेनान्या स्कन्देन । 'पार्वतीनन्दनः स्कन्दः सेनानीरग्निभूर्गुहः' इत्यमरः । ते गणाः प्रमथादयो जगदिर उक्ताः । ओष्ठ्यवर्णाभावान्निरोष्ठ्यमेतत् ॥ ७ ॥

हिन्दी—तदनन्तर इस प्रकार से सेना को भागते हुए देख उसके अग्रभाग में हँसते हुए तिरछे खड़े होकर स्थिर कीर्ति वाले स्वामि कार्त्तिकेय कुछ खिन्न होकर उन प्रमथ सैनिकों से बोले— ॥ ७ ॥

विमर्श—इस श्लोक में ओष्ठ से उच्चारण होने वाला एक भी अक्षर नहीं है, इसे निरोष्ठ्य कहते हैं ।

{अब इक्कीस श्लोकों द्वारा स्वामिकार्त्तिकेय की बातों की चर्चा की गई है—}

अथैकविंशतिभिः श्लोकैः स्कन्दवाक्यमेवाह —

मा विहासिष्ट समरं समरन्तव्यसंयतः ।
क्षतं क्षुण्णासुरगणैरगणैरिव किं यशः ॥ ८ ॥

(पादान्तादियमकम्)

अन्वयः—समरन्तव्यसंयतः समरं मा विहासिष्ट क्षुण्णासुरगणैः अगणैः इव किं यशः क्षतम् ॥ ८ ॥

मा विहासिष्टेत्यादि ॥ रन्तव्यं रमणं क्रीडा । बहुलग्रहणाद्भावे तव्यप्रत्ययः । संयद्युद्धम् । 'समुदायः स्त्रियः संयत्समित्याजिसमिद्युधः' इत्यमरः । समे रन्तव्यसंयती येषां ते समरन्तव्यसंयतः तुल्यक्रीडासङ्गरा इति तेषां सम्बोधनम् । यूयं समरं संग्रामं मा विहासिष्ट न त्यजत । जहातेर्माङि लुङ् । मध्यमबहुवचनम् । क्षुण्णाः

पराजिता असुरगणा यैस्तै: । भवद्भिरिति शेष: । अगणैरिव गणेभ्योऽन्यैरिव किं किमर्थं यश: क्षतं नाशितम् । नैतद्युक्तं महाशूराणां भवादृशानामित्यर्थ: ।। ८ ।।

हिन्दी—आप लोग क्रीड़ा और युद्ध में समान रुचि रखने वाले हैं, युद्ध को छोड़कर इस प्रकार पलायन न करें । आप लोग अमरों को पराजित करने वाले प्रमथ हैं । फिर उनसे भिन्न (सामान्य लोगों) की भाँति इस प्रकार अपने यश को क्यों नष्ट कर रहे हैं ।। ८ ।।

विमर्श—यहाँ यमक अलङ्कार है ।

विवस्वदंशुसंश्लेषद्विगुणीकृततेजस: ।
अमी वो मोघमुद्गूर्णा हसन्तीव महासय: ।। ९ ।।

अन्वय:—विवस्वदंशुसंश्लेषद्विगुणीकृततेजस: मोघम् उद्गूर्णा व: अभीमहासय: हसन्ती इव ।। ९ ।।

विवस्वदिति ।। विवस्वदंशुसंश्लेषेण सूर्यकिरणसंपर्केण द्विगुणीकृतानि उत्तेजितानि तेजांसि येषां ते तथोक्ता मोघं व्यर्थ उद्गूर्णा उद्यता: । 'गुरी उद्यमने' इति धातो: कर्मणि क्त: । वो युष्माकम् । अमी महासय: खड्गा हसन्तीवेत्युत्प्रेक्षा । किं पलायमानानां खड्गैरिति हास: ।। ९ ।।

हिन्दी—सूर्य की किरणों के सम्पर्क से द्विगुणित तेज वाली ये आप लोगों की व्यर्थ ही ऊपर उठी हुई बड़ी-बड़ी तलवारें मानों आप लोगों का परिहास सा कर रही हैं ।। ९ ।।

विमर्श—क्योंकि जो लोग रणभूमि छोड़ कर भाग रहे हैं, उनको ऐसी चमकती हुई और ऊपर उठी हुई तलवारों से क्या लाभ है? यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार है।

वनेऽवने वनसदां मार्गं मार्गमुपेयुषाम् ।
बाणैर्बाणै: समासक्तं शङ्केऽशं केन शाम्यति ।।१० ।।

(पादादियमकम्)

अन्वय:—वनसदाम् अवने वने मार्गे मार्गम् उपेयुषां बाणै: बाणै: समासक्तम् अशं केन शाम्यति शङ्के ? ।। १० ।।

वन इति ।। वनसदां वनेचराणाम् । अवने रक्षके वने मार्गं मृगसम्बन्धिनं मार्गं पन्थानम् । उपेयुषाम् । पलायमानानामित्यर्थ: । युष्माकमिति शेष: । वाणो ध्वनिरेषामस्तीति तैर्वाणैर्ध्वनियुक्तै: । 'वण संशब्दने' इति धातोर्घञ् । तत: 'अर्शआदिभ्य—' इत्यच्प्रत्यय: । यमकत्वाद्बवयोरभेद: । उक्तं च —'रलयोर्डलयोस्तद्वज्जययोर्बवयोरपि । सबिन्दुकाबिन्दुकयो: स्यादभेदेन कल्पनम् ।' इति । बाणै: शरै: समासक्तं समासञ्जितं अशं दु:खं तत् केन शाम्यतीति शङ्के । केनोपायेन शाम्येदिति विचारयामीत्यर्थ: ।।१० ।।

हिन्दी—वनचारी किरातों के रक्षक इस जङ्गल में मृग के मार्गों से अर्थात् झाड़-झंखाड़ों में से लुक-छिपकर पलायन करते हुए, एवं शब्दयुक्त बाणों को धारण किए हुये आप लोगों का जो दु:ख है, वह किस उपाय से शान्त होगा—मैं यही सोच रहा हूँ ।। १० ।।

पतितोत्तुङ्गमाहात्म्यै: संहृतायतकीर्तिभि: ।
गुर्वीं कामापदं हन्तुं कृतमावृत्तिसाहसम् ।।११ ।।

अन्वय:—पातितोत्तुङ्गमाहात्म्यै: संहृतायतकीर्तिभि: कां गुर्वीम् आपदं हन्तुम् आवृत्तिसाहसं कृतम् ।। ११ ।।

पातितेति ।। पातितं भ्रंशितं उत्तुङ्गमाहात्म्यमुन्नतभावो यैस्तै: संहृता आहृता आयता विस्तृता: कीर्तयो यैस्तै: । युष्माभिरिति शेष: । कां गुर्वीमापदं हन्तुम् । न काञ्चिदपीत्यर्थ: । आवृत्तिर्युद्धान्निवृत्ति: सैव साहसं कृतम् । अत: पापादन्यत्र किञ्चित्फलमस्तीति भाव: । तदुक्तं मनुना —

'यस्तु भीत: परावृत्त: सङ्ग्रामे हन्यते परै: ।
भर्तुर्यद्दुष्कृतं किञ्चित्तत्सर्वं प्रतिपद्यते ।।
यच्चास्य सुकृतं किञ्चिदमुत्रार्थमुपार्जितम् ।
भर्ता तत्सर्वमादत्ते परावृत्तहतस्य तु ।।' इति ।।११ ।।

हिन्दी—अपने हृदय के उन्नत भावों को नष्ट करके तथा अपनी सुदूर पर्यन्त फैली हुई सत्कीर्ति को नष्ट करके, आप लोगों ने न जाने किस महान् विपत्ति को दूर करने के लिए इस प्रकार रणभूमि से भागने का साहस किया है ।। ११ ।।

विमर्श—अर्थात् आप लोगों के इस पलायन से पाप के अतिरिक्त अन्य कोई फल नहीं होगा ।

नासुरोऽयं न वा नागो धरसंस्थो न राक्षस: ।
ना सुखोऽयं नवाभोगो धरणिस्थो हि राजस:।।१२ ।।

(गोमूत्रिकाबन्ध:)

अन्वय:—अयम् असुर: न, नाग: वा न, धरसंस्थ: राक्षस: न, अयं सुख: नवाभोग: धरणिस्थ: राजस: न हि ।१२ ।।

नेति ।। किंच, अयमसुरो दैत्यो न । नागो नागराजो वा पन्नगश्च न । धर इव संस्था यस्य स धरसंस्थ: पर्वताकार: । 'अहार्यधरपर्वता:' इत्यमर: । 'संस्था व्यवस्थाप्रणिधिसमाप्त्याकारमृत्युषु' इति वैजयन्ती । राक्षसो न । किन्तु अयं सुखयतीति सुख:। सुखसाध्य इत्यर्थ:। नवाभोगोऽभिनवप्रयत्न:। महोत्साह इत्यर्थ: । 'आभोगोवरुणच्छत्रे पूर्णतायत्नयोरपि' इति विश्व: । धरणिस्थो भूतलचारी राजसो रजोगुण प्रधानो ना पुरुषो हि । कश्चिन्मानुष इत्यर्थ: । 'पुरुषा: पूरुषा नर: । मनुष्या

मानुषा मर्त्या मनुजा मानवा नराः' इत्यमरः । अतो न पलायनमुचितमिति भावः । गोमूत्रिकाबन्धः —'वर्णानामेकरूपत्वं यद्येकान्तरमर्धयोः । गोमूत्रिकेति तत्प्राहुर्दुष्करं तद्विदो विदुः ॥' इति लक्षणात् । षोडशकोष्ठद्वयेऽर्धद्वयं क्रमेण विलिख्यैकान्तर-विनिमयेन वाचने श्लोकनिष्पत्तिरित्युद्धारः ॥१२ ॥

हिन्दी—यह तपस्वी न तो दानव है, न नागराज है, न कोई पहाड़ जैसी आकृति वाला राक्षस ही है, किन्तु यह तो सुखपूर्वक जीतने योग्य महान् उत्साही रजोगुण प्रधान एक मनुष्य मात्र है ॥ १२ ॥

विमर्श—अतएव ऐसे वीर के सामने से रणभूमि छोड़कर भागना आप लोगों के लिए उचित नहीं है । यह श्लोक गोमूत्रिका बन्ध है, जिसका चित्र पुस्तक के अन्त में दिया गया है । इसमें सोलह कोष्ठक बनाने वाली रेखाओं के ऊपर श्लोक का प्रथम चरण तथा नीचे द्वितीय चरण लिखकर एक-एक अक्षर के अन्तर पड़ने से भी पूरा श्लोक बन जाता है । यह एक विकट बन्ध है, जिसका प्रयोग केवल पांडित्य-प्रदर्शन के लिए ही प्राचीनकाल के कवि लोग किया करते थे । वस्तुतः ऐसे विकट बन्धों में कवित्व बहुत कम और कवित्व-प्रदर्शन बहुत अधिक होता है ।

मन्दमस्यन्निषुलतां घृणया मुनिरेष वः ।
प्रणुदत्यागतावज्ञं जघनेषु पशूनिव ॥१३ ॥

अन्वयः—एषः मुनिः घृणया इषुलताम् मन्दम् अस्यन् वः पशूनिव आगता-वज्ञं जघनेषु प्रणुदति ॥ १३ ॥

मन्दमिति ॥ एष मुनिर्घृणया कृपया । इषुं लतां शाखामिव मन्दमस्यन् क्षिपन् वो युष्मान् पशूनिवागतावज्ञं यथा तथा जघनेषु प्रणुदति चोदयति । किमतः परं कष्टमस्तीति भावः ॥१३ ॥

हिन्दी—यह तपस्वी मानों कृपापूर्वक वृक्ष की शाखा-रूपी अपने बाणों से धीरे-धीरे मारते हुए तुम लोगों को बैलों के समान जघनस्थलों में कोंचता हुआ हाँक रहा है ॥ १३ ॥

विमर्श—अर्थात् जिस प्रकार से कोई हलवाहा अपने गरियार बैल को वृक्ष की शाखा से धीरे-धीरे पीटते हुए अपने इच्छित स्थल पर ले चलने के लिए बड़ी कृपा से उसकी जाँघों में कोंचता है उसी प्रकार का व्यवहार यह तपस्वी भी तुम लोगों के साथ कर रहा है ।

न नोननुन्नो नुन्नोनो नाना नानानना ननु ।
नुन्नोऽनुन्नो ननुन्नेनो नानेना नुन्ननुन्ननुत् ॥१४ ॥

(एकाक्षरः)

अन्वयः—हे नानानना ऊननुन्नः ना न नुन्नोनः ना अना । ननुन्नेनः नुन्नः अनुन्नः नुन्ननुन्ननुत् ना अनेनाः न ॥ १४ ॥

नेति ।। पदच्छेदस्तावत्— न ना ऊननुन्नः नुन्नोनः ना अना नानाननाः ननु । नुन्नः अनुन्नः ननुन्नेनः न अनेनाः नुन्ननुन्ननुत् ।। अथ योजना— हे नानानना नानाप्रकाराण्याननानि येषां ते । नानाविधास्या इत्यर्थः । ऊनेन निकृष्टेन नुन्नो विद्ध ऊननुन्नो यः स ना न पुरुषो न । तथा नुन्न ऊनो येन स नुन्नोनो ना पुरुषोऽना ननु अपुरुषः खलु । ऊनाद्भीतः पलायमानस्तु किं वक्तव्यमिति भावः । किंच, नुन्न इनः स्वामी यस्य स नुन्नेनः । स न भवतीति ननुन्नेनः । नञर्थस्य 'न' शब्दस्य सुप्सुपेति समासः । स नुन्नो विद्धोऽपि अनुन्नोऽविद्ध एव । यूयमनुन्नस्वामिकत्वादनुन्ना एवेति भावः । तथा नुन्ननुन्ननुदतिशयेन नुन्ना नुन्ननुन्नास्तान्नुदतीति नुन्ननुन्ननुत् । अतिपीडितपीडको ना पुरुषोऽनेना निर्दोषो न भवतीति, किन्तु सदोष एवेति । 'नार्तं नातिपरिक्षतम्' इति निषेधादित्यर्थः । अयं तु नैतादृश इति । न पलायितव्यमिति भावः । अयमेकव्यञ्जनः। अन्त्यस्तकारस्तु न दोषावहः, 'नान्त्यवर्णस्तु भेदकः' इत्यभ्यनुज्ञानात् ।। १४ ।।

हिन्दी—अन्वय में आये हुए प्रत्येक पद का अर्थ इस प्रकार है——हे नानाननाः - हे अनेक मुखों वालो ! ऊननुन्नः - नीच पुरुषों से पराजित ।

ना न - मनुष्य नहीं है ।

नुन्नोनः ना अना - नीच पुरुषों को पराजित करने वाला मनुष्य नहीं है । नुनुन्नेनः - न + नुन्नः + इन : - जिसका स्वामी पराजित न हुआ हो ।

नुन्नः - पराजित । अनुन्नः - अपराजित ।

नुन्ननुन्ननुत् - नुन्न + नुन्न + नुत् + अति पीड़ित को भी पीड़ा पहुँचाने वाला । ना अनेनाः न - मनुष्य निर्दोष नहीं ।

सरल अर्थ—हे अनेक मुखों वाले प्रथम गण ! जो नीच पुरुषों से पराजित हो जाता है वह मनुष्य नहीं है तथा जो नीचों को पराजित करने वाला है वह भी मनुष्य नहीं है । किन्तु आप लोग तो नीच पुरुष से न केवल पराजित ही हुए हैं, बल्कि डर कर भागे भी जा रहे हैं अतः आप लोगों को क्या कहा जाय ? जिसका स्वामी पराजित नहीं होता है वह पराजित नहीं समझा जाना चाहिये । अत्यन्त पीड़ित को पीड़ा पहुँचाने वाला पुरुष निर्दोष नहीं प्रत्युत नीच है ।। १४ ।।

विमर्श—इस पूरे श्लोक में केवल एक अक्षर नकार का प्रयोग हुआ है । श्लोक का अन्तिम तकार दोषपूर्ण नहीं है, क्योंकि इस बन्ध में अन्तिम वर्ण के लिए यह नियम नहीं लागू होता ।

वरं कृतध्वस्तगुणादत्यन्तमगुणः पुमान् ।
प्रकृत्या ह्यमणिः श्रेयान्नालङ्कारश्च्युतोपलः ।।१५ ।।

अन्वयः—कृतध्वस्तगुणात् अत्यन्तम् अगुणः पुमान् वरम् । हि प्रकृत्या अमणिः अलङ्कारः श्रेयान् च्युतोपलः न श्रेयान् ।। १५ ।।

वरमिति ।। कृता: पूर्वमुत्पादिता: पश्चाद्ध्वस्ता नष्टास्ते कृतध्वस्ता: । 'पूर्वकाल—' इत्यादिना समास: । कृतध्वस्ता गुणा यस्य तस्मात् पुंस: । अत्यन्तमतिशयेनागुणो निर्गुण: पुमान् वरं मनाक्प्रिय: । किञ्चित्प्रिय इत्यर्थ: । 'वरं क्लीवं मनाक्प्रिये' इत्यमर: । तथा हि—प्रकृत्या स्वभावेन । अमणिर्मणिरहितोऽलङ्कार: श्रेयान् । च्युतोपलो भ्रष्टरत्नो न श्रेयान् । 'उपल: प्रस्तरे रत्ने' इति विश्व: । पलायितु: समरादसमर एव वरमिति भाव: । अत्र समानविषयारोपयो: प्रतिबिम्बकरणाद्दृष्टान्तालङ्कार: ।।१५ ।।

हिन्दी—जो लोग पहले गुणों का अर्जन करते हैं और पीछे उनसे च्युत हो जाते हैं, उनसे तो अत्यन्त निर्गुणी पुरुष ही श्रेष्ठ हैं, क्योंकि स्वभावत: मणि से विहीन वह अलङ्कार श्रेष्ठ है किन्तु वह अलङ्कार तो अच्छा नहीं है, जिसकी मणि गिर गयी हो ।। १५ ।।

विमर्श—युद्ध को छोड़कर इस प्रकार भागने से अच्छा तो यही था कि युद्ध किया ही न जाता । यहाँ दृष्टान्त अलङ्कार है ।

स्यन्दना नो चतुरगा: सुरेभा वाविपत्तय: ।
स्यन्दना नो च तुरगा: सुरेभा वा विपत्तय: ।।१६ ।।

(समुद्गक:)

अन्वय:—स्यन्दना: स्यन्दना नो । चतुरगा: तुरगाश्च नो सुरेभा: वा नो । अविपत्तय: विपत्तय: नो ।। १६ ।।

स्यन्दना इति ।। स्यन्दन्ते प्रद्रवन्तीति स्यन्दना जवना: । स्यन्दना रथा नो सन्ति । नन्द्यादित्वाल्ल्यु: । चतुरं गच्छन्तीति चतुरगा: । तुरगाश्च अश्वा नो सन्ति । सुरेभा: शोभनबृंहणा: । सुरेभा वा सुरगजाश्च नो सन्ति । अविपत्तयो विपत्तिरहिता: विपत्तयो वा विशिष्टा: पदातयो नो सन्ति । अतो न भेतव्यमिति भाव: । अत्र पूर्वोत्तरार्धगतानां विशेषणानां विशेष्याणां चोद्देशोद्देश्यीभूतानां यथासंख्यसम्बन्धानुक्रमाद्यथासंख्यालङ्कारो यमकेन संसृष्ट: ।।१६ ।।

हिन्दी—इस तपस्वी के पास न तो वेगपूर्वक चलने वाले रथ हैं, न अच्छी चाल से चलने वाले सुन्दर घोड़े हैं । न खूब चिग्घाड़ने वाले देवताओं के हाथी हैं, और न बिघ्न-बाधाओं एवं विपत्तियों से रहित पैदल सैनिक ही हैं ।। १६ ।।

विमर्श—अर्थात् इसके पास ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है, फिर डरना किस बात से । यमकालङ्कार और यथासंख्य अलङ्कार की संसृष्टि । इस पद्य का पूर्व पद ही भंगि से उत्तर पद बन गया है ।

भवद्भिरधुनारातिपरिहापितपौरुषै: ।
ह्रदैरिवार्कनिष्पीतै: प्राप्त: पङ्को दुरुत्तर: ।।१७ ।।

अन्वयः—अधुनारातिपरिहापितपौरुषैः भवद्भिः अर्कनिष्पीतैः ह्रदैरिव दुरुत्तरः पङ्कः प्राप्तः ॥ १७ ॥

भवद्भिरिति ॥ अधुनाऽरातिभिः परिहापितानि त्याजितानि पौरुषाणि यैस्तैर्भवद्भिः । अर्कनिष्पीतैरर्केण संशोषितैर्ह्रदैरिव । दुरुत्तरो दुस्तरः पङ्क इव पङ्को दुष्कीर्तिरूपः प्राप्तः ॥१७ ॥

हिन्दी—सम्प्रति शत्रु द्वारा पौरुष से विहीन किये जाने पर आप लोग सूर्य से सुखाये गए तालाब के समान दुस्तर पङ्क रूपी अपकीर्ति के भागी बन गए हैं ।

वेत्रशाककुजे शैलेऽलेशैजेऽकुकशात्रवे ।
यात किं विदिशो जेतुं तुञ्जेशो दिवि किन्तया ॥१८ ॥

(प्रतिलोमानुलोमपादः)

अन्वयः—वेत्रशाककुजे अलेशैजे अकुकशात्रवे शैले किन्तया विदिशः जेतुं यात किम् दिवि तुञ्जेशः ॥ १८ ॥

वेत्रेति ॥ वेत्राणि वंशाः फलिन्यो वा शाका बर्बराश्च कुजा वृक्षा यस्मिंस्तस्मिन् वेत्रशाककुजे । शत्रुणा दुःप्रवेश्य इत्यर्थः । 'वेत्रं वंशफलिन्योश्च' इति विश्वः। 'शाक; बर्बरवर्धकाः' इत्यमरः । लेशेन स्तोकेनाप्येजते कम्पत इति लेशैजः । स न भवतीति अलेशैजस्तस्मिन् । अत्यन्ताकम्पन इत्यर्थः । 'एजृ कम्पने' । पचाद्यच् । न कोकते नादत्त इत्यकुको ग्रहणासमर्थः शात्रवो यस्मिंस्तस्मिन् अकुकशात्रवे । 'कुक आदाने' । पचाद्यच् । शैले पर्वते । केषां भावः किन्ता कुत्सितता तयोपलक्षिताः सन्तः । 'कुत्साप्रश्नवितर्केषु क्षेपे किंशब्द इष्यते' इति शाश्वतः । विदिशो जेतुं यात गच्छत किम् । यातेः संप्रश्ने लोट् । मध्यमपुरुषबहुवचनम् । दिवि स्वर्गेऽपि । तुञ्जेश इति तेषां सम्बोधनम् । तुञ्जन्त इति तुञ्जा हिंसका दैत्याः । 'तुजि हिंसायाम्' पचाद्यच् । तेभ्यो दैत्येभ्य ईशत इति तुञ्जेशः । ईशेः क्विप् । तेभ्योऽपि शक्ता इत्यर्थः । स्वर्गेऽप्यसुरविजयिनां युष्माकमत्र क्षुद्रस्थले क्षुद्रशत्रौ पलायनमनुचितमिति भावः ॥१८ ॥

हिन्दी—बाँस एवं बबूल आदि कँटीले वृक्षों से दुर्गम, अत्यन्त सुदृढ़ जिसमें शत्रुओं को पकड़ा नहीं जा सकता, ऐसे वन से नीच पुरुषों के समान भागकर तुम लोग कौन-सी दिशा या विदिशा जीतने के लिये जा रहे हो । तुम लोगों ने तो स्वर्ग में भयङ्कर दैत्यों को भी मार गिराया था ॥ १८ ॥

विमर्श—स्वर्ग में जो भयङ्कर असुरों को मार चुके हों, उनका इस क्षुद्र स्थल पर इस प्रकार से भागना अनुचित है । इस श्लोक का प्रथम पाद उलट कर द्वितीय तथा तृतीय पाद उलटकर चतुर्थ बन गया है । ऐसे विकटबन्ध संस्कृत भाषा में ही बनाए जा सकते हैं ।

अथेशे तिष्ठति पलायनमेतद्वो न युक्तमित्याह—

अयं वः क्लैब्यमापन्नान् दृष्टपृष्ठानरातिना ।
इच्छतीशश्च्युताचारान् दारानिव निगोपितुम् ॥१९ ॥

अन्वयः—अयम् ईशः क्लैव्यम् आपन्नान् अरातिना दृष्टपृष्टान् वः च्युताचारान् दारानिव निगोपितुम् इच्छति ॥ १९ ॥

अयमिति ।। अयमीशः स्वामी शिवः क्लैब्यं निष्पौरुषत्वम् । आपन्नान् प्राप्तांस्तथा अरातिना दृष्टपृष्ठान् । पलायमानानित्यर्थः । वो युष्मान् च्युताचारान् स्खलितव्रतान् दारान् कलत्राणीव । 'अथ पुंभूम्नि दाराः' इत्यमरः । निगोपितुं गोप्तुम् । ऊदित्त्वादिड्विकल्पः । दारदोषं भर्तेव स्वमहिम्ना युष्मद्दोषं संवरितुम् । इच्छति । अतः कुतो युष्माकमनर्थ इत्यर्थः ।।१९ ।।

हिन्दी—यह हमारे स्वामी शङ्कर जी नपुंसकता को प्राप्त एवं शत्रु को पीठ दिखाने वाले तुम लोगों की उसी प्रकार से रक्षा करना चाहते हैं जैसे पति अपनी आचारभ्रष्टा स्त्री की रक्षा करता है ।। १९ ।।

विमर्श—जब शङ्कर जी स्वयं तुम लोगों के दोषों को छिपाकर तुम्हारी रक्षा करने के लिये तैयार हैं तो तुम्हें भागना उचित नहीं है ।

ननु हो मथना राघो घोरा नाथमहो नु न ।
तयदातवदा भीमा माभीदा बत दायत ।। २० ।।

(प्रतिलोमानुलोमार्यशः)

अन्वयः—ननु हो मन्थना राघः घोरा नाथमहः तयदातवदा भीमा माभीदाः बत नदायत नु ।। २० ।।

नन्विति ।। 'ननु' इत्यामन्त्रणे । 'हो' इत्याह्वाने । 'हे है व्यस्तौ समस्तौ च हूतिसम्बोधनार्थयोः । हो हौ चैवंविधौ ज्ञेयौ सम्बुद्ध्याह्वानयोरपि' इति विश्वः । मथन्तीति मथनाः । 'मथ विलोडने' कर्तरि ल्युट् । राघन्ति समर्था भवन्तीति राघः । 'राघृ सामर्थ्ये' । क्विप् । घोराः क्रूराः । शत्रूणामिति भावः । नाथं महयन्ति पूजयन्तीति नाथमहः । दृशिग्रहणात्कर्मण्युपपदे क्विप् । तयन्ति रक्षन्तीति तया रक्षकाः। पचाद्यच् । दायन्तीति दाताः शुद्धाः । 'दैप् शोधने' कर्तरि क्तः । वदन्तीति वदा वक्तारः । पचाद्यच् । तेषां द्वन्द्वः तयदातवदाः । भीमा भयङ्कराः । माभीः । नञर्थे' मा' शब्दस्य सुप्सुपेति समासः । तां ददतीति माभीदा अभयप्रदाः । एवंविधा यूयमिति शेषः। 'बत' इति खेदे । बवयोरभेदः । न दायतु नु न शुद्धाः किम् । 'नु' पृच्छायाम् । किन्तु शुद्धा एव । न काकुरत्रानुसंधेया । 'दैप् शोधने' लोट् मध्यम पुरुषबहुवचनम् ।। २० ।।

हिन्दी—अरे भाइयो ! सुनो ठहरो तो जरा । आप लोग तो अपने भीषण से भीषण शत्रुओं को भी तहस-नहस कर देने वाले हैं । समर्थ हैं । शत्रुओं के लिए अत्यन्त क्रूर हैं । अपने स्वामी की पूजा करने वाले हैं । रक्षक हैं । शुद्ध आचरण वाले हैं । अच्छे वक्ता हैं । भयङ्कर आकृति वाले हैं । शरणागत को अभयदान करने वाले हैं । क्या आप लोग शुद्ध नहीं हैं, ऐसा नहीं, अति शुद्ध हैं ।। २० ।।

विमर्श—यह भी प्रतिलोमानुलोमपाद है, जिसका परिचय १८ वें श्लोक में दिया जा चुका है ।

किं त्यक्तापास्तदेवत्वमानुष्यकपरिग्रहैः ।
ज्वलितान्यगुणैर्गुर्वी स्थिता तेजसि मानिता ।। २१ ।।

अन्वयः—अपास्तदेवत्वमानुष्यकपरिग्रहैः ज्वलितान्यगुणैः गुर्वी तेजसि स्थिता मानिता किं त्यक्ता ।। २१ ।।

किमिति।। अपास्तोऽवधीरितो देवत्वमानुष्यकयोः परिग्रहः स्वीकारो यैस्तैः । अतिदेवमानुषैरित्यर्थः । मनुष्याणां भावो मानुष्यकम् । 'योपधाद् गुरूपोत्तमाद्वुञ्' । ज्वलितान्यगुणैः ज्वलिता उज्ज्वलिताः ।प्रकाशिता इति यावत् ।अन्यगुणा असदृश-गुणा यैस्तैः । 'अन्यौ विभिन्नासदृशौ' इति वैजयन्ती । ईदृशैः । भवद्भिरिति शेषः । तेजसि प्रतापे स्थिता प्रतापैकशरणा मानिता शूरत्वाभिमानिता किमिति त्यक्ता । किमिति निर्लज्जैः पलाय्यत इति भावः ।। २१ ।।

हिन्दी—आप लोग देवताओं तथा मनुष्यों को तृण के समान समझने वाले हैं । सर्वोत्तम गुणों से युक्त हैं । गम्भीरता एवं तेज से युक्त हैं । फिर इस प्रकार से अपनी तेजस्विता को क्यों त्याग रहे हैं ।। २१ ।।

निशितासिरतोऽभीको न्येजतेऽमरणा रुचा ।
सारतो न विरोधी नः स्वाभासो भरवानुत ।। २२ ।।

निशितेति ।। हे अमरणा मरणरहिताः ! निशितासिरतोऽतितीक्ष्णखड्गरतः । अभीको निर्भीकः । रुचा तेजसोपलक्षितः सुष्ठ्वाभासत इति स्वाभासो रमणीयः पचाद्यच् । उतात्यर्थमतिशयेन भरवान् । रणभरसहिष्णुरित्यर्थः । 'उतात्यर्थ विकल्पयोः' इति विश्वः । ईदृशो नोऽस्माकं विरोधी शत्रुः सारतो बलतो न न्येजते न कम्पते । प्रचलतीत्यर्थः । 'एजृ कम्पने' । लट् । अतो भवद्भिरपि स्थातव्यमेव । न चलितव्यमिति भावः ।। २२ ।।

अन्वयः—हे अमरणाः निशितासिरतः अभीकः रुचा स्वाभासः उत भरवान् नः विरोधी सारतः न्येजते न ।। २२ ।।

हिन्दी—हे मृत्युरहित प्रमथ गण ! हमारा यह विरोधी तीक्ष्ण खड्गधारी है निर्भय है, तेजस्वी एवं आकृति से रमणीय है । युद्ध का भार उठाने में सहिष्णु है, वह बलवान् शत्रु से भी कम्पित नहीं होता ।। २२ ।।

विमर्श—इसलिए तुम लोगों को भी इससे डरना नहीं चाहिये ।

नन्वयं न चलतीति कथं ज्ञायते, तत्राह —

तनुवारभसो भास्वानधीरोऽविनतोरसा ।
चारुणा रमते जन्ये कोऽभीतो रसिताशिनि ।। २३ ।।

(प्रतिलोमानुलोमेन श्लोकद्वयम्)

अन्वय:—तनुवारभस: भास्वान् चारुणा अविनतोरसा अधीर: रसिताशिनि, जन्ये अभीत: क: रमते ॥ २३ ॥

तन्विति ॥ तनुमावृणोत्याच्छादयतीति तनुवारं वर्म । कर्मण्यण् । तेन बभस्ति भासत इति तनुवारभस: । 'भस दीप्तौ' । पचाद्यच् । भास्वान् तेजस्वी चारुणा भास्वताऽविनतेनोन्नतेन । उरसा वक्ष:स्थलेनोपलक्षित: । एवंविधोऽपि अधीरो धैर्यरहितो रसितेन शब्दितेनैवाश्नाति ग्रसतीति रसिताशी तस्मिन् । रवेणैव विश्वप्राणहारिणीत्यर्थ: । आभीक्ष्ण्ये णिनि: । जन्ये युद्धे । 'युद्धमायोधनं जन्यम्' इत्यमर: । अभीतो निर्भीक: सन् को रमते क: क्रीडति । यदि रमते तर्ह्ययमेवेति भाव: । निर्भयसंचारादेवास्य निश्चलत्वं निश्चीयत इत्यर्थ: । पूर्वश्लोकस्यायं प्रतिलोम: ॥ २३ ॥

हिन्दी—कवच से सुशोभित, तेजस्वी, मनोहर एवं उन्नत वक्षस्थल वाले किन्तु फिर भी अधीर इस वीर के समान दूसरा ऐसा कौन है जो इस महाभयङ्कर युद्ध में जिसको घोर नाद से ही विश्व के जीव जन्तुओं के प्राण निकल जायँ, निर्भीक होकर खेलता रहेगा ॥ २३ ॥

विमर्श—यह श्लोक बाईसवें श्लोक का ही विलोम है । बाईसवें श्लोक का चतुर्थ चरण इसका प्रथम चरण है, तृतीय चरण इसका द्वितीय चरण है, द्वितीय चरण तृतीय चरण है तथा प्रथम चरण चतुर्थ चरण है । इसका नाम है प्रतिलोमानुलोम ।

अथ पञ्चभि: कुलकमाह—दिभिन्नेत्यादिभि:—

विभिन्नपातिताश्वीयनिरुद्धरथवर्त्मनि ।
हतद्विपनगष्ठ्यूतरुधिराम्बुनदाकुले ॥ २४ ॥

आहवं विशिनष्टि — विभिन्नानि विदारितान्यत एव पातितान्यश्वीय अश्वसमूहा: । 'पूर्वकाल—' इति समास: । तैरश्वसमूहैर्निरुद्धानि रथानां वर्त्मानि यस्मिंस्तथोक्ते । 'वृन्दे त्वश्वीयमाश्ववत्' इत्यमर: । 'केशाश्वाभ्यां यञ्छावन्यतरस्याम्' इति छप्रत्यय: । हतास्ताडिता द्विपा गजा एव नगा: शैला: । 'शैलवृक्षौ नगावगौ' इत्यमर: । तै: ष्ठ्यूतानि उज्झितानि । ष्ठीवते: कर्मणि क्त: । 'छ्वो: शूडनुनासिके च' इत्यूठादेश: । तानि रुधिराण्येवाम्बूनि तेषां नदै: प्रवाहैराकुले व्याप्ते ॥ २४ ॥

देवाकानिनि कावादे वाहिकास्वस्वकाहि वा ।
काकारेभभरे काका निस्वभव्यव्यभस्वनि ॥ २५ ॥
(सर्वतोभद्र:)

देवेति ॥ पुनश्च, देवानाकनयत्युद्दीपयत्युत्साहयतीति देवाकानी तस्मिन् देवाकानिनि । 'कन दीप्तौ' इति धातोर्ण्यन्ताण्णिनि: । यद्वा, — कै शब्दे इति धातोराङ् पूर्वस्य भावे ल्युटि आकानं आशब्दनमीषद्वदनमिति यावत् । देवानां तद्वतीत्यर्थ: । कावाद ईषद्वादो वाक्कलह: । 'ईषदर्थे' इति 'कु' शब्दस्य कादेश: । तद्वति कावादे ।

अर्शआदिभ्योऽच् । वाहिका पर्यायेण रणभारोद्वहनम् । वहेः पर्याये धात्वर्थनिर्देशे-ण्वुल् वक्तव्यः । वाहिकया क्रमप्राप्तरणक्रियया सुष्ठु शोभनं यथा तथाऽस्वकान् परानाजिहीतेऽभियुङ्क्ते । योजयतीति यावत् । वाहिकास्वस्वकाहास्तस्मिन् । योद्धृ-धर्मो युद्ध उपचर्यते । 'ओहाङ् गतौ' इति धातोर्विच्प्रत्ययः । 'सोमपा' शब्दव-त्प्रक्रिया । 'वा' शब्दश्चार्थे । कं मदोदकमाकिरन्तीति काकारा मदस्राविणः । किरतेराङ्पूर्वात्कर्मण्यण् । एवंविधा इभभरा गजघटा यत्र तस्मिन् काकारेभभरे । काका इव काका गर्ह्या इति लक्षणया तेषामामन्त्रणम् । निस्वा निरुत्साहा भव्याः सोत्साहास्तानुभयान्व्ययन्ति संवृण्वन्तीति निस्वभव्यव्याः 'व्येञ् संवरणे' । 'आतोऽ-नुपसर्गेकः' । तैर्बभस्ति भासत इति निस्वभव्यव्यभस्वांस्तस्मिन् । 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' इति क्वनिप् । सर्वतो भ्रमणात्सर्वतोभद्राख्यश्चित्रबन्धः । यथाह दण्डी —'तदिदं सर्वतोभद्रं भ्रमणं यदि सर्वतः' इति । उद्धारस्तु — चतुष्कोष्ठे चतुरङ्ग-बन्धक्रमेणाद्यपङ्क्ति चतुष्टये पादचतुष्टयं विलिख्यानन्तरपङ्क्तिचतुष्टयेऽप्यधः क्रमेण पादचतुष्टयलेखने प्रथमासु चतसृषु पङ्क्तिषु प्रथमः पादः सर्वतो वाच्यते, द्वितीयादिषु द्वितीय इत्यादि ॥

प्रनृत्तशववित्रस्ततुरगाक्षिप्तसारथौ ।
मारुतापूर्णतूणीरविक्रुष्टहतसादिनि ॥ २६ ॥

प्रनृत्तेति ॥ प्रनृत्तशवेभ्यो नृत्यत्कबन्धेभ्यो वित्रस्तैः क्षुभितैस्तुरगैराक्षिप्ता अवधूताः सारथयो यत्र तस्मिन् । तथा मारुतेनापूर्णैर्व्याप्तैस्तूणीरैर्निषङ्गैर्विक्रुष्टाः शब्दायमाना हतास्ताडिताः सादिनस्तौरङ्गिका यत्र तस्मिन् । पाठान्तरे मारुतापूर्णतूणीरै-र्विकृष्टा आकर्षिता अतएव हता मारिताः सादिनोऽश्ववारा यत्र तस्मिन् ॥ २६ ॥

ससत्त्वरतिदे नित्यं सदरामर्षनाशिनि ।
त्वराधिककसन्नादे रमकत्वमकर्षति ॥ २७ ॥

(अर्धभ्रमकः)

ससत्त्वेति ॥ ससत्त्वानां सत्त्ववतां रतिदे रागप्रदे नित्यं सदराणां सभया-नाममर्षनाशिनि क्रोधहारिणि त्वरयोत्साहेन अधिकं कसन्तो विकसन्तो नादा यत्र तस्मिन् । रमयतीति रमकः । रमधातोर्वुञ् । तस्याकादेशः तद्भावो रमकत्वम् । रणकर्मणा पररञ्जकत्वम् । अकर्षत्यपनुदति । वीराणां परस्परमुत्साहं रणकर्मणा स्फोरयतीत्यर्थः ॥ २७ ॥

आसुरे लोकवित्रासविधायिनि महाहवे ।
युष्माभिरुन्नतिं नीतं निरस्तमिह पौरुषम् ॥ २८ ॥

आसुर इति ॥ एवंविध आसुरेऽसुरसम्बन्धिनि लोकवित्रासविधायिनि लोक-भयङ्करे महाहवे महायुद्धे युष्माभिरुन्नतिं वृद्धिं नीतं प्रापितं पौरुषं पुरुषकर्म निरस्तं नाशितम् । इह सङ्ग्रामे । कुलकम् ॥ २८ ॥

अन्वयः—विभिन्नपातिताश्वीयनिरुद्धरथवर्त्मनि हतद्विपनगष्ठ्यूतरुधिराम्बुनदाकुले: देवाकानिनि कावादे वाहिकास्वस्वकाहि वा काकारेभभरे काका निस्वभव्यव्यभस्वनि; प्रनृत्तशववित्रस्ततुरगाक्षिप्तसारथौ मारुतापूर्णतूणीरविक्रुष्टहतसादिनि; ससत्वरतिदे नित्यं सदरामर्षनाशिनि त्वराधिककसन्नादे रमकत्वम् अकर्षति, आसुरे लोकवित्रासविधायिनि महाहवे युष्माभिः उन्नतिं नीतं पौरुषं निरस्तम् इह ।। २४-२८ ।।

हिन्दी—असुरों से होने वाले उस महान् भयङ्कर युद्ध में, जिसमें कि क्षत विक्षत अश्व के अङ्गों से रथों के मार्ग अवरुद्ध हो जाते हैं एवं मारे गये हाथीरूपी पहाड़ों से रक्तरूपी जल की धारा बहने लगती है; जो देवताओं को उत्साह देने वाला रहता है, जिसमें वाक् कलह बहुत थोड़ा-थोड़ा होता है, जो अवसर प्राप्त होने पर रणचातुरी द्वारा शत्रुओं को युद्ध में प्रयुक्त करने वाला है, मद बहाने वाले गजराज की घटा से व्याप्त रहता है, कौओं को आमन्त्रण देने वाला होता है और निरुत्साहियों और उत्साहियों को समान रूप से परिश्रम कराने वाला है । जिसमें शिरविहीन कबन्धों की उछल-कूद से भड़के हुए अश्वों से उनके सारथी गिर कर नीचे पड़े रहते हैं और खाली तरकसों में हवा भर जाने से जो शब्द होते हैं उससे उन आहत अश्वारोहियों के कान के पर्दे फटे पड़ते हैं और वे मर जाते हैं । ऐसे भयङ्कर युद्ध में जो बलवान् हैं, उन्हें तो आनन्द मिलता है और जो डरपोक हैं उनका क्रोध नष्ट हो जाता है । उत्साह की अधिकता से इसमें खूब शोर मचा रहता है, और भयङ्कर मार-काट से वीरों में परस्पर उत्साह की वृद्धि होती है । आप लोगों ने (पूर्व काल में) असुरों के ऐसे भयङ्कर महायुद्ध में, जो समस्त लोक को भय से कँपा देने वाला था, विकट पौरुष दिखलाया था (किन्तु) इस युद्ध में उसी पौरुष को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया ।। २४-२८ ।।

विमर्श—दूसरे श्लोक में सर्वतोभद्र बन्ध है, जिसका चित्र अन्त में दिया गया है । चतुर्थ श्लोक में अर्धभ्रमक है, इसका भी चित्र अन्त में दिया गया है । इन दोनों विकट बन्धों के चित्र को देखने से ही इनकी विशेषता ज्ञात हो जायगी ।

इति शासति सेनान्यां गच्छतस्ताननेकधा ।
निषिध्य हसता किञ्चित्तस्थे तत्रान्धकारिणा ।। २९ ।।

(निरोष्ठ्यूम्)

अन्वयः—इति सेनान्यां शासति अनेकधा गच्छतः तान् निषिध्य तत्र अन्धकारिणा किञ्चित् हसता तस्थे ।। २९ ।।

इतीति ।। इति इत्थं सेनान्यां स्कन्दे शासत्याज्ञापयति । अनेकधा गच्छतः पलायमानांस्तान् गणान्निषिध्य निवार्य, अन्धकारिणा हरेण किञ्चिद्धसता तस्थे स्थितम् । भावे लिट् ।। २९ ।।

हिन्दी—इस प्रकार से स्कन्दकुमार द्वारा लौटने की आज्ञा देने पर भी अनेक मार्गों से भागते हुए उन प्रमथ सैनिकों को रोकते हुए अन्धकासुर के शत्रु भगवान्

शङ्कर तनिक मुस्कराते हुए वहाँ आकार (स्वयं) उपस्थित हो गये ॥ २९ ॥

विमर्श—इस श्लोक में ओष्ठ्य अक्षरों का अभाव है ।

मुनीषुदहनातप्ताँल्लज्जया निविवृत्सतः ।
शिवः प्रह्लादयामास तान्निषेधहिमाम्बुना ॥ ३० ॥

अन्वयः—मुनीषुदहनातप्तान् लज्जया निविवृत्सतः तान् शिवः निषेधहि माम्बुना प्रह्लादयामास ॥ ३० ॥

मुनीति ॥ मुनेरिषव एव दहनस्तेनाऽऽतप्तान् पीडितांस्तथा लज्जया रणभङ्गाच्छालीनत्वेन निविवृत्सतो निवर्तितुकामान् । 'वृद्भ्यः स्यसनोः' इति विकल्पात्परस्मैपदम् । तान् गणान् शिवो निषेधो मा भैष्ट मा पलायतेति निवारणवचनं स एव हिमाम्बु शीतोदकं तेन । प्रह्लादयामास । रूपकालङ्कारः ॥ ३० ॥

हिन्दी—तपस्वी अर्जुन के बाणरूपी अग्नि से जले हुए और अब लज्जा पूर्वक रणभूमि में लौटते हुए उन प्रमथ सैनिकों को भगवान् शङ्कर ने अपने - मत डरो, मत भागो आदि निषेध वचन-रूपी शीतल जल से आनन्दित किया ॥ ३० ॥

विमर्श—यहाँ रूपक अलङ्कार है ।

दूनास्तेऽरिबलादूना निरेभा बहु मेनिरे ।
भीताः शितशराभीताः शङ्करं तत्र शङ्करम् ॥ ३१ ॥

(पादाद्यन्तयमकम्)

अन्वयः—दूनाः अरिबलात् ऊना निरेभाः भीताः शितशराभीताः ते तत्र शङ्करं शङ्करं मेनिरे ॥ ३१ ॥

दूना इति ॥ दूनाः शरतप्ताः । 'ल्वादिभ्यः' इति निष्ठानत्वम् । अरिबलात् शत्रुबलात् । ऊना ऊनबलाः । 'पञ्चमी विभक्ते' इति पञ्चमी । निरेभा निःशब्दाः । कुतः । भीतास्त्रस्ताः । कुतः । यतः शितैस्तीक्ष्णैः शरैरभीता अभिव्याप्ताः । इणः कर्मणि क्तः । ते गणास्तत्र रणे शङ्करमभयवचनेन सुखकरं शङ्करं शिवं बहु यथा तथा मेनिरेऽमन्यन्त ॥ ३१ ॥

हिन्दी—अर्जुन के बाणों से सन्तप्त, बल में विपक्षी से हीन, निःशब्द, डरे हुये, तीक्ष्ण बाणों से चारों ओर विद्ध उन प्रमथ सैनिकों ने उस रणभूमि में इस प्रकार की सान्त्वनाभरी वाणी से सुख पहुँचाने वाले भगवान् शङ्कर को बहुत कुछ समझा ।

विमर्श—इस श्लोक में पादाद्यन्त यमक है अर्थात् प्रत्येक पद का आदि चरण ही अन्त में भी आवृत्त हुआ है ॥ ३१ ॥

महेषुजलधौ शत्रोर्वर्तमाना दुरुत्तरे ।
प्राप्य पारमिवेशानमाशश्वास पताकिनी ॥ ३२ ॥

अन्वयः—दुरुत्तरे शत्रोः महेषुजलधौ वर्तमाना पताकिनी ईशान पारमिव प्राप्य आशश्वास ।। ३२ ।।

महेष्विति ।। दुरुत्तरे दुस्तरे शत्रोः सबन्धिनि महेषुजलधौ महति बाणसागरे वर्तमाना पताकिनी सेना । ईशानं शिवं पारं परतीरमिव । 'पारावारे परार्वाची' इत्यमरः । प्राप्य, आशश्वास प्राणिति स्म ।। ३२ ।।

हिन्दी—शत्रु के दुस्तर एवं विकट शर-रूपी-समुद्र में पड़ी हुई वह प्रमथों की सेना भगवान् शङ्कर को दूसरे पार के तट की भाँति पाकर जी उठी ।। ३२ ।।

स बभार रणापेतां चमूं पश्चादवस्थिताम् ।
पुरःसूर्यादपावृत्तां छायामिव महातरुः ।। ३३ ।।

अन्वयः—सः रणापेतां पश्चात् अवस्थितां चमूं पुरः सूर्यात् अपावृत्तां छायां महातरुरिव बभार ।। ३ ।।

स इति ।। स शिवो रणापेतां रणादपवृत्तां पराङ्मुखीभूतामत एव पश्चात् पृष्ठभागेऽवस्थितां चमूं पुरोऽग्रे स्थितः सूर्यः पुरःसूर्यः । रणोपमानमेषः । तस्मात्, अपावृत्तां परावृत्तां छायां महातरुरिव बभार । छायां तरुरिवात्मैकशरणां तां चमूं न मुमोचेत्यर्थः ।। ३३ ।।

हिन्दी—भगवान् शङ्कर ने रणभूमि से भागने वाली पीछे खड़ी हुई अपनी उस सेना को उसी प्रकार से धारण किया जिस प्रकार से सूर्य के सामने खड़ा हुआ विशाल वृक्ष अपने पीछे पड़ी हुई छाया को धारण करता है ।। ३३ ।।

विमर्श—अर्थात् जिस प्रकार से विशाल वृक्ष अपनी छाया को नहीं छोड़ता उसी प्रकार से भगवान् शङ्कर ने भी अपनी शरण में आई उस सेना को नहीं छोड़ा ।

मुञ्चतीशे शराञ्जिष्णौ पिनाकस्वनपूरितः ।
दध्वान ध्वनयन्नाशाः स्फुटन्निव धराधरः ।। ३४ ।।

अन्वयः—ईशे जिष्णौ शरान् मुञ्चति सति पिनाकस्वनपूरितः धराधरः स्फुटन्निव आशाः ध्वनयन् दध्वान ।। ३४ ।।

मुञ्चतीति ।। ईशे हरे कर्तरि जिष्णावर्जुने विषये शरान्मुञ्चति सति पिनाकस्य शिवकार्मुकस्य स्वनेन ध्वनिना पूरितो धराधर इन्द्रकीलः स्फुटन्निव विदीर्यमाण इवेत्युत्प्रेक्षा । आशा दिशो ध्वनयन् शब्दयुक्ताः कुर्वन् दध्वान शब्दमकरोत् । 'दिशस्तु ककुभः काष्ठा आशाश्च हरितश्चताः' इत्यमरः ।। ३४ ।।

हिन्दी—भगवान् शङ्कर ने अर्जुन पर जिस क्षण बाण-सन्धान किया उस क्षण उनके धनुष की टङ्कार से पूर्ण इन्द्रकील पर्वत मानों विदीर्ण-सा होते हुए तथा दिशाओं को प्रतिध्वनित करते हुए भीषण शब्द करने लगा ।। ३४ ।।

तद्गणा ददृशुर्भीमं चित्रसंस्था इवाचलाः ।
विस्मयेन तयोर्युद्धं चित्रसंस्था इवाचलाः ।। ३५ ।।

(द्विचतुर्थयमकम्)

अन्वयः—भीमं तयोः तत् युद्धं गणाः चित्रसंस्थाः अचलाः इव चित्रसंस्था इव अचलाः विस्मयेन ददृशुः ।। ३५ ।।

तदिति ।। भीमं तयोर्हरपाण्डवयोः । तत् प्रसिद्धं युद्धं गणाः प्रमथाश्चित्रसंस्थाश्चित्राकारा अचलाः शैला इव । तथाचित्र आलेख्ये संस्था स्थितिर्येषां ते चित्रसंस्थाश्चित्रलिखिता इव अचला आश्चर्यवशान्निश्चलाः सन्तो विस्मयेन ददृशुः ।। ३५ ।।

हिन्दी—शङ्कर और अर्जुन के उस भयङ्कर युद्ध को प्रमथगण चित्राकार पहाड़ के समान चित्रलिखित की भाँति आश्चर्य से निश्चल होकर देखने लगे ।

विमर्श—यह द्विचतुर्थ यमक है, अर्थात् इसमें द्वितीय चरण की चतुर्थ चरण के रूप में आवृत्ति हुई है ।। ३५ ।।

परिमोहयमाणेन शिक्षालाघवलीलया ।
जैष्णवी विशिखश्रेणी परिजह्रे पिनाकिना ।। ३६ ।।

अन्वयः—शिक्षालाघवलीलया परिमोहयमाणेन पिनाकिना जैष्णवी विशिखश्रेणीः परिजह्रे ।। ३६ ।।

परीति ।। शिक्षालाघवलीलयाऽभ्यासपाटवातिशयेन हेतुना परिमोहयमाणेन व्यामोहयता । 'अणावकर्मकाच्चित्तवकर्तृकात्' इति परस्मैपदे प्राप्ते 'नपादमि—' इत्यादिना तत्प्रतिषेधादात्मनेपदं शानच् । 'णेर्विभाषा' इति कृत्स्थस्य नस्य वा णत्वम् । पिनाकिना हरेण जिष्णोरर्जुनस्येयं जैष्णवो विशिखश्रेणी बाणसङ्घातः परिजह्रे निरस्ता ।। ३६ ।।

हिन्दी—अपने बाण चलाने के अभ्यास की निपुणता से अर्जुन को विस्मयविमुग्ध करते हुए पिनाकी भगवान् शङ्कर ने अर्जुन की बाणपङ्क्तियों को काट गिराया ।। ३६ ।।

अवद्यन्पत्रिणः शम्भोः सायकैरवसायकैः ।
पाण्डवः परिचक्राम शिक्षया रणशिक्षया ।। ३७ ।।

(आद्यन्तयमकम्)

अन्वयः—पाण्डवः अवसायकैः सायकैः शम्भोः पत्रिणः अवद्यन् शिक्षया रणशिक्षया परिचक्राम ।। ३७ ।।

अवद्यन्निति ।। पाण्डवोऽर्जुनः । अवसायकैरवसानकरैः । स्यतेर्ण्यन्ताण्वुल्प्रत्ययः । सायकैर्बाणैः शम्भोः पत्रिणः शरान् । अवद्यन् खण्डयन् । द्यतेः शतृप्रत्ययः ।

'ओतःश्यनि' इत्योकारलोपः । शिक्षया शक्तुं प्रभवितुमिच्छया । उत्साहेनेत्यर्थः । रणे शिक्षयाऽभ्यासेन च परिचक्राम । उत्साहनैपुण्याभ्यां चचारेत्यर्थः ।। ३७ ।।

हिन्दी—अर्जुन भी अपने अन्तकारी अर्थात् विनाशकारी बाणों से शङ्कर के बाणों को खण्डित करते हुए अत्यन्त उत्साह और रणचातुरी के साथ पैंतरे बदलने लगे ।। ३७ ।।

विमर्श—इसमें आद्यन्त यमक है । द्वितीय और चतुर्थ चरण के आदि पदों की अन्त में आवृत्ति हुई है ।

चारचुञ्चुश्चिरारेची चञ्चच्चीरुचा रुचः ।
चचार रुचिरश्चारु चारैराचारचञ्चुरः ।। ३८ ।।

(द्व्यक्षरः)

अन्वयः—चारचुञ्चुः चिरारेची चञ्चञ्चीररुचा रुचः रुचिरः आचारचञ्चुरः चारु चारैः चचार ।। ३८ ।।

चारैरिति ।। चारैर्गतिविशेषैर्वित्त इति चारचुञ्चुः । 'तेन वित्तश्चुञ्चुप्चणपौ' इति चुञ्चुप्प्रत्ययः । चिरमारेचयति रिक्तीकरोति शत्रूनिति चिरारेची । चञ्चतश्चलतश्चीरस्य वल्कलस्य रुचा प्रभया । रोचत इति रुचः शोभमानः । 'इगुपध—' इति कः । रुचिरः । सुन्दरः । चञ्चूर्यते भृशं चरतीति चञ्चुरः । चरतेर्यङन्तात्पचाद्यच् । 'चरफलोश्च' इति नुमागमः । 'यङोऽचि च' इति यङो लुक् । आचारस्य युद्धव्यवहारस्य चञ्चुरो भृशमाचरितः स मुनिश्चारु यथा तथा चारैश्चक्रादिबन्धैर्गतिविशेषैः । चचार । 'चारः प्रियालवृक्षे स्याद्गतौ बन्धापसर्पयोः' इति विश्वः ।। ३८ ।।

हिन्दी—विशेष गति में निपुण, अतिमात्रा में शत्रु को रिक्त कर देने वाले, चञ्चल वल्कल की कान्ति से सुशोभित, सुन्दर, युद्ध की कला में निपुण अर्जुन अति मनोहर गति से संचरण कर रहे थे ।। ३८ ।।

विमर्श—इस पूरे श्लोक में केवल दो अक्षरों -'च' और 'र' का प्रयोग कवि ने किया है । चारचुञ्चु - गतिविशेष में दक्ष, चिरारेची = अधिक समय में अथवा अधिक मात्रा में शत्रु को रिक्त कर देने वाले, चञ्चच्चीररुचारुचः = चञ्चल वल्कल की कान्ति से सुशोभित, रुचिर = सुन्दर, आचारचंचुरः = युद्ध की कला में निपुण या अभ्यासी, चारु = मनोहर, चारैः = गति से, चचार = संचरण करने लगे ।। ३८ ।।

स्फुरत्पिशङ्गमौर्वीकं धुनानः स बृहद्धनुः ।
धृतोल्कानलयोगेन तुल्यमंशुमता बभौ ।। ३९ ।।

अन्वयः—सः स्फुरत्पिशङ्गमौर्वीकं बृहद्धनुः धुनानः धृतोल्कानलयोगेन अंशुमता तुल्यं बभौ ।। ३९ ।।

स्फुरदिति ।। स मुनिरर्जुनः स्फुरन्ती पिशङ्गी पिशङ्गवर्णा मौर्वी ज्या यस्य

तत्तथोक्तम् । 'नद्यृतश्च' इति कप्प्रत्ययः । बृहद्धनुर्गाण्डीवं धुनानः कम्पयन् । उल्कैवानलस्तेन धृतो योगो येन तेन । अंशुमताऽर्केण सूर्येण तुल्यं बभौ । उपमा ।। ३९ ।।

हिन्दी—तपस्वी अर्जुन अपने पिशंग वर्ण की चमकती हुई प्रत्यंचा से युक्त गाण्डीव नामक विशाल धनुष को कँपाते हुए उल्का-रूपी अग्नि से संयुक्त सूर्य के समान सुशोभित हो रहे थे ।। ३९ ।।

विमर्श—यहाँ उपमा अलङ्कार है ।

पार्थबाणाः पशुपतेरावव्रुर्विशिखावलीम् ।
पयोमुच इवारन्ध्राः सावित्रीमंशुसंहतिम् ।।४० ।।

अन्वयः—पार्थबाणाः पशुपतेः विशिखावलीं सावित्रीं अंशुसंहतिम् अरन्ध्राः पयोमुच इव आवव्रुः ।। ४० ।।

पार्थेन । पार्थबाणा अर्जुनशराः पशुपतेर्विशिखावलीं शरसङ्घातम् । सवितुरियं सावित्री ताम् । अंशुसंहतिं किरणसमूहम् । अरन्ध्रा निबिडाः पयोमुचो मेघा इव । आवव्रुस्तिरोदधुः ।।४० ।।

हिन्दी—अर्जुन के बाणों ने पशुपति शङ्कर की बाणों की पङ्क्तियों को इस प्रकार से आच्छादित कर लिया जिस प्रकार से सूर्य किरणों को मेघ आच्छादित कर लेते हैं ।। ४० ।।

शरवृष्टिं विधूयोर्वीमुदस्तां सव्यसाचिना ।
रुरोध मार्गणैर्मार्गं तपनस्य त्रिलोचनः ।।४१ ।।

अन्वयः—त्रिलोचनः सव्यसाचिना उदस्तां उर्वीं शरवृष्टिं मार्गणैः विधूय तपनस्य मार्गम् रुरोध ।। ४१ ।।

शरेति ।। त्रिलोचनः शिवः । सव्येन सचते समवैतीति तेन सव्यसाचिनाऽर्जुनेन । उदस्तां क्षिप्तामुर्वीं महतीं शरवृष्टिं मार्गणैः शरैर्विधूय निरस्य तपनस्य रवेर्मार्गं रुरोधावव्रे ।।४१ ।।

हिन्दी—तदनन्तर त्रिलोचनशङ्कर ने सव्यसाची अर्जुन द्वारा प्रक्षिप्त भीषण बाणों की वृष्टि को अपने बाणों से निरस्त करके सूर्य के मार्ग को अवरुद्ध कर दिया ।।

तेन व्यातेनिरे भीमा भीमार्जनफलाननाः ।
न नानुकम्प्य विशिखाः शिखाधरजवाससः ।।४२ ।।

(शृंखलायमकम्)

अन्वयः—तेन भीमाः भीमार्जनफलाननः शिखाधरजवाससः विशिखाः अनुकम्प्य न व्यातेनिरे न ।। ४२ ।।

तेनेति ।। तेन शिवेन भीमा भयङ्करास्तथा भियो भयस्य मार्जनं निरासस्तदेव

फलं प्रयोजन येषां तान्याननान्यग्राणि येषां ते भीमार्जनफलाननाः । तथा शिखाधरा मयूरास्तेषु जातानि शिखाधरजानि बर्हाणि तानि वासांसीव वासांसि पक्षा येषां ते शिखाधरजानि मयूरपक्षिण इत्यर्थः । विशिखा बाणा । अनुकम्प्य कृपां कृत्वा न व्यातेनिर इति न । किं त्वनुकम्प्यैवेत्यर्थः । अनुजिघृक्षुत्वादिति भावः । संभाव्य-निषेधने द्वौ प्रतिषेधावित्युक्तम् ।।४२ ।।

हिन्दी—शङ्कर जी ने अपने उन बाणों को, जो अत्यन्त भयङ्कर थे जिनके अग्रभाग अर्थात् तीक्ष्ण फंल भय को दूर करने में समर्थ थे और जो मयूर की पुच्छों से विभूषित थे, अनुकम्पा वश होकर नहीं छोड़ा, ऐसा नहीं कहना चाहिये ।। ४२ ।।

विमर्श—अर्थात् अपने अत्यन्त भयभीत सैनिकों पर अनुकम्पा करके शिव जी ने ऐसे बाणों की वृष्टि की । शृंखला यमक ।

द्युवियद्गामिनी तारसंरावविहतश्रुतिः ।
हैमीषुमाला शुशुभे विद्युतामिव संहतिः ।। ४३ ।।

(गूढचतुर्थपादः)

अन्वयः—द्युवियद्गामिनी तारसंरावविहतश्रुतिः हैमी इषुमाला विद्युतां संहतिः इव शुशुभे ।। ४३ ।।

द्युवियदिति ।। द्यां स्वर्गं वियदन्तरिक्षं च गामिनी व्यापिनी द्युवियद्गामिनी । द्वितीयाप्रकरणे श्रितादिषु गम्यादीनामुपसंख्यानात्समासः । तारेणोच्चैस्तरेण संरावेण नादे न विहता विद्धाः श्रुतयः कर्णा यया सा तथोक्ता । हैमी हेममयी इषुमाला शिव-शरावलिर्विद्युतां संहतिरिवोक्तविशेषण विद्युन्मालेव । शुशुभे चतुर्थपादवर्णानां त्रिपाद्यां संभवाद्गूढचतुर्थपादमाहुः ।।४३ ।।

हिन्दी—स्वर्ग एवं अन्तरिक्ष में संचरण करने वाली, अपने उच्च स्वर से कर्ण-कुहरों को भेदने वाली, भगवान् शङ्कर की सुवर्णमयी बाणों की पङ्क्तियाँ बिजली के समूह के समान सुशोभित होने लगीं ।। ४३ ।।

विमर्श—इस श्लोक का चतुर्थ पाद "विद्युतामिव संहति" के सभी अक्षर अन्य तीनों पादों में छिपे हुए हैं, इसे गूढ चतुर्थपाद बन्ध कहते हैं ।

विलङ्घ्य पत्रिणां पङ्क्तिं भिन्नः शिवशिलीमुखैः ।
ज्यायो वीर्यमुपाश्रित्य न चकम्पे कपिध्वजः ।। ४४ ।।

अन्वयः—शिवशिलीमुखैः पत्रिणां पंक्तिम् विलङ्घ्य भिन्नः कपिध्वजः ज्यायः वीर्यम् उपाश्रित्य न चकम्पे ।। ४४ ।।

विलङ्घ्येति ।। शिवशिलीमुखैः पत्रिणां पङ्क्तिं निजशरावलिं विलङ्घ्यतिक्रम्य भिन्नो विद्ध कपिध्वजोऽर्जुनो ज्यायः प्रशस्तम् । 'वृद्धप्रशस्ययोर्ज्यायान्' इत्यमरः । वीर्यं सत्त्वम् । उपाश्रित्यावस्थाय न चकम्पे न चचाल । किन्तु तान्सहन्नव-तस्थावित्यर्थः ।।४४ ।।

हिन्दी—भगवान् शङ्कर द्वारा चलाये गए बाणों ने अर्जुन के बाणों की पङ्क्तियों को भिन्न करके बिद्ध कर दिया, किन्तु (फिर भी) कपिध्वज अर्जुन अपने प्रशंसनीय पौरुष का सहारा लेकर तनिक भी विचलित नहीं हुए ॥ ४४ ॥

विमर्श—अर्थात् बिद्ध होने पर भी उन्होंने उसे सहन किया ।

जगतीशरणे युक्तो हरिकान्तः सुधासितः ।
दानवर्षी कृताशंसो नागराज इवाबभौ ॥ ४५ ॥

(अर्थत्रयवाची)

अन्वयः—जगतीशरणे युक्तः हरिकान्तः सुधासितः दानवर्षी कृताशंसः नागराजः इव आबभौ ॥ ४५ ॥

जगतीति ॥ अर्थत्रयवाची श्लोकोऽयम् । तत्रादौ अगराज इति पदच्छेद-माश्रित्यप्रथमोऽर्थोऽभिधीयते — (१) ईशस्य रणे युक्तः शक्तः । अन्यत्र, —जगतीशरणे भूरक्षणे युक्तः स्थितः । विधिनेति शेषः । हरिः सिंह इव कान्तो मनोहरः । अन्यत्र,—हरिणां सिंहानां कान्त आवासदानात्प्रियः । सुष्ठु दधाति पालयति प्रजा इति सुधाः । क्विबन्तः । असितः कृष्णवर्णः । ततो विशेषणसमासः । अन्यत्र,—सुधालेप-द्रव्यविशेषस्तद्वत् सितो धवलः । दानवर्षी बहुप्रदः कृताशंसः कृतजयाभिलाषः । अन्यत्र, दानवैर्दैत्यैर्ऋणिभिः इना कामेन न च कृताशंसा नानाफलाभिलाषो यस्मिन्स ना नरोऽर्जुनः । अगराजो हिमवानिव जगत्याबभावित्येकोऽर्थः ॥ (२) ॥ अथ ऐरावत-साम्यमुच्यते—जगतीं भुवं श्यन्ति तनूकुर्वन्तीति ते जगतीशा राक्षसास्तेषां रणस्तत्र युक्तो विहितसमर्थः । हरिकान्त इन्द्रप्रियः । उभयत्रापि समानमेतत् । सुधासितोऽमृतः स्वच्छः । एकत्र,—शीलतः, अन्यत्र,—वर्णत इति विवेकः । दानवर्षी धनप्रदो मदस्रावी च । कृताशंस उभयत्र कृतजिगीषः । पार्थो नागराज इव ऐरावत इव । आवभाविति द्वितीयोऽर्थः ॥ (३) अथ शेषौपम्यमुच्यते—जगतीशरणे भूरक्षणे युक्तो नियुक्तः । दैवेनेति शेषः । 'शरणं गृहरक्षित्रोः' इत्यमरः । हरिकान्तः कृष्णप्रियः । उभयत्रापि तुल्यम् । सुष्ठुदधातीति सुधा । वसुधेति केचित् । एकदेशग्रहणात् समुदायग्रहणम् । तत्र सितो बद्धः । 'षिञ् बन्धने' क्तः । अन्यत्र,—सुधयाऽमृतेन सितो बद्धः । अमृतप्रिय इत्यर्थः । दानवाश्च ऋषयश्च (ईर्लक्ष्मीश्च ताभिः) तैः कृताशंसो विहितप्रशंसः । उभयत्राति तुल्यमेतत् । सोऽर्जुनो नागराजः शेष इवाबभाविति तृतीयोऽर्थः ॥ ४५ ॥

{इस श्लोक के तीन अर्थ है । कवि ने अर्जुन की उपमा नागराज (हिमालय), नागराज (हाथियों के राजा, ऐरावत) तथा नागराज (नागों के राजा शेष) से दी है । नीचे क्रमानुसार तीनों अर्थ दिये जा रहे हैं । ये अर्थ कहीं-कहीं तो सहज बोधगम्य हैं और कहीं क्लिष्ट कल्पना द्वारा ।}

प्रथम अर्थ - (नागराज हिमालय के पक्ष में) ईश अर्थात् शिव से युद्ध करने में तत्पर, सिंह के समान सुन्दर, सम्यक् रीति से प्रजापालन करने वाले, कृष्णवर्ण,

बहुदानी, युद्ध में विजय के अभिलाषी अर्जुन विधाता द्वारा पृथ्वी की रक्षा में नियुक्त, निवासस्थानादि के दान से सिंहों के प्रिय, (बर्फ से ढके रहने के कारण) सुधा अर्थात् चूने के समान श्वेत, दानवों, ऋषियों तथा कामदेव से प्रशंसित नगराज हिमालय के समान सुशोभित हो रहे थे ।। १ ।।

द्वितीय अर्थ - (नागराज ऐरावत के पक्ष में) पृथ्वी की अपनी शरण में रखने के लिए नियुक्त, इन्द्र के प्रिय, अमृत के समान शील-सदाचार से स्वच्छ शरीर वाले, दान की वर्षा करने वाले, युद्ध में विजय की अभिलाषी, अर्जुन जगती अर्थात् पृथ्वी को क्षीण करने वाले राक्षसों के साथ युद्ध करने में तत्पर, इन्द्र के प्रिय, अमृत के समान श्वेत वर्ण वाले, मद वर्षा करने वाले एवं विजयाभिलाषी नागराज ऐरावत की भाँति शोभा पा रहे थे ।। २ ।।

तृतीय अर्थ - (नागराज शेष के पक्ष में) विधाता द्वारा पृथ्वी की रक्षा करने में नियुक्त, कृष्ण के प्रिय, वसुधा अर्थात् पृथ्वी में निबद्ध अथवा अमृत वत स्वच्छ शरीर, दानवों, ऋषियों तथा लक्ष्मी द्वारा प्रशंसित अर्जुन विधाता द्वारा संसार की रक्षा में नियुक्त, विष्णु के प्रिय, अमृत के प्रेमी, दानवों ऋषियों तथा लक्ष्मी से प्रशंसित नागराज शेष के समान सुशोभित हो रहे थे ।। ३ ।।

विफलीकृतयत्नस्य क्षतबाणस्य शम्भुना ।
गाण्डीवधन्वन: खेभ्यो निश्चक्राम हुताशन: ।। ४६ ।।

अन्वय:—शम्भुना क्षतबाणस्य विफलीकृतयत्नस्य गाण्डीवधन्वन: खेभ्य: हुताशन: निश्चक्राम ।। ४६ ।।

विफलीति ।। शम्भुना क्षतबाणस्य अत एव विफलीकृतयत्नस्य निष्फल-प्रयत्नस्य गाण्डीवं धनुर्यस्य तस्य गाण्डीवधन्वनोऽर्जुनस्य । 'वा संज्ञायाम्' इत्यनङादेश: । खेभ्य इन्द्रियरन्ध्रेभ्य:। 'खमिन्द्रये सुखे स्वर्गे' इति विश्व:। हुताशनोऽग्नि:। निश्चक्राम निष्क्रान्त: । क्रोधादिति भाव: ।। ४६ ।।

हिन्दी—भगवान् शङ्कर द्वारा बाणों के काट देने तथा इस प्रकार अपने प्रयत्नों के विफल हो जाने से गाण्डीवधारी अर्जुन की इन्द्रियों से (क्रोध के मारे) आग निकलने लगी ।। ४६ ।।

स पिशङ्गजटावलि: किरन्नुरु तेज: परमेण मन्युना ।
ज्वलितौषधिजातवेदसा हिमशैलेन समं विदिद्युते ।। ४७ ।।

अन्वय:—पिशङ्गजटावलि: परमेण मन्युना उरुतेज: किरन् स: ज्वलितौषधि-जातवेदसा हिमशैलेन समं विदिद्युते ।। ४७ ।।

स इति ।। पिशङ्गजटावलि: पिशङ्गजटाजूट: परमेणोत्कृष्टेन मन्युना क्रोधेन । उरु महत्तेज: किरन् विक्षिपन् सोऽर्जुनो ज्वलिता ओषधयस्तृणज्योतींषि जातवेदा

दवाग्निश्च यस्मिंस्तेन हिमशैलेन समं तुल्यं हिमाद्रिरिव विदिद्युते हिमाद्रिवच्छुशुभ इति बिम्बप्रतिबिम्बभावोपमा ।। ४७ ।।

हिन्दी—पीले वर्ण के जटाओं से विभूषित एवं अत्यन्ति क्रोध से महान् तेज का विस्तार करते हुए अर्जुन उस क्षण देदीप्यमान औषधियों तथा जलते हुए दावानल से व्याप्त हिमालय के समान प्रकाशपुञ्ज से परिपूर्ण दिखाई पड़े ।। ४७ ।।

विमर्श—यहाँ उपमा अलङ्कार है ।

शतशो विशिखानवद्यते भृशमस्मै रणवेगशालिने ।
प्रथयन्ननिवार्यवीर्यतां प्रजिघायेषुमघातुकं शिवः ।। ४८ ।।

अन्वयः—शिवः शतशः विशिखान् अवद्यते रणवेगशालिने अस्मै भृशम् अनिवार्यवीर्यताम् प्रथयन् अधातुकम् इषुम् प्रजिघात ।। ४८ ।।

शतश इति ।। शिवः शतशो विशिखानवद्यते खण्डयते रणवेगशालिने रणसंरम्भशोभिनेऽस्मै पार्थाय भृशमत्यर्थम् । अनिवार्यवीर्यताम् । निजामिति शेषः । तस्मै प्रथयन् दर्शयन् । किं तु अघातुकममारकम् । 'लष—पत'—इत्यादिना हन्तेरुकञ् । इषुम् । जातावेकवचनम् । प्रजिघाय प्रयुयुजे । 'हि गतौ इति धातोर्लिट् । 'हेरचङि इति कुत्वम् ।। ४८ ।।

हिन्दी—शिव जी ने अपने सैकड़ों बाणों को काट डालने वाले, रण के वेग से युक्त अर्जुन को अपने अमोघ पराक्रम का अत्यन्त परिचय कराते हुए उनपर ऐसा बाण छोड़ा, जो उन्हें घायत तो कर दे किन्तु उनका प्राण न हरण करे ।। ४८ ।।

शम्भोर्धनुर्मण्डलतः प्रवृत्तं तं मण्डलादंशुमिवांशुभर्तुः ।
निवारयिष्यन्विदधे सिताश्वः शिलीमुखच्छायवृतां धरित्रीम् ।। ४९ ।।

अन्वयः—सिताश्वः शम्भोः धनुः मण्डलतः प्रवृत्तं तम् अंशुभर्तुः मण्डलात् अंशुम् इव निवारयिष्यन् धरित्रीं शिलीमुखच्छायवृतां विदधे ।। ४९ ।।

शम्भोरिति ।। सिताश्वोऽर्जुनः शम्भोर्धनुर्मण्डलतो धनुर्वलयात् प्रवृत्तं निष्क्रान्तं तमिषुम् । अंशुभर्त्तुरर्कस्य मण्डलात् प्रवृत्तं अंशुमिव । अत्रापीषुवज्जातावेकवचनम् । निवारयिष्यन् निवारयितुकामाः । क्रियार्थक्रियायां लृटि तस्य शत्रादेशः । धरित्रीं भुवं शिलीमुखानां छाया शिलीमुखच्छायम् । 'छाया बाहुल्ये' इति नपुंसकत्वम् । तेन वृतां व्याप्तां विदधे कृतवान् । शरजालच्छायावृतां धरित्रीमकरोदित्यर्थः । उपमालङ्कारः ।।

हिन्दी—अर्जुन ने भगवान् शङ्कर के धनुर्मण्डल से निकले हुए उस बाण को, जो सूर्य-मण्डल से निकली एक किरण के समान था, निवारित करते हुए धरती को अपने बाण की छाया से आवृत कर दिया ।। ४९ ।।

विमर्श—यहाँ उपमा अलङ्कार है ।

घनं विदार्यार्जुनबाणपूगं ससारवाणोऽयुगलोचनस्य ।
घनं विदार्यार्जुनबाणपूगं ससार बाणोऽयुगलोचनस्य ॥ ५० ॥

अन्वयः—अयुगलोचनस्य ससरबाणः घनम् अर्जुनबाणपूगं विदार्य घनम् विदार्य अर्जुनबाणपूगम् युगलोचनस्यबाणः ससार ॥ ५० ॥

घनमिति ॥ अयुगलोचनस्य विषमनेत्रस्येशस्यालोचनस्य । लोच्यतेऽसौ लोचनः । कर्मणि ल्युट् । न लोचनोऽलोचनस्तस्य अलोचनस्याचाक्षुषज्ञानविषयस्य सम्बन्धीसारो बलं वाणः शब्दस्ताभ्यां सारवाणाभ्यां स्थिरशब्दाभ्यां सह वर्तत इति ससारवाणः । बवयोरभेद इत्युक्तम् । न युज्यते कुत्रापीत्ययुक् सङ्गरहितः । क्विप् । बाणः शरः । जातावेकवचनम् । घनं सान्द्रं अर्जुनस्य बाणपूगं शरव्रातं विदार्य विभिद्य घनं निबिडं विदार्यो भूमिकूष्माण्ड्यो लताविशेषा अर्जुनाः ककुभवृक्षा बाणा नीलसैरेयकाः पूगाः क्रमुकास्तेषाम् । 'विभाषा वृक्ष—' इत्यादिना द्वन्द्वैकवद्भावः विदार्यार्जुनबाणपूगं संसार । विवेशेत्यर्थः । 'सृगतौ' । यद्वा, —तदानीमेव युगलोचनस्यार्जुनस्य ससारेत्यर्थः ॥ ५० ॥

हिन्दी—तदनन्तर अचाक्षुष ज्ञान के विषय अर्थात् एक मात्र दिव्यदृष्टि से ही गम्य भगवान् शङ्कर जी ने बड़े वेग के साथ एक बाण छोड़ा, जो अत्यन्त हृदयविदारक शब्द करता हुआ उनके धनुष से बाहर निकला । उस बाण ने अर्जुन के असंख्य बाणों के समूह को काट कर फेंक दिया ओर फिर उसी क्षण विदारी, ककुभ, शरपुखा एवं सोपारी आदि की घनी लताओं को चीरता हुआ वह आगे चला गया ॥ ५० ॥

विमर्श—महायमक । इसमें प्रथम और द्वितीय में समान ही तृतीय तथा चतुर्थ चरण भी हैं ।

रुजन्महेषून्बहुधाशुपातिनो मुहुः शरौघैरपवारयन्दिशः ।
चलाचलोऽनेक इव क्रियावशान्महर्षिसङ्घैर्बुबुधे धनञ्जयः ॥ ५१ ॥

अन्वयः—बहुधाशुपातिनः महेषून् मुहुः शरौघैः रुजन् दिशः अपवारयन् क्रियावशात् चलाचलः धनञ्जयः महर्षिसङ्घः अनेकः इव बुबुधे ॥ ५१ ॥

रुजन्नित्यादि ॥ बहुधाशुपातिनः शीघ्रमापततो महेषून् मुहुः शरौघै रुजन् भञ्जयन् । तथा दिशश्चापवारयन्नाच्छादयन् । क्रियावशात् युद्धकर्मायत्ततया । चलाचलोऽतिचञ्चलो धनञ्जयोऽर्जुनो महर्षिसङ्घैरनेको बहुविध इव बुबुधे ददृशे ॥ ५१ ॥

हिन्दी—अनेक दिशाओं में शीघ्रता के साथ बरसते हुए शङ्कर जी के भयङ्कर बाणों को अपने बाणों के समूह से रोकते हुए तथा दिशाओं को आच्छादित करते हुए अपनी विशेष गति के कारण अत्यन्त चञ्चल मुद्रा में खड़े हुए अर्जुन को महर्षियों ने अनेक अर्जुनों के समान देखा ॥ ५१ ॥

विकाशमीयुर्जगतीशमार्गणा विकाशमीयुर्जगतीशमार्गणाः ।
विकाशमीयुर्जगतीशमार्गणा विकाशमीयुर्जगतीशमार्गणाः ॥ ५२ ॥

(महायमकम्)

अन्वयः—जगतीशमार्गणाः विकाशम् ईयुः जगति ईशमार्गणाः विकाशम् ईयुः जगतीशमार्गणः विकाशम् ईयुः जगतीशमार्गणाः विकाशम् ईयुः ॥ ५२ ॥

विकाशमिति ॥ जगतीशस्य पृथिवीपतेरर्जुनस्य मार्गणा बाणा विकाशं प्रसारम् । ईयुः । तथा, जगति लोक ईशमार्गणाः शम्भुशरा विकाशं विषमगतिम् । ईयुः । भङ्गमीयुरित्यर्थः । तथा जगतीं श्यन्ति तनूकुर्वन्तीति जगतीशा दानवाः । 'आतोऽनुपसर्गे कः' । तान्मारयन्तीति जगतीशमारः । म्रियतेर्ण्यन्तात्क्विप् । ते च ते गणाः प्रमथाः जगतीशमार्गणा विकाशमुल्लासं हर्षम् । ईयुः । प्रापुरित्यर्थः । अहो देवेऽप्यस्य पराक्रमप्रसर इति विस्मयादिति भावः । तदानीं मार्गयन्तीति मार्गणा अन्वेषकाः । कर्तरि ल्युट् । जगतीशस्य त्रैलोक्यनाथस्य मार्गणा अन्वेषकाः शिवद्रष्टारो देवर्ष्यादयो वीनां पक्षिणां काशो गतिरत्रेति विकाशमाकाशम् । ईयुः । दिदृक्षयेति भावः ॥ ५२ ॥

हिन्दी—पृथ्वीपति अर्जुन के बाण विस्तार को प्राप्त होने लगे तथा शिव जी के बाण भङ्ग होने लगे । राक्षसों के हन्ता प्रमथ गण (अर्जुन के इस भीषण पराक्रम को देख कर कि अरे ! यह तो भगवान् शङ्कर के बाणों को भी व्यर्थ बना रहा है -) विस्मित होने लगे तथा शिव का ध्यान करने वाले देवता तथा ऋषिगण पक्षियों के मार्ग आकाश-मण्डल में (यह भयङ्कर युद्ध देखने के लिए) एकत्र होने लगे ॥ ५२ ॥

विमर्श—यह भी महायमक है । इसमें भी प्रथम चरण की द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ चरण के रूप में आवृत्ति हुई हैं ।

संपश्यतामिति शिवेन वितायमानं लक्ष्मीवतः क्षितिपतेस्तनयस्य वीर्यम्।
अङ्गान्यभिन्नमपि तत्त्वविदां मुनीनां रोमाञ्चमञ्चिततरं बिभरांबभूवुः ॥ ५३ ॥

इति भारविकृतौ महाकाव्ये किरातार्जुनीये पञ्चदशः सर्गः ॥ १५ ॥



अन्वयः—इति शिवेन वितायमानम् लक्ष्मीवतः क्षितिपतेः तनयस्य वीर्यम् सम्पश्यताम् तत्त्वविदाम् अपि मुनीनाम् अङ्गानि अभिन्नम् अञ्चिततरम् रोमाञ्चम् बिभराम्बभूवुः ॥ ५३ ॥

संपश्यतामिति ॥ इति इत्थं शिवेन वितायमानं विस्तार्यमाणम् । 'तनोतेर्यकि'

इति वैकल्पिक आकारादेश: । लक्ष्मीवतो जयश्रीमत: । 'मादुपधाया–' इत्यादिना मतुपो मस्य वकार: । क्षितिपतेस्तनयस्यार्जुनस्य वीर्यं शौर्यं संपश्यतां तत्त्वविदामपि हरेरंशावतारोऽप्ययमिति विदुषामपि । किमुतान्येषामिति भाव: । मुनीनामङ्गानि गात्राणि । अभिन्नमविरलम् । अञ्चिततरमतिरुचिरतरं रोमाञ्चं रोमहर्षं बिभारांबभूवुर्बभ्रु: । 'भीही–' इत्यादिना विकल्पादाम्प्रत्यय: ।।५३ ।।

इति श्रीमहामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितायां किरातार्जुनीयकाव्य व्याख्यायां घण्टापथसमाख्यायां पञ्चदश: सर्ग: समाप्त: ।।१५ ।।



हिन्दी—इस प्रकार भगवान् शङ्कर द्वारा विस्तारित किए गए, विजयश्री से विभूषित राजपुत्र अर्जुन के पराक्रम को देखने वाले, तत्वज्ञानी मुनियों के भी अङ्ग सघन (अविरल) एवं सुन्दर रोमांच से युक्त हो गए ।। ५३ ।।

विमर्श—तत्वज्ञानी विशेषण देने का तात्पर्य यह है कि वे यह जानते थे कि अर्जुन नारायण के अंशभूत अवतार हैं ।

।। इस प्रकार श्रीभारविकृत किरातार्जुनीयम् महाकाव्य के पन्द्रहवें सर्ग की डॉ सुधाकर मालवीय कृत हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ।। १५ ।।



षोडश: सर्ग:

ततः किराताधिपतेरलध्वीमाजिक्रियां वीक्ष्य विवृद्धमन्युः ।
स तर्कयामास विविक्ततर्कश्चिरं विचिन्वन्निति कारणानि ॥ १ ॥

अन्वयः—ततः किराताधिपतेः अलघ्वीम् आजिक्रियाम् वीक्ष्य विवृद्धमन्युः विविक्ततर्कः सः चिरं कारणानि विचिन्वन् इति तर्कयामास ॥ १ ॥

तत इति ॥ ततोऽनन्तरं किराताधिपतेः सम्बन्धिनीम् । अलध्वीं गुर्वीम् । आजिक्रियां रणकर्म वीक्ष्य विवृद्धमन्युर्विवृद्धकोपो विविक्तो निष्कलङ्कस्तर्क ऊहो ज्ञानं वा यस्य सोऽर्जुनः कारणानि रणभराशक्तिकारणानि विचिन्वन् विमृशन् । इति इत्थं वक्ष्यमाणप्रकारेण तर्कयामासाभ्यूहितवान् ॥ १ ॥

हिन्दी—तदनन्तर किरात सेनापति (वेषधारी भगवान् शङ्कर) की असाधारण रणनिपुणता देखकर अर्जुन अत्यन्त क्रुद्ध हो गये और अपने विशुद्ध अनुमान के बल पर वह बड़ी देर तक कारणों का अन्वेषण करते हुये इस प्रकार से तर्क-वितर्क करने लगे ॥ १ ॥

विमर्श—तेईस श्लोकों में अर्जुन के तर्क-वितर्क का वर्णन किया गया है ।

अथ त्रयोविंशतिश्लोकैर्वितर्कमेवाह —

मदस्रुतिश्यामितगण्डलेखाः क्रामन्ति विक्रान्तनराधिरूढाः ।
सहिष्णवो नेह युधामभिज्ञा नागा नगोच्छ्रायमिवाक्षिपन्तः ॥ २ ॥

अन्वयः—मदस्रुतिश्यामितगण्डलेखाः विक्रान्तनराधिरूढाः सहिष्णवः, युधाम् अभिज्ञाः नगोच्छ्रायम् आक्षिपन्तः इव नागाः इह न क्रामन्ति ॥ २ ॥

मदेत्यादि ॥ इहास्मिन्युद्धे मदस्रुतिभिर्मदप्रवाहैः श्यामाः कृता इति श्यामिता गण्डलेखाः कपोलभागा येषां ते विक्रान्ताः पराक्रमं कुर्वन्तः । कर्तरि क्तः । 'शूरो वीरश्च विक्रान्तः' इत्यमरः । तैर्नरैरधिरूढाः सहिष्णवो रणभरक्षमा युधां युद्धानामभिज्ञाः । शिक्षिता इत्यर्थः । कृद्योगात्कर्मणि षष्ठी । किंच, नगानामुच्छ्रायं पर्वतानामौन्नत्यम् । घञन्तेनोपसर्गस्य समासो नोपसृष्टाद्धञ्प्रत्ययः । 'श्रिणीभुवोऽनुपसर्गे' इत्यत्रानुपसर्ग इति निषेधात् । आक्षिपन्तः प्रतिषेधयन्त इव स्थिताः । तथोन्नता इत्यर्थः । नागा गजा इह सङ्ग्रामे न क्रामन्ति न चरन्ति । यथा युद्धान्तरेष्विति शेषः । एवमुत्तरत्रापि सर्वत्र द्रष्टव्यम् । तथापि कथं मे शक्तिह्रासोऽयमिति सर्वत्र तात्पर्यार्थः ॥ २ ॥

हिन्दी—इस युद्ध में निरन्तर मदवर्षा से श्यामल गण्डस्थल वाले, पराक्रमी शूरवीरों से अधिष्ठित, युद्ध का कष्ट उठाने में समर्थ, रणकुशल, ऊँचाई में पर्वतों को भी तिरस्कृत करने वाले गजराज (भी) नहीं घूम रहे हैं ।। २ ।।

विमर्श—अर्थात् इस युद्ध में तो ऐसे गजराज भी नहीं हैं, तब फिर मेरी शक्ति का इस प्रकार से सर्वत्र क्यों ह्रास दिखाई पड़ रहा है ।

विचित्रया चित्रयतेव भिन्नां रुचं रवे: केतनरत्नभासा ।
महारथौघेन न संनिरुद्धा पयोदमन्द्रध्वनिना धरित्री ।। ३ ।।

अन्वय:—विचित्रया केतनरत्नभासा भिन्नां रवे: रुचं चित्रयता इव पयोदमन्दध्वनिना महारथौघेन धरित्री न सन्निरुद्धा ।। ३ ।।

विचित्रेति ।। विचित्रया नानावर्णया केतनानां रत्नानि तेषां भासा प्रभया भिन्नां संवलितां रवे रुचं कान्तिं चित्रयता विचित्रवर्णां कुर्वता इव स्थितेनेति केतनौन्नत्य निमित्तेयमुत्प्रेक्षा । पयोदमन्द्रध्वनिना मेघगम्भीरघोषेण महतां स्थानामोघेन समूहेन धरित्री न संनिरुद्धा नावृता ।। ३ ।।

हिन्दी—अपनी ऊँची-ऊँची पताकाओं की अनेक वर्णोंवाली रत्नप्रभा से सूर्य की किरणों को रंग-बिरंगी बनाने वाली, बादलों के समान गंभीर गर्जन करने वाली, बड़े-बड़े रथों की पङ्क्तियों से भी धरती आच्छन्न नहीं दिखाई पड़ रही है ।। ३ ।।

समुल्लसत्प्रासमहोर्मिमालं परिस्फुरच्चामरफेनपङ्क्ति ।
विभिन्नमर्यादमिहातनोति नाश्वीयमाशा जलधेरिवाम्भ: ।। ४ ।।

अन्वय:—इह समुल्लसत्प्रासमहोर्मिमालं परिस्फुरच्चामरफेनपङ्क्ति अश्वीयं जलधे: अम्भ: इव विभिन्नमर्यादम् आशा: न आतनोति ।। ४ ।।

समुल्लसदिति ।। इह युद्धे प्रासा: कुन्ता: । 'प्रासस्तु कुन्त:' इत्यमर:। ते महोर्मय इव तेषां माला: समुल्लसन्त्यो यत्र तत् समुल्लसत्प्रासमहोर्मिमालम् । चामराणि फेना इव चामरफेनास्तेषां पङ्क्तय: परिस्फुरन्त्यश्चामरफेनानां पङ्क्तयो यत्र तत्तथोक्तम्। अश्वीयमश्वसमूह: । 'वृन्दे त्वश्वीयमाश्ववत्' इत्यमर: । जलधेरम्भ इव विभिन्नमर्यादमुन्मर्यादमुच्छृङ्खलं यथा तथा, आशा दिशो नातनोति नावृणोति ।। ४ ।।

हिन्दी—इस युद्ध में चमकते हुए भालों-रूपी महान् तरङ्गों से युक्त, फरफराते हुए चमर-रूपी फेन पङ्क्तियों से सुशोभित, अश्वारोही जलनिधि समुद्र की जलराशि के समान दिशाओं को अमर्यादित करते हुए आच्छादित नहीं कर रहे हैं ।। ४ ।।

हताहतेत्युद्धतभीमघोषै: समुज्झिता योद्धृभिरभ्यमित्रम् ।
न हेतय: प्राप्ततडित्त्विष: खे विवस्वदंशुज्वलिता: पतन्ति ।। ५ ।।

अन्वय:—हत आहत इति उद्धतभीमघोषै: योद्धृभि: अभ्यमित्रं समुज्झिता विवस्वदंशुज्वलिता: प्राप्ततडित्त्विष: हेतय: खे न पतन्ति ।। ५ ।।

हतेति ॥ हत प्रहरत । आहत विध्यत । हन्तेर्लोट् । मध्यमपुरुषबहुवचनम् । 'अनुदात्तोपदेश—' इत्यादिनाऽनुनासिकलोप: । आहतेत्यत्र कर्मण: प्रयोगासंभवेऽपि हन्ते: स्वाभाविकसकर्मकत्वस्यानपायात् । अकर्मकत्वस्य चात्राविवक्षितत्वेनकर्म-वृत्त्यैव तन्निवृत्ते: 'आङो यमहन:' इतिनात्मनेपदम् । इत्येवमुद्धता: प्रगल्भा भीमाश्च घोषा येषां तै: । योद्धभिर्योधै: । अभ्यमित्रममित्रानभि समुज्झिता मुक्ता विवस्वतोंऽशुभि: । प्रतिफलितैरिति भाव: । ज्वलिता दीपिता अत एव प्राप्तास्तडितां त्विष इव त्विषो याभिस्ता हेतय: शस्त्राणि । खे न पतन्ति । समुल्लसन्तो न दृश्यन्त इत्यर्थ: । हेति: स्यादायुधे' इति विश्व: ॥ ५ ॥

हिन्दी—इस युद्ध में 'मारो' 'काटो' - की भयङ्कर ध्वनि करने वाले योद्धाओं के द्वारा शत्रुओं पर छोड़े गए शस्त्रास्त्र समूह, सूर्य की किरणों से प्रतिफलित होकर बिजली के समान चमकते हुए आकाश में नहीं गिर रहे हैं ॥ ५ ॥

अभ्यायत: संततधूमधूम्रं व्यापि प्रभाजालमिवान्तकस्य ।
रज: प्रतूर्णाश्वरथाङ्गनुन्नं तनोति न व्योमनि मातरिश्वा ॥ ६ ॥

अन्वय:—अभ्यायत: अन्तकस्य सन्ततधूमधूम्रं व्यापि प्रभाजालम् इव प्रतूर्णाश्वरथाङ्गनुन्नं रज: मातरिश्वा व्योमनि न तनोति ॥ ६ ॥

अभीति ॥ अभ्यायतो वीरान् हन्तुमभ्यागच्छत: । इण: शतृप्रत्यय: । अन्तकस्य कालस्य सम्बन्धि संततं सततं धूमवद्धूम्रं व्यापि व्यापकं प्रभाजालमिव स्थितं प्रतूर्णैर्वेगवद्भिरश्वै रथाङ्गै रथचक्रैश्च नुन्नं प्रेरितं रजो मातरिश्वा मरुत् । व्योमन्यन्तरिक्षे न तनोति न विस्तारयति ॥ ६ ॥

हिन्दी—इस रणभूमि में वीरों को मारने के लिए समागत यमराज के निरन्तर धूम की तरह सर्वत्र व्याप्त प्रभा-जाल के समान, वेगवान् घोड़ों तथा रथ के चक्कों से उठी हुई धूल को पवन आकाश में नहीं फैला रहा है ॥ ६ ॥

भूरेणुना रासभधूसरेण तिरोहिते वर्त्मनि लोचनानाम् ।
नास्त्यत्र तेजस्विभिरुत्सुकानामह्नि प्रदोष: सुरसुन्दरीणाम् ॥ ७ ॥

अन्वय:—अत्र रासभधूसरेण भूरेणुना लोचनानां वर्त्मनि तिरोहिते तेजस्विभि: उत्सुकानां सुरसुन्दरीणाम् अह्नि प्रदोष: नास्ति ॥ ७ ॥

भूरेणुनेति ॥ अत्राहवे रासभो गर्दभस्तद्वद्धूसरेणेषत्पाण्डुना । 'रासभो गर्दभ: खर:' इत्यमर: । 'ईषत्पाण्डुस्तु धूसर:' इति च । भूरेणुना रजसा लोचनानां वर्त्मनि चक्षुर्मार्गे तिरोहिते सति तेजस्विभिस्तेजस्विषु वीरेषु । उत्सुकानाम् । वीरवरणार्थ-मागतानामित्यर्थ: । 'प्रसितोत्सुकाभ्यां तृतीया च' इति विकल्पात्तृतीया । सुरसुन्दरी-णामह्नि दिवस एव प्रदोषो रात्रिमुखं नास्ति । अन्धकारवत्त्वाद्दृष्टेस्तिरोधानाद् रात्रिभ्रम: स्यादिति भाव: ॥ ७ ॥

हिन्दी—इस युद्ध में गधे के समान धूसरित वर्ण की पृथ्वी की धूल से आँखों के मार्ग के अवरुद्ध हो जाने पर, तेजस्वी वीरों को वरण करने के लिए आई हुई उत्कण्ठित देवाङ्गनाओं को दिन में ही रात्रि काल का भ्रम नहीं हो रहा है ।

विमर्श—अर्थात् अन्य युद्धों में तो धूल से जो अन्धकार व्याप्त था, उससे देवाङ्गनाओं को दिन में ही रात्रि का भ्रम हो जाता था, इसमें तो यह भी नहीं हो रहा है ।

रथाङ्गसंक्रीडितमश्वहेषा बृहन्ति मत्तद्विपबृंहितानि ।
सङ्घर्षयोगादिव मूर्च्छितानि ह्रादं निगृह्णन्ति न दुन्दुभीनाम् ।। ८ ।।

अन्वयः—रथाङ्गसङ्क्रीडितम् अश्वहेषा बृहन्ति मत्तद्विपबृंहितानि, सङ्घर्षयोगात् इव मूर्च्छितानि दुन्दुभीनां ह्रादं न निगृह्णन्ति ।। ८ ।।

रथाङ्गेति ।। रथाङ्गसंक्रीडितं रथचक्रकूजितम् । अश्वानां हेषा हेषितानि शब्दितानि । 'अश्वानां हेषाह्रेषा च निःस्वनः' इत्यमरः । बृहन्ति महान्ति मत्तद्विपानां बृंहितानि । 'बृंहितं करिगर्जितम्' इत्यमरः । सङ्घर्षयोगादिव परस्परस्पर्धासम्बन्धादिव मूर्च्छितानि वृद्धिं गतानि सन्ति । 'नपुंसकमनपुंसक—' इत्यादिना नपुंसकैकशेषः । दुन्दुभीनां भेरीणां ह्रादं निर्घोषम् । 'स्वाननिर्घोषनिह्राद—' इत्यमरः । न निगृह्णन्ति न तिरस्कुर्वन्ति ।। ८ ।।

हिन्दी—(इस युद्ध में) रथों के चक्कों की घरघराहट, घोड़ों की हिनहिनाहट, भीषण रूप से मतवाले हाथियों की चिग्घाड़ - ये सब ध्वनियाँ मानों परस्पर स्पर्धा करते हुए एक होकर ऐसे भयङ्कर नहीं बन रही हैं कि जिससे दुन्दुभियों की आवाज भी तिरस्कृत हो जाती है ।। ८ ।।

अस्मिन् यशः पौरुषलोलुपानामरातिभिः प्रत्युरसं क्षतानाम् ।
मूर्च्छान्तरायं मुहुरुच्छिनत्ति नासारशीतं करिशीकराम्भः ।। ९ ।।

अन्वयः—अस्मिन् यशःपौरुषलोलुपानाम् अरातिभिः प्रत्युरसां क्षतानां मूर्च्छान्तरायम् आसारशीतं करिशीकराम्भः मुहुः न उच्छिनत्ति ।। ९ ।।

अस्मिन्निति ।। अस्मिन् रणे यशःपौरुषयोर्लोलुपानां गृध्नूनामत एव अरातिभिः प्रत्युरसमुरसि । 'प्रतेरुरसः सप्तमीस्थात्' इति समासान्तः । क्षतानां विद्धानां सम्बन्धिनं मूर्च्छैवान्तरायो रणविघ्नस्तम् । आसारशीतं वर्षाधाराशीतलम् । 'धारासंपात आसारः' इत्यमरः । करिणां शीकर एव अम्भः कर्तृ मुहुर्नोच्छिनत्ति न नाशयति ।। ९ ।।

हिन्दी—इस युद्ध में यश और पुरुषार्थ के लोभी एवं शत्रुओं द्वारा हृदयस्थल में आहत वीरों के मूर्च्छारूपी संग्राम-विघ्न को वर्षा की धाराके समान शीतल हाथियों के (शुण्डदण्ड से फेंका गया) जल-शीकर बारम्बार नष्ट नहीं कर रहे हैं ।। ९ ।।

विमर्श—अर्थात् अन्य युद्धों में जब पुरुषार्थी वीर आहत होकर मूर्च्छित हो जाते थे और इस प्रकार उनके संग्राम में विघ्न पड़ जाता था तब हाथियों के सूँड़ों (शुण्डदण्ड) से फेंके गए जलबिन्दु बारम्बार उनकी मूर्च्छा भंग कर दिया करते थे ।

असृङ्नदीनामुपचीयमानैर्विदारयद्भिः पदवीं ध्वजिन्याः ।
उच्छ्रायमायान्ति न शोणितौघैः पङ्कैरिवाश्यानघनैस्तटानि ॥१० ॥

अन्वयः—असृङ्नदीनां तटानि उपचीयमानैः ध्वजिन्याः पदवीं विदारयद्भिः आश्यानघनैः शोणितौघैः पङ्कैः इव उच्छ्रायम् न आयान्ति ॥ १० ॥

असृगिति ॥ असृङ्नदीनां तटान्युपचीयमानैरुपचयं नीयमानैस्तथा ध्वजिन्याः पदवीं विदारयद्भिर्दुःसंचारां कुर्वद्भिः । 'विदूरयद्भिः' इति पाठे विदूरां दूरसंचारां कुर्वद्भिः । आश्याना ईषच्छुष्काः । 'संयोगादेरातो धातोर्यण्वतः' इति श्यायतेर्निष्ठा-नत्वम् । घनाः सान्द्रास्तैः । आश्यानघनैः शोणितौघैः पङ्कैरिवोच्छ्रायं वृद्धिं नायान्ति न प्राप्नुवन्ति ॥१० ॥

हिन्दी—इस युद्ध में रुधिर की नदियों के तट उत्तरोत्तर बढ़ते हुए, सेना के मार्ग को कठिन बनाने वाले, कुछ सूखे कीचड़ के सदृश रक्त के लोथड़ों से ऊँचे नहीं हो रहे हैं ॥ १० ॥

परिक्षते वक्षसि दन्तिदन्तैः प्रियाङ्कशीता नभसः पतन्ती ।
नेह प्रमोहं प्रियसाहसानां मन्दारमाला विरलीकरोति ॥११ ॥

अन्वयः—इह दन्तिदन्तैः परिक्षते वक्षसि पतन्ती प्रियाङ्कशीता मन्दारमाला प्रियसाहसानां प्रमोहं न विरलीकरोति ॥ ११ ॥

परीति ॥ इह रणे दन्तिदन्तैर्गजदन्तैः परिक्षते ताडिते वक्षसि नभसः पतन्ती प्रियाया अङ्क इव शीता शीतला सुखकरी मन्दारमाला । सुरैर्मुक्तेति शेषः । प्रियं साहसं येषां तेषां प्रियसाहसानाम् । यतो गजाभियायिनामिति भावः । प्रमोहं प्रहारमूर्च्छां न विरलीकरोति नमन्दीकरोति । नापनयतीति यावत् ॥११ ॥

हिन्दी—इस युद्ध में हाथियों के दाँतों से वक्षस्थल में अत्यन्त आहत होकर गिरे हुये साहसी वीरों की मूर्च्छा को आकाश से गिरती हुई प्रियतमा की गोद के समान शीतल मन्दारमाला नहीं शान्त कर रही हैं ॥ ११ ॥

विमर्श—अन्य युद्धों में हाथी से युद्ध करने वाले साहसी वीर का आश्चर्यजनक पराक्रम देखकर देवता लोग आकाश से मन्दार की माला बरसाते थे, किन्तु इसमें तो यह भी नहीं हो रहा है ।

निषादिसंनाहमणिप्रभौघे परीयमाणे करिशीकरेण ।
अर्कत्विषोन्मीलितमभ्युदेति न खण्डमाखण्डलकार्मुकस्य ॥१२ ॥

अन्वयः—करिशीकरेण परीयमाणे निषादिसन्नाहमणिप्रभौघे अर्कत्विषोन्मीलितम् आखण्डलकार्मुकस्य खण्डं न अभ्युदेति ॥ १२ ॥

निषादीति ॥ करिणां शीकरेण पुष्करतुषारेण परीयमाणे व्याप्यमाने निषादिनो हस्त्यारोहाः । 'हस्त्यारोहा निषादिनः' इत्यमरः । तेषां संनाहाः कवचानि तेषां मणिप्रभौघे रत्नांशुजाले । अर्कस्य त्विषा तेजसा । उन्मीलितमुत्पादितम् । आखण्डलकार्मुकस्य इन्द्रधनुषः । आखण्डलः सहस्राक्षः इत्यमरः । खण्डं नाभ्युदेति ॥ १२ ॥

हिन्दी—इस युद्ध में हाथियों के सूँड़ों से छोड़े गये जल-बिन्दुओं से व्याप्त गजारोहियों के कवचों में लगी मणियों की प्रभा सूर्य की किरणों से मिलकर इन्द्रधनुष का-सा खण्ड नहीं बना रही है ॥ १२ ॥

महीभृता पक्षवतेव भिन्ना विगाह्य मध्यं परवारणेन ।
नावर्तमाना निनदन्ति भीममपां निधेराप इव ध्वजिन्यः ॥ १३ ॥

अन्वयः—पक्षवता महीभृता इव परवारणेन मध्यं विगाह्य भिन्नाः ध्वजिन्यः अपां निधेः आपः इव आवर्तमानाः भीमं न निनदन्ति ॥ १३ ॥

महीति ॥ पक्षवता सपक्षेण महीभृता मैनाकेनेव परवारणेन शत्रुगजेन मध्यं विगाह्य प्रविश्य भिन्नाः क्षोभिता ध्वजिन्यः सेनाः । 'ध्वजिनी वाहिनी सेना' इत्यमरः । अपां निधेः सागरस्य । आप इव । आवर्तमाना भ्रमन्त्यः सत्यः । 'स्यादावर्तोऽम्भसां भ्रमः' इत्यमरः । भीमं न निनदन्ति ॥ १३ ॥

हिन्दी—पक्षयुक्त मैनाक पर्वत के समान शत्रु के गजराज के मध्यभाग में घुस आने पर इधर-उधर भागती हुई सेना जलनिधि समुद्र की जलराशि के समान तरङ्गायमान होती हुई भयङ्कर कोलाहल नहीं कर रही है ॥ १३ ॥

महारथानां प्रतिदन्त्यनीकमधिस्यदस्यन्दनमुत्थितानाम् ।
आमूललूनैरतिमन्युनेव मातङ्गहस्तैर्व्रियते न पन्थाः ॥ १४ ॥

अन्वयः—प्रतिदन्ति अनीकम् अधिस्यदस्यन्दनम् उत्थितानां महारथानां पन्थाः आमूललूनैः मातङ्गहस्तैः अतिमन्युना इव न व्रियते ॥ १४ ॥

महारथानामिति ॥ प्रतिदन्त्यनीकं दन्तिसैन्यं प्रति । 'अनीकं तु रणे सैन्ये' इति विश्वः । अधिस्यदा महारयाः स्यन्दना रथा यत्र तत्तथा । 'रंहस्तरसी तु रयः स्यदः' इत्यमरः । उत्थितानां प्रस्थितानां महारथानां रथिकविशेषाणाम् । 'आत्मानं सारथिं चाश्वान् रक्षन्युध्येत यो नरः । स महारथसंज्ञः स्यादित्याहुर्नीतिकोविदाः ॥' इति लक्षणात् । पन्था मार्ग आमूलात् लूनैश्छिन्नैः । मातङ्गहस्तैर्नागकरैः । अतिमन्युनाऽतिक्रोधेनेव न व्रियते न निरुध्यते ॥ १४ ॥

हिन्दी—हाथियों की सेना पर आक्रमण करने वाले वेगवान् रथों पर आरूढ़ महारथियों का मार्ग (इस युद्ध में) समूल कटे हुए गजराजों के सूँड़ों से मानों अतिक्रोध के कारण नहीं रोका जा रहा है ॥ १४ ॥

धृतोत्पलापीड इव प्रियायाः शिरोरुहाणां शिथिलः कलापः ।
न बर्हभारः पतितस्य शङ्कोर्निषादिवक्षःस्थलमातनोति ॥१५ ॥

अन्वयः—पतितस्य शङ्कोः बर्हभारः धृतोत्पलापीड़ः प्रियायाः शिथिलः शिरोरुहाणां कलापः इव निषादि वक्षःस्थलं न आतनोति ॥ १५ ॥

धृतेति ॥ पतितस्य वक्षसि मग्नस्य शङ्कोस्तोमरस्य सम्बन्धी । 'वा पुंसि शल्यं शङ्कुर्ना सर्वला तोमरोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः । बर्हभारस्तन्मूलबद्धो लाञ्छनपिच्छ-कलापो धृतउत्पलापीडः कुवलयशेखरो यस्मिन् स प्रियायाः सम्बन्धी शिथिलः स्रस्तः शिरोरुहाणां कलापः केशपाश इव निषादिनो हस्त्यारोहस्य वक्षःस्थलं नातनोति न व्याप्नोति ॥१५ ॥

हिन्दी—(वक्षस्थल में) धँसे हुए बरछों का मयूरपिच्छ (अन्य युद्धों की भाँति इस युद्ध में) कमल की माला से सुशोभित प्रियतमा के शिथिल केशकलापों के समान गजारोहियों के वक्षस्थल को आवृत नहीं कर रहा है ॥ १५ ॥

विमर्श—बरछों के पिछले भाग में पहचान के लिए मयूर के पिच्छ लगे रहते थे ।

उज्झत्सु संहार इवास्तसंख्यमह्नाय तेजस्विषु जीवितानि ।
लोकत्रयास्वादनलोलजिह्वं न व्याददात्याननमत्र मृत्युः ॥१६ ॥

अन्वयः—अत्र संहारे इव तेजस्विषु अस्तसंख्याम् अह्नाय जीवितानि उज्झत्सु मृत्युः लोकत्रयास्वादनलोलजिह्वम् आननं न व्याददाति ॥ १६ ॥

उज्झत्स्विति ॥ अत्र आहवे । संहारे कल्पान्त इव तेजस्विषु वीरेषु । अस्तसंख्यसंख्यं यथा तथा, अह्नाय झटिति । 'द्राग्झटित्यञ्जसाह्नाय' इत्यमरः । जीवितान्युज्झत्सु त्यजत्सु सत्सु मृत्युर्लोकत्रयस्यास्वादने भक्षणे लोला गृध्नुर्जिह्वा यस्मिंस्तत् । आननं न व्याददाति न विवृणोति । 'आङो दोऽनास्यविहरणे' इत्यत्रानास्यविहरण इति निषेधात् परस्मैपदम् ॥१६ ॥

हिन्दी—इस युद्ध में प्रलय काल की तरह तेजस्वी वीरों के अपार संख्या में कट-कट कर तुरन्त ही प्राण छोड़ देने पर अपनी जीभ लपलपाते हुए सिर तीनों लोकों के भक्षण के लिए मृत्यु की भाँति अपना मुँह नहीं बाए हुए हैं ॥ १६ ॥

सत्यमेवं, तथापि किमेतत्कुत्सितम्; तत्राह —

इयं च दुर्वारमहारथानामाक्षिप्य वीर्यं महतां बलानाम् ।
शक्तिर्ममावस्यति हीनयुद्धे सौरीव ताराधिपधाम्नि दीप्तिः ॥१७ ॥

अन्वयः—इयं मम शक्तिः च दुर्वारमहारथानां महतां बलानां वीर्यम् आक्षिप्य ताराधिपधाम्नि सौरी दीप्तिः इव हीनयुद्धे आवस्यति ॥ १७ ॥

इयमिति ।। इयं मम शक्तिश्च दुर्वारा: पराक्रमिणो महारथा येषु तेषां महतां बलानां वीर्यमाक्षिप्य निरस्य ताराधिपधाम्नि चन्द्रतेजसि । सूर्यस्येयं सौरी । 'सूर्यतिष्यागस्त्यमत्स्यानां य उपधाया:' इति स्त्रियां ङीष् । यकारस्य लोप: । दीप्तिरिव हीनयुद्धे किरातरणे । अवस्यत्यवसीदति । एतच्च विरुद्धमत्यद्भुतं चेति भाव: । 'षोऽन्तकर्मणि' इति धातोर्लट् ।।१७ ।।

हिन्दी—यह मेरी शक्ति, जो कभी परम पराक्रमी महारथियों के महान् पराक्रम को भी ध्वस्त करने वाली थी, वही इस तुच्छ युद्ध में चन्द्रमा के तेज में सूर्य की प्रभा की तरह लुप्त हो रही है ।। १७ ।।

विमर्श—अर्थात् यह बिल्कुल उल्टा हो रहा है ।

माया स्विदेषा मतिविभ्रमो वा ध्वस्तं नु मे वीर्यमुताहमन्य: ।
गाण्डीवमुक्ता हि यथापुरा मे पराक्रमन्ते न शरा: किराते ।।१८ ।।

अन्वय:—एषा माया स्वित् मतिविभ्रम: वा मे वीर्य ध्वस्तं नु उत अहम् अन्य: हि गाण्डीवमुक्ता मे शरा: यथापुरा किराते न पराक्रमन्ते ।। १८ ।।

मायेति ।। एषा शक्तिह्रासरूपा माया स्वित् देवताक्षोभणं नाम । मतिविभ्रमो बुद्धिविपर्ययो वा । अथवा मे वीर्यं ध्वस्तं नष्टं नु । उताहमन्योऽर्जुनो न वा । कुत: । हि यस्मात्, गाण्डीवमुक्ता मे शरा: यथापुरा यथापूर्वम् । परिपन्थिष्विवेत्यर्थ: । किराते न पराक्रमन्तेऽप्रतिबन्धेन प्रवर्तन्ते । 'उपपराभ्याम्' इति वृत्तावात्मनेपदम् । वृत्तिरप्रतिबन्ध: ।।१८ ।।

हिन्दी—यह कोई माया है या मेरा बुद्धिभ्रम है या मेरा पराक्रम ही तो नहीं ध्वस्त हो गया है, या मैं ही तो कुछ दूसरा नहीं हो गया हूँ, क्योंकि गाण्डीव से छूटे हुए मेरे बाण जैसे पहले अपना पराक्रम दिखाते थे वैसे इस किरात में नहीं दिखला रहे हैं ।। १८ ।।

पुंस: पदं मध्यममुत्तमस्य द्विधेव कुर्वन्धनुष: प्रणादै: ।
नूनं तथा नैष यथास्य वेष: प्रच्छन्नमप्यूहयते हि चेष्टा ।।१९ ।।

अन्वय:—उत्तमस्य पुंस: मध्यमम् पदम् धनुष: प्रणादै: द्विधाकुर्वन् इव एष: नूनं न अस्य यथा वेष: हि चेष्टा प्रच्छन्नम् अपि ऊहयते ।। १९ ।।

पुंस इति ।। किंच, उत्तमस्य पुंस: पुरुषोत्तमस्य मध्यमं पदमाकाशं धनुष: प्रणादै: । 'उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य' इति णत्वम् । द्विधा कुर्वन्निव विदारयन्निव स्थित: स एष किरातो नूनं तथा तथाभूतो न । कीदृशस्तत्राह— अस्य पुरुषस्य यथा यथाभूतो वेष: । वर्तत इति शेष: । वेषत एवायं किरातो न स्वरूपत इत्यर्थ: । कुत: हि यस्मात् । चेष्टा व्यापार: प्रच्छन्नमपि निगूढमपि स्वरूपम् । ऊहयते तर्कयते । तस्या: स्वभावादव्यभिचारादिति भाव: ।।१९ ।।

हिन्दी—पुरुषोत्तम अर्थात् भगवान् वामन के मध्यम पद आकाश को अपने धनुष की टङ्कार से दो भागों में विदीर्ण करते हुए की तरह यह किरात निश्चय ही वैसा नहीं है जैसी कि इसकी वेश-भूषा है । क्योंकि चेष्टाओं से मनुष्य का छिपा हुआ रूप भी प्रकट हो जाता है ॥ १९ ॥

अथ चतुर्भिश्चेष्टामेवाचष्टे —

धनु: प्रबन्धध्वनितं रुषेव सकृद्विकृष्टा विततेव मौर्वी ।
संधानमुत्कर्षमिव व्युदस्य मुष्टेरसंभेद इवापवर्गे ॥ २० ॥

अन्वय:—धनु रुषा इव प्रबन्धध्वनितं मौर्वी सकृत् विकृष्टा वितता इव सन्धानम् उत्कर्ष व्युदस्य इव अपवर्गे मुष्टे: असम्भेद: इव ॥ २० ॥

धनुरिति ॥ धनू रुषेव प्रबन्धेनाविच्छेदेन ध्वनितम् । ध्वनते: कर्तरि क्त: । मौर्वी च सकृद्विकृष्टा विततेवैकवाराकर्षणादेव विततेव स्थिता । सन्धानं बाणसन्धान-मुत्कर्षं तूणादुद्धरणं व्युदस्येव वर्जयित्वा । किमु कृतमिति शेष: । अपवर्गे बाणमोक्षेऽपि मुष्टेरसंभेदोऽसङ्घटनमिव । मुष्टिबन्धं विनैव बाणमोक्ष: कृत इवेति हस्तलाघवोक्ति: ॥ २० ॥

हिन्दी—इसका धनुष मानों क्रुद्ध होकर निरन्तर टङ्कार करता रहता है । प्रत्यञ्चा एकबार खींचने पर बराबर खिंची हुई-सी रहती है । बाणों का सन्धान तरकस से निकालने के बिना ही जैसा होता है एवं बाणों का छोड़ना तो जैसे मुट्ठी के बिना बाँधे ही होता जा रहा है ॥ २० ॥

विमर्श—इस सब बातों से इस किरात के असाधारण हस्तलाघव की सूचना मिलती है।

अंसाववष्टब्धनतौ समाधि: शिरोधराया रहितप्रयास: ।
धृता विकारांस्त्यजता मुखेन प्रसादलक्ष्मी: शशलाञ्छनस्य ॥ २१ ॥

अन्वय:—अंसाववष्टब्धनतौ शिरोधराया: समाधि: रहितप्रयास: विकारान् त्यजता मुखेन शशलाञ्छनस्य प्रसादलक्ष्मी: धृता ॥ २१ ॥

अंसाविति ॥ किंच, अंसाववष्टब्धौ स्थिराववस्थापितौ च तौ नतौ चावष्टब्ध-नतौ शिरोधराया: कंधराया: समाधि: संस्थानविशेषैश्च रहित: प्रयासो यस्य स तथोक्त: । नि:प्रयास इत्यर्थ: । तथा विकरांस्त्यजता । अमृतत्वान्निर्विकारेणेत्यर्थ: । मुखेन शशलाञ्छनस्य इन्दो: प्रसादलक्ष्मीर्धृता । असंभवत्सम्बन्धो निदर्शनालङ्कार: ॥

हिन्दी—इसके दोनों कंधे अविचल हैं तथा नीचे की ओर झुके हुए हैं और गरदन तनिक भी इधर-उधर नहीं हिलती और उससे यह नहीं ज्ञात होता कि यह तनिक भी प्रयास कर रहा है । मुख पर विकार की मात्रा भी नहीं है जिससे वह चन्द्रमा की-सी कान्ति से युक्त दिखाई पड़ता है ॥ २१ ॥

विमर्श—यहाँ निदर्शना अलङ्कार है ।

प्रहीयते कार्यवशागतेषु स्थानेषु विष्टब्धतया न देहः ।
स्थितप्रयातेषु ससौष्ठवश्च लक्ष्येषु पातः सदृशः शराणाम् ॥ २२ ॥

अन्वयः—कार्यवशागतेषु स्थानेषु देहः विष्टब्धतया न प्रहीयते ससौष्ठवः शराणां पातः च स्थितप्रयातेषु लक्ष्येषु सदृशः ॥ २२ ॥

प्रहीयत इति ॥ तस्य देहः कार्यवशेन प्रयोजनवशेन आगतेषु स्थानेष्वालीढादिस्थानेषु विष्टब्धतया स्थिरतया कर्त्र्या न प्रहीयते न त्यज्यते । किन्तु स्थिर इव तिष्ठतीत्यर्थः । सुष्ठु भावः सौष्ठवं लाघवम् । उद्गात्रादित्वादञ्प्रत्ययः । तेन सह वर्तमानः ससौष्ठवः शराणां पातश्च स्थितान्यचलानि प्रयातानि चलानि तेषु स्थितप्रयातेषु चलाचलेषु लक्ष्येषु विषये सदृश एकरूपः ॥ २२ ॥

हिन्दी—युद्ध में कार्यवश इधर-उधर का पैंतरा बदलने पर भी इनका शरीर अपने में अविचल रहता है, हिलता-डुलता या ढीला-ढाला नहीं होता है तथा अत्यन्त लाघव के साथ इनके बाणों का संधान तो चञ्चल और अचल-दोनों प्रकार के लक्ष्यों में एक जैसा हो रहा है ॥ २२ ॥

परस्य भूयान्विवरेऽभियोगः प्रसह्य संरक्षणमात्मरन्ध्रे ।
भीष्मेऽप्यसंभाव्यमिदं गुरौ वा न संभवत्येव वनेचरेषु ॥ २३ ॥

अन्वयः—परस्य विवरे भूयान् अभियोगः आत्मरन्ध्रे प्रसह्य संरक्षणम् इदं भीष्मे अपि गुरौ वा असम्भाव्यं वनेचरेषु न सम्भवत्येव ॥ २३ ॥

परस्येति ॥ किंच, परस्य विवरे रन्ध्रे । अल्पेऽपीति शेषः । भूयान् भूयिष्ठः प्रसह्य झटिति अभियोगो ज्ञातृत्वम् । परस्य रन्ध्रज्ञातृत्वात्प्रहारोद्योग इत्यर्थः । आत्मनो रन्ध्रे विवरे । अनल्पेऽपीति शेषः । प्रसह्य झटिति संरक्षणं गोपनं च । भूयिष्ठमिति शेषः । इदं द्वयं भीष्मेऽपि गुरौ वा द्रोणे वापि असंभाव्यं दुर्वितर्क्यं वनेचरेषु न संभवत्येव । अतो नायं किरातः, किन्त्वेष तिरोहितवेषः कोऽप्यमानुषः पुरुष इति भावः ॥ २३ ॥

हिन्दी—यह शत्रु की छोटी-सी त्रुटि की भी विशेष जानकारी रखते हैं और अपनी विशेष त्रुटियों की भी तुरन्त रक्षा कर लेते हैं । इनकी ये दोनों विशेषताएँ तो भीष्म-पितामह तथा आचार्य द्रोण में भी असंभव हैं, किरातों में तो नितान्त ही असम्भव हैं ॥ २३ ॥

विमर्श—इसलिए यह किरात नहीं है, किरात वेशधारी कोई अमानव पुरुष है।

अप्राकृतस्याहवदुर्मदस्य निवार्यमस्यास्त्रबलेन वीर्यम् ।
अल्पीयसोऽप्यामयतुल्यवृत्तेर्महापकाराय रिपोर्विवृद्धिः ॥ २४ ॥

अन्वयः—अप्राकृतस्य आहवदुर्मदस्य अस्य वीर्यम् अस्त्रबलीन निवार्यम् अल्पीयसः अपि आमयतुल्यवृत्तेः रिपोः विवृद्धिः महोपकाराय ।। २४ ।।

अप्राकृस्येति ।। अप्राकृतस्योक्तरीत्याऽसाधारणस्य । आहवदुर्मदस्य रणमत्तस्य । अस्य किरातस्य वीर्यं तेजोऽस्त्रबलेन दिव्यशस्त्रमहिम्ना निवार्य निवारणीयम् । अन्यथाऽनिवार्यत्वमस्येति भावः । तथा हि—अल्पीयसोऽप्यत्यल्पस्यापि । आमयतुल्यवृत्ते रोगसमानविक्रियस्य । 'रोगव्याधिगदामयाः' इत्यमरः । रिपोविवृद्धिर्महापकराय, किंत्वयं महानुभाव इति भावः । कुलकम् ।। २४ ।।

हिन्दी—इस प्रकार उपर्युक्त रीति से असाधारण पराक्रमशाली एवं रण के मद से उन्मत्त इस किरात के तेज को किसी दिव्यास्त्र के द्वारा निवारित करना चाहिए, क्योंकि छोटे से छोटे शत्रु की भी वृद्धि रोग की भाँति महान् अपकारिणी सिद्ध होती है ।। २४ ।।

विमर्श—जब छोटे से शत्रु की वृद्धि महान् अपकारिणी होती है तो यह तो महान् पराक्रमी तथा तेजस्वी शत्रु है, इसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए ।

स संप्रधार्यैवमहार्यसारः सारं विनेष्यन् सगणस्य शत्रोः ।
प्रस्वापनास्त्रं द्रुतमाजहार ध्वान्तं घनानद्ध इवार्धरात्रः ।। २५ ।।

अन्वयः—अहार्यसारः सः एवं सम्प्रधार्य सगणस्य शत्रोः सारं विनेष्यन् प्रस्वापनास्त्रं घनानद्धः अर्धरात्रः ध्वान्तम् इव द्रुतम् आजहार ।। २५ ।।

स इति ।। अहार्यसारोऽनिवार्यवीर्यः सोऽर्जुन एवं संप्रधार्य निश्चित्य सगणस्य सानुगस्य शत्रोः सारं सत्त्वं विनेष्यन् अपनेष्यन् । प्रस्वाप्यते शाय्यतेऽनेनेति प्रस्वापनं तदेव अस्त्रम् । घनानद्धो मेघव्याप्तोऽर्धरात्रो निशीथः । 'अर्धरात्रनिशीथौ द्वौ' इत्यमरः । 'अर्धं नपुंसकम्' इति समासः । 'अहःसर्वैकदेश—' इत्यादिना समासान्तः । 'रात्राह्नाहाः पुंसि' इति पुंलिङ्गता । ध्वान्तमिव द्रुतमाजहाराचकर्ष ।। २५ ।।

हिन्दी—असहनीय पराक्रमशाली अर्जुन ने इस प्रकार का निश्चय करके प्रमथगणों समेत अपने मुख्य शत्रु के पुरुषार्थ को दूर करने के लिए अपने प्रस्वापन नामक अस्त्र को इस प्रकार से तुरन्त खींचा, जिस प्रकार से निविड घनों से व्याप्त अर्धरात्रि का समय अन्धकार को धारण करता है ।। २५ ।।

प्रसक्तदावानलधूमधूम्रा निरुन्धती धाम सहस्त्ररश्मेः ।
महावनानीव महातमिस्रा छाया ततानेशबलानि काली ।। २६ ।।

अन्वयः—प्रसक्तदावानलधूमधूम्रा सहस्त्ररश्मेः धाम निरुन्धती काली छाया ईशबलानि महातमिस्रा महावनानि इव ततान ।। २६ ।।

प्रसक्तेति ।। प्रसक्तः संततो यो दावानलधूमस्तद्वद्धूम्रा धूसरा सहस्त्ररश्मेर्धाम तेजो निरुन्धती आवृण्वती काली कृष्णवर्णा । 'जानपद—' इत्यादिना ङीष् । छाया

कान्ति: । ईशबलानि महातमिस्रा महती तम: संतति: । 'तमिस्रा तु तमस्तति:' इति विश्व: । महावनानीव ततान व्यानशे । युग्मम् ।। २६ ।।

हिन्दी—निरन्तर जलने वाली दावाग्नि के धुएँ के सदृश धूसर वर्ण की, सूर्य के तेज को आवृत करने वाली काली छाया ने शङ्कर जी की समस्त सेना को इस प्रकार से आच्छादित कर लिया जिस प्रकार से निविड़ अन्धकार घने जङ्गलों को व्याप्त कर लेता है ।। २६ ।।

आसादिता तत्प्रथमं प्रसह्य प्रगल्भतायाः पदवीं हरन्ती ।
सभेव भीमा विदधे गणानां निद्रा निरासं प्रतिभागुणस्य ।। २७ ।।

अन्वय:—तत् प्रथमं प्रसह्य आसादिता प्रगल्भताया: पदवीं हरन्ती भीमा निद्रा सभा इव गणानाम् प्रतिभागुणस्य निरासम् विदधे ।। २७ ।।

आसादितेति ।। तदेवासादनं प्रथमं तत्प्रथमं यथा तथा प्रसह्यासादिता कल्पिता प्रगल्भताया व्यवहारधाष्टर्यस्य पदवीं हरन्ती भीमा भयङ्करी निद्रा उक्तविशेषणा सभा संसदिव । गणानां प्रतिभा प्रज्ञाशक्ति: सैव गुणस्तस्य निरासं प्रतिभाक्षयं विदधे चक्रे ।।

हिन्दी—उस घोर भयङ्कर मोहनी निद्रा ने पहली ही बार में हठपूर्वक प्राप्त होकर प्रमथ गणों की व्यवहार-धृष्टता को दूर कर प्रतिभा रूपी गुणों का इस प्रकार से लोप कर दिया (जिस प्रकार से विद्वानों की सभा में प्रथम बार जाने से साधारण व्यक्ति की वाक्पटुता दूर हो जाती है) ।। २७ ।।

गुरुस्थिराण्युत्तमवंशजत्वाद्विज्ञातसाराण्यनुशीलनेन ।
केचित्समाश्रित्य गुणान्वितानि सुहृत्कुलानीव धनूंषि तस्थुः ।। २८ ।।

अन्वय:—केचित् उत्तमवंशजत्वात् गुरुस्थिराणि अनुशीलनेन विज्ञाता साराणि गुणान्वितानि धनूंषि सुहृतकुलानि इव समाश्रित्य तस्थु: ।। २८ ।।

गुर्विति ।। केचिदुत्तमवंशजत्वात् वंशो वेणु: कुलं च । 'वंशो वेणौ कुले च' इति विश्व: । गुरूणि महान्ति स्थिराणि दृढानि च गुरुस्थिराणि । अनुशीलनेन परिचयबलेन विज्ञात: सारो बलं येषां तानि गुणैर्मौर्वीभि: शौर्यादिभिश्च अन्वितानि धनूंषि सुहृत्कुलानि मित्रकुलानीव समाश्रित्य तस्थु:। धनूंष्यवष्टभ्य निदध्युरित्यर्थ: ।।

हिन्दी—कुछ प्रमथ सैनिक उत्तम वंश में उत्पन्न होने के कारण महान् एवं सुदृढ़ तथा पुराने परिचय के कारण ज्ञात पराक्रम वाले गुण (अर्थात् प्रत्यञ्चा) से युक्त अपने धनुषों का, उत्तम कुलोत्पन्न, महान्, सुदृढ़ एवं चिरपरिचय के कारण ज्ञात पराक्रम वाले मित्रों के समूह की भाँति, सहारा लेकर खड़े रह गए ।। २८ ।।

विमर्श—अर्थात् जिस प्रकार मनुष्य विपत्ति के समय अपने योग्य मित्रों का सहारा लेते हैं उसी प्रकार से कुछ प्रमथों ने अपने-अपने धनुषों का सहारा लिया । उसी पर टेक लगाकर वे खड़े हो गये ।

कृतान्तदुर्वृत्त इवापरेषां पुरः प्रतिद्वन्द्विनि पाण्डवास्त्रे ।
अतर्कितं पाणितलान्निपेतुः क्रियाफलानीव तदायुधानि ॥ २९ ॥

अन्वयः—कृतान्तदुर्वृत्ते इव पाण्डवास्त्रे पुरः प्रतिद्वन्द्विनि तदा अपरेषाम् आयुधानि क्रियाफलानि इव अतर्कितम् पाणितलात् निपेतुः ॥ २९ ॥

कृतान्तेति ॥ कृतान्तदुर्वृत्ते दैवदुश्चेष्टित इव । 'कृतान्तो । यमसिद्धान्तदैवाकुशलकर्मसु' इति विश्वः । पाण्डवास्त्रे पुरः प्रतिद्वन्द्विनि प्रतिकूलवर्तिनि सति तदा तस्मिन्काले । अपरेषामायुधानि क्रियाफलानीव कृष्यादिफलानीव अतर्कितमविचारितिमेव पाणितलान्निपेतुः ॥ २९ ॥

हिन्दी—दैव की प्रतिकूलता की भाँति पाण्डुपूत्र अर्जुन के उस प्रस्वापन अस्त्र के विपक्षी रूप में सम्मुखवर्ती होने पर अन्य वीरों के अस्त्र-समूह बिना विचार किए ही इस प्रकार से उनके हाथों से नीचे गिर पड़े जिस प्रकार से दैव की प्रतिकूलता में कृषि आदि नष्ट हो जाती है ॥ २९ ॥

अंसस्थलैः केचिदभिन्नधैर्याः स्कन्धेषु संश्लेषवतां तरूणाम् ।
मदेन मीलन्नयनाः सलीलं नागा इव स्त्रस्तकरा निषेदुः ॥ ३० ॥

अन्वयः—अभिन्नधैर्याः केचित् अंसस्थलैः संश्लेषवतां तरूणां स्कन्धेषु मदेन मीलन्नयनाः नागाः इव स्त्रस्तकरा सलीलम् निषेदुः ॥ ३० ॥

अंसेति ॥ अभिन्नधैर्यास्तदानीमप्यक्षतधैर्याः केचिदंसस्थलैरंसभागैः सह संश्लेषवतां सङ्गच्छतां तरूणां स्कन्धेषु प्रकाण्डेषु मदेन मीलन्ति नयनानि येषां ते नागा गजा इव स्त्रस्तकराः स्त्रतहस्ताः सन्तः सलीलं निषेदुर्निषण्णः ॥ ३० ॥

हिन्दी—इस विषम परिस्थिति में भी धैर्य न छोड़ने वाले कुछ प्रमथ गण अपने कंधों से लगे हुए वृक्षों के तनों पर मद के कारण आँखे मूँदे हुए गजों की तरह लीलापूर्वक अपने हाथों (सूँड़ों) को ढीला किए हुए बैठें रहे ॥ ३० ॥

तिरोहितेन्दोरथ शम्भुमूर्ध्नः प्रणम्यमानं तपसां निवासैः ।
सुमेरुशृङ्गादिव बिम्बमार्कं पिशङ्गमुच्चैरुदियाय तेजः ॥ ३१ ॥

अन्वयः—अथ तिरोहितेन्दोः शम्भुमूर्ध्नः सुमेरुश्रृङ्गात् आर्कबिम्बम् इव तपसां निवासैः प्रणम्यमानं पिशङ्गं तेजः उच्चैः उदियाय ॥ ३१ ॥

तिरोहितेति ॥ अथ तिरोहितेन्दोः किरातमायया छन्नचन्द्रात् शम्भुमूर्ध्नः सकाशात् । सुमेरुशृङ्गात् अर्कसम्बन्धि बिम्बमिव । तपसां निवासैस्तापसैः प्रणम्यमानमभिवन्द्यमानं पिशङ्गं तेज उच्चैरूर्ध्वम् । उदियाय प्रकटीबभूव । तच्च न चान्द्रमिति भावः ॥ ३१ ॥

हिन्दी—तदन्तर किरात वेश के कारण छिपे हुए चन्द्रमा वाले भगवान् शङ्कर

के भालप्रदेश से तपस्वियों द्वारा अभिनन्द्यमान पीले वर्ण का तेज इस प्रकार से ऊपर की ओर उदित हुआ जिस प्रकार से (चन्द्रमा के अस्त हो जाने पर) सुमेरु के शिखर से (तपस्वियों द्वारा प्रणम्य) सूर्य का मण्डल उदित होता है ।

छायां विनिर्धूय तमोमयीं तां तत्त्वस्य संवित्तिरिवापविद्याम् ।
ययौ विकासं द्युतिरिन्दुमौलेरालोकमभ्यादिशती गणेभ्य: ।। ३२ ।।

अन्वय:—इन्दुमौले: द्युति: तत्वस्य संवित्ति: अपविद्याम् इव तां तमोमयीं छायां विनिर्धूय: गणेभ्य: आलोकम् अभ्यादिशती विकासं ययौ ।। ३२ ।।

छायामिति ।। इन्दुमौलेर्द्युति: कान्ति: । तत्त्वस्य संवित्तिस्तत्त्वज्ञानम् । अपविद्यामविद्यामिव तां तमोमयीं छायां निद्रां विनिर्धूय निरस्य गणेभ्य आलोकं वस्तुप्रकाशं चिरं अभ्यादिशती वितरन्ती विकासं विस्तारं ययौ ।। ३२ ।।

हिन्दी—चन्द्रमौलि शङ्कर की वह प्रभा उस अन्धकारमयी निद्रा को दूर कर प्रमथगणों को आलोक प्रदान करती हुई इस प्रकार से विकसित हुई जिस प्रकार से तत्त्वज्ञान का उदय अविद्या के अन्धकार को नाश करके विकसित होता है ।। ३२ ।।

त्विषां तति: पाटलिताम्बुवाहा सा सर्वत: पूर्वसरीव संख्या ।
निनाय तेषां द्रुतमुल्लसन्ती विनिद्रतां लोचनपङ्कजानि ।। ३३ ।।

अन्वय:—सर्वत: पाटलिताम्बुवाहा त्विषां तति: सर्वत: पूर्वसरी सन्ध्या इव उल्लसन्ती तेषां लोचनपङ्कजानि द्रुतं विनिद्रतां निनाय ।। ३३ ।।

त्विषामिति ।। सर्वत: पाटलिता: पाटलीकृता अम्बुवाहा यया सा तथोक्ता त्विषां तेजसां तति: । पूर्वा सरतीति पूर्वसरी । 'पूर्वे कर्तरि' इति टप्रत्यये ङीप् । 'सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भाव:' इति 'पूर्वा' शब्दस्य पुंवद्भाव: । संध्या प्रात: संध्येव उल्लसन्ती प्रसरन्ती तेषां गणानां लोचनपङ्कजानि द्रुतं विनिद्रतां विकासं निनाय ।। ३३ ।।

हिन्दी—चारों ओर से मेघमण्डल को रक्तवर्ण का बनाती हुई वह ज्योतिमाला प्रात:काल की सन्ध्या अर्थात् उषा की तरह फैलती हुई उन प्रमथ गणों के नेत्र-कमलों को शीघ्र ही प्रफुल्लित करने लगी ।। ३३ ।।

पृथग्विधान्यस्त्रविरामबुद्धा: शस्त्राणि भूय: प्रतिपेदिरे ते ।
मुक्ता वितानेन बलाहकानां ज्योतींषि रम्या इव दिग्विभागा: ।। ३४ ।।

अन्वय:—अस्त्रविरामबुद्धा: ते बलाहकानां वितानेन मुक्तारम्या दिग्विभागा: ज्योतींषि इव पृथग्विधानि शस्त्राणि भूय: प्रतिपेदिरे ।। ३४ ।।

पृथगिति ।। अस्त्रविरामेण प्रस्वापनास्त्रोपरमेण बुद्धा विनिद्रास्ते गणा बलाहकानां वितानेन मेघपटलेन मुक्ता अत एव रम्या दिग्विभागा दिगन्ता ज्योतींषि नक्षत्रा-

णीव । 'ज्योतिस्ताराग्निभाज्वालादृक्प्रकाशरमात्मसु' इति वैजयन्ती । पृथग्विधानि नानाविधानि शस्त्राणि भूयः प्रतिपेदिरे । जगृहुरित्यर्थः ।। ३४ ।।

हिन्दी—अर्जुन के प्रस्वापनास्त्र के उपद्रवों के शान्त हो जाने पर चेतना को प्राप्त वे प्रमथगण, बादलों की घटाओं से मुक्त होने के कारण मनोहर दिशाओं के भाग जिस तरह से नक्षत्रों से सुशोभित हो जाते हैं उसी तरह से विविध प्रकार के शस्त्रों को धारण करके पुनः सुशोभित होने लगे ।। ३४ ।।

द्यौरुन्ननामेव दिशः प्रसेदुः स्फुटं विसस्रे सवितुर्मयूखैः ।
क्षयं गतायामिव यामवत्यां पुनः समीयाय दिनं दिनश्रीः ।। ३५ ।।

अन्वयः—यामवत्यां क्षयं गतायाम् इव द्यौः उन्ननाम इव दिशः प्रसेदुः सवितुः मयूखैः स्फुटं विसस्रे दिनश्रीः पुनः दिनं समीयाय ।। ३५ ।।

द्यौरिति ।। तदा यामवत्यां रात्रौ क्षयं गतायां विभातायामिव द्यौरन्तरिक्षम् । उन्ननामेव ऊर्ध्वमुत्पपातेवेत्युत्प्रेक्षा । दिशः प्रसेदुः । सवितुर्मयूखैः स्फुटं स्पष्टं विसस्रे विस्तृतम् । भावे लिट् । दिनश्रीर्घस्रकान्तिः पुनर्दिनं समीयाय सङ्गगाम । अत्र वैयधिकरण्येन गुणक्रिययोः समुच्चयेन समुच्चयोऽलङ्कारः । तस्य च समुन्नमनोत्प्रेक्षया 'इव' शब्दवाच्ययानुप्रवेशलक्षणः संकरः । दिक्प्रसादो गुणः । शेषाः क्रियाः ।। ३५ ।।

हिन्दी—उस समय रात्रि के व्यतीत हो जाने के समान अन्तरिक्ष मानों ऊपर उठ आया, दिशाएँ सुप्रसन्न हो गयीं, सूर्य की किरणें स्पष्ट होकर विस्तृत हो गयीं, और दिन की शोभा ने पुनः दिन का आश्रय लिया ।। ३५ ।।

विमर्श—समुच्चय अलङ्कार और उत्प्रेक्षा अलङ्कार का संकर ।

महास्त्रदुर्गे शिथिलप्रयत्नं दिग्वारणेनेव परेण रुग्णे ।
भुजङ्गपाशान् भुजवीर्यशाली प्रबन्धनाय प्रजिघाय जिष्णुः ।। ३६ ।।

अन्वयः—भुजवीर्यशाली जिष्णुः महास्त्रदुर्गे दिग्वारणेन इव परेण शिथिल-प्रयत्नं रुग्णे प्रबन्धनाय भुजङ्गप्राशान् प्रजिघाय ।। ३६ ।।

महास्त्रेति ।। भुजवीर्यशाली जिष्णुरर्जुनो महास्त्रं प्रस्वापनास्त्रं तद्दुर्गमिव तस्मिन् महास्त्रदुर्गे दिग्वारणेनेव दिग्गजेनेव परेण शत्रुणा शिथिलप्रयत्नमल्पप्रयासं यथा तथा रुग्णे भग्ने सति । 'रुजो भङ्गे' कर्मणि क्तः । 'ओदितश्च' इति निष्ठात-कारस्य नत्वम् । प्रबन्धनाय प्रकर्षेण बन्धनाय भुजङ्गा एव पाशास्तान् । प्रजिघाय प्रहितवान् ।। ३६ ।।

हिन्दी—तदनन्तर परम बाहुबलशाली अर्जुन ने महान् दुर्ग की भाँति दुर्गम अपने प्रस्वापन अस्त्र के दिग्गजों के समान शत्रु द्वारा थोड़े ही प्रयास में व्यर्थ बना दिये जाने पर, सम्पूर्ण प्रमथ सैनिकों को बाँधने के लिए सर्प-रूपी पाशों का (सर्पास्त्र का) प्रहार किया ।। ३६ ।।

जिह्वाशतान्युल्लसयन्त्यजस्रं लसत्तडिल्लोलविषानलानि ।
त्रासान्निरस्ता भुजगेन्द्रसेना नभश्चरैस्तत्पदवीं विवव्रे ।। ३७ ।।

अन्वयः—लसत्तडिल्लोलविषानलानि जिह्वाशतानि अजस्रम् उल्लसयन्ती भुजगेन्द्रसेना त्रासात् नभश्चरैः निरस्तां तत् पदवीं विवव्रे ।। ३७ ।।

जिह्वेति ।। लसन्तस्तडिल्लोला विद्युच्चञ्चला विषानला विषाग्नयो येषु तानि जिह्वाशतान्यजस्रमुल्लसयन्ती चलयन्ती भुजगेन्द्रसेना त्रासाद्भयात् । नभश्चरैर्निरस्ता त्यक्ता तेषां नभश्चराणां पदवीं मार्ग विवव्रे विशेषेण रुरोध ।। ३७ ।।

हिन्दी—चमकती हुई बिजली के समान चञ्चल विषाग्नि से युक्त, सैकड़ों जिह्वाओं को निरन्तर लपलपाती हुई सर्पराजों की सेना ने अपने भय से आकाश-चारियों को दूर भगाकर उनके समूचे मार्ग अर्थात् सम्पूर्ण आकाश मण्डल को आच्छादित कर लिया ।। ३७ ।।

दिङ्नागहस्ताकृतिमुद्वहद्भिर्भोगैः प्रशस्तासितरत्ननीलैः ।
रराज सर्पावलिरुल्लसन्ती तरङ्गमालेव नभोर्णवस्य ।। ३८ ।।

अन्वयः—दिङ्नागहस्ताकृतिम् उद्वहद्भिः प्रशस्तासितरत्ननीलैः भोगैः सर्पा-वलिः उल्लसन्ती नभार्णवस्य तरङ्गमाला इव रराज ।। ३८ ।।

दिङ्नागेति ।। दिङ्नागहस्ताकृतिमुद्वहद्भिर्दिक्करिकराकारैस्तथा प्रशस्तानि समीचीनानि असितरत्नानीलमणयस्तद्वन्नीलैर्भोगैः कायैरुपलक्षिता सर्पावलि-रुल्लसन्ती प्रक्षुभ्यन्ती नभ एव अर्णवस्तस्य तरङ्गमालेव रराज । रूपकोत्थापितेय-मुत्प्रेक्षा ।। ३८ ।।

हिन्दी—दिग्गजों की सूँड़ों के सदृश आकार को धारण करने वाली एवं सुन्दर इन्द्रनील मणि के समान नीले शरीर से युक्त वह सर्पपङ्क्ति आकाश मार्ग में चमकती हुई आकाश-रूपी समुद्र की तरङ्ग-माला के समान सुशोभित हुई ।। ३८ ।।

विमर्श—यहाँ रूपकोत्थापित उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ।

निःश्वासधूमैः स्थगितांशुजालं फणावतामुत्फणमण्डलानाम् ।
गच्छन्निवास्तं वपुरभ्युवाह विलोचनानां सुखमुष्णरश्मिः ।। ३९ ।।

अन्वयः—उष्णरश्मिः अस्तं गच्छन् इव उत्फणमण्डलानां फणावतां निःश्वासधूमैः स्थगितांशुजालं विलोचनानां सुखं वपुः अभ्युवाह ।। ३९ ।।

निःश्वासेति ।। उष्णरश्मिरस्तं गच्छन्निवोन्नमितानि फणामण्डलानि येषां तेषां फणावतां सर्पाणां निःश्वासेषु ये धूमास्तैः स्थगितमाच्छादितमंशुजालं यस्य तत्त-थोक्तम् । अत एव विलोचनानां सुखं सुखकरं वपुरभ्युवाह ।। ३९ ।।

हिन्दी—भगवान् भास्कर मानों अस्तङ्गत होते हुए के समान, ऊपर फण

उठाये हुए उन सर्पों के फूत्कारों के धूँए से अपनी किरण-माला के छिप जाने के कारण (उस समय) आँखों से सुखपूर्वक देखने योग्य शरीर (मण्डल) धारण करने लगे ॥ ३९ ॥

प्रतप्तचामीकरभासुरेण दिशः प्रकाशेन पिशङ्गयन्त्यः ।
निश्चक्रमुः प्राणहरेक्षणानां ज्वाला महोल्का इव लोचनेभ्यः ॥ ४० ॥

अन्वयः—प्राणहरेक्षणानां लोचनेभ्यः प्रतप्तचामीकरभासुरेण प्रकाशेन दिशः पिशङ्गयन्त्यः महोल्का इव ज्वाला निश्चक्रमुः ॥ ४० ॥

प्रतप्तेति ॥ प्राणहराणीक्षणानि येषां तेषां प्राणहरेक्षणानां दृष्टिविषाणां सर्पविशेषाणां लोचनेभ्यो नेत्रेभ्यः । 'लोचनं नयनं नेत्रम्' इत्यमरः । प्रतप्तं यच्चामीकरं सुवर्णं तद्वद्भासुरेण । 'भञ्जभासमिदो घुरच्' इति घुरच्प्रत्ययः । प्रकाशेन तेजसा दिशः पिशङ्गयन्त्यो ज्वाला महोल्का इव निश्चक्रमुर्निर्जग्मुः ॥ ४० ॥

हिन्दी—आँख के विष से ही प्राण हरण करने वाले उन दृष्टिविष नामक सर्पों के नेत्रों से, तपाएहुए सुवर्ण की तरह प्रदीप्त अपने प्रकाश से दिशाओं को पीले वर्ण की बनाती हुई ज्वालाएँ महान् उल्काओं के समान बाहर निकलीं ॥ ४० ॥

आक्षिप्तसंपातमपेतशोभमुद्वह्नि धूमाकुलदिग्विभागम् ।
वृतं नभो भोगिकुलैरवस्थां परोपरुद्धस्य पुरस्य भेजे ॥ ४१ ॥

अन्वयः—आक्षिप्तसम्पातम् अपेतशोभम् उद्वह्निधूमाकुलदिग्विभागं भोगिकुलैः वृतं नभः परोपरुद्धस्य पुरस्य अवस्थां भेजे ॥ ४१ ॥

आक्षिप्तेति ॥ आक्षिप्तः प्रतिषिद्धः संपातः संचारो यस्मिंस्तत् । सिद्धानां पक्षिणां चेति शेषः । अपेता गता शोभा यस्मात्तत् अपेतशोभं गतश्रीकम् । उद्गतः प्रदीप्तो वह्निर्यस्मिंस्तत् उद्वह्नि सर्वत सद्भूतदहनम् । धूमैराकुला व्याप्ता दिग्विभागा दिगन्ता यस्मिंस्तत् । भोगिकुलैः सर्पकुलर्वृतमावृतं नभः परोपरुद्धस्य शत्रुवेष्टितस्य पुरस्यावस्थामिव, अवस्था दशां भेजे । उक्तरीत्या तत्साधर्म्यं प्राप्तमित्यर्थः । निदर्शनालङ्कारः ॥ ४१ ॥

हिन्दी—सिद्धों एवं पक्षियों आदि के मार्गों के रुक जाने से संचाररहित, शोभाविहीन, चारों ओर से जलती हुई अग्नि से युक्त सभी दिशाओं में धूएँ से व्याप्त उन सर्पों से आच्छादित आकाश-मण्डल शत्रुओं द्वारा घेरे हुए नगर की अवस्था को प्राप्त हो गया ॥ ४१ ॥

विमर्श—शत्रुओं द्वारा नगर पर घेरा डाल देने से भी यही स्थिति उत्पन्न हो जाती है । यहाँ निदर्शना अलङ्कार है ।

तमाशु चक्षुःश्रवसां समूहं मन्त्रेण तार्क्ष्योदयकारणेन ।
नेता नयेनेव परोपजापं निवारयामास पतिः पशूनाम् ॥ ४२ ॥

अन्वयः—पशूनां पतिः तं चक्षुः श्रवसां समूहं तार्क्ष्योदयकारणेन मन्त्रेण नेता नयेन परोपजापम् इव आशु निवारयामास ॥ ४२ ॥

तमिति ॥ पशूनां पतिः शिवस्तं चक्षुःश्रवसां सर्पाणां समूहं तार्क्ष्योदयकारणेन गरुडाविर्भावहेतुना मन्त्रेण नेता नायको नयेन नीत्या परेषामुपजापं परोपजापं परकृतं स्वमण्डलभेदमिव । 'भेदोपजापावुपधा' इत्यमरः । आशु निवारयामास ॥ ४२ ॥

हिन्दी—तदनन्तर पशुपति भगवान् शङ्कर ने उन सर्पों के समूह को गरुड़ को उत्पन्न करने वाले अपने मन्त्र के प्रभाव से इस प्रकार शीघ्र ही दूर कर दिया जिस प्रकार से जन-नेता अपने न्याययुक्त शासन द्वारा शत्रु के षड्यन्त्र को शीघ्र ही विफल कर देता है ॥ ४२ ॥

प्रतिघ्नतीभिः कृतमीलितानि द्युलोकभाजामपि लोचनानि ।
गरुत्मतां संहतिभिर्विहायः क्षणप्रकाशाभिरिवावतेने ॥ ४३ ॥

अन्वयः—द्युलोकभाजाम् अति कृतमीलितानि लोचनानि प्रतिघ्नतीभिः गरुत्मतां संहतिभिः क्षणप्रकाशाभिः इव विहायः अवतेने ॥ ४३ ॥

प्रतीति ॥ द्युलोकभाजामपि अनिमेषाणामपि कृतं मीलनं निमेषो येषां तानि लोचनानि दृष्टीः प्रतिघ्नतीभिः प्रतिबध्नतीभिः । हन्तेः शतरि ङीप् । गरुत्मतां तार्क्ष्याणां संहतिभिः समूहैः क्षणप्रकाशाभिर्विद्युद्भिरिव । तासां सौवर्णत्वादिति भावः । विहायोऽन्तरिक्षम् । अवतेने व्यानशे ॥ ४३ ॥

हिन्दी—स्वर्गलोक के निवासी अर्थात् निर्निमेष नेत्रों वाले देवताओं के भी मुँदे हुए नेत्रों को चौंधियाते हुए उन गरुड़ों के समूहों ने बिजली के प्रकाश की भाँति समूचे आकाश मण्डल को (तुरन्त) व्याप्त कर लिया ॥ ४३ ॥

ततः सुपर्णव्रजपक्षजन्मा नानागतिर्मण्डलयञ्जवेन ।
जरत्तृणानीव वियन्निनाय वनस्पतीनां गहनानि वायुः ॥ ४४ ॥

अन्वयः—ततः सुपर्णव्रजपक्षजन्मा नानागतिः वायुः वनस्पतीनां गहनानि जरत्तृणानि इव जवेन मण्डलयन् वियत् निनाय ॥ ४४ ॥

तत इति ॥ ततः सुपर्णव्रजानां तार्क्ष्यकुलानां पक्षेभ्यो जन्म यस्य स नानागतिर्विचित्रगतिर्वायुः । वनस्पतीनां वृक्षाणां गहनानि जरत्तृणानि जीर्णतृणानीव जवेनमण्डलयन् भ्रमयन् वियदन्तरिक्षं निनाय ॥ ४४ ॥

हिन्दी—तदनन्तर उन गरुड़ों के पक्षों से निकली हुई विविध प्रकार की गतियों से युक्त वायु ने बड़े-बड़े वृक्षों को भी पुराने तिनकों के समान वेगपूर्वक मण्डलाकार बनाते हुए आकाशमण्डल में पहुँचा दिया ॥ ४४ ॥

मनः शिलाभङ्गनिभेन पश्चान्निरुध्यमानं निकरेण भासाम् ।
व्यूढैरुरोभिश्च विनुद्यमानं नभः ससर्पेव पुरः खगानाम् ॥ ४५ ॥

अन्वयः—मन:शिलाभङ्गनिभेन भासां निकरेण पश्चात् निरुध्यमानं व्यूढै: उरोभि: च विनुद्यमानं नभ: खगानां पुर: ससर्प इव ।। ४५ ।।

मन:शिलेति ।। मन:शिला धातुविशेषस्तस्या भङ्गश्छेदस्तन्निभेन तत्सदृशेन भासां निकरेण कान्तिपुञ्जेन पश्चाद्भागे निरुध्यमानमाव्रियमाणं व्यूढैर्विशालै: उरोभिर्वक्षोभिश्च । 'उरो वत्सं च वक्षश्च' इत्यमर: । विनुद्यमानं प्रेर्यमाणं नभ: खगानां गरुडानां पुर: ससर्पेव ससारेव । उत्तरोत्तरदेशतिरोधानेन गच्छतां खगानामपूर्वोऽपि पुरोभाग: सादृश्यात्पूर्ववदुपलभ्यमानतया नभस एव छेदनात्पुर: ससर्पेवेत्युत्प्रेक्षा ।।

हिन्दी—मन:शिला (मैनसिल) के खण्ड के समान कान्तिपुञ्ज से पिछले भाग में आवृत्त एवं विशाल वक्षस्थलों से ठेला जाता हुआ आकाशमण्डल उन गरुड़ों के आगे मानों स्वयं भागने-सा लगा ।। ४५ ।।

विमर्श—यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ।

दरीमुखैरासवरागताम्रं विकासि रुक्मच्छदधाम पीत्वा ।
जवानिलाघूर्णितसानुजालो हिमाचल: क्षीब इवाचकम्पे ।। ४६ ।।

अन्वयः—जवानिलाघूर्णितसानुजाल: हिमाचल: आसवरागताम्रं विकासिरुक्मच्छदधाम दरीमुखै: इव पीत्वा क्षीब: आचकम्पे ।। ४६ ।।

दरीति ।। जवानिलेनाघूर्णितानि भ्रमितानि सानुजालानि यस्य स हिमाचल: । आसवस्य रागो रक्तता तद्वत् ताम्रम् । गुणयोरेवोपमानोपमेयभाव: । विकासि विकस्वरं रुक्मच्छदा: सुवर्णपक्षास्ताक्ष्यास्तेषां धाम तेजो दरोभिर्मुखैरिव दरीमुखै: पीत्वा क्षीवो मत्त इवाचकम्प आचचाल । उपमाव्यापितेयमुत्प्रेक्षा ।। ४६ ।।

हिन्दी—वेगवान् वायु से हिलते हुए शिखर-समूहों वाला हिमालय मदिरा जैसी लाल रङ्ग की एवं चमकती हुई उन सुवर्णपंखी गरुड़ों के पंखों की कान्ति को मानों अपने गुफा-रूपी मुखों से पीकर मतवाले के समान डगमग करने लगा ।।

विमर्श—यहाँ उपमा से व्यापित उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ।

प्रवृत्तनक्तं दिवसंधिदीप्तैर्नभस्तलं गां च पिशङ्गयद्भि: ।
अन्तर्हितार्कै: परित: पतद्भिश्छाया: समाचिक्षिपिरे वनानाम् ।। ४७ ।।

अन्वयः—प्रवृत्तनक्तन्दिवसन्धिदीप्तै: नभस्तलं गां च पिशङ्गयद्भि: अन्तर्हितार्कै: पतद्भि: परित: वनानां छाया: समाचिक्षिपिरे ।। ४७ ।।

प्रवृत्तेति ।। नक्तं च दिवा च नक्तन्दिवम् । 'अचतुर—' इत्यादिना सप्तम्यर्थवृत्त्योरप्यव्यययोर्द्वन्द्वैकवद्भावनिपाते समासान्त: । लक्षणया त्वहोरात्रमात्रवाची । प्रवृत्त: प्रादुर्भूतो यो नक्तंदिवस्य संधि: संध्या तद्वद्दीप्तै: शोभितै: । नभस्तलं गां भुवं च पिशङ्गयद्भि: पिशङ्गीकुर्वद्भि: । अन्तर्हित आच्छादितोऽर्को यैस्तै: पतद्भि: पक्षिभि:

परितः सर्वतो वनानां छायाः समाचिक्षिपिरे समाक्षिप्तः । अन्तर्बहिश्च तेजाप्रवेशात्क्वाप्यन्तर्हिता इत्यर्थः ॥ ४७ ॥

हिन्दी—दिन और रात्रि की सन्धिबेला के समान सुशोभित, आकाशमण्डल एवं पृथ्वी को पीले वर्ण में रँगने वाले एवं सूर्य को आच्छादित करने वाले उन गरुड़ पक्षियों ने चारों ओर से वन की छाया को विलुप्त-सा कर दिया ॥ ४७ ॥

विमर्श—गरुड़ों के पङ्खों की स्वर्णिम आभा से भीतर-बाहर एक जैसा प्रकाश होने के कारण वन की छाया भी लुप्त हो गई ।

स भोगिसङ्घः शममुग्रधाम्नां सैन्येन निन्ये विनतासुतानाम् ।
महाध्वरे विध्यपचारदोषः कर्मान्तरेणेव महोदयेन ॥ ४८ ॥

अन्वयः—सः भोगिसङ्घः उग्रधाम्नां विनतासुतानां सैन्येन महाध्वरे विध्यपचारदोषः महोदयेन कर्मान्तरेण इव शमं निन्ये ॥ ४८ ॥

स इति ॥ स भोगिसङ्घः सर्पसमूह उग्रधाम्नां तेजस्विनां विनतासुतानां ताक्ष्यर्पक्षिणां सैन्येन महाध्वरे महाक्रतौ विध्यपचारदोषः कर्मस्खलनदोषो महोदयेन महासामर्थ्येन, अथवा महता फलेन । तन्मूलेन प्रकृतक्रियासिद्धेरिति । कर्मान्तरेण प्रायश्चित्तेनेव शमं शान्तिं निन्ये प्रापितः ॥ ४८ ॥

हिन्दी—वह सर्पसमूह उन परम तेजस्वी गरुडो की सेना द्वारा इस प्रकार से शान्त हो गया जिस प्रकार से किसी बहुत बड़े यज्ञ में कोई कर्मस्खलन रूपी दोष किसी महासामर्थ्यशाली प्रायश्चित्त के प्रभाव से शान्त हो जाता है ॥ ४८ ॥

विमर्श—अर्थात् अर्जुन का वह सर्पास्त्र शिवजी के गरुड़ास्त्र के द्वारा शान्त हो गया ।

साफल्यमस्त्रे रिपुपौरुषस्य कृत्वा गते भाग्य इवापवर्गम् ।
अनिन्धनस्य प्रसभं समन्युः समाददेऽस्त्रं ज्वलनस्य जिष्णुः ॥ ४९ ॥

अन्वयः—अस्त्रे भाग्ये इव रिपुपौरुषस्य साफल्यं कृत्वा अपवर्ग गते समन्युः जिष्णुः अनिन्धनस्य ज्वलनस्य अस्त्रं प्रसभं समाददे ॥ ४९ ॥

साफल्यमिति ॥ अस्त्रे सर्पास्त्रे । भाग्ये प्राग्भवीये शुभे कर्मणीव । रिपुपौरुषस्य रिपुपराक्रमस्य साफल्यं कृत्वा, अपवर्गमवसानं समाप्तिं गते सति । स्वनिवृत्त्या परसाफल्यात् सफलीकरणोपचारः । समन्युः सक्रोधो जिष्णुरर्जुनोऽनिन्धनस्येन्धनं विनैवोत्पादितभ्य ज्वलनस्य ज्वलनप्रदीपकं अस्त्रमाग्नेयास्त्रं प्रसभं शीघ्रं समाददे जग्राह ॥ ४९ ॥

हिन्दी—पूर्वजन्मार्जित पुण्य कर्म के समान शत्रु के पराक्रम को सफल बनाकर अपने सर्पास्त्र के (प्रभाव के) समाप्त हो जाने पर क्रोधयुक्त अर्जुन ने

ईधनादि सामग्री के बिना ही प्रज्ज्वलित होने वाले अग्निबाण को तुरन्त ही ग्रहण किया ।। ४९ ।।

ऊर्ध्वं तिरश्चीनमधश्च कीर्णैर्ज्वालासटैर्लङ्घितमेघपङ्क्तिः ।
आयस्तसिंहाकृतिरुत्पपात प्राण्यन्तमिच्छन्निव जातवेदाः ।। ५० ।।

अन्वयः—ऊर्ध्वं तिरश्चीनम् अधश्च कीर्णैः ज्वालासटैः लंघितमेघपङ्क्तिः आयस्तसिंहाकृतिः जातवेदाः प्राण्यन्तम् इच्छन् इव उत्पात ।। ५० ।।

ऊर्ध्वमिति ।। ऊर्ध्वं तिरश्चीनं तिर्यक् । 'विभाषाञ्चेरदिक् स्त्रियाम्' इति ख-प्रत्ययः । अधश्च कीर्णैर्विस्तृतैर्ज्वाला एव सटाः केसराः । 'सटा जटाकेसरयोः' इति विश्वः । तैः, लंघितमेघपङ्क्तिरतिक्रान्तजलदालिः । आयस्तस्य लङ्घनोद्यतस्य सिंह-स्येवाकृतिर्यस्य स जातवेदा अग्निः प्राण्यन्तं प्राणिनां संहरमिच्छन्निवोत्पपात ।।

हिन्दी—ऊपर, नीचे और इधर-उधर फैले हुए विकराल ज्वाला रूपी केसरों से मेघपङ्क्तियों को लाँघने वाला अपने शिकार के ऊपर छलाँग मारने के लिए उद्यत सिंह के समान आकृति वाला अग्नि मानों प्राणियों के संहार की इच्छा से ऊपर को प्रज्वलित हो उठा ।। ५० ।।

भित्त्वेव भाभिः सवितुर्मयूखाञ्जज्वाल विष्वग्विसृतस्फुलिङ्गः ।
विशीर्यमाणाश्मनिनादधीरं ध्वनिं वितन्वन्नकृशः कृशनुः ।। ५१ ।।

अन्वयः—भाभिः सवितुः मयूखान् भित्वा इव विष्वक् विसृतस्फुलिङ्गः अकृशः कृशानुः विदीर्यमाणाश्मनिनादधीरं ध्वनिं वितन्वन् जज्वाल ।। ५१ ।।

भित्त्वेति ।। भाभिस्तेजोभिः सवितुर्मयूखान् किरणान् । 'किरणोस्त्रमयूखांशु' —इत्यमरः । भित्त्वेवाभिहत्येव विष्वक् समन्ताद्विसृताः स्फुलिङ्गा यस्य सः । स्फुलिङ्गोदयस्य मयूखाभिघातहेतुकत्वमुत्प्रेक्षते । 'त्रिषु स्फुलिङ्गोऽग्निकणः' इत्यमरः। अकृशोऽतनुः कृशानुर्वह्निः । विशीर्यमाणस्य विदलतोऽश्मनो निनादमिव धीरमुद्धतं ध्वनि वितन्वन् जज्वाल ।। ५१ ।।

हिन्दी—अपने तेज से मानों सूर्य की किरणों को भेद कर चारों ओर प्रचण्ड चिनगारी की वर्षा करते हुए वह विकराल अग्नि बड़ी-बड़ी चट्टानों के विदीर्ण होने के समान भयङ्कर ध्वनि करता हुआ धुआँधार जलने लगा ।। ५१ ।।

चयानिवाद्रीनिव तुङ्गशृङ्गान् क्वचित्पुराणीव हिरण्मयानि ।
महावनानीव च किंशुकानां ततान वह्निः पवनानुवृत्त्या ।। ५२ ।।

अन्वयः—वह्निः पवनानुवृत्या चयान् इव तुङ्गशृङ्गान् अद्रीन् इव क्वचित् हिरण्मयानि पुराणि इव किंशुकानां महावनानि इव ततान ।। ५२ ।।

चयानिति ।। वह्निः पवनानुवृत्त्या वायुवशेन चयानिव हिरण्मयान्प्राकारानिव ।

'चयः समूहे प्रकारे' इति विश्वः । तुङ्गशृङ्गानद्रीनिव क्वचिद्धिरण्मयानीति 'दाण्डिनायन—' इत्यादिना निपातनात्साधुः । पुराणि नगराणीव तथा किंशुकानां पलाशतरूणाम् । 'पलाशे किंशुकः पर्णः' इत्यमरः । महावनानीव । पुष्पितानीति शेषः । ततान वितस्तार । तदाकारेण जज्वालेत्यर्थः ।। ५२ ।।

हिन्दी—अग्नि अनूकूल पवन के कारण कहीं तो सुवर्णमय प्राकारकी भाँति, कहीं ऊँचे शिखरों वाले पर्वत के समान, कहीं सुवर्णमय नगर की भाँति और कहीं फूले हुए पलाश के महावन के समान आकार धारण कर जलने लगा ।। ५२ ।।

मुहुश्चलत्पल्लवलोहिनीभिरुच्चैः शिखाभिः शिखिनोऽवलीढाः ।
तलेषु मुक्ताविशदा बभूवुः सान्द्राञ्जनश्यामरुचः पयोदाः ।। ५३ ।।

अन्वयः—सान्द्राञ्जनश्यामरुचः पयोदाः मुहुः चलत्पल्लवलोहिनीभिः शिखिनः उच्चैः शिखाभिः अवलीढाः तलेषु मुक्ताविशदाः बभूवुः ।। ५३ ।।

मुहुरिति ।। सान्द्राञ्जनश्यामरुचो घनकज्जलश्यामारुचः पयोदा मुहुश्चलन्त्यश्चताः पल्लवलोहिन्यो लोहितवर्णाश्च ताभिश्चलत्पल्लवलोहिनीभिः । 'वर्णादनुदात्तात्तोपधात्तो नः' इति ङीप् । तकारस्य नकारः । शिखिनोऽग्नेः । उच्चैरुन्नताभिः शिखाभिर्ज्वालाभिः अवलीढाः । दग्धा इत्यर्थः । अत एव तलेषु अधोभागेषु मुक्ताविशदामौक्तिकधवला बभूवुः । जलसंशोषणादिति भावः । 'अधःस्वरूपयोरस्त्री तलम्, इत्यमरः ।। ५३ ।।

हिन्दी—सघन काजल के समान काले बादल बारम्बार चञ्चल पल्लवों के समान लोहित वर्ण वाली अग्नि की ऊँची ज्वालाओं से जल-जलकर (जलरहित होने के कारण) निचले भाग में मुक्ता के समान शुभ्र बन गये ।। ५३ ।।

लिलिक्षतीव क्षयकालरौद्रे लोकं विलोलार्चिषि रोहिताश्वे ।
पिनाकिना हूतमहाम्बुवाहमस्त्रं पुनः पाशभृतः प्रणिन्ये ।। ५४ ।।

अन्वयः—क्षयकालरौद्रे विलोलाचिषि रोहिताश्वे लोकं लिलिक्षति इव पिनाकिना पुनः हूतमहाम्बुवाहं पाशभृतः अस्त्रं प्रणिन्ये ।। ५४ ।।

लिलिक्षतीवेति ।। क्षयकालरौद्रे कल्पान्तकालवद्भयावहे विलोलार्चिषि चलज्वाले रोहिताश्वे ज्वलने । 'रोहिताश्वो वायुसखः' इत्यमरः। लोकं लिलिक्षति लेढुमिच्छति जिघत्सति सतीव । लिहः सन्नन्ताच्छतृप्रत्ययः । पिनाकिना पुनर्हूता आहूता आकारिता महाम्बुवाहा येन तत् । पाशभृतो वरुणस्य । अस्त्रं प्रणिन्ये प्रयुक्तम् ।।

हिन्दी—प्रलय काल के समान अत्यन्त भयङ्कर एवं अपनी लपलपाती हुई ज्वालाओं से मानों सम्पूर्ण लोक को चाट जाने के लिए इच्छुक अग्नि के चारों ओर फैल जाने पर पिनाकधारी शङ्कर जी ने पुनः बड़े-बड़े मेघों को बुलाने वाले वरुण अस्त्र का प्रयोग किया ।। ५४ ।।

ततो धरित्रीधरतुल्यरोधसस्तडिल्लतालिङ्गितनीलमूर्तयः ।
अधोमुखाकाशसरिन्निपातिनीरपः प्रसक्तं मुमुचुः पयोमुचः ॥ ५५ ॥

अन्वयः—ततः धरित्रीधरतुल्यरोधसः तडिल्लतालिङ्गितनीलमूर्तयः पयोमुचः अधोमुखाकाशसरिन्निपातिनीः अपः प्रसक्तं मुमुचुः ॥ ५५ ॥

तत इति ॥ ततो वरुणास्त्रप्रयोगानन्तरं धरित्रीधरतुल्यरोधसः पर्वतसमप्रान्ताः । 'रोधः स्यात्प्रान्तकूलयोः' इति विश्वः । तडिल्लताभिरालिङ्गिता नीलमूर्तयो नीलाङ्गानि येषां ते पयोमुचो मेघा अधोमुखा आकाशसरिदिव निपतन्तीति अधोमुखाकाशसरिन्निपातिनीः । 'कर्तर्युपमाने' इति णिनिः । अपो जलानि प्रसक्तमनुबन्धमविच्छिन्नं यथा तथा मुमुचुः । इतःप्रभृति वंशस्थवृत्तम् ॥ ५५ ॥

हिन्दी—उस वरुणास्त्र का प्रयोग करने के अनन्तर बड़े-बड़े पर्वतों के समान आकारयुक्त बिजली की रेखाओं से चमकते हुए काले-काले बादल नीचे मुख कर गिरने वाली आकाश-नदी के समान अविच्छिन्न जलधारा गिराने लगे ॥ ५५ ॥

विमर्श—अब यहाँ से वंशस्थ वृत्त छन्द है ।

पराहतध्वस्तशिखे शिखावतो वपुष्यधिक्षिप्तसमिद्धतेजसि ।
कृतास्पदास्तप्त इवायसि ध्वनिं पयोनिपाताः प्रथमे वितेनिरे ॥ ५६ ॥

अन्वयः—पराहतध्वस्तशिखे अधिक्षिप्तसमिद्धतेजसि शिखावतः वपुषि तप्ते अयसि इव कृतास्पदाः प्रथमे पयोनिपाताः ध्वनिं वितेनिरे ॥ ५६ ॥

पराहतेति ॥ पराहता अभिहता अतो ध्वस्ता निर्वापिताः शिखा ज्वाला यस्य तस्मिन् पराहतध्वस्तशिखे । अधिक्षिप्तं प्रहारितं नाशितम् । ताडितमिति यावत् । अतः समिद्धं झटिति प्रदीप्तं तेजो यस्य तस्मिन् । शिखावतोऽग्नेर्वपुषि स्वरूपे । तप्तेऽयसि लोह इव कृतास्पदाः कृतस्थितयः । 'आस्पदं प्रतिष्ठायाम्' इति निपातः । प्रथमे पयोनिपाता जलपाता ध्वनिं वितेनिरे विस्तारयामासुः ॥ ५६ ॥

हिन्दी—जल वृष्टि से ज्वालाओं के शान्त हो जाने एवं प्रचण्ड तेज के नष्ट हो जाने पर अग्नि के शरीर पर, तपाये हुए लाल लोहे पर गिरने के समान पहली बार में गिरने वाली जलधारा छनछन की ध्वनि करने लगी ॥ ५६ ॥

महानले भिन्नसिताभ्रपातिभिः समेत्य सद्यः क्वथनेन फेनताम् ।
व्रजद्भिरार्द्रेन्धनवत्परिक्षयं जलैर्वितेने दिवि धूमसंततिः ॥ ५७ ॥

अन्वयः—महानले भिन्नसिताभ्रपातिभिः सद्यः क्वथनेन फेनतां समेत्य, परिक्षयं व्रजद्भिः जलैः आर्द्रेन्धनवत् दिवि धूमसन्ततिः वितेने ॥ ५७ ॥

महानल इति ॥ महानलेऽग्नौ भिन्नानि खण्डितानि सिताभ्राणीव पतन्तीति भिन्नसिताभ्रपातिभिः । 'कर्तर्युपमाने' इति णिनिप्रत्ययः । अत एव सद्यः क्वथनेन

पाकेन फेनतां समेत्य प्राप्य परिक्षयं नाशं व्रजद्भिर्जलैरार्द्रेन्धनवत् आर्द्रकाष्ठैस्तुल्यम् । 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' इति वतिप्रत्ययः । दिवि गगने धूमसंततिर्वितेने विस्तारिता । फेनादिकमार्द्रेन्धनेऽपि तुल्यम् ।। ५७ ।।

हिन्दी—उस प्रचण्ड अग्नि में मानों खण्ड-खण्ड होकर गिरने वाले श्वेत मेघ के समान उस जल की धारा, तुरन्त ही खौल कर फेन बनकर विनष्ट होती हुई गीले इन्धन के समान आकाश में धुएँ की माला विस्तारित करने लगी ।। ५७ ।।

स्वकेतुभिः पाण्डुरनीलपाटलैः समागताः शक्रधनुःप्रभाभिदः ।
असंस्थितामादधिरे विभावसोर्विचित्रचीनांशुकचारुतां त्विषः ।। ५८ ।।

अन्वयः—पाण्डुरनीलपाटलैः स्वकेतुभिः समागताः शक्रधनुः प्रभाभिदः विभावसोः त्विषः असंस्थितां विचित्रचीनांशुकचारुताम् आदधिरे ।। ५८ ।।

स्वकेतुभिरिति ।। पाण्डुरैर्नीलैः पाटलैश्च पाण्डुरनीलपाटलैर्विचित्रैः स्वकेतुभिर्धूमैः समागताः सङ्गताः । अत एव शक्रधनुषः प्रभाभिद इन्द्रधनुर्द्युतिभाजो विभावसोरग्नेस्त्विषोऽसंस्थितामस्थिरां विचित्रस्य चीनाशुंकस्य पट्टवस्त्रविशेषस्य चारुतामादधिरे दधुः ।। ५८ ।।

हिन्दी—अपने कपिश, काले और लालरङ्ग के विचित्र धूम रूपी-केतु से इन्द्र धनुष की कान्ति को तिरस्कृत करने वाली अग्नि की कान्ति ने झिलमिलाते हुए चीन देश के धूप-छाँही रेशमी वस्त्र के समान अस्थिर (क्षणिक) सुन्दरता धारण की ।।

जलौघसंमूर्च्छनमूर्च्छितस्वनः प्रसक्तविद्युल्लसितैधितद्युतिः ।
प्रशान्तिमेष्यन्धृतधूममण्डलो बभूव भूयानिव तत्र पावकः ।। ५९ ।।

अन्वयः—जलौघसम्मूर्च्छन् अमूर्च्छितस्वनः प्रसक्तविद्युल्लसितैधितद्युतिः धृतधूममण्डलः पावकः प्रशान्तिम् एष्यन् तत्र भूयान् इव बभूव ।। ५९ ।।

जलौघेति ।। जलौघानामुदकप्रवाहाणां संमूर्च्छनेन मेलनेन मूर्च्छितस्वनः प्रवृद्धघोषः । 'मूर्च्छनं मेलने प्रोक्तं वृद्धौ मूर्च्छितमेव वा' इति सज्जनः । प्रसक्तैः सङ्गतैर्विद्युतां तडिल्लतानां लसितैः स्फुरणैरेधिता वर्धिता द्युतिर्यस्य स धृतधूममण्डलो जलाघातात्संभूतधूमपटलः पावकः प्रशान्तिमेष्यन्, तत्र देशे भूयानिव बभूव । भूयास्तया स्थापित इवेत्युत्प्रेक्षा ।। ५९ ।।

हिन्दी—बादलों से अविच्छिन्न रूप में गिरने वाले जल-प्रवाह के आघात से अग्नि के जलने का शब्द और अधिक गम्भीर हो गया एवं बादलों में चमकती हुई बिजली की चमक के मिश्रण से उसकी दीप्ति भी अधिक बढ़ गयी - इस प्रकार से विपुल धूममण्डल से शोभित वह अग्नि शान्त होते हुए भी उस प्रदेश में पहले से भी अधिक मात्रा में दिखाई पड़ने लगा ।। ५९ ।।

प्रवृद्धसिन्धूर्मिचयस्थवीयसां चयैर्विभिन्नाः पयसां प्रपेदिरे ।
उपात्तसंध्यारुचिभिः सरूपतां पयोदविच्छेदलवैः कृशानवः ॥ ६० ॥

अन्वयः—प्रवृद्धसिन्धूर्मिचयस्थवीयसां पयसां चयैः विभिन्नाः कृशानवः उपात्तसन्ध्यारुचिभिः पयोदविच्छेदलवैः सरूपतां प्रपेदिरे ॥ ६० ॥

प्रवृद्धेति ॥ प्रवृद्धानां सिन्धोः समुद्रस्य ऊर्मीणां चया राशय इव स्थवीयसां स्थूलतराणां पयसां चयैः पूरैर्विभिन्ना विश्लेषिताः कृशानवोऽग्नय उपात्तसंध्यारुचिभिः प्राप्तसंध्यारागैः पयोदानां विच्छिद्यन्त इति विच्छेदा विच्छिन्ना विक्षिप्ता ये लवाः शकलास्तैः सरूपतां समानरूपतां प्रपेदिरे इत्युपमा ॥ ६० ॥

हिन्दी—ऊपर उठती हुई समुद्र की लहरों के समान ढेर के ढेर उस जलराशि से जगह-जगह विभाजित अग्नि के अङ्गारे सायङ्कालीन मेघों के छोटे-छोटे अरुणवर्ण टुकड़ों के समान दिखाई पड़ रहे थे ॥ ६० ॥

विमर्श—यहाँ उपमा अलङ्कार है ।

उपैत्यनन्तद्युतिरप्यसंशयं विभिन्नमूलोऽनुदयाय संक्षयम् ।
तथा हि तोयौघविभिन्नसंहतिः स हव्यवाहः प्रययौ पराभवम् ॥ ६१ ॥

अन्वयः—अनन्तद्युतिः अपि विभिन्नमूलः असंशयम् अनुदयाय संक्षयम् उपैति तथा हि तोयौघविभिन्नसंहतिः सः हव्यवाहः पराभवम् प्रययौ ॥ ६१ ॥

उपैतीति ॥ अनन्तद्युतिर्महातेजा अति विभिन्नमूलो नष्टमूलोऽसंशयं यथा तथाऽनुदयाय पुनरनुत्थानाय संक्षयं नाशम् । उपैति । तथा हि—तोयौघर्विभिन्ना संहतिः सङ्घातो यस्य स तथोक्तः हव्यवाहोऽग्निः पराभवं नाशं प्रययौ । विशेषेण सामान्यसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ६१ ॥

हिन्दी—महान् तेजस्वी भी हो यदि उसका मूल नष्ट हो जाता है तो वह निश्चय ही नष्ट हो जाता है और उसका फ़िर से उदय नहीं हो सकता । जलराशि से विशीर्ण हो जाने पर वह प्रचण्ड अग्नि भी पराभूत हो ही गया ॥ ६१ ॥

विमर्श—यहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ।

अथ विहितविधेयैराशु मुक्ता वितानै
रसितनगनितम्बश्यामभासां घनानाम् ।
विकसदमलधाम्नां प्राप नीलोत्पलानां
श्रियमधिकविशुद्धां वह्निदाहादिव द्यौः ॥ ६२ ॥

अन्वयः—अथ विहितविधेयैः असितनगनितम्बश्यामभासां घनानां वितानैः मुक्ता द्यौः वह्निदाहात् इव विकसदमलधाम्नां नीलोत्पलानाम् अधिकविशुद्धाम् श्रियं आशु प्राप ॥ ६२ ॥

अथेति ।। अथ अग्निनिर्वाणान्तरम् । विहितविधेयै: कृतकृत्यै: । असितनगस्याञ्जनाद्रेर्नितम्ब: कटकस्तद्वत् श्यामभासां घनानां वितानै: । पटलैर्मुक्ता द्यौराकाशो वह्निदाहादिवेत्युत्प्रेक्षा । विकसन्ति च तानि अमलधामानि स्वच्छकान्तीनि च तेषां नीलोत्पलानामधिकविशुद्धामत्युज्ज्वलां श्रियं प्राप । निदर्शनालङ्कार: ।। ६२ ।।

हिन्दी—तदनन्तर अपने कार्य में सफलता प्राप्त करने वाले कज्जलगिरि के तट प्रदेश की भाँति काले वर्ण वाले मेघों की घटाओं से मुक्त आकाश मानों अग्निदाह के कारण विकसित एवं निर्मल कान्ति से युक्त नीले कमल की अत्यन्त स्वच्छ शोभा को तुरन्त ही प्राप्त हुआ ।। ६२ ।।

विमर्श—यहाँ निदर्शना अलङ्कार है एवं मालिनी छन्द है ।

इति विविधमुदासे सव्यसाची यदस्त्रं
बहुसमरनयज्ञ: सादयिष्यन्नरातिम् ।
विधिरिव विपरीत: पौरुषं न्यायवृत्ते:
सपदि तदुपनिन्ये रिक्ततां नीलकण्ठ: ।।

अन्वय:—बहुसमरनयज्ञ: सव्यसाची अरातिं सादयिष्यन् इति विविधं यत् अस्त्रम् उदासे विपरीत: विधि: न्यायवृत्ते: पौरुषम् इव नीलकण्ठ: सपदि तत् रिक्तताम् उपनिन्ये ।। ६३ ।।

इतीति ।। बहुसमरनयाननेकरणोपायान् जानातीति बहुसमरनयज्ञ: । 'अतोऽनुपसर्गे क:' इति कप्रत्यय: । न तु 'इगुपध—' इत्यादिनाऽऽकारान्तात् 'अनुपपदात्कर्मोपपदो भवति विप्रतिषेधेन' इति वार्तिकव्याख्याने भाष्यकारेण 'अर्थज्ञ' शब्दमुदाहृत्यास्य 'अर्थज्ञ' शब्दस्य कर्मोपपदत्वं दर्शितम् । सव्यसाची अर्जुन: । अरातिं किरातपतिं सादयिष्यन् । अवसादयितुकाम: सन्नित्यर्थ: । क्रियार्थक्रियायां लृटि तस्य शत्रादेश: । इति पूर्वोक्तप्रकारेण विविधं यदस्त्रमुदासे । प्रयुक्तवानित्यर्थ: । 'उपसर्गादस्यत्यूह्योर्वेति वाच्यम्' इत्यात्मनेपदम् । विपरीतो विधि: प्रतिकूलं दैवम् । 'विधिर्विधाने दैवेऽपि' इत्यमर: । न्यायेन नीत्या वृत्तिर्वर्तनं यस्य तस्य नीतिनिष्ठस्य पौरुषमिव नीलकण्ठ: शिव: सपदि तत् अस्त्रं रिक्ततां व्यर्थताम् । उपनिन्ये । संहृतवानित्यर्थ: । मालिनीवृत्तम् ।। ६३ ।।

हिन्दी—युद्ध के अनेक कौशलों के जानने वाले सव्यसाची अर्जुन ने अपने शत्रु किरातपति को पराजित करने के इरादे से जिन-जिन अस्त्रों का प्रयोग किया उन-उन को नीलकण्ठ शङ्कर ने शीघ्र ही इस प्रकार से व्यर्थ बना दिया जिस प्रकार से न्यायनिष्ठ पुरुष के पराक्रम को प्रतिकूल दैव नष्ट कर देता है ।। ६३ ।।

वीतप्रभावतनुरप्यतनुप्रभाव:
प्रत्याचकाङ्क्ष जयिनीं भुजवीर्यलक्ष्मीम् ।

अस्त्रेषु भूतपतिनापहृतेषु जिष्णु–
र्वर्षिष्यतादिनकृतेव जलेषु लोकः ।। ६४ ।।

इति भारविकृतौ महाकाव्ये किरातार्जुनीये षोडशः सर्गः ।। १६ ।।



अन्वयः—भूतपतिना अस्त्रेषु अपहृतेषु वर्षिष्यता दिनकृता जलेषु लोकः इव वीतप्रभावतनुः अपि अतनुप्रभावः जिष्णुः जयिनीं भुजवीर्यलक्ष्मीं प्रति आचकांक्ष ।।

वीतेति ।। भूतपतिना शम्भुना । अनुग्रहीष्यतेति शेषः । अस्त्रेष्वपहृतेषु सत्सु वर्षिष्यता, उत्तरत्र,—सहस्रगुणं वितरिष्यता दिनकृता सूर्येण जलेष्ववहृतेषु सत्सु लोक इव वीतप्रभावो गतास्त्रमहिमा । अन्यत्र, —गतिशक्तिः । अत एव तनुः क्षीणो वीतप्रभावतनुः, तथाऽप्यतनुप्रभावो निसर्गतः सामर्थ्यादधिकः । अन्यत्र,—उद्योगवान् । ततो जिष्णुरर्जुनो जयिनीं जयशीलाम् । 'जिदृक्षि—' इत्यादिनेनिप्रत्ययः । भुजवीर्यलक्ष्मीं भुजपराक्रमसंपदम् । उभयत्रापि पुरुषकारमिति यावत् । तत्कालकुण्ठितामिति शेषः । प्रत्याचकाङ्क्ष । प्रत्याहर्तुमियेषेत्यर्थः । यथा लोको नद्यादिजलापहारेऽप्युपायान्तरेण कूपादिना जीवतुमिच्छति तद्वदस्त्रबलापहारेऽपि भुजबलेनैव जेतुमियेषेति भावः । वसन्ततिलकावृत्तम् ।। ६४ ।।

इति श्रीमहामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितायां किरातार्जुनीयकाव्य व्याख्यायां घण्टापथसमाख्यायां षोडशः सर्गः समाप्तः ।। १६ ।।



हिन्दी—भविष्य में अनुग्रह करने वाले भगवान् शङ्कर के द्वारा अपने अस्त्रों के निष्फल कर दिये जाने पर क्षीणशक्ति होकर भी अर्जुन ने स्वभावतः अपने अत्यधिक तेज से अपनी भुजाओं की पराक्रम-रूपी सम्पदा को इस प्रकार से पुनः लाने की चेष्टा की जिस प्रकार से भविष्यत् में हजार-गुना अधिक कर देने की इच्छा रखने वाले सूर्य के द्वारा नदी-तड़ाग आदि का जल हरण कर लेने पर लोग अपने भुजबल का (कुँआ आदि खोद कर उसका) सहारा लेते हैं ।। ६४ ।।

विमर्श—यहाँ वसन्ततिलका छन्द है ।

।। इस प्रकार श्रीभारविकृत किरातार्जुनीयम् महाकाव्य के सोलहवें सर्ग की डॉ सुधाकर मालवीय कृत हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ।। १६ ।।



सप्तदशः सर्गः

अथ पञ्चभिः पार्थं विशेषयन् षड्भिः कुलकमाह—अथेत्यादिभिः —

अथापदामुद्धरणक्षमेषु मित्रेष्विवास्त्रेषु तिरोहितेषु ।
धृतिं गुरुश्रीर्गुरुणाभिपुष्यन् स्वपौरुषेणेव शरासनेन ॥ १ ॥

अथ जयलक्ष्मीप्रत्याकाङ्क्षानन्तरम् । आपदामुद्धरणक्षमेषु आपन्निवारण-समर्थेषु । अस्त्रेषु प्रस्वापनादिषु तादृशेषु मित्रेष्विव तिरोहितेष्वन्तर्हितेषु सत्सु गुरुणा महता स्वपौरुषेणेव तादृशेन शरासनेन धृतिं धैर्यम् । अभिपुष्यन् वर्धयन् । अद्यापि धनुषि पौरुषो च सति कियानयं किरात इति धैर्यमवलम्बमान इत्यर्थः । अत एव गुरुश्रीः प्रवृद्धशोभासंपत्तिः । 'पद्मा मा लक्ष्मीः श्रीर्निगद्यते' इति शाश्वतः ॥ १ ॥

भूरिप्रभावेण रणाभियोगात्प्रीता विजिह्मश्च तदीयवृद्ध्या ।
स्पष्टोऽप्यविस्पष्टवपुः प्रकाशः सर्पन्महाधूम इवाद्रिवह्निः ॥ २ ॥

भूरीति ॥ पुनश्च, भूरिप्रभावेण महानुभावेन सह रणाभियोगात् युद्धलाभात् प्रीतः, तदीयवृद्ध्या शत्रुवृद्ध्या विजिह्मो विश्लथश्च तथा स्पष्टो दीप्त्या प्रज्वलन्नप्य-विस्पष्टो वपुः प्रकाशो यस्य सः । कुतः । सर्पन् प्रसरन् महान्धूमो यस्य स सर्पन्महाधूमोऽद्रिवह्निरिव स्थितः ॥ २ ॥

तेजः समाश्रित्य परैरहार्यं निजं महन्मित्रमिवोरुधैर्यम् ।
आसादयन्नस्खलितस्वभावं भीमे भुजालम्बमिवारिदुर्गे ॥ ३ ॥

तेज इति ॥ पुनश्च, परैररिभिरहार्यमभेद्यं निजं स्वकीयं महत्तेजो वीर्य मित्रमिव समाश्रित्य । अत एव भीमे भयानकेऽरिरेव दुर्गं तस्मिन् अरिदुर्गे शत्रुसङ्कटे । अस्खलितस्वभावमचलशीलमुरु महत् धैर्यं भुजालम्बमिव हस्तावष्टम्भमिव आसा-दयन् प्राप्नुवन् । ईदृशे सङ्कटेऽपि महावीर्यत्वाद्धैर्यमत्यजन्नित्यर्थः ॥ ३ ॥

वंशोचितत्वादभिमानवत्या संप्राप्तया संप्रियतामसुभ्यः ।
समक्षमादित्सितया परेण वध्वेव कीर्त्या परितप्यमानः ॥ ४ ॥

वंशेति ॥ पुनश्च, अभिमानो ममताबुद्धिस्तद्वत्या । विषयतया कर्मणि कर्तृत्वोपचारः। अभिमानास्पदेनेत्यर्थः। अन्यत्र,—कुलशीलाद्यभिमानवत्या । वंशो-

चितत्वात् स्वकुलानुरूपत्वात् । असुभ्यः प्राणेभ्योपि संप्रियतां संप्राप्तया परेण शत्रुणाऽक्ष्णोः समीपे समक्षमक्ष्यग्रतः । 'अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः' इति समासान्तष्टच्प्रत्ययः । आदातुं ग्रहीतुमिष्टयाऽऽदित्सितया । अजिहीर्षितयेत्यर्थः । आङ्पूर्वाद्ददातेः सन्नन्तात्कर्मणि क्तः । वध्वेव कीर्त्या हेतुना परितप्यमानः । कर्तरि शानच् 'हेतौ' इति तृतीया । कन्यया शोक इतिवत् ॥ ४ ॥

पतिं नगानामिव बद्धमूलमुन्मूलयिष्यंस्तरसा विपक्षम् ।
लघुप्रयत्नं निगृहीतवीर्यस्त्रिमार्गगावेग इवेश्वरेण ॥ ५ ॥

पतिमिति ॥ पुनश्च, नगानां पतिं हिमवन्तमिव बद्धमूलं विपक्षं शत्रुं तरसा बलेन । उन्मूलयिष्यन् उत्पाटयिष्यन् । किंच, त्रिभिर्मार्गैर्गच्छतीति त्रिमार्गगा गङ्गा । उत्तरपदसमासः । तस्या वेग इव । ईश्वरेण लघुप्रयत्नमल्पप्रयासं यथा तथा निगृहीतवीर्यः प्रतिबद्धशक्तिः । हस्तास्त्रशक्तिरिति याव । पुरात् किल हिमाद्रिविदलनाय गगनात्पतन्तं गङ्गाधरो निजजटाजूटेन निजग्राहेति पौराणी कथा तद्वदित्यर्थः ॥

संस्कारवत्त्वाद्रमयत्सु चेतः प्रयोगशिक्षागुणभूषणेषु ।
जयं यथार्थेषु शरेषु पार्थः शब्देषु भावार्थमिवाशशंसे ॥ ६ ॥

संस्कारेति ॥ एवंभूतः पार्थः संस्कारवत्त्वात् संस्कारश्चित्तवासना । अन्यत्र, साधुत्वम् । असाधूनां प्रयोगनिषेधादिति भावः । अथवा संस्करो व्युत्पत्तिस्तद्वत्त्वात् चेतो रमयत्सु । प्रयोगः संधानमोक्षादिः शिक्षाऽभ्यासो गुणस्तदाहितोऽतिशयो मौर्वी वा, अन्यत्र तु, — प्रयोगोऽभियुक्तव्यवहारः शिक्षाऽभ्यासो गुणाः स्वस्वस्थानकरणादयः श्लेषप्रसादादयो वा ते भूषणं येषां तेषु । यथा यथाभूत अर्था येषां तेषु यथार्थेषु । अन्यत्र, —नियतार्थेषु । शृणन्ति हिंसन्तीति शरास्तेषु जयम् । तन्निर्वाहकत्वात्तदाधारत्वविवक्षायां सप्तमी । शब्देषु पदेषु भावः प्रवृत्तिनिमित्तं सामान्यादिः स एव अर्थस्तमिव । अशशंसे आचकाङ्क्षे । शास्तिशंसत्योराङ्पूर्वयोरिच्छायामात्मनेपदमुपसंख्यानात् । यथा शाब्दिकाः शब्दैरर्थं साधयन्ति तद्वदयं शरैर्जयं साधयितुमियेषेत्यर्थः ॥ ६ ॥

अन्वयः—अथ आपदाम् उद्धरणक्षमेषु अस्त्रेषु मित्रेषु इव तिरोहितेषु गुरुणा स्वपौरुषेण इव शरासनेन धृतिम् अभिपुष्यन् गुरुश्रीः, भूरिप्रभावेण रणाभियोगात् प्रीतः तदीयवृद्ध्या विजिह्म च स्पष्टः अपि अविस्पष्टवपुःप्रकाशः सर्पन् महाधूमअद्रिवह्निः इव; परैः अहार्य निजं महत् तेजः मित्रम् इव समाश्रित्य भीमे अरिदुर्गे अस्खलितस्वभावम् उरुधैर्यं भुजालम्बम् इव आसादयन्, अभिमानवत्या वंशोचितत्वाद् असुभ्यः सम्प्रियतां सम्प्राप्तया परेण समक्षम् आदित्सितया वध्वा इव कीर्त्या परितप्यमानः, नगानां पतिम् इव बद्धमूलं विपक्षं तरसा उन्मूलयिष्यन् त्रिमार्गगावेगः इव ईश्वरेण लघुप्रयत्नं निगृहीतवीर्यः पार्थः संस्कारवत्त्वात् चेतः रमयत्सु प्रयोगशिक्षागुणभूषणेषु यथार्थेषु शरेषु जयं शब्देषु भावार्थ इव आशशंसे ॥ १-६ ॥

हिन्दी—तदनन्तर आपत्तियों से बचाने में समर्थ प्रस्वापन आदि अस्त्रों के मित्रादि के समान निष्फल हो जाने पर अपने महान् पौरुष की भाँति अपने गाण्डीव नामक धनुष के द्वारा धैर्य को बढ़ाते हुए अर्जुन की शोभा बहुत बढ़ गई । महान् पराक्रमी शत्रु के साथ युद्ध करने का अवसर उपस्थित होने के कारण वह प्रसन्न थे किन्तु उसकी वृद्धि से उनका चित्त बहुत खिन्न था । अपने तेज से वह विभासमान थे तथापि पर्वत पर जलते हुए उस अग्नि समूह के समान वे दिखाई दे रहे थे, जिसमें से बहुत धूँआ निकल रहा हो और जिसका अस्तित्व साफ-साफ प्रकट होने पर भी प्रकाश साफ-साफ न दिखाई पड़ रहा हो । शत्रुओं द्वारा अतिरस्करणीय अपने महान् तेजस्वी मित्र से समान अपने तेज का सहारा लेकर अर्जुन ने उस भयानक शत्रु रूपी दुर्ग में अर्थात् शत्रु में अविचल रहने वाले अपने महान् धैर्य का ही करावलम्ब-सा किया । अपने कुल-शीलादि की अभिमानशालिनी एवं सर्वथा अनुकूल होने के कारण प्राणों से भी प्यारी वधू रूपी कीर्ति का अपने ही आँखों के सामने शत्रु द्वारा अपहरण होते देख वह अत्यन्त परिताप कर रहे थे । नगपति हिमवान् के सदृश बद्धमूल शत्रु को अपने बल वेग से उन्मूलित करने के इच्छुक गङ्गा के प्रवाह की भाँति अर्जुन का पराक्रम भी शङ्कर जी के अल्प प्रयास से ही निष्फल हो गया था । इस प्रकार से विचार करते हुए अर्जुन ने फिर भी विजय-प्राप्ति के लिए अपने शरों का आश्रय लिया । अर्जुन के शर-प्रयोग अभ्यास और तत्सम्बन्धी अनेक गुणों के कारण चित्त को प्रसन्न करने वाले थे, सुप्रयोग, शिक्षाभ्यास और गुणों के कारण हृदयानन्ददायी शब्दों के समान थे ।

विमर्श—तात्पर्य यह है कि इस प्रकार के सुन्दर शब्दों से जिस प्रकार वैयाकरण लोग शब्दार्थ साधन करते हैं उसी प्रकार से अर्जुन ने भी धनुर्वेद शिक्षा और शर-प्रयोग विधि के अभ्यास आदि के बल पर अपने सब प्रकार के गुणों से भरे बाणों के द्वारा विजय प्राप्त करने की कामना की ।

पाँचवें श्लोक में एक पौराणिक कथा से उपमा दी गयी है । गंगा जी जिस समय आकाश से गिरीं, वह चाहती थीं कि हिमालय को तोड़ फोड़कर निकल जायँ किन्तु शङ्कर जी ने अपनी जटाओं में उनके वेग को ऐसा अवरुद्ध कर लिया कि उनके मनोरथ सफल नहीं हो सके । अर्जुन की इच्छा भी कुछ ऐसी ही थी किन्तु भगवान् शङ्कर ने उसे भी पूरी नहीं होने दी ।। १—६ ।।

भूय: समाधानविवृद्धतेजा नैवं पुरा युद्धमिति व्यथावान् ।
स निर्ववामास्त्रममर्षनुन्नं विषं महानाग इवेक्षणाभ्याम् ।। ७ ।।

अन्वय:—भूय: समाधानविवृद्धतेजा: पुरा युद्धम् एवं इति व्यथावान् स: ईक्षणाभ्याम् महानाग: विषम् इव अमर्ष नुन्नम् अस्त्रं निर्ववाम ।। ७ ।।

भूय इति ।। भूय: पुनरपि समाधानेन युद्धाय मनोव्यवस्थापनेन विवृद्धतेजा: प्रवृद्धप्रताप: पुरा पुरातनं युद्धमेवमित्थं शक्तिसादकरं नाभवत्, इति हेतोर्व्यथावान्

परितापवान् सोऽर्जुन ईक्षणाभ्यां दृष्टिभ्यां महानागो महासर्पो विषमिवामर्षनुन्नं क्रोधोत्थापितम् ।अस्त्रमश्रु निर्ववाम निर्जगार ।सात्त्विकानां रससाधारण्याद्रौद्रेऽश्रूदयोक्तिः । 'स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्चः स्वरभेदोऽथ वेपथुः । वैवर्ण्यमश्रु प्रलय इत्यष्टौ सात्त्विका मताः' ।।७ ।।

हिन्दी—इस प्रकार फिर से शङ्कर जी के साथ युद्धार्थ तैयार होने पर अर्जुन का तेज बहुत बढ़ गया किन्तु यह सोंचकर उन्हें अत्यधिक व्यथा हुई कि पहले किसी युद्ध में ऐसी पराजय उनकी नहीं हुई थी । इस कारण से अपने दोनों नेत्रों से वे उसी तरह क्रोधजनित आँसू बरसाने लगे जैसे बहुत बड़ा सर्प अपनी आँखों से विष बरसाता है ।। ७ ।।

तस्याहवायासविलोलमौलेः संरम्भताम्रायतलोचनस्य ।
निर्वापयिष्यन्निव रोषतप्तं प्रस्नापयामास मुखं निदाघः ।। ८ ।।

अन्वयः—आहवायासविलोलमौलेः संरम्भताम्रायतलोचनस्य तस्य रोषतप्तं मुखं निदाघः निर्वापयिष्यन् इव प्रस्नापयामास ।। ७ ।।

तस्येति ।। आहवायासेन युद्धायासेन विलोलमौलेः स्रस्तकेशबन्धस्य । 'चूडा किरीटं केशाश्च संयता मौलयस्त्रयः' इत्यमरः । संरम्भताम्रे कोपारुणे आयते विस्तृते लोचने यस्य । 'संरम्भः संभ्रमे कोपे' इति विश्वः । तस्यार्जुनस्य । रोषतप्तं मुखं निदाघो धर्मो निर्वापयिष्यन् शिशिरीकरिष्यन्निवेत्युत्प्रेक्षा ।प्रस्नापयामास सिषेच। स्वेदं जनयामासेत्यर्थः ।स्नातेर्मित्त्वविकल्पाद्ध्रस्वविकल्पः ।।८ ।।

हिन्दी—युद्ध के परिश्रम के कारण बिखरे हुए केश पाश से युक्त एवं क्रोध के कारण तपाये हुए ताम्बे के सदृश लाल नेत्रों वाले अर्जुन के क्रोध से तमतमाते हुए मुखमण्डल को मानों धूप ने पसीना उत्पन्न करते हुए धो दिया था ।। ८ ।।

विमर्श—अर्थात् उनके मुख पर पसीने की बूँद छहर उठीं थीं ।

क्रोधान्धकारान्तरितो रणाय भ्रूभेदरेखाः स बभार तिस्रः ।
घनोपरुद्धः प्रभवाय वृष्टेरूर्ध्वांशुराजीरिव तिग्मरश्मिः ।। ९ ।।

अन्वयः—क्रोधान्धकारान्तरितः सः घनोपरुद्धः तिग्मरश्मिः वृष्टेः प्रभवाय तिस्रः ऊर्ध्वांशुराजीः इव रणाय भ्रूभेदरेखाः बभार ।। ९ ।।

क्रोधेति ।। क्रोधोऽन्धकार इव तेनान्तरित आवृतः सोऽर्जुनो घनोपरुद्धो मेघावृतस्तिग्मरश्मी रविर्वृष्टेः प्रभवाय वर्षणाय तिस्र ऊर्ध्वांशूनां राजीरिव।अर्कस्योर्ध्वांशुरेखोदये वृष्टिलिङ्गमित्यागमः । रणाय रणप्रवृत्तये तिस्रस्त्रिसंख्या भ्रूभेदो भ्रूभङ्गस्तस्य रेखा बभार ।। ९ ।।

हिन्दी—क्रोधान्धकार से आच्छन्न अर्जुन ने मेघमण्डल में आच्छन्न सूर्य की भाँति भावी वृष्टि की सूचना देने वाली किरणमाला की तीन ऊर्ध्वगामिनी रेखाओं के

समान रण में फिर से शीघ्र ही प्रवृत्त होने की सूचना देने वाली अपने भ्रूभंग (भृकुटि) की तीन टेढ़ी रेखाएँ धारण कर ली थीं ।। ९ ।।

स प्रध्वनय्याम्बुदनादि चापं हस्तेन दिङ्नाग इवाद्रिशृङ्गम् ।
बलानि शम्भोरिषुभिस्तताप चेतांसि चिन्ताभिरिवाशरीरः ।।१० ।।

अन्वयः—सः अम्बुदनादि चापं दिङ्नागः अद्रिशृङ्गम् इव हस्तेन प्रध्वनय्य शम्भोः बलानि अशरीरः चेतांसि चिन्ताभिः इव इषुभिः तताप ।। १० ।।

स इति ।। सोऽर्जुनोम्बुदवन्नदतीति अम्बुदनादि । 'कर्तर्युपमाने' इति णिनिः । चापं दिङ्नागो दिग्गजोऽद्रिशृङ्गमिव हस्तेन करेण प्रध्वनय्य ध्वनयित्वा शम्भोर्बलानि सैन्यानि । अशरीरोऽनङ्गः कामश्चेतांसि युवमनांसि चिन्ताभिः पेयोजनध्यानैरिव । इषुभिस्तताप तापयामास । तपतिः सकर्मकः । अत्र 'इषु' शब्दः स्त्रीलिङ्गः । अन्यथोपमानोपमेययोर्भिन्नलिङ्गतादोषात् । 'पत्री रोप इषुर्द्वयोः' इत्यमरः ।।१० ।।

हिन्दी—तदनन्तर अर्जुन ने मेघ के समान गम्भीर ध्वनि करने वाले अपने गाण्डीव नामक धनुष को, जैसे कोई दिग्गज पर्वत शिखर को अपनी सूँड़ से उठा लेता है, वैसे हीं हाथों से टङ्कार का शङ्कर जी की सेना को अपने बाणों से इस प्रकार सन्ताप किया जैसे कामदेव युवकों के मन अपने विषय-चिन्तन-रूप बाणों से व्यथित करता है ।। १० ।।

सद्वादितेवाभिनिविष्टबुद्धौ गुणाभ्यसूयेव विपक्षपाते ।
अगोचरे वागिव चोपरेमे शक्तिः शरणां शितिकण्ठकाये ।।११ ।।

अन्वयः—अभिनिविष्टबुद्धौ सद्वादिता इव विपक्षपाते गुणाभ्यसूया इव च अगोचरे वाक् इव शराणां शक्तिः शितिकण्ठकाये उपरेमे ।। ११ ।।

सद्वादितेति ।। अभिनिविष्टा शास्त्रनिश्चिता बुद्धिर्यस्य स तस्मिन् अभिनिविष्टबुद्धौ शस्त्रनिष्ठितमतौ विषये सद्वादिता प्रामाणिकार्थसमर्थकतेव । न हि सम्यगभ्यस्तशास्त्रं प्रति सद्वाद्यपि शक्नोतीति केचित् । अन्ये त्वभिनिविष्टबुद्धा-वाग्रहाविष्टचित्ते विषये सद्वादिता हितोपदेष्टृत्वमिव । न ह्याग्रही हितं गृह्णातीति भावः । विपक्षपाते वीतरागे विषये गुणाभ्यसूया गुणासहिष्णुतेव । स हि समदर्शी द्विषन्तमपि न द्वेष्टीति भावः । अगोचरेऽवाङ्मनसगोचरे ब्रह्मणि वागिव । 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' इति श्रुतेरिति भावः । शराणां शक्तिः शितिकण्ठकाये शिवशरीरे विषये उपरेम उपरता । तस्याक्षोभ्यमहिमत्वादिति भावः । 'विभाषा-कर्मकात्' इत्यस्य वैकल्पिकत्वात्पक्ष आत्मनेपदम् । अत्र मालोपमा ।।११ ।।

हिन्दी—जिस प्रकार से शास्त्र ज्ञान से परिपुष्ट बुद्धि वाले मनुष्य में प्रामाणिक वाणी व्यर्थ हो जाती है, अथवा दुराग्रही व्यक्ति में हितोपदेश व्यर्थ हो जाता है, पक्षपातविहीन मनुष्य में गुणों के प्रति ईर्ष्या व्यर्थ हो जाती है, तथा अगोचर

ब्रह्म के विषय में वाणी व्यर्थ हो जाती है, उसी प्रकार से भगवान् शङ्कर के शरीर में अर्जुन के बाणों की शक्ति व्यर्थ हो गयी ।। ११ ।।

विमर्श—यहाँ मालोपमा अलङ्कार है ।

उमापतिं पाण्डुसुतप्रणुन्नाः शिलीमुखा न व्यथयांबभूवुः ।
अभ्युत्थितस्याद्रिपतेर्नितम्बमर्कस्य पादा इव हैमनस्य ।।१२ ।।

अन्वयः—पाण्डुसुतप्रणुन्नाः शिलीमुखाः उमापतिम् अभ्युत्थितस्य अद्रिपतेः नितम्बं हैमनस्य अर्कस्य पादाः इव न व्यथयाम्बभूवुः ।। १२ ।।

उमेति ।। पाण्डुसुतेन प्रणुन्नाः प्रक्षिप्ताः शिली शल्यं मुख येषां ते शिलीमुखा बाणा उमापति शिवम् । अभ्युत्थितस्याभ्युन्नतस्य । अद्रिपतेर्नितम्बं कटकम् । हेमन्ते भवस्य हैमनस्य । 'सर्वत्राण्च तलोपश्च' इत्यण्प्रत्ययस्तकारलोपश्च । अर्कस्य पादा रश्मय इव । 'पादा रश्म्यङ्घ्रितुर्यांशाः' इत्यमरः । न व्यथयांबभूवुः । 'मध्ये स्थितस्यासुमतां समूहमर्कस्य' इति पाठान्तरे मध्ये स्थितस्य हैमनस्यार्कस्य पादाः किरणा असुमतां प्राणिनां समूहमिवेति न दुःखमुत्पादयामासुरिति योजना ।।१२ ।।

हिन्दी—पाण्डुपुत्र अर्जुन द्वारा चलाए गये बाणसमूह उमापति शङ्कर जी को उसी प्रकार से व्यथित नहीं कर सके जिस प्रकार से हेमन्त काल के सूर्य की किरणें अत्युन्नत हिमालय के तट-प्रदेश को नहीं पिघला सकतीं ।। १२ ।।

संप्रीयमाणोऽनुबभूव तीव्रं पराक्रमं तस्य पतिर्गणानाम् ।
विषाणभेदं हिमवानसह्यं वप्रानतस्येव सुरद्विपस्य ।।१३ ।।

अन्वयः—गणानां पतिः तस्य पराक्रमं वप्रानतस्य सुरद्विपस्य असह्यं विषाणभेदं हिमवान् इव संप्रीयमाणः अनुबभूव ।। १३ ।।

समिति ।। गणानां पतिः शिवः । तीव्रं तस्यार्जुनस्य पराक्रमं वप्रे रोधसि आनतस्य परिणतस्य । तटप्रहारिण इत्यर्थः । सुरद्विपस्यासह्यं विषाणभेदं दन्तप्रहारं हिमवानिव संप्रीयमाणः संहृष्यन्, अनुबभूवानुभवति स्म । तस्याक्षोभ्यत्वादनुजिघृक्षुत्वाच्चेति भावः ।।१३ ।।

हिन्दी—प्रमथों के स्वामी भगवान् शङ्कर ने अर्जुन के उस तीव्र पराक्रम को इस प्रकार से प्रसन्न होते हुए सहन किया जिस प्रकार से तट-प्रहारकारी ऐरावत के असह्य दन्त-प्रहरों को हिमालय सहन करता है ।। १३ ।।

तस्मै हि भारोद्धरणे समर्थं प्रदास्यता बाहुमिव प्रतापम् ।
चिरं विषेहेऽभिभवस्तदानीं स कारणानामपि कारणेन ।।१४ ।।

अन्वयः—हि तस्मै भारोद्धरणे समर्थं प्रतापं बाहुम् इव प्रदास्यता कारणानाम् अपि कारणेन सः अभिभवः तदानीं चिरं विषेहे ।। १४ ।।

तस्मै हीति ।। तस्मै पार्थाय भारस्य भूभारस्य उद्धरण उद्वहने समर्थं प्रतापं बाहुमिव । अवष्टम्भतयेति शेषः । अन्यथा भारोद्वहनस्य दुष्करत्वादिति भावः । 'स प्रतापः प्रभावश्च यत्तेजः कोशदण्डजम्' इत्यमरः । प्रदास्यता वितरिष्यता कारणानां ब्रह्मादीनामपि कारणेन जनकेन देवेन सोऽभिभवोऽर्जुनपरिभवः । तदानीं चिरं विषेहे सोढः । वात्सल्यादिति भावः ।।१४ ।।

हिन्दी—पृथ्वी का भार उतारने में समर्थ अपने प्रसाद रूपी प्रताप को भुजावलंब के समान अर्जुन को वितरण करते हुए कारणों के भी कारण-ब्रह्मादि देवताओं के भी उत्पादक-शिवजी ने उस समय अर्जुन द्वारा किए गए अपने उस पराभव (अपमान) को चिरकाल तक सहन किया ।। १४ ।।

{नीचे के चार श्लोकों में भगवान् शङ्कर के अभिप्राय को प्रकट किया गया है—}

अथ त्रिभिर्भगवदभिप्रायमाविष्कुर्वंश्चतुर्भिः कलापकमाह—

प्रत्याहतौजाः कृतसत्त्ववेगः पराक्रमं ज्यायसि यस्तनोति ।
तेजांसि भानोरिव निष्पतन्ति यशांसि वीर्यज्वलितानि तस्य ।।१५ ।।

अन्वयः—प्रत्याहतौजाः कृतसत्त्ववेगः यः ज्यायसि पराक्रमं तनोति तस्य भानोः तेजांसि इव वीर्यज्वलितानि यशांसि निष्पतन्ति ।। १५ ।।

प्रत्याहतेति ।। प्रत्याहतौजाः परेण प्रतिहतबलः सन्नपि कृतसत्त्ववेगः कृतोत्सहातिशयः सन् यः पुमान् ज्यायसि स्वस्मादप्यधिके पराक्रमं तनोति तस्य पुंसो भानोरर्कस्य तेजांसीव वीर्येण शौर्येण ज्वलितानि प्रकाशितानि यशांसि निष्पतन्ति । उद्भवन्तीत्यर्थः । हीनस्याधिकाभियोगो यशस्कर इति भावः ।।१५ ।।

हिन्दी—शत्रु के हाथ से हतशक्ति होने पर भी जो मनुष्य अत्यन्त उत्साह के साथ अपने से अधिक बलशाली के साथ पराक्रम दिखाता है, उसके पराक्रम एवं शौर्य से प्रकाशित हुआ उसका यश सूर्य के तेज के समान प्रकाशित होता है ।।

ततः किमित्यत आह —

दृष्टावदानाद्व्यथतेऽरिलोकः प्रध्वंसमेति व्यथिताच्च तेजः ।
तेजोविहीनं विजहाति दर्पः शान्तार्चिषं दीपमिव प्रकाशः ।।१६ ।।

अन्वयः—दृष्टावदानात् अरिलोकः व्यथते व्यथितात् च तेजः प्रध्वंसम् एति । तेजोविहीनं दर्पः शान्तार्चिषं दीपं प्रकाश इव विजहाति ।। १६ ।।

दृष्टेति ।। दृष्टमवदानं महत्कर्म यस्य तस्मात् दृष्टावदानाद्दृष्टपौरुषात् । अरिलोकः शत्रुजनो व्यथते बिभेति। व्यथिताद्भीतात् तेजः प्रध्वंसं नाशम्। एति। तेजोविहीनं दर्प उत्साहः शान्तार्चिषं निर्वाणज्वालं दीपं प्रकाश इव विजहाति त्यजति ।।

हिन्दी—जिस व्यक्ति के महान् कार्य प्रत्यक्ष दिखलाई पड़ते हैं, उनके शत्रु वर्ग सन्त्रस्त रहता है, सन्त्रस्त व्यक्ति का तेज नष्ट हो जाता है और तेजोविहीन व्यक्ति को उसका उत्साह इस प्रकार त्याग देता है जिस प्रकार दीपक की लौ के निर्वाण हो जाने पर प्रकाश उसे त्याग देता है ।। १६ ।।

ततः प्रयात्यस्तमदावलेपः स जय्यतायाः पदवीं जिगीषोः ।
गन्धेन जेतुः प्रमुखागतस्य प्रतिद्विपस्येव मतङ्गजौघः ।।१७ ।।

अन्वयः—ततः सः अस्तमदावलेपः गन्धेन जेतुः प्रमुखागतस्य प्रतिद्विपस्य मतङ्गजौघः इव जिगीषोः जय्यतायाः पदवीं प्रयाति ।। १७ ।।

तत इति ।। ततो दर्पहान्यनन्तरम् । अस्तौ क्षयं गतौ मदावलेपौ मदगर्वौ यस्य सोऽरिलोको गन्धेन मदगन्धेनेव जेतुर्जयनशीलस्य । शीलार्थे तृच्प्रत्ययः । प्रमुखागतस्याभिमुखागतस्य प्रतिद्विपस्यान्यो मतङ्गजौघो मत्तगजसमूह इव जिगीषोर्नायकस्य जय्यतायाः पदवीं प्रयाति प्राप्नोति। विजिगीषुणां जेतुं शक्यो भवतीत्यर्थः । 'क्षय्य-जय्यौ शक्यार्थे' इति निपातः । अत्र श्लोकद्वये ज्यायसि पराक्रमकरणादीनां पूर्वपूर्वस्योत्तरोत्तरं प्रति कारणत्वकथनात् कारणमालाख्योऽलङ्कारः । लक्षणं तूक्तम् ।।१७ ।।

हिन्दी—उत्साह के भंग हो जाने के अनन्तर मद एवं आत्माभिमान के खर्वित हो जाने से वह मनुष्य अपने विजिगीषु शत्रु के उसी तरह पराजय को प्राप्त होता है जिस तरह मतवाले हाथी के मद की सुगन्धित से खिंचकर सामने आया हुआ हाथियों का समूह उस मतवाले हाथी से पराजित हो जाता है ।। १७ ।।

विमर्श—सोलहवें तथा सत्रहवें श्लोक में कारणमाला अलङ्कार है ।

एवं प्रतिद्वन्द्विषु तस्य कीर्तिं मौलीन्दुलेखाविशदां विधास्यन् ।
इयेष पर्यायजयावसादां रणक्रियां शम्भुरनुक्रमेण ।।१८ ।।

अन्वयः—शम्भुः एवं प्रतिद्वन्द्विषु तस्य मौलीन्दुलेखाविशदां कीर्तिं विधास्यन् अनुक्रमेण पर्यायजयावसादां रणक्रियां इयेष ।। १८ ।।

एवमिति ।। एवमुक्तरीत्या प्रतिद्वन्द्विषु प्रत्यर्थिषु मध्ये तस्यार्जुनस्य मौलीन्दुलेखाविशदां कीर्तिं विधास्यन् करिष्यन्, अनुक्रमेणाविपर्यासेन पर्यायेण जयोऽवसादो भङ्गश्च तौ जयावसादौ यस्यां तां पर्यायजयावसादां रणक्रियाम् । इयेषेच्छति स्म । जयानन्तरं भङ्गो भङ्गानन्तरं जय इति पर्यायार्थः । तस्य विपर्यासोऽन्यतरनैरन्तर्य तदभावोऽनुक्रम इत्यपौनरुक्त्यम् ।।१८ ।।

हिन्दी—भगवान् शङ्कर इस प्रकार अपने प्रतिद्वन्द्वियों के बीच में अर्जुन की कीर्ति को अपने ललाट में स्थित चन्द्रलेखा के समान शुभ्र करने की इच्छा से क्रमशः जय और पराजय मिश्रित युद्ध-कौशल दिखाने के अभिलाषी हुए ।। १८ ।।

विमर्श—अर्थात् ऐसी युद्ध-चातुरी दिखाना चाहा, जिससे अर्जुन का उत्साह भंग न हो । कभी जय दिखाई पड़े, कभी पराजय, फिर कभी जय और कभी पराजय ।

मुनेर्विचित्रैरिषुभिः स भूयान्निन्ये वशं भूतपतेर्बलौघः ।
सहात्मलाभेन समुत्पतद्भिर्जातिस्वभावैरिव जीवलोकः ॥१९ ॥

अन्वयः—मुनेः विचित्रैः इषुभिः सः भूयान् भूतपतेः बलौघः आत्मलाभेन सह समुत्पतद्भिः जातिस्वभावैः जीवलोकः इव वशं निन्ये ॥ १९ ॥

मुनेरिति ॥ मुनेर्विचित्रैरिषुभिः स भूयान् असंख्यो भूतपतेर्बलौघ आत्मलाभेन जन्मना सह समुत्पतद्भिराविर्भवद्भिः । आजन्मसिद्धैरित्यर्थः । जातयो गोत्वमनुष्यत्वादयः, स्वभावा जातिनियता धर्मास्तैः जातिस्वभावैर्जीवलोकः प्राणिजातमिव वशं निन्ये नीतः । कर्मणि लिट् । प्राणिनो जातिधर्मानिव गणा मुनिशरान्नातिक्रमितुं शेकुरित्यर्थः । कलापकम् ॥१९ ॥

हिन्दी—तपस्वी अर्जुन के बाणों ने भगवान् शङ्कर के उन असंख्य सैनिकों को इस प्रकार से अपने वश में कर लिया जिस प्रकार से जन्मजात स्वभाव जीवों को अपने वश में कर लेता है ॥ १९ ॥

विमर्श—तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार जीव अपने जन्मजात स्वभाव का अतिक्रमण नहीं कर सकते उसी प्रकार से वे प्रमथ गण भी अर्जुन के बाणों का अतिक्रमण नहीं कर सके ।

वितन्वतस्तस्य शरान्धकारं त्रस्तानि सैन्यानि रवं निशेमुः ।
प्रवर्षतः संततवेपथूनि क्षपाघनस्येव गवां कुलानि ॥२० ॥

अन्वयः—त्रस्तानि सैन्यानि सन्ततवेपथूनि गवां कुलानि प्रवर्षतः क्षपाघनस्य इव शरान्धकारं तस्य रवं निशेमुः ॥ २० ॥

वितन्वत इति ॥ त्रस्तानि सैन्यानि संततवेपथूनि निरन्तरकम्पानि गवां कुलानि वृन्दानि वृष्टिं कुर्वतः क्षपाघनस्य रात्रिमेघस्येव शरैर्योऽन्धकारस्तं वितन्वतो विस्तारयतः तस्य मुनेः संबन्धिनं रवं शरवर्षघोषं निशेमुः शुश्रुवुः । न तु किञ्चिद्ददृशुः । चेष्टा तु दूरापास्तेति भावः ॥ २० ॥

हिन्दी—डरी हुई प्रमथों की सेना ने निरन्तर काँपते हुए अर्जुन की बाण वर्षा के अन्धकार को विस्तारित करने वाले शब्दों को इस प्रकार से सुना जिस प्रकार से बरसते हुए रात्रिकालीन मेघों के गंभीर गर्जन को डरी हुई एवं शीत से काँपती हुई गौएँ सुनती हैं ॥ २० ॥

विमर्श—अर्थात् प्रमथ-सेना केवल बाण-वृष्टि का शब्द ही सुनती रही कुछ भी देखने या करने की शक्ति उसमें नहीं रह गयी थी ।

स सायकान्साध्वसविप्लुतानां क्षिपन्परेषामतिसौष्ठवेन ।
शशीव दोषावृतलोचनानां विभिद्यमानः पृथगाबभासे ॥ २१ ॥

अन्वयः—अतिसौष्ठवेन सायकान् क्षिपन् सः साध्वसविप्लुतानां परेषां दोषावृतलोचनानां शशी इव पृथग् विभिद्यमानः आबभासे ॥ २१ ॥

स इति ॥ अतिसौष्ठवेनातिलाघवेन सायकान् शरान् क्षिपन् सोऽर्जुनः साध्वसेन विप्लुतानां भ्रान्तानां परेषां द्विषां दोषेण काचकामलादिरोगेण आवृत-लोचनानां दुष्टचक्षुषां शशीव पृथग्विभिद्यमान आबभासे । यथा सदोषचक्षुषैकश्चन्द्रो नानेव लक्ष्यते तद्वदेकोऽप्यनेक इव दृष्ट इति भावः ॥ २१ ॥

हिन्दी—अत्यन्त हस्तलाघव के साथ बाणों को चलाते हुए अर्जुन उन भयत्रस्त शत्रुओं को इस प्रकार से एक होकर भी अनेक दिखाई पड़ने लगे जिस प्रकार से (काच, कामला आदि) रोगों से पीड़ित मनुष्य एक चन्द्रमा को भी अनेक देखता है ॥ २१ ॥

क्षोभेण तेनाऽथ गणाधिपानां भेदं ययावाकृतिरीश्वरस्य ।
तरङ्गकम्पेन महाह्रदानां छायामयस्येव दिनस्य कर्तुः ॥ २२ ॥

अन्वयः—अथ गणाधिपानां तेन क्षोभेण ईश्वरस्य आकृतिः महाह्रदानां तरङ्गकम्पेन छायामयस्य दिनस्य कर्तुः इव भेदं ययौ ॥ २२ ॥

क्षोभेणेति ॥ अथ गणाधिपानां सम्बन्धिना तेन क्षोभेण कम्पेन । ईश्वरस्या-कृतिराकारो मूर्तिः । महाह्रदानां तरङ्गकम्पेन छायामयस्य प्रतिबिम्बरूपस्य दिनस्य कर्तुर्दिवाकरस्याकृतिरिव भेदं विकारं ययौ प्राप । स्वयं निर्विकारोऽपि प्रतिमासूर्यवत् परसंसर्गात्तथा प्रतीयत इत्यर्थः ॥ २२ ॥

हिन्दी—तदनन्तर प्रमथ गणों के उस क्षोभ से भगवान् शङ्कर की मूर्ति भी इस प्रकार से विकार को प्राप्त हो गयी जिस प्रकार बड़े-बड़े सरोवरों में चञ्चल लहरों के कंपन के कारण छायागत सूर्य का प्रतिबिम्ब विकृत हो जाता है ॥ २२ ॥

विमर्श—अर्थात् जिस प्रकार सूर्यमण्डल में किसी प्रकार की विकृति न रहने पर भी बड़े-बड़े सरोवरों में चञ्चल तरङ्गों के कम्पन के कारण उसका प्रतिबिम्ब काँपता हुआ दिखाई पड़ता है उसी प्रकार भगवान् शङ्कर यद्यपि निर्विकार थे, तथापि प्रमथगणों के विक्षोभ के कारण वे भी क्षुब्ध दिखाई पड़ने लगे ।

{यदि भगवान् शङ्कर भी विकृत हो गये तो उन्होंने क्रोध क्यों नहीं किया इसका कारण बताते हुए कहते हैं—}

यदि देवोऽपि विकृतस्तर्हि कोपः किं न कृतः, तत्राह —

प्रसेदिवांसं न तमाप कोपः कुतः परस्मिन्पुरुषे विकारः ।
आकारवैषम्यमिदं च भेजे दुर्लक्ष्यचिह्ना महतां हि वृत्तिः ॥ २३ ॥

अन्वयः—प्रसेदिवांसं तं कोपः न आप, परस्मिन् पुरुषे विकारः कुतः । इदं आकारवैषम्यं च भेजे, महतां वृत्तिः दुर्लक्ष्यचिह्ना हि ।। २३ ।।

प्रसेदिवांसमिति ।। प्रसेदिवांसमर्जुनं प्रति प्रसन्नचित्तं तं देवं कोपो नाप न प्राप । तत्राप्यनुग्रहं ययाविति भावः । तत्र हेतुः– परस्मिन् पुरुषे परात्मनि देवे । स्वतो निर्विकार इत्यर्थः । विकारः कोपरूपः कुतः । न कुतश्चिदित्यर्थः । ननु तस्य निर्विकारस्य कथं बहिराकारभेदः कारणाभावदिति चेन्न विद्म इत्याह — इदं पूर्वोक्तम् । आकारवैषम्यं च भेजे । किन्तु केनापि कारणेन न कुप्यतीत्यर्थः । ननु निर्विकारे कुत आकारभेदस्तत्राह — महतां वृत्तिश्चेष्टा दुर्लक्ष्यचिह्ना दुर्ग्रहहेतुका हि ।। २३ ।।

हिन्दी—अर्जुन के प्रति प्रसन्नचित्त भगवान् शङ्कर का क्रोध नहीं उत्पन्न हुआ । वे परमात्मा स्वरूप थे फिर उनमें विकार आता ही कैसे? उनकी केवल आकृति में ही विषमता आयी थी । बड़े लोगों की चित्त-वृत्ति को कोई पहचान नहीं सकता ।। २३ ।।

वैषम्यमेवाह —

विस्फार्यमाणस्य ततो भुजाभ्यां भूतानि भर्त्रा धनुरन्तकस्य ।
भिन्नाकृतिं ज्यां ददृशुः स्फुरन्तीं क्रुद्धस्य जिह्वामिव तक्षकस्य ।। २४ ।।

अन्वयः—ततः भूतानि भर्त्रा भुजाभ्यां विस्फार्यमाणस्य धनुरन्तकस्य स्फुरन्तीं भिन्नाकृतिं ज्यां क्रुद्धस्य तक्षकस्य जिह्वाम् इव ददृशुः ।। २४ ।।

विस्फार्यमाणस्येति ।। ततोऽनन्तरं भूतानि भर्त्रा भूतपतिना । भृञस्तृच्प्रत्ययः । अत एव 'न लोक– इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधः । भुजाभ्याम् । कर्तृकरणयोस्तृतीया । विस्फार्यमाणस्याकृष्यमाणस्य धनुरन्तक इव तस्य धनुरन्तकस्य सम्बन्धिनीं स्फुरन्तीं चलन्तीमत एव भिन्ना द्विधेव दृश्यमानाऽऽकृतिर्यस्यास्तां ज्यां धनुर्गुणं क्रुद्धस्य तक्षकस्य नागविशेषस्य जिह्वामिव ददृशुः । द्विधाभावाद्भयङ्करत्वाच्चेति भावः ।। २४ ।।

हिन्दी—तदनन्तर भूतपति शङ्कर जी की भुजाओं से खींचे गये कृतान्त के समान उनके धनुष की काँपती हुई एवं दो के रूप में दिखाई पड़ती हुई प्रत्यञ्चा को लोगों ने क्रुद्ध तक्षक की जिह्वा के समान देखा ।। २४ ।।

सव्यापसव्यध्वनितोग्रचापं पार्थः किराताधिपमाशशङ्के ।
पर्यायसंपादितकर्णतालं यन्ता गजं व्यालमिवापराद्धः ।। २५ ।।

अन्वयः—पार्थः सव्यापसव्यध्वनितोग्रचापं किराताधिपम् अपराद्धः यन्ता पर्यायसम्पादितकर्णतालं व्यालं गजम् इव आशशङ्के ।। २५ ।।

सव्येति ।। पार्थः सव्यापसव्याभ्यां वामदक्षिणगतिभ्यां ध्वनितं नादितमुग्रचापं येन तं किराताधिपम् । अपराद्धः प्रमत्तो यन्ता पर्यायेणायौगपद्येन संपादितः कर्णयोस्ताल आस्फालनं येन तं व्यालं दुष्टम् । 'भेद्यलिङ्गः शठे व्यालः' इत्यमरः ।

गजमिवाशशङ्के । तच्चापचातुर्यदर्शनाद् दुर्जयः कोऽप्ययमनर्थकरश्चेति शङ्कितवानित्यर्थः ।। २५ ।।

हिन्दी—अर्जुन बाम और दक्षिण गति से-दोनों प्रकार से अपने धनुष का टङ्कार करते हुए किरात-सेनापति को देखकर इस प्रकार से आशंकित हो उठे जिस प्रकार से कभी बाँएँ और कभी दाहिने कान को फटफटाने वाले दुष्ट हाथी को देखकर उसका उन्मत्त महावत आशंकित हो उठता है ।। २५ ।।

निजघ्निरे तस्य हरेषुजालैः पतन्ति वृन्दानि शिलीमुखानाम् ।
ऊर्जस्विभिः सिन्धुमुखागतानि यादांसि यादोभिरिवाम्बुराशेः ।। २६ ।।

अन्वयः—हरेषुजालैः तस्य पतन्ति शिलीमुखानां वृन्दानि ऊर्जस्विभिः अम्बुराशेः यादोभिः सिन्धुमुखागतानि यादांसि इव निजघ्निरे ।। २६ ।।

निजघ्निर इति ।। हरेषुजालैस्तस्यार्जुनस्य पतन्ति आगच्छन्ति शिलीमुखानां शरणां वृन्दानि । ऊर्जस्विभिः प्रबलैः । अम्बुराशेर्यादोभिर्जलग्राहैः सिन्धुमुखेन नदीमुखेन आगतानि यादांसीव निजघ्निरे हतानि ।। २६ ।।

हिन्दी—शङ्कर जी के शर समूहों ने अर्जुन द्वारा छोड़े गये बाणों के समूहों को इस प्रकार से समाप्त कर दिया जिस प्रकार से समुद्र के भीषण जल-जन्तु नदियों के मुहानों द्वारा आये हुए छोटे जल-जन्तुओं को सफाचट कर देते हैं ।। २६ ।।

विभेदमन्तः पदवीनिरोधं विध्वंसनं चाविदितप्रयोगः ।
नेताऽरिलोकेषु करोति यद्यत्तत्तच्चकारास्य शरेषु शम्भुः ।। २७ ।।

अन्वयः—अन्तः विभेद पदवीनिरोधं विध्वंसनं च यत् यत् नेता अविदितप्रयोगः अरिलोकेषु करोति तत् तत् शम्भुः अस्य शरेषु चकार ।। २७ ।।

विभेदमिति ।। अन्तर्विभेदं व्यूहविश्लेषणमुपजापं च पदवीनिरोधं मार्ग एव प्रतिबन्धनम्, अन्यत्र तु— आसारप्रसारप्रतिबन्धं विध्वंसनं खण्डनं दुर्गलुण्ठनदाहादिकं चेत्यादि यद्यन्नेता नायको जिगीषुः । अविदितप्रयोगः संवृतमन्त्रत्वादविज्ञातोपायप्रयोगः सन्, अरिलोकेषु शत्रुकुलेषु करोति तत्तच्छम्भुरविदितप्रयोगोऽज्ञातबाणसंधानमोक्षादिकः सन्, अस्यार्जुनस्य शरेषु चकार कृतवान् । कर्तरि लिट् । श्लेषालङ्कारः ।। २७ ।।

हिन्दी—शङ्कर जी के बाणों ने अलक्षित रूप से अर्जुन के बाणों को अन्तर्विभेद (बीच में ही खण्डित कर देना), मार्गावरोध, तथा विनाश-इन तीनों ही उपायों के द्वारा इस प्रकार से समाप्त कर दिया जिस प्रकार से विजेता अपने शत्रुओं के लिए अलक्षित रह कर भेदनीति का प्रयोग करता है, यातायात मार्ग का अवरोध करता है और दुर्ग को तोड़-ताड़ कर उसमें आग लगा देता है ।। २७ ।।

विमर्श—यहाँ श्लेष अलङ्कार है ।

सोढावगीतप्रथमायुधस्य क्रोधोज्झितैर्वेगितया पतद्भिः ।
छिन्नैरपि त्रासितवाहिनीकैः पेते कृतार्थैरिव तस्य बाणैः ।। २८ ।।

अन्वयः—सोढावगीतप्रथमायुधस्य क्रोधोज्झितैः वेगितया पतद्भिः छिन्नैः अपि त्रासितवाहिनीकैः कृतार्थैः इव तस्य बाणैः पेते ।। २८ ।।

सोढेति ।। सोढानि परैरवगीतानि गर्हितानि प्रथमायुधानि सर्वोत्सृष्टबाणा यस्य तस्यार्जुनस्य सम्बन्धभिः क्रोधोज्झितैः पूर्वबाणवैफल्यात्कोपेन त्यक्तैः । अत एव वेगितया वेगेन पतद्भिर्गतिं कुर्वद्भिः अत एव छिन्नैरपि त्रासिता वाहिन्यो यैस्तैरत एव कृतार्थैरिव बाणैः पेते । भावे लिट् । वस्तुतस्त्वकृतार्था एवेत्यर्थः ।। २८ ।।

हिन्दी—शत्रु द्वारा अपने पहले के छोड़े गये बाणों के व्यर्थ हो जाने पर उनकी अपकीर्ति को सहन करने वाले अर्जुन ने पुनः अत्यन्त क्रोध से जिन बाणों को छोड़ा, वे वेग के साथ चल पड़े । यद्यपि शत्रु ने उन्हें भी छिन्न-भिन्न कर दिया तथापि उन्होंने प्रमथों की सेना को अत्यन्त सन्त्रस्त कर दिया और मानों इतने ही से उनको सफलता मिल गयीं ।। २८ ।।

विमर्श—किन्तु वस्तुतः वे भी तो असफल ही रह गये ।

अलङ्कृतानामृजुतागुणेन गुरूपदिष्टां गतिमास्थितानाम् ।
सतामिवापर्वणि मार्गणानां भङ्गः स जिष्णोर्धृतिमुन्ममाथ ।। २९ ।।

अन्वयः—ऋजुतागुणेन अलङ्कृतानां गुरूपदिष्टां गति आस्थितानां मार्गणानां सताम् इव अपर्वणि सः भङ्गः जिष्णोः धृतिम् उन्ममाथ ।। २९ ।।

अलमिति ।। ऋजुताऽवक्राकारत्वमवक्रशीलत्वं च सैव गुणस्तेन अलङ्कृतानां गुरुभिर्धनुर्विद्यागुरुभिर्धर्मशास्त्रगुरुभिश्च उपदिष्टां दर्शितां गति गमनमाचारं च आस्थितानां प्राप्तानां मार्गणानां शराणां सतां साधूनामिव । अपर्वण्यग्रन्थौ । अन्यत्र, — अप्रस्तावे । अकाण्ड इत्यर्थः । 'पर्व स्यादुत्सवे ग्रन्थौ प्रस्तावे लक्षणान्तरे' इति विश्वः । स ईश्वरकृतो भङ्गश्छेदो व्यसनं च जिष्णोरर्जुनस्य कस्यचिज्जित्वरस्य च । 'जिष्णुः शक्रे धनञ्जये । जित्वरे' इति विश्वः । धृतिं धैर्यम् । उन्ममाथ । जहारेत्यर्थः । अकाण्डे साधुविपत्तिदर्शनादिव शरभङ्गदर्शनाद्धैर्यभङ्गोऽभूदित्यर्थः ।। २९ ।।

हिन्दी—सरलता रूप गुण से अलङ्कृत अर्थात् बिल्कुल सीधे धनुर्विद्या के आचार्य द्रोण द्वारा बताई गई गति से चलने वाले अपने बाणों को बिना गाँठ के ही शिव-बाणों द्वारा छिन्न-भिन्न हो जाने से अर्जुन का धैर्य उसी प्रकार से विलुप्त हो गया जिस प्रकार से सरलता से अलङ्कृत और धर्मशास्त्रों के द्वारा निश्चित सदाचार का अनुसरण करने वाले सज्जनों का धैर्य विपत्ति आने पर छूट जाता है ।। २९ ।।

बाणच्छिदस्ते विशिखाः स्मरारेवाङ्मुखीभूतफलाः पतन्तः ।
अखण्डितं पाण्डवसायकेभ्यः कृतस्य सद्यः प्रतिकारमापुः ।। ३० ।।

अन्वयः—बाणच्छिदः ते स्मरारेः विशिखाः अवाङ्मुखीभूतफलाः पतन्तः पाण्डवसायकेभ्यः कृतस्य सद्यः अखण्डितं प्रतिकारम् आपुः ।। ३० ।।

बाणेति ।। बाणच्छिदः पार्थशरच्छेदिनस्ते स्मरारेर्विशिखा अवाङ्मुखीभूतफलाविमुखाग्रा विफलाश्च सन्तः पतन्तः पाण्डवसायकेभ्यः । क्रियाग्रहणाच्चतुर्थी । पाण्डवसायकानां कृतस्य फलभङ्गरूपस्य स्वकर्मणः सद्योऽखण्डितं प्रतिकारमापुः । अत्युत्कटं कर्म सद्यो दर्शयतीति भावः ।। ३० ।।

हिन्दी—अर्जुन के बाणों को काट गिराने वाले भगवान् शङ्कर के उन बाणों ने, जिनके अग्रभाग नीचे हो गये थे, गिरते हुए अर्जुन के बाणों को विफल बनाने वाले अपने कर्म का तुरन्त ही अखण्डित प्रतीकार प्राप्त किया ।। ३१ ।।

{अब अर्जुन के विजय का प्रसङ्ग उपस्थित होता है - }

पुनरर्जुरनस्य जयमाह—

चित्रीयमाणानतिलाघवेन प्रमाथिनस्तान्भवमार्गणानाम् ।
समाकुलाया निचखान दूरं बाणान्ध्वजिन्या हृदयेष्वरातिः ।। ३१ ।।

अन्वयः—अरातिः अतिलाघवेन चित्रीयमाणान् भवमार्गणानां प्रमाथिनःतान् बाणान् समाकुलायाः ध्वजिन्यः हृदयेषु दूरं निचखान ।। ३१ ।।

चित्रीयमाणानिति ।। अरातिरर्जुनः । अतिलाघवेनातिशीघ्रत्वात् चित्रीयमाणांश्चित्रमाश्चर्य कुर्वाणान् । 'नमोवरिवश्चित्रङः क्यच्' । भवमार्गणानां प्रमाथिनः खण्डयतः तान् बाणान् । समाकुलायाः संक्षुभिताया ध्वजिन्याः सेनाया हृदयेषु दूरं गाढं निचखान निखातवान् ।। ३१ ।।

हिन्दी—अर्जुन ने अत्यन्त हस्तलाघव के साथ आश्चर्य उपस्थित करने वाले, शिव के बाणों को खण्डित करने वाले अपने उन बाणों को व्याकुल प्रमथों की सेना के हृदयों में बड़ी गहराई तक गाड़ दिया ।। ३१ ।।

तस्यातियत्नादतिरिच्यमाने पराक्रमेऽन्योन्यविशेषणेन ।
हन्ता पुरां भूरि पृषत्कवर्षं निरास नैदाघ इवाम्बु मेघः ।। ३२ ।।

अन्वयः—तस्य पराक्रमे अतियत्नात् अन्योन्यविशेषणेन अतिरिच्यमाने पुरां हन्ता भूरि पृषत्कवर्ष नैदाघः मेघः अम्बु इव निरास ।। ३२ ।।

तस्येति ।। तस्यार्जुनस्य पराक्रमेऽतियत्नाद्धेतोः । अन्योन्यस्य विशेषणेनातिशयकारणेन । अतिरिच्यमान उत्कृष्यमाणे सति पुरां हन्ता त्रिपुरविजयी हरो भूरि प्रभूतं पृषत्कवर्षं बाणवर्षम् । 'पृषत्कबाणविशिखाः' इत्यमरः । निदाघे भवो नैदाघो

मेघोऽम्बुवाहोऽम्बु जलमिव निरास मुमोच । अस्यतेर्लिट् । 'निदाघ' ग्रहणं वर्षणस्या-तितीव्रत्वद्योतनार्थम् ।। ३२ ।।

हिन्दी—अर्जुन के उस अति प्रयत्नपूर्ण पराक्रम को, देखकर जो कि शिव जी के पराक्रम का भी अतिक्रमण करने वाला था, त्रिपुरविजयी भगवान् शङ्कर ने निदाघकालीन मेघवर्षा की भाँति घनघोर बाणवृष्टि आरम्भ कर दी ।। ३२ ।।

अनामृशन्तः क्वचिदेव मर्म प्रियैषिणाऽनुप्रहिताः शिवेन ।
सुहृत्प्रयुक्ता इव नर्मवादाः शरा मुनेः प्रीतिकरा बभूवुः ।। ३३ ।।

अन्वयः—प्रियैषिणा शिवेन अनुप्रहिताः क्वचित् एव मर्म अनामृशन्तः शराः सुहृत्प्रयुक्ता नर्मवादाः इव मुनेः प्रीतिकराः बभूवुः ।। ३३ ।।

अनामृशन्त इति ।। प्रियैषिणा प्रियचिकीर्षुणा शिवेनानुप्रहिताः प्रयुक्ता अतएव क्वचिदेव मर्मानामृशन्तोऽस्पृशन्तः शराः सुहृन्मित्रं सोऽपि प्रियैषी तेन प्रयुक्ताउच्चारिता नर्मवादाः प्रियवादा व मुनेरर्जुनस्य प्रीतिकराः प्रीतिजनका बभूवुः ।। ३३ ।।

हिन्दी—अर्जुन के कल्याण की इच्छा रखने वाले भगवान् शङ्कर के बाणों ने कहीं पर भी मर्मस्थल का स्पर्श न करते हुए, मित्र के द्वारा कहे गए परिहासपूर्ण वचनों की तरह, दुःख न देकर तपस्वी अर्जुन को केवल आनन्द ही प्रदान किया ।

अस्त्रैः समानामतिरेकिणीं वा पश्यन्निषूणामपि तस्य शक्तिम् ।
विषादवक्तव्यबलः प्रमाथी स्वमाललम्बे बलमिन्दुमौलिः ।। ३४ ।।

अन्वयः—अस्त्रैः समानाम् अतिरेकिणीं वा तस्य इषूणाम् अपि शक्तिं पश्यन् विषादवक्तव्यबलः प्रमाथी इन्दुमौलिः स्वं बलम् आललम्बे ।। ३४ ।।

अस्त्रैरिति ।। अस्त्रैः स्वायुधैः समानां तुल्याम् । अतिरेकिणीं ततोऽधिकां वा तस्य मुनेः । इषूणामपि शक्तिं पश्यन् विषादेनोत्साहभङ्गेन वक्तव्यानि निर्वाच्यानि बलानि सैन्यानि यस्य स प्रमाथी शत्रुमर्दन इन्दुमौलिर्महादेवः स्वं बलमात्मीयं महिमानम् । आललम्बे स्वसामर्थ्यमवलम्बितवान् ।। ३४ ।।

हिन्दी—कहीं पर अपने बाणों के समान और कहीं पर उससे भी अधिक अर्जुन के बाणों की शक्ति को देखकर विषाद के कारण निन्दा को प्राप्त होने वाली सेना से युक्त कामरिपु शङ्कर जी ने पुनः अपने पराक्रम का आश्रय लिया ।। ३४ ।।

ततस्तपोवीर्यसमुद्धतस्य पारं यियासोः समरार्णवस्य ।
महेषुजालान्यखिलानि जिष्णोरर्कः पयांसीव समाचचाम ।। ३५ ।।

अन्वयः—ततः तपोवीर्यसमुद्धतस्य समरार्णवस्य पारं यियासोः जिष्णोः अखि-लानि महेषुजालानि अर्कः पयांसि इव समाचचाम ।। ३५ ।।

तत इति ।। ततो महिमप्रादुर्भावानन्तरं देवस्तपोवीर्याभ्यां समुद्धतस्य प्रगल्भस्य समर एवार्णवस्तस्य पारमन्तं यियासोर्जिगमिषोर्जिष्णोरर्जुनस्य अखिलानि महेषुजालानि समग्रबाणसमूहान् । अर्कः सूर्यः पयांसीव जलानीव समाचचाम सञ्जहार ।। ३५ ।।

हिन्दी—तदनन्तर भगवान् शङ्कर ने तपस्या एवं पराक्रम दोनों से समृद्ध, युद्धरूपी समुद्र के पार जाने के इच्छुक अर्जुन के सम्पूर्ण बाणसमूहों को इस प्रकार से समाप्त कर दिया जिस प्रकार से सूर्य जल को सुखा देता है ।। ३५ ।।

रिक्ते सविस्रम्भमथार्जुनस्य निषङ्गवक्त्रे निपपात पाणिः ।
अन्यद्विपापीतजले सतर्षं मतङ्गजस्येव नगाश्मरन्ध्रे ।। ३६ ।।

अन्वयः—अथ अर्जुनस्य पाणिः रिक्ते निषङ्गवक्त्रे अन्यद्विपापीतजले नगाश्मरन्ध्रे सतर्ष मतङ्गजस्य इव सविस्रम्भ निपपात ।। ३६ ।।

रिक्त इति ।। अथ बाणान्तर्धानानन्तरम् । अर्जुनस्य पाणिः करो रिक्ते बाणशून्ये निषङ्गवक्त्रे तूणीरमुखेऽन्यद्विपेन गजान्तरेण आपीतजले पीततोये नगस्याचलस्याश्मरन्ध्रे शिलागर्ते । प्रदर इत्यर्थः । सतर्षं सतृष्णं यथा स्यात्तथा मतङ्गजस्य पाणिर्लक्षणया कर इव सविस्रम्भं सन्त्येव बाणा इति सविश्वासं निपपात ।। ३६ ।।

हिन्दी—शङ्कर जी द्वारा बाणों के समाप्त कर दिए जाने के अनन्तर अर्जुन का हाथ अपने बाणशून्य तरकस के मुख पर इस प्रकार से विश्वासपूर्वक दूसरा बाण निकालने के लिए गिरा जिस प्रकार से दूसरे हाथी द्वारा सम्पूर्ण जल पी लेने पर चिरपरिचित पर्वतीय दरार के मुख पर किसी प्यासे गजराज की सूँड़ इधर-उधर फिर रही हो ।। ३६ ।।

विमर्श—तात्पर्य यह है कि अर्जुन समझते थे कि उनके तरकस में बाण भरे हुये हैं, किन्तु शङ्कर जी ने उन्हें पहले ही समाप्त कर दिया था, अतः जब वे इस विश्वास से कि तरकस में बाण तो भरे ही हुये हैं, उसके मुख पर हाथ रखा तो उनकी वही दशा हुई जो उस गजराज की होती है, जो अपनी पूर्वपरिचित चट्टानों की दरार में जल की आशा से उसके मुख पर सूँड़ डालता है, किन्तु उसका जल किसी दूसरे हाथी द्वारा पहले ही पी लिया रहता है ।

च्युते स तस्मिन्निषुधौ शरार्थाद्ध्वस्तार्थसारे सहसेव बन्धौ ।
तत्कालमोघप्रणयः प्रपेदे निर्वाच्यताकाम इवाभिमुख्यम् ।। ३७ ।।

अन्वयः—शरार्थात् च्युते तस्मिन् ईषुधौ सहसा ध्वस्तार्थसारे बन्धौ इव तत्कालमोघप्रणयः सः विर्वाच्यताकामः इव आभिमुख्यं प्रपेदे ।। ३७ ।।

च्युत इति ।। शरा एव अर्थो धनं तस्मात् । च्युते भ्रष्टे तस्मिन्निषुधौ निषङ्गे सहसा झटिति ध्वस्तार्थसारेऽकाण्डे नष्टधनसारे बन्धाविव तत्काले मोघो वितथः

प्रणय: प्रीतिर्यस्य स: । तत्कालकृतव्यर्थप्रार्थन: । पूर्वं कृतार्थ एवेति भाव: । स पाणि: । निर्वाच्यतां कृतज्ञत्वापवादराहित्यं कामयत इति निर्वाच्यताकाम: । 'शीलिकामिभक्ष्याचरिभ्यो ण:, स इवेत्युत्प्रेक्षा । आभिमुख्यं प्रपेदे । यथा कश्चित्कृतज्ञस्तत्कालेऽकृतोपकारमपि बन्धुं पूर्वोपकारस्मरणात्पुन: पुनरनुबध्नाति तद्वदित्यर्थ: ।।

हिन्दी—बाणरूपी धन से रिक्त उस तरकस द्वारा, सहसा बिना किसी कारण के ही जिसका धन नष्ट हो गया हो ऐसे बन्धु के समान, तुरन्त अपनी इच्छा के व्यर्थ हो जाने पर (भी) वह अर्जुन का हाथ मानों उसके उपकारों की कृतज्ञता प्रकट करने के लिए ही उसके सम्मुख गया था ।। ३७ ।।

विमर्श—जिस प्रकार से कोई कृतज्ञ व्यक्ति अपने पूर्वोपकारी धनवान मित्र के सहसा निर्धन हो जाने पर अपनी तात्कालिक प्रार्थना के असफल हो जाने पर भी उसके पास जाता ही है उसी प्रकार से अर्जुन का हाथ भी उस तरकस के सम्मुख गया था ।

आघट्टयामास गतागताभ्यां सावेगमग्नाङ्गुलिरस्य तूणौ ।
विधेयमार्गे मतिरुत्सुकस्य नयप्रयोगाविव गां जिगीषो: ।। ३८ ।।

अन्वय:—अस्य अग्राङ्गुलि: विधेयमार्गे उत्सुकस्य गां जिगीषो: मति: नयप्रयोगौ इव तूणौ सावेगं गतागताभ्यां आघट्टयामास ।। ३८ ।।

आघट्टयामासेति ।। अस्य मुने: । अग्रं चासावङ्गुलिश्चेत्यग्राङ्गुलि: । 'हस्ताग्राग्रहस्तयोर्गुणगुणिनोर्भेदाभेदात्' इति वामन: । विधेयमार्गे कर्तव्यान्वेषण उत्सुकस्य प्रवृत्तस्य गां भुवं जिगीषोर्नायकस्य मतिर्बुद्धिर्नय: षाड्गुण्यं प्रयोग उपायस्तौ नयप्रयोगाविव तूणौ निषङ्गौ सावेगं ससंभ्रमम् । 'इष्टानिष्टागमाज्ञाने आवेगश्चित्तसंभ्रम:' इति शाश्वत: । गतागताभ्यां यातायाताभ्यामावापोद्वापाभ्यां चाऽऽघट्टयामास । अन्यत्र तु, —वितर्कयामास । शरग्रहणाय पुन: पुनस्तूणयो: पाणिं व्यापारयामासेत्यर्थ: ।। ३८ ।।

हिन्दी—कर्त्तव्य के अन्वेषण में समुत्सुक एवं धरती को जीतने के इच्छुक नायक की बुद्धि जिस प्रकार से नीति और उपाय दोनों का सहारा लेती है, उसी प्रकार से अर्जुन का हाथ अपने दोनों तूणीरों के मुख को वेग के साथ आते जाते हुए स्पर्श करता रहा ।। ३८ ।।

बभार शून्याकृतिरर्जुनस्तौ महेषुधी वीतमहेषुजालौ ।
युगान्तसशुष्कजलौ विजिह्म: पूर्वापरौ लोक इवाम्बुराशी ।। ३९ ।।

अन्वय:—शून्याकृति: अर्जुन: तौ वीतमहेषुजालौ महेषुधी विजिह्म: लोक: युगान्तसंशुष्कजलौ पूर्वापरौ अम्बुराशी इव बभार ।। ३९ ।।

बभारेति ।। शून्याकृतिरिष्टनाशान्निस्तेजस्करूपोऽर्जुन: । तौ वीतमहेषुजालौ

वीतानि गतानि महेषुजालानि ययोस्तौ महेषुधी महानिषङ्गौ विजिह्मः शून्यो लोको युगान्ते संशुष्कजलौ । 'शुषः कः' इति निष्ठातकारस्य ककारः । पूर्वापरावम्बुराशी समुद्राविव बभार ।। ३९ ।।

हिन्दी—बाणों के समाप्त हो जाने के कारण निस्तेज अर्जुन अपने बाणरहित उन महान् तरकसों को उस समय इस प्रकार से धारण किये हुए थे जिस प्रकार से प्रलय के अवसर पर सूनसान संसार प्रलय की ज्वाला से जलरहित पूर्व एवं पश्चिम के समुद्रों को धारण करता है ।। ३९ ।।

तेनानिमित्तेन तथा न पार्थस्तयोर्यथा रिक्ततयाऽनुतेपे ।
स्वामापदं प्रोज्झय विपत्तिमग्नं शोचन्ति सन्तो ह्युपकारिपक्षम् ।। ४० ।।

अन्वयः—पार्थः तपोः रिक्ततया यथा अनुतेपे तथा तेन अनिमित्तेन न सन्तः स्वामापदं प्रोज्झ्य विपत्तिमग्नम् उपकारिपक्षं शोचन्ति हि ।। ४० ।।

तेनेति ।। पार्थस्तयोस्तूणयो रिक्ततया हेतुना यथाऽनुतेपे शुशोच तथा तेनानिमित्तेन बाणक्षयरूपेण दुर्निमित्तेन न शुशोच । तथा हि—सन्तः स्वामापदं प्रोज्झ्य विसृज्य विपत्तिमग्नमुपकारिणां पक्षं वर्गं शोचन्ति । स्वव्यसनापेक्षया परकीयव्यसनमेव सतामनुतापकमित्यर्थः ।। ४० ।।

हिन्दी—अर्जुन को अपने तूणीरों के रिक्त होने का जिता शोक हुआ उतना बाणों के नष्ट हो जाने के अपशकुन से नहीं हुआ । सच है; सज्जन लोग अपने ऊपर आई हुई विपत्ति को भूलकर विपत्ति में पड़े हुए अपने उपकारियों के लिए ही दुःखी होते हैं ।। ४० ।।

विमर्श—अर्थात् अपनी विपत्ति की अपेक्षा दूसरे की विपत्ति से ही सज्जनों को शोक होता है ।

प्रतिक्रियायै विधुरः स तस्मात्कृच्छ्रेण विश्लेषमियाय हस्तः ।
पराङ्मुखत्वेऽपि कृतोपकारात्तूणीमुखान्मित्रकुलादिवार्यः ।। ४१ ।।

अन्वयः—प्रतिक्रियायै विधुरः सः हस्तः पराङ्मुखत्वे अपि कृतोपकारात् तस्मात् तूणीमुखात् मित्रकुलात् आर्यः इव कृच्छ्रेंण विश्लेषम् इयाय ।। ४१ ।।

प्रतीति ।। प्रतिक्रियायै विधुरः प्रतिकर्तुमसमर्थः । 'तुमर्थाच्च भाववचनात्' इति चतुर्थी । अर्जुनस्य स हस्तः पाणिः । पराङ्मुखत्वेऽपि तत्कालवैमुख्येऽपि कृतोपकारात्तस्मात्तूणीमुखान्मित्रकुलादार्यः साधुः कृतज्ञ इव । 'आर्यः साधुकुलीनयोः' इति विश्वः । कृच्छ्रेण महाकष्टेन विश्लेषमियाय । गौरादित्वात् 'तूण' शब्दान् ङीष् ।।

हिन्दी—बदला चुकाने में असमर्थ अर्जुन का वह हाथ उस समय पराङ्मुख हो जाने पर भी पूर्व के उपकारी उस तूणीर के मुख भाग से बड़ी कठिनाइयों के

साथ इस प्रकार से अलग हुआ जिस प्रकार से कोई कृतज्ञ सज्जन पुरुष अपने पूर्व उपकारी किन्तु तत्काल पराङ्मुख मित्र से अलग होता हैं ।। ४१ ।।

पश्चात्क्रिया तूणयुगस्य भर्तुर्जज्ञे तदानीमुपकारिणीव ।
संभावनायामधरीकृतायां पत्युः पुरः साहसमासितव्यम् ।। ४२ ।।

अन्वयः—तदानीं भर्तुः पश्चात्क्रिया तूणयुगस्य उपकारिणी इव जज्ञे । पत्युः पुरः सम्भावनायाम् अधरीकृतायां आसितव्यं साहसं ।। ४२ ।।

पश्चादिति ।। तदानीं भर्तुः स्वामिनः । कर्तरि षष्ठी । पश्चात्क्रिया पृष्ठतःकरणं तूणयुगस्योपकारिणीव उपकारिकेव जज्ञे । जाता । तथा हि—संभावनायां स्वयोग्यतायाम् । अधरीकृतायामफलीकृतायां पत्युः स्वामिनः पुरोऽग्र आसितव्यमासितं स्थितिः । बहुलग्रहणाद्भावे तव्यप्रत्ययः । साहसं न क्षमं न योग्यम् । भर्त्रा संभावितस्यावसरेऽनुपकर्तुरनुजीविनस्तत्सांमुख्यमनुचितमित्यर्थः ।। ४२ ।।

हिन्दी—उस समय स्वामी अर्जुन द्वारा उन दोनों तरकसों को पीछे रखना मानों उपकार जैसा ही हुआ क्योंकि स्वामी के सम्मुख अपनी योग्यता को निष्फल बना देने वाले सेवक का उपस्थित रहना उसका अनुचित साहस ही है ।। ४२ ।।

तं शम्भुराक्षिप्तमहेषुजालं लोहैः शरैर्मर्मसु निस्तुतोद ।
हृतोत्तरं तत्त्वविचारमध्ये वक्तेव दोषैर्गुरुभिर्विपक्षम् ।। ४३ ।।

अन्वयः—शम्भुः आक्षिप्तमहेषुजालं तं तत्वविचारमध्ये हृतोत्तरं विपक्ष वक्ता गुरुभिः दोषैः इव लौहैः शरैः मर्मसु निस्तुतोद ।। ४३ ।।

तमिति ।। शम्भुराक्षिप्तानि आहतानि महेषुजालानि यस्य तं मुनिं तत्त्वविचारमध्ये वादमध्ये हृतोत्तरं निरुत्तरीकृतं विपक्षं प्रतिवादिनं वक्ता वादी गुरुभिर्दोषैर्निग्रहस्थानैरिव लोहैर्लोहमयैः शरैर्मर्मसु निस्तुतोद व्यथयामास ।। ४३ ।।

हिन्दी—शङ्कर जी ने अर्जुन के बड़े-बड़े बाणों के नष्ट हो जाने पर अपने लोहे के बाणों से उनकी मर्मस्थलों पर इस प्रकार से आघात किया जिस प्रकार से तत्वविचार सम्बन्धी वाद-विवाद में प्रतिवादी के निरुत्तर हो जाने पर, विजेतावादी उसके बड़े-बड़े दोषों को दिखलाकर उसे व्यथित करता है ।। ४३ ।।

जहार चास्मादचिरेण वर्म ज्वलन्मणिद्योतितहैमलेखम् ।
चण्डः पतङ्गान्मरुदेकनीलं तडित्वतः खण्डमिवाम्बुदस्य ।। ४४ ।।

अन्वयः—अस्मात् अचिरेण ज्वलन्मणिद्योतितहैमलेखं वर्म चण्डः मरुत् पतङ्गात् एकनीलं तडित्वतः अम्बुदस्य खण्डम् इव जहार ।। ४४ ।।

जहारेति ।। किंच, अस्मान्मुनेः । अचिरेण शीघ्रं ज्वलद्भिर्मणिभिर्द्योतिता हैम्यः सौवर्ण्यो लेखा यस्य तत्तथोक्तं वर्म कवचम् । चण्डो मरुत् पवनः पतङ्गात् सूर्यात् ।

एकनीलं केवलकृष्णवर्णम् । 'एके मुख्यान्यकेवला:' इत्यमर: । तडित्वतस्ताडिद्युक्त-स्याम्बुदस्य खण्डमिव जहार । तदा भगवन्मायया मुक्तकञ्चुको मुनिर्मेघनिमुक्त: सूर्य इव दिदीपे इति भाव: ।। ४४ ।।

हिन्दी—(शङ्कर जी के बाणों ने) तुरन्त ही तपस्वी अर्जुन के शरीर से, चमकती हुई मणियों से विभासित सुवर्ण रेखाओं से युक्त कवच को भी इस प्रकार से वियुक्त कर दिया जिस प्रकार से प्रचण्ड वायु विद्युत रेखाओं से युक्त बादलों के काले-काले टुकड़ों को सूर्य से अलग कर देता है ।। ४४ ।।

विमर्श—तात्पर्य यह है कि उस समय भगवान् शङ्कर की माया से कवच विहीन अर्जुन मेघ विमुक्त सूर्य के समान विभासित हो रहे थे।

अथ युग्मेनाह —

विकोशनिर्धौततनोर्महासे: फणावतश्च त्वचि विच्युतायाम् ।
प्रतिद्विपाबद्धरुष: समक्षं नागस्य चाक्षिप्तमुखच्छदस्य ।। ४५ ।।

अन्वय:—स: तनुत्रेण विना विकोशनिर्धौततनो: महासे: त्वचि विच्युतायां फणावत: च प्रतिद्विपाबद्धरुष: समक्षम् आक्षिप्तमुखच्छदस्य नागस्य च घनानां ध्वनिना विबोधितस्य शैलरन्ध्रात् अपेतस्य हरे: च निरस्तधूमस्य रात्रिवह्ने: च रुचिं भेजे ।।

विकोशेति ।। सोऽर्जुन: तनुं त्रायत इति तनुत्रं वर्म । 'आतोऽनुपसर्गे क:' इति कप्रत्यय: । तेन विना । विकोश: कोशादुद्धृतो निर्धौततनु: शाणोल्लीढमूर्ति: । ततो विशेषणसमास: । तस्य विकोशनिर्धौततनोर्महासेर्महाखड्गस्य तथा त्वचि विच्युतायां सत्यां फणावतश्च मुक्तकञ्चुकस्याहेश्च प्रतिद्विपे प्रतिगज आबद्धरुषो बद्धकोपस्य समक्षं प्रतिगजस्याग्र आक्षिप्तमुखच्छदस्य निरस्तमुखावरणस्य नागस्य गजस्य च ।। ४५ ।।

विबोधितस्य ध्वनिना घनानां हरेरपेतस्य च शैलरन्ध्रात् ।
निरस्तधूमस्य च रात्रिवह्नेर्विना तनुत्रेण रुचिं स भेजे ।। ४६ ।।

विबोधितस्येति ।। घनानां ध्वनिना गर्जितेन विबोधितस्य । शैलरन्ध्रात् कंदरात् । अपेतस्य निष्क्रान्तस्य हरे: सिंहस्य च । तथा, निरस्तधूमस्य गतधूमस्य रात्रिवह्नेश्च रुचिं शोभां भेजे । एतेनास्य तीक्ष्णत्ववैरनिर्यातनत्वरणदुर्मदत्वमनस्वित्व-तेजस्वित्वान्युक्तानि । अत्र रुचिमिव रुचिमिति सादृश्याक्षेपादसंभवद्वस्तुसबन्धी निदर्शनालङ्कारो मालया संसृष्ट: ।। ४६ ।।

हिन्दी—उस समय कवचविहीन अर्जुन की छटा म्यान से निकली हुई सान रखी चमकती तलवार की तरह, केंचुल के दूर हो जाने पर चमकते हुए सर्प की तरह, प्रतिद्वन्द्वी गज को संमुख देख क्रोध से मुख का आवरण हटाने वाले बिगड़ैल हाथी की तरह, बादलों की गरज से जगे हुए पर्वत की गुफा से निकलते सिंह की तरह, एवं रात्रि में चमकती हुई निर्धूम अग्नि की तरह दिखाई पड़ी ।। ४५-४६ ।।

विमर्श—मालोपमा तथा निदर्शना अलङ्कार की संसृष्टि ।

अचित्ततायामपि नाम युक्तामनूर्ध्वतां प्राप्य तदीयकृच्छ्रे ।
महीं गतौ ताविषुधी तदानीं विवव्रतुश्चेतनयेव योगम् ।। ४७ ।।

अचित्ततायामिति ।। तदानीं कवचपतनसमये महीं गताविषुधी निषङ्गौ अचित्ततायामप्यचेतनत्वेऽपि तदीयकृच्छ्रे स्वामिव्यसने युक्तां योग्याम् । नाम किल । अकिञ्चित्करत्वादिति भावः । अनूर्ध्वतामवाङ्मुखत्वं प्राप्य चेतनया प्राणिसाधारण-ज्ञानेनेव योगं सम्बन्धं विवव्रतुरिवेत्युत्प्रेक्षा । अचेतनत्वेऽप्यवाङ्मुखत्वादिचेतन-धर्मयोगादिति भावः ।। ४७ ।।

अन्वयः—तदानीं महीं गतौ तौ ईषुधी अचित्ततायाम् अपि तदीयकृच्छ्रं युक्तां नाम अनूर्ध्वयतां प्राप्य चेतनया इव योगं विबव्रतुः ।। ४७ ।।

हिन्दी—कवच के गिर जाने के अवसर पर भूमि पर पड़े हुए अर्जुन के दोनों तरकसों ने अचेतन होते हुए भी अपने स्वामी की कठिनाइयों में मानों अपने को कुछ कर सकने में असमर्थ पाकर नीचे की ओर मुख करके चेतनों की भाँति आचरण किया ।। ४७ ।।

विमर्श—स्वामी की विपत्ति में सहायक न कर पाना बड़ी लज्जा की बात है, चेतन प्राणियों के इस आचरण का पालन मानों उन तूणीरों ने भी किया । यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ।

स्थितं विशुद्धे नभसीव सत्त्वे धाम्ना तपोवीर्यमयेन युक्तम् ।
शस्त्राभिघातैस्तमजस्रमीशस्त्वष्टा विवस्वन्तमिवोल्लिलेख ।। ४८ ।।

अन्वयः—विशुद्धे नभसि इव सत्त्वे स्थितं तपोवीर्यमयेन धाम्ना युक्तं तम् ईशः त्वष्टा विवस्वन्तम् इव अजस्रं शस्त्राभिघातैः उल्लिलेख ।। ४८ ।।

स्थितमिति ।। विशुद्धे निर्मले नभसि सत्त्वे सत्त्वगुणे स्थितं तपोवीर्यमयेन तपोवीर्याभ्यामागतेन धाम्ना तेजसा युक्तं तमर्जुनम् । ईशस्त्वष्टा विश्वकर्मा विवस्वन्तं सूर्यमिवाजस्रं निरन्तरं शस्त्राभिघातैः शस्त्रकर्षणैः । उल्लिलेख ततक्ष ।।

हिन्दी—विशुद्ध नीले आकाश के समान सत्त्वगुण में स्थित तपोबलमय सात्त्विक तेज से युक्त अर्जुन को भगवान् शङ्कर अपने निरन्तर शस्त्र प्रहारों से इस प्रकार छेदने लगे जिस प्रकार तथोक्त आकाश में अवस्थित सूर्य को विश्वकर्मा ने अपनी सान पर चढ़ा कर छीला था ।। ४८ ।।

विमर्श—एक पौराणिक कथा के अनुसार विश्वकर्मा की पुत्री संज्ञा सूर्य की पत्नी थी । सूर्य के अत्यन्त तेज को न सहन कर सकने के कारण वह भाग कर एक दिन विश्वकर्मा के घर पहुँची और शिकायत की कि आपने ऐसे प्रचण्ड तेजस्वी के संग मुझे ब्याह दिया है, जिसके समीप रहने से मैं अत्यन्त जलने लगती हूँ ।

फिर तो विश्वकर्मा ने अपनी पुत्री के लिए सूर्य के शरीर को अपनी सान पर चढ़ाकर छील दिया था, जिससे उनका तेज कुछ मन्द होने के कारण सह्य हो गया।

संरम्भवेगोज्झितवेदनेषु गात्रेषु बाधिर्यमुपागतेषु ।
मुनेर्बभूवागणितेषुराशेर्लौहस्तिरस्कार इवात्ममन्युः ।। ४९ ।।

अन्वयः—संरम्भवेगोज्झितवेदनेषु गात्रेषु वाधिर्यम् उपागतेषु अगणितेषुराशेः मुनेः आत्ममन्यु लौहः तिरस्कारः इव बभूव ।। ४९ ।।

संरम्भेति ।। संरम्भवेगेन संभ्रमातिशयेन उज्झितवेदनेषु त्यक्तदुःखेषु गात्रेषु बाधिर्यं स्तैमित्यमुपागतेषु सत्सु न गणिता इषुराशयो येन तस्य अगणितेषुराशेर्मुनेरर्जुनस्य आत्ममन्युः स्वकोपो लोहस्य विकारो लौहः कार्ष्णायसः तिरस्क्रियत आच्छाद्यतेऽनेनेति तिरस्कारः कञ्चुक इव बभूव । रोषवशान्न किञ्चित्प्रहारदुःखमज्ञासीदित्यर्थः । क्रोधैकवर्मणां वीराणां किमन्यैर्लोहभारैरिति भावः ।। ४९ ।।

हिन्दी—अत्यन्त क्रोध के आवेग के कारण अर्जुन का शरीर वेदना का अनुभव नहीं कर रहा था, और वह बिल्कुल जड़-सा हो गया था, इस कारण से शङ्कर जी द्वारा छोड़े गए बाण-समूहों को वह कुछ नहीं गिर रहे थे, उनका अपना क्रोध ही मानों उस समय लोहे के बने हुए कवच के समान बन गया था ।। ४९ ।।

अथ युग्मेनाह —

ततोऽनुपूर्वायतवृत्तबाहुः श्रीमान्क्षरल्लोहितदिग्धदेहः ।
आस्कन्द्य वेगेन विमुक्तनादः क्षितिं विधुन्वन्निव पार्ष्णिघातैः ।। ५० ।।

अन्वयः—ततः अनुपूर्वायतवृत्तबाहुः श्रीमान् क्षरल्लोहितदिग्धदेहः पार्ष्णिघातैः क्षितिं विधुन्वन् इव वेगेन आस्कन्द्य विमुक्तनादः मघोनः अशनिना साम्यं गतेन शशाङ्कखण्डाकृतिपाण्डुरेण धनुषा बिभित्सुः महान् इभः विषाणेन स्तंबम् इव जघान ।।

तत इति ।। ततोऽनन्तरम् । अनुपूर्वौ पूर्वमनुगतौ गोपुच्छाकारौ आयतौ दीर्घौ वृत्तौ वर्तुलौ च बाहू यस्य स श्रीमान् शोभावान् क्षरल्लोहितदिग्धदेहः स्रवद्रुधिरलिप्तगात्रः । पाष्णिघातैश्चरणतलाघातैः । 'तद्ग्रन्थी घुटिके गुल्फौ स्त्रियां पार्ष्णिरधस्तयोः' इत्यमरः । क्षितिं विधुन्वन् प्रकम्पयन्निव वेगेनास्कन्द्याभिद्रुत्य विमुक्तनादः सोऽर्जुनः ।। ५० ।।

साम्यं गतेनाशनिना मघोनः शशाङ्कखण्डाकृतिपाण्डुरेण ।
शम्भुं बिभित्सुर्धनुषा जघान स्तम्बं विषाणेन महानिवेभः ।। ५१ ।।

साम्यमिति ।। मघोन इन्द्रस्य अशनिना वज्रेणा सह साम्यं गतेन वज्रकल्पेन शशाङ्कस्य खण्डं शकलं तस्येवाकृतिर्यस्य । तद्वद्वक्रमित्यर्थः । पाण्डुरं च । तद्वदेवेति भावः । तेन शशाङ्कखण्डाकृतिपाण्डुरेण धनुषा शम्भुं विभित्सुर्भेत्तुमिच्छुः सन् । महानिभोगजो विषाणेन दन्तेन स्तम्बमिव जघान ।। ५१ ।।

हिन्दी—तदनन्तर गाय की पूँछ के समान लंबी और गोल भुजाओं वाले श्रीसम्पन्न अर्जुन ने, जिनका शरीर बहते हुए रक्त से लथपथ हो रहा था, अपने चरण तलों के आघात से धरती को विकम्पित-सा करते हुए, वेग के साथ दौड़कर गम्भीर गर्जन करते हुए, इन्द्र के वज्र की समानता करने वाले, चन्द्रमा के खण्ड के समान पाण्डुर वर्ण के अपने धनुष से शङ्कर जी को आहत करने की इस प्रकार से चेष्टा की जिस प्रकार से कोई महान् गजराज अपने दाँतों के प्रहार से किसी खम्भे को गिरा देना चाहता है ।। ५०-५१ ।।

रयेण सा संनिदधे पतन्ती भवोद्भवेनात्मनि चापयष्टि: ।
समुद्धता सिन्धुरनेकमार्गा परे स्थितेनौजसि जह्नुनेव ।। ५२ ।।

रयेणेति ।। रयेण वेगेन पतन्ती सा चापयष्टिर्भवस्य संसारस्योद्भव उत्पत्तिर्यस्मात्तेन भवोद्भवेन ईश्वरेण पर ओजसि परमे ज्योतिषि स्थितेन जह्नुना राजर्षिणा समुद्धताऽत्युत्कटाऽनेकमार्गा त्रिस्रोता: सिन्धुर्गङ्गेवात्मनि संनिदधे सम्यङ्-निहिता । अन्तर्निलायितेत्यर्थ: ।। ५२ ।।

अन्वय:—रयेण पतन्ती सा चापयष्टि: भवोद्भवेन परे ओजसि स्थितेन जहनुना समुद्धता अनेकमार्गा सिन्धु: इव आत्मनि सन्निदधे ।। ५२ ।।

हिन्दी—वेग के साथ ऊपर गिरती हुई उस धनुष-यष्टि को भगवान् शङ्कर ने अपने शरीर में इस प्रकार से अन्तर्हित कर लिया जिस प्रकार से परम तेजस्वी राजा जहनु ने अनेक मार्गों से आने वाली त्रिपथगा गङ्गा की धारा को अन्तर्हित कर लिया था ।। ५२ ।।

विकार्मुक: कर्मसु शोचनीय: परिच्युतौदार्य इवोपचार: ।
विचिक्षिपे शूलभृता सलीलं स पत्रिभिर्दूरमदूरपातै: ।। ५३ ।।

अन्वय:—विकार्मुक: परिच्युतौदार्य: उपचार: इव कर्मसु शोचनीय: स: शूल-भृतां सलीलम् अदूरपातै: पत्रिभि: दूरं विचिक्षिपे ।। ५३ ।।

विकार्मुक इति ।। विकार्मुको भग्नचापोऽत एव परिच्युतौदार्यो दानवर्जित उपचार: सत्कार इव कर्मसु रणक्रियासु कृत्येषु च शोचनीय: शोच्योऽपूज्यश्च सत्त्वा-वष्टम्भेनाभग्नचित्तत्वाच्च सोऽर्जुन: शूलभृता शिवेन सलीलं सहेलं यथा तथाऽदूर-पातैरतिगाढप्रहारै: पत्रिभि: शरैर्दूरमत्यन्तं विचिक्षिपे नुन्न: ।। ५३ ।।

हिन्दी—धनुष से विहीन अर्जुन उस समय दान-विहीन सत्कार के समान रण-क्रिया में सर्वथा अयोग्य बन गये । तदनन्तर शङ्कर जी ने अपने अत्यन्त गाढ़ प्रहार करने वाले बाणों से उन्हें लीलापूर्वक दूर फेंक दिया ।। ५३ ।।

उपोढकल्याणफलोऽभिरक्षन् वीरव्रतं पुण्यरणाश्रमस्थ: ।
जपोपवासैरिव संयतात्मा तेपे मुनिस्तैरिषुभि: शिवस्य ।। ५४ ।।

अन्वयः—उपोढकल्याणफलः वीरव्रतम् अभिरक्षम् पुण्यरणाश्रमस्थः संयतात्मा मुनिः तैः शिवस्य इषुभिः जपोपवासैः इव तेपे ।। ५४ ।।

उपोढेति ।। उपोढमासन्नं कल्याणफलमस्त्रलाभरूपं स्वर्गादिकं च यस्य स वीरव्रतमाहवादनिवृत्तिरूपं तीव्रं तपश्च अभिरक्षन् पालयन् पुण्यो यो रण एवाश्रमस्तत्र तिष्ठतीति पुण्यरणाश्रमस्थः संयतात्मा नियमितचित्तो मुनिरर्जुनः कश्चित्तपस्वी च तैः शिवस्य महादेवस्य । इषुभिः शरैः । जपोपवासैरिव तेपे तप्तः । तपतेः कर्मणि लिट् ।।

हिन्दी—आसन्न कल्याण फल की कामना से युक्त, वीरव्रत की रक्षा करते हुए, उस पुण्य युद्ध-क्षेत्र में स्थित संयतात्मा तपस्वी अर्जुन ने शिव जी के उन कठोर बाणों को मानों जप एवं उपवासादि के समान सहन करते हुए तपस्या की ।। ५४ ।।

विमर्श—अर्थात् जिस प्रकार से किसी पुण्य आश्रम में निवास करने वाला जितेन्द्रिय तपस्वी नियमों की रक्षा करते हुए उपवासादि के द्वारा तपस्या करते हुए उसके परिणाम के समीप होने पर सब प्रकार का कष्ट सहन करता है उसी प्रकार अस्त्र-लाभ-रूपी कल्याण के समीपवर्ती होने पर उस युद्ध-क्षेत्र-रूपी आश्रम में वीरव्रत का पालन करते हुए अर्जुन ने धैर्य के साथ शिव जी के बाणों की यातना सहन की।

ततोऽग्रभूमिं व्यवसायसिद्धेः सीमानमन्यैरतिदुस्तरं सः ।
तेजः श्रियामाश्रयमुत्तमासिं साक्षादहङ्कारमिवाललम्बे ।। ५५ ।।

अन्वयः—ततः अग्रभूमिं व्यवसायसिद्धेः सीमानम् अन्यैः अतिदुस्तरं तेजः श्रियाम् आश्रयम् उत्तमासिं साक्षात् अहङ्कारम् इव सः आललम्बे ।। ५५ ।।

तत इति ।। ततश्चापान्तर्धानानन्तरम् । सोऽर्जुनोऽग्रभूमिं विपदि गन्तव्यस्थापन् । शरण्यमित्यर्थः । कुतः । व्यवसायसिद्धेर्युद्धोद्योगसिद्धेः सीमानमवधिम् । साधकतममित्यर्थः । अन्यैः परैः । अतिदुस्तरं दुरतिक्रमं तेजः श्रियां प्रतापसंपदामाश्रयम् । हेतुमित्यर्थः । उत्तमासिं महाखङ्गम् । 'सन्महत्—' इत्यादिना समासः । साक्षादहङ्कारं सविग्रहमभिमानमिवाललम्बे जग्राह ।। ५५ ।।

हिन्दी—तब अपने धनुष के लुप्त हो जाने के अनन्तर अन्तिम शरण युद्ध में विजय की अन्तिम सीमा के समान, दूसरों से अत्यन्त असहनीय, तेज एवं शोभा की आधारस्थली अपनी उत्तम एवं विशाल तलवार का, अर्जुन ने अपने साक्षात् अहङ्कार की भाँति, आश्रय लिया ।। ५५ ।।

शरानवद्यन्ननवद्यकर्मा चचार चित्रं प्रविचारमार्गैः ।
हस्तेन निस्त्रिंशभृता स दीप्तः सार्कांशुना वारिधिरूर्मिणेव ।। ५६ ।।

अन्वयः—अनवद्यकर्मा शरान् अवद्यन् निस्त्रिंशभृता हस्तेन सार्कांशुना ऊर्मिणा वारिधिः इव दीप्तः सः प्रविचारमार्गैः चित्रं चचार ।। ५६ ।।

शरानिति ।। अनवद्यकर्माऽगर्ह्यकर्मा । 'अवद्यपण्य—' इत्यादिना निपात: । शरानवद्यन् खण्डयन् वीरो निस्त्रिंशभृता खड्गयुक्तेन हस्तेन सार्कांशुना अर्कांशुसहितेन ऊर्मिणा तरङ्गेण वारिधिरिव दीप्तो दीपित: सोऽर्जुन: प्रविचारमार्गै: खड्गिनां गतिभेदैश्चित्रं यथा तथा चचार ।। ५६ ।।

हिन्दी—प्रशंसनीय कर्म करने वाले अर्जुन उस क्षण (अपनी उस तलवार से) शिव के बाणों को काटते हुए हाथ में तलवार लिए हुए इस प्रकार से सुशोभित हुए जिस प्रकार से सूर्य की किरणों से उद्दीप्त तरङ्गों से समुद्र सुशोभित होता है ।। ५६ ।।

यथा निजे वर्त्मनि भाति भाभिश्छायामयश्चाप्सु सहस्त्ररश्मि: ।
तथा नभस्याशु रणस्थलीषु स्पष्टद्विमूर्तिर्ददृशे स भूतै: ।। ५७ ।।

अन्वय:—भाभि: सहस्त्ररश्मि: यथा निजे वर्त्मनि छायामय: अप्सु स्पष्टद्विमूर्ति: भाति तथा स: नभसि रणस्थलीषु भूतै: आशु ददृशे ।। ५७ ।।

यथेति ।। भाभिर्दीप्तिभिरुपलक्षित:। 'स्यु: प्रभारुग्रुचिस्त्विड्भाभाश्छविद्युतिदीप्तय:' इत्यमर: । सहस्त्ररश्मिरर्को यथा निजे वर्त्मनि नभसि छायामय: प्रतिबिम्बरूप: सन्, अप्सु स्पष्टद्विमूर्तिर्भाति तथा सोऽर्जुनो नभसि अकाशे रणस्थलीषु च स्पष्टे द्वे मूर्ती यस्य स: स्पष्टद्विमूर्ति: सन् भूतैर्गणैर्ददृशे दृष्ट: । यथैकोऽर्को नभस्यप्सु चानेक इव दृश्यते तथा सोऽपि दिवि भुवि चाशुसंचाराद्यौगपद्यभ्रमादेवैकोऽप्यनेक इव गणैर्दृष्टइत्युत्प्रेक्षा ।। ५७ ।।

हिन्दी—जिस प्रकार अपनी कान्तियों से युक्त सहस्त्ररश्मि सूर्य अपने मार्ग आकाश में अवस्थित होते हुए, जल के मध्य में प्रतिबिम्बित होकर स्पष्ट रूप से दो के रूप में दिखलाई पड़ता है उसी प्रकार मानों शीघ्र गति के कारण अर्जुन को भी आकाश में तथा रण-स्थली में दो-रूप में अवस्थित उन प्रमथ गणों ने देखा ।।

विमर्श—यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ।

शिवप्रणुन्नेन शिलीमुखेन त्सरुप्रदेशादपवर्जिताङ्ग:।
ज्वलन्नसिस्तस्य पपात पाणेर्घनस्य वप्रादिव वैद्युतोऽग्नि: ।। ५८ ।।

अन्वय:—शिवप्रणुन्नेन शिलीमुखेन त्सरुप्रदेशात् अपवर्जिताङ्ग: असि: तस्य पाणे: घनस्य वप्रात् वैद्युत: अग्नि: इव ज्वलन् पपात ।। ५८ ।।

शिवेति ।। शिवेन प्रणुन्न: क्षिप्तस्तेन शिलीमुखेन त्सरुप्रदेशात् मुष्टिप्रदेशमवधिकृत्वा । 'त्सरु: खड्गादिमुष्टौ स्यात्' इत्यमर: ।अपवर्जिताङ्गो लूनविग्रहोऽसि: खड्ग: । तस्यार्जुनस्य पाणे: करात् । घनस्य मेघस्य वप्रात्तटात् । वैद्युतो विद्युत्सम्बन्ध्यग्निरिव ज्वलन् पपात ।। ५८ ।।

हिन्दी—भगवान् शङ्कर द्वारा छोड़े गए बाण द्वारा अपने मुष्टि प्रदेश से कट

कर गिरी हुई अर्जुन की वह तलवार चमकती हुई इस प्रकार से नीचे गिर पड़ी जिस प्रकार से मेघ मण्डल से बिजली की अग्नि गिरती है ।। ५८ ।।

आक्षिप्तचापावरणेषुजालश्छिन्नोत्तमासिः स मृधेऽवधूतः ।
रिक्तः प्रकाशश्च बभूव भूमेरुत्सादितोद्यान इव प्रदेशः ।। ५९ ।।

अन्वयः—आक्षिप्तचापावरणेषुजालः छिन्नोत्तमासिः मृधे अवधूतः सः उत्सादितोद्यानः भूमेः प्रदेशः इव रिक्तः प्रकाशः च बभूव ।। ५९ ।।

आक्षिप्तेति ।। आक्षिप्तान्यपहृतानि चापावरणेषुजालानि धनुर्वर्मबाणसमूहा यस्य स छिन्नोत्तमासिर्लूनमहाखड्गो मृधे रणे । 'मृधमास्कन्दनं संख्यम्' इत्यमरः । अवधूतो निरस्तः सोऽर्जुन उत्सादितमुत्पाटितमुद्यानं यस्य स भूमेः प्रदेशो भूमिभागइव रिक्तः शून्यः प्रकाशो निःसम्बाधश्च । दृश्य इति यावत् । बभूव ।। ५९ ।।

हिन्दी—अपने धनुष, कवच एवं बाणों के नष्ट हो जाने तथा उत्तम तलवार के टूट कर गिर जाने पर रण भूमि में अभिभूत अर्जुन इस प्रकार से शून्य होकर प्रकाश युक्त हो गए जिस प्रकार से उद्यान के वृक्षों के काट देने पर उसकी भूमि का प्रदेश सूना तथा अवरोधरहित बन जाता है ।। ५९ ।।

स खण्डनं प्राप्य परादमर्षवान् भुजद्वितीयोऽपि विजेतुमिच्छया ।
ससर्ज वृष्टिं परिरुग्णपादपां द्रवेतरेषां पयसामिवाश्मनाम् ।। ६० ।।

अन्वयः—परात् खण्डनं प्राप्य अमर्षवान् सः भुजद्वितीयः अपि विजेतुम् इच्छया द्रवेतरेषां पयसाम् इव अश्मनां परिरुग्णपादपां वृष्टिं ससर्ज ।। ६० ।।

स इति ।। परात् परस्माच्छत्रोः । 'पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा' इति विकल्पान्नस्मादादेशः । खण्डनं भङ्गं प्राप्य, अमर्षवान् सोऽर्जुनो भुजद्वितीयो भुजमात्रसहायः सन्नपि विजेतुमिच्छया द्रवेभ्य इतराणि तेषां द्रवेतरेषां कठिनानां पयसामिव । करकाणामिवेत्यर्थः । अश्मनां सम्बन्धिनीं परिरुग्णा भग्नाः पादपा यया सा तां वृष्टिं ससर्ज । अश्मभिर्जघानेत्यर्थः ।। ६० ।।

हिन्दी—शत्रु से इस प्रकार की पराजय प्राप्त कर क्रोध से भरे हुए अर्जुन की यद्यपि भुजाएँ ही सहायक रह गई थीं तथापि वे अपने शत्रु को जीतने की इच्छा से ओलों की वृष्टि के समान पत्थरों की इस प्रकार से बौछार करने लगे जिससे समीप के वृक्षों की शाखाएँ भंग होने लगीं ।। ६० ।।

नीरन्ध्रं परिगमिते क्षयं पृषत्कैर्भूतानामधिपतिना शिलावितानें ।
उच्छ्रायस्थगितनभोदिगन्तरालं चिक्षेप क्षितिरुहजालमिन्द्रसूनुः ।। ६१ ।।

अन्वयः—शिलाविताने भूतानाम् अधिपतिना पृषत्कैः क्षयं परिगमिते इन्द्रसूनुः उच्छ्रायस्थगितनभोदिगन्तरालं नीरन्ध्रं क्षितिरुहजालं चिक्षेप ।। ६१ ।।

नीरन्ध्रमिति ।। शिलाविताने शिलाजाले भूतानामधिपतिना शिवेन पृषत्कैर्बाणै: क्षयं परिगमिते नीते सति । इन्द्रसुनुरर्जुन उच्छ्रायेणोत्सेधेन स्थगितमाच्छादितं नभो दिशामन्तरालं च येन तन्नीरन्ध्रं सान्द्रम् । रोहन्तीति रुहा: । इगुपधलक्षण: कप्रत्यय: । क्षितौ रुहा वृक्षास्तेषां जालं चिक्षेप प्रेरयामास । 'उच्छ्रायं गमितवति' इति प्रामादिक: पाठ: ।। ६१ ।।

हिन्दी—भगवान् शङ्कर के बाणों से जब (अर्जुन के) पत्थरों की बौछार भी बंद कर दी गई तब इन्द्रपुत्र अर्जुन ऊँचाई से आकाश एवं दिगन्तों को छेंकने वाले अत्यन्त सघन वृक्षों को (उपार कर) फेंकने लगे ।। ६१ ।।

नि:शेषं शकलितवल्कलाङ्गसारै: कुर्वद्भिर्भुवमभित: कषायचित्राम् ।
ईशान: सकुसुमपल्लवैर्नगैस्तैरातेने बलिमिव रङ्गदेवताभ्य: ।। ६२ ।।

अन्वय:—ईशान: निशेषं शकलितवल्कलाङ्गसारै: भुवम् कषायचित्राम् कुर्वद्भि: सकुसुमपल्लवै: तै: नगै: रङ्गदेवताभ्य: बलिम् इव आतेने ।। ६२ ।।

नि:शेषमिति ।। ईशान: शिव: । शानच्प्रत्यय: । नि:शेषं यथा तथा शकलितानि वल्कलानि त्वचोऽङ्गानि शाखा: सारो मज्जा च येषां तैर्भुवमभित: कषायो यो राग: । स्वरसेन रञ्जनमिति यावत् । 'रागे क्वाथे कषायोऽस्त्री' इति वैजयन्ती । तेन चित्रां विचित्रवर्णां कुर्वद्भि: सकुसुमपल्लवैस्तैर्नगैर्वृक्षै रङ्गे रणरङ्गे या देवतास्ताभ्यो बलिं पूजामिव । आतेने ।। ६२ ।।

हिन्दी—भगवान् शङ्कर ने उन वृक्षों को सम्पूर्ण रूप से टुकड़े-टुकड़े कर उनके वल्कलों, शाखाओं तथा पत्तों को छिन्न-भिन्न कर उनके रंगों से पृथ्वी को चारों ओर से चित्र-विचित्र रँग कर मानों उन कुसुम और पल्लवों में युक्त वृक्षों के द्वारा रणचण्डी की बलि-पूजा कर दी ।। ६२ ।।

उन्मज्जन्मकर इवामरापगाया
वेगेन प्रतिमुखमेत्य बाणनद्या: ।
गाण्डीवी कनकशिलानिभं भुजाभ्या-
माजघ्ने विषमविलोचनस्य वक्ष: ।। ६३ ।।

अन्वय:—गाण्डीवी उन्मज्जन् मकर: अमरापगाया: इव बाणनद्या: वेगेन प्रतिमुखम् एत्य कनकशिलानिभं विषमविलोचनस्य वक्ष: भुजाभ्याम् आजघ्ने ।। ६३ ।।

उन्मज्जन्निति ।। गाण्डीवी अर्जुन: । उन्मज्जन्नुत्तरन् मकरोजलग्रहविशेषोऽमरापगाया गङ्गाया इव बाणनद्या बाणप्रवाहाद्वेगेन प्रतिमुखमभिमुखम् । एत्यागत्य कनकशिलानिभम् । 'कनक' ग्रहणं काठिन्यातिशयद्योतनार्थम् । विषमविलोचनस्य त्र्यम्बकस्य वक्षो हृदयं भुजाभ्यामाजघ्ने ताडितवान् । अत्रात्मनेपदं विचार्यम् । 'आङो यमहन:' इत्यत्राकर्मकाधिकारात् 'स्वाङ्गकर्मकाच्च' इति वक्तव्यत्वात् । न च शिवस्य

प्रतिमुखमित्यन्वयात् कनकशिलानिभं कनकनिकषतुल्यं श्यामं स्ववक्ष आजघ्न इत्यर्थ इति वाच्यम्, अनौचित्याचरणात् । न हि युद्धाय संनद्धा निपुणा अपि मल्लाः स्ववक्षस्ताडनमाचरन्ति, किं तु स्वभुजास्फालनम् । किंच, अनन्तरं वक्ष्यमाण-भवकर्तृकाविनयसहनरोधाद्वक्ष एवेत्यन्वयस्याव्यवधानाच्च पूर्वैरेव दूषितत्वात् । अतो व्याकरणान्तराद् द्रष्टव्यम् । केचित्तु 'त्र्यम्बकस्य वक्षः प्राप्य' इत्यध्याहारं स्वीकृत्यात्मकर्मकत्वादात्मनेपदमाहुः ।। ६३ ।।

हिन्दी—तदनन्तर अर्जुन ने गङ्गा के प्रवाह पर तैरते हुए मकर के समान शङ्कर जी की बाण-पङ्क्ति-रूपी नदी के वेग के सम्मुख उपस्थित होकर सुवर्ण की चट्टान के समान त्रिलोचन शङ्कर जी के वक्षस्थल पर अपनी भुजाओं से कठोर आघात किया ।। ६३ ।।

अभिलषत उपायं विक्रमं कीर्त्तिलक्ष्म्यो-
रसुगममरिसैन्यैरकमभ्यागतस्य ।
जनक इव शिशुत्वे सुप्रियस्यैकसूनो-
रविनयमपिसेहे पाण्डवस्य स्मरारिः ।। ६४ ।।

इति भारविकृतौ महाकाव्ये किरातार्जुनीये सप्तदशः सर्गः ।।१७ ।।



अन्वयः—कीर्तिलक्ष्म्योः उपायम् अरिसैन्यैः असुगमं विक्रमम् अभिलषतः अङ्कम् अभ्यागतस्य पाण्डवस्य अविनयं अपि स्मरारिः शिशुत्वे सुप्रियस्य एकसूनोः जनकः इव सेहे ।। ६४ ।।

अभिलषत इति ।। कीर्त्तिलक्ष्म्योरुपायं साधनभूतम् । अरिसैन्यैरसुगमं दुरासदं विक्रममभिलषतः । सूनुपक्षे, 'यत्किंचिन्महत्फलं प्रार्थयमानस्येत्यर्थः । अत एव, अङ्कमन्तिकमभ्यागतस्योत्सङ्गमारूढस्य च पाण्डवस्याविनयं स्मरारिः । अनेन भक्त-वात्सल्यमेव सहनकारणमिति सूच्यते । शिशुत्वे शैशवे सुप्रियस्य परमप्रेमास्पदस्य । कुतः । एक एव सूनुस्तस्य एकसूनोरविनयं जनक इव सेहे सोढवान् ।। ६४ ।।

इति श्रीमहामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितायां किरातार्जुनीयकाव्य व्याख्यायां घण्टापथसमाख्यायां सप्तदशः सर्गः समाप्तः ।।१७ ।।



हिन्दी—यश और लक्ष्मी के साधनभूत एवं शत्रु-सेना द्वारा दुष्प्राप्य पराक्रम के अभिलाषी, अपनी गोद में आए हुए पाण्डुपुत्र अर्जुन के उस प्रहार रूपी अविनय को भी शङ्कर जी ने इस प्रकार से सहन किया जिस प्रकार से बचपन में अत्यन्त प्यारे, गोद में बैठे हुए एवं किसी अच्छी वस्तु की प्राप्ति की जिद करने वाले अपने एकलौते बेटे के अविनय को उसका पिता सहन करता है ॥ ६४ ॥

॥ इस प्रकार श्रीभारविकृत किरातार्जुनीयम् महाकाव्य के सत्रहवें सर्ग की डॉ सुधाकर मालवीय कृत हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ १७ ॥



अष्टादशः सर्गः

तत उदग्र इव द्विरदे मुनौ रणमुपेयुषि भीमभुजायुधे ।
धनुरपास्य सबाणधि शङ्करः प्रतिजघान घनैरिव मुष्टिभिः ॥१ ॥

अन्वयः—ततः उदग्रे द्विरदे इव भीमभुजायुधे रणम् उपेयुषि मुनौ शङ्करः सबाणधि धनुः अपास्य मुष्टिभिः घनैः इव प्रतिजघान ॥ १ ॥

तत इति ॥ ततो मुष्टिनियुद्धानन्तरम् । उदग्रे महति द्विरदे गज इव भीमे भुजावेव आयुधे यस्य तथाभूते रणमुपेयुषि मुनौ शङ्करः स्वयमपि सबाणधि सतूणं धनुरपास्य त्यक्त्वा मुष्टिभिर्घनैर्लौहमुद्गरैरिव प्रतिजघान । प्राङ्मुनिकृताघातस्य प्रतिघातं कृतवानित्यर्थः । 'घनाः कठिनसङ्घातमेघकाठिन्यमुद्गराः' इति वैजयन्ती । 'घनस्तु लोहमुद्गरे' इति विश्वः । यद्यपि 'मुष्टि' शब्दः 'मुष्ट्या तु बद्धया । सरत्निः स्यादरत्निस्तु निष्कनिष्ठेन मुष्टिना' इत्यमरः । इत्युभयथा प्रयोगाद् द्विलिङ्गस्तथाप्यत्रोपमानसारूप्यात् पुंलिङ्गो ग्राह्यः । द्रुतविलम्बितं वृत्तम् ॥ १ ॥

हिन्दी—तदनन्तर विशाल हाथी के समान भयङ्कर भुजा रूपी शस्त्र धारण करने वाले तपस्वी अर्जुन के युद्धार्थ उपस्थित होने पर भगवान् शङ्कर बाणों समेत धनुष को फेंक कर लोहे के मुद्गरों के समान अपने मुक्कों से अर्जुन पर प्रहार करने लगे ॥ १ ॥

विमर्श—यहाँ द्रुतविलम्बित छन्द है ।

हरपृथासुतयोर्ध्वनिरुत्पतन्नमृदुसंवलिताङ्गुलिपाणिजः ।
स्फुटदनल्पशिलारवदारुणः प्रतिननाद दरीषु दरीभृतः ॥ २ ॥

अन्वयः—हरपृथासुतयोः अमृदु संवलितांगुलिपाणिजः स्फुटदनल्पशिलारवदारुणः ध्वनिः उत्पतन् दरीभृतः दरीषु प्रतिननाद ॥ २ ॥

हरेति ॥ हरपृथासुतयोः शिवार्जुनयोरमृदु निबिडं यथा तथा संवलिताः सङ्घटिता अङ्गुलयो येषां ते । मुष्टिकृता इत्यर्थः । तेषु पाणिषु जातस्तथोक्ताः । स्फुटन्तीनां विदलन्तीनामनल्पशिलानामारव इव दारुणो भीषणो ध्वनिरुत्पतन् उद्गच्छन् दरीभृतो गिरेर्दरीषु गुहासु प्रतिननाद प्रतिदध्वान ॥ २ ॥

हिन्दी—भगवान् शङ्कर और अर्जुन के उस प्रचण्ड एवं कर्कश अंगुलियों

वाले मुष्टिक युद्ध की, विशाल चट्टानों के टूटने जैसी भयङ्कर ध्वनि ऊपर उठकर पर्वतों की कन्दराओं में प्रतिध्वनित होने लगी ॥ २ ॥

शिवभुजाहतिभिन्नपृथुक्षती: सुखमिवानुबभूव कपिध्वजः ।
क इव नाम बृहन्मनसां भवेदनुकृतेरपि सत्त्ववतां क्षमः ॥ ३ ॥

अन्वयः—कपिध्वजः शिवभुजाहतिभिन्नपृथुक्षतीः सुखम् इव अनुबभूव । क इव नाम सत्त्ववताम् बृहन्मनसां अनुकृतेः अपि क्षमः भवेत् ॥ ३ ॥

शिवेति ॥ कपिध्वजः शिवस्य भुजाहतिभिर्मुष्टिघातैर्भिन्ना विदीर्णा याः पृथवो महत्यः क्षतयः प्रहारा व्रणास्ताः सुखमिवानुबभूव । दुःखकरीरपीति भावः । क्षति दुःखं नाजीगणदित्यर्थः । ननु दुःसहदुःखवेगेषु कथमगणनेत्यत्राह — क इति । क इव नाम को नु खलु सत्त्ववतां सत्त्वाधिकानां बृहन्मनसां तेजस्विनाम् । अनुकृते-रनुकरणस्यापि क्षमो भवेत् । मनस्विनां चरितं नटवदनुकर्तुमपि न कश्चिदीष्टे, तस्या-चरणं तु दूरापास्तमिति भावः । रौद्ररसाविष्टमनसां मनस्विनां कुतः सुखदुःख-गणनेति भावः ॥ ३ ॥

हिन्दी—कपिध्वज अर्जुन ने भगवान् शङ्कर की भुजाओं के प्रहार से होने वाले बड़े-बड़े घावों को भी सुख के समान ही अनुभव किया । सच है, पराक्रम-शाली तेजस्वी पुरुषों का अनुकरण करने में भी कौन समर्थ हो सकता है? ॥ ३ ॥

विमर्श—तात्पर्य यह है कि यद्यपि शिव जी के प्रहार से अर्जुन के शरीर में जो बड़े-बड़े घाव हो रहे थे, वे बड़े दुःखदाई थे, तथापि अर्जुन ने उन्हें सुख जैसा ही अनुभव किया । मनस्वियों के चरित्र का अनुकरण भी करना बड़ा कठिन है, उसका पालन तो दूर रहा । जिस मनस्वी के चित्त में रौद्र रस का अवेश हो जाता है वह सुख-दुःख की गणना करता ही कहाँ है ?

व्रणमुखच्युतशोणितशीकरस्थगितशैलतटाभभुजान्तरः ।
अभिनवौषसरागभृता बभौ जलधरेण समानमुमापतिः ॥ ४ ॥

अन्वयः—व्रणमुखच्युतशोणितशीकरस्थगितशैलतटाभभुजान्तरः उमापतिः अभि-नवौषसरागभृता जलधरेण समानं बभौ ॥ ४ ॥

व्रणेति ॥ व्रणमुखेभ्यश्च्युतस्य क्षरितस्य शोणितस्य शीकरैः स्थगित-मावृतं शैलतटाभं शिलासदृशं भुजान्तरं वक्षो यस्य स तथोक्त उमापति-रभिनवमौषसरागं संध्यारागं विभर्तीति तथोक्तेन जलधरेण समानं तुल्यं यथा तथा बभावित्युपमा ॥ ४ ॥

हिन्दी—शङ्कर का पर्वत के तट प्रान्त जैसा विशाल वक्षस्थल अर्जुन के प्रहार से उत्पन्न घावों के मुखों से बहने वाले रक्त की फुहारों से व्याप्त था । उस समय वह नूतन सन्ध्या काल की लालिमा को धारण करने वाले बादल के समान सुशोभित हो रहे थे ॥ ४ ॥

उरसि शूलभृतः प्रहिता मुहुः प्रतिहतिं ययुरर्जुनमुष्टयः ।
भृशरया इव सह्यमहीभृतः पृथुनि रोधसि सिन्धुमहोर्मयः ॥ ५ ॥

अन्वयः—शूलभृतः उरसि प्रहिताः अर्जुनमुष्टयः पृथुनि सह्यमहीभृतः रोधसि भृशरयाः सिन्धुमहोर्मयः इव मुहुः प्रतिहतिं ययुः ॥ ५ ॥

उरसीति ॥ शूलभृतः शिवस्य । उरसि प्रहिताः प्रयुक्ता अर्जुनस्य मुष्टयः पृथुनि विशाले सह्यमहीभृतः सह्याद्रे रोधसि तटे भृशरयास्तीव्रवेगाः सिन्धोः समुद्रस्य महोर्मय इव मुहुः प्रतिहतिं ययुः ॥ ५ ॥

हिन्दी—भगवान् शङ्कर के वक्षस्थल पर किया गया अर्जुन का मुष्टि-प्रहार इस प्रकार से बारम्बार प्रतिहत हो रहा था (टकरा रहा था) जिस प्रकार से विस्तृत सह्यगिरि के तट पर वेगवती समुद्र की लम्बी लहरें आकर टकराती हैं और पुनः वहीं से प्रतिहत हो जाती हैं ॥ ५ ॥

निपतितेऽधिशिरोधरमायते सममरत्नियुगेऽयुगचक्षुषः ।
त्रिचतुरेषु पदेषु किरीटिना लुलितदृष्टि मदादिव चस्खले ॥ ६ ॥

अन्वयः—अयुगचक्षुषः आयते अरत्नियुगे अधिशिरोधरं समं निपतिते किरीटिना मदात् इव त्रिचतुरेषु पदेषु लुलितदृष्टि चस्खले ॥ ६ ॥

निपतित इति ॥ अयुगानि चक्षूंषि यस्य तस्य अयुगचक्षुषस्त्रिलोचनस्य । आयते दीर्घे अरत्नियुगे अरत्न्योर्बद्धमुष्ट्योर्हस्तयोर्युगे युग्मे । 'हस्तो मुष्टया तु बद्धया । सरत्निः स्यादरत्निस्तु निष्कनिष्ठेन मुष्टिना' इत्यमरः । प्रकृते तु मुष्टिमात्रविवक्षया प्रयोगः । शिरोधरायामधीति अधिशिरोधरमधिकन्धरं समं युगपन्निपतिते सति । किरी- टिनाऽर्जुनेन मदादिव त्रीणि चत्वरि वा त्रिचतुराणि । 'संख्ययाव्ययासन्न—' इत्यादिना बहुव्रीहिः । चतुरोऽच्प्रकरणे 'त्र्युपाभ्यामुपसंख्यानम्' इति समासान्तोऽच्प्रत्ययः । तेषु त्रिचतुरेषु पदेषु लुलितदृष्टि घूर्णितनेत्रं यथा तथा चस्खले स्खलितम् । भावे लिट् ॥ ६ ॥

हिन्दी—भगवान् त्रिलोचन शङ्कर ने अपनी दोनों बंधी हुई मुठ्ठियों से जब एक साथ ही अर्जुन के दोनों कन्धों पर जोर से प्रहार किया तब अर्जुन मद विह्वल की भाँति तीन-चार पग तक लड़खड़ाते हुए दूर हट गए और उनकी आँखे चकाचौंध हो गयीं ॥ ६ ॥

अभिभवोदितमन्युविदीपितः समभिसृत्य भृशं जवमोजसा ।
भुजयुगेन विभज्य समाददे शशिकलाभरणस्य भुजद्वयम् ॥७ ॥

अन्वयः—अभिभवोदितमन्युविदीपितः भृशं जवं समभिसृत्य ओजसा शशिकलाभरणस्य भुजद्वयं भुजयुगेन विभज्य समाददे ॥ ७ ॥

अभिभवेति ।। अभिभवेनोक्तरूपेण परिभवेन उदित उत्पन्नो यो मन्युः क्रोधस्तेन विदीपितः प्रज्वलितः सोऽर्जुनो भृशं जवं समभिसृत्य समभिद्रुत्य, ओजसा बलेन, शशिकलाभरणस्येन्दुमौलेः शिवस्य, भुजद्वयं भुजयुगेन विभज्य वियोज्य समाददे जग्राह ।। ७ ।।

हिन्दी—इस प्रकार अपनी पराजय से उत्पन्न क्रोध के कारण जलते हुए अर्जुन ने बड़े वेग के साथ दौड़कर बलपूर्वक अपनी दोनों भुजाओं से चन्द्रशेखर भगवान् शङ्कर की दोनों भुजाओं को अलग-अलग करके उन्हें पकड़ लिया ।। ७ ।।

प्रववृतेऽथ महाहवमल्लयोरचलसंचलनाहरणो रणः ।
करणशृङ्खलसङ्कलनागुरुर्गुरुभुजायुधगर्वितयोस्तयोः ।। ८ ।।

अन्वयः—अथ महाहवमल्लयोः गुरुभुजायुधगर्वितयोः तयोः करणशृङ्खलसङ्कलनागुरुः अचलसञ्चलनाहरणः रणः प्रववृते ।। ८ ।।

प्रववृत इति ।। अथ महाहवे महारणे मल्लयोर्बलीयसोः । 'मल्लः पात्रे कपोले च मत्स्यभेदे बलीयसि' इति विश्वः । गुरू भुजावेव आयुधं तेन गर्वितयोस्तयोः शिवार्जुनयोः करणानि करचरणबन्धनान्येव शृङ्खलानि तेषां सङ्कलना सङ्घटना तया गुरुर्दुऽस्तरस्तथाऽचलस्य हिमाद्रेः संचलनं कम्पस्तस्याहरण आरोपकः । कर्तरि ल्युट् । रणः प्रववृते प्रवृत्तः ।। ८ ।।

हिन्दी—तदनन्तर उन दोनों महान् बलशालियों के बीच, जिन्हें अपनी विशाल भुजाओं के बल पर अभिमान था, ऐसा भीषण युद्ध होने लगा, जिसमें उनके हाथ और पैर के बन्धन ही कठिन शृंखला बन गये तथा जिसके कारण हिमालय कांपने लगा ।। ८ ।।

अयमसौ भगवानुत पाण्डवः स्थितमवाङ्मुनिना शशिमौलिना ।
समधिरूढमजेन नु जिष्णुना स्विदिति वेगवशान्मुमुहे गणैः ।। ९ ।।

अन्वयः—अयम् असौ भगवान् उत पाण्डवः मुनिना अवाक् स्थितम्, शशिमौलिना अजेन नु समधिरूढं जिष्णुना स्वित् इति गणैः वेगवशात् मुमुहे ।। ९ ।।

अयमिति ।। अयं पुरोवर्ती पुमान् । असौ भगवान् प्रसिद्धो देवः । तदुक्तम् — 'इदमः समक्षरूपं समीपतरवर्ति चैतदो रूपम् । अदसस्तु विप्रकृष्टं तदिति परोक्षे विजानीयात् ।।' इति । उत पाण्डवः । अयं हि तिष्ठदवस्थायां भ्रम इति वेदितव्यम् । अथ पतनावस्थायामाह—मुनिनाऽवाक्अधः स्थितमुत शशिमौलिना । अजेन देवेन नु समधिरूढमुपरि स्थितम् अथ जिष्णुना स्विदर्जुनेन वा समधिरूढम्, इत्येवं गणैः प्रमथैर्वेगवशान्मुमुहे भ्रान्तम् । 'मुह वैचित्त्ये' । भावे लिट् ।। ९ ।।

हिन्दी—दोनों के रण-वेग को देखकर प्रथम गण इस प्रकार के विस्मय में पड़ गये कि यह भगवान् शङ्कर जी हैं अथवा पाण्डुपुत्र अर्जुन हैं। यह तपस्वी अर्जुन

नीचे की ओर हैं अथवा हमारे भगवान् चन्द्रशेखर हैं । यह अजन्मा शङ्कर जी ऊपर हैं या अर्जुन हैं - ऐसा वितर्क वे लोग भ्रम में पड़ कर करने लगे ।। ९ ।।

विमर्श—अर्थात् उन दोनों का युद्ध इतने वेग से हो रहा था कि कोई पहचाने नहीं जा सकते थे कि कौन ऊपर जा रहा है और कौन नीचे जा रहा है । यहाँ भ्रान्तिमान् अलङ्कार है ।

प्रचलिते चलितं स्थितमास्थिते विनमिते नतमुन्नतमुन्नतौ ।
वृषकपिध्वजयोरसहिष्णुना मुहुरभावभयादिव भूभृता ।।१० ।।

अन्वय:—असहिष्णुना भूभृता अभावभयात् इव मुहुः वृषकपिध्वजयोः प्रचलिते चलितम् आस्थिते स्थितं विनमिते नतम् उन्नतौ उन्नतम् ।। १० ।।

प्रचलित इति ।। असहिष्णुना तयोर्भारमसहमानेन भूभृता शैलेन । अभाव-भयाद् विनाशभयादिव मुहुर्वृषश्च कपिश्च ध्वजे ययोस्तयोर्वृषकपिध्वजयोः प्रचलिते चलने सति चलितं प्रचेले । आस्थिते तूष्णीमवस्थानेस्थितं तथैव तस्थे । विनमिते सम्यगाक्रमणे सति नतं नम्रीभूतम् । अनामीति यावत् । उन्नतावुन्नमने सति उन्नतमुदनामि । सर्वत्र भावे क्तः ।।१० ।।

हिन्दी—भगवान् शङ्कर और कपिध्वज अर्जुन के भार को सहन करने में असमर्थ हिमालय मानों बारम्बार अपने विनाश के भय से उनके चलने पर चञ्चल हो उठता था, चुपचाप स्थिर रहने पर स्थिर हो जाता था और आक्रमण करने के समय नम्र हो कर झुक जाता था और ऊपर उठने पर स्वयम् ऊपर उठ जाता था ।। १० ।।

करणशृङ्खलनिःसृतयोस्तयोः कृतभुजध्वनि वल्गु विवल्गतोः ।
चरणपातनिपातितरोधसः प्रससृपुः सरितः परितः स्थलीः ।।११ ।।

अन्वय:—करणशृङ्खलनिःसृतयोः कृतभुजध्वनि वल्गु विवल्गतोः तयोः चरण-पातनिपातितरोधसः सरितः स्थलीः परितः प्रससृपुः ।। ११ ।।

करणेति ।। करणानि करचरणबन्धविशेषास्तान्येव शृङ्खलानि तेभ्यो निः-सृतयोः । मुहुस्त्यक्तबन्धयोरित्यर्थः । कृतो भुजध्वनिर्भुजास्फोटनशब्दो यस्मिन्कर्मणि तत्तथा वल्गु सुन्दरं च यथा तथा विवल्गतोरुत्प्लवमानयोस्तयोर्हरपार्थयोश्चरणपातैः पादक्षेपैर्निपातितानि रोधांसि यासां ताः सरितो नद्यः स्थलीः परितः स्थलीषु प्रससृपुः प्रसृताः । 'अभितः परितः—' इत्यादिना द्वितीया । 'जानपद—' इत्यादिना कृत्रिमार्थे-ङीप् । कूलपातक्षोभादुद्वेलसलिलाः सरितः स्थलानि प्राभञ्जयन्नित्यर्थः । एतेन तयोर्भार उक्तः ।।११ ।।

हिन्दी—हाथों और पैरों की शृंखलाओं से बारम्बार छूटे हुए एवं भुजाओं के मूल भाग पर ताल ठोंक कर ध्वनि करने वाले उन दोनों के पैरों की चोट से जिन

नदियों के तट टूट-फूट गए थे, वे अपने स्थल भाग को चारों ओर से निमज्जित करने लगीं ।। ११ ।।

वियति वेगपरिप्लुतमन्तरा समभिसृत्य रयेण कपिध्वज: ।
चरणयोश्चरणनमितक्षितिर्निजगृहे तिसृणां जयिनं पुराम् ।।१२ ।।

अन्वय:—वियति वेगपरिप्लुतं तिसृणां पुराम् जयिनं कपिध्वज: चरणानमितक्षिति: रयेण समभिसृत्य अन्तरा चरणयो: निजगृहे ।। १२ ।।

वियतीति ।। वियत्यन्तरिक्षे वेगेन परिप्लुतमुत्पतितं तिसृणां पुरां जयिनं त्रिपुरान्तकम् । 'जिदृक्षि—' इत्यादिनेनिप्रत्यय: । कपिध्वजोऽर्जुनश्चरणाभ्यां पादाभ्यामानमितक्षिति: सन् । रयेण वेगेन समभिसृत्याभिद्रुत्य, अन्तरा मध्येमार्गं चरणयो: पदयोर्निजगृहे निगृहीतवान् । उत्पतितस्य भगवतश्चरणौ स्वकराभ्यां जग्राहेत्यर्थ: ।।१२ ।।

हिन्दी—आकाश में वेगपूर्वक छलाँग मार कर त्रिपुर विजयी भगवान् शङ्कर ऊपर की ओर उछले ही थे कि कपिध्वज अर्जुन ने अपने चरणों के भार से पृथ्वी को झुकाते हुए बड़े वेग के साथ ऊछल कर बीच ही में उनके दोनों पैरों को पकड़ लिया ।। १२ ।।

विस्मित: सपदि तेन कर्मणा कर्मणां क्षयकर: पर: पुमान् ।
क्षेप्तुकाममवनौ तमक्लमं निष्पिपेष परिरभ्य वक्षसा ।।१३ ।।

अन्वय:—तेन कर्मणा सपदि विस्मित: कर्मणां क्षयकर: पर: पुमान् अवनौ क्षेप्तुकामम् अक्लमं तं वक्षसा परिरभ्य निष्पिपेष ।। १३ ।।

विस्मित इति ।। तेन कर्मणा चरणग्रहणरूपेण सपदि विस्मित: सविस्मय: कर्मणां क्षयकर:। मोक्षप्रद इत्यर्थ: । पर: पुमान् परोऽवनौ क्षितौ क्षेप्तुं कामो यस्य तम्। 'तुं काममनसोरपि' इति मकारलोप: । अक्लमक्लान्तं तं पार्थं वक्षसा परिरभ्य निष्पिपेष । गाढमालिलिङ्गेत्यर्थ: । रथोद्धतावृत्तम् ।।१३ ।।

हिन्दी—(अर्जुन के) इस उत्कृष्ट पराक्रमपूर्ण कार्य से एकाएक विस्मित होकर मोक्षदाता परम पुरुष भगवान् शङ्कर ने अपने को धरती पर खींचने के लिए इच्छुक अश्रान्त उन अर्जुन का अपने वक्षस्थल से लगा कर गाढ आलिङ्गन किया ।। १३ ।।

विमर्श—यहाँ रथोद्धता छन्द है ।

तपसा तथा न मुदमस्य ययौ भगवान्यथा विपुलसत्त्वतया ।
गुणसंहते: समतिरिक्तमहो निजमेव सत्त्वमुपकारि सताम् ।।१४ ।।

अन्वय:—भगवान् अस्य विपुलसत्त्वतया तथा मुदं ययौ यथा तपसा न । अहो सतां गुणसंहते: समम् अतिरिक्तम् निजं सत्त्वम् एव उपकारि ।। १४ ।।

तपसेति ।। भगवान् देवः । अस्यार्जुनस्य विपुलसत्त्वतया बहुसत्त्वसंपदा । धैर्यसंपत्त्येति यावत् । यथा मुदं ययौ तथा तपसा मुदं न ययौ । तथा हि—सतां गुणसंहतेस्तपःसेवादिगुणसङ्घातात् समतिरिक्तमतिशयितं निजं सत्त्वमेवोपकार्युपकार-कमहो । प्रमिताक्षरावृत्तम् ।।१४ ।।

हिन्दी—भगवान् शङ्कर अर्जुन के इस पराक्रमपूर्ण कार्य से जितने प्रसन्न हुए उतने उनकी तपस्या से नहीं प्रसन्न हुए थे । सच है, सत्पुरुषों की तपस्या एवं सेवा आदि गुणों से बढ़कर उनका निजी पराक्रम ही उपकारक होता है ।। १४ ।।

विमर्श—यहाँ प्रमिताक्षरा छन्द है ।

अथ हिमशुचिभस्मभूषितं शिरसि विराजितमिन्दुलेखया ।
स्ववपुरतिमनोहरं हरं दधतमुदीक्ष्य ननाम पाण्डवः ।।१५ ।।

अन्वयः—अथ हिमशुचिभस्मभूषितम् शिरसि इन्दुलेखया विराजितम् अति-मनोहरम् स्ववपुः दधतम् हरम् उद्वीक्ष्य पाण्डवः ननाम ।। १५ ।।

अथेति ।। अथ हिमशुचिना हिमशुभ्रेण भस्मना भूषितं शिरसीन्दुलेखया विराजितं शोभितम् अतिमनोहरं सुन्दरं स्ववपुर्दधतं किरातरूपं विहाय निजविग्रहं दधानं हरमुदीक्ष्य पाण्डवो ननाम प्रणतवान् । अपरवक्त्रं वृत्तम् —'अयुजि ननरला गुरुः समे तदपरवक्त्रमिदं नजौ जरौ' इति लक्षणात् ।।१५ ।।

हिन्दी—तदनन्तर हिम के समान उज्ज्वल भस्म से विभूषित मस्तक पर चन्द्रमा से सुशोभित अतिमनोहर अपने असली स्वरूप को धारण करने वाले शिवजी को देखकर अर्जुन ने उन्हें प्रणाम किया ।। १५ ।।

विमर्श—अपरवक्त्र वृत्त ।

सहशरधि निजं तथा कार्मुकं वपुरतनु संवर्मितम् ।
निहितमपि तथैव पश्यन्नसिं वृषभगतिरुपाययौ विस्मयम् ।।१६ ।।

अन्वयः—वृषभगतिः सहशरधि निजं कार्मुकम् तथैव संवर्मितम् अतनु वपुः तथैव निहितं असिम् अपि पश्यन् विस्मयम् उपाययौ ।। १६ ।।

सहेति।। वृषभस्येव गतिर्यस्य सोऽर्जुनस्तस्मिन्समये सहशरधिभ्यां वर्तत इति सहशरधि सनिषङ्गम् । 'वोपसर्जनस्य' इति विकल्पात् 'सह' शब्दस्य न सभावः । निजं कार्मुकं गाण्डीवं तथैव पूर्ववदेव संवर्मितं सम्यक्कवचितमतनु महन्निजं वपुस्त-थैव निहितं यथापूर्वं स्थापितमसिमपि खड्गं च तथैव पश्यन् विस्मयमुपाययौ । क्वचित्तु 'वृषभगतिम्' इति पाठः । तत्र वृषभगतिं शिवं च पश्यन् विस्मयमुपायया-वित्यर्थः । प्रमुदितवदना वृत्तम् —'प्रमुदितवदना भवेन्नौ ररौ' इति लक्षणात् ।।१६ ।।

हिन्दी—वृषभ की गति के समान गतिशील अर्जुन उस क्षण तूणीर समेत

अपने गाण्डीव नामक धनुष से युक्त हो गए थे, उनका कवच भी पहले ही की तरह उनके शरीर से आ लगा था, शरीर भी पूर्ववत् स्थूल तथा बलशाली हो गया था, और वह उनकी तलवार भी पहले ही की भाँति उनके हाथ में थी—इस प्रकार अपने को देखकर वह स्वयम् विस्मय में पड़ गये ।। १६ ।।

विमर्श—प्रमुदितवदना वृत्त ।

सिषिचुरवनिमम्बुवाहाः शनैः सुरकुसुममियाय चित्रं दिवः ।
विमलरुचिभृशं नभो दुन्दुभेर्ध्वनिरखिलमनाहतस्यानशे ।।१७ ।।

अन्वयः—अम्बुवाहाः शनैः अवनिं सिषिचुः दिवः चित्रं सुरकुसुमम् इयाय अनाहतस्य दुन्दुभेः ध्वनिः विमलरुचि अखिलं नभः भृशम् आनशे ।। १७ ।।

सिषिचुरिति ।। अम्बुवाहाः शनैरवनिं सिषिचुरुक्षांचक्रुः । दिवोऽन्तरिक्षाच्चित्रं विचित्रं सुरकुसुम मन्दारकुसुमानि । जातावेकवचनम् । इयायाजगाम । अनाहतस्याताडितस्य दुन्दुभेः । जातावेकवचनम् । ध्वनिः शब्दो विमलरुचि प्रसन्नमखिलं नभो भृशमानशे । व्याप । अताडिता एव दुन्दुभयो नेदुरित्यर्थः । सर्वमिदमस्य सर्वलोकहितार्थित्वादिति वेदितव्यम् ।।१७ ।।

हिन्दी—बादल धीरे-धीरे बूँदें बरसा कर धरती सींचने लगे, आकाश से रंग-बिरंगे पारिजात के पुष्प गिरने लगे, बिना बजाये हुए ही दुन्दुभि की मनोहर ध्वनि सम्पूर्ण निर्मल आकाश में अत्यन्त व्याप्त होने लगी ।। १७ ।।

विमर्श—ये मंगल सूचनाएँ अर्जुन के लोकोपकारी कार्य की पूर्ति के लिए थीं ।। १७ ।।

आसेदुषां गोत्रभिदोऽनुवृत्त्या गोपायकानां भुवनत्रयस्य ।
रोचिष्णुरत्नावलिभिर्विमानैर्द्यौराचिता तारकितेव रेजे ।।१८ ।।

अन्वयः—गोत्रभिदः अनुवृत्या आसेदुषां भुवनत्रयस्य गोपायकानां रोचिष्णुरत्नावलिभिः विमानैः आचिता द्यौः तारकिता इव रेजे ।। १८ ।।

आसेदुषामिति ।। गोत्रभिद इन्द्रस्य । अनुवृत्त्याऽनुसरणेन । आसेदुषामासन्नानां भुवनत्रयस्य गोपायकानां रक्षकाणां लोकपालादीनाम् । 'गुपू—धूप—' इत्यादिनाऽऽयप्रत्ययः । तदन्ताण्ण्वुल् । रोचिष्णवः प्रकाशनशीला रत्नावलयो येषां तैः । 'अलङ्कृञ्—' इत्यादिनेष्णुच्प्रत्ययः । विमानैः पुष्पकैराचिता व्याप्ता द्यौस्तारकिता सञ्जाततारकेव रेजे । उत्प्रेक्षालङ्कारः ।।१८ ।।

हिन्दी—इन्द्र के पीछे-पीछे आने वाले तीनों लोकों के रक्षक लोकपालों आदि के चमकते हुए रत्नों से सुशोभित विमानों से व्याप्त आकाशमण्डल उस समय इस प्रकार से सुशोभित हो रहा था मानों उसमें ताराएँ उगी हुई हों ।। १८ ।।

विमर्श—यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ।

हंसा बृहन्तः सुरसद्मवाहाः संह्लादिकण्ठाभरणाः पतन्तः ।
चक्रुः प्रयत्नेन विकीर्यमाणैर्व्योम्नः परिष्वङ्गमिवाग्रपक्षैः ॥१९ ॥

अन्वयः—बृहन्तः सुरसद्मवाहाः संह्लादिकण्ठाभरणाः पतन्तः हंसाः प्रयत्नेन विकीर्यमाणैः अग्रपक्षैः व्योम्नः परिष्वङ्गं चक्रुः इव ॥ १९ ॥

हंसा इति ॥ बृहन्तो महान्तः सुरसद्मानि विमानानि वहन्तीति सुरसद्मवाहाः । कर्मण्यण् । संह्लादीनि निह्लादीनि मुखराणि कण्ठाभरणानि किङ्किण्यो येषां ते । पतन्तो धावन्तो हंसाः प्रयत्नेन विकीर्यमाणैर्विक्षिप्यमाणैः । अग्रपक्षैः पक्षाग्रैः । व्योम्नः परिष्वङ्गमालिङ्गनं चक्रुरिवेत्युत्प्रेक्षा ॥१९ ॥

हिन्दी—देवताओं के विमानों को ढोने वाले बड़े-बड़े हंसों के कण्ठों में जो किंकिणी आदि आभूषण बँधे थे, वे ध्वनि कर रहे थे । उस समय आकाश में दौड़ते हुए वे हंस प्रयत्नपूर्वक फैलाए गए अपने अगले पंखों से ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानों वे आकाश का आलिङ्गन कर रहे हों ॥ १९ ॥

विमर्श—यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ।

मुदितमधुलिहो वितानीकृताः स्रज उपरि वितत्य संतानिकीः ।
जलद इव निषेदिवांसं वृषे मरुदुपसुखयांबभूवेश्वरम् ॥ २० ॥

अन्वयः—मरुत् जलदे इव वृषे निषेदिवांसम् ईश्वरम् मुदितमधुलिहः वितानीकृताः सान्तानिकीः स्रजः उपरि वितत्य उपसुखयाम्बभूव ॥ २० ॥

मुदितेति ॥ अथ मरुद्वायुः । जलदे मेघ इव वृषो निषेदिवांसमुपविष्टमीश्वरं मुदिता मधुलिहो भृङ्गा याभिस्ता वितानीकृता उल्लोचाकाराः कृताः । 'अस्त्री वितानमुल्लोचः' इत्यमरः । सान्तानिकीः संतानकुसुमविकाराः स्रजः मन्दारमाला इत्यर्थः । 'संतान' शब्दाद्विकारार्थे ठक् । 'संतानः कल्पवृक्षश्च' इत्यमरः । उपरि वितत्य विस्तार्य । उपसुखयांबभूव प्रह्लादयामास ॥ २० ॥

हिन्दी—उस अवसर पर मेघ के समान वृषभ पर बैठे हुए भगवान् शङ्कर को वायु देवता ने भ्रमर पङ्क्तियों को प्रसन्न करने वाली मन्दार के पुष्पों की माला को ऊपर चंदोवे के समान फैलाकर खूब सुख पहुँचाया ॥ २० ॥

कृतधृति परिवन्दितेनोच्चकैर्गणपतिभिरभिन्नरोमोद्गमैः ।
तपसि कृतफले फलज्यायसी स्तुतिरिति जगदे हरेः सूनुना ॥ २१ ॥

अन्वयः—अभिन्नरोमोद्गमैः गणपतिभिः उच्चकैः परिवन्दितेन इति हरेः सुनुना तपसि कृतघृति फलज्यायसी स्तुतिः जगदे ॥ २१ ॥

कृतेति ॥ अभिन्नरोमोद्गमैरविरलरोमाञ्चैर्गणपतिभिः प्रमथमुख्यैरुच्चकैः परिवन्दितेन साधु साधु इति संस्तुतेन । 'वदि अभिवादनस्तुत्योः' । कर्मणि क्तः । हरेः

सूनुनाऽर्जुनेन तपसि कृतं फलं भगवत्साक्षात्कारलक्षणं येन तस्मिन् । कृतफले सतीत्यर्थ: । कृतधृति कृतसंतोषं यथा तथा फलज्यायसी फलाधिकेति वक्ष्यमाणा स्तुतिर्जगदे कथिता ।। २१ ।।

हिन्दी—अर्जुन की यह सफलता देखकर प्रमथ गणों को सघन रोमांच हो गया और वे उच्च स्वर में अर्जुन को बधाई देने लगे । तब इस प्रकार अपनी कठोर तपस्या के परिणाम स्वरूप साक्षात् भगवान् शङ्कर के दर्शन से सन्तुष्ट होकर अर्जुन शङ्कर जी की स्तुति करने लगे ।। २१ ।।

शरणं भवन्तमतिकारुणिकं भव भक्तिगम्यधिगम्य जन: ।
जितमृत्यवोऽजित! भवन्ति भये ससुरासुरस्य जगत: शरणम् ।। २२ ।।

अन्वय:—हे अजित ! भव ! अतिकारुणिकं भक्तिगम्यं भवन्तम् शरणम् अधिगम्य जितमृत्यव: जना: ससुरासुरस्य जगत: भये शरणं भवन्ति ।। २२ ।।

शरणमिति ।। हे अजित अपराजित! हे भव! अतिकारुणिकमतिदयालुम् । 'तदस्य प्रयोजनम्' इति ठक् । भक्तिगम्यं भक्तिमात्रसुलभं भवन्तं शरणं रक्षकमधिगम्य जितमृत्यवो विगतमरणा: । अमरा भूत्वेत्यर्थ: । जना: ससुरासुरस्य जगतो भय आपदि शरणं स्वयं रक्षितारो भवन्ति । 'शरणं गृहरक्षित्रो:' इति विश्व: । प्रमिताक्षरावृत्तम् ।। २२ ।।

हिन्दी—हे अपराजित! हे भव! अत्यन्त कारुणिक, भक्तिसुलभ, शरणदायक आप को प्राप्त करके लोग मृत्यु को जीत लेते हैं, और देवताओं तथा दानवों समेत इस निखिल संसार की, विपत्ति के अवसर पर वे स्वयमेव शरण बन जाते हैं ।।

विमर्श—अर्थात् वे देवताओं एवं दानवों की भी रक्षा करने में समर्थ हो जाते हैं, अपनी और अपने परिवार की रक्षा की तो बात ही क्या । यहाँ प्रमिताक्षरा छन्द है ।। २२ ।।

विपदेति तावदवसादकरी न च कामसंपदभिकामयते ।
न नमन्ति चैकपुरुषं पुरुषास्तव यावदीश! न नति: क्रियते ।। २३ ।।

अन्वय:—हे ईश ! यावत् तव नति: न क्रियते तावत् एकपुरुषम् अवसादकरी विपत् एति कामसम्पद् च न अभिकामयते पुरुषा: न नमन्ति ।। २३ ।।

विपदिति ।। हे ईश, यावत्तव नति: प्रणामो न क्रियते । पुरुषेणेति शेष: । तावदेव एकं पुरुषमेकाकिनं सन्तमवसादकरी क्षयकरी विपदेति प्राप्नोति । कामसंपत् मनोरथसंपच्च नाभिकामयते नेच्छति । पुरुषाश्चान्ये लोकास्तमेकं पुरुषं तव स्तुतिमकुर्वाणं न नमन्ति न वशे वर्तन्ते । नानिष्टनिवृत्तिर्नापीष्टप्राप्तिरित्यर्थ: । यदा तु त्वां प्रणमन्ति तदैव सर्वं लभ्यत इति भाव: ।। २३ ।।

हिन्दी—हे भगवान् ! जब तक मनुष्य आप के सम्मुख प्रणत नहीं होता तब तक उस अकेले मनुष्य को अवसाद में डालने वाली विपत्ति घेरती है, उसकी अभिलाषाएँ सफल नहीं होती तथा दूसरे लोग भी उसके समक्ष प्रणत नहीं होते ।। २३ ।।

विमर्श—अर्थात् जब तक मनुष्य आप को प्रणाम नहीं करता तब तक उसकी न तो अनिष्ट निवृत्ति ही होती है और न इष्ट प्राप्ति ही होती है और जब वह आप को प्रणाम कर लेता है तब उसे सब कुछ प्राप्त हो जाता है ।

संसेवन्ते दानशीला विमुक्त्यै संपश्यन्तो जन्मदुःखं पुमांसः ।
यन्निःसङ्गस्त्वं फलस्यानतेभ्यस्तत्कारुण्यं केवलं न स्वकार्यम् ।। २४ ।।

अन्वयः—दानशीलाः जन्मदुःखम् सम्पश्यन्तः पुमांसः विमुक्त्यै संसेवन्ते आनतेभ्यः निःसङ्गः त्वं यत् फलसि तत् केवलं कारुण्यं न स्वकार्यम् ।। २४ ।।

संसेवन्त इति ।। दानं शीलं स्वभावो निजधर्मो येषां ते दानशीलाः । त्वामेवोद्दिश्य दानं कुर्वन्त इत्यर्थः । 'तस्माद्दानं परमं वदन्ति' इति श्रुतेरिति भावः । कुतः । यतो जन्मदुःखं संपश्यन्तोऽनुभवन्तः पुमांसो विमुक्त्यै मोक्षाय संसेवन्ते । भवन्तमिति शेषः । न च तच्चित्रम्, किन्तु आनतेभ्यः प्रणम्रेभ्यो निःसङ्गो निःस्पृहस्त्वं यत् फलसि फलं ददासि । तेषां फलार्थित्वादिति भावः । तत् केवलं निरुपाधिकं कारुण्यं करुणा । स्वार्थे ष्यञ् । 'कारुण्यं करुणा घृणा' इत्यमरः । न स्वकार्यम् । एतदेव चित्रम् । केवलं परार्थत्वादिति भावः । शालिनीवृत्तम् ।। २४ ।।

हिन्दी—आपके उद्देश्य से दानादि पुण्यकर्म करने वाले लोग जन्म एवं मृत्यु के कष्टों को देखकर उनसे मुक्ति पाने के लिए जो आपकी आराधना करते हैं, उसमें कोई विचित्रता नहीं है । किन्तु आप जो अपने को प्रणाम करने वालों के प्रति निःस्पृह होकर भी उन्हें फल देते हैं, वह आप की केवल करुणा ही है, उसमें आप का कुछ भी प्रयोजन नहीं है, यही विचित्रता है ।। २४ ।।

विमर्श—यहाँ शालिनी छन्द है ।

प्राप्यते यदिह दूरमगत्वा यत्फलत्यपरलोकगताय ।
तीर्थमस्ति न भवार्णवबाह्यं सार्वकामिकमृते भवतस्तत् ।। २५ ।।

अन्वयः—यत् इह दूरम् अगत्वा प्राप्यते यत अपरलोकगताय फलति भवार्णवबाह्यं सार्वकामिकम् तत् तीर्थं भवतः ऋते न अस्ति ।। २५ ।।

प्राप्यत इति ।। यत् तीर्थम् । इहास्मिंल्लोके दूरमगत्वा प्राप्यते । स्मृतिमात्रसुलभमित्यर्थः । गङ्गादिकं तु न तथेति भावः । यत्तीर्थमपरलोकगताय फलति फलं प्रयच्छति । अत्रापि स्मरणमात्रादेवेति भावः । भवः संसारः स एव अर्णवस्ततो बाह्यं बहिर्भवं संसारातीतम् । मोक्षपदमित्यर्थः । 'बहिर्देवपञ्चजनेभ्यश्चेति वक्तव्यम्' इति

ञ्यप्रत्ययः । सर्वे कामाः प्रयोजनमस्येति सार्वकामिकम् । 'तदस्य प्रयोजनम्' इति ठक् । तत् तादृक् । तरन्त्यनेनेति तीर्थं तारकं भवतस्त्वदृते । 'अन्यारात्—' इत्यादिना पञ्चमी । अन्यन्नास्ति । औपच्छन्दसिकं वृत्तम् ।। २५ ।।

हिन्दी—जो तीर्थ इस लोक में बिना दूर की यात्रा किए ही प्राप्त होता है, जो बिना परलोक गए ही फल देता है, जो भवसागर से अतीत है एवं सभी प्रकार की कामनाओं को जो पूरा करने वाला है, वह तीर्थ आप को छोड़ कर कोई दूसरा नहीं है ।। २५ ।।

विमर्श—औपच्छन्दसिक वृत्त ।

व्रजति शुचि पदं त्वयि प्रीतिमान् प्रतिहतमतिरेति घोरां गतिम् ।
इयमनघ निमित्तशक्तिः परा तव वरद न चित्तभेदः क्वचित् ।। २६ ।।

अन्वयः—हे वरद ! त्वयि प्रीतिमान् शुचि पदं व्रजति प्रतिहतमतिः घोरां गतिम् एति । हे अनघ ! इयं परा निमित्तशक्तिः तव क्वचित् चित्तभेदः न ।। २६ ।।

व्रजतीति ।। हे वरद ! त्वयि प्रीतिमान् नरःशुचि निर्मलं पदं कैवल्यं मुक्तिं व्रजति । 'मुक्तिः कैवल्यनिर्वाण—' इत्यमरः । प्रतिहतमतिरुपहतबुद्धिः । त्वद्द्वेषी-त्यर्थः । घोरां गतिं तीव्रं नरकम् । एति प्राप्नोति । न चैतावता तव रागद्वेषकलङ्कपङ्क इत्याह — इयमिति । हे अनघ निष्कलङ्क ! इयम् । भक्ताभक्तयोरिति शेषः । विधेय-प्राधान्यात् स्त्रीलिङ्गता । परा दुस्तरा निमित्तशक्तिर्निमित्तभूता शक्तिः स्वचेष्टितमहिमा । तव क्वचिदभक्तेद्वेषिणि वा कुत्रापि चित्रभेदो बुद्धिवैषम्यं नास्ति । स्वकर्मणैव जन्तुस्तरति पतति वा । त्वं साक्षितया सर्वत्र सम इत्यर्थः ।। २६ ।।

हिन्दी—हे वरदानी! आप में प्रीति रखने वाला मनुष्य कैवल्य पद की प्राप्ति करता है, और जो मन्दबुद्धि हैं वे आप से विमुख होकर घोर नारकीय यातना भोगते हैं । हे निष्कलङ्क ! यह तो अत्यन्त दुस्तर कार्य-कारण भाव से उत्पन्न होने वाली शक्ति की महिमा है । आप के चित्त में (भक्त और अभक्त के प्रति) किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं है ।। २६ ।।

विमर्श—अर्थात् आप से प्रेम करने वाले अपने इस पुण्यकर्म से ही कैवल्य पद प्राप्त करते हैं, और द्वेष बुद्धि रखने वाले अपने कर्म से ही घोर नारकीय यातना भोगते हैं । आप तो केवल साक्षीमात्र हैं, आप की दृष्ट में तो सब समान हैं ।

दक्षिणां प्रणतदक्षिण मूर्तिं तत्त्वतः शिवकरीमविदित्वा ।
रागिणापि विहिता तव भक्त्या संस्मृतिर्भव भवत्यभवाय ।। २७ ।।

अन्वयः—हे भव! हे प्रणतदक्षिण! शिवकरीं तव दक्षिणां मूर्तिं तत्त्वतः अवि-दित्वा अपि रागिणा भक्त्या विहिता संस्मृतिः अभवाय भवति ।। २७ ।।

दक्षिणामिति ।। हे भव प्रणतदक्षिण प्रणतेषु दाक्षिण्यसंपन्न ! दाक्षिण्यं परच्छन्दानुवर्तित्वम् । 'दक्षिणः सरलावामपरच्छन्दानुवर्तिषु' इति विश्वः । शिवकरीं श्रेयस्करीम् । 'कृञो हेतु—' इत्यादिना टप्रत्यये ङीप् । तव दक्षिणां मूर्तिं तत्त्वतो याथार्थ्येन अविदित्वापि रागिणा रागद्वेषवतापि भक्त्या विहिता तव संस्मृतिः सम्यक्स्मरणमभवाय संसारनिवृत्तये । प्रसज्यप्रतिषेधेऽपि नञ्समास इष्यते । भवति । तत्वज्ञानं विनापि भक्तिपूर्विका तव संस्मृतिरेव मुक्तिनिदानमित्यर्थः । स्वागतावृत्तम् ।। २७ ।।

हिन्दी—हे भव! भक्तों पर दयालु! आपकी कल्याणकारिणी भक्तवशानुवर्तिनी मूर्ति को यथार्थ रूप में न जान कर भी राग-द्वेष युक्त प्राणी केवल भक्ति के साथ आपका स्मरण मात्र करके संसार सागर से पार उतर जाते हैं ।। २७ ।।

विमर्श—स्वागता वृत्त ।

दृष्ट्वा दृश्यान्याचरणीयानि विधाय
प्रेक्षाकरी याति पदं मुक्तमपायैः ।
सम्यग्दृष्टिस्तस्य परं पश्यति यस्त्वां
यश्चोपास्ते साधु विधेयं स विधत्ते ।। २८ ।।

अन्वयः—प्रेक्षाकारी दृश्यानि दृष्टा आचरणीयानि विधाय अपायैः मुक्तं पदं याति यः परं त्वां पश्यति तस्य सम्यग्दृष्टिः यश्च उपास्ते सः साधु विधेयं विधत्ते ।।

दृष्ट्वैति ।। प्रेक्षया बुद्ध्या करोतीति प्रेक्षाकारी विमृश्यकारी दृश्यानि द्रष्टव्यानि दृष्टवा ज्ञात्वा आचरणीयानि कर्तव्यानि च विधाय कृत्वा, अपायैर्मुक्तं नाशवर्जितं पदं याति । 'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते' इति श्रुतेः । ज्ञानकर्मभ्यां मुक्तिरित्यर्थः । किन्तु तेऽपि ज्ञानकर्मणी त्वद्विषय एव मुक्तिसाधनं नान्यविषय इत्याशयेनाह — सम्यगिति । यः पुमान् परं पुरुषोत्तमत्वेन सर्वोत्कृष्टं त्वां पश्यति तस्य सम्यग्दृष्टिः सम्यग्ज्ञानम् । यश्च त्वामुपास्ते सेवते स एव साधु विधेयं विधत्ते । साधुकारीत्यर्थः । मत्तमयूरं वृत्तम् । लक्षणं तूक्तम् ।। २८ ।।

हिन्दी—विचारशील लोग ज्ञान दृष्टि से तत्त्व को देखकर और अपने योग्य कर्त्तव्यों का अनुष्ठान कर विघ्न-बाधाओं से रहित मोक्ष पद को प्राप्त करते हैं । (अर्थात् अविद्या से मृत्यु को पार कर विद्या के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति करते हैं, क्योंकि ज्ञान और कर्म से ही मुक्ति मिलती है और वे ज्ञान तथा कर्म आप के द्वारा ही प्राप्य हैं, किसी अन्य साधन से नहीं, क्योंकि) जो मनुष्य परम पुरुष के रूप में आप को देखता है, उसी की दृष्टि सम्यक् है और जो आप की उपासना करता है, वही अच्छे तरह से अपने कर्त्तव्य का पालन करता है ।। २८ ।।

विमर्श—यहाँ मत्तमयूर छन्द है ।

युक्ताः स्वशक्त्या मुनयः प्रजानां हितोपदेशैरुपकारवन्तः ।
समुच्छिनत्सि त्वमचिन्त्यधामा कर्माण्युपेतस्य दुरुत्तराणि ॥ २९ ॥

अन्वयः—मुनयः स्वशक्त्या युक्ताः हितोपदेशैः प्रजानाम् उपकारवन्तः । अचिन्त्यधामा त्वम् उपेतस्य दुरुत्तराणि कर्म्माणि समुच्छिनत्सि ॥ २९ ॥

युक्ता इति ॥ मुनयो व्यासादयः स्वशक्त्या निजयोगमहिम्ना युक्ताः । तथा हितोपदेशैर्विधिनिषेधवाक्यैः स्मृतीतिहासपुराणमुखेन प्रजानामुपकारवन्तः कृतोपकाराश्च । मोक्षप्रदस्तु तेषामन्येषां च त्वमेवेत्याह—समिति । अचिन्त्यधामाऽचिन्त्यमहिमा त्वमेव उपेतस्य शरणं प्राप्तस्य प्रपन्नस्य सम्बन्धीनि दुरुत्तराणि सुदुस्तराणि कर्माणि बन्धकानि पुण्यपापानि समुच्छिनत्सि नाशयसि । ते त्वत्रासमर्था एवेति भावः ॥ २९ ॥

हिन्दी—व्यास वाल्मीकि आदि मुनिजनों ने अपने योग की महिमा से स्मृति-इतिहास पुराणादि के द्वारा विधि-निषेधमय उपदेशों से लोगों का उपकार किया है किन्तु आपकी महिमा अचिन्तनीय है, आप तो अपनी शरण में आने वालों के अत्यन्त दुस्तर पाप-पुण्य कर्मों का नाश कर देने वाले हैं ॥ २९ ॥

विमर्श—अर्थात् व्यास वाल्मीकि आदि लोगों के पाप-पुण्य कर्मों का नाश करने में असमर्थ हैं, वे तो केवल उपदेष्टा हैं ।

संनिबद्धमपहर्तुमहार्यं भूरि दुर्गतिभयं भुवनानाम् ।
अद्भुताकृतिमिमामतिमायस्त्वं बिभर्षि करुणामय मायाम् ॥ ३० ॥

अन्वयः—अतिमायः हे करुणामय ! सन्निबद्धम् अहार्य भूरि भुवनानां दुर्गतिभयम् अपहर्तुम् अद्भुताकृतिम् इमाम् मायां बिभर्षि ॥ ३० ॥

संनिबद्धमिति ॥ अतिक्रान्तो मायां बन्धरूपामतिमायः । 'अस्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया' इति समासः हे करुणामय हे कृपालो ! संनिबद्धं स्वकर्मणा दृढबद्धमत एव, अहार्यमन्यैरनुच्छेद्यं भूरि प्रभूतं भुवनानां दुर्गतिभयं नरकभयम् । 'स्यान्नारक तु नरको निरयो दुर्गतिः स्त्रियाम्' इत्यमरः । अपहर्तुमद्भुताकृतिं विचित्ररूपामिमां मायां दृश्यमानां लीलाविग्रहरूपां बिभर्षि । अन्येषां कर्मानुबन्धी विग्रहपरिग्रहः । भवतस्तु परोपकारार्थं इत्यर्थः ॥ ३० ॥

हिन्दी—हे दयालु ! आप माया को जीतकर भी अपने पाप-पुण्य कर्मों से बँधे, दूसरों द्वारा दूर करने में अशक्य एवं भयङ्कर नरक यातना को दूर करने के लिए अत्यन्त अद्भुत दिखाई पड़ने वाली इस लीलामयी माया (विचित्र शरीर) को धारण करते हैं ॥ ३० ॥

न रागि चेतः परमा विलासिता
वधूः शरीरेऽस्ति न चास्ति मन्मथः ।

नमस्क्रिया चोषसि धातुरित्यहो
निसर्गदुर्बोधमिदं तवेहितम् ॥ ३१ ॥

अन्वयः—चेतः रागि न परमा विलासिता शरीरे वधूः अस्ति मन्मथः च न अस्ति उषसि धातुः नमस्क्रिया इति इदं तव ईहितम् अहो निसर्गदुर्बोधम् ॥ ३१ ॥

न रागीति ॥ हे देव ! चेतस्तव चित्तं रागि रागयुक्तं न । परमयोगित्वादिति भावः । तथापि परमा निरतिशया विलासिता शृङ्गारादिचेष्टाशीलता । भिक्षाटनादिषु विहरणेन तौर्यत्रिकव्यसनितया चेति भावः । किंच, शरीरेऽर्धाङ्गे वधूरस्ति । प्रसिद्धं चैतदिति भावः । तथापि मन्मथः कामश्च नास्ति । तस्य भस्मीकरणादिति भावः । किंच, उषसि प्रातः सध्यायां धातुर्ब्रह्मणो नमस्क्रिया । वन्दनम् स्वयं जगद्वन्द्यस्यापीत्यर्थः । इतीत्थं विरुद्धमिदमुक्तं तवेहितं चेष्टितं निसर्गतो दुर्बोधं दुराकलनीयम् । दुर्ग्रहमित्यर्थः । अदृष्टपूर्वत्वादिति भावः । वंशस्थं वृत्तम् ॥ ३१ ॥

हिन्दी—हे देव ! यद्यपि आप का चित्त रागविहीन है तथापि आपके शरीर में परम विलासिता दृष्टिगोचर होती है और क्या कहूँ, आप के तो शरीर ही में वधू है, किन्तु फिर भी कामदेव नहीं है । (यद्यपि आप की वन्दना समस्त जगत् करता है, तथापि) आप उषाकाल में ब्रह्मा को नमस्कार करते हैं, इस प्रकार आप की यह चेष्टा सचमुच बड़ी जटिल है और सहज दुर्बोध है ॥ ३१ ॥

विमर्श—वंशस्थ वृत्त ।

तवोत्तरीयं करिचर्मसाङ्गजं
ज्वलन्मणिः सारसनं महानहिः ।
स्रगास्यपङ्क्तिः शवभस्म चन्दनं
कला हिमांशोश्च समं चकासति ॥ ३२ ॥

अन्वयः—तव साङ्गजं करिचर्म उत्तरीयं ज्वलन्मणिः महान् अहिः सारसनम् आस्य पङ्क्तिः स्रक् शवभस्म चन्दनं हिमांशोः कला च समं चकासति ॥ ३२ ॥

तवेति ॥ हे देव । तव साङ्गजं सलोमकं करिचर्मोत्तरीय संव्यानम् । दुःस्पर्शमिति भावः । 'संव्यानमुत्तरीयं च' इत्यमरः । ज्वलन्मणिर्ज्वलद्रत्नो महानहिः सारसनं कटिभूषाविशेषः । योऽन्येषां प्राणहर इत्यर्थः । 'क्लीबे सारसनं चाथ पुंस्कट्यां शृङ्खलं त्रिषु' इत्यमरः । आस्यपङ्क्तिः कपालमाला स्रक् माल्यम् । शवभस्म चन्दनम् । उभयत्राप्यस्पृश्यमङ्गलं चेति भावः । किंच, एतानि वस्तूनि हिमांशोः कला च समं तुल्यतया चकासति दीप्यन्ते । त्वदाश्रयवशादरम्यस्यापि रम्यतेति किमशक्यं तवेति भावः ॥ ३२ ॥

हिन्दी—हे देव ! रोमयुक्त गजचर्म तुम्हारा परिधान है, चमकती हुई मणि से विभूषित महान् सर्प अपकी करधनी है । तुम कपालों की माला धारण करते हो,

चिता का भस्म चन्दन के स्थान पर लगाते हो, (किन्तु फिर भी) आपके अङ्ग के ये सारे आभूषण चन्द्रमा की कला के समान ही शोभा पाते हैं ।। ३२ ।।

विमर्श—अर्थात् आपके शरीर पर आश्रय पाकर ये अशुभ अमांगलिक एवं वीभत्स वस्तुएँ भी रम्य बन गई हैं । आपके लिए कुछ भी अशुद्ध एवं अमांगलिक नहीं है ।

अविग्रहस्याप्यतुलेन हेतुना समेतभिन्नद्वयमूर्ति तिष्ठतः ।
तवैव नान्यस्य जगत्सु दृश्यते विरुद्धवेषाभरणस्य कान्तता ।। ३३ ।।

अन्वयः—अविग्रहस्य अपि अतुलेन हेतुना समेतभिन्नद्वयमूर्ति तिष्ठतः तव एव जगत्सु विरुद्धवेषाभरणस्य कान्तता दृश्यते अन्यस्य न ।। ३३ ।।

अविग्रहस्येति ।। अविग्रहस्य वस्तुतोऽशरीरस्यापि सतोऽतुलेन दुर्बोधत्वादसदृशेन हेतुना । केनापि कारणेनेत्यर्थः । समेता संगता भिक्षा विलक्षणा च द्वयीद्विविधा स्त्रीपुंसात्मिका मूर्तिर्यस्मिन्कर्मणि तत् समेतभिन्नद्वयमूर्ति यथा यथा तिष्ठतः । अशरीरस्य शरीरमेव विरुद्धम् । तदपि नारीनरात्मकमिति किमतश्चित्रमस्तीति भावः । एवंविधस्य तवैव जगत्सु विरुद्धे वेषाभरणे पूर्वोक्ते यस्य तस्य विरुद्धवेषाभरणस्यापि सतः कान्तता रमणीयता दृश्यते । अन्यस्य न दृश्यते । तस्मादचिन्त्योऽसौ तव महिमेति भावः ।। ३३ ।।

हिन्दी—वस्तुतः आप तो अशरीरी हैं, तथापि किन्हीं असाधारणों से स्त्री और पुरुष दोनों की (अर्धनारीश्वर) मूर्ति आप ने धारण की है । संसार में इस प्रकार के परस्पर विरोधी स्वरूप और आभूषण के होते हुए भी आप के ही शरीर में मनोहरता है वह किसी दूसरे के शरीर में नहीं दिखायी पड़ता है ।। ३३ ।।

विमर्श—तात्पर्य यह है कि जो अशरीरी है उसका शरीर धारण करना एक विचित्र बात है । उस पर भी यह और भी विचित्रता है कि नर और नारी दोनों का शरीर एकत्र हो । इससे भी बढ़कर आश्चर्यजनक और क्या बात होगी ? किन्तु यहाँ तक भी नहीं है, ऐसी विरुद्ध वेश-भूषा होने पर भी आप के शरीर की जो मनोहरता है, वह अन्यत्र कहीं नहीं दिखाई पड़ती । निश्चय ही आप की महिमा अवर्णनीय है ।

आत्मलाभपरिणामनिरोधैर्भूतसङ्घ इव न त्वमुपेतः ।
तेन सर्वभुवनातिग लोके नोपमानमसि नाप्युपमेयः ।। ३४ ।।

अन्वयः—त्वं भूतसङ्घः इव आत्मलाभपरिणामनिरोधैः उपेतं न असि तेन् हे सर्वभुवनातिग ! लोके न उपमानम् नापि उपमेयः ।। ३४ ।।

आत्मेति ।। हे देव ! त्वं भूतसङ्घ इव शरीरादिसङ्घात इव । आत्मलाभपरिणामनिरोधैर्जन्मजरामरणैः । उपेतो युक्तो नासि । तेन कारणेन हे

सर्वभुवनातिग सर्वलोकोत्तर उपमीयतेऽनेनेत्युपमानं नासि । उपमीयते यत्तदुपमेयमपि नासि । न कश्चित्त्वाद् शोऽस्ति । त्वमपि नान्यसद्दृशः । अनन्यसाधारणत्वादित्यर्थः । वृत्तमुक्तम् ॥ ३४ ॥

हिन्दी—हे देव ! आप अन्य सामान्य प्राणियों की भाँति जन्म, जरा और मृत्यु के बंधनों से बंधे हुए नहीं है, इसीलिए इस संसार में न तो सम्पूर्ण भुवनों का अतिक्रमण करने वाले आप की तुलना किसी अन्य से की जा सकती है और न कोई आप की तुलना कर सकता है ॥ ३४ ॥

त्वमन्तकः स्थावरजङ्गमानां
त्वया जगत्प्राणिति देव विश्वम् ।
त्वं योगिनां हेतुफले रुणत्सि
त्वं कारणं कारणकारणानाम् ॥ ३५ ॥

अन्वयः—हे देव! त्वं स्थावरजङ्गमानाम् अन्तकः त्वया विश्वम् जगत्प्राणिति, त्वं योगिनां हेतुफले रुणत्सि त्वं कारणकारणानां कारणम् ॥ ३५ ॥

त्वमिति ॥ हे देव, त्वं स्थावरजङ्गमानामन्तकः संहर्ता । त्वया हेतुना विश्वं सर्वं जगत् प्राणिति जीवति । त्वं योगिनां हेतुः प्रवर्तकं कर्म फलं भोगश्च ते हेतुफले रुणत्सि निवर्तयसि । तेषां त्वमेव बन्धविमोचक इत्यर्थः । किंच, त्वं कारणानि भूतानि तेषां कारणानि भूतसूक्ष्माणि परमाणवो वा तेषां कारणकारणानां कारणं प्रकृत्यादिद्वारोत्पत्तिस्थानम् । अत्र सर्वत्र 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते । येन जातानि जीवन्ति । यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति' इति श्रुतिः प्रमाणमिति भावः ॥ ३५ ॥

हिन्दी—हे देव ! इस चराचर जगत के आप ही संहार करने वाले हो । आपके ही कारण से यह सम्पूर्ण विश्व जीवन धारण करता है, आप योगियों को उनके कर्मों का फल देने वाले हो, और आप ही समस्त जगत के कारणों के भी परम कारण हो ॥ ३५ ॥

रक्षोभिः सुरमनुजैर्दितेः सुतैर्वा
यल्लोकेष्वविकलमाप्तमाधिपत्यम् ।
पाविन्याः शरणगतार्तिहारिणे त-
न्माहात्म्यं भव भवते नमस्क्रियायाः ॥ ३६ ॥

अन्वयः—रक्षोभिः सुरमनुजैः दितेः सुतैः वा लोकेषु यत् अविकलम् आधिपत्यम् आप्तम् तत् हे भव शरणागतार्तिहारिणे भवते नमस्क्रियायाः पाविन्याः माहात्म्यम् ॥ ३६ ॥

रक्षोभिरिति ॥ रक्षोभी राक्षसैः राक्षसैः सुरमनुजैः सुराश्च मनुजाश्च तैर्देवमनुष्यैर्दितेः सुतैर्दैत्यैर्वा लोकेषु यदविकलं संपूर्णमाधिपत्यमाप्तं प्राप्तं, तत् हे

भव ! शरणगतानामार्तिहारिणे दु:खनाशकाय भवते तुभ्यं नमस्क्रियाया: । 'नम:-स्वस्ति—' इत्यादिना चतुर्थी । पाविन्या: पापहारिण्या माहात्म्यं सामर्थ्यम् । 'न कस्या उन्नत्यै भवति शिरसस्त्वय्यवनति:' इति भाव: । प्रहर्षिणीवृत्तम् ।। ३६ ।।

हिन्दी—हे देव ! इस संसार में राक्षसों ने, देवताओं ने, मनुष्यों ने, अथवा दैत्यों ने जो-जो साम्राज्य प्राप्त किए हैं, हे भव ! उन सब का श्रेय शरणागतों की विपदा को दूर करने वाली आप के प्रति की गयी प्रणति की पावन महिमा को ही दिया जा सकता है ।। ३६ ।।

विमर्श—यहाँ प्रहर्षिणी छन्द है ।। ३६ ।।

अथाष्टमूर्तिषु काश्चित्स्तुवन् वायुमूर्तिं तावदाह —

तरसा भुवनानि यो बिभर्ति ध्वनति ब्रह्म यत: परं पवित्रम् ।
परितो दुरितानि य: पुनीते शिवे तस्मै पवनात्मने नमस्ते ।। ३७ ।।

अन्वय:—य: तरसा भुवनानि बिभर्ति यत: पवित्रं परम् ब्रह्म ध्वनति य: परित: दुरितानि पुनीते हे शिव ! तस्मै पवनात्मने ते नम: ।। ३७ ।।

तरसेति ।। य: पवन: । तरसा बलेन । 'तरसी बलरंहसी' इति विश्व: । भुवनानि बिभर्ति प्राणात्मना धारयति । यतो यत्प्रेरणात् पवित्रं परं परमं ब्रह्म वर्णात्मकं ध्वनति नदति । 'सोदीर्णो मूर्ध्न्यभिहतो वक्त्रमापद्य मारुत: । वर्णाञ्जनयते' इति वचनात् । य: पवन: परितो दुरितानि पातकानि पुनीते शोधयति । नाशयतीति यावत् । हे शिव ! तस्मै पावयतीति पवनो वायु: स एवात्मा यस्य तस्मै पवनात्मने ते तुभ्यं नम: । वृत्तमुक्तम् ।। ३७ ।।

हिन्दी—{शङ्कर की आठ मूर्तियाँ कही जाती हैं, उनमें से वायु मूर्ति की स्तुति की गयी है—} जो वायु अपने वेग से भुवनों का प्राण संचार करने वाला है, जिसकी प्रेरणा से परम पवित्र वर्णात्मक बह्म उच्चरित होता है, जो सब ओर से पापों का शोधन करने वाला है, हे शिव ! आप के उस वायु स्वरूप को मेरा नमस्कार है ।। ३७ ।।

अथाग्निमूर्तिं स्तौति —

भवत: स्मरतां सदासने जयिनि ब्रह्ममये निषेदुषाम् ।
दहते भवबीजसन्ततिं शिखिनेऽनेकशिखाय ते नम: ।। ३८ ।।

अन्वय:—जयिनि ब्रह्ममये सदासने निषेदुषां भवत: स्मरतां भवबीजसन्तति दहते अनेकशिखाय शिखिने ते नम: ।। ३८ ।।

भवत इति ।। जयिनि जयशीले सर्वोत्कृष्टे ब्रह्ममये ब्रह्मप्रधाने । तत्प्राप्त्युपायत्वात् । सदासने सम्यगासने । योगासन इत्यर्थ: । निषेदुषामुपविष्टानां

भवतः स्मरतां भवन्तं ध्यायताम् । 'अधीगर्थ—' इत्यादिना शेषे कर्मणि षष्ठी । भवबीजसन्ततिं संसारनिदानकर्मसङ्घातं दहते भस्मीकुर्वतेऽनेकशिखाय बहुज्वालाय शिखिने वह्निमूर्तये ते तुभ्यं नमः ।। ३८ ।।

हिन्दी—सर्वोत्कृष्ट, विजयी, ब्रह्मप्राप्ति के साधक योगासन पर विराजमान आप को स्मरण करने वाले योगीजनों के संसार में जन्ममरणादि दुःखों के जनक कर्म जालों का जो दहन कर देता है, आपके उस अनेक ज्वालाओं से जाज्वल्यमान अग्नि स्वरूप को मेरा नमस्कार है ।। ३८ ।।

अथ जलमूर्तिं स्तौति —

आबाधामरणभयार्चिषा चिराय
प्लुष्टेभ्यो भव महता भवानलेन ।
निर्वाणं समुपगमेन यच्छते ते
बीजानां प्रभव नमोऽस्तु जीवनाय ।। ३९ ।।

अन्वयः—हे भव ! बीजानां प्रभवः आबाधामरणभयार्चिषा महता भवानलेन चिराय प्लुष्टेभ्यः समुपगमेन निर्वाणं यच्छते जीवनाय ते नमः अस्तु ।। ३९ ।।

आबाधेति ।। हे भव ! बीजानां प्रभव कारणभूत । 'जीवानाम्' इति पाठे तेषां त्वत्प्रतिबिम्बत्वादिति भावः । आबाधाऽध्यात्मिकादिदुःखं मरणं पञ्चत्वं ताभ्यां भयं तदेवार्चिर्यस्य तेन महता भवालेन संसाराग्निना चिराय चिरं प्लुष्टेभ्यो दग्धेभ्यः समुपगमेन संसेवया निर्वाणं संतापशान्तिं यच्छते ददते जीवयतीति जीवनं तस्मै तीवनाय जलात्मने ते तुभ्यं नमः ।। ३९ ।।

हिन्दी—हे भव ! संसारबीज के आदि कारण ! आध्यात्मिक, आधिदैविक, एवं आधिभौतिक - विविध दुःखों तथा मरणादि के भय रूपी लपटों से भयङ्कर भवरूपी अग्नि से अनन्त काल से जले हुए जीवों को अपनी सेवा द्वारा शान्ति प्रदान करने वाली एवं जीवन दान करने वाली आप की जो जलात्मिका मूर्ति है, मैं उसको नमस्कार करता हूँ ।। ३९ ।।

इदानीं नभोमूर्तिं स्तौति —

यः सर्वेषामावरीता वरीयान् सर्वैर्भावैर्नावृतोऽनादिनिष्ठः ।
मार्गातीतायेन्द्रियाणां नमस्तेऽविज्ञेयाय व्योमरूपाय तस्मै ।। ४० ।।

अन्वयः—वरीयान् यः सर्वेषाम् आवरीता सर्वैः भावैः न आवृतः अनादिनिष्ठः इन्द्रियाणां मार्गातीताय अविज्ञेयाय तस्मै व्योमरूपाय ते नमः ।। ४० ।।

य इति ।। भवेत्यनुवर्तते । भवत्यस्मादयं प्रपञ्च इति भवस्तत्सम्बुद्धौ । सकलजगज्जनकेति यावत् । वरीयानुरुतरः । विभुरित्यर्थः । 'प्रियस्थिर—' इत्यादिना

'उरु' शब्दस्य वरादेशः । यस्त्वं सर्वेषां वस्तूनां आवरीताऽऽच्छादयिता । वृणोते-स्तृच्प्रत्ययः । सर्वैर्भावैः पदार्थैर्नावृतः केनापि कदाचिदप्यनावृतः, स्वयं व्यापकत्वा-दिति भावः । अविद्यमाने आदिनिष्ठे उत्पत्तिनाशौ यस्यासावनादिनिष्ठो नित्यः । 'निष्ठानिष्पत्तिनाशान्ताः' इत्यमरः । इन्द्रियाणां चक्षुरादीनां मार्गातीतायातीन्द्रियाय । अत एव, अविज्ञेयायापरिच्छेद्याय तस्मै व्योमरूपाय ते तुभ्यं नमः ।। ४० ।।

हिन्दी—हे भव ! जो विभु है, सम्पूर्ण जगत् का आच्छादन करने वाला है, जो स्वयं किसी से आवृत नहीं होता, जिसका न आदि है न अन्त है, जो इन्द्रियों से अतीत है, अविज्ञेय है, आप के उस आकाश स्वरूप को मैं नमस्कार करता हूँ ।। ४० ।।

अणीयसे विश्वविधारिणे नमो नमोऽन्तिकस्थाय नमो दवीयसे ।
अतीत्य वाचां मनसां च गोचरं स्थिताय ते तत्पतये नमो नमः ।। ४१ ।।

अन्वयः—अणीयसे विश्वविधारिणे ते नमः नमः अन्तिकस्थाय दवीयसे नमः वाचां मनसां च गोचरम् अतीत्य स्थियाय तत्पतये ते नमः नमः ।। ४१ ।।

अणीयस इति ।। हे भवेत्यनुवर्तते । हे भव ! अणीयसे सूक्ष्मतराय तथापि विश्वधारिणे जगद्धारकाय ते तुभ्यं नमः । अन्तिकस्थायान्तर्यामितया सन्निकृष्टाय सते । तथापि दवीयसे दुर्ग्रहत्वाद्दूरतराय ते तुभ्यं नमः । वाचां मनसां च गोचरं विषयं अतीत्य स्थितायावाङ्मनसगोचराय । तत्पतये तेषां वाङ्मनसामध्यक्षाय । तदध्य-क्षस्तैरेव न दृश्यत इति विरोधः । ते तुभ्यं नमो नमः । 'चापले द्वे भवत इति वक्तव्यम्' इति द्विरुक्तिः । 'संभ्रमेण प्रवृत्तिश्चापलम्' इति काशिका । भक्त्युद्रेकाच्च संभ्रमः । विरोधाभासोऽलङ्कार : ।। ४१ ।।

हिन्दी—हे भव ! आप अणु से भी अधिक सूक्ष्मतर होते हुए भी निखिल विश्व के धारण करने वाले हैं, आप को मेरा नमस्कार है । आप अन्तर्यामी होने के कारण समीपस्थ हैं किन्तु इन्द्रियों से दुर्विगाह्य होने के कारण दूरतर भी हैं, आप को मेरा नमस्कार है । आप वचन से एवं मन से अगोचर होते हुए भी वाणी और मन के अधिपति हैं, आप को मेरा नमस्कार है, नमस्कार है ।। ४१ ।।

विमर्श—यहाँ विरोधाभास अलङ्कार है ।

असंविदानस्य ममेश संविदां तितिक्षितुं दुश्चरितं त्वमर्हसि ।
विरोध्य मोहात्पुनरभ्युपेयुषां गतिर्भवानेव दुरात्मनापि ।। ४२ ।।

अन्वयः—संविदां ईश असंविदानस्य मम दुश्चरितं तितिक्षितुम् त्वम् अर्हसि मोहात् विरोध्य पुनः अभ्युपेयुषां दुरात्मनाम् अपि भवान् एव गतिः ।। ४२ ।।

असंविदानस्येति ।। संविदां ज्ञानानामीश । 'ईशानः सर्वविद्यानाम्' इति श्रुते-रिति भावः । 'प्रेक्षोपलब्धिश्चित्संवित्' इत्यमरः । असविदानस्याज्ञानस्य । 'समो

गम्यृच्छि—' इत्यादिना विदे: संपूर्वादकर्मकाच्छानच्प्रत्यय: । मम दुश्चरितं शस्त्रप्रयोगरूपं दुश्चेष्टितं तितिक्षितुं सोढुम् । तिजे: सन्नन्तात्तुमुन्प्रत्यय: । त्वमर्हसि योग्योऽसि । ननु तव महानपराध: कथं सोढव्यस्तत्राह — विरोध्येति । मोहादज्ञानात् विरोध्य वैरमुत्पाद्य पुनरभ्युपेयुषां पश्चाच्छरणागतानां दुरात्मनामपि भवानेव गति: । त्वं हि शरणागतानामपराधं न गणयसीत्यर्थ: ।। ४२ ।।

हिन्दी—हे समस्त विद्याओं के स्वामिन् ! मेरे जैसे अज्ञानी के शस्त्र प्रयोग रूपी महान् अपराध को आप क्षमा करें । अज्ञान से विरोध पैदा कर और फिर से शरण में आने वाले दुष्ट-दुरात्माओं के भी आय ही एकमात्र शरणदाता हैं ।। ४२ ।।

संप्रति वरं याचते —

आस्तिक्यशुद्धमवत: प्रियधर्म धर्मं
धर्मात्मजस्य विहितागसि शत्रुवर्गे ।
संप्राप्नुयां विजयमीश यया समृद्ध्या
तां भूतनाथ विभुतां वितराहवेषु ।। ४३ ।।

अन्वय:—हे प्रियधर्म! आस्तिक्यशुद्धं धर्मम् अवत: धर्मात्मजस्य विहितागसि शत्रुवर्गे हे ईश ! यया समृद्ध्या विजयं सम्प्राप्नुयां हे भूतनाथ ! आहवेषु तां विभुतां वितर ।। ४३ ।।

आस्तिक्येति ।। प्रियो धर्मो यस्येति प्रियधर्म: । 'समासान्तो विधिरनित्य:' इति न समासान्तोऽनिच्प्रत्यय: । परलोके मतिरस्तीत्यास्तिक: पारलौकिक: । 'अस्ति नास्ति दिष्टम् —' इति ठक् । तस्य भाव आस्तिक्यं विश्वासस्तेन शुद्धं विमलं धर्मं वैदिकाचारम् । अवत: पलायतो धर्मात्मजस्य युधिष्ठिरस्य विहितागसि कृतापराधे शत्रुवर्गे विषये हे ईश ! यया समृद्ध्याऽस्त्रवैभवेन विजयं संप्राप्नुयां भजेयम् । हे भूतनाथ, आहवेषु तां विभुतां विभूतिमस्त्रविद्यां वितर देहि ।। ४३ ।।

हिन्दी—{अब अर्जुन अपनी अभिलाषा की याचना करते हैं—} हे धर्म की मर्यादा रखने वाले ! आस्तिक भावना से विशुद्ध वैदिक सनातन धर्म की रक्षा करने वाले हमारे अग्रज धर्मराज युधिष्ठर के अपकारी शत्रुओं के ऊपर हे ईश ! हम जिस शस्त्रास्त्र समृद्धि के द्वारा विजय प्राप्त कर सकें, हे भूतनाथ ! युद्ध के लिए मुझे वैसी समृद्धि आप प्रदान करें । (बस यही मेरी प्रार्थना है) ।। ४३ ।।

इति निगदितवन्तं सूनुमुच्चैर्मघोन:
प्रणतशिरसमीश: सादरं सान्त्वयित्वा ।
ज्वलदनलपरीतं रौद्रमस्त्रं दधानं
धनुरुपपदमस्मै वेदमभ्यादिदेश ।। ४४ ।।

अन्वय:—इति उच्चै: निगदितवन्तं प्रणतशिरसं मघोन: सूनुम् ईश: सादरं

सान्त्वयित्वा अस्मै ज्वलदनलपरीतं रौद्रम् अस्त्रं दधानं धनुः उपपदं वेदम् अभ्यादिदेश।

इतीति ।। इत्युच्चैर्निगदितवन्तं प्रणतशिरसं मघोन इन्द्रस्य सूनुमर्जुनम् । ईशो महादेवः सादरं तथा तथा सान्त्वयित्वोपसान्त्व्य, अस्मै अर्जुनाय ज्वलताऽनलेन तेजसा परीतं व्याप्तं रौद्रं रुद्रदेवताकं पाशुमतमस्त्रं दधानं धनुरुपपदं 'धनुः शब्दोपपदं वेदम्' । 'धनुर्वेदमित्यर्थः । अभ्यादिदेश ददौ । अध्यापयामासेत्यर्थः । 'धनुरुपपदं वेदम्' इत्यत्र धनुरुपपदत्व 'वेद' शब्दस्य न तु संज्ञिनस्तदर्थस्येति संज्ञायाः संज्ञिगतत्वाभावादवाच्यवचनदोषमाहुरालङ्कारिकाः । तदुक्तम् — 'यदेवावाच्यवचनमवाच्यवचनं हि तत्' इति । समाधानं तु 'धनुः' शब्दविशेषितेन 'वेद' शब्देन । शब्दपरेणेत्यर्थः । परोपदेशयोग्यो धनुर्वेदो लक्ष्यत इति कथञ्चित्संपाद्यम् ।। ४४ ।।

हिन्दी—इस प्रकार उच्चस्वर से निवेदन करते हुए पैरों पर पड़े इन्द्रपुत्र अर्जुन को भगवान् शङ्कर ने आदरपूर्वक सान्त्वना देकर जलती हुई अग्नि की लपटों से चारों ओर व्याप्त शरीरधारी पाशुपत नामक अस्त्र को धारण करने वाले धनुर्वेद की शिक्षा प्रदान की ।। ४४ ।।

विमर्श—अर्थात् शङ्कर जी ने अपने भयङ्कर पाशुपत नामक अस्त्र को प्रदान कर उसके चलाने की शिक्षा भी अर्जुन को दे दी । यहाँ मालिनी छन्द है ।

स पिङ्गाक्षः श्रीमान् भुवनमहनीयेन महसा
तनुं भीमां बिभ्रत्त्रिगुणपरिवारप्रहरणः ।
परीत्येशानं त्रिः स्तुतिभिरुपगीतः सुरगणैः
सुतं पाण्डोर्वीरं जलदमिव भास्वानभिययौ ।। ४५ ।।

अन्वयः—पिङ्गाक्षः श्रीमान् भुवनमहनीयेन महसा भीमां तनुं बिभ्रत् त्रिगुणपरिवारप्रहरणः सः सुरगणैः स्तुतिभिः उपगीतः ईशानं त्रिःपरीत्य वीरं पाण्डोः सुतं भास्वान् जलदम् इव अभिययौ ।। ४५ ।।

स इति ।। पिङ्गाक्षः पिङ्गलाक्षः श्रीमान् शोभावान् भुवनमहनीयेन लोकपूज्येन महसा तेजसा भीमां तनुं बिभ्रत् । त्रिगुणस्त्रिशिखः परिवारः आकारो यस्य तत् त्रिगुणपरिवारं त्रिशूलं तदेव प्रहरणमायुधं यस्य स तथोक्तः । सूर्यपक्षे तु—गुणत्रयपरिवारस्त्रय्यात्मक इति योज्यम् । स धनुर्वेदः सुरगणैः स्तुतिभिरुपगीतः सन् । ईशानं शिवं त्रिस्त्रिवारम् । 'द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच्' इति सुच्प्रत्ययः । परीत्य प्रदक्षिणीकृत्य वीरं पाण्डोः सुतमर्जुनम् । भास्वान् सूर्यो जलदमिव । अभिययौ । शिखरिणीवृत्तम् ।। ४५ ।।

हिन्दी—पिंगल नेत्रधारी, अत्यन्त शोभानमान्, समस्त लोक द्वारा पूजनीय, तेज से जाज्वल्यमान एवं भयङ्कर शरीर धारण किए हुए, त्रिमूर्तिधारी सूर्य जिस प्रकार से मेघमण्डल में प्रवेश करते हैं ठीक उसी प्रकार से पीत वर्ण, शोभासम्पन्न, परम तेजस्विता के कारण भयङ्कर, तीन फाँक वाले त्रिशूल से सम्बन्ध रखने वाली

यह धनुर्विद्या, (पाशुपतास्त्र के प्रयोग की विद्या), देवगणों द्वारा स्तुतियों से गायन किये जाते हुए, भगवान् शङ्कर की तीन बार परिक्रमा करके वीरवर अर्जुन के सन्मुख उपस्थित हो गई ।। ४५ ।।

विमर्श—यहाँ उपमा अलङ्कार है एवं शिखरिणी छन्द है ।

अथ शशधरमौलेरभ्यनुज्ञामवाप्य
त्रिदशपतिपुरोगाः पूर्णकामाय तस्मै ।
अवितथफलमाशीर्वादमारोपयन्तो
विजयि विविधमस्त्रं लोकपाला वितेरुः ।। ४६ ।।

अन्वयः—अथ त्रिदशपतिपुरोगाः लोकपालाः शशधरमौलेः अभ्यनुज्ञाम् अवाप्य पूर्णकामाय तस्मै अवितथफलम् आशीर्वादम् आरोपयन्तः विजयि विविधम् अस्त्रं वितेरुः ।। ४६ ।।

अथेति ।। अथ शशधरमौलिवरप्रदानानन्तरं त्रिदशपतिपुरोगा इन्द्रादयो लोकपालाः शशधरमौलेः शम्भोः अभ्यनुज्ञामवाप्य पूर्णकामाय तस्मै पाण्डवाय अवितथफलममोघफलम् । आशीर्वादमारोपयन्तः प्रयुञ्जाना विजयि जयशीलं विविधं नानाविधम् अस्त्रमैन्द्रादिकं वितेरुर्ददुः । मालिनीवृत्तम् ।। ४६ ।।

हिन्दी—तदनन्तर इन्द्र प्रभृति लोकपालों ने चन्द्रशेखर शङ्कर की आज्ञा प्राप्त कर पूर्णकाम अर्जुन को अमोघ फलदायी आशीर्वाद देते हुए विजय प्रदान कराने वाले अनेकानेक अस्त्र प्रदान किए ।। ४६ ।।

विमर्श—यहाँ मालिनी छन्द है ।

असंहार्योत्साहं जयिनमुदयं प्राप्य तरसा
धुरं गुर्वीं वोढुं स्थितमनवसादाय जगतः ।
स्वधाम्ना लोकानां तमुपरि कृतस्थानममरा—
स्तपोलक्ष्म्या दीप्तं दिनकृतमिवोच्चैरुपजगुः ।। ४७ ।।

अन्वयः—तरसा जयिनम् उदयम् प्राप्य असंहार्योत्साहं जगतः अनवसादाय गुर्वीं धुरम् वोढुं स्थितं स्वधाम्ना लोकानाम् उपरि कृतस्थानम् दिनकृतम् इव तपोलक्ष्म्या दीप्तं तम् अमराः उच्चैः उपजगुः ।। ४७ ।।

असंहार्योत्साहमिति ।। तरसा बलेन वेगेन च जयिनं जयशीलमुदयमस्त्रलाभरूपमभ्युदयम् । अन्यत्र,—उदयाद्रिं च प्राप्य, असंहार्योत्साहं संहर्तुमशक्यमुद्योगं जगतोऽनवसादाय क्षेमाय गुर्वीं धुरं दुष्टनिग्रहभरं तमोपसंहाररूपं च भारं वोढुं स्थितम् । स्वधाम्ना स्वतेजसा लोकानामुपरि कृतस्थानं कृतपदम् । अन्यत्र,—उपरि वर्तमानम् । तपोलक्ष्म्या दीप्तं तं पाण्डवम् । अमरा इन्द्रादयो दिनकृतं सूर्यमिवोच्चैरुपजगुः साधु महाभाग्योऽसीति तुष्टुवुः । शिखरिणीवृत्तम् ।। ४७ ।।

हिन्दी—अपने बल एवं वेग से विजयशील, उदयाचल को प्राप्त, दूसरों द्वारा समाप्त न होने वाले उत्साह से युक्त, संसार के कल्याण के लिए अन्धकार रूपी गम्भीर भार को उतारने के लिए उद्यत, अपने तेज से सम्पूर्ण लोकों के ऊपर विराजमान सूर्य के समान अपने बल से विजयशील, पाशुपत नामक अस्त्र की प्राप्ति से अभ्युदय को प्राप्त, दूसरों द्वारा भंग न होने वाले उत्साह से पूर्ण, संसार के कल्याण के लिए दुष्ट-दुरात्माओं के विनाश रूप गम्भीर कार्य को पूरा करने के लिए उद्यत, अपने अदम्य तेज से सम्पूर्ण लोक में अद्वितीय एवं तपस्या की आभा से चमकते हुए अर्जुन का देवताओं ने उच्च स्वर के साथ यशोगान किया ।। ४७ ।।

विमर्श—यहाँ शिखरिणी छन्द है ।

व्रज जय रिपुलोकं पादपद्मानतः सन्
गदित इति शिवेन श्लाघितो देवसङ्घैः ।
निजगृहमथ गत्वा सादरं पाण्डुपुत्रो
धृतगुरुजयलक्ष्मीर्धर्मसूनुं ननाम ।। ४८ ।।

इति भारविकृतौ महाकाव्ये किरातार्जुनीयेऽष्टादशः सर्गः ।।१८ ।।



अन्वयः—शिवेन व्रज रिपुलोकं जय इति गदितः पादपद्मानतः देवसङ्घैः श्लाघितः धृतगुरुजयलक्ष्मीः पाण्डुपुत्रः निजगृहं गत्वा अथ सादरं धर्मसूनुम् ननाम ।।

व्रजेति ।। शिवेन व्रज स्वपुरं गच्छ, रिपुलोकं जयेति गदित उक्तः । यतः पादपद्मानतः शिवपादपङ्कजानतः सन्, तथा देवसङ्घैः श्लाघितः स्तुतोऽत एव धृता गुर्वी जयलक्ष्मीर्येन स पाण्डुपुत्रोऽर्जुनो निजगृहं स्वाश्रमं गत्वा प्राप्य, अथ सादरं यथा तथा धर्मसूनुं युधिष्ठिरं ननाम नमश्चक्रे ।। ४८ ।।

इति श्रीमहामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितायां किरातार्जुनीयकाव्य व्याख्यायां घण्टापथसमाख्यायां अष्टादशः सर्गः समाप्तः ।।१८ ।।



हिन्दी—भगवान् शङ्कर द्वारा यह कहने पर कि—'जाओ' और अपने शत्रुओं पर विजय प्राप्त करो । उनके चरणकमलों में शिर झुकाकर, देवताओं द्वारा प्रशंसित एवं वरप्राप्ति रूपिणी महती विजयलक्ष्मी को धारण कर पाण्डुपुत्र अर्जुन ने अपने घर पहुँचकर अपने ज्येष्ठ भ्राता धर्मपुत्र युधिष्ठिर को आदरपूर्वक प्रणाम किया ।। ४८ ।।

।। इस प्रकार श्रीभारविकृत किरातार्जुनीयम् महाकाव्य के अट्ठारहवें सर्ग की डॉ सुधाकर मालवीय कृत हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ।। १८ ।।



किरातार्जुनीयव्याख्यायां प्रमाणत्वेन समुपन्यस्तानां ग्रन्थानां ग्रन्थकाराणां च नामानि

अगस्त्य: १२.४०
अमर: १.१, १.२, १.७ इत्यादि,
आगम: १.४६, ३.३७, ९.३, इत्यादि,
आलङ्कारिका: १.१, १८.४४
कामन्दक: १.३१, २.६, २.१० इत्यादि
काव्यप्रकाश: १.८, १.१२, १.३९ इत्यादि
काशिका १.३, १.६, १.११ इत्यादि
केशव: २.२१, ८.२४, ९.११ इत्यादि
कैयट: १.१, १.१०, ८.११ इत्यादि
क्षीरस्वामी १.९, १.२१, १०.३
गणव्याख्यानम् २.१७, २.३०, ३.६
दण्डी १.४६, ८.४४
दशरूपकम् ८.१३, ९.२६, ९.४५
धन्वन्तरि: ४.२८,
नारद: १.१३
निरुक्तम् ७.१०
नीतिवाक्यामृतम् १.२, १.४, १.२६ इत्यादि
नृत्यविलास: ८.५३
नैषधम् ८.४९
न्याय: १.२४, २.५
न्यासोद्द्योत: २.१७
पालकाप्यम् ७.८
पुराणम् २.२६
प्रकाशवर्ष: ४.१०
भारतम् ५.३०, १३.१०, १४.१०
भाष्यकार: १.१, १.१०, ८.११ इत्यादि
मनु: १.१७, २.६, १४.६ इत्यादि
माघ: ५.३, ८.४९
मातङ्ग: ४.३३
मार्तण्ड: ८.१५
यादव: १.३४, ३.११, ७.४ इत्यादि
रघुवंशम् ८.४९
रघुवंशसञ्जीविनी ११.७६
रसरत्नाकर: ९.७२
रसिका: १२.४०
रामायणम् १.९
रुद्रट: ५.८
वाग्भट: ५.८
वात्स्यायन: ९.४७
वामन: २.२७, २.३७, ४.२४ इत्यादि
विद्याधर: ४.३८
विश्व: १.८, १.९, १.२४ इत्यादि
वैजयन्ती १.१३, २.८, ४.३६ इत्यादि
वैद्यकम् ५.११
व्यक्तिविवेक: ३.२१
शब्दार्णव: ८.३१
शाकटायन: ३.३५
शाश्वत: २.२२, ३.५, ७.२७ इत्यादि
सज्जन: १३.४५, १४.२७, १६.५९
सर्वस्वकार: १.१८, ९.१५
सामुद्रिका: ६.१
स्मरणम् (स्मृति:) १.१३, ४.२४, ६.२९ इत्यादि
हलायुध: २.३, ४.३८, ७.१३
हैम: १.२९, ५.४९, १०.३

किरातार्जुनीयस्य १५ सर्गे स्थितानां चित्रबन्धानामुद्धार:

गोमूत्रिकाबन्ध: (१२ श्लोक:)

ना सु रो यं न वा ना गो ध र सं स्थो न रा क्ष स:

ना सु खो यं न वा भो गो ध र णि स्थो हि रा ज स:

सर्वतोभद्र: (२५ श्लोक:)

दे	वा	का	नि	नि	का	वा	दे
वा	हि	का	स्व	स्व	का	हि	वा
का	का	रे	भ	भ	रे	का	का
नि	स्व	भ	व्य	व्य	भ	स्व	नि
नि	स्व	भ	व्य	व्य	भ	स्व	नि
का	का	रे	भ	भ	रे	का	का
वा	हि	का	स्व	स्व	का	हि	वा
दे	वा	का	नि	नि	का	वा	दे

अर्धभ्रमक: (२७ श्लोक:)

स	स	त्व	र	ति	दे	नि	त्यं
स	द	रा	म	र्ष	ना	शि	नि
त्व	रा	धि	क	क	सं	ना	दे
र	म	क	त्व	म	क	र्ष	ति

— ❧ ❖ ❧ —

श्लोकानुक्रमणिका

	स०	श्लो०
अकृत्रिमप्रेमरसाभिरामं	३	३७
अखण्डमाखण्डल	१	२९
अखिलमिदमनुष्य	५	२१
अगूढहासस्फुटदन्त	८	३६
अग्रसानुषु नितान्त	९	७
अचक्रमत सपल्लवां	१०	४९
अचित्ततायामपि	१७	४७
अचिरेण परस्य	२	९
अजन्मा पुरुषस्तावत्	११	७०
अजिह्ममोजिष्ठममोघ	१४	५७
अणीयसे विश्वविधा	१८	४१
अणुरप्युपहन्ति	२	५१
अतिपातितकाल	२	४२
अतिशयितवनान्तर	१०	८
अतीतसंख्या विहिता	१४	१०
अत्यर्थं दुरुपसदादुपेत्य	७	९
अथ कृतकविलोभनं	१०	१७
अथ क्षमामेव	१	४४
अथ चेदवधि:	२	१६
अथ जयाय नु मेरुमही	५	१
अथ दीपितवारिवाहवर्त्मा	१३	२०
अथ दीर्घतमं तम:	१३	३०
अथ परिमलजामवाप्य	१०	१
अथ भूतभव्यभवदीश	१२	१९
अथ भूतानि वार्त्रघ्न	१५	१
अथ वासवस्य वचनेन	१२	१
अथ विहितविधेयै	१६	६२
अथवैष कृतज्ञयेव पूर्वं	१३	५
अथ शशधरमौलेरभ्य	१८	४६
अथ स्फुरन्मीनविधूत	८	२७
अथ स्वमायाकृतमन्दिरो	८	८
अथ हिमशुचिभस्म	१८	१५
अथाग्रे हसता साचि	१५	७
अथापदामुद्धरणक्षमेषु	१७	१
अथाभिपश्यन्निव	३	५६
अथामर्षान्निसर्गाच्च	११	१
अथोच्चकैरासनत:	२	५७
अथो शरस्तेन मदर्थ	१४	१७
अथोष्णभासेव सुमेरु	३	३२
अदीपितं वैद्युतजातवेदसा	४	२९
अद्य क्रिया: कामदुघा:	३	६
अधरीचकार च विवेक	६	२१
अधिगम्य गुह्यकगणादिति	६	३८
अधिरुह्य पुष्पभरनम्रशिखै:	६	१७
अनादरोपात्तधृतैक	१४	३६
अनाप्तपुण्योपचयै:	३	५
अनामृशन्त: कचिदेव	१७	३३
अनायुधे सत्वजिघांसिते	१४	१६
अनारतं तेन पदेषु	१	१५
अनारतं यौ मणिपीठ	१	४०
अनिर्जयेन द्विषतां	११	७१
अनुकूलपातिनमचण्ड	६	२५

	स०	श्लो०
अनुकूलमस्य च विचिन्त्य	१२	४३
अनुचरेण धनाधिपतेरथो	५	१६
अनुजगुरथ दिव्यं	३	६०
अनुजानुमध्यवसक्त	१२	२२
अनुद्धताकारतया	३	३
अनुपालयता मुदे	२	१०
अनुभाववता गुरु स्थिर	१३	१५
अनुशासतमित्यना	२	५४
अनुसानु पुष्पितलता०	६	१
अनुहेमवप्रमरुणैः समतां	६	८
अनेकराजन्यरथाश्व	१	१६
अनेन योगेन विवृद्ध	३	२८
अन्तकः पर्यवस्थाता	११	१३
अन्तिकान्तिकगतेन्दु	९	२१
अन्यदीयविशिखे न	१३	४६
अन्यदोषमिव स स्वकं	१३	४८
अन्योन्यरक्तमनसा	९	७४
अपनेयमुदेतुमिच्छता	२	३६
अपयन्धनुषः शिवान्तिक	१३	२३
अपरागसमीरणे	२	५०
अपवजितविप्लवे	२	२६
अपवादादभीतस्य	११	५६
अपश्यद्भिरिवेशानं	१५	२
अपहस्येऽथवा सद्भिः	११	६८
अप्राकृतस्याहव	१६	२४
अभितस्तं पृथासूनुः	११	८
अभिद्रोहेण भूतानाम्	११	२१
अभिनयमनसः	१०	४२
अभिभवति मनः कदम्ब	१०	२३
अभिभवोदितमन्यु	१८	७
अभिमानधनस्य	२	१९
अभिमानवतो	२	१३
अभिमुनि सहसा	१०	४५
अभियोग इमान	२	४६
अभिरश्मिमालि विमलस्य	१२	२
अभिलषत उपायं	१७	६४
अभिवर्षति योऽनु	२	३१
अभूतमासज्य विरुद्ध	१४	१९
अभ्यघानि मुनिचापलात्	१३	६३
अभ्यायतः सन्ततधूम	१६	६
अमर्षिणा कृत्यमिव	१४	६३
अमी पृथुस्तम्बभृतः	४	२६
अमी समुद्भूतसरोज	४	३५
अयथार्थक्रियारम्भैः	११	५२
अयमच्युतश्च वचनेन	१२	३५
अयमसौ भगवानुत	१८	९
अयमेव मृगव्यसत्रकाम	१३	९
अयं वः क्लैव्यमापन्नाम्	१५	१९
अलकाधिपभृत्यदर्शितं	३	५९
अलंकृतानामृजुतो	१७	२९
अलङ्घ्यं तत्तदुद्वीक्ष्य	११	६०
अलङ्घ्यत्वाज्जनैः	११	४०
अलमेष विलोकितः	५	१७
अलसपदमनोरमं प्रकृत्या	१०	६०
अवचयपरिभोगवन्ति	१०	५
अवद्यन्पत्रिणः शंभोः	१५	३७
अवधूतपंकजपराग	६	३
अवधूयारिभिर्नीता	११	५८
अवन्ध्यकोपस्य	१	३३
अवरुग्णतुङ्गसुरदारु	६	५
अवलीढसनाभिरश्वसेनः	१३	११
अवहितहृदयो विधाय	२	५८
अविग्रहस्याप्यतुलेन	१८	३३
अविज्ञातप्रबन्धस्य	११	४३
अवितृप्ततया तथापि	२	२९
अविभावितनिष्क्रम	१३	२७

	स०	श्लो०
अविमृष्यमेतदभिलष्यति	६	४४
अविरतोज्झितवारि	५	६
अविरलफलिनीवन	१०	२८
अविरलमलसेषु	१०	४३
अविलङ्घ्यविकर्षणम्	३	५७
अविवेकवृथाश्रमा	१३	२९
असकलनयनेक्षितानि	१०	५९
असक्तमाराधयतो	१	११
असमापितकृत्य	२	४८
असावनास्थापरया	४	३४
असिः शरा वर्म धनुश्च	१४	२०
असृङ्नदीनामुपचीय	१६	१०
असंविदानस्य ममेश	१८	४२
असंशयं न्यस्तमुपान्त	८	३८
असंशयालोचितकार्य	३	३३
असंहार्योत्साहं जयिन	१८	४७
अस्त्रवेदमधिगम्य तत्वतः	१३	६२
अस्त्रवेदविदयं मही	१३	६७
अस्त्रैः समानामति	१७	३४
अस्मिन्नगृह्यत पिनाक	५	३३
अस्मिन्यशः पौरुष	१६	९
अंशुपाणिभिरतीव	९	३
अंसस्थलैः केचिद	१६	३०
अंसाववष्टब्धनतौ	१६	२१
आकारमाशंसितभूरि	३	२७
आकीर्णं बलरजसा	७	३६
आकीर्णा मुखनलिनै	७	१८
आकुमारमुपदेष्टु	१३	४३
आकुलश्चलपतत्रि	९	८
आक्षिप्तचापावरणेषु	१७	५९
आक्षिप्तसम्पातमपेत	१६	४१
आक्षिप्यमाणं रिपुभिः	३	५०
आघट्टयामास गता	१७	३८

	स०	श्लो०
आघ्राय क्षणमतितृष्य	७	३४
आतपे धृतिमता	९	३०
आतिथेयीमथासाद्य	११	९
आत्मनीनमुपतिष्ठते	१३	६९
आत्मलाभपरिणाम	१८	३४
आदृता नखपदैः	९	४९
आबाधामरणभया	१८	३९
आमत्तभ्रमरकुला	७	१०
आमोदवासितचला	९	७७
आयस्तः सुरसरिदोघ	७	३२
आरोढुः समवनतस्य	७	३३
आशंसितापचिति	६	४६
आशु कान्तमभिसारित	९	३८
आसक्तभरनीकाशै	११	५
आशक्ता धूरियं	११	७७
आसन्नद्विपपदवीमदा	७	२४
आसादिता तत्प्रथमं	१६	२७
आसुरे लोकवित्रास	१५	२८
आसेदुषां गोत्रभिदो	१८	१८
आस्तिक्यशुद्धमवतः	१८	४३
आस्थामालम्ब्य नीतेषु	१५	४
आस्थितः स्थगित	९	९
आहिते नु मधुना	९	६९
इच्छतां सह वधूभिः	९	१३
इतरेतरानभिभवेन	६	३४
इति कथयति तत्र	४	३७
इति गां विधाय विरतेषु	१२	३२
इति चालयन्नचलसानु	१२	५२
इति तानुदारमनुनीय	१२	४०
इति तेन विचिन्त्य चाप	१३	१४
इति दर्शितविक्रियं	२	२५
इति निगदितवन्तं	१८	४४
इति ब्रुवाणेन महेन्द्र	३	३०

	स०	श्लो०
इति विविभ्रमुदासे	१६	६३
इति विषमितचक्षुषा	१०	५६
इति शासति सेनान्यां	१५	२९
इतीरयित्वा गिरमात्त	१	२६
इतीरिताकूतमनील	१४	२४
इत्थं विहृत्य वनिताभि	८	५५
इत्युक्तवन्तं परिरभ्य	११	८०
इत्युक्तवन्तं व्रज साधये	३	२४
इत्युक्तवानुक्तिविशेष	३	१०
इत्युक्त्वा सपदि हितं	५	५१
इदमीदृग्गुणोपेतं	११	४१
इमान्यमूनीत्यपवर्जिते	८	२०
इमामहं वेद न तावकीं	१	३७
इयमिष्टगुणाय रोचतां	२	५
इयं च दुर्वारमहारथानां	१६	१७
इयं शिवाया नियते	४	२१
इह दुरधिगमैः किंचिदेवा	५	१८
इह वीतभयास्तपोऽनुभावा	१३	४
इह सनियमयोः सुराप	५	४०
ईशार्थमम्भसि चिराय	५	२९
उच्यतां स वचनीय	९	३९
उज्झती शुचमिवाशु	९	१८
उज्झत्सु संहार इवा	१६	१६
उत्फुल्लस्थलनलिनी	५	३९
उत्सङ्गे समविषमे समं	७	२१
उत्सृष्टध्वजकुथकंकटा	७	३०
उदस्य धैर्यं दयितेन	८	५०
उदारकीर्तेरुदयं	१	१८
उदाहरणमाशीःषु	११	६५
उदितोपलस्खलन	६	४
उदीरितां तामिति	३	५५
उदूढवक्षःस्थगितैक	१४	३१
उद्गतेन्दुमविभिन्न	९	२४

	स०	श्लो०
उन्मज्जन्मकर इवा	१७	६३
उपकार इवासति	१३	३३
उपकारकमाहते	२	४३
उपजापसहान्विल	२	४७
उपपत्तिरुदाहृता	२	२८
उपलभ्य चञ्चलतरङ्ग	६	१४
उपलाहतोद्धततरंग	६	१०
उपाधत्त सपत्नेषु	११	५०
उपारताः पश्चिमरात्रि	४	१०
उपेयुषीणां बृहतीरधि	८	१२
उपेयुषीं बिभ्रतमन्तक	१४	३८
उपैति सस्यं परिणाम	४	२२
उपैत्यनन्तद्युतिरप्य	१६	६१
उपोढकल्याणफलो	१७	५४
उमापतिं पाण्डुसुत	१७	१२
उरसि शूलभृतः प्रहिता	१८	५
उरु सत्वमाह विपरि	६	३५
ऊर्ध्वं तिरश्चीनमधश्च	१६	५०
ऋषिवंशजः स यदि	६	३६
एकतामिव गतस्य	९	१२
एवं प्रतिद्वन्द्विषु तस्य	१७	१८
ओजसापि खलु नून	९	३३
ओष्ठपल्लवविदंश	९	५७
औषसातपभयादप	९	११
ककुदे वृषस्य कृत	१२	२०
कच्छान्ते सुरसरितो	१२	५४
कतिपयसहकारपुष्प	१०	३०
कथमिव तव सम्मति	१०	३६
कथं वादीयतामर्वाङ्	११	७६
कथाप्रसंगेन जनैः	१	२४
कपोलसंश्लेषि विलो	४	९
करुणशंखलनिःसृतयोः	१८	११
करिष्यसे यत्र सुदुश्च	३	२१

	स०	श्लो०
करुणमभिहितं त्रपा	१०	५८
करोति योऽशेषजनाति	३	५१
करौ धुनाना नवपल्लवाकृति {पयस्यगाधे	८	४८
करौ धुनाना नवपल्लवान्कृती {वृथा कृथा	८	७
कलत्रभारेण विलोल	८	१७
कवचं स विभ्रदुपवीत	१२	९
कषणकम्पनिरस्तमहा	५	४७
कान्तदूत्य इव कुंकुम	९	६
कान्तवेश्म बहु सन्दिशती	९	३७
कान्तसंगमपराजित	९	५२
कान्ताजनं सुरतखेद	९	७६
कान्तानां कृतपुलक:	७	५
किं गतेन न हि युक्त	९	४०
किं त्यक्तापास्तदेवत्व	१५	२१
किमपेक्ष्य फलं	२	२१
किमसामयिकं वित	२	४०
किमुपेक्षसे कथय	१२	३१
किरातसैन्यादुरुचाप	१४	४५
कुप्यताशुभवतानत	९	५३
कुररीगण: कृतरवस्तरव:	५	२५
कुरु तन्मतिमेव	२	२२
कुरु तात तपांस्यमार्ग	१३	१३
कुसुमनगवनान्युपैतु	१०	३१
कुसुमितमवलम्ब्य	१०	५३
कृतधृति परिवन्दिते	१८	२१
कृतप्रणामस्य महीं	१	२
कृतं पुरुषशब्देन	११	७२
कृतवानन्यदेहेषु	११	२६
कृतानतिर्व्याहृतसा	३	३१
कृतान्तदुर्वृत्त इवा	१६	२९
कृतारिषड्वर्गजयेन	१	९

	स०	श्लो०
कृतावधानं जितबर्हि	४	३३
कृतोर्मिरेखं शिथिलत्व	४	६
कृष्णद्वैपायनादेशात्	११	४६
को न्विमं हरितुरंग	१३	५०
कोऽपवाद: स्तुतिपदे	११	२५
क्रान्तानां ग्रहचरितात्	७	१२
क्रामद्भिर्घनपदवीमनेक	५	३४
क्रियासु युक्तैर्नृप	१	४
क्रोधान्धकारान्तरितो	१७	९
क्लान्तोऽपि त्रिदशवधू	७	२९
क्व चिराय परिग्रह:	२	३९
क्षत्रियस्तनय: पाण्डो:	११	४५
क्षययुक्तमपि स्वभावजं	२	११
क्षितिनभ:सुरलोक	५	३
क्षिपति योऽनुवनं	५	४५
क्षिणयावकरसोऽप्यति	९	६२
क्षुभिताभिनि:सृत	१२	४५
क्षोभेण तेनाथ गणा	१७	२२
खण्डिताशंसया तेषां	१५	३
गणाधिपानामविधाय	१४	५४
गतवति नखलेखा	९	७८
गतान्पशूनां सहजन्म	४	१३
गतै: परेषामविभाव	१४	५२
गतै: सहावै: कलहंस	८	२९
गन्धमुद्धतरज:कण	९	३१
गभीररन्ध्रेषु भृशं मही	१४	४६
गम्यतामुपगते नयनानां	९	४
गुणसम्पदा समधिगम्य	५	२४
गुणानुरक्तामनुरक्त	१	३१
गुणापनादेन तदन्य	१४	१२
गुरुक्रियारम्भफलै:	१४	४२
गुरुस्थिराण्युत्तम	१६	२८
गुरून्कुर्वन्ति ते वंश्यान्	११	६४

	स०	श्लो०
गूढोऽपि वपुषा राजन्	११	६
ग्रसमानमिवौजांसि	११	७३
ग्रहविमानगणानभितो	५	१४
घनपोत्रविदीर्णशाल	१३	३
घनं विदार्यार्जुन	१५	५०
घनानि कामं कुसुमानि	८	४
चञ्चलं वसु नितान्त	१३	५३
चतसृष्वपि ते विवेकिनी	२	६
चमरीगणैर्गणबलस्य	१२	४७
चयानिवाद्रीनिव	१६	५२
चलनेऽवनिश्चलति	१२	२८
चारचुञ्चुश्चिरारेची	१५	३८
चिचीषतां जन्मवतां	३	११
चित्तनिर्वृतिविधायि	९	७१
चित्तवानसि कल्याणी	११	१४
चित्रीयमाणानति	१७	३१
चिरनियमकृशोऽपि	१०	१४
चिरमपि कलितान्य	१०	४८
च्युते स तस्मिन्निषुधौ	१७	३७
छायां विनिर्धूय तमोमयीं	१६	३२
जगतीशरणे युक्तो	१५	४५
जगत्प्रसूतिर्जगदेक	४	३२
जटानां कीर्णया केशैः	११	३
जनैरूपग्राममनिन्द्य	४	१९
जन्मवेषतपसां विरोधिनीं	१३	६४
जन्मिनोऽस्य स्थितिं	११	३०
जपतः सदा जपमुपांशु	१२	८
जयमत्रभवान्नून	११	१८
जयारवक्ष्वेडितनाद	१४	२९
जयेन कच्चिद्विरमेदयं	१४	६२
जरतीमपि बिभ्राण	११	७
जलदजालघनैरसिता	५	४८
जलौघनसंमूर्च्छनमूर्च्छित	१६	५९

	स०	श्लो०
जहातु नैनं कथमर्थ	३	१४
जहार चास्मादचिरेण	१७	४४
जहिहि कठिनतां	१०	५१
जहीहि कोपं दयितो	८	८
जिह्वाशतान्युल्लस	१६	३७
जीयन्तां दुर्जया देहे	११	३२
जेतुमेव भवता	१३	५४
ज्वलतस्तव जात	२	२४
ज्वलतोऽनलादनु	१२	७
ज्वलितं न हिरण्य	२	२०
तत उदग्र इव द्विरदे	१८	१
ततः किरातस्य वचो	१४	१
ततः किराताधिपते	१६	१
ततः प्रजहे सममेव	१५	४४
ततः प्रत्यात्यस्तमदा	१७	१७
ततः शरच्चन्द्रकरा	३	१
ततः सकूजत्कलहंस	४	१
ततः सदर्पं प्रतनुं	१४	३५
ततः स संप्रेक्ष्य शरद्गुण	४	२०
ततः सुपर्णाव्रजपक्ष	१६	४४
ततस्तपोवीर्यसमुद्धतस्य	१७	३५
ततोऽग्रभूमिं व्यवसाय	१७	५५
ततो धरित्रीधरतुल्य	१६	५५
ततोऽनुपूर्वायतवृत्त	१७	५०
ततोऽपवादेन पताकिनी	१४	२७
तत्तदीयविशिखा	१३	५७
तत्तितिक्षितमिदं	१३	६८
तत्र कार्मुकभृतं	१३	३५
तथा न पूर्वं कृतभूषणा	८	४१
तथापि जिह्मः स	१	८
तथापि निघ्नं नृप	३	१२
तदनघ तनुरस्तु	१०	५०
तदभूरिवासरकृतं	६	२९

	स०	श्लो०		स०	श्लो०
तदलं प्रतिपक्ष	२	१५	तिरोहितेन्दोरथ शम्भु	१६	३१
तदा रम्याण्यरम्याणि	११	२८	तिष्ठतां तपसि पुण्य	१३	४४
तदाशु कर्तुं त्वयि	१	२५	तिष्ठद्भि: कथमपि	७	४
तदाशु कुर्वन्वचनं	३	५४	तीरान्तराणि मिथुनानि	८	५६
तदुपेत्य विघ्नयत	६	४३	तुतोष पश्यन्कमलस्य	४	४
तद्गणा ददृशुर्भीमं	१५	३५	तुल्यरूपमसितोत्पल	९	६१
तनुमवजितलोक	१०	१५	तुषारलेखाकुलितो	३	३६
तनुवारभसो भास्वान	१५	२३	तेज: समाश्रित्यपरै	१७	३
तनूरलक्तारुणपाणि	८	५	तेन व्यातेनिरे भीमा	१५	४२
तपनमण्डलदीपितमेक	५	२	तेन सूरिरुपकारिता	१३	६०
तपसा कृशं वपुरुवाह	१२	६	तेनानिमित्तेन तथा	१७	४०
तपसा तथा न मुदमस्य	१८	१४	तेनानुजसहायेन	११	४८
तपसा निपीडितकृश	१२	३९	त्रयीमृतूनामनिला	१४	४८
तपोबलेनैष विधाय	१४	६०	त्रासजिह्मं यतश्चैता	१५	६
तप्तानामुपदधिरे विषाण	७	१३	त्रि:सप्तकृत्वो जगती	३	१८
तमतनुवनराजिश्यामितो	४	३८	त्वमन्तक: स्थावरजङ्गमानां	१८	३५
तमनतिशयनीयं सर्वत:	५	५२	त्वया साधु समारम्भि	११	१०
तमनिन्द्यवन्दिन इवेन्द्र:	६	२	त्विषां तति: पाटलिता	१६	३३
तमाशु चक्षु:श्रवसां	१६	४२	दक्षिणां प्रणतदक्षिणां मूर्त्तिं	१८	२७
तमुदीरितारुणजटांशु	१२	१४	ददृशेऽथ सविस्मयं	१३	१७
तरसा भुवनानि यो	१८	३७	दधत इव विलासशालि	५	३२
तरसैव कोऽपि भुवनैक	१२	२६	दधतमाकरिभि: करिभि:	५	७
तवोत्तरीयं करिचर्म	१८	३२	दधति क्षती: परिणत	६	७
तस्मै हि भारोद्धरणे	१७	१४	दनुज: स्विदयं क्षपा:	१३	८
तस्यातियत्नादति	१७	३२	दरीमुखैरासवराग	१६	४६
तस्याहवायासविलोल	१७	८	दिङ्नागहसताकृतिमुद्वहद्भि:	१६	३८
तं शम्भुराक्षिप्तममहेषु	१७	४३	दिव: पृथिव्या: ककुभां	१४	५३
तान्भूरिधाम्नश्चतुरोऽपि	३	३५	दिव्यस्त्रीणां सचरण	५	२३
तापसोऽपि विभुता	१३	३९	दिश: समूहन्निव	१४	५०
तामैक्षन्त क्षणं सभ्या	११	५१	दीपयन्नथ नभ:	९	२३
तावदाश्रियते लक्ष्म्या	११	६१	दीपितस्त्वमनुभाव	१३	३८
तिरोहितश्वभ्रनिकुञ्ज	१४	३३	दुरक्षान्दीव्यता राज्ञा	११	४७
तिरोहितान्तानि नितान्त	८	४७	दुरासदवनज्याया	११	६३

	स०	श्लो०
दुरासदानरीनुग्रान्	११	२३
दुर्वचं तदथ मा स्म	१३	४९
दु:शासनामर्षरजो	३	४७
दूनास्तेऽरिबलादूना	१५	३१
दृश्यतामयमनोकहा	१३	७०
दृष्टावदानाद्व्यथतेऽरि	१७	१६
दृष्ट्वा दृश्यान्याचरणीयानि	१८	२८
देवाकानिनि कावादे	१५	२५
द्यां निरुन्धदतिनील	९	२०
द्युतिं वहन्ती वनिता	८	९३
द्युवियद्गामिनी तार	१५	४३
द्यौरुन्ननामेव दिश:	१६	३५
द्रुतपदमभियातुमिच्छतीनां	१०	२
द्वारि चक्षुरधिपाणि	९	४३
द्विरदानिव दिग्वि	२	२३
द्विषत: परासिसिषु	१२	३४
द्विषतामुदय:	२	८
द्विषतां विहितं	२	१७
द्विषन्निमित्ता यदियं	१	४१
द्विषां विघाताय	१	३
द्विषां क्षतीर्या: प्रथमे	१४	५५
धनु: प्रबन्धध्वनितं	१६	२०
धर्मात्मजो धर्मनिबन्धि	३	३४
धार्तराष्ट्रै: सह प्रीति	११	५५
धाष्टर्यलंघितयथोचित	९	७२
धूतानामभिमुखपातिभि:	७	३
धृतिबिसवलयावलि	१०	२४
धृतबिसवलये निधाय	१०	४६
धृतहेतिरप्यधृतजिह्म	६	२४
धृतोत्पलापीड इव	१६	१५
धैर्यावसादेन हृतप्रसादा	३	३८
धैर्येण विश्वास्यतया	३	३४
ध्रुवं प्रणाश: प्रहितस्य	१४	९

	स०	श्लो०
ध्वनिरगविवरेषु	१०	४
ध्वंसेत हृदयं सद्य:	११	५७
न ज्ञातं तात यत्नस्य	११	४२
न तेन सज्यं क्वचिदु	१	२१
न ददाह भूरुहवनानि	१२	१६
न दलति निचये	१०	३९
ननु हो मन्थना राघो	१५	२०
न नोननुन्नो नुन्नोनो	१५	१४
न पपात सन्निहित	१२	४
न प्रसादमुचितं गमिता	९	२५
न मृग: खलु कोऽप्ययं	१३	६
नयनादिव शूलिन:	१३	२२
न रागि चेत: परमा	१८	३१
नवपल्लवान्जलिभृत:	६	२६
न वर्त्म कस्मैचिदपि	१४	१४
नवविनिद्रजपाकुसुम	५	८
नवातपालोहितमाहितं	४	८
न विरोधिनी रूषमियाय	१२	४६
न विसिस्मिये न विषसाद	१२	५
न समयपरिरत्गणं	१	४५
न सुखं प्रार्थये नार्थ	११	६६
न स्रजो रूरुचिरे	९	३५
नानारत्नज्योतिषां	५	३६
नान्तरज्ञा: श्रियो जातु	११	२४
नाभियोक्तुमनृतं	१३	५८
नासुरोऽयं न वा नागो	१५	१२
निचयिनि लवली	१०	२९
निजघ्निरे तस्य हरेषु	१७	२६
निजेन नीतं विजितान्य	१४	३९
निन्द्राबिनोदितनितान्त	९	७५
निपतितेऽधिशिरोध	१८	६
निपीयमानस्तबका	८	६
निबद्धनि:श्वासविकम्पिता	४	१५

	स०	श्लो०
निमीलदाकेकरलोल	८	५३
निरन्जने साचिविलोकितं	८	५२
निरत्ययं साम न दान	१	१२
निरास्पदं प्रश्नकुतूहलित्व	३	९
निरीत्त्यमाणा इव	४	३
निरीत्त्य संरम्भनिरस्त	३	२१
निर्याय विद्याथ दिनादि	३	२५
निवृत्तवृत्तोरूपयोधर	८	३
निशम्य सिद्धिं द्विषतां	१	२७
निशातरौद्रेषु विकासतां	१४	३०
निशितासिरितोऽभीको	१५	२२
निशेषं प्रशमितरेणु	७	३८
नि:शेषं शकलित	१७	६२
नि:श्वासधूमैः स्थगितांशु	१६	३९
निषण्णमापत्प्रतिकार	१४	३७
निषादिसन्नाहमणि	१६	१२
निसर्गदुर्बोधमबोध	१	६
निहते विडम्बित	१२	३८
निहितसरसयावकै	१०	३
नीतोच्छायं मुहुरशिशिर	५	३१
नीरन्ध्रं पथिषु रजो रथांग	७	२५
नीरन्ध्र परिगमिते	१७	६
नीलनीरजनिभे हिम	९	१९
नुनोद तस्य स्थलपद्मिनी	४	५
नूनमत्र भवतः शराकृतिं	१३	४५
नृपतिमुनिपरिग्रहेण	१०	६
नृपसुतमभितः	१०	४४
न्यायनिर्णीतसारत्वा	११	३९
पतत्सु शस्त्रेषु वितत्य	१४	४९
पतन्ति नास्मिन्विशदाः	४	२३
पतितैरपेतजलदान्न	६	२७
पतिं नगानामिव	१७	५
पथश्च्युतायां समितौ	३	१५
पपात पूर्वां जहतो	४	१८
परमास्त्रपरिग्रहोरुतेजः	१३	२६
परवानार्थसंसिद्धौ	११	३३
परस्य भूयान्विवरे	१६	२३
पराहतध्वस्तशिखे	१६	५६
परिकीर्णमुद्यतभुजस्य	१२	११
परिक्षते वक्षसि दन्ति	१६	११
परिणामसुखे गरीयसि	२	४
परिणाहिना तुहिनराशि	१२	२३
परिभ्रमन्मूर्धजषट्पदा	४	१४
परिभ्रमंल्लोहित	१	३४
परिमोहयमानेन	१५	३६
परिवीतमंशुभिरुदस्त	१२	१८
परिसरविषयेषु लीढ	५	३८
परिसुरपतिसूनुधाम	१०	२०
परिस्फुरन्मीनविघट्टितो	८	४५
परीतमुत्तावजये	४	११
परोऽवजानाति यदज्ञता	१४	२३
पश्चात्क्रिया तूणयुगस्य	१७	४२
पाणिपल्लवविधूनन	९	५०
पातितोत्तुंगमाहात्म्यैः	१५	११
पातुमाहितरतीन्यभि	९	५१
पार्थबाणाः पशुपते	१५	४०
पुर:सरा धामवतां	१	४३
पुराधिरूढः शयनं	१	३८
पुरोपनीतं नृप	१	३९
पुंसः पदं मध्यममुत्त	१६	१९
पृथग्विधान्यस्त्रविराम	१६	३४
पृथुकदम्बकदम्बकराजितं	५	९
पृथुधाग्नि तत्र परिबोधि	६	४५
पृथूरूपर्यस्तबृहल्लता	१४	३४
प्रकृतमनुससार नाभि	१०	४१
प्रचलिते चलितं	१८	१०

	स०	श्लो०
प्रणतिप्रवणान्विहाय	२	४४
प्रणतिमथ विधाय	६	४७
प्रणिधाय चित्तमथ	६	३९
प्रणिधाय तत्र विधि	६	१९
प्रतप्तचामीकरभासुरेण	१६	४०
प्रतिक्रियायै विधुर:	१७	४१
प्रतिघ्नतीभि: कृत	१६	४३
प्रतिदिशमभिगच्छता	१०	२१
प्रतिदिशं प्लवगाधिप	१४	६४
प्रतिबोधजृम्भणविभिन्न	६	१२
प्रतयार्द्रीकृततिलकास्तुषार	७	१५
प्रत्याहतौजा: कृत	१७	१५
प्रनृत्तशववित्रस्त	१५	२६
प्रपित्सो: किं च ते मुक्तिं	११	१६
प्रबभूव नालमवलोकयितुं	६	६
प्रभवति न तदा परो	१०	३५
प्रभव: खलु कोश	२	१२
प्रमार्ष्टुमयश:पंक	११	६७
प्रयच्छतोच्चै: कुसुमानि	८	१४
प्रयुज्य सामाचरितं	१४	७
प्रलीनभूषालमपि	१	२३
प्रववृतेऽथ महाहव	१८	८
प्रवालभंगारूणपाणि	८	२१
प्रविकर्षनिनाद भिन्न	१३	१६
प्रविततशरजालच्छन्न	१४	६५
प्रविवेश गामिव	१२	१०
प्रवृत्तनक्तंदिव	१६	४७
प्रवृद्धसिन्धूर्मिचय	१६	६०
प्रशान्तघर्माभिभव:	८	२८
प्रश्च्योतन्मदसुरभीणि	७	३५
प्रसक्तदावानल	१६	२६
प्रसह्य योऽस्मासु परै:	३	४४
प्रसादरम्यमोजस्वि	११	३८

	स०	श्लो०
प्रसादलक्ष्मीं दधतं	३	२
प्रसेदिवांसं न तमाप	१७	२३
प्रस्थानश्रमजनितां	७	३१
प्रस्थिताभिरधिनाथ	९	३६
प्रहीयते कार्यवशा	१६	२२
प्रान्जलावपि जने	९	१०
प्राप्तोऽभिमानव्यसनाद	३	४५
प्राप्यते गुणवतापि	९	५८
प्राप्यते यदिह दूर	१८	२५
प्रियेऽपरा यच्छति	८	१५
प्रियेण संग्रथ्य विपक्ष	८	३७
प्रियेण सिक्ता चरमं	८	५४
प्रियेषु यै: पार्थ विनोप	३	५२
प्रियै: सलीलं करवारि	८	४९
प्रीते पिनाकिनि मया	११	८१
प्रेरित: शशधरेण करौघ:	९	२८
प्लुतमालतीसितकपाल	१२	२४
बदरीतपोवननिवास	१२	३३
बद्धकोपविकृतीरपि	९	६४
बभार शून्याकृति	१७	३९
बलवदपि बलं मिथो	१०	३७
बलवानपि कोपजन्मन:	२	३७
बलशालितया यथा तथा	१३	१२
बहुधा गतां जगति	६	४२
बहु बर्हिचन्द्रकनिभं	६	११
बहुश: कृतसत्कृतेर्विधातुं	१३	१०
बाणच्छिदस्ते विशिखा:	१७	२०
बिभराम्बभूवुरपवृत्त	१२	४९
बृहदुद्वहन्जलदनादि	१२	४२
भयंकर: प्राणभृतां	११	१७
भयादिवाश्लिष्य झषाहते	८	४६
भर्तृभि: प्रणयसम्भ्रम	९	५४
भर्तृषूपसखि निक्षिप	९	६६

	स०	श्लो०
भवत: स्मरतां सदा	१८	३८
भवद्भिरधुनाराति	१५	१७
भवन्तमेतर्हि मनस्वि	१	३२
भवन्ति ते सभ्यतमा	१४	४
भवभीतये हतबृहत्तम	६	४१
भवादृशेषु प्रमदा	१	२८
भव्यो भवन्नपि मुने	५	४९
भित्वेव भाभि: सवितु	१६	५१
भुजगराजसितेन	५	४
भूभर्तु: समधिकमादधे	७	२७
भूय: समाधानविरुद्ध	१७	७
भूरिप्रभावेण रणाभि	१७	२
भूरेणुना रासभधूरेण	१६	७
भृशकुसुमशरेषु	१०	६१
भ्रूविलाससुभगाननु	९	५६
मग्नां द्विषच्छद्मनि	३	३९
मणिमयूखचयांशुक	५	५
मतिभेदतमस्तिरो	२	३३
मतिमान्विनयप्रमाथि	२	५२
मथिताम्भसो रयविकीर्ण	१२	५१
मदमानसमुद्धतं	२	४९
मदसिक्तमुखैर्मृगा	२	१८
मदस्त्रुतिश्यामित	१६	२
मधुरैरवशानि	२	५५
मध्यमोपलनिभे लसदंशा	९	२
मनसा जपै: प्रणतिभि:	६	२२
मन:शिलाभंगनिभेन	१६	४५
मनोरमं प्रापितमन्तरं	४	७
मन्दमस्यन्निषुलतां	१५	१३
मया मृगान्हन्तुरनेन	१४	२५
मरुत: शिवा नवतृणा	६	३३
मरुतां पति: स्विद	१२	१५
महता मयूखनिचयेन	१२	१३
महते फलाय तदवेक्ष्य	६	२८
महत्वयोगाय महा	३	२३
महर्षभस्कन्धमनून	१४	४०
महानले भिन्नसिताभ्र	१६	५७
महारथानां प्रतिदन्त्य	१६	१४
महास्त्रदुर्गे शिथिल	१६	३६
महिषक्षतागुरुतमाल	१२	५०
महीभृता पक्षवतेव	१६	१३
महीभृतां सच्चरितै	१	२०
महेषुजलधौ शत्रो	१५	३२
महौजसो मानधना	१	१९
मा गमन्मदविमूढ	९	७०
मा गाश्चिरायैकचर:	३	५३
मानिनीजनविलोचन	९	२६
मा भूवन्नपथहृतस्तवे	५	५०
माया स्विदेषा मति	१६	१८
मार्गणैरथ तव	१३	५९
मा विहासिष्ट समरं	१५	८
माहेन्द्रं नगमभित:	७	२०
मित्रमिष्टमुपकारि	१३	५१
मुकुलितमतिशय्य	१०	२७
मुक्तमूललघुरुज्झित	९	५
मुखैरसौ विद्रुमभंग	४	३६
मुन्चतीशे शरान्जिष्णौ	१५	३४
मुदितमधुलिहो वितानी	१८	२०
मुनयस्ततोऽभिमुख	१२	२५
मुनिदनुतनयान्विलोभ्य	१०	१६
मुनिमभिमुखतां	१०	४०
मुनिरस्मि निरागस:	१३	७
मुनिरूपोऽनुरूपेण	११	२
मुनीषुदहनातप्तां	१५	३०
मुनेर्विचित्रैरिषुभि:	१७	१९
मुने: शरौघेण तदुग्र	१४	५९
मुहुरनुपतता विधूय	१०	३३
मुहुश्चलत्पल्लवलोहिनी	१६	५३

	स०	श्लो०
मूलं दोषस्य हिंसादे	११	२०
मृगान्विनिघ्नन्मृगयुः	१४	१५
मृणालिनीनामनुरञ्जितं	४	२७
मृदितकिसलयः सुरांगना	१०	९
यच्छति प्रतिमुखं	९	१४
यथा निजे वर्त्मनि	१७	५७
यथा प्रतिज्ञं द्विषतां	११	७४
यथायथं ताः सहिता	८	२
यथास्वमाशंसित	१४	४३
यदवोचत वीक्ष्य	२	२
यदात्थ कामभवता	१४	१८
यदा विगृह्णाति हतं	१४	२४
यदि प्रमाणीकृतमार्य	१४	११
यदि मनसि शमः किमंग	१०	५५
यमनियमकृशीकृत	१०	१०
यया समासादित	३	२२
यशसेव तिरोदधन्मुहु	३	५८
यशोऽधिगन्तुं सुख	३	४०
यष्टुमिच्छसि पितृन्न	१३	६५
यस्मिन्ननैश्वर्यकृत	३	१९
यः करोति वधोदर्का	११	१९
यः सर्वेषामावरीता	१८	४०
या गम्याः सत्सहायानां	११	२२
यातस्य ग्रथिततरंग	७	१६
युक्तः प्रमाद्यसि हिता	११	२९
युक्ताः स्वशक्त्या मुनयः	१८	२९
युयुत्सुनेव कवचं	११	१५
येनापविद्धसलिलः	५	३०
योगं च तं योग्यतमाय	३	२६
योषितः पुलकरोधि	९	४१
योषिदुद्धतमनोभव	९	६८
रक्षोभिः सुरमनुजैः	१८	३६
रजनीषु राजतनयस्य	१२	१२
रञ्जिता नु विविधा	९	१५
रणाय जैत्रः प्रदिशन्निव	१४	२८
रथांगसंक्रीडितमश्व	१६	८
रम्या नवद्युतिरपैति	५	३७
रयेण सा संनिदधे	१७	५२
रहितरत्नचयान्न शिलो	५	१०
रागकान्तनयनेषु	९	६३
राजद्भिः पथि मरुता	७	६
रात्रिरागमलिनानि	९	१६
रामाणामवजितमाल्य	७	७
रिक्तेसविस्त्रम्भमथा	१७	३६
रुचिकरमपि नार्थ	१०	६२
रुचिरपल्लवपुष्पलता	५	१९
रुचिराकृतिः कनकसानु	६	१
रुजन्महेषून्बहुधा	१५	५१
रुन्धती नयनवाक्य	९	६७
लघुवृत्तितया भिदां	२	५३
लभ्यमेकसुकृतेन	१३	५२
लभ्या धरित्री तव	३	१७
लिलिक्षतीव क्षयकाल	१६	५४
लेखया विमलविद्रुम	९	२२
लोक विधात्रा विहितस्य	३	४१
लोचनाधरकृता	९	६०
लोलदृष्टि वदनं	९	४७
वदनेन पुष्पितलतान्तः	१२	४१
वनान्तशय्याकठिनी	१	३६
वनाश्रयाः कस्य मृगाः	१४	१३
वनेऽवने वनसदां	१५	१०
वपुरिन्द्रियोपतपनेषु	१२	३
वपुषा परमेण भूधरा	१३	१
वयं क्व वर्णाश्रमरक्षणो	१४	२२
वरं कृतध्वस्तगुणा	१५	१५
वरोरुभिर्वारणहस्त	८	२२
वसूनि वान्छन्न वशी	१	१३
वंशलक्ष्मीमनुद्धृत्य	११	६९

	स०	श्लो०
वंशोचितत्वादभिमान	१७	४
वाजिभूमिरिभराज	१३	५५
वाससां शिथिलतामुप	९	६५
विकचवारिरुहं दधतं	५	१३
विकसितकुसुमाधारं	१०	३२
विकार्मुकः कर्मसु शोच	१७	५३
विकाशमीयुर्जगतीश	१५	५२
विकोशनिर्धौततनो	१७	४५
विगणय्य कारणमनेक	६	३७
विगाढमात्रे रमणीभिः	८	३१
विचकर्ष च संहितेषु	१३	१८
विचित्रया चित्रयतेव	१६	३
विच्छिन्नाभ्रविलायं	११	७९
विजहीहि रणोत्साहं	११	३१
विजिगीषते यदि जगन्ति	१२	३०
विजित्य यः प्राज्य	१	३५
विततशीकरराशिभिः	५	१५
वितन्वतस्तस्य शरा	१७	२०
विदिताः प्रविश्य विहिता	६	३०
विदूरपातेन भिदामुपेयुः	८	१०
विधाय रक्षान्परितः	१	१४
विधाय विध्वंसमनात्म	३	१६
विधिसमयनियोगा	१	४६
विधुरं किमतः परं	२	७
विधूतकेशाः परि	८	३३
विधूनयन्ती गहनानि	१४	४७
विनम्रशालिप्रसवौघ	४	२
विनयं गुणा इव विवेक	१२	१७
विनिर्यतीनां गुरुखेद	८	२६
विपक्षचित्तोन्मथना	८	३४
विपत्त्रलेखा निरलक्तका	८	४०
विपदेति तावदवसाद	१८	२३
विपदोऽभिभवन्त्य	२	१४
विपाण्डुभिर्म्लानतया	४	२४
विपाण्डु संव्यानमिवा	४	२८
विफलीकृतयत्नस्य	१५	४६
विबोधितस्य ध्वनिना	१७	४६
विभिन्नपर्यन्तगमीन	८	३०
विभिन्नपातिताश्वीय	१५	२४
विभेदमन्तः पदवी	१७	२७
विमुक्तमाशंसित	१४	५१
विमुच्यमानैरपि तस्य	४	१२
वियति वेगपरिप्लुत	१८	१२
विरचय्य काननविभाग	१२	४४
विरोधि सिद्धेरिति	१४	८
विलङ्घ्य पत्रिणां पङ्क्ति	१५	४४
विलम्बमानाकुलकेश	८	१८
विवरेऽपि नैनमनिगूढ	१२	३७
विवस्वदंशुसंश्लेष	१५	९
विवक्तवर्णाभरणा	१४	३
विविक्तेऽस्मिन्नगे	११	३६
विशंकमानो भवतः	१	७
विशदभ्रूयुगच्छन्न	११	४
विषमोऽपि विगाह्यते	२	३
विसारिकान्चीमणि	८	२३
विस्फार्यमाणस्य ततो	१७	२४
विस्मयः क इव वा	१३	४०
विस्मितः सपदि तेन	१८	१३
विहस्य पाणौ विधृते	८	५१
विहाय वाञ्छामुदिते	४	२५
विहाय शान्ति नृप	१	४२
विहारभूमेरभिघोष	४	३१
विहितां प्रियया	२	१
वीक्ष्य रत्नचषके	९	५९
वीक्ष्य रन्तुमनसः	९	१
वीतजन्मजरसं परं	५	२२
वीतप्रभावतनुरप्य	१६	६४
वीतौजसः सन्निधि	३	४९

	स०	श्लो०
वीर्यावदानेषु कृता	३	४३
वेत्रशाककुजे	१५	१८
व्यक्तोदितस्मितमयूख	२	५९
व्यथितमपि भृशं मनो	१०	२२
व्यथितसिन्धुमनीरशनैः	५	११
व्यधत्त यस्मिन्पुरमुच्च	५	३५
व्यपोहितुं लोचनतो	८	१९
व्यानशे शशधरेण	९	१७
व्याहृत्य मरुतां पत्या	११	३७
व्रज जय रिपुलोकं	१८	४८
व्रजति शुचि पदं त्वयि	१८	२६
व्रजतोऽस्य बृहत्पतत्र	१३	२१
व्रजन्ति ते मूढधियः	१	३०
व्रजाजिरेष्बम्बुदनाद	४	१६
व्रणमुखच्युतशोणित	१८	४
व्रीडानतैराप्तजनोप	३	४२
शक्तिरर्थपतिषु स्वयं	१३	६१
शक्तिवैकल्यनम्रस्य	११	५९
शंकिताय कृतबाष्प	९	४६
शतशो विशिखानबद्यते	१५	४८
शमयन्धृतेन्द्रियशमैक	६	२०
शरणं भवन्तमति	१८	२२
शरदम्बुधरच्छाया	११	१२
शरवृष्टिं विधूयोर्बी	१५	४१
शरानवद्यन्ननवद्य	१७	५६
शशधर इव लोचनाभि	१०	११
शम्भोर्धनुर्मण्डलतः	१५	४९
शाखावसक्तकमनीय	७	४०
शान्तता विनययोगि	१३	३७
शारतां गमितया शशि	९	२९
शिरसा हरिन्मणिनिभः	६	२३
शिलाधनैर्नाकिसदा	८	३२
शिवध्वजिन्यः प्रतियोध	१४	५८
शिवप्रणन्नेन शिलीमुखेन	१७	५८
शिवभुजाहतिभिन्न	१८	३
शिवमौपयिकं गरी	२	३५
शीधुपानविधुरासु	९	४२
शीधुपानविधुरेषु	९	७३
शुक्लैर्मयूखानिचयैः	५	४२
शुचि भूषयति श्रुतं	२	३२
शुचिरप्सु विद्रुमलता	६	१३
शुचिवल्कवीततनुरन्य	६	३१
शुभाननाः साम्बुरुहेषु	८	४२
शून्यामाकीर्णतामेति	११	२७
श्च्योतन्मयूखेऽपि हिम	३	८
श्रद्धेया विप्रलब्धारः	११	३५
श्रियः कुरूणामधिपस्य	१	१
श्रियं विकर्षत्यपहन्त्य	३	७
श्रिया हसद्भिः कमलानि	८	४४
श्रीमद्भिर्नियमितकन्धरा	७	३७
श्रीमद्भिः सरथगजैः	७	१
श्रीमल्लताभवनमोषधयः	५	२८
श्रुतमप्यधिगम्य	२	४१
श्रुतिसुखमुपबीणितं	१०	३८
श्रेयसीं तव सम्प्राप्ता	११	११
श्रेयसोऽप्यस्य ते तात	११	४४
श्लिष्यतः प्रियवधूरूप	९	२७
श्वसनचलितपल्लवा	१०	३४
श्वस्त्वया सुखसंवित्तिः	११	३४
स किंसखा साधु न	१	५
सक्तिं जवादपनयत्य	५	४६
स क्षत्रियस्त्राणसहः	३	४८
स खण्डनं प्राप्य पराद	१७	६०
सखा स युक्तः कथितः	१४	२१
सखि दयितमिहानयेति	१०	४७
सखीजनं प्रेम गुरुकृता	८	११
सखीनिव प्रीतियुजो	१	१०
स गतः क्षितिमुष्ण	१३	३१

	स०	श्लो०
सचकितमिव विस्मया	१०	७
स जगाम विस्मयमुदीक्ष्य	६	१५
सजलजलधरं नभो	१०	१९
सज्जनोऽसि विजहीहि	१३	६६
सज्यं धनुर्वहति यो	१३	७१
स ततार सैकतवतोरभित:	६	१६
स तदोजसा विजित	१२	२९
स तमालनिभे रिपौ	१३	२४
स तमाससाद घननील	१२	५३
सदृशमतनुमाकृते:	१०	१३
सद्मनां विरचनाहित	९	३४
सब्दादितेवाभिनिविष्ट	१७	११
स धनुर्महेषुधि	१२	२७
सध्वानं निपतितनिर्झरासु	७	२२
सनाकवनितं नितम्ब	५	२७
सपदि प्रियरूपपर्वरेख:	१३	२५
सपदि हरिसखैर्वधू	१०	१८
स पिङ्गाक्ष: श्रीमान्	१८	४५
स पिशङ्गजटावलि:	१५	४७
स पुमानर्थवज्जन्मा	११	६२
स प्रध्वनय्याम्बुदनादि	१७	१०
स प्रयुज्य तनये	१३	३६
स बभार रणापेतां	१५	३३
स बिभर्ति भीषण	६	३२
स भवस्य भवक्षयैक	१३	१९
स भोगिसंघ: शम	१६	४८
समदशिखिरुतानि	१०	२५
स मन्थरावल्गित	४	१७
समवृत्तिरूपैति	२	३८
समस्य सम्पादयता	१४	६
समानकान्तीनि तुषार	८	२५
समुच्छ्वसत्पंकजकोश	८	२४
समुज्झिता यावदराति	१४	५६
समुन्नतै: काशदुकूल	८	९
समुल्लसत्प्रासमहोर्मि	१६	४
स यौवराज्ये नवयौव	१	२२
सरजसमपहाय	१०	२६
सरभसमवलम्ब्य	१०	५४
सरोजपत्रे नु विलीन	८	३५
सललितचलित	१०	५२
सलीलमासक्तलता	८	१६
सलेशमुल्लिंगितशात्रवे	१४	२
स वंशस्यावदातस्य	११	७५
सविनयमपराभिसृत्य	१०	५७
सवृषध्वजसायकावभिन्नं	१३	२८
सव्यलीकमबधीरित	९	४५
सव्यापसव्यध्वनितो	१७	२५
सव्रीडमन्दैरिव	३	४६
ससत्त्वरतिदे नित्यं	१५	२७
स समुद्धरता विचिन्त्य	१३	३४
स सम्प्रधार्यैवमहार्य	१६	२५
स सायकान्साध्वस	१७	२१
स सासि: सासुसू:	१५	५
ससुरचापमनेकमणि	५	१२
सहशरधि निजं तथा	१८	१६
सहसा विदधीत	२	३०
सहसोपगत: स	२	५६
संक्रान्तचन्दनरसा	८	५७
सन्ततं निशमयन्त	१३	४७
सन्निबद्धमपहर्तु	१८	३०
सम्पश्यतामिति	१५	५३
सम्प्रति लब्धजन्म	५	४३
सम्प्रीयमाणोऽनुबभूव	१७	१३
सम्भिन्नामविरलपातिभि:	७	२३
सम्भिन्नैरिवतुरगावगाह	७	११
सम्भोगक्षमगहनामथो	७	२६
सम्मूर्च्छतां रजतभित्ति	५	४१
संरम्भवेगोज्झित	१७	४९

	स०	श्लो०
संवाता मुहुरनिलेन	७	१४
संविधातुमभिषेक	९	३२
संसिद्धावितिकरणीय	७	१७
संसेवन्ते दानशीला	१८	२४
संस्कारवत्वाद्रमयत्सु	१७	६
साचि लोचनयुगं	९	४४
सादृश्यं गतमपनिद्र	५	२६
सादृश्यं दधति गभीर	७	३९
साफल्यमस्त्रे रिपु	१६	४९
सामोदाः कुसुमतरु	७	२८
साम्यं गतेनाशनिना	१७	५१
सावलेपमुपलिप्सिते	१३	५६
सितच्छदानामपदिश्य	४	३०
सितवाजिने निजगदू	६	९
सिन्दूरैः कृतरुचयः	७	८
सिषिचुरवनिमम्बुवाहाः	१८	१७
सुकुमारमेकमणु मर्म	६	४०
सुखेन लभ्या दधतः	१	१७
सुगेषु दुर्गेषु च तुल्य	१४	३२
सुता न यूयं किमु	३	१३
सुरकृत्यमेतदवगम्य	१२	३६
सुरसरिति परं तपो	१०	१२
सुलभैः सदा नयवता	५	२०
सुहृदः सहजा	२	४५
सृजन्तमाजाविषु	३	२०
सेतुत्वं दधति पयोमुचां	७	१९
सोढवान्नो दशामन्त्यां	११	५३
सोढावगीतप्रथमा	१७	२८
सोत्कण्ठैरमरगणै	७	२
स्तुवन्ति गुर्वीमभिधेय	१४	५
स्थितमुन्नते तुहिन	१२	२१
स्थितं विशुद्धे नभसीव	१७	४८
स्थित्यतिक्रान्तिभीरुणी	११	५४
स्नपितनवलतातरू	५	४४
स्पृहणीयगुणैर्महा	२	३४
स्फुटता न पदैरपा	२	२७
स्फुटपौरुषमापपात	१३	३२
स्फुटबद्धसटोन्नति	१३	२
स्फुरत्पिशंगमौर्वीकं	१५	३९
स्मर्यते तनुभृतां सनातनं	१३	४२
स्यन्दना नो चतुरगाः	१५	१६
स्वकेतुभिः पाण्डुर	१६	५८
स्वगोचरे सत्यपि चित्त	८	१३
स्वधर्ममनुरुन्धते	११	७८
स्वयं संराध्यैवं शतमख	१०	६३
स्वादितः स्वयमथैधित	९	५५
हताहतेत्युद्धतभीम	१६	५
हरपृथासुतयो	१८	२
हरसैनिकाः प्रतिभये	१२	४८
हरिन्मणिश्याममुदग्र	१४	४१
हंसा बृहन्तः सुरसद्म	१८	१९
हृता गुणैरस्य भयेन	१४	६१
हृतोत्तरीयां प्रसभं	११	४९
हृदाम्भसि व्यस्तवधू	८	४३
ह्रीतया गलितनीवि	९	४८
हेपयन्नहिमतेजसं	१३	४१

सूक्तियाँ

हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः । (१.४)

हितकर और मनोरम बात दुर्लभ होती है ।

वरं विरोधोऽपि समं महात्मभिः । (१.८)

महात्माओं से विरोध भी हो तो अच्छा ही है ।

अहो दुरन्ता बलवद्विरोधिता । (१.२३)

अहो, बलवानों से विरोध करने का परिणाम अच्छा नहीं होता ।

व्रजन्ति ते मूढधियः पराभवम्
भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः ।
प्रविश्य हि घ्नन्ति शठास्तथाविधान्
असंवृताङ्गान्निशिता इवेषवः ॥ (१.३०)

विचारहीन बुद्धिवाले ऐसे लोग विपत्ति में पड़ते हैं, जो मायावी लोगों के साथ माायावी नहीं बन जाते । शठ लोग, ऐसे लोगों को आत्मीय बनकर वैसे ही मार डालते हैं, जैसे कवचरहित शरीर वालों को प्रखर बाण ।

अवन्ध्यकोपस्य विहन्तुरापदां
भवन्ति वश्याः स्वयमेव देहिनः । (१.३३)

जिसका क्रोध निष्फल होता है और जो विपत्तियों को दूर कर देने वाला है, उसके वश में लोग अपने आप होते हैं ।

परैरपर्यासितवीर्यसम्पदाम्
पराभवोऽप्युत्सव एव मानिनाम् ॥ (१.४१)

शत्रुओं के द्वारा जिनकी शक्ति-सम्पत्ति का तिरस्कार नहीं हुआ है, ऐसे मानियों की विपत्ति भी उत्सव के लिए होती है ।

व्रजन्ति शत्रूनवधूय निःस्पृहाः
शमेन सिद्धिं मुनयो न भूभृतः ॥ (१.४२)

निस्पृह मुनि शत्रुओं की उपेक्षा करके शान्ति से सफलता प्राप्त करते हैं। किन्तु राजा नहीं।

स तु तत्र विशेषदुर्लभः सदुपन्यस्यति कृत्यवर्त्म यः। (२.३)

ऐसे लोग बहुत ही कठिनाई से मिलते हैं, जो कार्य-विधि का चारुतापूर्वक निर्माण करते हैं।

ननु वक्तृविशेषनिःस्पृहा गुणगृह्या वचने विपश्चितः। (२.५)

गुण से भरी हुई बातें अपना लेनी ही चाहिए, उनका कहने वाला कोई भी क्यों न हो।

निवसन्ति पराक्रमाश्रया न विषादेन समं समृद्धयः। (२.१५)

सम्पत्तिशालिता पराक्रम का आश्रय लेकर रहती है, विषाद के साथ नहीं।

लघयन् खलु तेजसा जगन्न महानिच्छति भूतिमन्यतः। (२.१८)

सारे संसार को तेज से तुच्छ बनाते हुए महापुरुष दूसरे से वृद्धि की कामना नहीं करते।

अभिमानधनस्य गत्वरैः
असुभिः स्थास्नु यशश्चिचीषतः।
अचिरांशुविलासचंचला
ननु लक्ष्मीः फलमानुषङ्गिकम्॥ (२.१९)

गमनशील प्राणों से स्थायी यश का संग्रह करने की इच्छा रखने वाले और अभिमान को धन मानने वाले लोगों के लिए विद्युद्विलास की भाँति चंचल लक्ष्मी की प्राप्ति गौण रूप से ही होती है।

ज्वलितं न हिरण्यरेतसं चयमास्कन्दति भस्मनां जनः।
अभिभूतिभयादसूनतः सुखमुज्झन्ति न धाम मानिनः॥ (२.२०)

लोग राख के ढेर को रगड़ देते हैं। किन्तु जलती हुई आग को नहीं। अतः मानी लोग परिभव के भय से सुखपूर्वक प्राण तो छोड़ देते हैं, किन्तु तेजस्विता नहीं छोड़ते।

प्रकृतिः खलु सा महीयसः सहते नान्यसमुन्नतिं यथा। (२.२१)

यह महापुरुषों का स्वभाव ही है कि दूसरों की उन्नति नहीं सह पाते।

सहसा विदधीत न क्रियाम-
विवेकः परमापदां पदम्।

वृणते हि विमृश्यकारिणं
गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः ॥ (२.३०)

सहसा कार्य न करे । अविवेक विपत्तियों को आश्रय देता है । विचारशील पुरुष को गुण से प्रेम करनेवाली सम्पत्तियाँ स्वयं चुन लेती हैं ।

क्व चिराय परिग्रहः श्रियाम्
क्व च दुष्टेन्द्रियवाजिवश्यता ।
शरदभ्रचलाश्चलेन्द्रियैः
असुरक्षा हि बहुच्छलाः श्रियः ॥ (२.३९)

लक्ष्मी का चिरकालीन स्वायत्तीकरण कहाँ हुआ और दुष्ट घोड़े के समान इन्द्रियों को वश में करना कहाँ सम्भव है ? शरद् ऋतु के बादलों की भाँति चञ्चल, छलनामयी लक्ष्मी का चञ्चल इन्द्रियों से सुरक्षित कर लेना असम्भव ही है ।

विपदन्ता ह्यविनीतसम्पदः । (२.५२)

अविनयी लोगों की सम्पत्तियों का अन्त विपत्ति में होता है ।

वीतस्पृहाणामपि मुक्तिभाजाम्
भवन्ति भव्येषु हि पक्षपाताः । (३.१२)

मुक्ति चाहने वाले विरक्त लोगों का भी अच्छे लोगों के प्रति पक्षपात होता है।

मोहं विधत्ते विषयाभिलाषः । (३.१३)

विषयों के प्रति आसक्ति मोह उत्पन्न करती है ।

प्रकर्षतन्त्रा हि रणे जयश्रीः । (३.१७)

युद्ध में विजयश्री उच्चतर शक्ति वालों की ही होती है ।

विश्वासयत्यासु सतां हि योगः । (३.३१)

सज्जनों का मिलना विश्वास उत्पन्न कर ही देता है ।

निरुत्सुकानामभियोगभाजाम्
समुत्सुकेवाङ्कमुपैति सिद्धिः । (३.४०)

निष्काम होकर नित्य पराक्रम करने वालों की गोद में उत्सुक होकर सफलता आती ही है ।

मात्सर्यरागोपहतात्मनां हि
स्खलन्ति साधुष्वपि मानसानि ॥ (३.५३)

राग और द्वेष से दूषित स्वभाव वाले लोगों के मन सज्जनों के विषय में भी विकारपूर्ण हो जाते हैं ।

न रम्यमाहार्यमपेक्षते गुणम् । (४.२३)

स्वभावतः सुन्दर वस्तु आरोप्यमाण गुण की अपेक्षा नहीं रखती ।

प्रायेण सत्यपि हितार्थकरे विधौ हि,
श्रेयांसि लब्धुमसुखानि विनान्तरायैः । (५.४९)

प्रायः हितकर विधि-विधानों के होने पर भी बाधाओं के बिना श्रेय प्राप्त करना असम्भव होता है ।

कमिवेशते रमयितुं न गुणाः । (६.२४)

गुण किसे प्रसन्न करने में समर्थ नहीं होते ? अर्थात् सभी को वश में रख लेते हैं ।

किमिवावसादकरमात्मवताम् । (६.१९)

मनस्वियों के लिए कौन-सी वस्तु अशान्तिजनक है । अर्थात् कुछ भी नहीं।

रम्याणां विकृतिरपि श्रियं तनोति । (७.५)

जो स्वभावतः सुन्दर है, उनकी विकृति भी शोभादायक होती है ।

युक्तानां खलु महतां परोपकारे
कल्याणी भवति रुजत्स्वपि प्रवृत्तिः । (७.१३)

परोपकार में लगे हुए सज्जनों की प्रवृत्ति पीड़ा के समय भी कल्याणमयी होती है ।

नाल्पीयान् बहु सुकृतं हिनस्ति दोषः । (७.१५)

थोड़ा दोष अतिशय उपकार को नहीं मिटाता ।

वसन्ति हि प्रेम्णि गुणा न वस्तुनि । (८.३७)

गुण प्रेम में रहते हैं, वस्तु में नहीं ।

लंघ्यते न खलु कालनियोगः । (९.१३)

दैवाज्ञा का अतिक्रमण नहीं होता ।

वस्तुमिच्छति निरापदि सर्वः । (९.१६)

सभी निरापद स्थान में रहना चाहते हैं ।

दुःखिते मनसि सर्वमसह्यम् । (९.३०)

मन के दुःखी होने पर सब कुछ असह्य होता है ।

प्राप्यते गुणवतापि गुणानां व्यक्तमाश्रयवशेन विशेषः । (९.५८)

गुणवानों के द्वारा भी गुणों का वैशिष्ट्य आश्रय की अधीनता के अनुसार पाया जाता है ।

न हि महतां सुकरः समाधिभङ्गः । (१०.२३)

महापुरुषों की समाधि भङ्ग कर देना सरल नहीं ।

प्रभवति न तदा परो विजेतुम्
भवति जितेन्द्रियता यदात्मरक्षा । (१०.३५)

जब जितेन्द्रियता ही अपनी रक्षा करे तो शत्रु जीत नहीं सकता ।

ननु करुणामृदु मानसं मुनीनाम् । (१०.५१)

मुनियों का मन करुणा से मृदु होता है ।

अविज्ञातेऽपि बन्धौ हि बलात्प्रह्लादते मनः । (११.८)

बन्धु के अनजान होने पर भी (उसके मिलने पर) चित्त प्रसन्न होता है ।

सुलभा रम्यता लोके दुर्लभं हि गुणार्जनम् ॥ (११.११)

संसार में रम्य आकार तो सुलभ है, किन्तु गुण की प्राप्ति दुर्लभ है ।

आपातरम्या विषयाः पर्यन्तपरितापिनः ॥ (११.१२)

विषयभोग तत्काल ही रमणीय प्रतीत होते हैं । वे अन्त में परिताप पहुँचाते हैं ।

या गम्या सत्सहायानां यासु खेदो भयं यतः ।
तासां किं यन्न दुःखाय विपदामिव सम्पदाम् ॥ (११.२२)

सम्पत्तियाँ उन्हीं के द्वारा प्राप्तव्य हैं, जिनके पास साधन हैं । जिनमें खेद है, जिनसे भय है, उन सम्पत्तियों का कौन-सा ऐसा पक्ष है, जो विपत्तियों की भाँति दुःखदायी न हो ?

नान्तरज्ञाः श्रियो जातु प्रियैरासां न भूयते ।
आसक्तास्तास्वमी मूढा वामशीला हि जन्तवः ॥ (११.२४)

श्री (सम्पत्ति) नीच और ऊँच नहीं समझती । उसका कोई प्रिय नहीं होता । ये मूढ लोग उसी श्री में अनुराग करते हैं । ऐसे जन्तु वामशील हैं ।

शून्यमाकीर्णतामेति तुल्यं व्यसनमुत्सवैः ।
विप्रलम्भोऽपि लाभाय सति प्रियसमागमे ॥ (११.२७)

अभीष्ट पुरुष के मिलने पर शून्य स्थान भराभरा सा बन जाता है, विपत्ति भी उत्सव के तुल्य हो जाती है । उनसे विवाद भी लाभ के लिए होता है ।

न्यायाधारा हि साधवः ॥ (११.३०)

सज्जन न्याय का अवलम्बन करते हैं ।

श्रद्धेया विप्रलब्धारः प्रिया विप्रियकारिणः ।
सुदुस्त्यजास्त्यजन्तोऽपि कामाः कष्टा हि शत्रवः ॥ (११.३५)

काम (विषय-भोगों) से श्रद्धा करो तो वे ठगते हैं, प्रेम करो तो वे हानि पहुँचाते हैं, छोड़ना चाहो तो छूटते नहीं । वे कष्टप्रद शत्रु हैं ।



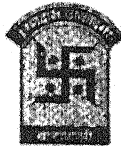
कृष्णदास संस्कृत सीरीज
१७०

महाकविभारविविरचितं

किरातार्जुनीयम्

श्रीमल्लिनाथसूरीकृतया 'घण्टापथ'-व्याख्यया
अथ च 'सरला' हिन्दीव्याख्योपेतम्

सम्पादकः व्याख्याकारश्च
डॉ० सुधाकर मालवीयः
एम. ए., पीएच.डी., साहित्याचार्य,
संस्कृतविभागः, कलासंकायः
काशीहिन्दूविश्वविद्यालयः, वाराणसी



कृष्णदास अकादमी
वाराणसी